कल्याण
भाग ४
श्रावण

श्रीहरिः

पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना

लेख और चित्रोंकी संख्या बढ़ जाने, बरसातके कारण चित्र न छप सकने, सम्पादकोंमेंसे एकके अन्यान्य कार्यवश भ्रमणमें रहने और दूसरेके कुछ अस्वस्थ हो जानेके कारण 'गीतांक'के प्रकाशनमें कुछ दिनोंकी देर हो गयी है, इसके लिये प्रेमी पाठक-पाठिकागण कृपापूर्वक क्षमा करें।

पहले चारसौ पृष्ठ और १२५ चित्रोंका ही विचार था, परन्तु अब यह ५०० से अधिक पृष्ठ और १७० चित्रोंका निकल रहा है। कीमत पहलेकी सूचनाके अनुसार २॥) ही है। धर्मार्थ बांटने, इनाममें देने, उपहार देने संग्रहमें रखने आदिके लिये यह एक सुन्दर निर्दोष और शिक्षाप्रद अमूल्य वस्तु है।

चार रुपये दो आने देकर ग्राहक बननेवालोंको यह अंक चौथे वर्षके पहले अङ्कके तौरपर यों ही मिल रहा है। ग्राहक बनने और बनानेवालोंको जल्दी करनी चाहिये।

इस अङ्ककी तैयारीमें कितना खर्च और परिश्रम हुआ है इसका कुछ अन्दाजा आप लोग लगा सकते हैं। देश-विदेशोंसे अनेक लेख मंगाये गये हैं, चित्रादिका संग्रह किया गया है। लेखोंके अनुवाद करवाये गये हैं, इस अङ्कमें जितने चित्र हैं, उतने चित्र भी २॥) में नहीं मिल सकते। चार चित्रोंके सिवा बाकी प्रायः सभी चित्र नये बनाये गये हैं। इस स्थितिमें हर एक ग्राहक अनुग्राहकसे यह प्रार्थना करना हमारी समझसे अनुचित नहीं होगा कि वे कृपापूर्वक कमसे कम तीन तीन ग्राहक और बना दें। पाठक पाठिका-गण यदि कृपापूर्वक थोड़ासा प्रयत्न करें तो ऐसा होना कोई बड़ी बात नहीं है।

'कल्याण' के ग्राहक बढ़ानेके लिये जिन प्रेमी सज्जन और देवियोंने निष्काम और निःस्वार्थ भावसे प्रयत्न किया और कर रहे हैं, उन सबके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। 'कल्याण'के ग्राहक बढ़ानेवाले सज्जनोंका न तो नाम छापा जाता है, न उन्हें पैसे ही मिलते हैं, न उन्हें मान सम्मानकी आशा है, ऐसी स्थितिमें आजकलके जमानेसे विरुद्ध केवल परमात्माकी सेवाकी भावनासे 'कल्याण'के प्रचारकी चेष्टा करनेवाले सज्जनोंके हम बड़े ही आभारी हैं।

यह ख्याल रखना चाहिये कि कल्याणमें विज्ञापन आदिकी कोई आमदनी नहीं है। यह केवल ग्राहक संख्यापर ही निर्भर करता है अतएव प्रेमियोंको ग्राहक बढ़ानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

ग्राहकोंकी सेवामें सूचना

(१) जिन सज्जनोंने अभीतक आगामी वर्षका मूल्य नहीं भेजा है उनकी सेवामें शीघ्र ही वी० पी० द्वारा गीतांक भेजा जायगा, परन्तु कामकी बहुत अधिकता होनेके कारण वी० पी० भेजनेमें सम्भवतः दो तीन सप्ताहकी देर होगी। अतएव जिनको जल्दी हो वे इस सूचनाको पढ़ते ही ४≈) मनिआर्डरसे तुरन्त भेज दें—

(२) जिन सज्जनोंके नाम वी० पी० भेजी जायगी, उनमेंसे सम्भव है कि कोई सज्जन मनिआर्डर भी भेज दें, ऐसी हालतमें उनसे प्रार्थना है कि वे वी० पी० लौटावें नहीं। भरसक वहींपर दूसरा ग्राहक बनाकर वी० पी० छुड़ा लें और उनका नाम लिखनेकी कृपा करें। रुपये मिलते ही उनके नाम अंक अलग भेज दिया जायगा।

व्यवस्थापक 'कल्याण'।

गीता-प्रेसकी नई पुस्तकें

(१) तत्त्वचिन्तामणि । (छप रही है) सचित्र, पृष्ठ लगभग ४०० छपाई सफाई अत्यन्त सुन्दर ।

इस ग्रन्थमें श्रीयुत जयदयालजी गोयन्दकाके आध्यात्मिक लेखोंका अपूर्व संग्रह है ।

(२) गो० तुलसीदासजीकृत विनय-पत्रिका सरल भावार्थसहित । (छप रही है)

(३) भजनसंग्रह । पाकेट साइज (छप रहा है) इसमें गो० तुलसीदासजी, सूरदासजी, मीराबाई, गुरुनानक आदि महात्माओंके भजनोंका सुन्दर संग्रह होगा ।

(४) प्रेमयोग । श्रीयुत वियोगी हरिजीकृत । (शीघ्र ही छपेगा) यह प्रेम-तत्त्व सम्बन्धी एक अनोखा ग्रन्थ है। प्रेमके भिन्न भिन्न भावोंका ऐसा मनोहर संग्रह आजतक कहीं नहीं छपा । इसके कागज छपाई आदि बहुत सुन्दर करनेका विचार है । पृष्ठ-संख्या लगभग ४००

(५) गीता-डायरी सन् १९३० की छप रही है ।

(६) गुजराती गीता । मोटे टाइप, बड़े आकारवाली, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका गुजरातीमें भी छप रही है ।

कल्याणकी फाइलें तैयार हैं

प्रथम वर्षकी सजिल्द फाइल २॥) द्वितीय वर्षकी फाइल ३=) सजिल्द ३॥=) तृतीय वर्षकी फाइल ४=) बिना जिल्द

कल्याणके विशेषांक

भगवन्नामांक—पृष्ठ ११० रंग बिरंगे ४१ चित्र मूल्य ॥=) सजिल्द १)

हालहीमें प्रकाशित 'गीतांक' पृष्ठ ५००से अधिक, तिरंगे एकरंगे १३०से ऊपर चित्र, मूल्य २॥=) सजिल्द ३=)

गीता-प्रेस, गोरखपुर ।

श्रीहरिः

पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना

लेख और चित्रोंकी संख्या बढ़ जाने, बरसातके कारण चित्र न छप सकने, सम्पादकोंमेंसे एकके अन्यान्य कार्यवश भ्रमणमें रहने और दूसरेके कुछ अस्वस्थ हो जानेके कारण 'गीतांक'के प्रकाशनमें कुछ दिनोंकी देर हो गयी है, इसके लिये प्रेमी पाठक-पाठिकागण कृपापूर्वक क्षमा करें।

पहले चारसौ पृष्ठ और १२५ चित्रोंका ही विचार था, परन्तु अब यह ५०० से अधिक पृष्ठ और १७० चित्रोंका निकल रहा है। कीमत पहलेकी सूचनाके अनुसार २॥) ही है। धर्मार्थ बांटने, इनाममें देने, उपहार देने संग्रहमें रखने आदिके लिये यह एक सुन्दर निर्दोष और शिक्षाप्रद अमूल्य वस्तु है।

चार रुपये दो आने देकर ग्राहक बननेवालोंको यह अंक चौथे वर्षके पहले अङ्कके तौरपर यों ही मिल रहा है। ग्राहक बनने और बनानेवालोंको जल्दी करनी चाहिये।

इस अङ्ककी तैयारीमें कितना खर्च और परिश्रम हुआ है इसका कुछ अन्दाजा आप लोग लगा सकते हैं। देश-विदेशोंसे अनेक लेख मंगाये गये हैं, चित्रादिका संग्रह किया गया है। लेखोंके अनुवाद करवाये गये हैं, इस अङ्कमें जितने चित्र हैं, उतने चित्र भी २॥) में नहीं मिल सकते। चार चित्रोंके सिवा बाकी प्रायः सभी चित्र नये बनाये गये हैं। इस स्थितिमें हर एक ग्राहक अनुग्राहकसे यह प्रार्थना करना हमारी समझसे अनुचित नहीं होगा कि वे कृपापूर्वक कमसे कम तीन तीन ग्राहक और बना दें। पाठक पाठिकागण यदि कृपापूर्वक थोड़ासा प्रयत्न करें तो ऐसा होना कोई बड़ी बात नहीं है।

'कल्याण'के ग्राहक बढ़ानेके लिये जिन प्रेमी सज्जन और देवियोंने निष्काम और निःस्वार्थ भावसे प्रयत्न किया और कर रहे हैं, उन सबके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। 'कल्याण'के ग्राहक बढ़ानेवाले सज्जनोंका न तो नाम छापा जाता है, न उन्हें पैसे ही मिलते हैं, न उन्हें मान सम्मानकी आशा है, ऐसी स्थितिमें आजकलके जमानेके विरुद्ध केवल परमात्माकी सेवाकी भावनासे 'कल्याण'के प्रचारकी चेष्टा करनेवाले सज्जनोंके हम बड़े ही आभारी हैं।

यह ख्याल रखना चाहिये कि कल्याणमें विज्ञापन आदिकी कोई आमदनी नहीं है। यह केवल ग्राहक संख्यापर ही निर्भर करता है अतएव प्रेमियोंको ग्राहक बढ़ानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

ग्राहकोंकी सेवामें सूचना

(१) जिन सज्जनोंने अभीतक आगामी वर्षका मूल्य नहीं भेजा है उनकी सेवामें शीघ्र ही वी० पी० द्वारा गीतांक भेजा जायगा, परन्तु कामकी बहुत अधिकता होनेके कारण वी० पी० भेजनेमें सम्भवतः दो तीन सप्ताहकी देर होगी। अतएव जिनको जल्दी हो वे इस सूचनाको पढ़ते ही ४=) मनिआर्डरसे तुरन्त भेज दें—

(२) जिन सज्जनोंके नाम वी० पी० भेजी जायगी, उनमेंसे सम्भव है कि कोई सज्जन मनिआर्डर भी भेज दें, ऐसी हालतमें उनसे प्रार्थना है कि वे वी० पी० लौटावें नहीं। भरसक वहींपर दूसरा ग्राहक बनाकर वी० पी० छुड़ा लें और उनका नाम लिखनेकी कृपा करें। रुपये मिलते ही उनके नाम अंक अलग भेज दिया जायगा।

व्यवस्थापक 'कल्याण'।

पृष्ठसंख्या

कविता

संग्रहीत

चित्र-सूची

श्रीमद्भगवद्गीता-ध्यान

(रचयिता--'श्रीपति')

(१)

गीते ! तुम्हारे ज्ञानकी अव्यक्त महिमाको अहा !
रणक्षेत्रमें श्रीकृष्णने स्वयमेव अर्जुनसे कहा।
जिन साधनोंकी सिद्धिसे था पार्थको सत्पथ दिखा ,
भगवान वेदव्यासने उस पर महाभारत लिखा ॥

(२)

अध्याय अष्टादश सुखद करते दुखोंसे मुक्त हैं ,
अद्वैत-अमृत-बारिधरसे वे सदा ही युक्त हैं ।
हो मातु सम हितपूर्ण कहते मोक्षका कारण तुम्हें ,
अतएव मैं निज शुद्ध मनसे कर रहा धारण तुम्हें ॥

(३)

हे विज्ञ-वेदव्यास ! तुमको बार बार प्रणाम है ,
शुभ-ज्ञान-दीपकको जलाकर श्रम किया निष्काम है ।
हे भक्त-कल्पद्रुम ! तुम्हें भी है प्रणाम जगत्पते ,
तुमने किया है व्यक्त गीतामृत महामायापते !

(४)

सब उपनिषद हैं धेनुके ही तुल्य, दोग्धा श्याम हैं ,
पय पान करते वत्स अर्जुनके सदृश सुखधाम हैं ।
हैं भक्त जो अन्तःकरणसे नित्य धरते ध्यान हैं ,
करते वही गीता-सुधाका प्रेमसे नित पान हैं ॥

(५)

वसुदेव-नन्दन ! आपकी करता प्रभो ! मैं बन्दना ,
चाणूर-केसी-कंस आदिक दैत्यको तुमने हना ।
था देवकीको आपने आनन्दसे गदगद किया ,
हे जगद्गुरु ! कल्याणका उपदेश तुमने था दिया ॥

(६)

दुर्जय धनुर्धर भीष्म द्रोणाचार्य जिसके कूल हैं ,
जिसका जयद्रथ सलिल, शल्य-ग्राह अति दुख मूल हैं ।
कृपकी कृपासे वेग जिसमें कर्ण-रूपी वेलि हैं ,
अरु द्रोण-सुअन, विकर्ण आदिक मकर करते केलि हैं ॥

(७)

पड़ते सुयोधनसे प्रबल हैं चक्र जिसमें रोषसे ,
कुरु-तनय सरसिजसे जिसे करते कलंकित दोषसे ।
उस समर-सरिता-पारकर्ता-कृष्ण ही केवट बने ,
सुखसे तरे पाण्डव विजय पा शान्तियुत सुषमा सने ॥

(८)

कलि-मल-हरण भारत-कमल मुनि-व्यास-वाणी-सर उगे,
बहु वार्ता, उपदेश अरु गीतार्थ-परिमलसे पगे।
बुधजन भ्रमर इव नित्य ही करते सुधारस पान हैं ,
कितना किया उपकार देकर विश्वको सद्ज्ञान है ॥

(९)

जिनकी कृपासे मूक भी बनते अहो वाचाल हैं ,
अति सहज ही में पंगु होते पार गिरि सुविशाल हैं ।
करते सदा सम्भव असम्भव साध्य क्यों न असाध्य हो ,
हे हे जनार्दन! नौमि शत शत तुम जगत-आराध्य हो ॥

(१०)

जिनकी सदा ही वन्दना करते वरुण अनुरक्त हो ,
धरते सदा सुर ध्यान, विधि सनकादि ईश विरक्त हो ।
नित मरुत, रुद्र, सुरेन्द्र करते सुयशका शुभगान हैं ,
उनको प्रणाम अनेक, जिनका सिद्ध धरते ध्यान हैं ॥*

* संस्कृत-गीता-ध्यानके आधारपर

सनातन-धर्मके पांच आचार्य ।

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ श्रीमद्भगवद्गीता
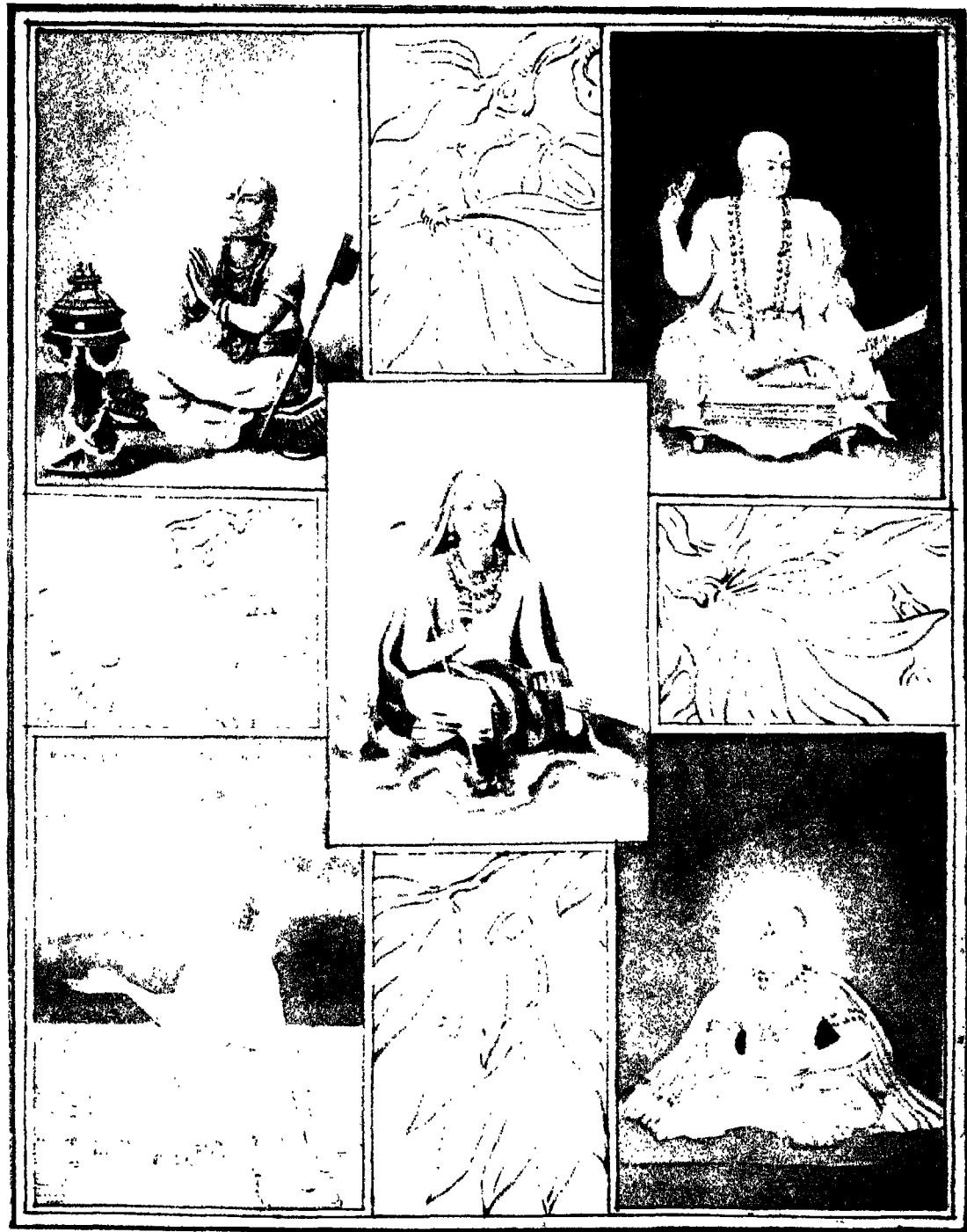
मातर्गीते !

श्रीभगवद्गीते ! हे अनन्त असीम गुणातीत विश्वातीत विशुद्ध स्वतन्त्र सच्चित्-आनन्दरूप परब्रह्मकी अभिन्न ज्योति ! हे विश्वलीलामें प्रवृत्त सृजन-पालन-संहार-मूर्ति नियन्त्रण-कला-निपुण, सर्वशक्तिमान्, सर्व-सद्गुणात्मक गुणविशिष्ट भगवान्‌की चिर-संगिनी ! हे अपनी विश्वातीत सत्तामें नित्य अनन्तरूपसे स्थित रहते हुए भी विश्वलीलामें अपनी लीलासे ही नयनाभिराम त्रिभुवन-कमनीय पूर्ण-सत्व दिव्य नरदेहधारी भगवान्‌की दैवी वाणी ! हे विश्वलीलामें असंख्य प्राणियोंके अन्तर्गत भिन्न भिन्न भावोंसे अंशरूपमें प्रतिभासित, अपनी ही मायासे लीलाहेतु स्वरूप-विस्मृत निद्दिन-से प्रतीत होनेवाले सनातन चेतन आत्माको लीलाके लिये ही प्रबुद्ध करनेवाली दिव्य-दुन्दुभि ! हे सम्पूर्ण विश्वके समस्त चेतनाचेतन पदार्थोंमें—ग्रीष्म-वर्षा, शरद्-वसन्त, शीत-उष्ण, पर्वत-सागर, स्वर्ण-लोष्ट, शिशु-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, देव-दानव, सुन्दर-भयानक, करुण रुद्र, हास्य-क्रन्दन, जन्म-मृत्यु, और सृष्टि-प्रलय आदि समस्त भावोंमें, सभीके अन्दरसे अपने नित्य सत्य केन्द्रीभूत सौन्दर्य और अखण्ड पूर्ण अस्तित्वको अभिव्यक्त करनेवाले विश्वव्यापी भगवान्‌की प्रकृत मूर्तिका उद्घाटन करनेवाली ! तुझे बार बार नमस्कार है ।

माता ! तुझ दयामयीके विश्वमें विद्यमान रहते हम विश्ववासियोंकी यह दुर्दशा क्यों हो रही है ? हे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी वाङ्मयी मूर्ति ! तू भगवान्‌का हृदय है, तू मार्ग-भ्रष्टोंकी पथ-प्रदर्शिका है, तू घन अन्धकारमें दिव्य प्रखर प्रकाश है, तू गिरे हुएको उठाती है, चलनेवालेको विशेष गतिशील बनाती है, शरणागतका हाथ पकड़कर उसे परमात्माके अभय चरणकमलोंमें पहुंचा देती है । ऐसी अद्भुत लीलामयी शान्तिदायिनी माताके रहते हम असहाय और अनाथकी भाँति क्यों दुखी हो रहे हैं, अमृत-समुद्रके शीतल सुखद तटपर निवास करके भी त्रितापसे सन्तप्त क्यों हो रहे हैं ?

देवि ! हमारा ही अपराध है । हमने तेरे स्वरूपको यथार्थ नहीं पहचाना । तेरी स्नेहपूरित मुखच्छविको श्रद्धा-समन्वित तर्कशून्य सरल दृष्टिसे नहीं देखा । इसीसे भूल-भूलैयामें पड़े हैं, इसीसे तेरे अगाध आनन्दाम्बुधिमें मतवाले-की तरह कूदकर जोरसे डुबकी लगानेमें प्राण हिचकिचाते हैं, इसीसे तेरे नित्य प्रज्वलित प्रचण्ड ज्ञानानलमें अविद्याराशिको फेंककर फूंक डालनेमें सङ्कोच होता है । इसीसे घर घरमें तेरी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा होनेपर भी विधिसङ्गत पूजा नहीं की जाती, इसीसे निराधार अबोध मातृपरायण शिशुकी भाँति तेरे चरणप्रान्तोंमें हम अपनेको लुटा नहीं देते, इसीसे तेरी प्रमत्तकारी प्रेममदिराका पानकर—तेरे मोहन-मन्त्रसे मुग्ध होकर दिव्यानन्दके दीवाने नहीं बन रहे हैं । अरे ! इसीसे आज अमूल्य रत्नराशिके हाथमें रहनेपर भी हम शान्तिधनसे शून्य दीन हीन राहके भिखारी बने अन्तर-के दारुण दाहसे दग्ध हो रहे हैं ।

हे विश्व-ज्ञान-प्रदायिनि अनन्तशक्ति माँ ! आज हम सूर्यको दीपककी क्षुद्र ज्योतिसे प्रकाशित करनेकी बालकोचित हास्यास्पद चेष्टाके सदृश तेरे विश्वव्यापी प्रकाशके किसी क्षुद्रातिक्षुद्र ज्योतिकणसे प्रकाशित मनुष्य-विशेषोंके विनाशी उद्गारों द्वारा तेरी महिमा बढ़ाना चाहते हैं । तेरे अनन्त ज्ञानको अपने सीमाबद्ध स्वल्प-ज्ञान और मनःप्रसूत अनित्य मतके रूपमें परिणत कर प्रसिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं । तेरी विश्वातीत और विश्वव्याप्त अद्भुत अनन्त ज्ञानराशिको संकुचित कर पर-मत-असहिष्णुताके कारण हम अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें ही उसका प्रयोग करना चाहते हैं । तुझे सर्वशास्त्रमयी कहकर ही तेरा गौरव बढ़ाना चाहते हैं । कुछ दिनोंके लिये प्राप्त कल्पित देश-जाति-नाम-रूपके अभिमानमें मत्त होकर सारे विश्वसे इसीलिये अपनेको भिन्न और श्रेष्ठ समझकर लोकसमुदायमें और भी मानास्पद बननेके निमित्त तुझे केवल अपने ही घरकी वस्तु बतलाकर, तुझ असीमको ससीम बनाकर अपने गौरवकी वृद्धिके लिये किसी भी तरह श्रद्धा अश्रद्धासे तेरी प्रतिमा घर घर पहुंचाना चाहते हैं । माता ! यह हमारे बालोचित कार्य हैं ! हम बालक हैं, इसीसे ऐसा करते हैं एवं हे दयामयी ! इसीसे हमारी इन चेष्टाओंको देख सुनकर भी तू नाराज नहीं होती । तू समझती है कि ये अबोध हैं इसीलिये मेरे वास्तविक स्वरूपको न पहचानकर—मुझ नित्यानन्दमयी स्नेहार्द्रहृदया जननीकी शरण न लेकर, मुझ मधुरातिमधुर शान्ति-सुधा-सागरके अगाध अन्तस्तलमें निमग्न न होकर केवल बाह्य लहरियोंकी ओर निहार रहे हैं । इसीसे तू अपनी इन लहरियोंकी मधुर तान सुना सुनाकर हमारे मनको मोहती और अपनी सुखमय गोदमें बैठाकर अमृत स्तन्यपानके लिये आवाहन करती है ।

माता ! वास्तवमें तेरी इन लहरियोंका दृश्य बड़ा मनोहर है, तेरी यह तान बड़ी श्रुतिमधुर है, इसीसे आज तेरे तटपर विश्वके सभी प्राणी दौड़ दौड़कर आ रहे हैं, यद्यपि अभी सबमें कूद पड़नेकी श्रद्धा और साहस नहीं है पर तेरी मधुर लहरी-ध्वनि हृदयोंमें एक अद्भुत मतवालापन पैदा कर रही है, इसीसे कुछ लोगोंमें तेरे लिये दीवानापन देखनेमें आ रहा है, वह देखो, कुछ तो कूद ही गये, गहरे जलमें निमग्न हो गये । और भी कूद रहे हैं । कूदेंगे ।

भाई विश्वनिवासियो ! दयामयी ज्ञानदायिनी जननीका मधुर आवाहन सुनो और तुरन्त कूदकर सदाके लिये उसकी सुखद क्रोड़में बैठकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाओ !

—सम्पादक

श्रीमद्भगवद्गीताके बीज-शक्ति-कीलक

(लेखक-आचार्य श्रीआनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव, एम-ए०, प्रो-वाइस-चान्सलर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतका एक परम मान्य मन्त्र-ग्रन्थ है । प्रत्येक मन्त्र तथा मन्त्र-ग्रन्थमें चुने हुए अमुक अमुक शब्द वा श्लोक बीज, शक्ति और कीलक कहलाते हैं। हमारे पूर्वजोंमें कितनी मर्मज्ञता और कितना तत्त्वभेदी पाण्डित्य था, इसका उदाहरण हमें भगवद्गीताके बीज, शक्ति और कीलक-रूपसे संकलित किये हुए श्लोकोंसे मिलता है। परन्तु आजकल उन सारगर्भित श्लोकोंका रहस्य न समझकर लोग यह मान बैठते हैं कि उन श्लोकोंके उच्चारणमात्रसे ही अपूर्व सिद्धि प्राप्त हो जाया करती है। परन्तु गीताके रहस्यका जिज्ञासु उसके सिद्धान्तको हृदयङ्गम करना आवश्यक समझता है। 'गीता सुगीता कर्तव्या'— गीताके सिद्धान्तका आलाप हृदयमें गूंज उठे, यही सच्चे जिज्ञासुका कर्तव्य है। इस कर्तव्यकी प्रेरणाके लिये ही बीज, शक्ति और कीलककी कल्पना की गयी है।

जिस विचारसे समग्र ग्रन्थका उदय होता है उसे बीज कहते हैं । उस ग्रन्थमें निर्दिष्ट ध्येय तक पहुँचनेके निमित्त बल-सञ्चार करनेवाले साधनको शक्ति कहते हैं। और उस शक्तिको सुदृढ़ बनानेवाला उस ध्येयके प्रति अभिनिवेश उत्पन्न करनेवाला-सिद्धान्त कीलक कहलाता है । श्रीमद्भगवद्गीताके निम्नलिखित वाक्य बीज, शक्ति, और कीलक माने जाते हैं:-

(१) बीज—अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

(२) शक्ति—सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

(३) कीलक-अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः

इन पूर्वोक्त वाक्योंमें जो अर्थ-गौरव है, उसपर अब यत्किञ्चित् मनन करना चाहिये:-

(१) बीज

गीताके परिशीलन करनेवालोंको यह बात ज्ञात होगी कि अमुक कृत्य भला और अमुक कृत्य बुरा है, यह बतलाना इस ग्रन्थका प्रयोजन नहीं है, किन्तु मनुष्यके आचरणमें भलाई-बुराई क्यों और कैसे उत्पन्न हुआ करती है और भले-बुरेका निर्णय करनेके लिये हमारा उचित दृष्टिकोण क्या होना चाहिये ? इसका विवेचन करना ही गीताका उद्देश्य है। 'ये सब तो मेरे सगे-सम्बन्धी हैं !' 'इन्हें मैं कैसे मारूं ?' 'यदि मारूंगा तो मुझे नरक मिलेगा !' अर्जुनके ये उद्गार सुननेमें बड़े ही विवेकपूर्ण मालूम होते हैं किन्तु वस्तुतः ये विचार अर्जुनके अयथार्थ दृष्टिकोणसे उत्पन्न हुए थे और इनके कारण ही वह शंका और कार्पण्य-के गर्तमें डूब गया था । जिसके मनमें यथार्थ सदसद्विवेकका उदय नहीं हुआ, जिसकी जीवन-नौकाको काम, क्रोध, लोभ, मोहरूपी प्रचण्ड पवनके झकोरे जहां चाहे वहां घसीट ले जाते हैं, ऐसे पामर-जीवके लिये तो शास्त्रमें विहित पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक आदिकी व्यवस्था परम उपयोगी है। परन्तु जिन्हें सदसद्विवेक एक बार भी प्राप्त हुआ है-(अर्जुनको सदसद्का भान था) उन्हें पाप-पुण्यकी व्यवस्थाका मूल तत्त्व क्या है, यह समझनेका अधिकार है । उन्हें उस मूलतत्त्वपर अवश्य मनन करना चाहिये । अबोध बालक गणितके गुणा-भाग गुरुकी बतलायी हुई रीतिके अनुसार ही करते हैं तथा उस रीतिसे ठीक ठीक उत्तर निकाल लेते हैं, एवं यदि बाजारका छोटा मोटा व्यवहार करना पड़े तो

पं० आनन्द शंकर बापू भाई ध्रुव,
प्रो० वाइस चान्सलर, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

श्रीरंगनाथ दिवाकर एम० ए०, एल एल० बी : धारवाड़

भिक्षु अखण्डानन्दजी।

कवि नान्हालाल दलपतराय।

स्थापित करता और उसे सार्थक (Meaning) बनाता है एवं भिन्न भिन्न वस्तुओंको परस्पर संकलित कर (Unity) जो विश्वको उनका अंगी बना देता है, वही महान् पदार्थ आत्मा है। जिसे उसके स्वरूपका भान हो गया, उसकी दृष्टिमें मैं-मेरा, सगे-सम्बन्धी, स्वर्ग-नरक आदि कुछ भी नहीं रह जाता। आत्माकी विशालतामें इन सबका रूपान्तर हो जाता है, ये सब आत्मरूप बन जाते हैं। इस बातका यह तात्पर्य नहीं कि सगे-सम्बन्धियोंकी हत्यामें पाप ही नहीं होता। तात्पर्य इतना ही है कि सगे-सम्बन्धियोंको वा अन्य किसीको मारनेमें पाप ही होता है, यह बात भी नहीं है। किसीको मार डालना ज्ञानका लक्षण नहीं है, किन्तु अज्ञानका भी लक्षण नहीं है। ज्ञान और अज्ञानका मारने अथवा न मारनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है, ज्ञान और अज्ञानका आत्म-साक्षात्कार वा असाक्षात्कारसे अवश्य सम्बन्ध है। इस आत्म-साक्षात्कारके मार्गमें कभी मारनेका कर्तव्य सामने उपस्थित होता है तो कभी मरनेका भी। देवताओंने दधीचि ऋषिसे वज्र बनानेके लिये उनकी हड्डियां माँगी थीं। जैसे मर कर हड्डी देते हुए दधीचि ऋषिने ज्ञानी होना प्रमाणित कर दिया, वैसे ही अर्जुन यदि कौरवोंको मारे, तभी वह ज्ञानी होनेका दावा कर सकता था। अर्जुन सन्मार्गगामी एवं क्षत्रिय था। इसलिये जब कौरव युद्धमें उसका सामना करें, तब उनके साथ धर्मयुद्ध करना ही उसका कर्तव्य था। असत्पक्षके क्षयके लिये परमात्माने जो कुछ रच रक्खा था, उसकी सिद्धिके लिये उसे निमित्त बनना ही चाहिये था। इस महान् कर्तव्यकी अपेक्षा और सब प्रकारके विचारोंको गौण समझ लेना चाहिये था और ऐसा करनेके लिये विशाल दृष्टि-बिन्दु प्राप्त करना भी आवश्यक था।

इस दृष्टि-बिन्दुको आत्माकी विशालता और परताका प्रतिपादन कर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको समझाया है। भगवान्के उपदेशके पूर्व अर्जुन बुरी बुरी शंका, संकोच और कृपणताकी वृत्तियोंमें फँस रहा था, और एक महान् पर्वतके शिखरसे देखनेके बदले वह अपनी झोंपड़ीके संकीर्ण झरोखोंसे ही तन्मय होकर इधर उधर दृष्टिपात कर रहा था। विश्वके और आत्मा (सर्वव्यापी तत्त्व) के दृष्टि-बिन्दुको छोड़ कर वह देह और अन्तःकरणके दृष्टि-बिन्दुको पकड़ बैठा था। अतएव भगवान् श्रीकृष्णने उसे कहा—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे'

'जिसका शोक करना उचित नहीं तू उसका शोक करता है, और फिर भी बड़े बड़े चतुराईके शब्द बोलता है'

आत्माके अमृतत्व और अविषयत्वपर स्थित होकर, प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंको तुझे देखना चाहिये, इसके बदले तू आत्माको एक नश्वर और प्राकृत पदार्थ मान बैठा है और फिर भी बड़े बड़े विवेकपूर्ण शब्द बोलता है! तू केवल ऐसे शब्द ही बोलता है किन्तु उनका रहस्य नहीं समझता। यदि समझता होता तो तुझे यह अवश्य जानना चाहिये था कि कर्तव्य-भावनाका आधार जड़ और कृत्रिम नियमोंपर नहीं है, वह एक सजीव और एक होते हुए भी अनेक रूप रखनेवाली दिव्य शक्ति है। तू जो स्वर्ग-स्नेह-दयाकी बातें करता है ये सब उस कर्तव्य-भावनाके भिन्न भिन्न प्रकारोंके अतिरिक्त और क्या है? सगे-सम्बन्धियोंका स्नेह तो ठीक है, किन्तु विश्वव्यापिनी कर्तव्य-भावनाके सामने कितनी ही बार इस स्नेहको गौण समझना पड़ता है। वस्तुतः सच्चा स्नेह भी वही है, जो कर्तव्य-भावनासे ही प्रेरित हुआ हो। इन सब बातोंका अज्ञान ही गीताका बीज है।*

---

* क्रिश्चियन लोग कई बार गीतापर यह आक्षेप करते हैं कि श्रीकृष्णने अर्जुनको युद्धरूपी कुमार्गमें प्रेरित किया। किन्तु भलाई बुराईसे पूर्ण जगत्में कैसे कैसे असंख्य प्रसंग उत्पन्न होते हैं! जो बात एक प्रसंगमें भली है, वह दूसरे प्रसंगमें बुरी है, और जो एक प्रसंगमें बुरी है, वही दूसरे प्रसंगमें कैसी भली बात हो जाती है। ऐसा होते हुए भी सब प्रकारके परिवर्तनके बीचमें भलाई-बुराईका मूल तत्त्व किस प्रकार स्थित रहता है, इसको पूर्ण रीतिसे समझनेके लिये सूक्ष्म कल्पनाशक्तिकी आवश्यकता है। वैसी कल्पनाशक्ति न होनेसे ही उपर्युक्त आक्षेप किये जाते हैं। प्रसंगवशात् कल्पनाशक्तिके जाग्रत् होनेपर क्रिश्चियन स्वयं युद्धके विषयमें क्या कहते हैं, यह बतलानेके लिये कलकत्तेके एक लार्ड बिशपके उपदेशसे हम निम्नलिखित अवतरण उद्धृत करते हैं, इसे पढ़कर गीताके सिद्धान्तका पाठकोंको उसी समय स्मरण होगा, इस अवतरणमें रेखांकित पंक्तियां विशेष ध्यान देने योग्य हैं:—

"To make little of warfare, to enter upon it with a light heart, to forget its physical horrors or its angry passions, to try to minimise its pains, its losses, its bereavements, that were a spirit quite unworthy of our faith. Yet it is possible perhaps to exaggerate the evil, great as it is, which is and must be inherent in warfare.

War is an evil but it is not the worst of evils, and it is not the worst, because the sufferings which it entails are not the worst ills *that may happen to humanity. There are causes for which men will readily endure the keenest sufferings.* If it is necessary to choose the cause of honour, virtue, religion, one's country, or one's God at the cost of death itself, the Christian mind will not hesitate in the choice. To make out war as the ultimate or final evil upon earth is not to adopt but rather to invert the Code of Christian morals.

(२) शक्ति

धर्म-संकटमें पड़नेपर अपना कर्तव्य-पथ निश्चित करनेके लिये हमारा उच्च दृष्टि-कोण होना चाहिये। आत्मा और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान उपलब्ध करनेपर ही वैसा उच्च दृष्टि-कोण प्राप्त हो सकेगा। हमारे शास्त्रकारोंने ज्ञानकी भूमिकामें पहुंचानेवाले अनेक मार्गोंकी योजना की है। उन्होंने अनेक यज्ञ, याग, तीर्थ, उपवास आदि साधन एतदर्थ ही खोज निकाले हैं। संक्षेपतः, हमारे हृदयमें जो सद्भावनाएं स्फुरित होती हैं वे सभी थोड़े बहुत अंशमें परमात्मासे सम्बन्ध रखनेके कारण परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक होती हैं। अर्जुनको जो अधर्मका त्रास और नरकका भय है, वह भी अन्तमें परमपद पर पहुंचानेवाला एक प्रकारका साधन है। कितने ही लोग कर्तव्य-बुद्धिसे कर्तव्य करते हैं, कितने लोक-कल्याणकी बुद्धिसे करते हैं, कितने स्वर्ग-नरक आदिके विचारसे करते हैं, कुछ लोग ऐहिक लाभकी आशासे ही कर्तव्यमें तत्पर होते हैं और कितने ही अमुक देवता वा ईश्वरको प्रसन्न करनेकी धारणासे कर्तव्य-परायण होते हैं। हम चाहे जिस अपेक्षासे कर्तव्य करें, कर्तव्य-परायणतामें कुछ ऐसी महिमा है—उसमें कुछ ऐसा गुण है, जिसकी प्रेरणासे हमारा अन्तःकरण पवित्र होकर परिणाममें सर्वात्म-भाव सिद्ध कर लेता है। परन्तु कर्तव्यकी उपेक्षा कदापि न करते हुए हमारा यह दृढ़ निश्चय है कि उस सर्वात्म-भावकी स्थिति सिद्ध करनेका परमोत्तम साधन परमात्माके शरण हो जाना ही है। अन्य साधन कठिन हैं, दुर्बल और एकदेशीय हैं। यही एक साधन ऐसा है जो सरल और साथ ही अपरिमित बल देनेवाला और हमारे समस्त बाह्य एवं आन्तरिक जीवनकी कायापलट कर देनेवाला है। * इसी एक परम साधनसे, विष्णुके चरण-

It is to prefer the things of sense to the spiritual interests of mankind. It is to narrow life to the limits of material and physical welfare instead of expanding it to its true spiritual dignity. Two remarks there are which it is possible, as I think, and natural to make upon the subject of war. The first is that the great decisive, paramount, events in history have been often or generally consummated by the sword. Nor indeed, as it seems, could they have been consummated in any other way. Look over the famous battles of human history, Marathon, Tours, the defeat of the Armada, Leuthen, Plassey, Valmy, Trafalgar, Waterloo, and tell me how the results which were achieved in those great battles could apparently have been achieved by any other means. The creation of a national life, the emancipation of a people, the vindication of religious truth, the regeneration of the social order, can be accomplished in the providential order, by War, and, as it seems to human eyes, by war alone. Thus it is that a modern Poet, whose own still peaceful life lay so far away from the strife and stress of bloodshed, could yet, in his Thanksgiving Ode, use of warfare, in an appeal to the Almighty God, these striking words:—

> "But thy most dreaded instrument
> In working out a pure intent,
> Is man-arrayed for mutual slaughter,-
> Yea, carnage is thy daughter !"

Again it is true beyond dispute that war is the parent, not of violence only or cruelty, but of the heroisms which elevate and ennoble human life. The real danger of the modern world, its corrupting and corroding influence, is material luxury, and that which follows luxury as its shadow—sensualism. In times of peace and plenty men live secular lives, they eat and drink and forget God.

They are apt to see the body above the soul, comfort above duty and time above eternity. It is the trumpet call of war which bursts the sloth of sensuous bonds. Men arise and show themselves once more to be men. They shake off the calculating spirit of ease and profit, they are eager to do greatly, and so suffer greatly, they feel a pride in daring and enduring, nay, even in laying down their lives for a noble cause. The poet, whose verse I have already quoted, has spoken of one—

> "Who if he be called upon to face
> Some awful moment to which Heaven has joined,
> Great issues, good or bad for human-kind,
> Is happy as a lover; and attired,
> With sudden brightness, like a men inspired."

The world could ill afford to dispense with the moral qualities of manhood, the sudden implicit obedience to the voice of duty, the steadfastness in adversity, the courage that will not allow itself to be subdued, the indestructible faith, the calm endurance of agony, above all the loving ministries which await, like guardian angels, among Christian nations, upon the pain and misery of the battlefield.'

--The Bishop of Calcutta on War.

*श्रीमद्भागवतमें कहा है:—

'यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि। तस्मिन्विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः (११.३.४०)

पुरुष जब सब विषयोंकी वासना छोड़कर केवल हरिचरणोंके पानेकी इच्छासे बढ़ी हुई विशुद्ध भक्तिके द्वारा, गुणकर्म-सम्भूत चित्तके सम्पूर्ण मलोंको नष्ट कर लेता है, तब निर्मल नेत्रोंसे जैसे सूर्यमण्डल स्पष्ट देख पड़ता है, वैसे ही विशुद्ध चित्तसे वह साक्षात् आत्म-तत्त्वको देख पाता है।

कमलसे विष्णुपादोदकी गङ्गाकी भाँति, अन्य सब साधनों-का उद्गम है। अतएव, सारे धर्म-(परमात्माके साथ योग करानेवाले छोटे बड़े सभी प्राकृत साधन)-छोड़कर 'मेरी शरण आओ' इस सर्व धर्मके रहस्यभूत वाक्यका भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको उपदेश करते हैं।

'मेरी शरण आओ'-इन तीन शब्दोंमें अखिल जगत्का रूपान्तर कर देनेवाली कैसी अद्भुत शक्ति है। ज्ञान-रविकी इस एक किरणसे समस्त अज्ञान-तमपुञ्ज किस प्रकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। मानों किसी 'अनहद नाद' के एक स्वरसे मनुष्य घोर मोह-निद्रासे जाग उठता है! इस अनोखे अनुभवका किसी भी प्रकारके तर्कसे भान कराना असम्भव है। इस अनुभवके आवेशमें ही तत्त्वदर्शी यह कहा करते हैं-'अचिन्त्याः खलु ये भावा: न तांस्तर्केषु योजयेत्' 'मैं उसकी शरण हूँ' यह उद्गार एक बार भी जिसके हृदयकी गम्भीर गुहासे निकला है, वही इसकी शक्ति और महिमाको यथार्थ रूपसे समझ पाता है। परन्तु तर्क भी इस पूर्वोक्त सिद्धान्तके कितना अनुकूल है। इसकी कुछ मीमांसा करना आवश्यक है:-

मनुष्यको सन्मार्गमें प्रेरित करनेवाली सबसे सबल शक्ति क्या है? इस प्रश्नपर विचार करनेवाले कितने ही विद्वानोंका मत है कि इस जगत्का यह नियम ही है कि सदाचारके परिणाममें सुख अवश्यम्भावी है। यदि कदाचित् हमें पुण्यसे तत्क्षण सुख न मिले तो जन्मान्तरमें या स्वर्गमें तो पुण्य-प्रभव सुख अवश्य ही मिलेगा। पुण्य या सदाचार-के साथ कष्ट और दुःखका ही सम्बन्ध है यह बात मनुष्य सहन नहीं कर सकता। इसलिये पुण्यके परिणाममें सुख किसी न किसी समय अवश्य मिलना चाहिये, वह इस प्रकार-की श्रद्धाका आश्रय लेता है। ऐसी श्रद्धा सकारण और युक्तिसंगत है, पर इस मतके प्रतिकूल यह भी कहा जाता है कि सुख-प्राप्तिके लक्ष्यसे जो प्रवृत्ति होती है उसे पुण्य या सदाचार कहना तो उचित नहीं। स्वार्थ और धर्मकी एकता कैसे मानी जा सकती है? इस कठिनता और आक्षेपका निराकरण करनेवाले कुछ विद्वानोंका मत है कि पुण्य ही सुख है-'Virtue is happiness.' इसलिये पुण्य और सुखमें कोई विरोध सम्भव नहीं है। अन्य सारे सुख गौण अथवा मिथ्या हैं-'आपातरम्याः विषयाः पर्यन्त परितापिनः।' अतएव, पुण्य ही परम सुख है। परन्तु इस मतके अनुसार भी सुख-प्राप्तिके प्रयोजनसे ही पुण्यमें प्रवृत्ति होती है। इसलिये ऐसी प्रवृत्तिको स्वार्थ-मात्र समझना चाहिये। पहले मतकी भाँति यह दूसरा मत भी हमें स्वीकृत नहीं, क्योंकि दोनों ही सुखमूलक हैं। अतएव यही अटल धर्म तत्त्व है कि पुण्यसे सुख चाहे आनुषंगिक फलरूपसे होता रहे तथापि कर्तव्य तो केवल कर्तव्यकी बुद्धिसे ही करना चाहिये। फलाभिसन्धिपूर्वक किये हुए पुण्यकर्म पुण्य नहीं माने जा सकते। जर्मन तत्त्वदर्शी 'कान्ट' (Kant) का भी यही सिद्धान्त था। किन्तु इस सिद्धान्तमें कुछ कठोरता कर्कशता अवश्य है। इसमें मनुष्यके हृदयङ्गम होनेवाला-उसके चित्त-को लुभानेवाला-कोई तत्त्व नहीं है। इसलिये किसी एक ऐसी शक्तिका अनुसन्धान करना चाहिये जिसके अवलम्बनसे मनुष्यको आनन्द हो, जिसपर वह स्वयं रीझ सके और जिसके आश्रयसे उसपर स्वार्थपरता और परतन्त्रताका दोष भी न लगे। वह शक्ति *भगवत्परायणतामें* ही मिलती है। जिसके दृढ़ अवलम्बसे पुण्य-पथका पथिक कभी हतक्षतः नहीं हो सकता। जिसके हृदयमें किसी क्षणमें भी भगवद्भाव उदित हुआ है, जिसकी जीवन-नौका एक क्षणके लिये भी भगवत्परायणताके प्रवाहमें पड़कर बह गयी है, जिसके प्रज्ञा-नेत्र एक बार भी उस अमृतमय ज्योतिकी झाँकी कर चुके हैं वह तो भगवान्‌का दिव्य, आकर्षक माधुर्य कदापि नहीं भूल सकता और उसमें ही वह अपना आत्मभाव अनुभव करता है। जो भगवान्‌की 'सर्वभाव' से शरण हो गया है, जिसने उस सर्वोत्तमभूत पदार्थमें ही अपना आत्मत्व देख लिया है, और जिसने, लोकमें जिस क्षुद्र वस्तुको आत्मा कहते हैं, उसे उसको समर्पण कर दिया है, उसकी दृष्टिमें स्वार्थपरताका प्रसङ्ग ही कहां रहा? जो 'रस' की तरङ्गोंमें लहराता हुआ तरङ्गरूप बन रहा है उसके आगे कठोरता, कर्कशता क्या चीज़ है?

पूर्वोक्त विचार-शैलीके अनुसार भी भगवत्परायणताका मार्ग ही परमोत्तम सिद्ध होता है। एक अंग्रेज कविका भी इस प्रसङ्गपर नीचे लिखा मनन-योग्य मधुरोद्गार है:-

"Away, haunt not thou me,
Thou vain Philosophy!
Little hast thou bestowed
Save to perplex the head
And leave the spirit dead.
Unto thy broken cisterns wherefore go,
While from the secret treasure
depths below
Fed by the Skiey shower,

And clouds that sink and rest on
hill-tops high,
Wisdom atonce and Power
Are willing, bubbling, unseen,
incessantly ?
Why labour at the dull mechanic Ore,
When the fresh breeze is blowing,
And the strong current flowing
Right onword to the eternal shore ?"

श्रीमद्भागवतका कथन है:—

'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥'

'हे अरविन्दाक्ष! भगवन्! जो अपने आपको मुक्त हुआ मान बैठे हैं, उनकी बुद्धि आपके प्रति भावरहित होनेसे मलिन ही रहती है। ऐसे पुरुष बड़े श्रमसे उच्चपद प्राप्त करते हैं, किन्तु वे उसे पाकर भी, आपके पादारविन्दका अनादर करनेके कारण फिर नीचे गिरते हैं।' अतएव सब धर्मोंको छोड़कर केवल मेरी ही शरणमें आओ, यही भगवान् श्रीकृष्णका परम कल्याणकारी उपदेश है—

'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज

(३) कीलक

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

भगवत्परायणतासे मानव-हृदयमें कुछ अपूर्व शक्तिका उल्लास और पुण्यका प्रबोध होता है इसमें लेशभर भी शंकाका अवकाश नहीं है। तथापि, धर्मनिष्ठ पुरुष भी कभी कभी यह शंका कर बैठते हैं कि हम पापी होते हुए परम पदके अधिकारी कैसे हो सकते हैं? हम सरीखे पापात्माओंको उस दिव्य धाममें स्थान कहाँ? इस प्रकारकी शंका होना सच्चे हृदयमें स्वाभाविक है। परन्तु परमात्माकी दिव्य शक्तिका जबतक हमें अपूर्ण भान है तभी तक यह शंका हमारे मनमें घर किये रहती है। जब हम भगवत्कृपाके मनोहर और पवित्र निर्झरके नीचे आकर खड़े रहते हैं तभी हमारे सब पापरूप मल धुल जाते हैं और हमारा अज्ञान-जनित सन्ताप शान्त हो जाता है।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'

भगवत्कृपा तो सर्वथा पाप-हारिणी है तथापि इससे यह न समझ बैठना चाहिये कि भगवान्का कृपा-पात्र अर्जुन पापी रहते हुए भी परम पद पा सकता था। पापी रहते हुए तो मनुष्य परम पद तक पहुँचता ही नहीं। पूर्व कथनका यही तात्पर्य है कि तुमने चाहे जितने पाप किये हों तथापि उन पापोंमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो तुम्हारी आत्माको सदाके लिये दूषित कर सके। चाहे जिस क्षणमें आत्माको उसके शुद्ध स्वरूपमें अनुभव किया जा सकता है और उस अनुभवके प्रकट होते ही पाप तो नितान्त निःशेष हो जाते हैं। अतएव गीतामें भगवान्का अन्यत्र यह कथन है कि:—

'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥'

'यद्यपि तू सब पापियोंमें महापापी भी क्यों न हो तथापि ज्ञानरूपी नौकासे समग्र पापकी नदीको भलीभाँति तर जायगा।' इसका आशय यह है कि ज्ञान ही मनुष्यको पापकी सीमासे पार ले जाता है। पाप-नदीसे पार जानेके लिये ज्ञानरूपी नौका तथा भगवत्कृपा-रूपी 'प्रसन्न पवन' दोनों ही अपेक्षित हैं। पापसे पराङ्मुख कर, पार ले चलना ही ज्ञानका धर्म है।

कदाचित् फिर कोई यह शंका करे कि किये हुए पाप कहाँ जायंगे? इसका उत्तर यह है:—

'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥'

पहले पापकी नदीके साथ उपमा देनेका यही अभिप्राय था कि नदीके तुल्य विस्तारवाले और अथाह गहरे पापका भी ज्ञानद्वारा लंघन किया जा सकता है। इस उपमासे किसीके मनमें यह शंका हो सकती है कि किये हुए पाप तो ज्योंके त्यों रहे। इसलिये इस शंकाके समाधानके लिये भगवान् यहां दूसरी उपमा देते हैं,—

'जिस प्रकार प्रज्वलित हुई अग्नि लकड़ियोंको जला कर भस्म कर डालती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको जला कर भस्म कर डालती है।' अर्थात् ज्ञानका यह धर्म है कि वह पूर्वके पापी संस्कारोंको उसी प्रकार रहने देकर वह केवल नये शुभ संस्कारमात्र स्थापित नहीं करता बल्कि प्रत्येक नवीन शुभ संस्कारकी उत्पादन-क्रियामें ही वह पुराने अशुभ संस्कारोंको नष्ट कर देता है। वस्तुतः ज्ञानसे संस्कार नहीं उत्पन्न होते किन्तु उससे आत्माका आन्तरिक और तात्त्विक स्वरूप ही अभिव्यक्त

होता है। आत्माका तात्त्विक स्वरूप शुद्ध है–' एष आत्माऽपहतपाप्मा ,'

इसलिये पापका ज्ञानसे क्षय होना सम्भव है। यदि ऐसा न होता तो पाप-पुण्य अपना अपना बल एक दूसरेके साथ अजमाते रहते और हमारी आत्माको अपने युद्धका एक अद्‌भुत क्षेत्र बना देते। परन्तु वस्तुतः यह बात नहीं है। हमारी आत्मामें पापका सामना करने और उसके नाश करनेका बल है। वह बल ज्ञानका है, जो चारों ओरसे घेरनेवाले पापका सामना करके उसे नष्ट कर डालता है। इसलिये पापके संहार करनेका सच्चा साधन ज्ञान है। आज मैं यदि एक बुरा कृत्य करूं और कल यथाकथञ्चित् दूसरा भला काम कर डालूं तो इतने ही मात्रसे मेरा आत्म-सुधार नहीं होगा, क्योंकि ज्ञानके बिना मैं जितने सत्कर्म करता हूं वे सब जड़ तुल्य हैं। जब ज्ञानके द्वारा पुण्यका भाव मेरी अन्तरात्मामें उदय हो जायगा, जब पुण्य प्रबोधसे मेरा अन्तःकरण जगमगा उठेगा, तभी प्रत्येक प्रसंग पर मुझमें पुण्य ही करनेका सामर्थ्य सम्भव होगा। आज निर्दयी और कल दयालु हो जानेमात्रसे मैं भविष्यमें दयाके मार्गपर सर्वथा चल सकूंगा, यह विश्वास मुझे नहीं होता। जब मेरी सारी दिनचर्या ज्ञानपुरःसर ही सम्पादित होगी, तभी मेरा भला होगा। अमुक पापके संस्कारका ही नहीं किन्तु पापमात्रका मूल अज्ञान है। वह जब जल जायगा तभी यह निश्चयरूपसे कहा जा सकता है कि सद्‌ज्ञानसे पहचाने हुए, मेरे स्वरूपके योग्य-मुझे उस स्वरूपका अनुभव करानेवाले-सत्कृत्य भविष्यमें मुझसे बन सकेंगे। संक्षेपतः बाह्य आचारके बदले विवेकपूर्वक अपनी आन्तरिक वृत्तिको शुद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो? इस प्रश्नका पहले ही यह उत्तर दिया जा चुका है–' भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे' भगवान् भक्तके प्रति कहते हैं कि ' मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तेरे पूर्वके पापोंसे भी तुझे मुक्त करूंगा, इसी प्रकार जिन जिन कर्मोंको तू पाप ही मानता है किन्तु वस्तुतः जो स्वार्थमूलक न होते हुए, दुष्टोंके नाश करनेवाले मेरे ही संकल्पके अनुकूल होनेके कारण पाप नहीं कहे जा सकते, वे भी तुझे किसी तरहके बन्धनमें नहीं डाल सकते। इसलिये तू लेशभर भी चिन्ता मत कर।' इस रीतिसे अर्जुनकी सारी शंका दूरकर भगवान् उसके मनमें पूर्वोक्त उपदेश निम्नलिखित 'कीलक' के द्वारा दृढ़ कर देते हैं:—

' अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

ये शब्द कानमें पड़ते ही, हमारी आत्मामें नैराश्य नष्ट होकर कैसी अपूर्व आशा और शक्तिका सञ्चार होता है! हे प्रभो! हे प्रपन्नपारिजात! आपने–

'कहीं लाखों निराशामें अमर आशा छिपाई है।'

वह अमर आशा यही तो है–

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः '

हौं प्रभु पतितपावन सुने।
हौं पतित तुम पतितपावन दोऊ बानक बने॥

अतएव, अर्जुनका अन्तिम निश्चय यही है:–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

हे अच्युत! हे अनेक विकारोंके मध्यमें रहते हुए भी अविकृत परम तत्त्व! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ और मुझे अपने स्वरूपका स्मरण हुआ। अब, मैं गत-सन्देह होकर स्थित हूं। मैं आपके कहे अनुसार करूंगा।*

* अनुवादकः— पण्डित गङ्गाप्रसादजी मेहता एम० ए०
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

गीतामें हरि-तेज

गीताका श्रीकृष्णचन्द्र सच्चिदानन्द है।
नित्य, सत्य, चैतन्य-रूप, आनन्द-कन्द, है॥
घट-पट-भेद-विहीन, विश्वमें ठोस भरा है॥
अविनाशी, संसार-सार, स्वच्छन्द, खरा है॥
ऐसे ब्रह्म-विवेकका कोष जहां भरपूर है।
भगवद्‌गीता मुकुरमें श्रीहरि तेज न दूर है॥

—श्रीकृष्ण कन्हैयालाल ज्योतिषी

गीताके अनुसार मनोवृत्तिकी मीमांसा

(ले०—श्रीदत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर)

प्रत्येक वस्तुका प्रारम्भ बहुत ही सूक्ष्म हुआ करता है, अंगरेज इस देशमें आये थे, उस समय किसीने यह नहीं समझा होगा कि वे इस देशकी उन्नतिके इतने विरोधी निकलेंगे। शरीरमें रोग भी बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे प्रवेश करता है। नदीमें जब जहाज चलता है तब पहले उसका वेग बहुत सूक्ष्म होता है पर एक बार ज्यों ही वह नदीकी बीच धारामें पहुँचा कि फिर सर्राटेके साथ समुद्रकी ओर दौड़ने लगता है। नदी भी उद्गमके स्थानपर कितनी छोटी होती है, पर वही हमारी धारणाके विपरीत बड़े बड़े शहरोंको डुबा देती है। मालवेके पहाड़ोंकी चींटी जैसी मही नदी खंभातके पास पहुँचते ही इतनी बड़ी हो जाती है कि लोग उसे सागर कहने लगते हैं और बड़े बड़े उन्मत्त हाथी भी उसमें उतरनेकी हिम्मत नहीं करते।

पापकी प्रगति भी ऐसी ही हुआ करती है। शुद्ध आचारवाले मनुष्यके मनमें जब किसी विषयका विचार आता है तब वह सोचता है कि 'मेरा आचार तो शुद्ध है ही, मनमें दो एक उल्टी सीधी कल्पना आ ही गयी तो क्या हुआ?' वह इस भ्रममें रहता है कि इतनेसे अधःपतन नहीं हो सकता। परन्तु इसीमें उसका सर्वनाश छिपा रहता है। पीपल जैसे महावृक्षका बीज कितना छोटा होता है? मनुष्य सर्वथा तटस्थ भावसे भी यदि विषयका जरासा विचार करता है, तो भी उसपर उसका चित्त चिपट जाता है। बार बार उस विषयका स्मरण होता है। उसका चिन्तन उसके लिये हर्षप्रद हो जाता है। उस विषयके अनायास निकट आनेपर चित्तमें प्रसन्नताका अनुभव होता है। फिर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। उसके प्रति पक्षपात उत्पन्न हो जाता है। जहां एक बार पक्षपातकी जागृति हुई कि समत्व भ्रष्ट हो जाता है। पक्षके सामने प्रतिपक्ष हुआ ही करता है। प्रतिपक्षमें अप्रियता, द्वेष और क्रोध स्वाभाविक ही होता है। काम, क्रोध मनुष्यको ऐसा अन्धा बना देते हैं कि वस्तुके यथार्थ गुण-अवगुणके जाँचने या जाननेकी शक्ति ही नष्ट हो जाती है। आसक्ति (राग) और द्वेषसे काल्पनिक गुण-अवगुणका आरोप होने लगता है। इससे प्रकृतिके प्रति रहनेवाला अनुसन्धान टूट जाता है। मनुष्यको सम्मोह होता है, सम्मोह होते ही जागृति जाती रहती है। प्रत्येक वस्तुको यथार्थरूपसे जानना और उसके प्रति अपना धर्म निश्चय करना इसीका नाम स्मृति है। इस स्मृतिके चले जानेपर सत् असत्का विवेक करके धर्म और अधर्मका निश्चय करनेवाली बुद्धि ही नष्ट हो जाती है। जबतक बुद्धि है, तभी तक मनुष्य है। इस न्यायसे बुद्धिके खो देने पर मनुष्यका सर्वनाश होते क्या देर लगती है? 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।'

पापकी ऐसी ही प्रगति है। पाप जब आता है, तब वह गरीब गायकी तरह सीधा सादा बनकर आता है, परन्तु एक बार उसके पैर जमते ही वह सिंहकी तरह फाड़ कर खाये बिना नहीं रहता। यमराजमें दया होती है परन्तु पापमें नहीं होती। अतएव पहले ही से पापपर दया नहीं करनी चाहिये। पापपर दया करनेसे वह हमें खा जायगा। विषयोंकी जातिमें ही इतना मेल है कि जहां उनमेंसे एकको आने दिया कि फिर बिना ही बुलाये तुरन्त कौवोंकी तरह सभी आ डटते हैं। मनुष्य जहां एकबार इनके कब्जेमें आया कि फिर गीधकी तरह वह चारों ओरसे उसे नोच खाते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

सब धर्मोंकी मातृभूमि

गीता विवेकरूपी वृक्षोंका एक अपूर्व बगीचा है। यह सब सुखोंकी नींव है। सिद्धान्त-रत्नोंका भाण्डार है। नवरसरूपी अमृतसे भरा हुआ समुद्र है। खुला हुआ परम धाम है। सब विद्याओंकी मूल भूमि है। अशेष शास्त्रोंका आश्रय है। सब धर्मोंकी मातृभूमि है, सज्जनोंका प्रेमास्पद मित्र है। सरस्वतीके लावण्य-रत्नोंका भाण्डार है।··· यह गीता ज्ञानामृतसे भरी हुई गंगाजी है, विवेकरूपी क्षीरसागरकी नव-लक्ष्मी है। —महात्मा ज्ञानेश्वर महाराज

कामके अन्दरसे क्रोध कैसे उत्पन्न होता है, मानसशास्त्रकी दृष्टिसे यह खूब विचारणीय विषय है। कामका अर्थ प्रेम नहीं है। प्रेमको अपने सुख दुःखसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। प्रेम तो दूसरेके कल्याणके लिये आत्मसमर्पण करना जानता है। भलीभांति विचार करनेपर पता लगता है कि काम स्वार्थी है। अपनी तृप्ति ही उसका एकमात्र हेतु होता है। जैसे साधारण मनुष्य यह समझता है कि सूर्य, चन्द्र ग्रहादि सभी अपनी पृथ्वीके आसपास घूमते हैं, वैसे ही कामी मनुष्य कामको मध्यबिन्दु बनाकर जगत्‌को देखता है, इसीसे उसका जीवन-ज्योतिष अटपटा और अन्धा होता है। बाह्य वस्तुओंकी गतिके सम्बन्धमें वह मनमाने आरोप करता है। ऐसा मनुष्य संसारकी सरल गति नहीं समझ सकता, न्याय-नीति नहीं समझ सकता, इसीसे वह पक्षमें उतर पड़ता है। कामी मनुष्य अपनी इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिये दुनियाका क्रम बदलना चाहता है और जब वह नहीं बदला जाता, तब चिढ़ उठता है। उसका मन पक्षपाती होनेके कारण वस्तुस्थितिको नहीं समझ सकता, इसीसे वह चिढ़ता है। कामके लिये वह जिस वस्तुपर प्यार करता है, वह जब उसके अधिकारमें नहीं आती तब वह उसीपर क्रोध करता है। प्यारी गायके दूध न देनेपर यदि मनुष्यका गायके साथ सच्चा प्रेम हो तो वह कभी उसपर लकड़ी नहीं चलावेगा! आशामें विक्षेप होते ही, आशा टूटते ही काम ही क्रोधका रूप धारण कर लेता है। अपनेको प्रिय लगनेवाली वस्तुके लिये मनुष्य जब यह देखता है कि वह वस्तु मेरी होकर नहीं रह सकती, तब वह उसे नाश कर डालनेमें विलम्ब नहीं करता।

अनुराग और द्वेष ये एक ही वस्तुके दो पक्ष हैं। एक लोहेके सीधे पत्रेको एक ओरसे दबाकर हम उसका तवा बनाते हैं, तवा एक ही वस्तु है। परन्तु उसके एक तरफ गड्ढा और दूसरी तरफसे वह कुछ उठा हुआ सा दीखता है। रागद्वेषकी भी यही हालत है। साम्यावस्था (दोनों ओरकी सीधी समतल स्थिति) बिगड़ी कि रागद्वेष पैदा हुए। जो विश्वका मित्र होना चाहता है वह कोई एकका खास मित्र नहीं रह सकता। उसके लिये सभी समान हैं। भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके साथ सम्बन्धमें न्यूनाधिकता अवश्य रहती है, परन्तु उसके हृदयकी भावना सबके प्रति समानही होती है। एक जेबके रुपये दूसरी जेबमें जानेसे जैसे मालिकके मनमें रुपये खोने कमानेका भाव नहीं होता; किसी सम्पूर्ण कुटुम्बके मित्रको उस कुटुम्बके एक भाईको ज्यादा और दूसरेको कम मिलनेमें जैसे जलन नहीं होती, वैसेही अजातशत्रु विश्वमित्र दुनियामें विचरता है। अपने विषयमें भी उसका पक्षपात नहीं रहता। रागद्वेष (राग=अनुराग=आसक्ति) जानेके बाद बच क्या रहता है? फिर समाधान और प्रसन्नता रहती है। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा यह चतुर्विध प्रसन्नता रह जाती है। प्रसन्नताका अर्थ है, आकांक्षाका अभाव।

दूसरी तरहसे प्रसन्नताका अर्थ स्वच्छता समझिये! रागद्वेषरूपी कादेके बैठ जानेपर चित्तरूपी जल स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। कादेसे जल गंदला रहता है, इसीसे उसके अन्दर क्या है, सो दिखायी नहीं देता। जल स्वच्छ होते ही पारदर्शक बन जाता है। चित्तप्रसादका ऐसा ही प्रभाव है। जिसको चित्तप्रसाद प्राप्त हो गया है, वह अपना तो क्या दूसरेके मनका भी पार पा जाता है। ज्ञानप्राप्ति-तत्त्वप्राप्तिमें बाधा देनेवाली एकमात्र वस्तु रागद्वेषादि वासनाओंका किल्बिष ही है। कितनी ही बार रागद्वेषके कारण एकाग्रता आती हुई दिखती है, किसी अंशतक यह बात सत्य है परन्तु वह एकाग्रता अन्धी और आत्मघातिनी होती है। सत्य ज्ञान तो प्रसादसे ही होता है। किसी यन्त्र, या संस्थाका स्वरूप, उसकी रचना और उसका प्रयोजन तथा कार्य समझे बिना यदि हम उसके अन्दर प्रवेश करते हैं तो ठोकर खाकर गिरना और दुखी होना अनिवार्य है। परन्तु उसी यन्त्र या संस्थाकी स्थितिको भलीभांति समझ लेनेपर हम उसमें सुरक्षित और स्वतन्त्रभावसे घूम फिर सकते हैं। एक स्थितिका नाम रात्रि है और दूसरीका दिन। अन्धेरेमें हमें ठोकर लगती है, प्रकाश हमें स्वतन्त्रता प्रदान करता है। यद्यपि दोनों स्थितियोंमें आसपासका संगठन एकसा ही रहता है। रागद्वेष जाकर प्रसन्नताकी प्राप्ति होतेही हमें प्रकाश मिल जाता है। विश्वसंस्था, उसका स्वभाव और उसमें अपना स्थान हम समझ लेते हैं और उससे हमारे सब दुःखोंका नाश होजाता है। फिर जैसे दुपहरीके प्रकाशमें हमें चाहे जहां घूमने फिरनेमें कोई आपत्ति नहीं होती, वैसे ही बुद्धि भी चाहे जैसे घूमती हुई अपने स्थानपर सदा स्वाधीन और स्वस्थ रहती है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

परमहंस बखन्नाथजी, रतनगढ़ ।

स्वामी श्रीभोलेबाबाजी ।

स्वामी उत्तमनाथजी ।

स्वामी निर्मलानन्दजी ।

महात्मा गान्धीजी

श्रीमालवीयजी।

भाई परमानन्द।

ला० लाजपतरायजी।

महामना मालवीयजीकी अभिलाषा

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

मेरा विश्वास है कि मनुष्य-जातिके इतिहासमें सबसे उत्कृष्ट ज्ञान और अलौकिक शक्ति-सम्पन्नपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण हुए हैं। मेरा दूसरा विश्वास यह है कि पृथ्वीमण्डलकी प्रचलित भाषाओंमें उन भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई भगवद्गीताके समान छोटे वपुमें इतना विपुल ज्ञानपूर्ण कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

वेद और उपनिषदोंका सार, इस लोक और परलोक दोनोंमें मंगलमय मार्गका दिखानेवाला, कर्म, ज्ञान और भक्तिके तीनों मार्गों द्वारा मनुष्यको परम श्रेयके साधनका उपदेश करनेवाला, सबसे ऊँचे ज्ञान, सबसे विमल भक्ति, सबसे उज्ज्वल कर्म, यम, नियम, त्रिविध तप, अहिंसा, सत्य और दयाके उपदेशके साथ साथ धर्मके लिये धर्मका अवलम्बन कर, अधर्मको त्याग कर युद्ध करनेका उपदेश करनेवाला, यह अद्भुत ग्रन्थ जिसमें १८ छोटी अध्यायोंमें इतना सत्य, इतना ज्ञान, इतने ऊंचे गम्भीर सात्विक उपदेश भरे हैं, जो मनुष्यमात्रको नीचीसे नीची दशासे उठाकर देवताओंके स्थानमें बैठा देनेकी शक्ति रखते हैं। मेरे ज्ञानमें पृथ्वीमण्डलपर ऐसा कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है जैसा भगवद्गीता है। गीता धर्मकी निधि है। केवल हिन्दुओंकी ही नहीं, किन्तु सारे जगत्के मनुष्योंकी निधि है। जगत्के अनेक देशोंके विद्वानोंने इसको पढ़कर लोकको उत्पत्ति स्थिति और संहार करनेवाले परम पुरुषका शुद्ध सर्वोत्कृष्ट ज्ञान और उनके चरणोंमें निर्मल निष्काम परमा भक्ति प्राप्त की है। वे पुरुष और स्त्री बड़े भाग्यवान हैं जिनको इस संसारके अन्धकारसे भरे घने मार्गोंमें प्रकाश दिखानेवाला यह छोटा किन्तु अक्षय स्नेहसे पूर्ण धर्म-प्रदीप प्राप्त हुआ है। जिनको यह धर्म-प्रदीप (धर्मकी लालटेन) प्राप्त है उनका यह भी धर्म है कि वे मनुष्य मात्रको इस परम पवित्र ग्रन्थका लाभ पहुँचानेका प्रयत्न करें।

मेरी यह अभिलाषा और जगदाधार जगदीशसे प्रार्थना है कि मैं अपने जीवनमें यह समाचार सुन लूं कि बड़े से बड़ेसे लेकर छोटेसे छोटे तक प्रत्येक हिन्दू सन्तानके घरमें एक भगवद्गीताकी पोथी भगवान्की मूर्तिके समान भक्ति और भावनाके साथ रक्खी जाती है। और मैं यह भी सुनूं कि और और धर्मोंके माननेवाले इस देशके तथा पृथ्वीमण्डलके और सब देशोंके निवासियोंमें भी भगवद्गीताके प्रचारका इस कार्यके महत्त्वके उपयुक्त सुविचारित और भक्ति, ज्ञान और धनसे सुसमर्थित प्रबन्ध हो गया है॥ श्रीकृष्णः प्रीणातु॥

मदन मोहन मालवीय

महात्माजीका सन्देश

(तार द्वारा)

यदि मनों गीताका आचरण-रहित अध्ययन तराजूके एक पलड़ेमें रक्खा जाय और दूसरेमें तनिकसा भी गीतामय जीवन रक्खा जाय तो वह पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक भारी होगा ।

मोहनदास कर्मचन्द गांधी ।

Put tons of Gita study in one scale and one ounce of practice of Gita teaching the other, the latter will far outweigh the former. *Gandhi*
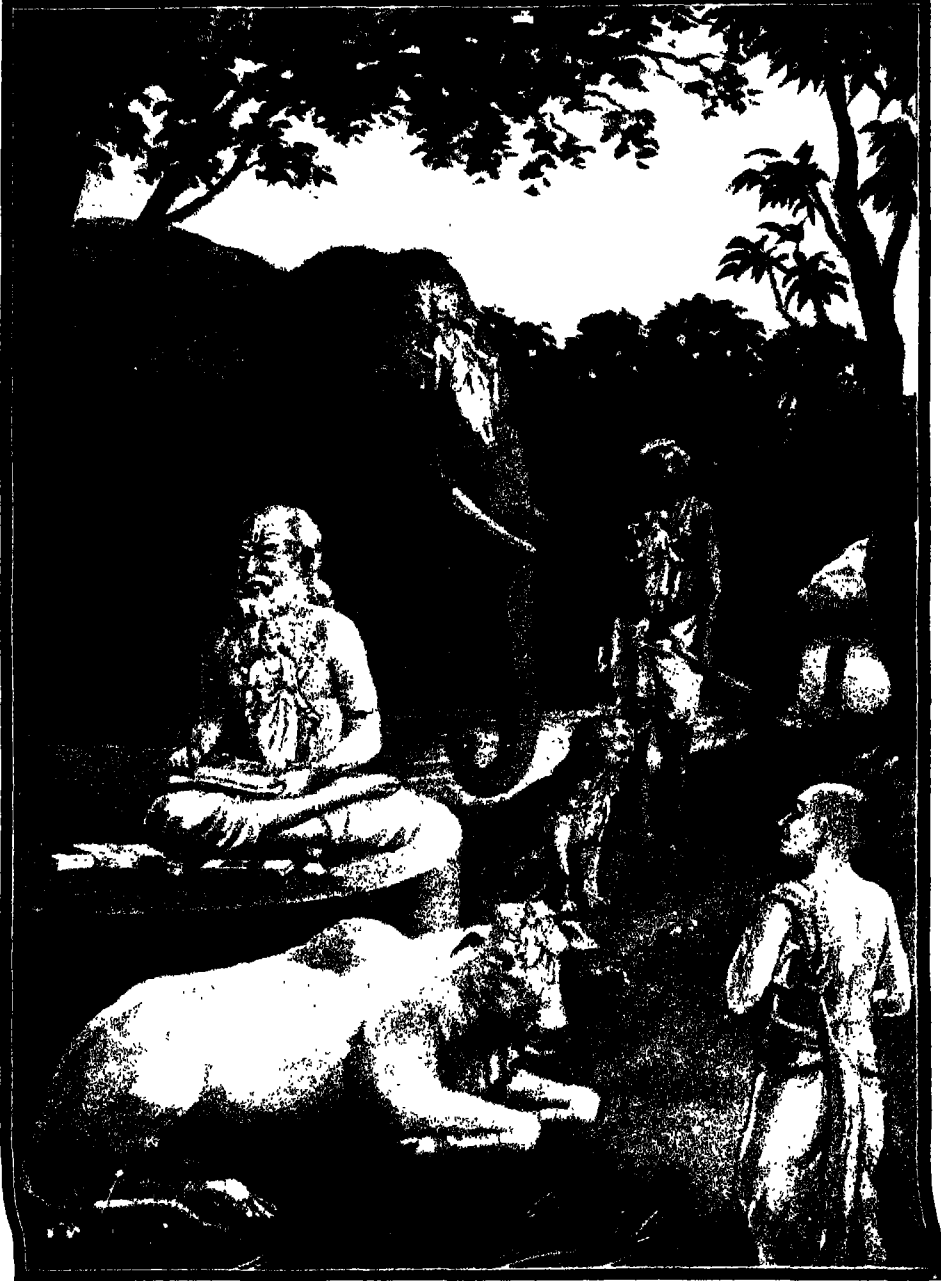
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गी० अ० ५ । १८)

भगवद्गीताके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय

(ले०—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ल्याण'गीतांकके सम्पादकोंने श्रीमद्भगवद्गीतासम्बन्धी कुछ विषयोंपर लिखनेके लिये मुझे प्रेरणा की है। वास्तवमें गीताके इन तात्त्विक विषयों पर भगवान्‌का क्या आशय है इसका प्रतिपादन करना कोई साधारण बात नहीं है। मेरी तो बात ही क्या है, बड़े बड़े विद्वान् भी इन विषयोंमें मोहित हो जाते हैं। इस अवस्थामें भगवान्‌का आशय अमुक ही है यों निश्चितरूपसे कहना एक प्रकारसे अपनी बुद्धिका परिचय देना है। तथापि लोग अपने अपने भावोंके अनुसार अनुमान लगाया ही करते हैं, इसी न्यायसे मैं भी अपना अनुमान आप लोगोंकी सेवामें उपस्थित कर देता हूं। वस्तुतः अपनी दिव्य वाणीका यथार्थ रहस्य तो भगवान् ही जानते हैं।

(१)

गीताके अनुसार जीवन्मुक्तका स्वरूप

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता ६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी (जीवन्मुक्त) अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

गीताके अनुसार जीवन्मुक्त वही है, जिसका सर्वदा सर्वथा सर्वत्र सम भाव है। जहां जहांपर मुक्त पुरुषका गीतामें वर्णन है, वहां समताका ही उल्लेख पाया जाता है। गीताके अनुसार जिसमें समता है वही स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी, गुणातीत, भक्त और जीवन्मुक्त है। ऐसे जीवन्मुक्तमें राग-द्वेषरूपी विकारोंका अत्यन्त अभाव होता है; मान-अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति आदि समस्त द्वन्द्वोंमें वह समतायुक्त रहता है। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति अथवा घटना उसके ब्रह्मभूत हृदयमें किसी प्रकारका भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती। किसी भी कालमें किसीके साथ किसी प्रकारसे भी उसकी साम्य-स्थितिमें परिवर्तन नहीं होता। निन्दा करनेवालेके प्रति उसकी द्वेष या वैर-बुद्धि और स्तुति करनेवालेके प्रति राग या प्रेम-बुद्धि नहीं होती। दोनोंमें समान वृत्ति रहती है। मूढ़ अज्ञानी मनुष्य ही निन्दा सुनकर दुखी और स्तुति सुनकर सुखी हुआ करते हैं। सात्त्विक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं। पर जीवन्मुक्तका अन्तःकरण इन दोनों भावोंसे शून्य रहता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अपनी भी भिन्न सत्ता नहीं रहती, तब निन्दा-स्तुतिमें उसकी भेदबुद्धि कैसे हो सकती है? वह तो सबको एक परमात्माका ही स्वरूप समझता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (१३।३०)

'जिस समय यह पुरुष भूतोंके पृथक् पृथक् भावोंको एक परमात्माके सङ्कल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा उस परमात्माके सङ्कल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको ही प्राप्त होता है।' इसलिये उसकी बुद्धिमें एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ रह ही नहीं जाता। लोकसंग्रह और शास्त्रमर्यादाके लिये सबके साथ यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी, व्यवहारमें बड़ी विषमता प्रतीत होनेपर भी उसकी समबुद्धिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (५।१८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले ही होते हैं।' इस श्लोकसे व्यवहारका भेद स्पष्ट है। यदि केवल मनुष्योंकी ही बात होती तो व्यवहार-भेदका खण्डन भी किसी तरह खींचतान कर किया जा सकता, परन्तु इसमें तो ब्राह्मणादिके साथ कुत्ते आदि पशुओंका भी समावेश है। कोई भी विवेकसम्पन्न पुरुष इस श्लोकमें कथित पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता। मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, इन तीनों पशुओंमें भी व्यवहारकी बड़ी भारी भिन्नता है। हाथीका काम कुत्तेसे नहीं निकलता। गौकी जगह कुतिया नहीं रक्खी जाती। जो लोग इस श्लोकसे व्यवहारमें अभेद सिद्ध करना

चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म नहीं समझते । इस श्लोकमें तो समदर्शी जीवन्मुक्तकी आध्यात्मिक स्थिति बतलानेके लिये ऐसे पांच जीवोंका उल्लेख किया गया है जिनमें व्यवहारमें बड़ा भारी भेद है और इस भेदके रहते भी ज्ञानी सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित सम ब्रह्मको देखता है । यद्यपि उसकी दृष्टिमें किसी देश काल पात्र या पदार्थमें कोई भेदबुद्धि नहीं होती, तथापि वह व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भेद-बुद्धिवालोंको विपरीत मार्गसे बचानेके लिये आसक्तिरहित होकर उन्हींकी भांति न्याययुक्त व्यवहार करता है (गीता ३ । २५-२६) क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके आदर्शको सामने रखकर ही अन्य लोग व्यवहार किया करते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ (३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार वर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, अन्य लोग भी उसीके अनुसार वर्तते हैं ।'

वास्तवमें जीवन्मुक्त पुरुषके लिये कोई कर्तव्याकर्तव्य या विधिनिषेध नहीं है, तथापि लोकसंग्रहार्थ, मुक्तिकामी पुरुषोंको असत्-मार्गसे बचानेके लिये जीवन्मुक्तके अन्तःकरणद्वारा कर्मोंकी स्वाभाविक चेष्टा हुआ करती है । उसका सबके प्रति समान सहज प्रेम रहता है। सबमें समान आत्मबुद्धि रहती है । इस प्रकारके समतामें स्थित हुए पुरुष जीते हुए ही मुक्त हैं । उनकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥
(५ । २०)

'जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ।' सुख-दुःख, अहन्ता, ममता आदिके नातेसे भी वह सबमें समबुद्धि रहता है । अज्ञानीका जैसे व्यष्टि शरीरमें आत्मभाव है, वैसे ही ज्ञानीका समष्टिरूप समस्त संसारमें है । इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे दूसरेके दर्दका दर्दके रूपमें ही अनुभव होता है । एक अंगुलीके कटनेका अनुभव दूसरी अंगुलीको नहीं हो सकता, परन्तु जैसे दोनोंका ही अनुभव आत्माको होता है, इसीप्रकार ज्ञानीका आत्मरूपसे सबमें समभाव है । यदि ब्राह्मण चाण्डाल और गौ, हाथी आदिके बाह्य शारीरिक खानपान आदिमें समान व्यवहार करनेको ही समताका आदर्श समझा जाय तो वह आदर्श तो बहुत सहजमें ही हो सकता है फिर भेदाभेदरहित आचरण करनेवाले पशुमात्रको ही जीवन्मुक्त समझना चाहिये । आचार-रहित मनुष्य और पशु तो सबके साथ स्वाभाविक ही ऐसा व्यवहार करते हैं और करना चाहते हैं, कहीं रुकते हैं तो भयसे रुकते हैं । पर इस समवर्तनका नाम ज्ञान नहीं है । आजकल कुछ लोग सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी समवर्तन-के व्यवहारकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, परन्तु उनमें जीवन्मुक्तिके कोई लक्षण नहीं देखे जाते । अतएव गीताके समदर्शनको सबके साथ समवर्तन करनेका अभिप्राय समझना अर्थका अनर्थ करना है । ऐसी जीवन्मुक्ति तो प्रत्येक मनुष्य सहजमें ही प्राप्त कर सकता है । जिस जीवन्मुक्तिकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है और जिस स्थितिको प्राप्त करना महान् कठिन माना जाता है, वह क्या इतनेसे उच्छृङ्खल समवर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है ? वास्तवमें समदर्शन ही यथार्थ ज्ञान है । समवर्तनका कोई महत्त्व नहीं है। यह तो मामूली क्रियासाध्य बात है, जो जङ्गली मनुष्यों तथा पशुओंमें प्रायः पायी जाती है ।

गीताके समदर्शनका यह अभिप्राय कदापि नहीं है । शत्रु-मित्र, मान-अपमान, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति आदि समदर्शन करना ही यथार्थ समता है ।

यह समता ही एकता है । यही परमेश्वरका स्वरूप है । इसमें स्थित हो जानेका नाम ही ब्राह्मीस्थिति है । जिसकी इसमें गाढ़ स्थिति होती है उसके हृदयमें सात्त्विकी, राजसी, तामसी किसी भी कार्यके आने जानेपर किसी भी कालमें कभी हर्ष-शोक और राग-द्वेषका विकार नहीं होता । इस समबुद्धिके कारण वह अपनी स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता । इसीसे उस धीर पुरुषको स्थितप्रज्ञ कहते हैं । किसी भी गुणके कार्यसे वह विकारको प्राप्त नहीं होता, इसीसे वह गुणातीत है, एक ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित है, इसीसे वह ज्ञानी है । परमात्मा वासुदेवके सिवा कहीं कुछ भी नहीं देखता इसीसे वह भक्त है । उसे कोई कर्म कभी बांध नहीं सकते इसीसे वह जीवन्मुक्त है । इच्छा, भय और क्रोधका उसमें अत्यन्त अभाव हो जाता है । वह मुक्त पुरुष

लोकदृष्टिमें सब प्रकार योग्य आचरण करता हुआ प्रतीत होनेपर भी, उसके कार्योंमें अज्ञानी मनुष्योंको भेदकी प्रतीति होनेपर भी, वह विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हुआ उसीमें एकीभावसे सदा सर्वदा स्थित रहता है। उसका वह आनन्द नित्य शुद्ध और बोधस्वरूप है, सबसे विलक्षण है! लौकिक बुद्धिसे उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

(२)

जीव, ईश्वर और ब्रह्मका भेद

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥
(गी० १३।२२)

'वास्तवमें यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी पर (त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत) ही है। केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मादिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा है, ऐसा कहा गया है।'

पण्डितजन कहते हैं कि गीताके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है। उपर्युक्त श्लोकसे यह स्पष्ट है कि यह परपुरुष परमात्मा ही भोगनेके समय जीव, सृष्टिकी उत्पत्ति पालन और संहारके समय ईश्वर और निर्विकार अवस्थामें ब्रह्म कहा जाता है। इस श्लोकमें भोक्ता शब्द जीवका; उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता और महेश्वर शब्द ईश्वरके एवं परमात्मा शुद्ध ब्रह्मका वाचक है। परमपुरुषके विशेषण होनेसे सब उसीके रूप हैं। इन्हीं तीनों रूपोंका वर्णन आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे तीन प्रश्नोंके उत्तरमें आया है। अर्जुनका प्रश्न था कि 'किं तद्ब्रह्म' 'वह ब्रह्म क्या है?' इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा 'अक्षरं ब्रह्म परमं' 'परम अविनाशी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है।' 'किं अध्यात्मं' 'अध्यात्म क्या है?' के उत्तरमें 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' 'अपना भाव यानी जीवात्मा' और 'कः अधियज्ञः' 'अधियज्ञ कौन है?' के उत्तरमें 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' 'मैं ईश्वर इस शरीरमें अधियज्ञ हूं।' ऐसा कहा है। इसी बातको अवतारका कारण बतलानेके पूर्वके श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है -

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥(४।६)

'मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूं।' आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि मैं जो श्रीकृष्णके रूपमें साधारण मनुष्य-सा दीखता हूँ सो मैं ऐसा नहीं, पर असाधारण ईश्वर हूं। सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं यानी अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं (९।११) भगवान् श्रीकृष्ण (ईश्वर) और ब्रह्मका अभेद गीतामें कई जगह बतलाया है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥(१४।२७)

'हे अर्जुन! अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धामका एवं अखण्ड एक रस आनन्दका मैं ही आश्रय हूं। अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत-धर्म तथा ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये मैं इनका परम आश्रय हूं।' गीताके कुछ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥(१०।२०)
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।(१३।२)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूं, तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूं। सब (शरीररूप) क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान। इत्यादि!'

इसके अतिरिक्त यह बतलानेवाले भी शब्द हैं कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है। जैसे—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥(७।७)
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥(९।१९)
'वासुदेवः सर्वमिति' ... ...।(७।१९)

'हे धनञ्जय! मुझसे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुंथा हुआ है। मैं ही सूर्यरूप हुआ तपता हूं, मैं ही वर्षाको आकर्षण करता और बरसाता हूं, हे अर्जुन! अमृत और मृत्यु एवं सत् तथा असत् भी सब कुछ मैं ही

हूं । यह सब कुछ वासुदेव ही है ।' इस प्रकार गीतासे जीव ईश्वर और ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है ।

इस अभेदका स्वरूप बतलाते हुए पण्डितगण जीवात्माको घटाकाश, ईश्वरको मेघाकाश और ब्रह्मको महाकाशके दृष्टान्तसे समझाया करते हैं । जैसे एक ही आकाश उपाधिभेदसे त्रिविध प्रतीत होता है इसी प्रकार एक ब्रह्ममें ही त्रिविध कल्पना है । यह व्याख्या आंशिकरूपसे मान्य और आभदायक भी है, परन्तु वास्तवमें ब्रह्ममें ऐसा विभाग नहीं समझ लेना चाहिये । आकाश विकारी है, उसमें विकारसे भेद सम्भव है, परन्तु ब्रह्म निर्विकार शुद्ध बोधस्वरूप अटल है, अतएव उसमें आकाशकी भांति विकार सम्भव नहीं । वास्तवमें यह बड़ा ही गहन विषय है। भगवान्‌ने भी समझानेके लिये कहा है, 'ममैवांशो जीवलोके' जीवात्मा मेरा ही अंश है, परन्तु वह किसप्रकारका अंश है यह समझना कठिन है । कुछ विद्वान इसके लिये स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं । जैसे स्वप्नकालमें पुरुष अपने ही अन्दर नानाप्रकारके दृश्यों, पदार्थों और व्यक्तियोंको देखता तथा उनसे व्यवहार करता है, परन्तु जागनेके बाद अपने सिवा स्वप्नदृष्ट समस्त पदार्थोंका अत्यन्त अभाव समझता है, स्वप्नमें दीखनेवाले समस्त पदार्थ उसके कल्पित अंश थे इसी प्रकार ये समस्त जीव परमात्माके अंश हैं । यद्यपि यह दृष्टान्त बहुत उपादेय और आदर्श है तथापि इससे यथार्थ वस्तुस्थितिकी सम्यक् उपलब्धि नहीं हो सकती । क्योंकि नित्य चेतन, निर्भ्रान्त, ज्ञानघन परमात्मामें निद्रा, भ्रान्ति और मोहका आरोप किसी भी कालमें नहीं किया जा सकता । अतएव उदाहरण-युक्तियोंके बलपर इस रहस्यको समझना समझाना असम्भव सा ही है । गीतोक्त साधनोंद्वारा परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे ही इसका तत्त्व जाना जा सकता है । इसीसे यमराजने नचिकेतासे कहा है–

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

'उठो जागो और श्रेष्ठपुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो।' भगवान्‌ने भी कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः (४।३४)

'इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत्, प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान । वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

परन्तु इससे यही न मान लेना चाहिये कि गीतामें भेदके प्रतिपादक शब्द ही नहीं हैं । ऐसे बहुतसे स्थल हैं जहां भेदमूलक शब्द पाये जाते हैं । भिन्न भिन्न अध्यायोंसे तीनोंका भिन्न भिन्न वर्णन है । शुद्ध ब्रह्मको मायासे अतीत, गुणोंसे अतीत, अनादि, शुद्ध, बोध-ज्ञान-आनन्दस्वरूप अविनाशी आदि बतलाया है । जैसे—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ (१३।१२)

'जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर (मनुष्य) परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको मैं अच्छी प्रकारसे कहूंगा, वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है, वह दोनोंसे अतीत है ।' 'अक्षरं ब्रह्म परमं' 'अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्, अनिर्देश्यम्, कूटस्थम्, ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, अक्षरम्, आदि नामोंसे वर्णन किया गया है, श्रुतियां भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि कहती हैं ।

ईश्वरका वर्णन सृष्टिके उत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता और शासनकर्ता आदिके रूपमें किया गया है । यथा-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (९।१०)
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ (१०।६)
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया । (१८।६१)

'हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्‌को रचती है । इस हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है । सातों महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होनेवाले चारों सनकादि तथा स्वायंभुव आदि चौदह मनु मेरेमें भाववाले मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है । हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ।' इसी तरह अ० ४ १३ में 'चातुर्वर्ण्यके कर्ता' अ० ५।२९ में 'सर्वलोकमहेश्वर' अ० ७।६ में 'सम्पूर्ण जगत्‌के उत्पत्तिप्रलयरूप'; अ० ११।३२ में 'लोक-संहारमें प्रवृत्त महाकाल' इत्यादि रूपोंसे वर्णन है ।

जीवात्माका भोक्ता, कर्ता, ज्ञाता, अंश, अविनाशी, नित्य आदि शब्दोंसे निरूपण किया गया है । जैसे–अध्याय

२।१८ में 'नित्य अविनाशी अप्रमेय'; अध्याय १३।२१ में 'प्रकृतिमें स्थित गुणोंके भोक्ता और गुणोंके संगसे अच्छी बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला'; अ० १५।७ में सनातन अंश; अ० १२।१६ में 'अक्षर कूटस्थ'; आदि शब्दोंसे वर्णन है।

इस प्रकार गीतामें अभेद-भेद दोनों प्रकारके वर्णन पाये जाते हैं। एक ओर जहां अभेदकी बड़ी प्रशंसा है, वहां दूसरी ओर (अध्याय १२।२ में) सगुणोपासककी प्रशंसा कर भेदकी महिमा बढ़ायी गयी है। इससे स्वाभाविक ही यह शङ्का होती है कि गीतामें भेदका प्रतिपादन है या अभेदका? जब भेद और अभेद दोनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है तब उनमेंसे किसी एकको गलत नहीं कहा जा सकता। परन्तु सत्य कभी दो नहीं हो सकते, वह तो एक ही होता है। अतः इस विषयपर विचार करनेसे यही अनुमान होता है कि वास्तवमें जो वस्तु तत्त्व है उसको न भेद ही कहा जा सकता है और न अभेद ही। वह सबसे विलक्षण है, मन वाणीसे परे है, वह वस्तुस्थिति वाणी या तर्क-युक्तियोंसे समझी या समझायी नहीं जा सकती, जो जानते हैं वे ही जानते हैं। जाननेवाले भी उसका वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते। श्रुति कहती है—

> नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
> यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ (केन उ०)

जबतक वास्तविक तत्त्वको मनुष्य नहीं समझ लेता, तबतक इनका भेद मानकर साधन करना अधिक सुरक्षित और लाभदायक है, गीता में दोनों प्रकारके वर्णनोंसे यह प्रतीत होता है कि दयामय भगवान्ने दो प्रकारके अधिकारियोंके लिये दो अवस्थाओंका वर्णन किया है। वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय है। वह अतर्क्य विषय परमात्मा-की कृपासे ही जाननेमें आ सकता है। उस तत्त्वको यथार्थ-रूपसे जाननेका सरल उपाय उस परमात्माकी शरणागति है। इसमें सबका अधिकार है। भगवान्ने कहा है।—

> मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ (९।३२)

'स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'—

आगे चलकर भगवान्ने स्पष्ट कह दिया है कि—

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
> तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (१८।६२)

हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परमशान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।' वह परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिये अन्तमें उन्होंने कहा—

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८।६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको समस्त पापोंसे मुक्त कर दूंगा। तू शोक मत कर!' *

(३)

गीताके अनुसार कर्म विकर्म और अकर्मका स्वरूप

> कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
> अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः (गीता ४।१७)

कर्मकी गति बड़ी ही गहन है, इसीसे भगवान् बड़ा जोर देकर उसे समझनेके लिये कहते हैं और समझाते हैं। यहां कर्मकी तीन संज्ञा की गयी है–कर्म, विकर्म और अकर्म। यद्यपि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि भगवान्-का अभिप्राय वास्तवमें क्या है, परन्तु विचार करनेपर जो कुछ समझमें आता है वही लिखा जाता है। साधारण-तया विद्वज्जन इनका स्वरूप यही समझते हैं कि, १–इस लोक या परलोकमें जिसका फल सुखदायी हो उस उत्तम क्रिया-का नाम कर्म है। २-जिसका फल इस लोक या परलोकमें दुःखदायी हो उसका नाम विकर्म है और ३–जो कर्म या कर्म-त्याग किसी फलकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता उसका नाम अकर्म है। इन तीनोंके रहस्यको समझना इसलिये भी बड़ा कठिन हो रहा है कि हम लोगोंने मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको ही कर्म नाम दे रक्खा है, परन्तु यथार्थमें यह बात नहीं है। यदि यही बात होती तो फिर ऐसा कौनसा रहस्य था जो सर्वसाधारणके समझमें न आता? भगवान् भी क्यों कहते कि कर्म और अकर्म क्या हैं इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं (किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।) और क्यों इसे गहन ही बतलाते?

* शरणागतिके विषयमें सविस्तर देखना हो तो कल्याण तृतीय वर्षके ७ वीं संख्याके पृष्ठ ७०३ में 'शरणागति' शीर्षक लेख देखें।

इससे यह सिद्ध होता है कि मन, वाणी, शरीरकी स्थूल क्रिया या अक्रियाका नाम ही कर्म, विकर्म या अकर्म नहीं है। कर्ताके भावोंके अनुसार कोई भी क्रिया कर्म, विकर्म और अकर्मके रूपमें परिणत हो सकती है। साधारणतः तीनोंका भेद इस प्रकार समझना चाहिये।

कर्म

मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली विधिसंगत उत्तम क्रियाको ही कर्म मानते हैं, पर ऐसी विधिरूप क्रिया भी कर्ताके भावोंकी विभिन्नताके कारण कर्म, विकर्म या अकर्म बन जाती हैं। इसमें भाव ही प्रधान है. जैसे—

(१) फलकी इच्छासे शुद्ध भावनापूर्वक जो विधिसङ्गत उत्तम कर्म किया जाता है उसका नाम कर्म है।

(२) फलकी इच्छापूर्वक बुरी नीयतसे जो यज्ञ, तप, दान, सेवा आदि रूप विशेष कर्म भी किया जाता हैं वह कर्म तमोगुणप्रधान होनेसे विकर्म यानी पापकर्म हो जाता है। यथा—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १७।१९

'जो तप मूढतापूर्वक हठसे मन, वाणी, शरीरकी पीड़ासहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेकी नीयतसे किया जाता है वह तामस कहा गया है।'

(३) क—फलासक्तिरहित हो भगवदर्थ या भगवदर्पण बुद्धिसे अपना कर्तव्य समझकर जो कर्म किया जाता है (गीता ९।२७-२८, १२।१०-११) मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फलोत्पादक न होनेके कारण उस कर्मका नाम अकर्म है। अथवा—

ख—परमात्मामें अभिन्न भावसे स्थित होकर कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषद्वारा जो कर्म किया जाता है वह भी मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फल नहीं देनेवाला होनेसे अकर्म ही है। (गी० ३।२८;५।८-९;१४।१९)

विकर्म

साधारणतः मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि अकर्तव्य या निषिद्ध कर्ममात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे भी कर्ताके भावानुसार कर्म, विकर्म या अकर्मके रूपमें बदल जाते हैं। इसमें भी भाव ही प्रधान है—

(१) इहलौकिक या पारलौकिक फलेच्छापूर्वक शुद्ध नीयतसे किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म-से लगते हैं) कर्म समझे जाते हैं, (गीता २।३७)

(२) बुरी नीयतसे किये जानेवाले निषिद्ध कर्म तो सभी विकर्म हैं।

(३) आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर शुद्ध नीयतसे कर्तव्य प्राप्त होनेपर किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म यानी निषिद्ध कर्मसे प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होनेके कारण अकर्म समझे जाते हैं (गीता २।३८;१८-१७)

अकर्म

मन, वाणी, शरीरकी क्रियाके अभावका नाम ही अकर्म नहीं है। क्रिया न करनेवाले पुरुषोंके भावोंके अनुसार उनका क्रिया त्यागरूप अकर्म भी कर्म, विकर्म और अकर्म बन सकता है। इसमें भी भाव ही प्रधान है।

(१) मन, वाणी, शरीरकी सब क्रियाओंको त्यागकर एकान्तमें बैठा हुआ क्रियारहित साधक पुरुष जो अपनेको सम्पूर्ण क्रियाओंका त्यागी समझता है, उसके द्वारा स्वरूपसे कोई काम होता हुआ न दीखनेपर भी त्यागका अभिमान रहनेके कारण उससे वह 'त्याग' रूप कर्म होता है। यानी उसका वह त्यागरूप अकर्म भी कर्म बन जाता है।

(२) कर्तव्य प्राप्त होनेपर भय या स्वार्थके कारण, कर्तव्यकर्मसे मुंह मोड़ना, विहित कर्मोंको न करना और बुरी नीयतसे लोगोंको ठगनेके लिये कर्मोंका त्याग कर देना आदिमें भी स्वरूपसे कर्म नहीं होते, परन्तु यह अकर्म दुःखरूप फल उत्पन्न करता है, इससे इसको विकर्म या पापकर्म समझना चाहिये। (३-६।१८-७)

(३) परमात्माके साथ अभिन्न भावको प्राप्त हुए जिस पुरुषका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके अन्दर समाधि कालमें जो क्रियाका आत्यन्तिक अभाव है, वह अकर्म ही यथार्थ अकर्म है। (२।५५,५८;६।१९,२५)

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि कर्म विकर्म और अकर्मका निर्णय केवल क्रियाशीलता और निष्क्रियतासे ही नहीं होता। भावोंके अनुसार ही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म आदि हो जाते हैं। इस रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला ही गीताके मतसे मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और सम्पूर्ण कर्मोंके करनेवाला है।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्

और वही संसार-बन्धनसे सर्वथा छूटता है—

'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'।

(४)

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

सातवें अध्यायके चौथे, पांचवें और छठे श्लोकोंमें 'अपरा' 'परा' और 'अहं' के रूपमें जिस तत्त्वका वर्णन है, उसीका तेरहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्र' 'क्षेत्रज्ञ' और 'माम्' के नामसे एवं पन्द्रहवें अध्यायके सोलह और सतरहवें श्लोकमें 'क्षर' 'अक्षर' और 'पुरुषोत्तम'के नामसे है। इन तीनोंमें 'अपरा' 'क्षेत्र' और 'क्षर' प्रकृतिसहित इस जड़ जगत्के वाचक हैं; 'परा' 'क्षेत्रज्ञ' और 'अक्षर' जीवके वाचक हैं तथा 'अहं' 'माम्' और 'पुरुषोत्तम' परमेश्वरके वाचक हैं।

क्षर—प्रकृतिसहित विनाशी जड़ तत्त्वोंका विस्तार तेरहवें अध्यायके पांचवें श्लोकमें है,—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके सूक्ष्म भावरूप पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) दस इन्द्रियां, एक मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पांच विषय इस प्रकार चौबीस क्षर तत्त्व हैं। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इन्हींका संक्षेप अष्टधा प्रकृतिके रूपमें किया गया है-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (७।४)

और भूतोंसहित इसी प्रकृतिका और भी संक्षेपरूप पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' है। या यों समझना चाहिये कि 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' का विस्तार अष्टधा प्रकृति और उसका विस्तार चौबीस तत्त्व हैं। वास्तवमें तीनों एक ही वस्तु हैं। सातवें अध्यायके तीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा चौथे श्लोकमें 'अधिभूत' के नामसे, तेरहवें अध्यायके बीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें (दस) कार्य, (तेरह) करण, और (एक) प्रकृतिके नामसे (कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते) एवं चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें 'महद्ब्रह्म' और 'मूर्तयः' शब्दोंसे भी इसी प्रकृतिसहित विनाशी जगत्का वर्णन किया गया है।

अक्षर—सातवें अध्यायके पांचवें श्लोकमें 'पराप्रकृति' के नामसे, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रज्ञ'के नामसे और पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें कूटस्थ और अक्षरके नामसे जीवका वर्णन है। यह जीवात्मा प्रकृतिसे श्रेष्ठ है, ज्ञाता है, चेतन है तथा अक्षर होनेसे नित्य है। पन्द्रहवें अध्यायके १६ वें श्लोकमें 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' के अनुसार जीवका विशेषण 'कूटस्थ' होनेके कारण कुछ सज्जनोंने इसका अर्थ प्रकृति या भगवान्‌की मायाशक्ति किया है परन्तु गीतामें 'अक्षर' और 'कूटस्थ' शब्द कहीं भी प्रकृतिके अर्थमें व्यवहृत नहीं हुए, बल्कि ये दोनों ही स्थान स्थानमें जीवात्मा और परमात्माके वाचकरूपसे आये हैं। जैसे-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ (६।८)
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ (१२।३)
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। (८।२१)
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। (३।१५)

दूसरी बात यह विचारणीय है कि आगे चलकर १८ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि मैं 'क्षर' से अतीत हूं और 'अक्षर' से भी उत्तम हूं। यदि 'अक्षर' प्रकृतिका वाचक होता तो 'क्षर' की भांति इससे भी भगवान् अतीत ही होते, क्योंकि प्रकृतिसे तो परमात्मा अतीत हैं। गीतामें ही भगवान्‌ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। (७।१३।१४)

इन श्लोकोंसे सिद्ध है कि प्रकृति गुणमयी है और भगवान् गुणोंसे अतीत हैं। कहीं भी ऐसा वचन नहीं मिलता, जहां ईश्वरको प्रकृतिसे उत्तम बतलाया गया हो। इससे यही समझमें आता है कि यहां 'अक्षर' शब्द जीवका वाचक है। मायाबद्ध चेतन जीवसे शुद्ध निर्विकार परमात्मा उत्तम हो सकते हैं, अतीत नहीं हो सकते। इसलिये यहां अक्षरका अर्थ प्रकृति न मानकर जीव मानना ही उत्तम और युक्तियुक्त है। स्वामी श्रीधरजीने भी यही माना है।

इसी जीवात्माका वर्णन सातवें अध्यायके २९ वें और आठवें अध्यायके पहले तथा तीसरे श्लोकमें 'अध्यात्म' के नामसे एवं तेरहवें अध्यायके श्लोक १९, २०, २१ में

'पुरुष' शब्दसे है। वहां सुख दुःखोंके भोक्ता प्रकृतिमें स्थित, और सदसद् योनिमें जन्म लेनेवाला बतलानेके कारण पुरुष शब्दसे 'जीवात्मा' सिद्ध है। पन्द्रहवें अध्याय-के सातवें श्लोकमें 'जीवभूत' नामसे और आठवेंमें 'ईश्वर' नामसे, चौदहवें अध्यायके तीसरेमें 'गर्भ' और 'बीज' के नामसे भी जीवात्माका ही कथन है। जीवात्मा चेतन है, अक्षर है, ध्रुव है, नित्य है, भोक्ता है, इन सब भावोंको समझानेके लिये ही भगवान्‌ने विभिन्न नाम और भावोंसे वर्णन किया है।

पुरुषोत्तम—यह तत्त्व परम दुर्विज्ञेय है, इसीसे भगवान्‌ने अनेक भावोंसे इसका वर्णन किया है। कहीं सृष्टि-पालन और संहारकर्त्तारूपसे, कहीं शासकरूपसे, कहीं धारणकर्त्ता और पोषणकर्त्ताके भावसे, कहीं पुरुषोत्तम परमेश्वर परमात्मा अव्यय और ईश्वर आदि नाना नामसे वर्णन है। 'अहं' 'माम्' आदि शब्दोंसे जहां तहां इसी परम अव्यक्त, पर, अविनाशी, नित्य, चेतन, आनन्द, बोध-स्वरूपका वर्णन किया गया है। जैसे–

> अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ (७।६)
>
> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
>
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ (१५।१७)
>
> अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥(१५।१८)
>
> —वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्—(१५।१५)
>
> समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । (१३।२७)

उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके वर्णनमें क्षर प्रकृति तो जड़ और विनाशशील है। अक्षर जीवात्मा नित्य, चेतन, आनन्दरूप प्रकृतिसे अतीत और परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्मासे अभिन्न होते हुए भी अविद्यासे सम्बन्ध होनेके कारण भिन्नसा प्रतीत होता है। ज्ञानके द्वारा अविद्याका सम्बन्ध नाश होजाने पर जब वह परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है, तब उसे परमात्मासे भिन्न नहीं कहा जाता अतएव वास्तवमें वह परमात्मासे भिन्न नहीं है। पुरुषोत्तम परमात्मा नित्यमुक्त प्रकृतिसे सदा अतीत, सबका महाकारण अज अविनाशी है। प्रकृतिके सम्बन्धसे उसे भर्त्ता, भोक्ता महेश्वर आदि नामोंसे कहते हैं। प्रकृति और समस्त कार्य परमात्मामें केवल अध्यारोपित है। वस्तुतः परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। इस रहस्यका तत्त्व जाननेको ही परम पदकी प्राप्ति और मुक्ति कहा जाता है। अतः इसको जाननेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् कहते हैं–

> तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
>
> स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ (६।२३)

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है, जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये वह परमात्माकी प्राप्तिरूप योग तत्पर-चित्तसे निश्चयपूर्वक ही करना चाहिये।

(५)

गीता मायावाद मानती है या परिणामवाद

श्रीमद्भगवद्गीतामें दोनों ही वादोंके समर्थक शब्द मिलते हैं, इससे निश्चयरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि गीताको वास्तवमें कौनसा वाद स्वीकार है। मेरी समझसे गीताका प्रतिपाद्य विषय कोई वाद विशेष नहीं है। सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमात्माको प्राप्त करना गीताका उद्देश्य है। जिसके उपायस्वरूप कई प्रकारके मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें परिणामवाद और मायावाद दोनों ही आ जाते हैं।—जैसे—

> अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
>
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
>
> भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
>
> रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥
>
> (८।१८-१९)

इसलिये वे यह भी जानते हैं, कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेश-कालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं ॥१८॥

और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर, प्रकृतिके वशमें हुआ, रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है, हे अर्जुन ! इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है ॥१९॥

इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट प्रकट है कि समस्त व्यक्त जड़ पदार्थ अव्यक्त समष्टि शरीरसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें उसीमें लय हो जाते हैं। यहां यह नहीं कहा कि उत्पन्न या लय होते हुएसे प्रतीत होते हैं, वास्तवमें नहीं होते, परन्तु स्पष्ट उत्पन्न होना अर्थात् उस अव्यक्तका ही व्यक्तरूपमें परिणाम-

को प्राप्त होना और दूसरा परिणाम व्यक्तसे पुनः अव्यक्त रूप होना बतलाया है। इन अव्यक्त तत्त्वोंका संघात (सूक्ष्म समष्टि) भी महाप्रलयके अन्तमें मूल अव्यक्तमें विलीन हो जाता है और उसीसे उसकी उत्पत्ति होती है। उस मूल अव्यक्त प्रकृतिको ही भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायके श्लोक ३,४ में 'महद्ब्रह्म' कहा है। महासर्गकी आदिमें सम्पूर्ण मूर्तियों (शरीरों) की उत्पत्तिमें महद्ब्रह्मको ही कारण बतलाया है। अर्थात् जडवर्गके विस्तारमें इस प्रकृतिको ही हेतु माना है। गीता अध्याय १३ । १९-२० में भी कार्य-करणरूप तेईस तत्त्वोंको ही प्रकृतिका विस्तार बतलाया है।* इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ देखनेमें आता है, सो सब प्रकृतिका कार्य है। यानी प्रकृतिही परिणामको प्राप्त हुई है। जीवात्मासहित जो चतुर्विध जीवोंकी उत्पत्ति होती है, वह प्रकृति और उस पुरुष के संयोगसे होती है। इनमें जितने देह—शरीर हैं, वे सब प्रकृतिका परिणाम हैं और उन सबमें जो चेतन है सो परमेश्वरका अंश है। चेतनरूप बीज देनेवाला पिता भगवान् हैं। भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (१४।४)

'हे अर्जुन ! नानाप्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।' गीतामें इस प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिमें प्रकृतिसहित पुरुषका कथन जगह जगह मिलता है, कहीं परमेश्वरकी अध्यक्षतासे प्रकृति उत्पन्न करती है, ऐसा कहा गया है (९।१०) तो कहीं मैं उत्पन्न करता हूं (९।८) ऐसे वचन मिलते हैं। सिद्धान्त एक ही है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह सारा चराचर जगत् प्रकृतिका परिणाम है। परमेश्वर अपरिणामी है गुणोंसे अतीत है। इस संसारके परिणाममें परमेश्वर प्रकृतिको सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, सहायता करता है; परन्तु उसके परिणामसे परिणामी नहीं होता। आठवें अध्यायके २० वें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है कि 'अव्यक्त प्रकृतिसे परे जो एक सनातन अव्यक्त परमात्मा है, उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह परिणामरहित एकरस रहता है।' इसीलिये गीताने उसीका समझना यथार्थ बतलाया है जो सम्पूर्ण भूतोंके नाश होनेपर भी परमात्माको अविनाशी एकरस समझता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥(१३।२७)

इससे सिद्ध होता है कि नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वास्तवमें इस परिवर्तनशील संसारका ही परिवर्तन होता है। इस प्रकार गीतामें परिणामवादका समर्थन किया गया है।

इसके विपरीत गीतामें ऐसे श्लोक भी बहुत हैं जिनके आधारपर अद्वैत मतके अनुसार व्याख्या करनेवाले विद्वान् मायावाद सिद्ध करते हैं। भगवान्‌ने कहा है—'मेरी योगमायाका आश्चर्यजनक कार्य देख, जिससे बिना ही हुआ जगत् मुझसे परिणामको प्राप्त हुआ सा दीखता है (न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ९।५) यानी वास्तवमें संसार मुझ (परमात्मा) में है नहीं। पर दीखता है इस न्यायसे है भी। अतः यह

*आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथ्वी रूप पांच महाभूत एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच विषय इन दशको कार्य कहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन, (अन्तःकरण), श्रोत्र, त्वक्, रसना, नेत्र, घ्राण (ज्ञानेन्द्रियां) एवं वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा (कर्मेन्द्रियां) इन तेरहके समुदायका नाम करण है। सांख्यकारिकामें कहा है—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष (सां० का० ३) मूल प्रकृति-विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति-विकृति है, सोलह विकार है और पुरुष न प्रकृति है न विकृति है।

अव्याकृत मायाका नाम मूल प्रकृति है। वह किसीका विकार न होनेके कारण किसीकी विकृति नहीं है। ऐसा कहा जाता है। महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि), अहङ्कार, भूतोंकी सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ ये सात प्रकृति-विकृति हैं। मूल प्रकृतिका विकार होनेसे इनको विकृति कहते हैं एवं इनसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति होती है इसीसे इन्हें ही प्रकृति कहते हैं, अतएव दोनों मिलकर इनका नाम प्रकृति-विकृति है। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, एक मन और पांच स्थूल भूत ये सोलह विकृति हैं। सात प्रकृति-विकृति अहङ्कार और तन्मात्रासे इनकी उत्पत्ति होनेके कारण इन्हें विकृति कहते हैं। इनसे आगे अन्य किसीकी उत्पत्ति नहीं है इससे ये किसीकी प्रकृति नहीं हैं विकृतिमात्र हैं। सांख्यके अनुसार मूल प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रा, फिर अहङ्कारसे ११ मनेन्द्रियां और पञ्चतन्मात्रासे पञ्च स्थूल भूत। गीताके १३ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें भी प्रायः ऐसा ही वर्णन है।

सब मेरी मायाका खेल है। जैसे रज्जुमें बिना हो हुए सर्प दीखता है वैसे ही बिना ही हुए अज्ञानसे संसार भी भासता है। आगे चलकर भगवान्‌ने जो यह कहा है कि 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसे जान।' इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आकाशसे उत्पन्न होकर उसीमें रहनेवाले वायुके समान संसार भगवान्‌में है। यह दृष्टान्त केवल समझानेके लिये है। सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि सात्विक राजस तामस भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं परन्तु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं (न त्वहं तेषु ते मयि ७।१२)

'मेरे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है (मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ७।७); 'सब कुछ वासुदेव ही है (वासुदेवः सर्वमिति । ७।१६); 'इस संसार वृक्षका जैसा स्वरूप कहा है, वैसा यहाँ (विचारकालमें) पाया नहीं जाता' (न रूपमस्येह तथोपलभ्यते) आदि वचनोंसे मायावादकी पुष्टि होती है। एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जो कुछ प्रतीत होता है सो केवल मायामात्र है।

इस तरह दोनों प्रकारके वादोंको न्यूनाधिकरूपसे समर्थन करनेवाले वचन गीतामें मिलते हैं। मेरी समझसे गीता किसी वादविशेषका प्रतिपादन नहीं करती, वह किसी वादके तत्त्वको समझानेके लिये अवतरित नहीं हुई, वह तो सब वादोंको समन्वय करके ईश्वर-प्राप्तिके भिन्न भिन्न मार्ग बतलाती है। गीतामें दोनों ही वादोंके माननेवालोंके लिये पर्याप्त वचन मिलते हैं, इससे गीता सभीके लिये उपयोगी है। अपने अपने मत और अधिकारके अनुसार गीताका अनुसरण कर भगवत्प्राप्तिके मार्गपर आरूढ होना चाहिये।

(६)

ज्ञान योग आदि शब्दोंका पृथक् पृथक् अर्थोंमें प्रयोग

श्रीमद्भगवद्गीतामें कई शब्द ऐसे हैं जिनका प्रसंगानुसार भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ ज्ञान, योग, योगी, युक्त, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त और अक्षरके कुछ भेद प्रमाणसहित बतलाये जाते हैं। एक एक अर्थके लिये प्रमाणमें विस्तारभयसे केवल एक ही प्रसंगका अवतरण दिया जाता है। परन्तु ऐसे प्रसंग प्रत्येक अर्थके लिये एकाधिक या बहुतसे मिल सकते हैं:—

ज्ञान

'ज्ञान' शब्दका प्रयोग गीतामें ७ सात अर्थोंमें हुआ है जैसे—

(१) तत्त्वज्ञान—अ० ४।३७-३८—इनमें ज्ञानको सम्पूर्ण कर्मोंके भस्म करनेवाले अग्निके समान और अतुलनीय पवित्र बतलाया है, जो तत्त्वज्ञान ही हो सकता है।

(२) सांख्यज्ञान—अ० ३।३—इसमें सांख्यनिष्ठामें स्पष्ट 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग है।

(३) परोक्षज्ञान—अ० १२।१२-इसमें ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान और कर्मफल-त्यागको श्रेष्ठ बतलाया है, इससे यह ज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं होकर, परोक्षज्ञान है।

(४) साधनज्ञान—अ० १३।११—यह ज्ञान तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है। इससे साधनज्ञान है।

(५) विवेकज्ञान—अ० १४।१७-यह सतोगुणसे उत्पन्न होनेवाला है, इससे विवेकज्ञान है।

(६) लौकिक ज्ञान—अ० १८।२१—इस ज्ञानसे मनुष्य सब प्राणियोंमें भिन्न भिन्न भाव देखता है, इसलिये यह राजस या लौकिक ज्ञान है।

(७) शास्त्रज्ञान—अ० १८।४२—इसमें विज्ञान शब्द साथ रहने और ब्राह्मणका स्वाभाविक धर्म होनेके कारण यह शास्त्रज्ञान है।

योग

'योग' शब्दका प्रयोग सात ७ अर्थोंमें हुआ है।

(१) भगवत्-प्राप्तिरूप योग—अ० ६।२३—इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है।

(२) ध्यानयोग—अ० ६।१९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है।

(३) निष्काम कर्मयोग—अ० २।४८—योगमें स्थित होकर आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समान बुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम कर्मयोग है।

(४) भगवत्-शक्तिरूप योग—अ० ६।५—इसमें आश्चर्य-जनक प्रभाव दिखलानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है।

(५) भक्तियोग-अ० १४।२६—निरन्तर अव्यभिचार-रूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है। इसमें स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्द है।

(६) अष्टाङ्गयोग—अ० ८।१२—धारणा शब्द साथ होने तथा मन-इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टांगयोग है।

(७) सांख्ययोग—अ० १३।२४ इसमें सांख्ययोगका स्पष्ट शब्दोंसे उल्लेख है।

योगी

'योगी' शब्दका प्रयोग नौ ९ अर्थोंमें हुआ है।

(१) ईश्वर—अ० १०।१७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे ईश्वरवाचक है।

(२) आत्मज्ञानी—अ० ६।८—ज्ञान विज्ञानमें तृप्त और स्वर्ण मिट्टी आदिमें समतायुक्त होनेसे आत्मज्ञानीका वाचक है।

(३) ज्ञानी-भक्त—अ० १२।१४—परमात्मामें मन बुद्धि लगानेवाला होने तथा मद्भक्त'का विशेषण होनेसे ज्ञानी-भक्तका वाचक है।

(४) निष्काम कर्मयोगी—अ०५।११—आसक्तिको त्यागकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे निष्काम कर्मयोगीका वाचक है।

(५) सांख्ययोगी—अ० ५।२४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है।

(६) भक्तियोगी—अ० ८।१४—अनन्यचित्तसे नित्य निरन्तर भगवान्‌के स्मरणका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोगीका वाचक है।

(७) साधकयोगी—अ० ६।४५—अनेक जन्मसंसिद्ध होनेके अनन्तर ज्ञानकी प्राप्तिका उल्लेख है, इससे यह साधकयोगीका वाचक है।

(८) ध्यानयोगी—अ० ६।१०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है।

(९) सकाम कर्मयोगी—अ० ८।२५—वापस लौटनेवाला होनेसे यह सकाम कर्मयोगीका वाचक है।

युक्त

'युक्त' शब्दका प्रयोग सात७ अर्थोंमें हुआ है।

(१) तत्त्वज्ञानी—अ० ६।८—ज्ञानविज्ञानसे तृप्तात्मा होनेसे यह तत्त्वज्ञानीका वाचक है।

(२) निष्काम कर्मयोगी-अ० ५।१२—कर्मोंका फल परमेश्वरके अर्पण करनेवाला होनेसे यह निष्काम कर्मयोगी-का वाचक है।

(३) सांख्ययोगी—अ० ५।८—सब क्रियाओंके होते रहनेपर कर्तापनके अभिमानका न रहना बतलाया जानेके कारण सांख्ययोगीका वाचक है।

(४) ध्यानयोगी—अ० ६।१८—वशमें किया हुआ चित्त परमात्मामें स्थित हो जानेका उल्लेख होनेसे यह ध्यान-योगीका वाचक है।

(५) संयमी—अ० २।६१—समस्त इन्द्रियोंका संयम करके परमात्म-परायण होनेसे यह संयमीका वाचक है।

(६) संयोगसूचक—अ० ७।२२—श्रद्धाके साथ संयोग बतानेवाला होनेसे यह संयोगसूचक है।

(७) यथायोग्य व्यवहार—अ० ६।१७—यथायोग्य आहार विहार शयन और चेष्टा आदि करनेवाला होनेसे यह यथायोग्य व्यवहारका वाचक है।

आत्मा

'आत्मा' शब्दका प्रयोग ग्यारह ११ अर्थोंमें हुआ है।

(१) परमात्मा—अ० ३।१७—ज्ञानीकी उसीमें प्रीति, उसीमें तृप्ति और उसीमें सन्तुष्टि होनेके कारण परमात्माका वाचक है।

(२) ईश्वर—अ० १०।२०—सब भूतोंके हृदयमें स्थित होनेसे ईश्वरका वाचक है।

(३) शुद्धचेतन—अ० १३।२९—अकर्ता होनेसे शुद्ध चेतनका वाचक है।

(४) परमेश्वरका स्वरूप—अ० ७।१८—ज्ञानीको अपना आत्मा बतलानेके कारण यह स्वरूप ही समझा जाता है। इससे स्वरूपका वाचक है।

(५) परमेश्वरका सगुणस्वरूप—अ० ४।७—अवतार-रूपसे प्रकट होनेका उल्लेख रहनेसे सगुण स्वरूपका वाचक है।

(६) जीवात्मा–अ० १६।२१ अधोगतिमें जानेका वर्णन होनेसे जीवात्माका वाचक है।

(७) बुद्धि–अ० १३।२४ (आत्मना) ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखनेका वर्णन है, यह देखना बुद्धिसे ही होता है। अतः यह बुद्धिका वाचक है।

(८) अन्तःकरण–अ० १८।५१ इसमें 'आत्मानम् नियम्य' यानी आत्माको वशमें करनेका उल्लेख होनेसे यह अन्तःकरणका वाचक है।

(९) हृदय–अ० १५।११ इसमें 'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्', 'योगीजन' अपने आत्मामें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं। आत्मा हृदयमें स्थित होता है, अतः यहां यह (आत्मनि) हृदयका वाचक है।

(१०) शरीर–अ० ६।३२ 'आत्मौपम्येन' अपनी सादृश्यतासे लक्षित होनेके कारण यहां आत्मा शरीरका वाचक है।

(११) निज वाचक–अ० ६।५ आत्मा ही आत्माका मित्र और आत्मा ही आत्माका शत्रु है, ऐसा उल्लेख रहनेसे यह निज वाचक है।

ब्रह्म

'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग सात ७अर्थोंमें हुआ है।

(१) परमात्मा–अ० ७।२६ भगवान्‌के शरण होकर जरा-मरणसे छूटनेके लिये यत्न करनेवाले ब्रह्मको जानते हैं, ऐसा कथन होनेसे यहां परमात्माका वाचक है।

(२) ईश्वर–अ० ५।१० ' सब कर्म ब्रह्ममें अर्पण करनेका उल्लेख होनेसे यह ईश्वरका वाचक है।

(३) प्रकृति–अ० १४।४ महत् विशेषण होनेसे प्रकृतिका वाचक है।

(४) ब्रह्मा–अ० ८।१७ कालकी अवधिवाला होनेसे यहां 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्माका वाचक है।

(५) ओंकार–अ० ८।१३ 'एकाक्षर' विशेषण होने और उच्चारण किये जानेवाला होनेसे ओंकारका वाचक है।

(६) वेद–अ० ३।१५ (पूर्वार्ध) कर्मकी उत्पत्तिका कारण होनेसे वेदका वाचक है।

(७) परमधाम–अ० ८।२४ शुक्ल-मार्गसे प्राप्त होनेवाला होनेसे परम धामका वाचक है।

अव्यक्त

'अव्यक्त' शब्दका प्रयोग तीन ३ अर्थोंमें हुआ है।

(१) परमात्मा–अ० १२।१ अक्षर विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

(२) शुद्ध चेतन–अ० २।२५ स्पष्ट है।

(३) प्रकृति–अ० १३।५ स्पष्ट है।

अक्षर

'अक्षर' शब्दका प्रयोग चार ४ अर्थोंमें हुआ है।

(१) परमात्मा–अ० ८।३ ब्रह्मका विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

(२) जीवात्मा–अ० १५।१६ कूटस्थ विशेषण होने और अगले श्लोकमें उत्तम पुरुष परमात्माका अन्य रूपसे उल्लेख होनेसे यह जीवात्माका वाचक है।

(३) ओंकार–अ० ८।११ स्पष्ट है।

(४) वर्ण–अ० १०।३३ स्पष्ट है।

गीतोक्त भक्तके लक्षण

(आल्हाकी तर्जपर)

जीवमात्रसे द्वेष न राखहिं मित्र सबके करुणावान।
निर्मम निरहंकार दुःख सुख दोनोंमें सम क्षमानिधान॥
दृढ़ निश्चय जीते इन्द्रिय मन मोहिं माहि पूर्ण आसक्त।
सबै दशामें तुष्ट चित्त जो सो हैं मेरे प्यारे भक्त।
उदासीन निरपेक्ष शुद्ध तनु दक्ष प्रसन्नचित्त निर्दम्भ।
मेरे प्यारे भक्त पाण्डुसुत जो त्यागें सबके आरम्भ॥
जो हैं व्याकुल नाहिं लोकते जिनते व्याकुल नाहीं लोक।
सो हैं मम प्रियभक्त तजै जो हर्ष अमर्ष भीति औ शोक॥

राग द्वेष न जिनके मनमें जिनको कहूं चाह न दाह।
शुभ और अशुभ तजे जो दोनों तिन भक्तन मम प्रेम अथाह॥
शत्रुमित्र संग एक भाव हैं, तथा समान मान अपमान।
संग करैं जो ना काहूको शीत उष्ण सुख दुःख समान॥
निन्दा और प्रशंसामें सम मौनी तुष्ट रहैं नित जौन।
दृढ़ मति अनागार जो मेरे भक्त पार्थ! प्यारे अति तौन॥
जो यह अमृत धर्ममय मेरो भाष्यो सेवहिं ठीकै ठीक।
मो महं करैं सदा अति श्रद्धा मोहिं भक्त ते लागें नीक॥

कवि—बाबूराम शुक्ल

श्रीमद्भगवद्गीताका दिग्दर्शन

(लेखक—श्रीहरिस्वरूपजी जौहरी एम० ए०)

गवद्गीताका शब्दार्थ इस प्रकार हो सकता है—'भगवत्' का अर्थ है 'भगवान्' और 'गीत' का अर्थ है 'गान' अर्थात् भगवान्का गान। पर इस अर्थमें दो भाव हो सकते हैं, या तो 'वह गान जो भगवान्ने गाया हो' अथवा 'वह गान जिसमें भगवान्का गुणानुवाद हो।' वास्तवमें दोनों ही सार्थक हैं। भगवान्ने पृथ्वीपर श्रीकृष्णरूपसे अवतार लिया और भगवान् श्रीकृष्णने अपने मुखारविन्दसे उपदेश किया जिसमें भगवत् तथा उनकी सृष्टिका पूर्णरूपसे वर्णन है। अतएव वे शब्द, जो श्रीकृष्णभगवान्के मुखारविन्दसे निकले और गीतरूपमें प्रकट हुए, उनको भगवान्का गीत कहना उचित ही है और यह भगवत्का गीत जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध एवं मनुष्यका अपने रचयिता तथा उसकी रचनाके प्रति कर्तव्य बतलाता है, अतएव इसको हम भगवत्के गुणानुवादोंका गान भी कह सकते हैं। हमको भगवद्गीताके दोनों ही अर्थ अभीष्ट हैं, चाहे भगवान्का गान कहिये चाहे उनके गुणोंका गान कहिये। हिन्दू-शास्त्रोंके अनुसार श्रीकृष्ण भगवान् पूर्णब्रह्म माने गये हैं, अतएव शास्त्र-दृष्टिके अनुसार प्रथम अर्थ सरल तथा विशेष मान्य हैं और दूसरा गौणरूपसे उसमें वर्तमान है।

अब विचारणीय यह है कि गीता है क्या वस्तु ? इतिहास बतलाता है कि यह गान एक युद्धभूमिमें गाया गया था। महाभारतमें वर्णित इस युद्धके वर्णनसे प्रतीत होता है कि यह भूमि कुरुक्षेत्र थी और संसारमें इससे बढ़कर कोई युद्धभूमि नहीं हुई है, पर ऐसी युद्धभूमिमें जहां सेनाओंकी गड़गड़ाहट, शस्त्रोंकी झनझनाहट, रथोंकी खड़खड़ाहट और हाथियोंकी चिंघाड़से पृथ्वी और आकाश गूंज रहे थे वहां गीतोपदिष्ट गंभीर आलोचना किस प्रकार सम्भव थी ? वह युद्धभूमि जो, एक गड़गड़ाते समुद्र-सी दीखती होगी, जिसे देखकर हृदय कम्पायमान हो जाता होगा, चित्त भयके मारे व्याकुल हो उठता होगा, वहां ऐसा वेदान्त जो जीवनकी कठिन समस्याओंसे सम्बन्ध रखता है, किस प्रकार समझाया गया होगा और किस प्रकार समझमें आया होगा ? यदि इन सब बातोंपर दृष्टि की जाय तो अल्पबुद्धिवालोंको यह सब घटनाएं असत्य तथा गीता एक रूपक ही प्रतीत होता है, पर विचारसे पता लगता है कि यह गान पूर्णब्रह्मके अवतार भगवान् कृष्णका है। जब भगवान् ही साक्षात् गुरु और अर्जुन परम मित्र तथा भक्त उनका सुयोग्य शिष्य है तब फिर भला ऐसे समयमें जीवनकी कठिन समस्याओंका विचार होना सन्देहजनक क्योंकर हो सकता है ? ईश्वरके लिये समय या स्थान कोई प्रतिबन्धक नहीं है, पर हां, कुछ मनुष्य कृष्णचन्द्रको भगवान् माननेमें आपत्ति करते हैं। फिर भी वे कृष्णभगवान्को 'महापुरुष' तो मानते ही हैं। इतना तो सभी मानते हैं कि श्रीकृष्णसे बढ़कर कोई भी पुरुष इस संसारमें अभी तक नहीं जन्मा, और तिसपर गीताका विषाद-योग नामक प्रथम अध्याय स्पष्ट बताता है कि गीतोपदेशका मुख्य कारण तो महाभारतका युद्ध ही है। यदि युद्ध न होता तो गीताके उपदेशकी आवश्यकता ही क्या थी ? भला एक क्षत्रिय राजाके लिये युद्ध-भूमिसे भागना कर्तव्यपथसे भ्रष्ट होना नहीं तो क्या है ? ऐसे कर्तव्यच्युत क्षत्रियको उपदेशका समय और स्थान दूसरा कौनसा हो सकता था ? अतएव महाभारतका युद्ध ही गीतोपदेशका मुख्य कारण है। इसमें क्यों सन्देह करना और क्यों इसे रूपक समझना चाहिये ? यहां तो प्रत्येक अंशमें सत्य भरा हुआ है। पर कुछ मनुष्य अल्पज्ञताके कारण रूपक मानते हैं। उनका कहना है कि गीताका युद्धक्षेत्र कुरुक्षेत्र नहीं वरन् मनुष्यका शरीरक्षेत्र है। कौरव 'दुर्गुण', पाण्डव 'सद्गुण', धृतराष्ट्र 'अविद्या', श्रीकृष्ण 'परमात्मा' अर्जुन 'जीवात्मा' और सञ्जय 'विज्ञान' है। यहां तक यह रूपक कुछ सार्थकसा प्रतीत भी होता है, परन्तु इसके आगे ही कह देना कि वास्तव में न अर्जुन थे, न कृष्ण थे, न महाभारत हुआ, तो धृष्टतामात्र है। इस विचारके लोगोंका कहना है कि महाभारत ही रूपक है, कवि-कल्पना है। यदि हम इसको मानने लगें तो उस समयके इतिहासको हमें हवामें उड़ा देना होगा, उस युगकी सभ्यतापर पानी फेर देना होगा। बिना सांसारिक सम्बन्ध किये कहीं आत्मा-सम्बन्धी विचारोंका मनन हो सकता है ? हमें रूपककी विद्वत्तामें कोई आपत्ति नहीं, पर सत्यपर पानी न फेरना चाहिये। भगवान्को भगवान् ही मानना और उनके सदुपदेशसे लाभ उठाना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीताका सबसे बड़ा महत्त्व तो इस बातमें है कि यह सर्व-मान्य ग्रन्थ है। गीताको कोई साम्प्रदायिक पुस्तक नहीं कह सकता। गीताका गौरव इसीमें है कि सब सम्प्रदाय इसको अपना मुख्य ग्रन्थ बनाकर अपनाते हैं। वास्तवमें गीतामें सभी सम्प्रदायों, सब मतों और सब विचारोंके लिये स्थान दिया गया है। जिस बुद्धिमत्तासे दिया गया है वह तो विलक्षण और दैवी ही है! गीताको सिद्धान्तसे सभी दर्शन मान्य हैं और सभी कोई न कोई विशेषता रखते हैं। गीतामें सब सिद्धान्तोंमें मुख्य तीन सिद्धान्त—कर्म, ज्ञान, भक्ति जिस अपूर्वतासे एक सूत्रमें पिरोये गये हैं, उसे समझकर बुद्धि आश्चर्यसागरमें डूब जाती है। गीताने तीनों सिद्धान्तोंका एकीकरण करके एक सिद्धान्त स्थापित किया है, जिसमें तीनों ही उपस्थित हैं। गीताका प्रत्येक अध्याय 'योग' कहलाता है, जिसका अर्थ यही है कि प्रत्येक अध्यायका उपदेश पूर्णब्रह्मकी प्राप्तिका साध्य और साधन दोनों ही हैं। साधन मुख्यतः तीन ही बताये गये हैं। कर्म, ज्ञान और भक्ति। प्रथम छः अध्याय कर्मयोगका वर्णन करते हैं। ७ से १२ तक छः अध्याय भक्तियोगके प्रतिपादक हैं और १३ से १८ तक छः ज्ञानका डंका बजाते हैं, पर तीनों साधनोंका साध्य एक ही परब्रह्मकी प्राप्ति है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पहले छः अध्याय ज्ञान-भक्तिसे शून्य तथा ७ से १२ कर्म-ज्ञानसे शून्य तथा १३ से १८ कर्म-भक्तिसे वञ्चित हैं। वास्तवमें एक विशेष सिद्धान्तको मुख्यरूपसे वर्णन करते हुए दूसरे सिद्धान्त गौणरूपसे मिश्रित किये गये हैं। इस प्रकार तीनों साधनोंको मिलाकर ही एक परम साधन बनाते हैं जिसमें कर्म, ज्ञान, भक्ति तीनों सम्मिश्रित हैं। यथार्थमें है भी यही, क्योंकि जबतक यह तीनों साधन साथ साथ नहीं चलते तबतक काम ही नहीं चल सकता। इनमें से एकको दूसरेसे पृथक् करना सम्भव नहीं है। नाममें चाहे जो हो पर कार्यरूपमें यह तीनों साथ ही चलते हैं। कर्मके बिना ज्ञान और ज्ञानके बिना प्रेम असम्भव है। कोई भी बिना कर्म किये क्षणभर भी नहीं ठहर सकता और बिना ज्ञान हुए प्रेम नहीं हो सकता। अतएव गीतामें यही स्पष्ट रूपसे उपदेश किया गया है कि 'कर्म करो, पर फलासक्ति तथा अहंकारको त्याग दो, ऐसा करनेसे मन शुद्ध होगा, मन शुद्ध होनेपर ज्ञानका प्रकाश होगा और ज्ञानसे भक्तिका प्रवाह बहेगा, जिससे अनन्त कल्याणकी प्राप्ति होगी।'

अब गीताके कुछ गम्भीर विषयोंपर विचार करना उचित है—जिन पर गीताचार्यने विशेष प्रकाश डाला है, वे निम्नलिखित हैं:—

(१) शरीर और आत्मा, (२) त्याग और निष्काम कर्म, (३) पुनर्जन्म, (४) योगसाधन, (५) अवतार तथा भगवद्दर्शन, (६) भाग्य तथा कर्म-स्वातन्त्र्य, (७) भक्ति और (८) मोक्ष।

इनमेंसे प्रत्येकके सम्बन्धमें संक्षेपसे विचार करनेकी आवश्यकता है।

(१) *शरीर और आत्मा*—अर्जुनको कर्तव्य-च्युत होते देख भगवान्ने सोचा कि इसका विषाद अयुक्त है। प्रथम तो भगवान्ने बहुत कुछ शास्त्रोक्त क्षात्रधर्म बताकर उसका विषाद दूर करना चाहा, पर जब देखा कि केवल सांसारिक उपदेशसे काम नहीं चलता, तब शरीर और आत्माका स्वरूप बताना आरम्भ किया। वास्तवमें अर्जुन मिथ्याको यथार्थ, असत्को सत् और आत्माको शरीर मानकर ही भ्रमयुक्त हो रहा था। अतएव भगवान्ने उसे बतलाया कि शरीर नाशवान् है, आत्मा अजन्मा, कारण और आद्यन्तरहित है। जो जन्मता है सो मरता है। आत्मा जन्म नहीं लेता अतएव मरता भी नहीं। आत्मा और शरीर दो वस्तुएं हैं, क्योंकि आत्मा अजर, अमर है अतएव हम सब पहले थे और फिर भी होंगे। शून्यसे सत् वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती और सत् वस्तु शून्यको प्राप्त नहीं होती। आत्मा ही सार वस्तु है, जो शरीर-बन्धनको प्राप्त होकर पुराने शरीरोंको पुराने वस्त्रोंकी तरह उतारता हुआ और नये शरीरोंको नये वस्त्रोंकी तरह धारण करता हुआ अविच्छिन्नरूपसे अवस्थित रहता है। शरीरनाशका शोक-मोह जड़ (मूर्ख) पुरुष करते हैं। अतएव प्रत्येक प्राणीको शरीरकी ममता त्यागकर आत्मज्ञानद्वारा परमानन्द प्राप्त करना चाहिये। भगवान् यह बताकर अर्जुनसे कहते हैं—'अच्छा! कर्मोंकी आसक्ति छोड़ दे। फलकी आशा छोड़कर अपना कर्त्तव्य-कर्म कर। कर्मफल ईश्वरको अर्पणकर कार्यमें तत्पर हो जा। यही परम त्याग है।' इसके साथ ही अपने बन्धुओंको मारनेके दुःखको दूर करनेके लिये भगवान् आत्माका रूप वर्णन करते हैं—'आत्माको न शस्त्र काट सकता है, न अग्नि जला सकती है, न जल भिगो सकता है, न वायु सुखा सकता है। यह तो नित्य, अचल, सनातन है। अतएव अर्जुन! तू कर्तव्य पथपर अग्रसर हो। तेरे बन्धु-वध करनेके विचार निर्मूल हैं। न्यायाधीश खूनीको

फाँसीका दण्ड देते समय कोई सोच-विचार नहीं करता, एक सर्जन (चिकित्सक) को शरीरके विषैले भागमें छुरा घुसेड़नेमें कोई हिचक नहीं होती। तेरा विषाद अनुचित, हास्यजनक और अपवादजनक है।' क्या ही उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है!

(२) त्याग और निष्काम-कर्म—पूर्वोक्त शरीरात्म-सम्बन्धी युक्तियोंद्वारा भगवान्‌ने अर्जुनको एक नये चक्करमें डाल दिया—अब यह भ्रम उपस्थित हुआ कि (१) यदि शरीर नश्वर है और आत्मा अविनाशी है तो फिर हम शरीर तथा संसार-सम्बन्धी कार्य क्यों करें? युद्ध करना वृथा है। आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। (२) यदि कर्म करने और त्यागने दोनोंसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है तो हम वह कार्य क्यों न करें, जिसमें बान्धवोंका रुधिर न बहे?

भगवान् प्रथम भ्रमको दूर करते हुए कहते हैं—'कोई भी प्राणी क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, कर्म करना स्वाभाविक है, शरीर और मनसे हर समय कुछ न कुछ कर्म होना ही है। अतएव कर्म करना ही होगा। दूसरे भ्रमके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—कर्मत्याग और कर्मफलत्यागमें पृथ्वी-आकाशका अन्तर है। भगवान्‌का तात्पर्य कर्मत्यागसे नहीं वरन् कर्मफल-त्यागसे है। यह माना कि एक अवस्थाविशेष ऐसी भी हो सकती है जिसमें कर्मत्याग सम्भव हैं, पर अधिकारविशेषसे प्राणियोंके लिये अलग अलग उपाय हैं। सीढ़ीके ऊपरके भागमें पहुंचनेके लिये नीचेसे चलना होगा। फिर भगवान् अर्जुनसे पूछते हैं। (१) क्या तू शारीरिक आवश्यकताओंसे परे है? यदि नहीं तो कर्मत्याग कैसा? (२) यदि कर्मत्याग सम्भव भी होता तो क्या वह तेरे लिये उचित है? तू राजा है। बड़ोंका अनुकरण इतर लोग करते हैं। तुझे आदर्श बनना है, अतएव कर्म करना ही उचित है। मुझे देख, मैं ईश्वर होकर भी सब कर्म लोकशिक्षाके लिये करता हूं। अतएव कर्मोंका त्याग मत कर, केवल कर्मफल त्यागकर अपने कर्तव्यके पालनमें आरूढ हो जा।'

(३) पुनर्जन्म—भगवान् कहते हैं—'मैंने कर्मयोगका उपदेश विवस्वानको दिया, विवस्वानने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको दिया। इस प्रकार परम्परासे प्राप्त यह कर्मयोग बीचमें लुप्त हो गया था। वही कर्मयोग आज मैंने तुझे बताया है।' इसपर अर्जुनको शंका होती है कि विवस्वान आपसे बहुत पूर्व हो चुके हैं—फिर भला यह कैसे सम्भव है कि आपने उन्हें उपदेश दिया हो? भगवान् कहते हैं—'हमारे तुम्हारे बहुत जन्म हो चुके हैं', मैं सबको जानता हूं, तू नहीं जानता। इससे पुनर्जन्मके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मति स्पष्ट है। आत्मा निश्चय ही न जन्मता है, न मरता है पर जबतक उसे शरीरका बन्धन है तबतक शरीरके साथ उसका बार बार जन्म-मरण होता रहता है। इस पुनर्जन्मका सिद्धान्त बड़ा ही दृढ़ है। इस सम्बन्धमें थोड़ा विचार करना अनुचित न होगा।

(क) यदि पुनर्जन्म न होता तो, हमारे बहुतसे कार्य निष्फल रह जाते। संसारमें शक्तिका नाश नहीं हो सकता। शक्तिका बाह्यरूप कार्य है। जिस प्रकार एक बीजको वृक्ष होनेमें समय लगता है, उसी प्रकार हमारे कार्योंका फल प्राप्त होनेमें समय लगता है। देखा गया है कि बहुतसे पापोंका तथा बहुतसे पुण्योंका फल मिलता हुआ नहीं दिखायी पड़ता, जिसके कारण पापी तो पापमें निर्भय लिप्त हो जाते हैं और पुण्यात्मा पुण्योंको निष्फल होते देख निराश होकर पुण्य करना छोड़ बैठते हैं। तो क्या ये सब कर्म नाश हो जाते हैं? कदापि नहीं। इनका भोग मृत्युके बाद भोगना पड़ता है। शरीरसे किये हुए कर्मोंका फल शरीरसे ही भोगा जाता है अतएव फिर शरीर धारण करना पड़ता है। इसी प्रकार हमारे इस जन्मके सुख-दुःख जो बिना पुण्य-पाप किये प्राप्त होते हैं, उनसे भी स्पष्ट विदित होता है कि ये हमारे पूर्वजन्मकृत कर्मोंके फल हैं।

(ख) यह स्पष्ट है कि सृष्टिकी नियामक कोई चैतन्य-शक्ति अवश्य है; चाहे आप उसे ईश्वर कहिये, चाहे कुछ और कहिये। प्रकृति के सब कार्य हम नियमबद्ध पाते हैं। इसी प्रकार यह संसार भी कारण-कार्यसे बद्ध है। प्रत्येक कार्य किसी कारणका परिणाम है। अतएव हमको मानना पड़ेगा कि हमारा यह जन्म पूर्वजन्मका कार्य है, और भविष्य-जन्मका कारण है। यदि ऐसा न होता तो हमारा संसार सृष्टिकी एक आकस्मिक् घटना कही जाती, जो वास्तवमें नहीं है।

(ग) यदि हमारे पाप-पुण्य, सुख-दुःख किसी कारणके परिणाम न होते तो हमको अपने सृष्टिकर्ताको निर्दयी और अन्यायी मानना पड़ता, पर कोई भी धर्म ईश्वरको ऐसा नहीं कहता। अतएव यह सिद्धान्त पूर्णतया सत्य है। 'जैसा करोगे वैसा भरोगे'। एक बच्चेका अन्धा जन्म लेना और दुःख भोगना क्या कोई आकस्मिक् घटना और ईश्वरकी क्रूरताका प्रमाण है? कदापि नहीं। यथार्थमें यह पूर्वजन्मकृत

पापोंका फल है। ईश्वर न्यायकर्ता है। वह कर्मोंके अनुसार सुख-दुःख देता है।

(घ) फिर जीवोंकी प्रवृत्ति उनकी प्रकृति पर निर्भर है। जैसी प्रकृति पूर्वजन्ममें बन गयी, वैसी ही प्रवृत्ति हो जाती है। कुछ वस्तुओंकी ओर उसका आकर्षण हो जाता है और कुछ वस्तुओंकी ओर घृणा। यदि यह सत्य है तो एक बच्चेकी प्रवृत्तिका कारण क्या हो सकता है? उसकी तो अभी कोई प्रकृति बनी ही नहीं—वास्तवमें यह पूर्वजन्मकी प्रकृतिका परिणाम है। प्रवृत्तिको पैतृक कहना अनुचित है, क्योंकि एक ही पिताके कई बच्चोंकी अलग अलग प्रवृत्ति देखी है। एक गानविद्यामें रुचि रखता है, दूसरा ज्ञानमार्गमें, तीसरा पापकर्मोंमें। वास्तवमें यह पूर्वजन्मकी प्रकृतिका ही परिणाम है। किसी वस्तुका अच्छा बुरा प्रतीत होना उसके पूर्व अनुभव पर निर्भर है। यह देखा गया है कि सब प्राणी मृत्युसे भय करते हैं, बालक तक मृत्युसे डरता है। वास्तवमें इसका कारण गत जन्मोंमें मृत्युका अनुभव ही है।

इन सब कारणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि पुनर्जन्म सत्य है।

(४) **योगसाधन**—आत्मोन्नतिके लिये कुछ साधनोंकी आवश्यकता है। प्रत्येक मतमें कुछ बाह्य-साधन नियत किये गये हैं। भगवान् कृष्ण इन मतोंके साधनोंके सम्बन्धमें कुछ न कहकर जो निर्देश करते हैं, उसमें किसीके साधन की उपेक्षा नहीं होती। भगवान् दो प्रकारके साधन बताते हैं, एक बाह्य और एक आन्तरिक। बाह्य-साधन शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि शरीरका मनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीरके स्वस्थ रहनेपर मन भी स्वस्थ रह सकता है। अतएव शरीर-संयमकी आवश्यकता है। उसके साधन ये हैं—

(क) शारीरिक व्यापारोंमें सावधानी—अर्थात् आहार-विहारमें संयम। भगवान्‌का कहना है कि योगीका भोजन और निद्रा उतनी ही होनी चाहिये जितनी शरीर पुष्टि और स्वास्थ्यके लिये उसे नितान्त आवश्यक है। साथ ही सन्तोष, ब्रह्मचर्य, आत्मनिग्रह, सत्य, दया आदिका पालन भी करे। इन्हींको योगशास्त्रमें यमनियम कहते हैं।

(ख) शरीरशुद्धि—इसके लिये आसनविशेषका जानना तथा प्राणायाम करना बतलाया गया है। यह सब करनेसे शरीर और मन परब्रह्म-चिन्तनमें लगने योग्य हो जाते हैं। प्राणायाम बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ है। यह देखा गया है कि सर्प, कछुआ इत्यादि शीतकालभर श्वास रोककर समाधि-अवस्थामें रहते हैं और दीर्घजीवी होते हैं। न इस समाधि-अवस्थामें वे भोजन करते हैं और न बाह्य सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, तिसपर भी उनका शरीर बिलकुल स्वस्थ रहता है। कछुआ एक मिनटमें तीन बार तथा मनुष्य बारह बार श्वास लेता है और निकालता है। श्वास निकालनेमें कछुआ ३६८'८६ ग्रेन कार्बन (दूषित वायु) निकालता है, मनुष्य २७१८'१८ ग्रेन निकालता है। यह कार्बन जितना अधिक निकलता है उतना ही शरीर क्षीण होता है, जिसके कारण भूख लगती है और भोजनद्वारा शरीरकी वह क्षीणता पूरी की जाती है। अतएव श्वास निकलना जितना ही कम हो उतना ही कार्बन कम निकलता है और उतना ही शरीर भी बिना भोजन इत्यादिके पुष्ट बना रहता है।

आभ्यन्तर-साधनोंमें ध्यान—आत्मचिन्तन आवश्यक है। आभ्यन्तर-शुद्धि प्रत्याहार तथा धारणासे हो सकती है। इन्हीं प्रत्याहार-धारणाद्वारा ध्यान-अवस्था प्राप्त होती है और ध्यानसे अन्तिम समाधिकी अवस्था प्राप्त होती है। योगके अष्ट साधनों-(यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि)मेंसे अन्तिम पांच साधन इस क्रमसे रक्खे गये हैं कि एकके बाद दूसरा स्वयं प्राप्त होता है। ५ घण्टा २४ मिनट श्वास रोकनेसे प्राणायाम सिद्ध होता है, दुगुने प्राणायाम (१० घंटा ४८ मि० श्वासावरोध) से प्रत्याहार प्राप्त होता है। उससे दुगुने प्रत्याहारसे(२१ घंटा ३६ मि० श्वासावरोध) से धारणा, दुगुनी धारणा (४३ घंटा १२ मि० श्वास रोकने) से ध्यानावस्था प्राप्त होती है और उससे दुगुने ध्यानसे (तीन दिन १४घंटा २४ मि० श्वासावरोधसे) समाधि प्राप्त होती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि हर एकके दुगुने करनेसे उसके बादकी अवस्था स्वयं प्राप्त हो जाती है। समाधिमें सब सिद्धियाँ स्वयं उपस्थित होती हैं, पर योगी अपना निष्कामभाव स्थायी रखता है और सब सिद्धियों पर लात मारता हुआ परम सिद्धि ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है। भगवान्‌के इस योगसाधनको सुनकर इसकी सम्भावनामें अर्जुनको सन्देह होता है। जिसके उत्तरमें भगवान् केवल निरन्तर 'अभ्यास और वैराग्य' ही उपायस्वरूप बतलाते हैं। योगभ्रष्टको कोई भय नहीं है। जितना साधन बन पड़ता है, वह आगेके लिये हितकर होता है, और साधकको धीरे धीरे परम साधन तक पहुँचा देता है।

(५) **अवतार तथा भगवद्दर्शन**—भगवान् श्रीकृष्ण उनको अल्पबुद्धि बतलाते हैं जो भगवान्‌के मनुष्यावतारपर सन्देह करते हैं। भगवान्‌का पूर्णावतार अथवा अंशावतार दोनोंमेंसे एक तो संसारके सभी मतोंको मान्य है।

चाहे एक मतके अनुयायी दूसरे मतके अवतारपर अविश्वास करें, पर अवतारकी सम्भावना सब मतोंको स्वीकृत है। गीतामें उपदिष्ट भगवदवतारका उद्देश्य बड़ा ही विशाल है, जिससे सब मतोंके सब स्थानों और सब रूपोंमें जाति-पाँतिका भेद छोड़कर अवतारकी सम्भावना बतलायी गयी है। श्रीगीताचार्यका कहना है-'जब धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होती है तब धर्मसंस्थापन, साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंके दमनके लिये मैं अवतार लेता हूं।' भगवान्‌के मनुष्यावतारका मुख्य कारण यही है, और इसका किसी मतमें विरोध नहीं हो सकता। हिन्दूधर्म तथा अन्य धर्मोंमें भेद इतना ही है कि हिन्दू-धर्म अगणित अवतार और अन्य मत केवल अपने एक संस्थापक या मसीहाका अवतार मानते हैं। हिन्दूधर्मका कहना है कि भगवान्‌ने समय समयकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये अगणित-बार अवतार लिया। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हरबार भगवान् पूर्णकलासे मनुष्यरूपमें ही अवतीर्ण हुए। बहुत बार केवल शक्तिरूपसे विशेष मनुष्योंमें आविर्भूत हुए थे। हिन्दूशास्त्रमें सब अवतारोंमें केवल कृष्णावतार ही पूर्णावतार माना गया है। कृष्णभगवान्‌ने अपनेको साक्षात् ईश्वर बतलाया ही नहीं वरन् अपने विश्वरूपके दर्शनसे उसका साक्षात् प्रमाण भी दे दिया। हिन्दूधर्म अंशावतार और पूर्णावतारमें कोई विशेष भेद नहीं मानता, क्योंकि प्रत्येक उसी भगवत्‌का अवतार है। भगवान् श्रीकृष्ण तो यहाँतक कहते हैं कि 'जहाँ-जहाँ विशेष ऐश्वर्य, बल, पराक्रम देखा जाय उसको मेरा ही तेज समझो' यह कितना बड़ा सिद्धान्त है। यदि अंशावतार न होते तो भला अल्प-शक्ति मनुष्य परम शक्तिमान् ईश्वरका कैसे अनुभव करता? अतएव अंशावतारमें ही मनुष्य उसको जान सकता है और यही उसके लिये पर्याप्त है। क्योंकि अंशावतारमें भी भगवान् स्वयं मनुष्यकी योग्यतानुकूल उसकी इष्टपूर्तिके लिये प्रकट होते हैं। चाहे आप समुद्रके एक छोटे भागको देखिये चाहे बड़े भागको, आपके समुद्र-दर्शनका अभीष्ट पूर्ण हो जाता है। सोचिये, आप इस अगाध महान् समुद्रका उतना ही भाग देख सकते हैं जितनी दूर आपकी चक्षु-शक्ति दौड़ सकती है, पर आपके प्रयोजनके लिये, आपके आनन्दके लिये उतना पर्याप्त है। इसी प्रकार आपको भगवान्‌का दर्शन चाहे अंशावतारमें हो, चाहे विश्वरूपमें, आपने भगवान्‌के दर्शन कर लिये। यदि पूर्णब्रह्मके पूर्णरूपमें अपूर्ण जीवको दर्शन होसकते तो वह पूर्णब्रह्म ही नहीं हो सकता।

भगवान् कहते हैं कि 'अज्ञानी मनुष्य मुझे प्रकृतिका ईश्वर न जानकर मेरे मनुष्यावतारपर सन्देह करते हैं।' उन अज्ञानियोंका कहना है कि निराकार साकार नहीं होसकता पर वे यह नहीं जानते कि ईश्वर प्रकृतिका स्वामी है, उसीकी इच्छाशक्तिसे यह संसार उत्पन्न होता है, तब भला उसको अपने इच्छानुकूल अवतार धारण करनेमें क्या कठिनाई हो सकती है? तब सन्देह होता है 'क्या इससे उसे विकार प्राप्त न होगा?' कैसे होगा? क्या सूर्य-किरणें अपवित्र स्थानमें पहुँचनेसे दूषित होजाती हैं? प्रकृतिसे उसे कोई बन्धन नहीं हो सकता। क्योंकि वह तो उसीकी इच्छा है कि वह स्थूल शरीर धारण करता है। यह कोई कर्मबन्धन नहीं, जिससे वह बाध्य होकर जन्म लेता हो।

आगे चलकर भगवान् इस बातको प्रमाणित करते हैं कि सिवा भगवान्‌के कोई वस्तु है ही नहीं, सब उसीका रूप है और सब उसीमें है। यद्यपि अर्जुन भगवान्‌के तर्क और युक्तियोंके द्वारा सब समझ गया फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाणकी इच्छा शेष रह गयी। अतएव भगवान्‌ने इस सन्देहको दूर करनेके लिये अपने विश्वरूपके दर्शन दिये, पर दर्शन देनेके पूर्व दिव्यदृष्टि प्रदान की। गीतामें जो आत्माका महत्व आरम्भसे अन्ततक दिखाया गया है, विश्वरूपसे वह प्रत्यक्ष प्रमाणित होगया। साथ ही साथ उस महत्वको प्राप्त करनेके लिये कि दिव्यदृष्टिकी आवश्यकता भी सिद्ध होगयी।

(६) भाग्य तथा कर्म-स्वातन्त्र्य—इस विश्वरूप दर्शनमें एक महान् प्रश्न उपस्थित होता है। क्या मनुष्य कर्म-परतन्त्रतासे इतना जकड़ा हुआ है कि जरासा भी हिल नहीं सकता? क्या उसे कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं है? क्या भाग्यमें लिखा है उसमें मनुष्यको तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है? यदि अर्जुन भाग्यबन्धनमें बंधा था तो सत् असत् कार्योंमें वह स्वतन्त्रतापूर्वक प्रवेश नहीं कर सकता था और यदि उसे तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं थी तो गीताके उपदेशकी क्या आवश्यकता थी, जो कर्तव्य-मार्गपर अग्रसर करे? क्या भगवान् इतनी बड़ी गीताका उपदेश न कर प्रारम्भमें ही इतना नहीं समझा सकते थे कि तू भाग्यके हाथमें कठपुतलीकी भाँति है, जो भाग्य करावेगा वही करना होगा!

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि कर्म-सिद्धान्त हिन्दू धर्मका आधार स्तम्भ है, और इसीसे सब शंकाएं निवृत्त हो सकती हैं, सब पूर्वकृत प्रश्नोंका उत्तर मिल जाता है। संक्षेपमें जैसा पहले बतलाया जा चुका है, जीवनकी विषमताओंका एकमात्र कारण पूर्वजन्मकृत कर्म

है। यह सब भगवान्‌की इच्छा नहीं है। वह मनमानी करनेवाले अन्यायी राजा नहीं है। 'जैसा करोगे वैसा भरोगे' यह अटल सिद्धान्त है। ईश्वर कर्मोंका फल देनेवाले हैं। वे कर्म सिद्धान्तके अनुसार फल देते हैं। अन्तर इतना ही है कि ईश्वरने अपने नियम स्वयं बनाये हैं और वह उनको कभी तोड़ते नहीं। फिर भी कुछ लोगोंको यह सन्देह रह जाता है, कि क्या वह दयालु नहीं है? पर लोग यह नहीं जानते कि उसके बनाये नियम ही उसकी दयाके स्वरूप हैं। दयालु होनेके कारण ही उसने ऐसे नियम बनाये हैं कि जो प्राणियोंके लिये सदा हितकर हैं। जबतक मनुष्य प्रकृतिके नियमोंके अनुसार चलता है तबतक उसपर ईश्वरकी कृपा रहती है। ईश्वरकी यह कभी आज्ञा नहीं है कि कोई उसके नियमोंका उल्लंघन करे। लोग बुरे आचरणोंको करने लगते हैं। इन कर्मोंका ओर-छोर नहीं है। जिस प्रकार बीज और वृक्षमें कौन पहले हुआ, और कौन पीछे, यह नहीं बतलाया जा सकता, उसी प्रकार कर्म और उसके कारण कर्मका ओर-छोर नहीं है। फिर भी मनुष्यकी स्वतन्त्रता कर्म करनेमें रहती है, यद्यपि वह पूर्व कर्मोंसे परिमित है। उदाहरणके लिये मनुष्यकी कर्मबन्धनसे स्वतन्त्रता वैसी ही है जैसी एक रस्सीसे बंधे हुए पशुकी। जितनी बड़ी रस्सी है उतनी ही दूरतक पशु चरनेमें स्वतन्त्र है। या यों कहिये कि जिस प्रकार एक चित्रकी बाह्य-रेखा (outline) बनी हुई है, उसमें चित्रकार अपनी चतुरतासे सुन्दर तथा भयानक दोनों प्रकारके चित्र बना सकता है—पर हर अवस्थामें बाह्य रेखाओंके कारण चित्र उनके भीतर ही रहेगा। अच्छे रंग उचित स्थानमें होनेसे अच्छा चित्र होगा और बुरे रंग अनुचित स्थानोंमें देनेसे भद्दा चित्र तैयार होगा। इसी प्रकार मनुष्य अपने पूर्व-कर्मानुसार कार्यक्षेत्रमें सीमाबद्ध होकर कर्म करनेमें स्वतन्त्र रहता है। अतएव मनुष्य अपने भाग्यका स्वयं विधाता है, प्रतिक्षण अपने नवीन कर्मोंसे वह अपना भाग्य बनाता रहता है। सीमाबद्ध होनेके कारण उन्नति धीरे धीरे ही हो सकती है, पर हो सकती है अवश्य और एक समय ऐसा आ सकता है जब निष्काम कर्म करते हुए सब बन्धनोंको तोड़कर मनुष्य मुक्त हो जाता है। अभ्यास तथा वैराग्यसे सब कुछ सम्भव है।

(७) भक्ति—विश्वरूप-दर्शनमें अर्जुन भगवान्‌का अद्भुत रूप देखकर घबड़ा गया और प्रार्थना करने लगा—'हे भगवन्! चतुर्भुजरूप धारण कीजिये या वही कृष्णरूप धारण कीजिये। मेरे अपराध क्षमा कीजिये।' भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! यह मेरा रूप-दर्शन केवल अकिञ्चन भक्तोंको ही सम्भव है, औरोंके लिये अप्राप्य है।' यह तो था भगवान्‌का साकार रूप, पर दूसरा निराकार रूप है जो किसी भी प्रकार नहीं देखा जा सकता। अतएव प्रश्न होता है कि निराकार-साकारमें कौनसा भगवत्-पूजाके लिये सुगम तथा सुसाध्य है? अर्जुनने भी यही प्रश्न किया, 'भगवन्! आपका कौनसा रूप भक्तोंका आश्रय है?' भगवान् कहते हैं कि 'साकार-निराकार दोनों ही प्रकारसे भगवत्-पूजन सम्भव है और दोनों ही भगवत्-प्राप्ति कराते हैं, पर आकारवाले मनुष्यके लिये निराकारकी पूजा कष्टसाध्य है।' *साकार-निराकारका झगड़ा करनेवालोंके लिये क्या उत्तम उत्तर है!* भगवान् यह नहीं कहते कि निराकारका पूजन असम्भव है, न यही कि साकारका पूजन व्यर्थ और मिथ्या है, केवल यह कि निराकार कष्टप्रद है। इस उत्तरसे साकार-निराकार-वादियोंको अपने झगड़ोंका अन्त करलेना चाहिये। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत सभी मतोंमें भगवान्‌की पूजा अनिवार्य समझी गयी है। अद्वैतमत जो सब सृष्टिको मिथ्या मानता है, ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय आरम्भमें मायिक साकाररूपोंद्वारा पूजनके अभ्यासको ही बताता है। वास्तवमें सभी मतोंमें भगवान्‌की पूजाका उपदेश किसी न किसी रूपमें अवश्य है। प्रत्येक वस्तुको रूपकी अपेक्षा होती है। क्या हम किसी ऐसी वस्तुका, जो हमारे अनुभवके बाहर है, चिन्तन कर सकते हैं? निराकार तो हमारे मस्तिष्कमें आ ही नहीं सकता, क्योंकि हमारा मस्तिष्क सीमाबद्ध है, उसके बाहर नहीं जा सकता अतएव निराकारका पथ उनके लिये है, जिनके शारीरिक और मानसिक बन्धन टूट गये हैं, औरोंके लिये तो वह दुष्कर ही है। यही कारण है कि भारतवर्षमें बड़े बड़े योगी महात्मा भी ईश्वरके किसी विशेष आकारको चित्रमें अथवा मूर्त्तिमें अपने सामने ध्यानके लिये रखते हैं।

भगवान् कहते हैं—'निरन्तर किसी मूर्त्ति या आकारके पूजनके अभ्याससे समय पाकर मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त हो सकता है।' पर सभीको मूर्त्तिपूजाकी आवश्यकता नहीं है। जिनका चित्त मूर्त्तिपूजामें नहीं लगता (क्योंकि इसमें संसारसे चित्त हटाकर भगवान्‌की मूर्त्ति और मूर्तिद्वारा भगवान्‌में चित्त लगाना होता है) उनको दूसरे मार्गका आश्रय लेना चाहिये। वह है सेवामार्ग। निःस्वार्थ भावसे जीवोंकी सेवा भी भगवत्-सेवा है। यदि आपके पास विद्या है तो अज्ञानी भाइयोंको ज्ञान दीजिये। यदि आप धनवान् हैं तो निराश्रय, निर्धन भाइयोंका पेट भरिये। यदि आप बलवान् हैं, तो निर्बलको

निर्दयी दुष्टोंसे बचाइये। दुखीको सहायता दीजिये। बीमारोंकी सेवा कीजिये। इस सेवामार्गको प्रत्येक प्राणी अपनी शक्तिके अनुकूल ग्रहण कर सकता है। यथाशक्ति निःस्वार्थ सेवा बलवान् और निर्बल दोनोंहीको बराबर फलप्रद है। पर यह सेवा भगवान्‌को तभी स्वीकृत हो सकती है जब निःस्वार्थ हो। फलकी आशा इस मार्गको कलंकित न करने पावे। जो इस निःस्वार्थ सेवा-मार्गको ग्रहण नहीं कर सकते वे अपना कर्तव्य ही पालन करें। पर कर्तव्यदृष्टिसे करें, सब कर्मोंका फल ईश्वरार्पण होना चाहिये, इससे भी शान्ति मिलेगी।

गीताका महत्त्व इसीमें है कि वह किसी एक पथका बन्धन नहीं बताती। जो जिस योग्य है उसके लिये उसीके योग्य मार्गका निर्देश है। भगवान्‌का तात्पर्य इन सब मार्गोंके निर्धारित करनेमें स्पष्ट है। वास्तवमें जिस प्रकार अर्जुनको साकाररूपसे भगवत्-प्राप्ति हुई, वही सुलभ है। पर इस प्राप्तिका साधन केवल विशुद्ध भक्ति है। भक्ति क्या वस्तु है? मन, वाणी आदि सभी इन्द्रियोंद्वारा भगवत्-सेवाका नाम भक्ति है अथवा भगवान्‌को सर्वस्व-अर्पणका नाम भक्ति है! शरीर हो प्रभुकी सेवाके लिये, मन हो प्रभुके चिन्तनके लिये, चक्षु हों भगवद्दर्शनके लिये, कर्ण हों भगवत्-गुणानुवाद सुननेके लिये, इन्द्रियां जो व्यापार करें सो सब भगवान्‌के लिये,-यही भक्ति है। भक्ति प्रेमका मार्ग है। भक्त अपने प्रियतमके लिये सर्वस्व अर्पण कर सकता है।

कर्तव्यदृष्टिसे किसी कार्यका करना और उसके फलको ईश्वरार्पण करना, यही कर्ममार्ग है। सदसत्-विचारोंद्वारा ईश्वरको जानना ज्ञानमार्ग है। तन, मन, धन सर्वस्व अर्पण करना प्रेममार्ग है, इसीका नाम भक्तिमार्ग है। गीतामें इन तीनों मार्गोंका एकीकरण बिना किसी तारतम्यके किया गया है। निःस्वार्थ कर्मद्वारा चित्तशुद्धि होती है। शुद्ध हृदयमें निर्मल ज्ञानका प्रकाश होता है। शुद्ध ज्ञानद्वारा प्रेम उत्पन्न होता है, क्योंकि ईश्वरको जानना निश्चय ही उससे प्रेम करनेके लिये बाध्य करता है। प्रेमको अन्धा भी कहते हैं। सचमुच ईश्वरका प्रेम मनुष्योंको सब पदार्थोंकी ओरसे अन्धा कर देता है। उसे केवल ईश्वर ही ईश्वर दिखलायी पड़ता है। और चूंकि ईश्वर ज्ञानमय है अतएव ईश्वर प्रेम-ज्ञानसे प्रकाशित होता है। कोई भी मार्ग हो, भक्ति अत्यन्त आवश्यक है। जबतक भक्ति नहीं होती तबतक (साधन) मार्गमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। पूर्ण प्रेमका अर्थ सर्वस्व-अर्पण है। इस प्रेमके लिये प्रभुसे कोई न कोई सम्बन्ध करनेकी आवश्यकता है, इसी कारण भक्त भगवान्‌को पिता, माता, पुत्र, स्वामी, मित्र और प्रेमी कोई न कोई बना लेता है। सच्चे भक्तके लिये कुछ गुणोंकी आवश्यकता है। भगवान् भक्तके लक्षण स्वयं बताते हैं 'भक्त किसीसे द्वेष नहीं करता, अहंकार नहीं करता, सुख और दुःख दोनोंमें शान्त रहता है। क्षमाको अपना भूषण बनाता है। भक्त परम सन्तोषी, भगवान्‌में दत्तचित्त, आत्मसंयमी होता है। न किसीको कष्ट देता है, न कष्ट मानता है। भलाई-बुराई दोनोंसे दूर रहता है। शत्रु-मित्रमें उसके लिये कोई भेद नहीं है। सत्कार-निरादरका उसपर कुछ असर नहीं होता। प्रशंसा और अपमान उसको चलायमान नहीं कर सकते।' यह हैं भक्तके लक्षण! और ऐसा भक्त भगवान्‌को प्यारा होता है। जो भक्त बनते हैं वे अपने हृदयमें इन लक्षणोंको ढूंढें जो बनना चाहते हैं वे इनको धारण करें।

(८) मोक्ष—जीवनका मुख्य उद्देश्य संसार-बन्धनसे मुक्ति है। मुक्तिकी प्राप्ति गीताका मुख्य उद्देश्य है-भगवान्‌का उपदेश कर्मत्याग और कर्मफलत्याग-सम्बन्धी मुक्तिसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। भगवान्‌का कहना है कि त्याग तीन प्रकारका है-सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। सात्त्विक त्याग वह है, जिसमें कर्मका नहीं पर कर्मफलका त्याग होता है, राजसिक त्याग वह है जिसमें कठिनाइयोंके भयसे कर्मका त्याग किया जाता है और तामसिक वह है जिसमें अज्ञानवश कर्मत्याग होता है। राजसिक और तामसिक त्याग भगवान्‌के अभिमत नहीं है। बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो ध्यान देकर—चित्त लगाकर अपने यज्ञसम्बन्धी, दानसम्बन्धी, तपसम्बन्धी, वाणी, मन और इन्द्रिय-निग्रहसम्बन्धी कार्योंको कर्तव्य समझकर करता है, न कि दिखानेके लिये या किसी फल-प्राप्तिके लिये! वास्तवमें सब कर्मोंको करनेमें यह ध्यान रहे कि, मैं अपना कर्तव्य पालन करूंगा' 'क्योंकि इस कर्तव्यका मेरे लिये विधान किया गया है, चाहे कुछ भी हो। त्यागमार्गपर चलनेवालेका यही विचार होना चाहिये। ऐसे त्यागी मनुष्यको वाञ्छित मुक्ति प्राप्त होगी। शुद्ध त्यागद्वारा मुक्ति स्वयं प्राप्त होती है। सब गुणोंके बन्धनोंसे मुक्तिका नाम मोक्ष है, जिसमें कोई कार्य करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। यह वह अवस्था है जिसमें भगवान् इस मुक्त जीवके लिये कोई सेवा नहीं चाहते, केवल उसको यही आज्ञा देते हैं-

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'

यही परम मन्त्र है जो मोक्षका अन्तिम साधन है जो अर्जुनको प्राप्त हुआ। भगवान्‌ने पूछा "क्यों अर्जुन! समझा, तेरा अज्ञान दूर हुआ? सन्देह तथा भ्रम नाश हुआ?" अर्जुन उत्तर देता है-स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव' और अपने कर्तव्यपथपर आरूढ हो जाता है।

आइये! हम आप भी अपने सन्देहको दूरकर भगवान्‌के उपदेशको हृदयमें धारणकर कर्तव्य-पथपर अग्रसर होवें। वह योग्यता प्राप्त करें, सब धर्मोंको छोड़कर भगवत्-शरणागतिके योग्य हों और अपने अभीष्ट भगवत्प्राप्तिके सौभाग्यको प्राप्तकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो मोक्ष प्राप्त करें।

श्रीमद्भगवद्गीता सार्वभौम धर्म-ग्रन्थ है।

(लेखक-पं० श्रीनाथूरामजी शर्मा महाराज)

धर्म-युद्धरूप प्राप्त कर्तव्यको छोड़नेका निश्चयकर शस्त्र परित्याग कर बैठे हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनके प्रति भगवान् सगुण-ब्रह्मरूप श्रीकृष्णके द्वारा गान की हुई, ऐहिक और आमुष्मिक हितके लिये सुन्दर शब्दोंमें उपदेश की हुई, यह श्रीमद्भगवद्गीता सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजाके समान है यानी इस पृथ्वीपर रहनेवाले सभी लोगोंको उनके अधिकारके अनुसार लौकिक और पारलौकिक कल्याणका उपदेश करनेवाली है।

धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, श्री और यश इन छःका नाम भग है, यह छः जिस व्यक्तिमें होते हैं उसे भगवान् कहते हैं। भग उस शुद्ध सतोगुणी प्रकृतिका परिणाम है, जिसको वेदान्तशास्त्र माया कहता है। मायाके नियामक सगुण-ब्रह्मरूप परमात्मामें वह भग रहता है। श्रीकृष्ण सगुण-ब्रह्म होनेके कारण उनको गीताशास्त्रमें भगवान् कहा है।

जब राजर्षि धृतराष्ट्रने प्रसंगवश कुछ समयके लिये राजर्षि पाण्डुद्वारा सौंपा हुआ राज्य पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरको नहीं लौटाया, भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा समझाये जाने और पाण्डवोंके लिये राज्यका बहुत थोड़ासा भाग माँगने पर भी दुर्मद दुर्योधनके वशीभूत हुए राजर्षि धृतराष्ट्रने देना स्वीकार नहीं किया। दुर्योधनने यह कह दिया कि पाण्डवोंमें सामर्थ्य हो तो रणमें विजय प्राप्त कर राज्य ले लें। भगवान् श्रीकृष्ण भी सुलहके प्रयत्नमें सफल नहीं हुए। कौरव-पाण्डवोंमें युद्धका निश्चय हो गया। दोनों पक्षोंके राजागण अपनी अपनी सेना-समेत कुरुक्षेत्रमें एकत्र हो गये। दोनों ओरके सेनापतियोंका चुनाव हो गया। सारथी बने हुए भगवान्‌ने अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा कर दिया। शस्त्र चलनेकी तैयारी ही थी, तब अर्जुनने विपक्षमें पितामह भीष्म, शस्त्राचार्य द्रोण एवं आत्मीय-स्वजनोंको देखकर उनसे लड़ना उचित नहीं समझा और युद्धकर्मको हिंसा-रूपी पाप समझकर क्षात्र-धर्मसे विमुख हो भगवान्‌के प्रति ब्राह्मणोचित अहिंसा धर्म पालनेकी अपनी इच्छा प्रकट की। तब भगवान् श्रीकृष्णने उसे यों समझाया कि—

'भाग्यवान् क्षत्रियोंको ही प्राप्त होनेवाला यह धर्म-युद्ध तुम्हें मिला है। उभय पक्षके राजागण अपनी अपनी सेना लेकर यहाँ आ गये हैं। इस समय तुम क्षत्रियके स्वधर्मरूप युद्धको छोड़ दोगे तो इस लोकमें तुम्हारी बड़ी बदनामी होगी। सज्जनोंके लिये बदनामी मृत्युसे बढ़कर दुःखदायिनी होती है। युद्धरूप धर्मके त्यागसे तुम्हें स्वर्गकी जगह नरक मिलेगा। परन्तु यदि युद्ध करके तुम उसमें मारे जाओगे तो तुम्हें स्वर्गकी प्राप्ति होगी और जीतोगे तो राज्य मिलेगा। इसलिये शोक मोह और कायरताको छोड़कर कर्तव्यदृष्टिसे स्वधर्मरूप युद्ध करो।'

भगवान् श्रीकृष्णने जब अर्जुनको ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगका उपदेश दिया तब उसे निष्काम-कर्मरूप क्षात्रधर्मके युद्धरूपी कर्तव्यका ज्ञान हुआ और अन्तमें श्रीकृष्ण भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्यकर उसने युद्ध करना स्वीकार किया। इस गीताशास्त्रमें शोक, मोहके वशीभूत हुए अर्जुनके बहानेसे सारे संसारको कर्तव्यज्ञान करानेके लिये तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानके साधनरूप निष्काम कर्म-योगका उपदेश दिया गया है।

अपने स्वरूपका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना शास्त्र-दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्यका मुख्य कर्तव्य समझा जाता है। इस ज्ञानसे

ही मनुष्य तीन प्रकारके दुःखोंका ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नाश तथा परमानन्दकी नित्य प्राप्ति कर सकता है। पृथ्वी-पर प्रचलित सभी धर्मोंकी प्रवृत्ति मनुष्योंको उनके सर्वदुःख-निवृत्ति और परमानन्दकी अविचल प्राप्ति करनेका उपदेश देनेके लिये है। पृथ्वी पर इससे पहले जो धर्म थे, वर्तमानमें जो हैं, और भविष्यमें जो होंगे, वे सभी धर्म स्पष्ट या अस्पष्ट रीतिसे दुःखरहित परमानन्द प्राप्त करनेके लिये ही मनुष्यको उपदेश करते हैं और करते रहेंगे।' यह बात बहुश्रुत विवेकी पुरुषोंसे छिपी नहीं है। इस स्थितिको प्राप्त करना ही मनुष्यजन्मका बड़ेसे बड़ा लाभ माना जाता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

चित्त-निरोधसे मिलनेवाले परमानन्दको प्राप्तकर उसकी अपेक्षा अधिक दूसरा कोई लाभ योगी नहीं मानता। इन सब वचनोंसे गीताजीमें सर्वश्रेष्ट सार्वभौम धर्मका उपदेश प्रत्येक सुखेच्छु व्यक्तिके प्रति दिया गया है, इसीसे गीता सार्वभौम धर्मग्रन्थ है। जहाँ पृथ्वीके प्रायः समस्त विभिन्न धर्मावलम्बी केवल अपने अपने धर्म-पालनमें ही कल्याण मानते हैं और अपने मतके लिये ऐसा आग्रह करते हैं कि इसके अतिरिक्त अन्यसे कल्याण नहीं होता, वहाँ सार्वभौम धर्मका उपदेश करनेवाली श्रीभगवद्गीता मनुष्य-मात्रको बिना किसी मताग्रहके स्पष्ट शब्दोंमें पुकारकर यह कहती है कि—

"न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति।"

हे अर्जुन ! शुभ कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुःखप्रद स्थितिको प्राप्त नहीं होता—शुभ विचार और शुभ कर्म करनेवालेकी कदापि अधोगति नहीं होती। जो मनुष्य अपने लौकिक या शास्त्रीय प्राप्त हुए कर्तव्य कर्मको यथाविधि प्रीतिपूर्वक करता है वही इच्छित फल पाता है।

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।"

अपने अपने शास्त्रोक्त कर्मोंमें भलीभाँति प्रीति करनेवाला पुरुष अन्तःकरणकी शुद्धि और तज्जनित शुभ फलको प्राप्त करता है। प्रचलित मत-मतान्तरोंके संकुचित अर्थको किनारे रख कर गीता विशाल हृदयसे सबको यह आदेश करती है कि प्रत्येक मनुष्य अपने शास्त्रोक्त कर्म करनेसे ही शुभ फलको प्राप्त कर सकता है। फलकी इच्छा मनुष्यके अन्तःकरणको मलिन कर डालती है। फलेच्छाको त्यागकर शास्त्रोक्त कर्म करनेसे मनुष्यकी चित्त-शुद्धि होती है और उससे प्राप्त होनेवाले उत्तम फल उसको मिलते हैं। इसलिये गीताशास्त्र प्रत्येक सुखकामी मनुष्यको—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

—तुमको निष्काम कर्म करनेका अधिकार है, फल-की इच्छा करना कभी उचित नहीं, यह कहकर निष्काम भावसे कर्म करनेका उपदेश करता है।

मनुष्यको अधोगतिसे बचाकर जो उसकी ऊर्ध्वगतिमें हेतु होते हैं, वही शुभ विचार और शुभ कर्म, धर्म कहलाते हैं। इस पवित्र धर्मके सेवनसे परिपक्व होने पर मनुष्यके अन्तस्तलमें स्थित द्वेष, तृष्णा तथा समस्त दुःख-बीज भस्म हो जाते हैं और उसमें पवित्र सहजानन्द-की बाढ़ आ जाती है।

अन्तःकरणकी वृत्तिको देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित ब्रह्मके आकारवाली बनाकर आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखोंकी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द-की नित्य प्राप्ति ही सार्वभौम धर्म कहलाता है। भिन्न भिन्न मनुष्योंके अन्तःकरणोंकी योग्यताका अति सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करके ही भगवद्गीतामें इस सार्वभौम धर्मका उपदेश किया गया है।

"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।"

बाह्यदृष्टिसे मनुष्योंको प्रतीत होनेवाला यह सब जगत् परमात्म-रूप है, ऐसा जाननेवाले महापुरुष इस संसारमें बहुत थोड़े होते हैं। इस वचनसे गीताशास्त्रमें सार्वभौम धर्मको जाननेवाले पुरुषकी दुर्लभता बतलायी है। चित्त-शुद्धि हुए बिना इस सार्वभौम धर्मका यथार्थरूप समझमें नहीं आता। इसीसे गीताशास्त्रमें चित्त-शुद्धिके लिये अर्जुनके प्रति उसके धर्मयुद्धरूप स्वधर्मका पालन करनेके लिये स्थान स्थानमें जोर देकर कहा गया है कि—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।"

—स्वधर्म-पालन करते हुए मरना भी उत्तम है, परन्तु अपने स्वभावसे विरुद्ध परधर्मका पालन भयप्रद है। इस वचनसे मनुष्यको अपने धर्मका पालन करनेके लिये सदा आग्रह रखनेकी आज्ञा दी गयी है। जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर प्राप्त हुए धर्म-युद्धको करना चाहिये, इसप्रकार अर्जुनको निष्काम कर्मका उपदेश दिया गया है। वर्णाश्रम-धर्मके यथाविधि पालनसे मनुष्यका चित्त शुद्ध होता है, यह बात सब शास्त्रोंमें प्रसिद्ध ही है।

गीताजीमें सुखाभिलाषीके प्रति परमात्माकी अनन्य भक्तिका भी अनेक स्थानोंमें उपदेश है। मायाविशिष्ट चेतन या मायोपहित चेतन ईश्वर कहलाता है। उस ईश्वरमें अपना अन्तःकरण स्थिर करनेसे ईश्वरमें स्थित धर्म,ज्ञान,वैराग्य और ऐश्वर्यादि अनेक शुभ गुण भक्तके हृदयमें संक्रमित हो जाते हैं और वह अन्तमें ब्रह्मका साक्षात्कार कर कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार भक्तिके अधिकारियोंके लिये भक्तिरूप सार्वभौम धर्मका उपदेश भी गीताजीमें किया गया है।

छठे अध्यायमें अभ्यासयोग या ज्ञानयोगका निरूपण करते हुए कहा है कि योगाभ्यासीको आत्म-स्वरूपमें अपने अन्तःकरणको एकाग्र करना चाहिये और उस एकाग्रताकी परिपक्वताके द्वारा अन्तरात्मासे अभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार कर उसे कृतार्थ होना चाहिये। अन्तःकरण अन्तर्मुखी हुए बिना ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिये गीताके पाँचवें अध्यायमें बाह्य विषयोंका वैराग्य-सम्बन्धी उपदेश इस प्रकार दिया गया है:—

> बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
> स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

बाह्य-विषय-सुखोंमें आसक्ति-रहित पुरुष अपने अन्तःकरणमें जो उपराम सुखको पाता है। वह ब्रह्मयोगमें युक्त चित्तवाला अनन्त सुखको भी प्राप्त करता है।

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले जितने भोग-सुख हैं वे निश्चय ही दुःखके मूल हैं। वे आने जानेवाले हैं। हे अर्जुन! विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करता।

> शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
> कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

जो मनुष्य शरीर नष्ट होनेसे पहले यहीं काम, क्रोधसे उत्पन्न वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है वही योगी, वही सुखी और वही पुरुष है।

> योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
> स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

जो अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, जो अन्तरात्मामें ही आरामवाला है और जो अन्तरात्मामें ही प्रकाशवाला है वही ब्रह्मरूप योगी परमानन्दरूप ब्रह्मको पाता है।

> लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
> छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

जिनके पाप-पुण्यरूप कर्म नष्ट हो गये हैं, जिनके संशय क्षय हो गये हैं, जिनका चित्त अपने अधीन है और जो प्राणिमात्रकी भलाईमें लगे हुए हैं, वे ऋषि (सूक्ष्मदर्शी) परमानन्दरूप ब्रह्मको पाते हैं। भगवद्गीता सार्वभौम धर्मका बोध करानेवाली होनेके कारण ही प्रसंगानुसार इसमें आत्मासे अभिन्न ब्रह्मके स्वरूप और उसके भिन्न भिन्न साधनोंका वर्णन किया गया है। प्राणिमात्रके वास्तविकस्वरूप—ब्रह्मस्वरूप—का ही मनुष्यको दृढ़ ज्ञान प्राप्त करना है, यही भगवद्गीताका मुख्य उपदेश है। इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणके शुद्ध होनेकी परमावश्यकता है। चित्त-शुद्धिके लिये अर्जुनके अधिकारका विचारकर भगवान् श्रीकृष्णने उसको स्थान स्थानपर निष्काम कर्मका बोध करवाया है।

यह गीताशास्त्र उपनिषदोंका साररूप है। इससे इसके प्रतिपाद्य देव ब्रह्म हैं। उस ब्रह्मस्वरूपमें महेश्वर, विष्णु, गणपति, सूर्य, भुवनेश्वरी, बुद्ध, सिद्ध, जिहोवा, गाड और अल्लाह इत्यादि भिन्न भिन्न धर्मोंमें माने हुए परमात्माके सभी स्वरूपोंका समावेश हो जाता है। गीताशास्त्र-कथित कर्म, उपासना, योगसाधन और तत्त्वज्ञानमें विभिन्न धर्मोंके धर्मशास्त्रोंमें उपदेश किये हुए समस्त कर्मोंदिका समावेश हो जाता है। गीताशास्त्रद्वारा उपदिष्ट सार्वभौम धर्मका सम्पूर्णरूपसे पालन करनेपर साधक पुनरावृत्ति-रहित मोक्षको प्राप्त होता है। गीताशास्त्रके माने हुए मोक्षमें सभी धर्मवालोंके माने हुए मोक्षका समावेश हो जाता है। अतएव प्रत्येक सुखाभिलाषी पुरुषको गीताशास्त्रके अनुसार निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोगकी प्राप्ति करनेके लिये अपने अन्तःकरणकी योग्यताका विचारकर अधिकसे अधिक प्रयत्नशील हो अपना मनुष्य-जीवन सफल करना चाहिये।

श्री वी० आर० राजम् ऐयर ।

महामहोपाध्याय चेट्लुर नृसिंहाचार्य स्वामी, मद्रास ।

दीक्षित श्रीनिवास शठकोपाचार्य व्याकरणोपाध्याय ।

श्रीहोसाकेरे चिदम्बरैया, कर्णाटक ।

श्रीअरविन्द घोष ।

बाबू अनिलवरण राय, पांडीचेरी ।

महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, काशी ।
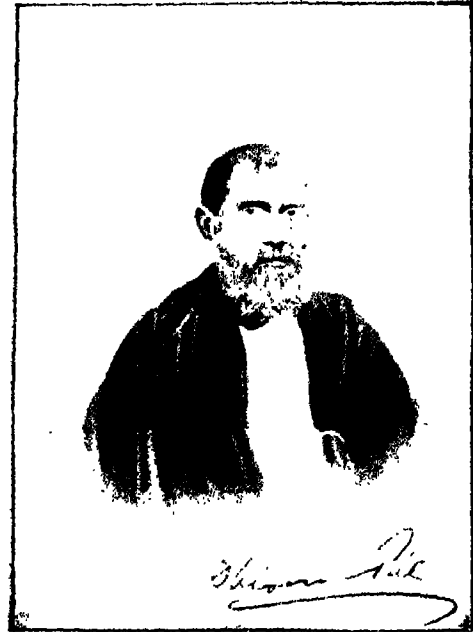
श्रीधीरेन्द्रनाथ पाल ।

विभूति-तत्त्व

(लेखक—श्रीअरविन्द घोष)

गीताके दशम अध्यायको साधारणतः जैसा समझा जाता है वह उससे कहीं अधिक प्रयोजनीय है। जो मतवाद संसारके जीवनसे चरम मुक्ति चाहता है, मानवात्माको संसार-लीलासे विमुखकर विश्वके अतीत सारे सम्बन्धोंसे रहित सत्ताकी ओर ले जाता है, गीतामें केवल उसी मतवादका समर्थन खोजनेसे इस दशम अध्यायका यथार्थ मूल्य और इसकी मर्यादा समझमें नहीं आ सकती। मनुष्यके अन्दर भगवान् हैं, यही महान् सत्य गीताकी वाणी है। वह क्रमसे बढ़ती हुई योगशक्तिके बलसे निम्न-प्रकृतिकी मायाके आवरणसे अपनेको मुक्त की हुई मानवात्माके समीप अपनी विश्वसत्ताका प्रकाश करते हैं, अपनी समस्त उच्चतम शक्तियोंको प्रकट करते हैं, मनुष्यों और सम्पूर्ण भूतोंमें वह विराजमान हैं, इस बातको स्पष्ट भावसे दिखला देते हैं। यही दिव्ययोग है, यही मनुष्यका भागवत-सत्तामें परिणत होना है, यही मानवात्माके समीप, मनुष्यकी अन्तर्दृष्टिके सम्मुख भगवान्‌का आत्मप्रकाश है, इसीके फलसे हम अपने क्षुद्र 'अहं' से छूटकर दिव्य मानवताकी एक ऊंची प्रकृतिमें उत्थान करनेमें समर्थ होते हैं। मर्त्यजीवनके खेल त्रिगुणके कठिन बन्धनसे ऊपर उठकर, उच्चतर दिव्यप्रकृतिमें निवासकर, ज्ञान, भक्ति और कर्मसे भगवान्‌के साथ ऐक्यभावको प्राप्त होकर और अपनी सारी सत्ताको भगवान्‌के अर्पणकर मनुष्य चरम मुक्ति पा सकता है और तदनन्तर वह संसारमें भी काम कर सकता है। फिर उसके वे कर्म अज्ञानके कर्म नहीं होते। वे कर्म, भगवान्‌के साथ जीवका सत्य-सम्बन्ध स्थापित करके आत्माके सत्यसे किये जाते हैं। वे कर्म 'अहं' के लिये नहीं किये जाते किन्तु जगत्‌में भगवान्‌के लिये किये जाते हैं। इस प्रकारके कर्मोंके लिये अर्जुनको आह्वान करना, वह स्वयं कौनसी सत्ता और शक्ति है तथा उसके अन्दरसे कौनसी महान् सत्ता और शक्तिकी इच्छा कार्य कर रही है, यह बात उसे समझा देना ही मानव-देहधारी भगवान्‌का उद्देश्य है। इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण उसके रथके सारथि बने हैं, इसी उद्देश्यसे अर्जुनके हृदयमें गम्भीर विषाद उत्पन्न हुआ था, मनुष्य साधारणतः जिन क्षुद्र वासना और आदर्शोंको सामने रखकर काम करता है, उन सबके प्रति उसके मनमें गहरा वैराग्य उत्पन्न हो गया था, इन सबके बदलेमें उसे उच्चतर आध्यात्मिक दर्शन बतलानेके लिये भगवान्‌ने कुरुक्षेत्रके संगीन समयमें अर्जुनके सामने आत्मप्रकाश किया। अर्जुनको विश्वरूप दिखलानेके लिये और विश्वरूपसे प्रकट हुए भगवान्‌के मुखसे ही उसे युद्धका आदेश सुनानेके लिये श्रीकृष्ण उसे उपदेश देकर तैयार कर रहे थे। वह विश्वरूप अब दिखलाया जानेको है, परन्तु इस अध्यायके विभूतियोगद्वारा अर्जुनको जो ज्ञान दिया गया, वह यदि न दिया जाता तो अर्जुन विश्वरूपका असली रहस्य नहीं समझ सकता।

विश्वलीलाका रहस्य गीतामें आंशिकभावसे दिखलाया गया है। आंशिकरूपसे इसीलिये कि, इस रहस्यकी अनन्त गम्भीरता संपूर्णरूपसे प्रकट नहीं की जा सकती। ऐसा कौनसा मतवाद या दर्शनशास्त्र है जो यह कह सके कि उसमें अत्याश्चर्यमय विश्वलीलाके समस्त रहस्यकी थोड़ेसेमें व्याख्या कर दी गयी है या किसी एक दार्शनिक मनमें ही वह निःशेषरूपसे प्रकट कर दिया गया है? परन्तु गीताका जो उद्देश्य है, उसकी सिद्धिके लिये जितना आवश्यक है, उतना ही गीताने व्यक्त किया है। गीतामें हम इस बातको पाते हैं कि, भगवान्‌से यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ? समस्त जगत्‌में भगवान् कैसे अनुस्यूत हैं? भगवान्‌में जगत् स्थित है, समस्त भूत और सारी सृष्टि मूलमें एक है। गीतामें यह भी पाते हैं कि प्रकृतिके अज्ञानसे बंधे हुए मनुष्यके साथ भगवान्‌का क्या सम्बन्ध है? मनुष्य कैसे आत्मज्ञानमें जाग्रत होता है—ऊर्ध्वके चैतन्यमें नवीन-जन्म प्राप्त करता है? अपनी ही उच्चतर अध्यात्म-सत्तामें उठ सकता है? परन्तु मनुष्य जब अपने प्राकृत अज्ञानसे मुक्त होकर इस नवीन आत्मदृष्टि और चेतनाको प्राप्त करता है, उस समय वह मुक्त पुरुष अपने चारों ओरके जगत्‌को किस दृष्टिसे देखता है? जिस विश्वलीलाके मूल रहस्यको उसने जान लिया है, उस विश्वलीलाके प्रति उसका भाव और बर्ताव कैसा होता है? (इसका उत्तर यह है कि) वह पहले ही

सब भूतोंकी एकताका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसी ज्ञानचक्षुसे सबको देखता है। वह देखता है कि मेरे चारों ओर जो कुछ है, सो सभी एक भागवत सत्ताके ही आत्मरूप और शक्ति हैं। यहांसे इसी दृष्टिसे उसकी चेतनाकी सारी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी चेष्टाओंका आरम्भ होता है। यही दृष्टि उसके समस्त कर्मोंका भित्तिरूप ज्ञान या आध्यात्म-प्रतिष्ठा बन जाती है। वह देख पाता है कि सभी वस्तुएं, सम्पूर्ण जीव उसी एक भगवान्‌में चल फिर रहे और काम कर रहे हैं, उसी दिव्य और अनन्त सत्तासे धारण किये हुए हैं। इसके अतिरिक्त वह यह भी देखता है कि, वही एक भगवान् सबमें विराजमान हैं, वही सबके आत्मा और सबमें उन्हींकी मूल अध्यात्मसत्ता है, यदि भगवान् उनकी चेतन-प्रकृतिमें गुप्तभावसे विद्यमान न रहते तो उनका बचना, चलना, फिरना, कर्म करना कुछ भी सम्भव नहीं होता। भगवान्‌की इच्छा, शक्ति, अनुमति बिना वे एक मुहूर्त्तके लिये जरासा हिल भी नहीं सकते। वह देखता है कि वे स्वयं और उन सबके आत्मा, मन, प्राण और शरीराधार आदि सब कुछ एक परमात्मा और अध्यात्मसत्ताकी ही शक्ति, इच्छा और तेजका परिणाम है। उसके सामने फिर सभी कुछ उस एक विश्वपुरुषके आत्म-प्रकाशकी लीला बन जाता है। वह देखता है कि, उन सबकी चेतना उस विश्व-पुरुषकी चेतनासे ही पूर्णरूपसे उत्पन्न है, उनका तेज और उनकी इच्छाशक्ति उसी पुरुषके तेज और इच्छाशक्तिसे लिये गये हैं, उनका आंशिक प्राकृत जीवन उसी पुरुषकी महत्तर दिव्य प्रकृतिका प्रकाश है।

बाहरसे जगत्‌की वस्तुएं कैसी ही विपरीत या भ्रान्त-भावनासे क्यों न देखी जायं परन्तु उसकी उपर्युक्त दृष्टिकी पूर्णता किसी भी तरहसे तनिक-सी भी क्षीण नहीं होती। वह तो महान् चेतनाको प्राप्त कर चुका है। यह दृष्टि ही उसके जीवनकी नींव है। उसके चारों ओर यह प्रकाश अवश्यम्भावीरूपसे फैल गया है। किस तरह सबको देखना चाहिये, यही उसका एक सिद्ध मार्ग है, इसी एक सत्यसे दूसरे सारे सत्य सम्भव होते हैं।

परन्तु जगत् भगवान्‌का एक आंशिक प्रकाशमात्र है। यह इतनासा ही भगवान् नहीं है। प्राकृत-जगत्‌में कैसा भी प्रकाश क्यों न हो, भगवान् उससे अनन्तगुण अधिक महान् है। इस अनन्तताके द्वारा सारे सम्बन्धों और सारे बन्धनोंसे अतीत इस सत्ताद्वारा वे इतने ऊंचे हैं कि कितने ही प्रकारका जगत् क्यों न हो, विश्वप्रकृति कितने भी अनन्त चरित्रोंसहित अनन्तरूपसे विस्तृत होकर प्रकट क्यों न हो जाय, पर उनको सम्पूर्णरूपसे किसी प्रकार भी प्रकट नहीं किया जा सकता। 'नास्ति अन्तः विस्तरस्य मे।' अतएव मुक्त-पुरुषकी दृष्टि विश्व-जगत्‌के ऊपर परम भगवान्‌को देखती है। वह देखती है कि जगत् भगवान्‌का एक रूप है परन्तु भगवान् सब रूपोंसे अतीत हैं। वही देखती है कि भगवान्‌की अनिर्वचनीय अनन्त सत्तामें जगत् केवल एक नीची श्रेणीका खेलमात्र है। सम्पूर्ण खण्ड-सम्बन्ध-युक्त वस्तुओंको वह देखती है,—सब सम्बन्धोंसे अतीत अखण्ड, अनन्त भगवान्‌का ही एक एक रूप और उन्हीं प्रत्येकमेंसे होकर वह समस्त खण्ड वस्तुओंके ऊपर उस एक भगवान्‌में ही जा पहुँचती है। प्रत्येक प्राकृत घटना प्राकृत जीव और खण्ड कर्मके ऊपर, समस्तगुण और सारी घटनाओंके ऊपर वह सदा उस एक भगवान्‌को ही देखती है; इन सब वस्तुओंकी ओर देखनेसे तथा इनके ऊपरकी ओर देखनेसे उसे एक भगवान्‌में ही सबकी आध्यात्मिक सार्थकताका पता लगता है।

यह उसके लिये केवल मनका संकल्प या बुद्धिकी धारणा ही नहीं होती, जगत् और जगत्‌के कर्मोंके सम्बन्धमें उसका यह केवल एक युक्तियुक्त मतवाद ही नहीं होता। क्योंकि यदि उसका ज्ञान केवल ऐसी धारणा या मत ही हो तब तो यह एक फिलासफी, या एक मानसिक रचना होती है। अध्यात्मज्ञान या दृष्टि नहीं होती—चेतनाका अध्यात्म-भाव नहीं होता। भगवान् और जगत्‌को अध्यात्म-भावसे देखना केवल एक मनके चिन्तनकी क्रिया नहीं है—यहांतक कि यह प्रधानतः या मूलमें भी मानसिक-चिन्ताकी क्रिया नहीं है, यह तो प्रत्यक्ष अनुभूति है। जैसे मनके लिये इन्द्रियोंके द्वारा वस्तुओंका प्रत्यक्ष होना सत्य, स्पष्ट, स्थायी और घन है, वैसे ही यह भी है। जड़का अनुगामी मन ही यह सोचता है कि भगवान् एक सूक्ष्म धारणामात्र हैं—नाम, रूप, प्रतीक या कल्पनाकी सहायता बिना भगवान्‌का दर्शन या ग्रहण नहीं होता। आत्मा आत्माको देखता है। दिव्य-भावापन्न चेतना भगवान्‌को ठीक वैसे ही प्रत्यक्षरूपसे या उससे भी अधिक प्रत्यक्ष, ठीक वैसे ही गाढ़-भावसे या उससे भी अधिक गाढ़-भावसे देखता है, जैसे जड़ानुगत चेतना जड़ वस्तुको देखती है। आत्मा भगवान्‌को देखता है, अनुभव करता है, ध्यान करता है और इन्द्रियगोचर करता है। कारण, उस अध्यात्मचेतनाको यह समस्त दृश्य जगत्, जड़का जगत् नहीं प्रतीत होता, प्राणका या मनका

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ (गी० अ० १० । २३।२४)

जगत् भी नहीं दीखता परन्तु उसे प्रतीत होता है वह आत्माका जगत्; मन-प्राणादि उसे भगवच्छिक्ता, भगवत्-शक्ति और भगवत्-रूपसे प्रतीत होते हैं। वासुदेवमें निवास करना, और वासुदेवमें कर्म करना ही 'मयि वर्तते'का गीतार्थ है। जिस ऐक्य बोधके घन-ज्ञानसे अध्यात्म-चेतना भगवान्-को जानती है, वह इतना गम्भीर और तीव्र सत्य है कि वह मनके चिन्तनमें या इन्द्रियोंके सामने कभी नहीं आ सकता। वह इसी भावसे उस विश्वातीत परम सत्ताको भी जान सकती है जो विश्वलीलाके पीछे और उसके ऊपर वर्तमान है। जिसने इसकी सृष्टि की है और जो इसकी अपेक्षा महान् तथा सदा सर्वदा इसके परिवर्तनसे अलग रहता है। इसके सिवा इन्हीं भगवान्का जो अक्षर अपरिवर्तनीय आत्मा अपनी अपरिवर्तनशील सनातन सत्ताके द्वारा समस्त संसारमें व्याप्त है, जगत्की सारी परिवर्तन-लीलाको जिसने धारण कर रक्खा है, उसको ही वह अध्यात्म-चेतना ऐक्य-बोधके द्वारा जान लेती है, हमारी अपनी कालातीत अपरिवर्तनीय अविनाशी सत्ताके साथ इस आत्माकी एकता उपलब्धकर फिर ठीक इसी प्रकारसे वह उस दिव्य पुरुषको जान लेती है जो इन सब वस्तुओंमें और जीवमें अपनेको जानते हैं, जो अपनी चेतनासे ही सब वस्तु और जीव बन गये हैं, जो उनके चिन्तन और रूपका संगठन करते हैं और जो अपनी अनुस्यूत इच्छासे उनके कर्मोंका सञ्चालन करते हैं। वह भगवान्को, उनकी समस्त सत्ताको, सब प्रकारके गाढ़रूपसे जान लेती है, वह भगवान्की सब सम्बन्धोंसे अतीत–विश्वातीत सत्ताको जानती है, भगवान्को विश्वके आत्मा-रूपसे जानती है और उनको जीवके अन्तरपुरुष, आत्मा तथा प्रकृतिरूपसे भी जानती है, यहां तक कि ऐक्य-बोधके या आत्मोपलब्धिके द्वारा इस बाह्यप्रकृति–(External nature) को भी जान लेती है। परन्तु वह ऐक्य इस विश्व-वैचित्र्यका बाधक नहीं है, सम्बन्धको अस्वीकार नहीं करता, विश्वलीलाकी एक ही शक्तिके भिन्न भिन्न क्रमोंके ऊँची और नीची क्रियाओंको स्वीकार करता है। कारण प्रकृति भगवान्की आत्मप्रकाश लीलाकी शक्ति है–उनकी आत्म-विभूति है।

परन्तु यह अध्यात्म-चेतना—जगत्के सम्बन्धमें यह अध्यात्मज्ञान जगत्में प्रकृतिको उस भावसे नहीं देखता, जिस भावसे साधारण मनुष्योंका मन अज्ञानके वश होकर देखता है। इस प्रकृतिमें जो कुछ अज्ञानका है, जो कुछ असम्पूर्ण, पीड़ाकारक, विकृत और विद्रोही है, सो सब भगवान्की प्रकृतिके सर्वथा विपरीत ही नहीं है। इन सबके पीछे भी एक यथार्थ सत्य है, इनके पीछे भी ऐसी अध्यात्म-शक्ति है, जिसमें जाकर ये अपनी सच्ची सत्ता और परिणतिको प्राप्त हो सकते हैं। एक आदि-सृष्टि-कारिणी परमा प्रकृति है, जहां भगवान् अपनी लीलाके पूर्ण स्वरूप और शुद्ध प्रकाशका उपभोग करते हैं। जगत्में हम जिन शक्तियोंका खेल देखते हैं, उन सबकी श्रेष्ठ और सम्पूर्ण शक्ति वहीं मिलती है। उसीको हम देखते हैं भगवान्की आदर्श प्रकृति। वह प्रकृति पूर्ण ज्ञान, पूर्ण तेज, पूर्ण इच्छा-शक्ति तथा पूर्ण प्रेम और आनन्दकी है। इसके गुण और इसकी शक्ति भी अनन्त प्रकारकी है; अनन्त गुण, असंख्य शक्ति, अद्भुत विचित्ररूप वह पूर्ण ज्ञान, पूर्ण तेज, पूर्ण प्रेम और आनन्दके नाना प्रकारकी स्वच्छन्द आत्माभिव्यक्ति अपने आप ही सुन्दर सामञ्जस्यको प्राप्त है। वहांपर नाना प्रकारकी पूर्णता और अनन्तताके सभी बहुमुखी प्रवाहोंकी एकता होती है। उसी आदर्श दिव्य-प्रकृतिमें प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक गुण, शुद्ध, पूर्ण, स्वस्थ और कर्ममें समञ्जसता-युक्त है; वहां कोई भी अपनी स्वतन्त्र सीमाबद्ध सिद्धिके लिये चेष्टा नहीं करता, सभी एक अनिर्वचनीय एकतासे कर्म करते हैं। वहां सभी धर्म (दिव्य गुण और शक्तिकी जो गुणकर्मरूप यथार्थ क्रिया है, वही धर्म है) एक मुक्त स्वच्छन्द लीलारूप धर्म है। भगवान्की वह दिव्य चित्-शक्ति असीम स्वाधीनताके साथ कर्म करती है, वह किसी भी एकमात्र धर्म या नीतिके बन्धनमें बँधी नहीं होती। किसी भी एक सङ्कुचित पद्धतिके द्वारा सीमाबद्ध नहीं होती, अपनी अनन्त लीला-का स्वयं ही आनन्द भोगती है, अपने आत्मप्रकाशके सत्य-से उसका कभी पदस्खलन नहीं होता। वह सदा सर्वाङ्ग-सुन्दर, पूर्ण और सिद्ध है।

परन्तु हम जिस जगत्में निवास करते हैं वहां भेद और विषमताकी नीति है। हम देखते हैं कि वहां जो गुण और शक्तियां प्रकाशित होना चाहती हैं सो सभी केवल अपने लिये ही प्रयत्नशील हैं। वे चाहे जिस उपायसे जहांतक सम्भव है केवल अपने ही आत्मप्रकाशके लिये चेष्टा कर रही हैं और अन्यान्य प्रतिद्वन्द्वी या सहयोगी शक्तियोंकी ठीक वैसी ही स्वतन्त्र आत्म-प्रकाशकी चेष्टाके साथ अपनी चेष्टाका किसी तरह एक सामञ्जस्य करना चाहती हैं। पार्थिव-प्रकृतिके इस द्वन्द्वमें भी भगवान् अवस्थित हैं और इन सब शक्तियोंके कर्म भी जो एक गूढ़ ऐक्यपर प्रतिष्ठित हैं–उसी अनतिक्रमणीय नीतिके द्वारा उस द्वन्द्वपर ही

एक मं खला या सामञ्जस्यकी स्थापना कर रहे हैं। परन्तु वह सामञ्जस्य पूर्ण नहीं है, आपेक्षिक है। मालूम होता है, उसका उत्थान द्वन्द्वसे ही हुआ है, द्वन्द्वोंके घात-प्रतिघातसे ही एक तरहका सामञ्जस्य हो गया है, किसी भी मूल ऐक्यसे उसकी उत्पत्ति नहीं है। कमसे कम यह विदित होता है कि वह ऐक्य दबा हुआ और अविकसित है, वह अपनी स्थापना नहीं कर सकता, किसी प्रकार भी आत्मप्रकाश करनेमें समर्थ नहीं होता। जबतक इस पार्थिव-प्रकृतिमें बद्ध हुआ जीव अपने अन्दर उस उन्नतर दिव्यप्रकृतिका पता नहीं पाता,-जिससे इस नीचेके खेलकी उत्पत्ति हुई है, तबतक वस्तुतः वह अपनेको प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। परन्तु जो कुछ भी हो, जगत्में जो गुण और शक्तियां क्रिया कर रही हैं; मनुष्य, पशु, उद्भिज और जड़ पदार्थोंमें जो नाना प्रकारके भावोंसे कर्म कर रही हैं, किसी भी तरहसे उनका ग्रहण क्यों न किया जाय, है वह सभी दिव्यगुण और दिव्यशक्तियां। सभी गुण और शक्तियां भगवान्‌की ही शक्ति हैं। सभी ऊपरकी दिव्यप्रकृतिसे उतरकर यहां नीचेकी प्रकृतिमें आत्मप्रकाश करनेकी चेष्टा कर रही हैं, और बाधाविघ्नोंका सामना करती हुई अपनी सत्ता और स्वरूपके प्रकाश करनेमें आगे बढ़ रही हैं। जब वह अपनी आत्मशक्तिके शिखरपर चढ़ जाती हैं, तभी भगवान्‌के साक्षात् प्रकाशकी निकटवर्तिनी होती हैं और परा—आदर्श दिव्यप्रकृतिमें अपना जो दिव्य स्वरूप है, उसीकी ओर अपनेको संचालित करती हैं। कारण प्रत्येक शक्ति भगवान्‌की ही सत्ता और शक्ति है, तथा शक्तियोंका विस्तार और आत्म-प्रकाश सभी समय भगवान्‌का ही विस्तार और आत्म-प्रकाश है।

ऐसा भी कहा जा सकता है कि हमारे अन्दर जब ज्ञानकी, इच्छाकी, प्रेमकी और आनन्दकी कोई-सी भी शक्ति खूब बढ़ उठती है तब उसके फलसे ऐसा विदारण होता है कि वह नीचेकी प्रकृतिके मायाके पर्दोंको तोड़ दे सकता है और उस शक्तिकी द्वन्द्वमयी क्रियासे हमें मुक्तकर भगवान्‌की अनन्त स्वाधीनता और शक्तिके साथ हमारा योग कर दे सकता है। जब भगवान्‌के प्रति टान खूब बढ़ आती है, तब वह टान मनको ज्ञानकी पूर्ण दृष्टिके द्वारा मुक्त कर देती है, हृदयको पूर्ण प्रेम और आनन्दके द्वारा मुक्त कर देती है, समस्त जीवनको एक ऊंचे जीवनकी प्राप्तिके लिये पूर्ण ऐकान्तिक आकांक्षाके द्वारा मुक्त कर देती है। परन्तु वह विदारण, जिससे मायाका आवरण फट जाता है, हमारी प्रकृतिपर भगवान्‌के स्पर्शसे ही सम्भव होता है, वह शक्तिको साधारण सीमाबद्ध द्वन्द्वमयी क्रिया और विषयोंसे लौटाकर अनन्तकी ओर, पूर्ण भगवान्‌की ओर परिचालित करता है। इस प्रकार सर्वत्र विद्यमान रहकर भागवत-शक्ति जीवित रूपसे कार्य करती है—यही सत्य विभूति-तत्त्वका आधार है।

अनन्त दिव्यशक्ति सर्वत्र विद्यमान है और उसीने गुप्तभावसे नीचेके खेलको धारण कर रक्खा है, 'परा प्रकृतिः मे यया धार्यते जगत्।' परन्तु जबतक ज्ञानके प्रकाशसे योगमायाका आवरण फट नहीं जाता तबतक वह अपनेको पीछे रखती है। प्रत्येक भूतके हृद्देशमें छिपाकर रखती है—'सर्वभूतानां हृद्देशे।' मनुष्यकी अध्यात्म-सत्ता,—जीव दिव्यप्रकृतिका अधिकारी है। उस प्रकृतिमें भगवान्‌का ही आविर्भाव है, 'प्रकृतिः जीवभूताः।' और उसके अन्दर समस्त दिव्य गुण और शक्ति तथा भागवत-सत्ताकी ज्योति-तेज छिपा रहता है। परन्तु हम जिस नीचेकी प्रकृतिमें निवास कर रहे हैं, वहां जीव भेद और विषमता-की नीतिका अनुसरण करता है। शक्तिके किसी अंश, किसी गुण या अध्यात्मभावको लेकर उसने जन्म लिया है, अथवा आत्मप्रकाशके बीजस्वरूपको सामने लाया है। वही उसके स्वभावकी कार्यकारिणी शक्ति है, वही उसकी जीवलीलाका मूल धर्म है और वही उसके कर्मकी नीति है जो स्वधर्मका निर्णय कर देती है। यदि केवल यही होता तो कोई असुविधा या समस्या नहीं रहती, मनुष्यका जीवन भगवान्‌का ही ज्योतिर्मय क्रम-विकास हो जाता। परन्तु हमारे जगत्‌की जो यह नीचेकी शक्ति है,-अपरा प्रकृति है, इसका स्वरूप ही है अज्ञान या अहङ्कार; यह त्रिगुणमयी है। अहङ्कार इस प्रकृतिका स्वरूप होनेके कारण ही जीव अपनेको स्वतन्त्र 'अहं' समझ बैठता है, इसी प्रकार अहंभावके वशमें होकर उसीकी तरह दूसरोंमें आत्मप्रकाशकी प्रवृत्ति रहती है, उनके साथ अपना भेद जानकर वह उनसे सहयोग या संघर्षकर आत्मविकाशकी चेष्टा करता है। वह जगत्‌को द्वन्द्वके द्वारा प्राप्त करना चाहता है, ऐक्य और सामञ्जस्यके द्वारा नहीं। अपने 'अहं' को केन्द्र बनाकर वह विरोध बढ़ा लेता है। अज्ञान इस प्रकृतिका स्वरूप है, इसलिये यह अन्ध दृष्टि है तथा अपूर्ण और आंशिक आत्मप्रकाशकी प्रकृति है। जीव न अपनेको जान सकता है और न अपनी सत्ताके धर्मको जान सकता है, परन्तु विश्व-

शक्तिकी गूढ़ प्रेरणासे वह अन्धभावसे ही उसका अनुसरण करता है, भलीभाँति उसका मर्म नहीं समझ सकता, अपने अन्दर बहुतसे द्वन्द्वोंको लेकर ही किसी तरह दुःख-सुखसे वह आगे बढ़ता है, उसकी स्वधर्मसे गिरनेकी खूब सम्भावना रहती है । यह प्रकृति त्रिगुणमयी है, इसलिये आत्मप्रकाशकी यह अन्ध द्वन्द्वमय चेष्टा नाना प्रकार असमर्थता, विकृति और आंशिक आत्मोपलब्धिका रूप ग्रहण कर लेती है ।

जब अज्ञान और अप्रवृत्तिमूलक तमोगुणका आधिपत्य हो जाता है, तब सत्ताकी शक्ति दुर्बल विशृङ्खलताके तथा सर्वदा असमर्थताके साथ मिलकर क्रिया करती है,—अज्ञानकी शक्तियोंके—जड़ अन्ध क्रियाके वशमें होकर कर्म करती है, इनके ऊपर उठनेकी कोई आशा या आकांक्षा नहीं रहती । जब प्रवृत्ति—वासना या भोगमूलक रजोगुणका आधिपत्य होता है तब ऊपर उठनेके लिये कुछ द्वन्द्व और चेष्टा होती है । शक्ति और सामर्थ्यका कुछ विकास होता है, परन्तु पद-पदपर उसकी च्युति होती है; वह चेष्टा यन्त्रणादायक, प्रचण्ड, भ्रान्त धारणा, भ्रान्त पद्धति और आदर्शके द्वारा अनुप्राणित होती है; वह सत्य धारणा पद्धति और आदर्शोंको विकृत करती है—दूषित करती है, उनका अपव्यवहार कराती है, और 'अहं'को खूब बढ़ा देती है । बहुत बार तो इस अहंकारकी मात्रा बहुत ही अधिक बढ़ जाती है ।

जब ज्योति, शान्ति और स्थिरतामूलक सतोगुणका आधिपत्य होता है, तब कर्मोंमें सामञ्जस्य अधिक होता है, प्रकृतिके साथ व्यवहार ठीक होता है, परन्तु यह ठीक व्यवहार व्यक्तिगत ज्ञान और सामर्थ्यके द्वारा सीमाबद्ध होता है, नीचेकी प्रकृतिकी जो मानसिक बुद्धि है—अज्ञान और इच्छाशक्ति इनके ही ऊंचे रूप पर और नहीं उठ सकती । इस जालसे छूटना, अज्ञान, अहङ्कार और तीनों गुणोंसे ऊपर उठना, यही दिव्य शक्ति प्राप्त करनेके पथमें पहली मंजिल है । इस प्रकार ऊपर उठकर ही जीव अपनी दिव्य प्रकृतिका, अपने सत्य जीवनका पता पाता है ।

अध्यात्म-चेतनाके ज्ञानकी जो मुक्त-दृष्टि है, वह जगत्‌में केवल नीचेकी द्वन्द्वमयी प्रकृतिको ही नहीं देखती । हम यदि अपनी और दूसरोंकी प्रकृतिका केवल बाहरी रूप ही देखें, तो वह देखना अज्ञान-चक्षुओंका होता है । इससे हम भगवान्‌को सर्वत्र समभावसे नहीं जान सकते । सात्त्विक, राजसिक और तामसिक जीवोंमें, देवता और दानवोंमें, पापात्मा और पुण्यवानोंमें, ज्ञानी और मूर्खमें, महान् और क्षुद्रमें, मनुष्य-जन्तुमें या उद्भिजादि जड़ जगत्‌में सर्वत्र समभावसे हम भगवान्‌को नहीं देख सकते । जिन्होंने ज्ञानकी मुक्त-दृष्टि प्राप्त कर ली है, वे एक ही साथ तीन वस्तुओंको देखते हैं-वे सबसे पहले देखते हैं प्रकृतिका समस्त गूढ़ सत्य । सभीके अन्दर दिव्य प्रकृति गुप्त भावसे विद्यमान है, वह क्रमविकासके लिये अपेक्षा कर रही है । वे देखते हैं कि यह दिव्य प्रकृति ही सब वस्तुओंकी वास्तविक शक्ति है, यह जो विचित्र गुण और शक्तिकी परिदृश्यमान क्रिया है सो सभी उस दिव्य प्रकृतिकी लीला है,-वे अहंकार और अज्ञानकी भाषामें इस लीलाका अर्थ नहीं करते, दिव्य प्रकृतिके प्रकाशसे ही वे इसको समझ लेते हैं । इसीसे वे दूसरी बात यह देखते हैं कि, देव, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, साँप, साधु, असाधु, मूर्ख, पण्डित, इन सबके कर्मोंमें जो विभिन्नता देखनेमें आती है सो सब दिव्य गुण और शक्तिके ही नाना भाव हैं, नाना प्रकारके स्वांग सजकर खेलनेके सिवा और कुछ भी नहीं है । वे स्वांग देखकर छले नहीं जाते, प्रत्येक स्वांगके अन्दर वे भगवान्‌को पहचान लेते हैं । उनकी दृष्टि विकृति या असम्पूर्णताकी ओर जाती है परन्तु अन्तस्तलमें प्रवेशकर उसके पीछे आत्माके लक्ष्यमें जा पहुंचती है, विकृति और अपूर्णतामें भी आत्माको देख सकती है । आत्माने अपने ही अपनेको अन्धा बना रक्खा है, अपनी प्राप्तिके लिये ही संग्राम कर रहा है । नाना प्रकार आत्मप्रकाश और अनुभूतिके द्वारा पूर्ण आत्मज्ञानकी ओर, अपनी ही अनन्त और पूर्णतम सिद्धिकी ओर अग्रसर हो रहा है । मुक्त-दृष्टिका झुकाव विकृति और अपूर्णतापर अतिमात्रामें नहीं होता, परन्तु वह सभीको हृदयके पूर्ण प्रेम और करुणासे, बुद्धिके पूर्ण बोधके साथ और आत्माकी पूर्ण समताके साथ देखता है ।

मुक्त-दृष्टि पुरुष तीसरी बात यह देखता है कि, जीवनकी सभी शक्तियाँ भगवान्‌की ओर उठनेकी चेष्टा कर रही हैं, जहाँ वह गुण और शक्तिका उच्च प्रकाश देखता है, जहाँ भागवत-सत्ताकी प्रदीप-शिखा देखता है और जहाँ वह देखता है कि आत्मा, मन, और प्राण नीचेकी प्रकृतिकी साधारण तहसे ऊपर उठकर ज्योतिर्मय, ज्ञान, महान् शक्ति, तेज, क्षमता, साहस, वीरता, प्रेम, आत्मसमर्पणकी कल्याणमयी मधुरता, आवेग, महिमा, पुण्य, महत्कर्म, मनोहर सौन्दर्य और शोभा, तथा देवतुल्य सुन्दर सृष्टि

आदि असाधारण महत्त्वका परिचय दे रहे हैं, वहीं वह इन सबको श्रद्धा करता है, अभिवादन करता है और उत्साहित करता है। मुक्त-दृष्टि महत् विभूतियोंमें देखता है कि मनुष्यके अन्दर भगवान् जाग्रत हो उठे हैं।

यह है भगवान्‌को शक्तिरूपसे पहचानना। विस्तृतका अर्थ शक्ति है केवल तेजकी ही शक्ति नहीं, परन्तु ज्ञान, इच्छा, प्रेम, कर्म, पवित्रता, माधुर्य और सौन्दर्यकी शक्ति भी। भगवान् सत्, चित्, आनन्द हैं। जगत्के सब पदार्थोंमें अपनेको वितरण करते हैं और पुनः अपने सत्, चित् और आनन्दकी शक्तिद्वारा अपनेको समेट लेते हैं, यह जगत् भागवत-शक्तिके कर्मका ही जगत् है। यह शक्ति असंख्य प्रकारके जीवोंमें नाना रूपमें अपनेको परिणत करती है और प्रत्येक वस्तुके अन्दर इसी शक्तिकी विशेष विशेष शक्तियाँ रहती हैं। प्रत्येक वस्तु भगवान्‌का एक एक रूप है, भगवान् जैसे सिंह बने हैं, वैसेही हरिण भी बने हैं, देवता बने हैं और दानव भी बने हैं। आकाशमें जलते हुए अचेतन सूर्य बने हैं और जगत्के द्रष्टा सचेतन मनुष्य बने हैं। गुणोंके द्वारा जो विकृतिकी सृष्टि बनती है वह केवल एक नीचेका खेल है, मूल भाव नहीं है। मूल वस्तु है भागवत-शक्तिके आत्मप्रकाशकी लीला। उच्च मनीषि पुरुष, धीर, मनुष्योंके नेता, महान् गुरु, ऋषि, ज्ञानी, धर्मसंस्थापक, साधु, मानव-प्रेमी, उच्च कवि, महान् शिल्पी, असाधारण वैज्ञानिक, इन्द्रियविजयी, संन्यासी, जगज्जयी शक्तिमान् मनुष्य आदि सभीमें भगवान् ही अपनेको प्रकट कर रहे हैं। जो कुछ कार्य हो रहे हैं। महान् काव्य, सर्वाङ्ग सुन्दररूप सृष्टि, गम्भीर प्रेम, महान् कर्म, दिव्य सिद्धि आदि सभी भगवान्‌के कर्म हैं। सभी आत्मप्रकाश-लीलामें भगवान् हैं।

इस सत्यको सभी प्राचीन शिक्षा-दीक्षाओंने स्वीकार किया है और इसपर श्रद्धा की है, आधुनिक मनुष्योंके मनकी एक दिशा इस सत्यसे विमुख हो रही है, वह उसमें केवल तेज और शक्तिकी ही पूजा देखती है, वह समझती है कि इस भावसे शक्तिमान्‌की पूजा करनेसे मनुष्यके आत्माको हीन बनाया जाता है, पर यह केवल आसुरी अभिमानका तत्त्व है!

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस सत्यको लोग भूलसे दूसरे भावमें ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु इस सत्यकी वास्तविक उपयोगिता है। जगत्‌में भगवान्‌की जो लीला चल रही है, उसमें इस सत्यको स्वीकार किये बिना काम नहीं चलता। इस सत्यकी वास्तविक सार्थकता और उपयोगिता क्या है? यही बात गीताने दिखलायी है। सभी मनुष्योंमें, सभी जीवोंमें भगवान् हैं, इस ज्ञानपर इस सत्यको प्रतिष्ठित करना पड़ेगा, जिससे वह उच्च-नीच और उज्ज्वल-मलिन, आदि सभीमें समभाव रखनेका विरोधी न हो जाय। मूर्ख, नीच, दुर्बल, अधम, पतित आदि सभीके अन्दर भगवान्‌को देखना पड़ेगा और सभीसे प्रेम करना होगा। विभूतिकी भी जो पूजा होगी सो उसके बाहरी व्यक्तित्वकी नहीं परन्तु उसके अन्दर जो एक भगवान् प्रकाशित हैं, उनकी पूजा होगी। यद्यपि विभूतिके बाह्य व्यक्तस्वरूपकी पूजा भी भगवान्‌के प्रतीकके नाते की जा सकती है,—परन्तु उससे यह सत्य कहीं दूर नहीं हट जाता कि भगवान्‌की प्रकाशलीलाका उच्च-नीच क्रम है, प्रकृति अपने अन्तरस्थित भगवान्‌को प्रकाश करनेमें कहीं अन्धकार-में भटकती है, भगवान्‌का क्षीणसा आभास भी दब जाता है, फिर धीरे धीरे उठकर कहीं भगवान्‌के साक्षात् प्रकाशको दिखाने लगती है। जब कभी किसी महान् पुरुष या महान् कार्यका आविर्भाव होता है, तब वहीं प्रकृतिके ऊपर उठनेकी शक्तिका परिचय देता है और परम उच्च गति-के लिये आशा बँधाता है। यद्यपि सभीमें एक ही ब्रह्म है—'समं ब्रह्म' तथापि प्रकृतिकी प्रकाश-लीलामें पशु, पक्षी, सर्प आदिसे मनुष्यकी श्रेणी ऊंची है। परन्तु मनुष्य अपनी सीमासे और भी ऊंचा उठ सकता है। पर वह अभीतक उच्चतम शिखर पर उठ नहीं सका है, इस बीचमें जब कभी उसके अन्दर जीवनलीलाकी महान् शक्ति देखी जाय, तभी उसे परम ऊर्ध्व गतिकी आशा और सूचना समझनी चाहिये। जिन महान् जनोंने अपनी असाधारण शक्तिद्वारा मनुष्यके अति-मानवताकी सम्भावना दिखलायी है या उस ओर लोगोंको चलाया है, उनके चरणचिह्नोंकी ओर आँख उठाकर देखनेसे, मनुष्यके हृदयस्थ देवताका अपमान नहीं किया जाता, वरन् उस सम्मानकी गम्भीरता और सार्थकता और भी बढ़ जाती है।

अर्जुन स्वयं एक विभूति है, आत्मविकासमें वह एक ऊंची स्थितिका मनुष्य है, समसामयिक मनुष्योंमें वह एक विशिष्ट व्यक्ति है, और है वह नारायणका—मनुष्यके रूपमें अवतीर्ण भगवान्‌का निर्वाचित यन्त्र। एक स्थान पर गुरुदेवने कहा है, कि 'मैं सबके लिये समान हूं, मेरा न कोई प्रिय है और न कोई घृणाका पात्र है।" दूसरी जगह कहते हैं 'अर्जुन! तुम मेरे प्रिय हो, मेरे भक्त हो, इसी लिये मैं तुम्हारा भार लेता हूं।'

गाण्डीव मण्डित हैं धनञ्जय, निशित शस्त्रागार में ।
है दर्प अथवा वीररस, आया मनुष्याकार में ॥

तुझे मार्ग दिखलाता हूँ।' 'विश्वरूप दिखाने और ज्ञान प्रदान करनेके लिये मैंने अर्जुनको ही चुना है।' यहाँ गुरुकी बातोंमें विरोध मालूम होता है, परन्तु वास्तवमें कोई विरोध नहीं है। विश्वके आत्माके रूपसे भगवान् सबके लिये समान हैं, प्रत्येक जीवको वे अपने अपने कर्मानुसार फल देते हैं, परन्तु जो मनुष्य उनके समीप आता है, उसका पुरुषोत्तमके साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध भी है। कुरुक्षेत्रके महासमरमें जो सब वीर और शक्तिमान् पुरुष समवेत हुए हैं, वे सभी भगवान्‌के हाथके यन्त्र हैं। प्रत्येकके अन्दरसे प्रत्येकके स्वभावानुसार भगवान् ही कर्म करते हैं, परन्तु वहाँ वे उन लोगोंके अहंकारकी आड़में छिपे रहकर कर्म करते हैं, वे सब यही समझते हैं कि मानो हमी लोग कर्म कर रहे हैं। इसके विपरीत अर्जुन इस स्थितिपर पहुँच गया है कि अब उसके अहंकारका परदा हटाया जा सकता है और मानवरूपमें अवतीर्ण भगवान् अपनी विभूति और अपने कर्मोंका रहस्य खोलकर दिखा सकते हैं। यहाँ तक कि, अब ऐसा करना अनिवार्य हो गया है। अर्जुन एक महान् कर्मका यन्त्र है। यह कर्म देखनेमें यद्यपि अत्यन्त भीषण है तथापि मानवजातिको बहुत कुछ उन्नतिके पथपर अग्रसर करानेके लिये उसकी आवश्यकता है। इस युद्धके द्वारा ही पृथ्वीपर धर्मराज्यकी स्थापनाका पथ परिष्कृत होगा। मनुष्यके युगयुगान्तरका जो इतिहास है, वह है मानवजातिके आत्मा और प्राणोंमें भागवत-सत्ताका क्रम-बद्ध प्रकाश। इस इतिहासकी प्रत्येक महान् घटना या अवस्था भगवान्‌का ही आविर्भाव है। अर्जुन भगवान्‌की गुप्त इच्छाका यन्त्र है, कुरुक्षेत्र-महासमरका नेता है, जिसमें वह ज्ञानपूर्वक भगवान्‌का कर्म सम्पन्न कर सके, उसके लिये उन्हें दिव्य-मानव बनना ही पड़ेगा। केवल इसीसे वह कर्म अध्यात्मभावमें जीवित हो जायंगे और उनके गुप्त उद्देश्य साधनके लिये प्रकाश और तेजको प्राप्त करेंगे। अर्जुनको आत्मज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा, अर्जुनको देखना होगा कि भगवान् ही इस विश्वके अधीश्वर हैं; जगत्‌के सभी जीव, सभी घटनाओंके उत्पत्ति-स्थान सभी कुछ प्रकृतिमें भगवान्‌का आत्मप्रकाश है। सर्वत्र भगवान्‌को देखना होगा, अपने अन्दर भी मनुष्यरूपसे विभूतिरूप भगवान्‌को देखना होगा, नीच-उच्च सभी तहोंमें भगवान्‌को देखना होगा और सबसे ऊपरके सर्वोच्च शिखरपर भी भगवान्‌को देखना होगा। मनुष्यको भी देखना होगा कि वह विभूतिमें कितना ऊपर उठा है, और चरम मुक्ति तथा योगसाधना करके कितना उच्चतम शिखरपर चढ़ा है। जो 'काल' सृष्टिका ध्वंस कर रहा है, उसको भी भगवान्‌का रूप या भगवान्‌के चरणाक्षेप समझना होगा। इस पदाक्षेपसे जगत्‌में युगान्तर उपस्थित हो जाता है, तब मनुष्यके अन्दर भागवत आत्मा विभूतिरूपसे जगत्‌में भगवत्-कर्म सम्पादन करके परम गति-को प्राप्त हो जाती है। अर्जुनको यही ज्ञान प्रदान किया गया है, इसके बाद ही भगवान्‌का कालरूप दिखलाया जायगा और उसीके सहस्र सहस्र मुखोंसे मुक्त विभूतिके प्रति भगवत्-निर्दिष्ट कर्मके लिये आदेशवाणी घोषित होगी*—

"तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।"

गीता-ज्ञान

मोहको मिटाती प्रकटाती आत्मबोध शुद्ध,
भीरुता भगाती युद्ध-वीरता जगाती है।
क्षणमें छुड़ाती अकर्मण्यतासे निष्क्रयीको,
कौन तू है, विश्व क्या है? तथ्य समझाती है।
जीवनमें विश्वविजयीका है पढ़ाती पाठ,
मरणोपरान्त मोक्ष द्वार दिखलाती है।
प्यारी योगियोंकी औ, वियोगियोंकी, भोगियोंकी,
शान्ति-सुख-दात्री एक गीता कहलाती है।

—विद्याभास्कर शुक्ल साहित्यालङ्कार

---

* श्रीअनिलवरण रायद्वारा प्राप्त।

गीताकी शक्ति

(लेखक—श्रीयुक्त रामचन्द्र कृष्ण कामत)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

ज्ञानेश्वरजी महाराज कहते हैं कि गीता भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति है । प्रभुकी श्यामसुन्दर चतुर्भुज-मूर्तिने पृथ्वीपर अवतीर्ण होकर दुष्ट-दलन, साधु-संरक्षण और धर्म-संस्थापन ये तीन कार्य किये । कहना नहीं होगा कि इन तीन कार्योंके लिये ही प्रभु निर्गुणसे सगुण होते हैं—

(१) परित्राणाय साधूनाम्
(२) विनाशाय च दुष्कृताम्
(३) धर्मसंस्थापनार्थाय
सम्भवामि युगे युगे ॥ (अ० ४ ८)

यह उनकी प्रतिज्ञा है ।

(२) प्रभुके ये सगुण अवतार समय-विशेषके विशिष्ट कार्य करनेके लिये हुआ करते हैं और उन कार्योंके हो जानेपर भगवान्‌के वे सुन्दर अवतार-शरीर अन्तर्हित हो जाते हैं । परन्तु प्रभुका यह गीतारूपी वाङ्मय शरीर गुप्त न होकर नित्य है,—सुकुमार होकर व्यापक है । एकादश अध्यायमें वर्णित विश्वरूपकी भाँति 'सर्वाश्चर्यमय' और 'दुर्निरीक्ष्य' भी है । अश्रद्धावान, अतपस्क और असूयावान् मनुष्योंके लिये तो वह निश्चय ही दुर्निरीक्ष्य है । ऐसे मनुष्य गीताके बिल्कुल अधिकारी नहीं । श्रद्धावान् होनेपर भी जो अज्ञ हैं यानी दुर्बलबुद्धि हैं, उनके लिये भी गीता दुर्गम ही है । अधिक क्या, महान् प्राज्ञ पुरुषोंको भी 'भगवत्कृपा' बिना गीता सुगम नहीं होती । जिस प्रकार भगवान्‌के लीलावतार (श्रीराम—कृष्णादि लीला-विग्रह) दैत्य और देवताओंके द्वारा भी सुसेवित नहीं हुए—कंस, शिशुपालादिने जैसे अवतार-शरीरका प्रभाव नहीं समझा; वैसे ही इन्द्र, ब्रह्मादि भी उसे नहीं समझ सके, उन्हें भी मोह हो गया—इसी प्रकार भगवान्‌का यह वाङ्मय शरीर भी सबके द्वारा सेवित नहीं हो सकता । क्योंकि—

(३) इसमें (क) 'उद्धरेदात्मनात्मानं' इस वचनके विरुद्ध 'तेषामहं समुद्धर्ता' (ख) 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' के विरुद्ध 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः' तथा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ;' (ग) 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः' के विरुद्ध 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' 'चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टम्' आदि ; (घ) 'सुहृदं सर्वभूतानां' के विरुद्ध 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः' (ङ) 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः' 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के विरुद्ध 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' आदि वचनोंमें परस्पर विरोध या विरोधाभास देखकर अप्रबुद्ध मनुष्योंके हृदय संशययुक्त हो जाते हैं । आजकल कुछ आधुनिक शिक्षाप्राप्त पुरुष गीताको 'प्रमत्त-प्रलाप' कहकर अन्धे मनुष्यके द्वारा सूर्यकी निन्दा की जानेके समान गीताकी निन्दा या दिल्लगी करके अपना ही पागलपन सिद्ध करते हैं । तात्पर्य यह कि संस्कारहीन संकुचित बुद्धिके द्वारा गीताका रहस्य समझना सम्भव नहीं है । इसके लिये 'प्राप्यवरान्निबोधत' के अनुसार सन्त-मुखसे ही गीताका श्रवण करना चाहिये, तभी वह समझमें आती है और तभी उसमें रस मिलता है । ऐसे ज्ञानी सन्त महात्माओंके अभावमें अनन्यभावसे हृदयस्थ भगवान्‌के शरण होकर गीतार्थके प्रकाश करनेके लिये अत्यन्त आतुर होकर उनसे प्रार्थना करनी चाहिये । ऐसा करनेसे वह दयासागर हृदयस्थ परमात्मा अपने 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञान-दीपेन भास्वता ।' इन वचनोंके अनुसार उसके हृदयमें सत्यार्थका प्रकाशकर उसे अपना सच्चा मार्ग दिखला देते हैं ।

(४) परन्तु किसको दिखला देते हैं ? उनकी ऐसी कृपाका पात्र कौन होता है ? उस (पात्र बननेवाले) पुरुषके लक्षण परम पुरुषने अपने उपर्युक्त श्लोकोंमें (अ० १० । ८-९-१०) बतला दिये हैं, 'भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः । मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।' ऐसे 'सतत' युक्त भक्तपर ही वे इस प्रकार कृपा करते हैं । ऐसी कृपा प्राप्त करनी है तो हम लोगोंको भी वैसे भक्त बनना चाहिये !

(५) अर्जुन श्रीकृष्णका सखा था, श्रीकृष्ण सदा मित्र-भावसे ही उसके साथ बर्ताव करते थे, दोनों मित्रोंने एकान्तमें प्रेमसे न मालूम कितने दिन और कितनी रातें बितायी थीं; गीताका अमूल्य तत्त्वज्ञान शान्ति और स्वस्थतापूर्वक सुनानेके लिये श्रीकृष्ण महाराजको न मालूम कितने सुविधाके अवसर मिले होंगे ? परन्तु भगवान्‌ने इससे पहले गीता क्यों नहीं सुनायी ? इसका उत्तर यही है कि इसमें सुविधा-असुविधाका प्रश्न नहीं है, गीता सुनानेका इससे पहले सुअवसर या प्रसंग ही नहीं आया था। मतलब यह कि अर्जुनकी गीता सुननेके लिये तैयारी नहीं थी। कहे हुए सिद्धान्तको ग्रहण करनेके लिये मनकी तैयारी हुआ करती है-यह 'तैयारी' मनकी एक अवस्था-विशेषका ही नाम है। इस अवस्थामें मन उपदेश ग्रहण करनेमें समर्थ होता है। श्रीकृष्ण यही सुअवसर ढूँढ रहे थे। इसके बिना दूसरी अवस्थामें दिया हुआ उपदेश व्यर्थ जाता है। अर्जुनका मन श्रीकृष्णकी अपेक्षाके अनुसार युद्धारम्भके समय इस अवस्थाको प्राप्त हो गया। भगवान्‌ने उसी क्षण इस अवसरसे काम ले लिया। अर्जुन 'धर्म-संमूढ चेतस्' हो गया, किंकर्तव्य विमूढ हो गया, उसका अपनी समझदारीका अहंकार जाता रहा और उसके मुंहसे 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' ऐसे हृदयके उद्‌गार निकल पड़े। यह 'शिष्यभाव' अर्थात् समझदारीके अभिमानकी शून्यता और वक्ताके प्रति अति विश्वास तथा पूज्यभाव होना ही उपदेश ग्रहण करनेकी मनकी विशेष अवस्था है। यही 'प्रपत्ति' है। ('त्वां प्रपन्नम्' या शरणागति है) इस पात्रताको देखते ही भगवान्‌ने उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। उपदेशका प्रारम्भ दूसरे अध्यायसे हुआ। परन्तु अर्जुनके उद्धारकी जिम्मेवारी (लेनेकी इच्छा होने पर भी) लेनेकी बात भगवान्‌ने उससे नहीं कही। दूसरे अध्यायमें बीजरूपसे ज्ञानयोग कहा, तीसरेमें कर्मयोगकी योग्यता बतलाकर, उसके आचरणकी प्रशंसा की। चौथेमें कर्मको कैसे ब्रह्मरूप बनाया जा सकता है यह बतलाते हुए ज्ञानकी प्रशंसा की तथा कर्मके विषको अमृतरूप कर देनेकी ज्ञानमें शक्ति है, इसका प्रतिपादन किया परन्तु वह ज्ञान तुझे मैं बतलानेको तैयार हूं, ऐसा न कहकर 'तत्त्वदर्शी ज्ञानी सन्त तुझे ज्ञानोपदेश करेंगे, उनकी शरण जाकर-प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा करके उनसे ज्ञान ग्रहण कर,' यों दूसरोंका सङ्केत कर दिया तथा प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवाके संयोगसे ज्ञान प्राप्त करके उसे पचानेकी योग्यता मिलती है, यह भी सिद्ध कर दिया। तदनन्तर उपदेश करते करते 'कर्म-संन्यास' और 'अभ्यासयोग' बतलाकर सातवें अध्यायके अन्तमें-ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और प्रयाण-कालमें मेरा स्मरण करनेसे मेरे भक्तोंको मेरी प्राप्ति होती है, इस विषयमें अर्जुनके मनमें जिज्ञासा जागृत की। फिर आठवेंमें अर्जुनके 'किं तद्ब्रह्म' आदि सात प्रश्नोंका गूढार्थ उसे समझाया। चतुर गुरुकी यही तो प्रबोध-चातुरी है। वह पहले शिष्यकी प्रज्ञा बढ़ाकर तदनन्तर उसे ज्ञान देते हैं।

(६) श्रीकृष्ण परमात्माने अपने सखाको सुअवसर पाकर युक्तिप्रमाणोंसे उसकी प्रज्ञा बढ़ाकर उसे अपने स्वरूपकी पहिचान करवा दी। उसकी संकुचित बुद्धि-देहाभिमान-कर्तृ-भोक्तृत्वाभिमान नष्टकर उसको अपनी कृपाका पात्र बना लिया। ईश्वर-शरणागतिका यथार्थ कल्याणमार्ग उसे दिखला दिया। उसे विश्वरूप-दर्शनादिका अनुभव कराया। जीव, जगत् और ईश्वरका परस्पर क्या सम्बन्ध है, उनका क्या स्वरूप है ? यह बतलाकर और उसमें निश्चय कराकर, ज्ञानप्रधान भक्तियुक्त कर्मयोगपर उसकी मति स्थिर कर दी। इस प्रकार उसे तैयार करनेके बाद उसके कर्माकर्मोंकी सारी जिम्मेवारी लेकर उसे पूर्ण आश्वासन-या अभय वचन दे दिया। भगवान्‌की भक्तवत्सलता और सामर्थ्य बतलानेवाला यह श्लोक है-

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८-६६)

(७) गीता, सप्तशती, भागवत आदि ग्रन्थोंका अर्थानुसन्धानयुक्त पारायण मोक्षदायक है। असलमें उनके वचनोंका अर्थ चिन्तन करके परमार्थकी सिद्धि करना ही उनका हेतु है। तथापि अर्थानुसन्धानरहित केवल पारायण-पाठसे भी ज्ञानयज्ञका फल होता है। भगवान्‌ने 'अध्येष्यते च य इमं०' (गीता १८।७०)के श्लोकमें ऐसा स्वयं कहा है। इस श्लोककी टीकाओंमें 'जपमात्रादपि ज्ञानफलं मोक्षं लभते।...... फलविधिरेवायं नार्थवादः।' ऐसा श्रीमधुसूदन सरस्वती और श्रीधर स्वामी आदि टीकाकारोंने कहा है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने भी ऐसा ही कहा है। उपर्युक्त ग्रन्थोंका प्रत्येक श्लोक 'सिद्ध-मन्त्र' है। इसीलिये अनुष्ठान भावनासे उनका पारायण करनेके लिये विधि बतलायी गयी है। उक्त विधिके अनुसार अनुष्ठान करनेसे श्रद्धावान् मनुष्य फल पाते हैं, ऐसा बहुत लोगोंका अनुभव है*। अनुष्ठान-मन्त्रोंके ऋषि,

* पू० महामना मालवीयजीने अपने अनुभवका हवाला देते हुए एक बार कहा था कि संकटके समय 'आर्त' होकर श्रीमद्भगवत-

छन्द, देवता, बीज, शक्ति, कीलक, करन्यास, हृदयादिन्यास आदि बतलाये गये हैं। मन्त्रानुष्ठानका आरम्भ करनेसे पहले इनका उच्चारण करना पड़ता है। इन उच्चारणों और न्यासादि क्रियाओंसे उन मन्त्रोंमें एक प्रकारकी विद्युच्छक्ति भरी जाती है। इस तत्त्वको समझकर जो मन्त्रानुष्ठान करते हैं, उनका वह अनुष्ठान सामर्थ्यवान् होता है। इस बातको वैदिक-धर्मावलम्बी जानते ही हैं।

(८) 'श्रीमद्भगवद्गीतामन्त्र' के ऋषि वेदव्यास, छन्द अनुष्टुप्, देवता श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं०' बीज, 'सर्वधर्मान्परित्यज्य०' शक्ति और 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो०' कीलक है। तदनन्तर अंगुष्ठादि न्यासके अलग अलग मन्त्र हैं। यहां यह सब बतलानेका यही कारण है कि, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (इति शक्तिः) यही गीताकी शक्ति है। यह बात पाठकोंको स्मरण रखकर ही गीताका पाठ करना चाहिये तथा उस शक्तिमें अपनी सारी शक्ति अर्पण कर देनी चाहिये अर्थात् तदनुरूप इन वचनोंके तत्त्वोंका ही अनुष्ठानकर तद्रूप होना चाहिये।

(९) इन वचनोंका अनुष्ठान क्या है? इस बात पर विचार किये बिना लेख 'कल्याण' प्रद नहीं होता, इसलिये इस पर थोड़ासा विचार करना आवश्यक है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज' इन वचनोंमें 'सर्व-धर्म' कौनसे हैं? 'परित्यज्य' का क्या अर्थ है? 'माम्' कौन है? 'एकं' से क्या समझना चाहिये? 'शरणं' का स्वरूप और उसके लक्षण क्या हैं? 'व्रज' कौनसी क्रिया है? इन सबका वर्णन होना चाहिये। इनके शब्दार्थका वर्णन करनेसे एक छोटासा ग्रन्थ बन सकता है, अतएव शब्दार्थको छोड़कर यहाँ 'भावार्थ' पर ही विचार करनेकी इच्छा है।

(१०) 'शब्द' से ही 'निःशब्द' में पहुंचा जा सकता है। वास्तवमें निःशब्दमें पहुंचानेके लिये जितने शब्द आवश्यक हैं उतने ही शब्दोंका उपयोग करना चाहिये। शब्द 'शाखा' हैं और निःशब्द 'चन्द्रमा' है। शाखाको छोड़कर आकाशके चन्द्रमाकी ओर दृष्टि करनेसे ही चन्द्रमाके दर्शन होते हैं। केवल शाखापर ही दृष्टि रखनेसे शाखा ही दीखती है। अतएव शब्द छोड़कर भावोंको ग्रहण करना चाहिये, भावोंका अभ्यास करना चाहिये। भावाभ्यासी पुरुष ही 'भावातीतं त्रिगुणरहितं' पदको प्राप्त कर सकता है। अतएव–

(११) पहले श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी 'भावार्थदीपिका' नामक टीकाके आधारपर ही गीताके शक्तिस्वरूप-शक्तिदायक वचनोंका विचार किया जाता है। तदनन्तर सुविधानुसार दूसरे महात्माओंके मत देखे जायंगे। श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं†–

'स्वर्ग-नरककी प्राप्तिमें साधनभूत धर्माधर्मका मूल जो अज्ञान है वही 'सर्व धर्म' है। 'परित्यज्य' यानी उस अज्ञानका त्याग कर दे। रज्जुको हाथमें लेनेसे उसमें भासनेवाले सर्प-भ्रमका जैसे लोप हो जाता है, (या निद्रा त्यागके साथ ही जैसे स्वप्नके समस्त प्रपञ्चका त्याग हो जाता है) ऐसे ही ज्ञान–आत्मज्ञानका स्वीकार करके अज्ञानका समूल त्याग कर दे; (ज्ञानको स्वीकार करते ही अज्ञान आपसे आप नष्ट हो जाता है, ऐसा भावार्थ है)। अज्ञानका नाश होनेपर मेरे सिवा (अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूपके अतिरिक्त) और कोई नहीं रह जाता जैसे स्वप्नसहित निद्राका नाश हो जानेपर मनुष्य स्वयं आप ही रह जाता है, वैसे ही मेरा ज्ञान प्राप्त होनेपर मुझको छोड़कर दूसरा कोई भिन्न या अभिन्न अवशेष नहीं रह

के आठवें स्कन्धके तीसरे अध्यायका पारायण करनेसे संकट दूर हो जाते हैं–श्रीमद्भगवद्गीताके पारायणसे तो बहुतोंको अनेक प्रकारके संकट मिटनेका अनुभव है– सम्पादक।

† [सर्वधर्मान्परित्यज्य]–'स्वर्गनरकसूचक। अज्ञान व्यालें धर्मादिक। ते सांडनि घालीं अशेख ज्ञान येणें ॥१३९१॥ हातीं घेऊनि तो दोर। सांडिजे जैसा सर्पाकार। कां निद्रा त्यागें घरा चार। स्वप्नींचा जैसा ॥९२॥ * * * तैसें धर्माधर्मांचें हवाल। दावी अज्ञान जेंका मूल। तें त्यजूनि, त्यजीं सकल। धर्मजात ॥९५॥ [मामेकं शरणं व्रज] मग अज्ञान गेलिया। मीचि एक असे धनंजया। सनिद्र स्वप्न गेलिया। आपणपें जैसें ॥९६॥ तैसा मी एक वांचूनि कांहीं। मग भिन्नाभिन्न आन नाहीं। सोऽहं बोधें तयाच्या ठायीं। अनन्य होय ॥९७॥ आपुलिया भेदेंवीण। माझें जाणिजे जें एकपण। तयाचि नांव शरण। मज येणें गा ॥९८॥ घटाचेनि नाशें। गगनीं गगन प्रवेशे। मज शरण येणें तैसें। ऐक्य करीं ॥९९॥ * * * मजही शरण रिघिजे। आणि जीवत्वेंचि असिजे। धिक् बोली, यिया न लजे। प्रज्ञा वेर्थी ॥१४०२॥' (इत्यादि)

जाता। फिर वह 'सोऽहम्' भावसे उसी स्वरूपमें अनन्यता (एकता) को प्राप्त होता है। अपने भिन्नत्वकी कल्पना त्यागकर मेरे एकत्वको जान लेना, इसीका नाम 'मेरे शरण आना' है। जैसे घटके नाशसे घटाकाश महाकाशमें प्रवेश कर जाता है, वैसे ही मेरे शरण आना मुझमें एकता करानेवाला है। जैसे अलंकार सोनेकी तथा तरंगें जलकी शरण लेती हैं इसी प्रकार तू मेरी शरणमें आ। मेरी शरण आनेपर भी 'मैं जीव हूँ' ऐसा कहनेवालेकी बुद्धिको लज्जा क्यों नहीं आती? अतएव यों कहनेवालेको धिक्कार है। (इत्यादि)

(१२) श्रीरामवल्लभदासजी महाराज कहते हैं * सुख-दुःख, भूख-प्यास, काम-क्रोध, जरा-मरण आदि देहेन्द्रियोंके धर्मोंको जीवने अज्ञानसे अपने ऊपर लाद लिया है, (स्वधर्मको छोड़कर परधर्म स्वीकार कर लिया है) इसीसे वह लखचौरासीके चक्करमें पड़ा हुआ है। अतएव इन सब धर्मोंको छोड़कर आत्माके—परमात्माके शरण होना चाहिये। सुनना, स्पर्श करना, देखना, चखना, सूँघना, बोलना, चलना, देना, लेना, मल-मूत्र त्याग करना आदि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके धर्म हैं। भूख, प्यास, छींक, जम्हाई आदि पांच प्राण तथा पांच उपप्राणोंके धर्म हैं। संकल्प-विकल्प, निश्चय, अभिमान आदि अन्तःकरण-चतुष्टयके धर्म हैं। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति ये सत्त्व, रज, तम गुणोंके धर्म हैं। इन सबका त्याग कर दे यानी ये जिनके धर्म हैं, उनको सौंपदे, तुरीय जीवको, उन्मनी शिवको अर्पण कर दे (अथवा ये सब नाशवान् मिथ्या पदार्थ प्रकृतिको अर्पण कर दे) और केवल पुरुषको ही ग्रहण कर। पुरुषका ही आत्मरूपसे ध्यान कर। इसीका नाम 'सर्व धर्म छोड़कर परमात्माके शरण होना' है। ऐसी शरणागति होते ही समस्त पापोंसे (अविद्याके बन्धनोंसे) सहज ही छूटा जा सकता है। (श्रीरामवल्लभदासजीने अपने 'दशकनिर्धार' नामक प्रकरणमें गीताके इस श्लोकपर ऐसा लिखा है। उनकी रची हुई 'चमत्कारी' नामक गीताकी टीकामें भी कुछ शब्दभेदसे ऐसा ही अर्थ किया गया है) श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी टीकापर इसे एक भाष्य कहें तो अनुपयुक्त नहीं होगा।

(१३) इस बहुत ऊंची भावनाके अर्थको छोड़कर, सगुणका आश्रय लेकर इस श्लोकका अर्थ करना भी कोई ऐसी वैसी बात नहीं है। 'सर्वधर्मपरित्याग' अर्थात् शास्त्रोक्त समस्त कर्मफलोंकी आशाको सर्वथा त्यागकर तथा कर्तृत्वाभिमान (यह कर्म 'मैं करता हूँ' ऐसी बुद्धि) छोड़कर निरहङ्कार भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करते रहना और समस्त भूतोंमें तथा वस्तुमात्रमें भगवान्‌को देखना।' कुछ टीकाकार इस श्लोकार्धका ऐसा अर्थ करते हैं। यह भी विचारणीय है।

पिताका श्राद्ध करना है, परन्तु वह कर्म अन्तमें पित्रन्तर्यामी या पितृस्वरूप भगवान्‌को 'जनार्दन वासुदेवः प्रीयताम्' ऐसा कहकर अर्पण कर देना चाहिये। अपनी सरस्वती नामकी कन्या बसन्तकुमार नामक वरको अर्पण करनी है, परन्तु वह कन्यादानरूपी कर्म भी 'नारायणरूपिणे वराय' कहकर भगवान्‌को अर्पण करना चाहिये। कर्मफलकी आशा और कर्तृत्वका अभिमान छोड़कर भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म करना। कुछके मतसे इस श्लोकार्धका यह अर्थ है।

(१४) इस पर एक भिन्न दृष्टिकोणसे विचार करने तथा प्राचीन श्रेष्ठ भक्तोंके चरित्र देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रकथित वर्णाश्रम धर्म या आचार-नीतिको इस उच्च शरणागतिमें कोई स्थान नहीं है। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' इस धर्मका श्रवणकुमार, कुक्कुट द्विज और पुण्डलीक भक्तने अनुसरण किया, परन्तु ध्रुव, प्रह्लाद और भरतने इसकी कोई परवाह नहीं की। इन भक्तोंने माता-पिताके वचनोंको न मानकर भगवान्‌की शरण ली। अनुसूयाका पातिव्रत धर्म व्रजगोपिकाओं और ऋषिपत्नियोंके लिये उपयोगी नहीं हुआ। आधुनिक सन्तोंमें सन्त सखुबाईका चरित्र भी ऐसा ही है। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—

* "कानें ऐकणें, वाचें बोलणें। त्वचें स्पर्श, करीं घेणें। डोळां देखणें, पायां चालणें। जिह्वे चाखणें सर्व रस। मल विसर्ग गुदें धरणें। गन्ध घ्राणें, शिश्नें रमणें। हे इन्द्रियधर्म इन्द्रियां लावणें। यावे आपणे मज शरण॥" एवं प्राण उपप्राण। देहधर्म देहांचे जाण। जे त्यागूनि शीघ्रसुजाण। यावें शरण मज लागीं। निर्विकल्प धर्म अन्तःकरणाचा। संकल्प विकल्प मनाचा। बुद्धीमी धर्म निश्चयाचा। चिन्तन चित्ताचा जाणिजे॥ अहंकारा थोरीव, सत्वा जागरण। राजसासी स्वप्न आपण। सुषुप्ति करी तामसार्पण। मग तूं शरण येईं मज। तुर्या करी जीवार्पण। उन्मनी करी शिवार्पण। प्रकृतीस लटिकें दे आंदण। पुरुषा आपण सत्य त्यावें॥ ऐसें सर्व धर्मां वेगळे। होऊनि शरण यावें सगळें। मग सुख पावसी सगळें। होणें मोकळे सहजाचि॥" इत्यादि

'देव जोडे तरी करावा अधर्म । अंतरे तें कर्म नाचरावें ॥
'जेसों नारायणीं घडे अन्तराय । हो कां बापमाय त्यजावेते ।'
प्रह्लादें जनक बिभीषणें बन्धु । राज्य माता निन्दू भरतें केली ॥'

धर्मकी व्याख्या करते हुए वह फिर कहते हैं—

'तुका म्हणे सर्व धर्म हरिचे पाय । येर ते अपाय दुःखमूल ।'

भावार्थ—ईश्वरकी प्राप्ति होती हो तो अधर्म भी करना चाहिये । जिस कर्मसे ईश्वरसे दूर हटना पड़े ऐसे कर्मका आचरण नहीं करना चाहिये । श्रीनारायणकी भक्तिमें विघ्न होता हो तो माता-पिताका भी त्याग कर देना चाहिये । फिर स्त्री-पुत्र और भाई-बहनकी तो बात ही क्या है ? प्रह्लादने पिताका, विभीषणने पितृतुल्य बड़े भाईका, भरतने राज्य और माताका त्याग कर दिया[1] । तुकारामजी कहते हैं कि श्रीहरिके चरण ही सर्वधर्मरूप हैं. वे ही सत्यधर्मरूप-सनातन-धर्मरूप हैं । इनके सिवा और सारी बातें दुःखमूलक यानी अधर्मरूप हैं ।

(१२) धर्माधर्मका विचार अत्यन्त ही सूक्ष्म है । (धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां) 'धर्म' शब्दका अर्थ चार प्रकारसे किया जा सकता है । १-वर्णाश्रम-धर्म (Religion) २-दान-धर्म (Charity), ३-कर्तव्यकर्मरूप धर्म (Duty) और ४-स्वभावधर्म (Natural property) (जैसे अग्निका स्वभाव उष्णता है) ये चारों अर्थ उत्तरोत्तर अधिक महत्व-के और व्यापक हैं । इनमें पहला अर्थ बहुत संकुचित है यानी वह खास जाति और खास मनुष्योंके लिये पालन करनेके योग्य ही होता है । यह जाति-विशिष्ट धर्म, युग-धर्म, देश-धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म और काल-धर्मके अनुसार बदलनेवाला होता है । परन्तु पिछले अर्थ बदलनेवाले नहीं हैं तथापि पहले तीनोंमें धर्म और धर्मी भिन्न भिन्न हैं । केवल चौथेमें धर्म-धर्मी भिन्न हैं । अग्नि और अग्निका धर्म उष्णता, शक्कर और मिठास, चन्दन और सुगन्ध आदि-को एक दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता । इस विवेचन-के अनुसार जीवके जन्म-जाति-कुल-विशिष्ट धर्म जन्म-जाति-कुलोंको सौंपकर, अपने निजधर्मका विचार करनेपर एक 'चैतन्य' ही अपना धर्म ठहरता है । वह चैतन्य ही जीवका स्वधर्म अर्थात् स्वरूप है । इस स्वधर्मकी ओर यानी उपर्युक्त अर्थक्रमके चौथे अर्थकी ओर पहुँचनेके लिये ही शेष तीनों अर्थ साधनरूप होते हैं । चौथा अर्थ या चतुर्थ पुरुषार्थ ही (मोक्ष) साध्यरूप है । परन्तु वह स्वतःसिद्ध है; क्रियासाध्य नहीं । साधन तो केवल प्रतिबन्धक हटा-नेके लिये ही उपयोगी होते हैं ।

(१६) जीवका निजधर्म 'चैतन्य' आनन्द-रूप और सत्-रूप है । यानी जीव सत्-चित्-आनन्दरूप है । व्यष्टिमें स्थित सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा, समष्टिरूप—अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें व्याप्त चैतन्य-परमात्माका घटाकाश-सदृश अभिन्न अंश ही है । सरदी या किसी विशेष क्रियासे जैसे जलकी बर्फ बन जाती है, इसी प्रकार भक्तके 'तीव्र संवेग' से परमात्मा घनीभूत—सगुणरूप धारण करते हैं । यही परमात्माका अवतार-शरीर है । 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ।'

देहके तत्वोंका शोधन करते करते न इति, न इति (नेति नेति) कहते कहते, वृत्तिको आत्मस्वरूप तक ले जाकर उसमें एक रस हो जाना ज्ञानियोंका मोक्षमार्ग है । आत्म-स्वरूपका अनुसन्धान ही 'भक्ति' है, ऐसा ज्ञानी पुरुष कहा करते हैं । श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

मोक्षसाधन सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥

परन्तु यह निर्गुण भक्ति है । सगुण भक्तिकी मौज तो दूसरी ही है । तुकाराम महाराज कहते हैं कि आत्मनिष्ठ जीवन्मुक्त होते ही भक्ति-सुख दुर्लभ हो जाता है । जब श्री-नारायण कृपा करते हैं, तभी भक्तिका रहस्य समझमें आता है ।

प्रसिद्ध 'नवधा' भक्तिके बाद 'प्रेमलक्षणा' नामक दशम भक्ति है । इसीको पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं । प्रेमी भक्त मुक्तिकी तनिक भी परवाह नहीं करते । भगवान् नारायणकी कृपासे ही इस भक्तिकी प्राप्ति होती है । अद्वैतमें भी भक्ति होती है, परन्तु वह अनुभव की चीज है, वाणीसे उसका वर्णन नहीं हो सकता ।

(१७) आत्मानन्दमें एकरस रहनेवाले—अद्वैतानुभव-सम्पन्न ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष भी श्रीहरिके सगुणरूपकी

[1] गुसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराजका भी इसी आशयका पद है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही ॥१॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषण, बन्धु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भये मुद-मंगलकारी ॥२॥
नाते नेह रामके मनियत, सुहृद सुसेव्य जहां लौं ।
अञ्जन कहा आंखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहां लौं ॥३॥
तुलसी सो सब भांति परमहित पूज्य प्रानतें प्यारो ।
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो ॥४॥

अहैतुकी भक्ति करते हैं। कारण, परमात्माके सगुणरूपकी गुणगरिमा ही ऐसी है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थंभूतगुणो हरिः॥

श्रीमद्भागवतका यह सुप्रसिद्ध श्लोक ही इसके लिये पर्याप्त प्रमाण है[१]। भगवान् जब गोकुलमें श्रीनन्दबाबाके घर गोपाल-बालक्रीडा कर रहे थे उस समय उनका उच्छिष्ट मिलनेकी आशासे अपरोक्ष ज्ञानसम्पन्न इन्द्रादि देवता मछली बनकर यमुनामें रहे थे। पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें भगवान्के हाथसे स्पर्श की हुई जूठन खानेके लिये जीवन्मुक्त ऋषिगण पक्षियोंका रूप धरकर आये थे, यह बात प्रसिद्ध है। उसी राजसूय यज्ञमें अग्रपूजाका प्रश्न उठनेपर भीष्म-सरीखे आजन्म ब्रह्मचारी महाभागवतने श्रीकृष्णके लिये ही प्रस्ताव किया। इन सब बातों पर विचार करने पर अनुमान किया जा सकता है कि भगवान्के सगुण अवतारका क्या माहात्म्य है? श्रीएकनाथ महाराज अपनी भागवतके एकादश स्कन्धमें कहते हैं—'आप अपनी लीलासे किस प्रकार देह धारण करते हैं, कैसे अद्भुत चरित्र करते हैं, कैसे देहका त्याग करते हैं, इसका भेद ब्रह्मादि भी नहीं जानते। ब्रह्मज्ञान तो कठिन होनेपर भी हरि-गुरु कृपासे सुलभसे हो सकता है परन्तु तुम्हारे देह धारण और कार्यकारणका रहस्य तो बड़े बड़े ज्ञानियोंकी भी समझमें नहीं आता। साक्षात् ब्रह्मा भी मोहित होकर कहते हैं- 'मुह्यन्ते अस्मदादयः' गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानै कोय।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होय॥

बस, हमें तो उस 'अनन्त-कल्याण-गुण-परिपूर्ण' परमात्माके चरणोंमें अनन्यभावसे शरणागत होकर उन्हींसे प्रकृत मार्ग दिखानेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। यही कर्तव्य है।

(१८) गीता वेदोंकी माता है। ऐसा तुकाराम महाराज कहते हैं। वेदोंने केवल तीन ही वर्णोंको अपने घरमें आश्रय दिया है, परन्तु गीता माताकी उदारता वेदोंसे कहीं बढ़ी हुई है। वह स्त्री, शूद्र और पतित चाण्डाल सभीको समान भावसे अपने अन्दर स्थान देती है। सब प्रकारके मनुष्योंको, भिन्न भिन्न प्रकारके अधिकारी जीवोंको गीताने भगवत्प्राप्तिका सुन्दर, सुगम, प्रशस्त पथ दिखला दिया है, और वह है—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

यही गीताकी शक्ति है। इसी शक्तिका आश्रय करनेसे समस्त पापोंसे (स्वर्ग-नरक-प्रद पुण्यपापरूप कर्मोंसे) छूटने-की चाभी मिल जाती है।

दयाघन परमात्मा लेखक और पाठकोंको उस शक्तिका आश्रय ग्रहण करनेका सामर्थ्य प्रदानकर दम्भरहित निर्मल भक्तिके द्वारा सबको परम सुख-सम्पन्न करें, यही उनके-चरणकमलोंमें सविनय प्रार्थना है।

[१] बंगालके श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने इस श्लोकके १८ प्रकारके भिन्न भिन्न अर्थ करके श्रीवासुदेव सार्वभौम नामक अद्वैतवादी विद्वान्का गर्व खर्व कर दिया था। यदि वह अभीतक हिन्दीमें न छपा हो तो मेरी प्रार्थना है कि उत्तरदेशीय विद्वान् उसका हिन्दीभाषान्तर 'कल्याण' में प्रकाशित करवानेकी कृपा करें।
—लेखक

श्रीमद्भगवद्गीताका परम गोपनीय और मार्मिक उपदेश

(लेखक—लाल कन्नोमलजी एम०ए०)

भूमण्डलके साहित्य-भाण्डारमें श्रीमद्भगवद्-गीता एक अमूल्य, अद्वितीय एवं अनुपम रत्न है। हिन्दू-धर्मके मुख्य मुख्य दार्शनिक विचार, वैज्ञानिक सिद्धान्त, धार्मिक तत्त्व, नैतिक उपदेश एवं ज्ञान-योग-भक्तिमार्गोंके साधन आदि सभीका प्रतिपादन इस अमूल्य ग्रन्थमें है। जो उपदेश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें पाँच हजार वर्ष पहले किया था, वह केवल अर्जुनके लिये ही नहीं था बल्कि वह था समस्त संसारके लिये! मनुष्य-जातिके उत्थान और उद्धारके लिये उससे बढ़कर कोई उपदेश नहीं है। पाँच सहस्र वर्षोंसे यह उपदेश शङ्खनाद करता हुआ अगणित मनुष्योंको उनके कर्तव्यकी शिक्षा दे रहा है; जिन क्षत-हृदयोंमें निराशाका अन्धकार था उनमें आशाका प्रकाश कर रहा है; मनुष्य-जातिकी दृष्टि धर्मके उच्चपथकी ओर उठा रहा है; संसारके दार्शनिक, नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जटिल समस्याओंकी उलझनोंको सुलझा रहा है। भारतका धर्म, भारतका कर्म और भारतका मोक्षप्रदर्शक पथ यही है। अगणित हिन्दू-गृहोंमें इसका पाठ

श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन होता है। संसारके सभी विद्वान् पाश्चात्य अथवा प्राच्य इस अद्वितीय ग्रन्थकी प्रशंसा मुक्तकण्ठसे कर रहे हैं। अतीतकालीन विद्या-विज्ञान-धर्म एवं नीतिका भाण्डार यही है। परमात्मा क्या है? आत्मा क्या है? इन दोनोंका क्या सम्बन्ध है? जगत् क्या है? उसकी सृष्टि कैसे हुई? उसका लय कब और कैसे होता है? मोक्ष क्या है और कैसे प्राप्त होता है? ईश्वर-प्राप्तिके मार्ग क्या हैं? आदर्श जीवन क्या है? मानुषी सभ्यताकी पराकाष्ठा क्या है? इत्यादि इत्यादि प्रश्नोंके सरल स्पष्ट उत्तर इसी ग्रन्थमें है। भगवद्गीताके आधारपर अनेक गीताएं बनी हैं, जैसे–शिवगीता, देवीगीता, गणेशगीता, सूर्यगीता, रामगीता, ईश्वरगीता, कपिलगीता, हंसगीता, व्याधगीता, पाण्डवगीता, व्यासगीता, अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता, अनुगीता और यमगीता आदि आदि।–जो हिन्दुओंके दार्शनिक और धार्मिक साहित्यके रत्न हैं, पर श्रीमद्भगवद्गीताका महत्त्व कुछ और ही है, उसकी महिमा अकथनीय है। उसमें केवल प्राचीन कालका ज्ञान ही नहीं है बल्कि भविष्यमें जो विचार उठनेवाले हैं उनके परिपक्व होनेके लिये भी पर्याप्त सामग्री है।

जैसा अद्भुत, चमत्कारी, अद्वितीय एवं अनोखा गीता-उपदेश है वैसा ही अद्भुत, विचित्र, ओजस्वी, प्रभाशाली एवं अद्वितीय उस उपदेशका करनेवाला भी है। संसारके अनेक कवियों, लेखकों, विद्वानों, टीकाकारों एवं भाष्यकारोंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्र-चित्रणकी चेष्टाएं की हैं और इस कार्यमें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की है पर भगवान् कृष्णके गुणोंका पार कौन पा सकता है? वे अगणित, अतुलनीय एवं अपरिमित हैं। भगवान् श्रीकृष्ण प्राचीन भारतके सबसे बड़े, सबसे उत्कृष्ट, सबसे उदार-हृदय महात्मा थे। जैसे हिमालय संसारके सब पर्वतोंसे ऊंचा है वैसे ही श्रीकृष्ण संसारके सब महात्माओं, महापुरुषों, धर्मोपदेशकों एवं योगियोंसे उत्कृष्ट हैं। उनके चरित्रमें वैचित्र्य प्रधान है। राजनीतिज्ञ, शासक, योद्धा, विजयी, उपनिवास-संस्थापक, कलाकुशल, तत्त्वज्ञानी, उपदेशक, धर्मपथ-प्रदर्शक, महायोगी आदि आदि सभी कुछ वे थे। इनसे पहले कोई अवतार ऐसा पूर्ण और विचित्र नहीं हुआ। भगवान् नृसिंह, प्राकृतिक शक्तिके अवतार थे। श्रीरामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम थे लेकिन सम्पूर्ण कला-सम्पन्न अवतार श्रीकृष्णचन्द्रजी ही थे। इनमें मनुष्य-जीवनके सभी रूप और सभी कार्य व्यक्त थे। आधुनिक संसारके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक विद्वान् हीगलने परमेश्वर-को सत्, असत् और निरन्तर व्यक्तताका केन्द्र बताया है। भगवान् श्रीकृष्ण इस परिभाषाके प्रत्यक्ष रूप थे। इनके विषयमें जितना कहा जाय, लिखा जाय और इनका जितना गुणगान किया जाय, थोड़ा है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कई स्थानोंपर कहा है कि अब मैं तुझे अत्यन्त गुप्त रहस्य बताता हूं अथवा जो मैंने उपदेश किया है वह परम गोपनीय है—उसे प्राप्तकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है। यह परम गोपनीय और निरन्तर अमृततुल्य उपदेश क्या है? इसीका विवेचन क्रमशः करते हैं:–

(१)

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ (अ० ९। २)

यह (उपदेश) सब विद्याओं तथा गूढ़ विषयोंमें राजा है। यह पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष, बोधगम्य, धर्मसम्बन्धी सरल और अक्षय है। यह उपदेश क्या है? उसीका यह विवेचन है।

स्रष्टा और सृष्टिः—सब चराचर सृष्टि कल्पके आदिमें ब्रह्मकी योगमायासे, जो प्रकृति कहलाती है, उत्पन्न होती है और कल्पके अन्तमें उसीमें लय हो जाती है। प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं और ये अनादि हैं। कार्य-कारण शृङ्खलाका प्रारम्भ उसीसे होता है। सब भूतमात्र उसीमें टिके हुए हैं, वह सबसे परे है। जैसे सब जगह जानेवाली वायु सदा आकाशमें स्थित रहती है वैसे ही सब भूत चराचर ब्रह्ममें ही स्थित हैं। यह सृष्टिविकास नितान्त वैज्ञानिक है।

सब कुछ परमेश्वर ही हैः—संसारकी जितनी वस्तुएं हैं वे सब वही है। वही जगत्का पिता, माता, धाता आदि है–वही तीनों वेद है यानी ऋक्, यजुर, साम। केवल वही जानने योग्य पदार्थ है। वही सबकी गति है, वही सबका भरण-पोषण करनेवाला है। प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सखा, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय वही है। वही सबका अक्षय बीज है। बड़ा अच्छा ख्याल है!

किसी देवताकी पूजा करो उसीको पहुंचती हैः—किसी देवताका पूजन करो वह उसी (परमेश्वर)का पूजन है। जो कोई भक्तिसे उसे पत्र, पुष्प, फल या जल चढ़ाता है, वह उसे ग्रहण करता है।

नोट—यह कितना उदार विचार है। यहां सब धर्म और पंथ-

बालकोंके लि सहिष्णुता है। ईश्वरकी भेटमें भी यह बात नहीं है कि वह बहुमूल्यवान् वस्तुओंकी भेटमे ही प्रसन्न होता है—उसे तो कोई पत्र-पुष्प भी श्रद्धापूर्वक चढ़ाता है तो वह ग्रहण कर लेता है।

उसकी पूजा कैसे हो:—जो कुछ करो, खाओ, दान करो, तप करो वह सब उसीके अर्पण करो! क्या ही अच्छा ख्याल है?

उसकी भक्ति करनेवाला दुष्ट भी साधु हो जाता है:—दुष्टसे दुष्ट मनुष्य भी भक्तिपूर्वक उसका भजन करनेपर साधु हो जाता है, धर्मात्मा हो जाता है और अखण्ड शान्ति प्राप्त करता है। जो ईश्वरकी भक्ति करता है उसका नाश नहीं होता।

नोट—कितना आशायुक्त संदेश है। दुष्ट और पापी मनुष्यको सुधरका पूरा अवसर दिया है। यह कितनी बड़ी बात है कि भगवान् अपने भक्तको वचन देते हैं कि उसका नाश नहीं होगा।

गूढ़ रहस्य:—उसी(परमात्मा)में अपना मन लगाओ, उसीके भक्त बनो, उसीकी पूजा करो, उसीको प्रणाम करो। ऐसा करनेसे परमेश्वरकी प्राप्ति हो जायगी। क्या सरल मार्ग है?

(२)

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

(अ० १० । १)

हे महाबाहो! मेरा यह परम वाक्य फिर भी सुनो, जो मैं तुम्हारे हित और प्रसन्नताके विचारसे कहता हूं। सुनिये, यह परम वाक्य क्या है?

संसारमें जितनी विभूतियां हैं वे सब परमेश्वरकी ही हैं। वह सबका जन्मदाता है—उसीसे यह जगत् फैला हुआ है। वही सब प्राणियोंके भीतर रहनेवाली आत्मा है, वही सृष्टिका आदि, मध्य, और अन्त है। वह आदित्योंमें विष्णु है, तेजस्वियोंमें सूर्य है, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा है, वेदोंमें सामवेद है, देवोंमें इन्द्र है, इन्द्रियोंमें मन है, भूतमात्रमें चेतना है, पर्वतोंमें मेरु है, महर्षियोंमें भृगु है, वर्णोंमें ॐ है, यज्ञोंमें जपयज्ञ है, अचलोंमें हिमालय है, वृक्षोंमें पीपल है, देवर्षियोंमें नारद है, सिद्धोंमें कपिल मुनि है, गजेन्द्रोंमें ऐरावत है और मनुष्योंमें राजा है इत्यादि इत्यादि अनन्त विभूतियां हैं।

नोट—पहले तो यह बताया था कि परमेश्वर सब प्राणियोंमें है, अब यह बताया गया है कि उन प्राणियोंमें जो श्रेष्ठ, चमत्कारी और उत्कृष्ट है, वह विभूति भी परमेश्वरकी ही है।

सम्पूर्ण १० वां अध्याय ईश्वरकी विभूतियोंके वर्णनसे परिपूर्ण है, इसे अवश्य पढ़ना चाहिये।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(अ० १२ । २०)

इस पूर्वोक्त धर्मामृतका जो लोग श्रद्धाके साथ मत्परायण होकर सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

व्यक्त और अव्यक्त ईश्वरकी उपासना—व्यक्त और अव्यक्त—परमेश्वरके दो रूप हैं जो उसमें मन लगाये हुए नित्ययुक्त होकर श्रद्धासहित उसकी व्यक्तरूपकी उपासना करते हैं वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। लेकिन जो अव्यक्तरूपकी उपासना करते हैं और इन्द्रियोंको वशमें करके सर्वत्र समताबुद्धि रखते हुए सर्वभूतमात्रके हितमें लगे रहते हैं वे भी उसे प्राप्त कर लेते हैं—

नोट—ईश्वर व्यक्त (सगुण) और अव्यक्त (निर्गुण) दोनों है। ईश्वरकी यह परिभाषा पूर्ण वैज्ञानिक है वह सत्-असत् दोनों है यानी निज रूपमें ब्रह्म है और सत् है तथा उपासकके लिये सगुणरूप ईश्वर भी है।

अव्यक्त ब्रह्मकी उपासना कठिन है:—अव्यक्तमें जिनका चित्त आसक्त है उन्हें अधिक कष्ट उठाना पड़ता है, क्योंकि अव्यक्तगति देहधारियोंको बड़ी कठिनतासे मिलती है। सगुण ईश्वरकी उपासना सर्वसाधारणके लिये सुगम है।

कई प्रकारके अभ्यास:—

अनन्ययोग, अभ्यासयोग, मदर्थकर्म,

कर्मफलत्याग:—इन सबका हाल बारहवें अध्यायके ६ वें श्लोकसे १२ वें श्लोक तक पढ़ो।

साधकके लिये इन उपायोंसे बढ़कर क्या हो सकते हैं?

आदर्श मनुष्य:—अ०१२के१३से१९श्लोकोंमें आदर्श मनुष्यके लक्षण कहे हैं, वे अवश्य पढ़ने योग्य हैं। यदि उन लक्षणोंको प्राप्त कर ले तो मनुष्य नहीं, देवता हो जावे—लक्षण सूक्ष्मत: ये हैं:—

किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करना, सबका मित्र होना, दया करना, ममत्व और अहंकारका त्याग करना, सुख-दुःखको समान समझना, क्षमाशील होना, सन्तोषी होना, सदा योगमें लगे रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, दृढ़-निश्चयी होना, ईश्वरमें ही मन बुद्धि लगाये रखना, आदि आदि।

(४)

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।
(अ० १३।१२)

जो बात जाननेयोग्य है और जिसके जाननेसे अमरत्व प्राप्त होता है वही मैं तुम्हें बतलाता हूं। वह जाननेयोग्य वस्तु सबसे परे अनादि ब्रह्म है। उसे न सत् कह सकते हैं और न असत्। यहां सत्का अर्थ व्यावहारिक सत्तासे है, क्योंकि वह पारमार्थिक सत्ताके सामने कुछ नहीं है और असत्का अर्थ है प्रातिभासिक सत्ता जैसे रज्जुका सर्प, सीपकी चाँदी आदि। इसलिये ब्रह्मकी केवल पारमार्थिक सत्ता है—व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताएं कल्पित हैं।

ब्रह्मका वर्णन—उसके चारों ओर हाथ पैर हैं; सब तरफ आँखें और मुंह हैं; सभी ओर कान हैं; वह इस लोकमें सबको घेरे बैठा है; उसमें सभी इन्द्रियोंके गुणोंका आभास है; तो भी वह सब इन्द्रियोंसे रहित है; वह सबको धारण किये हुए है, और फिर भी सबसे अलग है; वह निर्गुण होते हुए भी सब गुणोंका उपभोग करता है; वह भूतमात्रके बाहर भी है और भीतर भी है—वह चर अचर दोनों है, वह इतना सूक्ष्म है कि जाना नहीं जाता; वह दूर और पास दोनों है। उसके टुकड़े नहीं हो सकते, तब भी वह भूतमात्रमें खण्डशः रहता है—वह सब भूतोंको धारण, नाश और उत्पन्न करनेवाला है। वह अन्धकारसे परे प्रकाशमान् पदार्थों-की भी ज्योति है। वही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है, वही सबके हृदयोंमें बैठा हुआ है।

नोट—यह ब्रह्मका स्वरूप वेदोंकी ऋचाओं और उपनिषदों-के श्लोकों द्वारा प्रतिपादित है।

(५)

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।
(अ० १४। १)

फिर वह सर्वोत्तम ज्ञान बताता हूं जिसे जानकर सब मुनियोंने सिद्धि प्राप्त की है।

सृष्टिः—हे भारत! महद्ब्रह्म यानी प्रकृति मेरी योनि है उसमें मैं गर्भ रखता हूं-फिर उसीसे भूतमात्रकी उत्पत्ति होती है-दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि प्रकृतिके द्वारा ब्रह्म जगत्की उत्पत्ति करता है। सब चराचर प्राणी जो प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, उसमें बीज रखनेवाला ब्रह्म है।

प्रकृतिके गुणः—प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं, येही शरीरमें रहनेवाली आत्माको बन्धनमें डालते हैं। सत्त्वगुण निर्दोष, निर्मल और प्रकाश करनेवाला है, तथा जीवको ज्ञान और सुखके साथ बाँधता है। तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न करनेवाला और रागस्वरूप रजोगुण है जो जीवको कर्म-संगसे बाँधता है। तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है और सब प्राणियोंको मोहमें डालता है तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधता है यानी सत्त्वगुण सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको छिपाकर प्रमादमें *यानी कर्तव्य भूल जानेमें आसक्ति उत्पन्न करता है।*

प्रकृतिसे छुटकाराः—जब जीव, शरीरको उत्पन्न करनेवाले इन तीन गुणोंसे पार हो जाता है तो वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापेके दुःखोंसे मुक्त हो अमरत्वका अनुभव करता है।

गुणातीतोंके लक्षणः—गुणातीत वह है जो न तो सत्त्व, रज, तमके कारण होनेपर उनसे द्वेष करता है और न उनके नहीं होने पर उनकी इच्छा करता है।

वह उदासीनसा रहता है, गुणोंसे चञ्चल नहीं होता, वह यह जानकर कि गुण अपना काम किया ही करते हैं, अचल बना रहता है। सुख-दुःखमें एकसा, अपने आपमें स्थिर वह मिट्टी, पत्थर और सोनेको समान समझता है और प्रिय, अप्रियको भी एकसा गिनता है। वह धीर रहता है और निन्दा, स्तुतिको समान जानता है। वह मान और अपमान, शत्रु और मित्र दोनोंको एकसा समझता है। वह सभी उद्योग छोड़ देता है।

नोट—देखिये! ये ही आदर्श मनुष्यके लक्षण हैं। ये मनुष्य नहीं देवता हैं। भगवद्गीता प्रत्येक मनुष्यको इस उच्च पदवी पर पहुंचनेकी शिक्षा देती है, इससे बढ़कर शिक्षा क्या हो सकती है?

गुणातीत पद कैसे मिलेः—जो परमात्माकी सेवा अनन्य भक्तियोगसे करते हैं उन्हें यह पद प्राप्त होता है—वे ही ब्रह्मभूत अवस्थाको प्राप्त होते हैं।

(६)

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।
(अ० १५। २०)

हे भारत! इस गोपनीय उपदेशको जानकर जिसे मैंने तुम्हें बताया है, मनुष्य बुद्धिमान् और कृतार्थ हो जाता है।

सुनिये—इस संसारजालको काटकर उस परम पदको ढूंढ़ना चाहिये जहां जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता। और जिसे सूर्य, चन्द्र या अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते ।

उस स्थानको कौन प्राप्त करते हैं:—जो मान-मोहसे रहित हैं, जिन्होंने आसक्तिके दोषोंको जीत लिया है, जो सदैव अध्यात्मज्ञानमें लीन हैं, जिनकी सब कामनाएं जाती रही हैं, जो सुख-दुःखके झगड़ेसे छूट गये हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष इस अव्यय पदको प्राप्त करते हैं।

जीव कौन है और कैसे आता जाता है:—मेरा ही (परमेश्वरका ही) एक अंश जीवलोकमें जीव बनजाता है और प्रकृतिकी बनी हुई छहों इन्द्रियोंको अपनी ओर खींचता है। (पाँच ज्ञानेन्द्रियां—नाक, कान, नेत्र, जिह्वा त्वचा और छठां मन।)

ईश्वर जीव बनकर जब शरीर प्राप्त करता है या छोड़ता है, तब वह इन्हें वैसे ही साथ ले आता है, जैसे हवा (पुष्प आदि) आश्रयसे गन्धको अपने साथ ले जाती है।

ईश्वरकी सर्वव्यापकता:—सूर्य, चन्द्र और अग्निमें उसीका तेज है, वही सब प्राणियोंको धारण करता है, वही रसरूप चन्द्रमा बनकर सब वनस्पतियोंका पोषण करता है, वही जठराग्नि बनकर अन्नोंको पचाता है, वही सबके हृदयमें बैठा हुआ है, उसीसे स्मृति, ज्ञान हैं, उसीसे उनका नाश है, वही सब वेदोंमें जानने योग्य है इत्यादि इत्यादि।

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम क्या हैं:—सभी नाशवान् प्राणी क्षर हैं, लेकिन जो इनके भीतर है यानी आत्मा है वह अक्षर है। इन दोनोंसे परे एक उत्तम पुरुष और है जो परमात्मा कहलाता है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें रमा हुआ उनका पोषण करता है। वह क्षरसे परे और अक्षरसे भी उत्तम है, इसलिये वह लोक और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है।

(७)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
(अ० १८। ६४)

अब तुम मेरी सबसे गुप्त और श्रेष्ठ बात सुनो। तुम मेरे बड़े प्यारे हो, इसीलिये मैं तुम्हारे हितकी बात कहता हूं।

इसे खूब ध्यान देकर सुनिये। यह सारी गीताका निचोड़ है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके उपदेशकी यह पराकाष्ठा है। इसके बाद और कोई उपदेश नहीं है। यह अन्तिम वचन १८ वें अध्यायके दो श्लोकोंमें है जो उपर्युक्त श्लोकके आगे हैं यानी ६५ वें ६६ वें श्लोक—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

मुझमें मन लगाओ, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही भजन करो, मुझे ही नमस्कार करो। तुम मेरे प्रिय हो, तुमसे मैं प्रण करता हूं कि तुम निःसन्देह मुझमें ही आ मिलोगे।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सब धर्म छोड़ तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा, शोक मत करो।

नोट—भगवान् कृष्ण अर्जुनको वचन देते हैं कि यदि वह ऐसा करेगा तो वह उन्हींमें मिल जावेगा। दूसरे श्लोकमें और भी जोर देकर कहते हैं कि 'शोक मत करो, डरो मत, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा, शर्त यह है कि तुम सब कामोंको छोड़ दो—सब सम्प्रदायोंके झंझटोंसे छुटकारा लो, और केवल मेरा ही सहारा पकड़ लो।' सारांश यह है कि जो सब कुछ छोड़कर केवल परमेश्वरकी ही शरणमें जाते हैं और उसीमें मन लगाते हैं—उसीके भक्त बनते हैं—उसीका भजन करते हैं—उसीको नमस्कार करते हैं वे निश्चय ही परमेश्वरमें मिल जाते हैं।

सारी गीताका उपदेश यही है और इससे बढ़कर और उपदेश हो भी क्या सकता है। अस्तु?

गीतामें ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद

(लेखक-श्रीयुत बिपिनचन्द्र पाल)

भगवद्गीता यथार्थमें हिन्दुओंके ब्रह्मवादका नहीं अपितु प्राधान्यतः उनके ईश्वरवादका ग्रन्थ है। इस बातको प्रायः न तो हमारे ही देशके लोगोंने और न गीताके गहन तत्त्व और उसके व्यापक सार्वभौम सिद्धान्त पर मुग्ध होनेवाले विदेशियोंने ही हृदयङ्गम किया है, ऐसा प्रतीत होता है।

हिन्दुओंके विचार एवं अनुभवके अनुसार परम तत्त्वके तीन स्वरूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्मको दूसरे शब्दोंमें 'विश्वव्यापी सार्वभौम तत्त्व' कह सकते हैं। वह उस व्यापक तत्त्वका नाम है जो विश्वरूपसे व्यक्त होता है, जिससे प्राणिमात्रकी उत्पत्ति होती है, उत्पत्तिके अनन्तर जिसकी सत्तासे वे जीवित रहते हैं, सृष्टिविकास-क्रमके अनुसार जिसको लक्ष्यकर वे गतिशील होते हैं और जिसमें अन्ततोगत्वा वे प्रविलीन हो जाते हैं, उसे ब्रह्म कहते

हैं* । तैत्तिरीय उपनिषद्में ब्रह्मका निरूपण इस भाँति किया गया है । इस प्रकार ब्रह्मका प्राथमिक स्वरूप, सच पूछिये तो आधुनिक अज्ञेयवादियोंके द्वारा प्रतिपादित अज्ञात एवं अज्ञेयका ही स्वरूप था । इस बातको प्राचीन उपनिषदोंने निःसङ्कोचरूपसे स्वीकार किया है । किन्तु धीरे धीरे और क्रमशः यह प्रश्न उठा कि जहाँ बाह्य आधिभौतिक जगत्में जो निरन्तर विकार होते रहते हैं उनकी तहमें रहनेवाले नित्यताके मूल-तत्त्वका नाम ब्रह्म है, वहाँ चित्तके आन्तरिक अनुभवोंमें भी उसी प्रकारके विकार दृष्टिगत होते हैं, तो फिर हमारे अन्तःसंवेदनकी अविच्छिन्न सन्ततिका अधिष्ठानभूत नित्य तत्त्व क्या है ? वह नित्य तत्त्व परमात्मा है, जिसे सबके भीतर रहनेवाला अर्थात् अन्तर्यामी या साक्षिचैतन्य अर्थात् वह नित्य ज्ञान जो हमारे अन्तर्जीवनका नित्य प्रबुद्ध द्रष्टा है, कह सकते हैं । किन्तु यह अन्तर्जीवन इन्द्रियगोचर बाह्यजगत्से, जिसे 'व्यक्त' कहते हैं, असम्बद्ध नहीं है । अपनी इन्द्रियोंके द्वारा, जिसमें अन्तःकरण भी, (जिसे संस्कृत-भाषामें चित्त अथवा 'मनस्' कहते हैं,) सम्मिलित है । हम लोग इस बाह्य-जगत् अथवा 'व्यक्त' के साथ सर्वदा सम्पर्कमें आ रहे हैं । यही नहीं, हम लोग लगातार उसपर अपना प्रभाव डाल रहे हैं और बदलेमें उससे प्रभावित हो रहे हैं । ऐसी दशामें यह प्रश्न अनिवार्यरूपसे उपस्थित होता है कि बाह्य-जगत्के साथ, जिसमें मनुष्य एवं मनुष्येतर तथा आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकारके इन्द्रियगोचर पदार्थ अन्तर्गत हैं,—हमारे जो व्यवहार इन्द्रियोंके द्वारा होते हैं, उनके अन्दर सम्बन्धका तत्त्व क्या है ? यह सम्बन्धका तत्त्व अवश्य ही कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये जो एक ही कालमें हमारे अन्दर भी विद्यमान हो और पार्श्ववर्ती इन बाह्य-पदार्थोंमें भी बाह्यरूपसे अवस्थित हो । परतत्त्वके स्वभाव एवं स्वरूपके सम्बन्धमें जो यह अन्तिम प्रश्न है, उसका उत्तर यही हो सकता है कि जो वस्तु एक ओर तो हमारी संवित्का और दूसरी ओर हमारे ज्ञान, भोग तथा क्रियाओंके गोचर इन पदार्थोंका आलम्बन है, वह भगवान् है ।

भगवान्‌के स्वरूपकी यह कल्पना गीताके ईश्वरवादका मूल सिद्धान्त है । ईसाइयोंके मतमें जिसे सगुण ईश्वर कहते हैं, उसकी सबसे ऊँची अनुभूति हिन्दुओंके मतमें भगवान् हैं । ईश्वरवाद सर्वत्र इसी सगुण ईश्वरके सिद्धान्त पर अवलम्बित है ।

किन्तु 'भगवान्' का स्वरूप 'ब्रह्म'के स्वरूपका, जो वास्तवमें 'निर्गुण ईश्वर' का स्वरूप है, एक संक्षिप्त रूप है । उससे ब्रह्मके स्वरूपका प्रत्याख्यान अथवा अपवाद नहीं होता । अवश्य ही, उपनिषदोंमें ब्रह्मको समस्त भूतोंके अन्दर निवास करनेवाला अथवा 'परमात्मा' बतलाया गया है । ब्रह्मको 'महाप्रभु' भी कहा गया है—'महान्प्रभुर्वै पुरुषः ।' किन्तु यद्यपि इन वाक्योंमें ब्रह्मकी सगुणताका भाव है, तथापि यह निर्विवाद है कि ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले हमारे ग्रन्थोंमें परमात्म-तत्त्वके निर्गुण स्वरूपको ही प्रधानता दी गयी है, सगुणस्वरूपको नहीं ।

'सगुणता'के अन्दर 'द्वैतता' का भाव अर्थतः आ जाता है । शाङ्कर-वेदान्तके अद्वैतवादमें ब्रह्मके अन्दर इस द्वैतताके लिये कोई स्थान नहीं है । तथापि जब भगवान् शङ्कराचार्यने यह सिद्ध करनेका उपक्रम किया कि इस विश्वकी उत्पत्ति ब्रह्मसे हुई है जो सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप है, तब वादीने यह प्रश्न किया कि 'जब ज्ञाता और ज्ञेयके बिना ज्ञानका होना असम्भव है तब सृष्टिके पूर्व ब्रह्मके ज्ञानका विषय क्या था ?' भगवान् शङ्करने उत्तर दिया कि 'नाम और रूप ही उस समय उनके ज्ञानका विषय था, जो इस सृष्टिका बीज है और जो ब्रह्मसे न तो भिन्न है और न अभिन्न है और जो व्यक्त नहीं है किन्तु व्यक्त होनेका प्रयत्न करता है ।' और इस नाम और रूपके द्वारा, जिसे यूनानी दार्शनिकोंने (Logos) नामसे पुकारा है, ब्रह्म या परमात्मा अपने सगुण रूपको धारण करते हैं । गीतामें इस नाम और रूपको 'प्रकृति' कहा गया है । यह प्रकृति ब्रह्मसे न तो भिन्न है और न अभिन्न ही है । यह ब्रह्ममें स्थित है और ब्रह्म इसके अन्दर विद्यमान होते हुए भी इसमें नहीं है । या यों कहें कि ब्रह्म इस सृष्टिमें स्थित और उसके प्रत्येक परमाणुमें अनुप्रविष्ट होते हुए भी वह उसके बाहर और उससे परे है । वह सृष्टिके अन्दर व्याप्त भी है और साथ ही उसके परे अर्थात् अव्याप्त भी है । किन्तु ब्रह्म एक और अखण्ड है । वह सृष्टिके प्रत्येक पदार्थमें अपने समग्ररूपसे तथा पूर्ण अंशमें विद्यमान है । एक परमाणुके अन्दर भी वह उतने ही पूर्ण अंशमें विद्यमान है जितना सारे विश्वमें । ब्रह्मके इस स्वरूपसे ईश्वर और जगत्का निरूपण ब्रह्मवादियोंकासा

* 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।······तद्ब्रह्मेति'······(तै०उ० ३।१)

लाला कन्नोमलजी एम० ए०, धौलपुर।

पं० रामप्रतापजी पुरोहित, जैपुर।

श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे,
सम्पादक 'श्रीकृष्ण-सन्देश' कलकत्ता।

श्रीगयाप्रसादजी शास्त्री।

पं० भवानीशङ्करजी ।

श्री टी० सुब्बाराव ।

ब्र० कु० पं० रामस्वरूपजी शर्मा ।

पं० धर्मदत्त (बच्चाझा) शर्मा ।

हो सकता है। किन्तु गीताके उपदेशसे इस मतकी, जिसे 'ब्रह्मवाद'के नामसे पुकारते हैं, पुष्टि नहीं होती। 'मैं इन सारे भूतोंके अन्दर हूं भी और नहीं भी हूं। यह मेरे स्वरूपका सबसे बड़ा रहस्य है।' (गीता ९।४-५) गीताके अन्दर ये शब्द भगवान्‌के मुखसे प्रकारान्तरसे बारबार निकले हैं और इन शब्दोंके द्वारा गीतामें, जिसे 'ब्रह्मवाद' कहते हैं, उसका 'ईश्वरवाद' के नामसे पुकारे जानेवाले मतके साथ समन्वय किया गया है। 'विभूतियोग'के (दसवें) अध्याय-में इन दोनों मतोंका समन्वय बड़ी ही सफलताके साथ किया गया है। इस अध्यायमें जहाँ ब्रह्म या परमात्म-तत्त्वको अथवा जिसे दार्शनिक लोग 'कूटस्थ' कहते हैं उसको विश्वके 'समस्त पदार्थोंमें' चाहे वे छोटे हों या बड़े, अच्छे हों या बुरे, अन्तर्हित बतलाया है। वहाँ ब्रह्मकी 'अभिव्यक्ति' में असन्दिग्धरूपसे भेद भी बतलाया गया है और यह भेद भिन्न भिन्न पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपके अनुसार होता है। किसी पदार्थमें उसकी सत्ता अधिक अंशमें अभिव्यक्त होती है और किसीमें न्यून अंशमें। सृष्टिके अन्दर जितने 'प्रकार' के पदार्थ हैं, उनमेंसे सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वश्रेष्ठ पदार्थोंको एक विशिष्ट अर्थमें ब्रह्मका ही स्वरूप बतलाया गया है। 'प्रकाश देनेवालोंमें मैं सूर्य हूं, पर्वतोंमें मैं हिमगिरि हूं, योद्धाओंमें मैं परशुराम हूं, पाण्डवोंमें मैं अर्जुन हूं और वृष्णिकुलके क्षत्रियोंमें मैं कृष्ण हूं' इत्यादि।

'ब्रह्मवाद' के नामसे प्रचलित सिद्धान्तके सम्बन्धमें जो लोग बहुधा यह कहते हैं कि उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्मरूप है, उनकी इस भूलका इन ऊपरके शब्दोंमें बहुत ही स्पष्टरूपसे निराकरण किया गया है। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारे पदार्थ ब्रह्मके अन्दर हैं; परन्तु साथ ही गीताका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म इनमेंसे किसी पदार्थमें नहीं है। (गीता ९।४) इसका तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि प्रत्येक वस्तु ब्रह्मके ही अन्दर उत्पन्न होती है, ब्रह्ममें ही आगे बढ़ती है, ब्रह्ममें ही जीवन धारण करती है और ब्रह्मके ही अन्दर अपने स्वरूपका अनुभव करती है किन्तु निःशेषरूपसे वह किसी एक वस्तुके अन्दर नहीं है। यद्यपि ब्रह्म प्रत्येक वस्तुके अन्दर अपने समग्ररूपसे एवं पूर्ण अंशमें विद्यमान है, फिर भी भिन्न भिन्न पदार्थोंके अन्दर उसकी अभिव्यक्तिकी मात्रामें न्यूनाधिक्य स्पष्टरूपसे है और इसी सत्यका गीताके ब्रह्मवादमें असन्दिग्धरूपसे स्पष्टीकरण किया गया है और ऐसा करनेमें गीताके द्वारा 'ब्रह्मवाद' के नामसे प्रचलित सिद्धान्तके मूल-तत्त्वका सच्चे ईश्वरवादके साथ बड़ी उत्तमतासे सामञ्जस्य किया गया है, भगवद्गीताके द्वारा प्रतिपादित 'ब्रह्म' अथवा 'कूटस्थ'के इस मूल-सिद्धान्तको जो हृदयङ्गम नहीं कर सकता, वह हिन्दुओंके ईश्वरवादका वस्तुतः स्वरूप क्या है, इसे यथार्थ रीतिसे न तो समझ सकता है और न उसके महत्त्वको जान सकता है, बंगालके श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित वैष्णव-सम्प्रदायके अन्दर इस सिद्धान्तका और भी अधिक विकास हुआ है। उसके सम्बन्धमें फिर कभी लिखेंगे।

गीताकी साधना

(ले० पं० श्रीभवानीशङ्करजी)

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार साधनाके मुख्य चार सोपान हैं, इन चारोंका ही अभ्यास क्रमशः आवश्यक है। इनमें सबसे पहला कर्मयोग है, जिसका वर्णन गीतामें सर्व-प्रथम, विशेषकर तृतीय अध्यायमें है। दूसरा अभ्यासयोग है जिसका वर्णन छठे अध्यायमें है। अभ्यासयोगको कोई कोई कर्मयोगके अन्तर्गत भी मानते हैं। तीसरा चतुर्थ अध्यायोक्त ज्ञानयोग है और चौथा भक्तियोग है जिसका वर्णन बारहवें अध्यायमें है।

कर्मयोग—सबसे पहले फलकी कामनाको छोड़कर केवल कर्तव्यबुद्धिसे निष्काम कर्म किया जाता है, जिससे सिद्धि-असिद्धि दोनोंमें कर्त्ता समान रहता है। परन्तु वह कर्मका त्याग कदापि नहीं करता (गी० २।४७-४८ और ६।१)। निष्काम कर्म करनेपे किञ्चित् चित्त-शुद्धि होनेपर साधक यह समझने लगता है कि प्राणीगण स्वतन्त्र न होकर एक ही विश्व-विराट्‌के भिन्न भिन्न अंग हैं, इसलिये उन सभीको परस्पर सहायताकी अपेक्षा है (गी० ३।१०)। श्रीभगवान् स्वयं भी विश्वहितार्थ निष्कामभावसे कर्म कर रहे हैं (गी० ३।२३-२४)। इस समयसे साधक स्वार्थ-परायण होना ईश्वरीय संकल्पके विरुद्ध समझकर लोकहितार्थ कर्म करना प्रारम्भ कर देता है (गी० ३।२०, २५)। पात्र-में दान, रोगी-चिकित्सा-प्रबन्ध, दीन-दरिद्र-पोषण आदि सब इसके अन्तर्गत हैं। इस अवस्थामें यह एक आपत्ति आ जाती है कि साधकके हृदयमें मान-बड़ाई, यश-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त

करनेकी वासना जाग्रत् होने लगती है। क्योंकि इसमें दूसरेका उपकार करनेकी भावना मनमें वर्तमान रहती है, जिससे अभिमान आ जाता है। इन सब सूक्ष्म वासनाओंके आ जानेसे भी कर्म, बन्धनका कारण हो जाता है। अतएव तीसरी अवस्थामें कर्म यज्ञकी भांति किया जाता है। भक्ति-भावसे किये जानेपर उस यज्ञके फलको श्रीभगवान् सृष्टि-हितमें संयोजित कर देते हैं, क्योंकि वे ही यज्ञके भोक्ता हैं (गी० ५ । २९)। पञ्चमहायज्ञको इसी महायज्ञके अन्तर्गत समझना चाहिये।

अभ्यासयोग—कर्मयोगसे मन और चित्तकी शुद्धि होनेपर ही मनोनिग्रह सम्भव है, अनेक यत्न करनेपर भी जो बहुतसे लोग मनका निग्रह नहीं कर सकते, उसका यही प्रधान कारण है कि वे पहले कर्मयोगद्वारा अपने चित्तकी शुद्धि नहीं करते। अभ्यास और वैराग्य ही मनोनिग्रहके प्रधान उपाय हैं (गी० ६ । ३५)। प्राणायाम (गी० ४ । २९), लक्ष्य-योग—दृष्टिको नासिकाके अग्रभाग आदि किसी स्थानविशेषमें संलग्न करना— (गी० ६ । १३) प्रभृति मनोनिग्रहके साधन-अभ्यासकी भी यहां चर्चा की गयी है ॐ। उत्तम अभ्यास यह है कि 'कामात्मक संकल्पको त्यागकर इन्द्रियोंकी बहिर्मुख वृत्तियोंको अन्तर्मुखी करके धीरे धीरे बुद्धिके द्वारा चित्तकी भावनाओंको रोककर चित्तको कारण-शरीरस्थ जीवात्मामें स्थित करना और फिर किसी भी भावनाको न आने देना।' (गी० ६ । २४, २५) जब जब यह चञ्चल चित्त आत्मासे अन्यत्र जाय, तब ही तब उसको वहांसे लौटाकर फिर आत्मामें स्थिर करना (गी० ६ । २६) इस प्रकार एकाग्रता करनेकी बारम्बार चेष्टा ही यथार्थ अभ्यास है। परमोत्तम अभ्यास यह है कि चित्त आत्माके बदले श्रीभगवान्में संलग्न कर दिया जाय (गी० ६ । १४)। क्योंकि योगाभ्यासियोंमें अन्तरात्माको श्रीभगवान्में अर्पितकर श्रद्धासे उनका भजन करनेवाला योगी ही परमोत्तम है (गी० ६ । ४७)। ऐसे आत्मसमर्पित अभ्यासीमें सब प्राणियोंके प्रति एकात्म-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, जिससे वह दूसरेके दुःखको अपना दुःख समझकर उसकी निवृत्तिके लिये यथासाध्य यत्न करता है (गी० ६ । २९ से ३२)

प्राणायाम और लक्ष्य-योगादिके अभ्याससे चित्त किसीप्रकार एकाग्र होनेपर किञ्चित् चमत्कारिक शक्तियोंकी भी प्राप्ति हो सकती है; किन्तु न तो वह यथार्थ आध्यात्मिक योग है, न उससे शान्ति मिलती है और न भगवत्प्राप्ति ही होती है, जो कि योगका मुख्य उद्देश्य है। बल्कि उससे उल्टा व्याघात होता है। यथार्थ वैराग्यकी प्राप्ति तो केवल भगवद्भक्तिद्वारा ही होती है, जिसकी वास्तविक मनोनिग्रहके लिये अत्यन्त आवश्यकता है।

ज्ञानयोग—कर्मयोगद्वारा चित्तकी शुद्धि और अभ्यास-योगद्वारा मनके निग्रहीत होनेपर जब बुद्धि शान्त और शुद्ध होती है तब साधक ज्ञानकी प्राप्तिके योग्य होता है। शम-दमादिविशिष्ट साधक आचार्यद्वारा शास्त्रके सिद्धान्तका श्रवणकर उसका मनन करता है। यह केवल बुद्धिद्वारा शास्त्रके सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त करना है। इसीको स्वाध्याय-रूपी ज्ञानयज्ञ भी कहते हैं (गी० ४ । २८)।

भक्तियोग—इस प्रकार कर्म, अभ्यास और ज्ञानयोग-की प्राप्ति होनेपर साधकमें श्रीभगवान्के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है और तब वह भगवत्-प्राप्तिकी साक्षात् साधनाका अनुसरण करने योग्य होता है जिसका वर्णन बारहवें अध्यायमें श्लोक ८ से १२ तक है। यहां सात साधनाओंका इस प्रकार वर्णन है—

(१) कर्मफलका अर्पण—श्रीभगवान्ने इसको सबसे नीचेकी अवस्था माना है क्योंकि उनके निमित्त साक्षात् कर्ममें सबसे पहले यही है। इस अवस्थामें श्रीभगवान्के योगका आश्रय लेकर अर्थात् केवल श्रीभगवान्के निमित्त कर्मफलका त्याग किया जाता है (गी० १२ । ११)। कर्म-योगके कर्म और इस भक्तिके कर्ममें तो बड़ा भेद है। कर्मयोगका उद्देश्य केवल चित्त-शुद्धि है, उसका मूल-कारण वह भगवत्प्रेम नहीं है, जो वहां बीजरूपमें रहता है। किन्तु भक्तियोगकी इस अवस्थामें साधकके हृदयमें भगवत्प्रेम अंकुरित होनेके कारण वह प्रत्येक कर्म करते समय श्रीभगवान् (अपने इष्टदेव) का स्मरण करता है और कर्म करनेमें उसका मुख्योद्देश्य उसके फलका उन्हींके चरण-कमलोंमें अर्पण करना होता है (गी० ४ । २४) इस सतत स्मरणद्वारा (गी० ८ । ७) वह श्रीभगवान्के साथ

ॐ गीतामें छठे अध्याय तक श्रीभगवान्ने उस समयके प्रचलित सिद्धान्तोंकी चर्चा की है और उनकी अपूर्णता भी दिखलायी है। सातसे बारह तक अपने मतका प्रतिपादनकर उपदेशको पूर्ण किया है और उसके बाद उनका विशेष विवरण है।

युक्त अर्थात् क्रमशः उनके सन्निकटस्थ होता जाता है और इसीका नाम 'मद्योगमाश्रित' है (गी०१२ । ११) यहां वह केवल उन्हीं धर्मानुकूल कर्मोंको करता है, जिनका फल श्रीभगवान्‌के प्रति अर्पण करने योग्य होता है। उनके कदापि प्रतिकूल नहीं करता।

(२) कर्मार्पण—दूसरी अवस्थामें कर्म ही श्रीभगवान्‌के निमित्त किया जाता है (गी० १२ । १०) यानी फलकी जगह स्वयं कर्म ही अर्पण होता है (गी० ३ । ३०) यह दास-भावके सदृश है किन्तु इसमें श्रीभगवान् अपनेसे भिन्न प्रभु न होकर परम लक्ष्य बन जाते हैं; जिनको, प्रेम-पूरित हृदयसे परिपूर्ण सेवाद्वारा प्राप्त करना ही जीवनका एक-मात्र लक्ष्य बन जाता है (गी० ११ । ५५) इस स्थितिमें साधक अपने गृह, परिवार, वैभव, शरीर, मन, बुद्धि और क्रिया-शक्ति आदि समेत दृश्य-मात्रको श्रीभगवान्‌की वस्तु मानता है और केवल उन्हींके निमित्त उन सबका व्यवहार करता है, स्वार्थके लिये कदापि नहीं करता। प्रत्येक कर्म करते समय इस भावको ध्यानमें रखकर वह निरन्तर श्रीभगवान्‌का स्मरण करता रहता है (गी० ८ । ७)। वह प्रत्येक कर्म, यहां तक कि, भोजन तक भी श्रीभगवान्‌के पदार्थोंकी (शरीर, परिवार आदि) की रक्षाके निमित्त आवश्यक जानकर करता है और उन कर्मोंको वह श्रीभगवान्‌का ही कर्म समझता है। इसी तरह यज्ञ, दान, तप आदि कर्म भी लोक-हितके लिये श्रीभगवान्‌के कार्य समझकर करता है (गी० ९ । २७)। क्योंकि वह जानता है कि धर्मकी रक्षा श्रीभगवान्‌का मुख्य और परम प्रिय कार्य है, जिसके लिये वे स्वयं अवतार लेते हैं (गी० ४ । ७-८) और यह तीनों ही यज्ञ, दान, तप) मानव-समाजको पवित्र करनेवाले हैं (गी० १८ । ५)। इस कर्मार्पण-भावसे कर्म करनेपर नित्य व्यवहारके सभी स्वाभाविक कर्मोंका सम्पादन श्रीभगवान्‌की पूजा हो जाती है (गी० १८ । ४५, ४६, ५६)। इस अवस्थामें साधकके लिये भगवत्-परायण होना, चित्तको सदा श्रीभगवान्‌में समर्पित रखना और सम-बुद्धि होना आवश्यक है (गी० १८ । ५७) इस समय वह नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े सभीको श्रीभगवान्‌का अंश समझकर सभीको आत्म-दृष्टिसे एक-समान समझता है (गी० ५ । १८) और इसीलिये वह लोक-हितकर कर्मको श्रीभगवान्‌का मुख्य प्रिय कार्य समझकर उसमें विशेषरूपसे प्रवृत्त रहता है (गी० ५ । २५,१२ । ४) इस भावसे कर्म करने-पर कर्मसे विपरीत या अनुपयुक्त परिणाम होनेपर भी वह साधक निर्ममत्व, असंग और कर्मार्पण भावके कारण पापका भागी नहीं होता (गी० ५ । १०, १९, २८)। वह समझता है कि उसमें जो क्रिया आदि शक्तियां हैं सो सभी श्रीभगवान्‌की हैं (गी० ७ । १२) । वह तो कर्म करनेमें केवल निमित्तमात्र बननेकी चेष्टा करता है (गी० ११ । ३३)।

(३) अभ्यास—अभ्यास-योगके अभ्यास और इस भक्तिके अभ्यासमें यह भेद है कि पहलेका उद्देश्य चित्तकी एकाग्रता है, जिसके निमित्त किसी इच्छित वस्तु या स्थान-विशेषपर चित्त संलग्न किया जाता है। किन्तु यहांपर इसका लक्ष्य केवल भगवत्-प्राप्ति है और वही इसका विषय भी है (गी० १२ । ९)। श्रीभगवान् (अपने इष्टदेव) के दिव्य नाम (मन्त्र) के जप और हृदयकमलमें उनकी दिव्य साकार मूर्त्तिको चित्रितकर उसमें श्रद्धा तथा अनन्यभावसे चित्तको एकाग्र संलग्न करना ही यहांका उपासनारूपी अभ्यास है। इस अभ्यासमें प्रवृत्त होनेवालेका श्रीभगवान् शीघ्र उद्धार करते हैं (गी० १२ । २, ६, ७, ९)। जिस साधकका मन जिस इष्टदेव (विष्णु, शक्ति, शिव आदि) में स्वभावतः अनुरक्त हो, उसे उसीकी उपासना करनी चाहिये। इस उपासनाके लिये उपास्यका मनोहर चित्र रखना आवश्यक है, जिसके अनुसार हृदयमें भी पैरसे आरम्भकर क्रमशः ऊपरके समस्त अंगोंकी एक सुन्दर मूर्त्ति बनायी जा सके और फिर उस आभ्यन्तरिक हृदयस्थ साङ्गो-पाङ्ग मूर्त्तिमें चित्त सन्निविष्ट किया जा सके। उपास्यकी हृदयस्थ मूर्त्तिपर चित्तके सन्निविष्ट हो जानेपर अन्य किसी भी भावनाको चित्तमें नहीं आने देना चाहिये और जब चित्त अन्यत्र चला जाय (जो प्रारम्भमें अवश्य होता है) तब उसको शीघ्र वहांसे फिर उसी उपास्यमें लौटाकर संलग्न करना चाहिये (गी० ६ । २५, २६, ३५)। इस तरह बार बार यत्नरूपी अभ्याससे चित्त उपास्यमें संलग्न हो जायगा। यह अभ्यास प्रतिदिन नियमपूर्वक नियत समय-पर करना चाहिये। इसके लिये उपयुक्त समय प्रातः और सायंकाल है।

(४) ज्ञान—उपर्युक्त उपासनारूपी अभ्यासके फल-रूप साधकके अन्दर ज्ञानकी जागृति होती है। इस समयका यह ज्ञान केवल बुद्धिजनित नहीं रहता किन्तु उन साधक-को अपनेमें सद्गुणोंका विकास करना पड़ता है जिनका

उल्लेख अध्याय तेरहके ७ से ११ तकके श्लोकोंमें 'ज्ञान' के नामसे किया गया है। इस अवस्थामें कर्म और चित्तकी पूर्ण शुद्धि हो जानेके कारण प्रबल श्रवण, मनन, निदिध्यासन-द्वारा प्रकृति, पुरुष, ज्ञेय आदिका ज्ञान उसको साधारण रीति-से और क्षेत्र क्षेत्रज्ञका ज्ञान विशेष रीतिसे प्राप्त हो जाता है। ऐसे साधककी स्थिति अनवरत निदिध्यासनद्वारा कारण-शरीरके अभिमानी 'प्राज्ञ' जीवात्मा तक हो जाती है, उसको यह भी ज्ञान हो जाता है कि कारण शरीरके ऊपर जो तुरीय चैतन्यरूप श्रीभगवान्‌का परम प्रकाश, वह गायत्री है, जिसकी सहायतासे ही वह वहांसे ऊपर उठकर और मायाको अतिक्रमकर श्रीभगवान्‌की प्राप्ति करेगा। (गी० ७। ५, १४; ९। १३)।

(५) ध्यान—यह ध्यानकी अवस्था ज्ञानसे ऊंची है (गी० १२। १२)। इसीका नाम ध्यानयोग भी है। (गी० १८। ५२)। यह चित्त या मस्तिष्ककी वृत्ति अथवा कार्य न होकर हृदयका कार्य है। श्रीभगवान्‌के निमित्त त्याग, उनकी अहैतुकी उपासना और सद्गुणयुक्त ज्ञानके फलस्वरूप हृदयके पवित्र होनेसे उसमें उस परम प्रेमका सञ्चार होता है, जो श्रीभगवान्‌की ओर अनवरत प्रवाहित हुआ करता है, जिससे ध्याता तुरन्त अपने ध्येयको हृदय-कमलमें ही (गी० १३। १८,२३,३२; १५। १५) साक्षात् देख पाता है और इस दिव्य-दर्शनको प्राप्तकर वह उनके श्रीचरणकमलोंमें प्रवेश कर जाता है और तदनन्तर उस दुर्लभ मकरन्दका रसास्वादनकर कृतार्थ होता है। पहले ज्ञान, फिर दर्शन और तब प्रवेश, यही क्रम है (गी० ११। ५४)। इस अवस्थामें वह ज्यों ही और जभी ध्येयका ध्यान करता है त्यों ही वे उसके हृदयमें प्रत्यक्ष हो जाते हैं। अब ध्याता-ध्येय, नाम-नामी और मन्त्र-देवताकी एकता प्रत्यक्ष हो जाती है। यही आत्मार्पण-भाव है। इस अवस्थामें साधक भक्तको श्रीभगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन होता है, जिसमें वह श्रीभगवान्‌को सर्वत्र प्रत्यक्ष व्याप्त देखता है और इसीसे तब वह सभीको श्रीभगवान्‌का रूप जानता है, जो परम दुर्लभ अवस्था है (गी० ७। १९)।

इस समय संसारके हितार्थ श्रीभगवान्‌का तेज वितरण करनेके लिये वह केन्द्र बन जाता है, जो तेज उसके हृदयसे प्रवाहित होकर संसारका परम कल्याण करता है। ऐसे साधकके जीवनका व्रत ही परोपकार हो जाता है।

साधारण लोगोंके अभ्यन्तरमें श्रीभगवान् द्रष्टा अर्थात् साक्षीकी भाँति रहते हैं। जो अनन्य भावसे श्रीभगवान्‌में नियुक्त रहकर उनकी उपासना करता है उसके लिये वे अनुमन्ता हो जाते हैं अर्थात् उसे योग-क्षेम प्रदान करते हैं (गी० ९। २२)। जो भगवान्‌में तन्मय होकर उपदेश, यश-श्रवण आदि द्वारा दूसरोंको भी ईश्वरोन्मुख करते हैं। श्रीभगवान् उनके अभ्यन्तरमें ज्ञानको प्रज्वलित कर अज्ञान-तिमिरका नाश कर देते हैं (गी० १०। ९ से ११) जो ऊपरकी अवस्था है। ऐसे भक्तके वे भोक्ता हो जाते हैं अर्थात् उसके त्यागरूपी यज्ञके फलको वे संसारके हितके लिये स्वयं बर्तते हैं। तेरहवीं अध्यायके २२वें श्लोकका यही भाव है।

(६) कर्मफल-त्याग—यह ध्यानसे भी उच्च है (गी० १२। १२) यह कर्म-फल-त्याग मामूली कर्म-फल नहीं, पर मोक्ष-का त्याग है और इसी कारण गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्ष-संन्यास' है। इस समय उस भक्तको मोक्षकी प्राप्तिका पूर्ण अधिकार होता है परन्तु वह सदा श्रीभगवान्‌की सेवामें संयुक्त रहनेके सामने मोक्षको अति तुच्छ समझकर उसका सहर्ष त्याग कर देता है। इसी अवस्थामें उसे परा भक्तिकी प्राप्ति होती है (गी० १८। ५४,५५) और वह अपने आत्माको श्रीभगवान्‌में अर्पण कर देता है, जो सृष्टिका मूलकारण-स्वरूप उनका आदि संकल्प है (गी० १८। ६६)।

(७) शान्ति-मोक्ष-त्यागकर आत्मसमर्पण करनेसे ही यथार्थ शान्ति मिलती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि इस आत्म-समर्पणद्वारा श्रीभगवान्‌के सृष्टि रचनेके आदि सङ्कल्प (एकोऽहं बहु स्याम्) एक हूं अनेक हो जाऊं, की पूर्ति होती है। यही मोक्ष-त्यागके अनन्तरकी परम शान्ति है (गी० १२। १२)

जिन दुष्टोंका हर लिया मायाने सब ज्ञान।
मेरी शरण न हों अधम वे आसुर अज्ञान॥

आत्म-समर्पण-योग

[लेखक—श्रीयुत रङ्गनाथ दिवाकर एम०ए०, सम्पादक 'कर्मवीर' धारवाड़]

भगवद्गीता व्यवहारयोग और कर्तव्यशास्त्रकी सबसे बड़ी खान है। यही कारण है कि उसके तात्पर्य, उसके प्रतिपाद्य विषय और उसके मुख्य उद्देश्यके सम्बन्धमें सैकड़ों मत प्रचलित हो सके हैं। केवल एक बड़ा भारी सन्तोष यह है कि इस ग्रन्थरत्नकी किसी व्याख्याको लीजिये—चाहे उस व्याख्याका रचयिता कोई भी हो—जो निष्कर्ष इसमेंसे निकाला गया है वह बड़े ही उच्च कोटिका है और इस ग्रन्थके, जो किसी भी विश्वधर्मका सूत्रग्रन्थ बन सकता है, महत्त्वको बढ़ाता है।

अभी हालमें अथवा सन्निकट भविष्यमें किसी विश्वधर्मके प्रचलित होनेकी सम्भावना है या नहीं, यह कल्पनाका विषय है। किन्तु मानव-प्रकृतिका तात्त्विक रूपसे अन्वेषण करने तथा जितने भी मतमतान्तर आजकल प्रचलित हैं, उनका परिशीलन करनेसे हम लोग एक विश्वधर्मके मूल तत्त्व अवश्य निर्धारित कर सकते हैं। यह तो आपाततः सिद्ध है कि एक छोटेसे लेखके अन्दर इतने बड़े विषयका एक छोर भी नहीं समा सकता। हां, उसका सूत्ररूपसे निर्देश अवश्य किया जा सकता है।

मनुष्य नाना प्रकारकी समन्वित शक्तियोंका एक पुञ्ज है। उसका व्यक्तित्व उसकी शक्तियोंका ही समन्वय है। मनुष्यके अन्दर जो जो शक्तियां हैं वे बहुधा परस्पर विरोधिनीसी जान पड़ती हैं और प्रायः उनमें पारस्परिक युद्धसा दृष्टिगोचर होता है जब वे एक दूसरीको दबानेका यत्न करती हैं। महाभारत युद्धके प्रारम्भमें अर्जुनके मनमें ऐसा ही आन्तरिक युद्ध छिड़ा हुआ था। आत्म-निरीक्षणके द्वारा प्रत्येक मनुष्यको अपने मनरूपी कुरुक्षेत्रके मैदानमें ऐसे कई संग्राम दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु ठीक जिस प्रकार इस विश्वके विशाल प्राङ्गणमें अग्नि और जल, शीत और उष्ण इत्यादि परस्पर विरोधी द्वन्द्व अवस्थित हैं, उसी प्रकार ये सब शक्तियाँ एक ईश्वरीय उद्देश्यकी पूर्तिके लिये एक ही व्यक्तिके अन्दर समन्वित हैं।

इस प्रकार यदि हम मनुष्यकी शक्तियोंका विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि मनुष्यका व्यक्तित्व प्राण, चित्त, कर्म, भाव और ज्ञान इन पांच शक्तियोंका बना हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न भिन्न मनुष्योंमें ये शक्तियां भिन्न भिन्न परिमाणमें रहती हैं। परन्तु ऐसा कोई मनुष्य ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलेगा जिसमें ये शक्तियां अंश रूपमें भी विद्यमान न हों। इनमेंसे किसी एक शक्ति अथवा सारी शक्तियोंके व्यापारके द्वारा सुखकी चरम सीमाको प्राप्त करनेके निमित्त प्रत्येक व्यक्ति अधिकसे अधिक प्रयत्न करता रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस लोक तथा परलोकमें उभयत्र ऐकान्तिक अथवा केवल आनन्दकी प्राप्ति ही प्रत्येक मनुष्यके प्रयत्नका चरम लक्ष्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके निमित्त ही हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग इन पांच योगोंकी उत्पत्ति हुई, जिनका हमारे शास्त्रोंमें वर्णन है। इन पांच योगोंका विकास मनुष्यकी ऊपर बतायी हुई पांच शक्तियोंके आधार पर ही हुआ है और इन शक्तियोंके विकास, निग्रह, संयम और यथार्थ विनियोगके द्वारा परमानन्दकी प्राप्ति ही इन योगोंका लक्ष्य है। परन्तु इन पांचों योगोंसे बढ़कर और वास्तवमें इनसे ऊपरकी श्रेणीका योग आत्मसमर्पण-योग है क्योंकि वह उन सबकी अपेक्षा अधिक व्यापक है और उसका क्षेत्र इतना विशाल और सबके अनुकूल है कि उसके अन्दर उक्त पाँचों योगोंका समावेश एवं समन्वय हो जाता है। वास्तवमें यह आत्मसमर्पण-योग ही एक ऐसा मार्ग है जो अखिल मानव-जातिको उस लक्ष्य तक पहुँचानेमें सहायक हो सकता है जिसकी ओर उसकी सारी आकांक्षाएं दृष्टि लगाये हुए हैं। नवजात शिशुके हृदयके मन्द स्पन्दनका एवं दार्शनिकके बड़ेसे बड़े प्रयत्नका एक ही लक्ष्य है—केवलानन्द। और उस आनन्दको प्राप्त करनेका सबसे सुगम एवं सच्चा मार्ग गीतामें प्रतिपादित आत्मसमर्पणयोग ही है।

गीताके दूसरे अध्यायमें अर्जुनकी सारी शक्तियां उसे जवाब दे देती हैं और वह श्रीकृष्णके सम्मुख दण्डवत् गिरकर उनसे जीवनकी नीति पूछता है—शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। आचरणके जो जो आदर्श उसने स्थिर किये थे, यहां तक कि उसका अध्यात्म ज्ञान, उसकी नीति, उसका साहस, उसका व्यावहारिक ज्ञान सभी उस गाढ़े समयमें उसे रास्ता बतलानेमें बिल्कुल बेकार हो जाते हैं। इस

प्रकार उस महान् व्यक्तिकी विवेक-बुद्धिके अभावमें उस बड़े पोतकीसी दशा हो जाती है जो दिक्-सूचक नक्षत्रके दिखायी न देनेके कारण समुद्रमें डांवाडोल हो जाता है। ऐसे सङ्कट-के समयमें श्रीकृष्ण गीताका उपदेश देकर अवसादको प्राप्त हुए महावीर अर्जुनको उठाते हैं और उससे वही कर्म करवाते हैं जिसे वह गर्हणीय समझता था। वे अर्जुनके अन्दर परमात्माके सारे पदार्थोंमें व्याप्त होनेके भावको भर देते हैं और यह बात उसके गले उतार देते हैं कि वह जीवनके विशाल रङ्गस्थलमें एक कठपुतली मात्र है। वे उसे यह भी हृदयङ्गम करा देते हैं कि उसके सारे दुःखका कारण उसका यह विचार है कि 'मैं कर्ता हूं अतः पापका भागी हूं।'

अनेक प्रकारकी युक्तियों और दार्शनिक सिद्धान्तोंके द्वारा और साधनके अनेक मार्ग बतलाकर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि 'तू अपने मनको परमात्माके अन्दर लय करनेके योग्य बना और इस प्रकार आत्मसमर्पणके द्वारा अविकल मुक्तिको प्राप्त कर।' गीताका सबसे उत्कृष्ट पद्य यह है:-

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ १८-६६॥

जीवात्माको परमात्मामें पूरी तरहसे लय कर देना ही अविकल मुक्ति और पूर्ण सुखका मार्ग है और इस विश्वमें ईश्वरीय विधानके अनुसार बड़ेसे बड़ा कार्य जो मनुष्य कर सकता है, वह भी इसी मार्गका अनुसरण करनेसे सम्पन्न होता है।

गीतामें और भी कई वाक्य ऐसे हैं जो उपर्युक्त इस उत्कृष्ट उपसंहार-वाक्यके पोषक हैं, यथा -

'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य ...'
'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ...'
'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।' इत्यादि

इस प्रकार विश्वव्यापक शक्ति (परमात्मा) का पूर्ण ज्ञान और अनुभव तथा उस शक्तिके अन्दर जीवात्माका अपने क्षुद्र एवं अहंकारपूर्ण व्यक्तित्वको सदाके लिये पूर्णरूपसे स्वयं समर्पण कर देना ही गीताका सर्वोत्कृष्ट उपदेश है। प्रतिक्षण अपने अहंकारको अर्पण कर देनेकी चेष्टा करनेसे मनुष्य क्रमशः ऊंचा ही उठता जायगा और अन्तमें वह उस पदपर पहुंच जायगा, जहां उसका अनन्तके साथ स्वरैक्य हो जाता है और जहां वह जो कुछ भी करता धरता है उससे उसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है और वह परमात्मा-का ही कार्य होता है।

श्रीकृष्ण कौन हैं ?

[लेखक—श्रीयुत ब्रह्मानन्दजी—(श्री एफ० एच०. मोलन) लन्दन]

'श्रीमद्भगवद्गीता' की कोई भी टीका पढ़नेसे यह विदित होगा कि भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें जहां तहाँ भूतकालका प्रयोग किया गया है। यदि 'भगवद्गीता' को श्रीकृष्णका सन्देश माना जाता है तो जिसने उसे जीवनकी मरणि समझकर उसका अध्ययन किया है और जिसने उस उपदेशके द्वारा स्वात्मानुभवका सम्पादन किया है, उसे इस महान् सत्यका अवश्य अनुभव करना चाहिये कि यद्यपि श्रीकृष्णने अपने भौतिक देहको त्याग दिया, परन्तु आत्मरूपसे वे केवल थे ही नहीं, अब भी 'हैं'।

'यह कहना ठीक नहीं कि मैं, तुम और ये राजा लोग (इससे पूर्व) कभी नहीं थे और यह कहना भी ठीक नहीं कि हम सब लोग आगे चलकर नहीं रहेंगे' (गी० २।१२)

अतः श्रीकृष्ण अब भी हैं और यदि वे हैं तो क्या उन्हें पदार्थोंका वैसा ही ज्ञान है जैसा हमें उनका भान होता है? उनका कथन है—

'हे अर्जुन! जब जब धर्मकी हानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है तब तब मैं शरीर धारण करता हूं। (४।७)

यदि सांसारिक व्यापारोंका उन्हें ज्ञान न होता तो यह बात, जो ऊपर कही गयी है कभी नहीं होती, और इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि श्रीकृष्णने इससे पूर्व भी ऐसी ही स्थितिमें अवतार धारण किया था, यद्यपि उस समय वे 'श्रीकृष्ण' इस नामसे विख्यात नहीं हुए। हमें यह भी मानना पड़ेगा कि तबसे उन्होंने या तो किसी समय शरीर धारण किया है और या वे आजकल भी किसी शरीरके द्वारा कार्य कर रहे हैं या थोड़े ही दिनोंके अनन्तर वे कदाचित् फिर अवतीर्ण होनेवाले हैं, क्योंकि अनेकों सुधारकोंके प्रयत्न करने पर भी संसार लगातार अशुभ कर्मोंका फल सम्पादन करता ही आ रहा है और साथ ही साथ नये अशुभ कर्मोंको भी करता जा रहा है, जो आगामी कई वर्षोंमें आकर फलोन्मुख होंगे। वे कहते हैं-

'हे अर्जुन! तुम्हारे और मेरे कई जन्म व्यतीत हो चुके हैं, जिन सबको मैं जानता हूं, तुम नहीं जानते, (गी० ४ । ५)

यदि जो कुछ गीतामें लिखा है वह सत्य है तो यह सम्भव है कि श्रीकृष्ण इस समय भी हमारे इस मर्त्यलोकमें हों। किन्तु कल्पना कीजिये कि कोई मनुष्य जिसे स्वात्मानुभव हो गया हो, यह कहे कि 'मैं भगवान् कृष्ण हूं' तो बताइये उसकी क्या दशा होगी? किन्तु उसका यह कहना सत्य भी हो सकता है। पर बतलाइये, उसकी सचाईके लिये किन किन प्रमाणोंकी अपेक्षा होगी? परीक्षाके विषयको कौन निर्धारित करेगा? ज्ञानेश्वरकी परीक्षाके लिये कौन अपनेको योग्य बतलायेगा?

श्रीकृष्णकी हमारे प्रति यह प्रतिज्ञा है कि मैं निर्दिष्ट समयोंपर अवतार ग्रहण किया करता हूं। क्या हमारे लिये उनके इस कथनपर विश्वास करना उचित है? यदि है तो क्या वर्तमान युगको देखते हुए हम यह विश्वास कर सकते हैं कि इस समय भगवान् हमारे इस लोकमें हैं? परन्तु हम उन्हें कहां ढूंढें? वे कहते हैं, 'यद्यपि मैं जन्म-रहित हूं और मेरा नाश भी नहीं है और मैं सब जन्मधारियोंका प्रभु हूं, फिर भी मैं अपनी प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी योगमायाके द्वारा संसारमें प्रकट होता हूं॥' (गी० ४ । ६)

इस वाक्यके अनुसार भगवान् समस्त प्राणियोंके स्वामी हैं। सारे जीव उनके हैं। वेही प्रकृतिमें जीवन डालते हैं। उनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। भूतोंके स्वामी होनेके कारण सम्भव है उन्होंने दूसरे देशोंमें दूसरा ही नाम धारण करके अपने जीवोंको दर्शन दिया हो और वहांके लोगोंने भी उन्हें श्रीकृष्णके रूपमें नहीं पहचाना हो। अंगरेजोंके प्रसिद्ध कवि और नाटककार शेक्सपियरने एक जगह कहा है कि 'गुलाबका गन्ध मधुर ही होगा, चाहे हम उसे किसी नामसे पुकारें।' इसी प्रकार भगवान् चाहे किसी नामसे पुकारे जाते हों और किसी भी देशमें क्यों न हों, वे जीवोंके ईश्वर बने ही रहेंगे। भगवान् कहते हैं—'मैं अपनी ही मायाके द्वारा प्रकट होता हूं।' यानी वे जीवोंके प्रभु होकर माताके गर्भमें प्रवेश नहीं करते। वे एक उत्कृष्ट शरीरको धारण करते हैं और अपनी ही मायासे चाहे जैसी दशा स्वीकार कर लेते हैं। वे चाहें तो एक राजाका शरीर धारण कर सकते हैं, अथवा वैश्यका ग्वालेका, ब्राह्मणका या शूद्रका कैसा भी चोला ग्रहण कर सकते हैं। राजासे लेकर शूद्र तक सब उन्हींके तो जीव हैं; किन्तु उनके किसी विशिष्ट शरीरको ग्रहण करनेमें कोई निमित्त अवश्य होना चाहिये। ऐसा करनेमें वे केवल इस बातको देखते हैं कि अमुक शरीर उनके प्राकट्यके लिये उपयुक्त है या नहीं, क्योंकि श्रीकृष्ण हमारे और आप जैसे मनुष्य नहीं हैं—वे तो साक्षात् ईश्वर हैं।

हम उनका विभिन्न प्रकारसे निरूपण करते हैं। किन्तु उनका जो स्वरूप हम कल्पित करते हैं, हमारे निरूपण बहुधा उस स्वरूपके एक विशिष्ट अंशको ही व्यक्त करते हैं। 'भगवान् एक प्रदीप्त अग्नि हैं' 'भगवान् प्रेमस्वरूप हैं,' 'भगवान् सत्यरूप हैं,' 'वे एक ऐसी ज्योति हैं जो अन्धकारमें प्रकाशित होती है,' 'वे एक ऐसा तेज हैं जहां अन्धकारकी पहुँच नहीं है," इत्यादि इत्यादि। इन निरूपणोंसे व्यामोह हो जाता है और भगवत्प्राप्तिमें इनसे सहायता नहीं मिलती। भगवान् कहते हैं—

'जो पुरुष मोहरहित होकर मुझे पुरुषोत्तम जानता है वह सब कुछ जानता हुआ मेरी सर्वभावसे आराधना करता है। (गी० १५ । १६) अतः जो लोग भगवान्‌को जाननेकी इच्छा रखते हैं, उनके लिये यही उपदेश पर्याप्त है।

गीताके पन्द्रहवें अध्यायके चौथे श्लोकके अन्तमें एक वाक्य है जो पुरुषोत्तमके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये सर्वोत्तम मन्त्र है; किन्तु उसका प्रयोग केवल उन्हीं लोगोंको करना चाहिये जिन्हें एकमात्र मुक्तिकी ही महती आकांक्षा है। गीता कहती है, उसी आदि पुरुष (पुरुषोत्तम)की शरण ढूंढनी चाहिये, जिससे यह पुरातन संसार-प्रवृत्ति प्रवाहित हुई है। (१५ । ४) भगवान्‌ने कहा है, 'हे अर्जुन! अनन्य भक्तिद्वारा मेरा यह स्वरूप जाना और देखा जा सकता तथा इसके अन्दर प्रवेश भी किया जा सकता है। अर्थात् मुझसे एकता भी स्थापित की जा सकती है। (गी० ११ । ५४) 'हे अर्जुन! जो केवल मेरे ही निमित्त कर्म करता है, मुझे ही अपना लक्ष्य मानता है, मेरी ही भक्ति करता है, जिसकी सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति नहीं है और जिसका किसी भी प्राणीके साथ वैर नहीं है वह मुझे प्राप्त करता है।' (गी० ११ । ५५) 'जो मुझे सब वस्तुओंमें देखता है और सारे संसारको मुझमें देखता है, उससे न तो मैं पृथक् होता हूं और न वह मुझसे पृथक् होता है।' (गी० ६ । ३०)

इससे यह सिद्ध हुआ कि जो यथार्थमें अपना आत्माकी खोज करता है, वह भगवान्‌को उनके वास्तविक रूपमें केवल देख ही नहीं सकता किन्तु उनके अन्दर प्रवेश भी कर सकता

है अर्थात् उनसे एकता स्थापित कर सकता है, परन्तु उसके ऐसा करनेसे पहले ही भगवान् अपने शिष्यकी बाँह पकड़ लेते हैं और फिर उससे कभी विलग नहीं होते। भगवान् कहते हैं—

'प्रणाम करने या नम्रता धारण करने, प्रश्न करने और सेवा करनेसे वे ज्ञानी लोग, जिन्होंने असलियतको पहचान लिया है, तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे।' (गी० ४।३४)

अर्जुनने कहा—'……मैं आपका शिष्य हूँ। जो मेरे लिये हितकर हो, वह मुझे कृपया निश्चयपूर्वक बतलाइये' (गी० २।७)

अब जब यह निश्चय हो गया कि भगवान् ही जीवोंके स्वामी हैं तो क्या पाश्चात्य देशोंके लोगोंको गुरु नहीं मिलेंगे और इसलिये वे लोग क्या गुरुकी सेवा नहीं कर सकेंगे? जब अर्जुनने भगवान्को सच्चे मनसे यह कहकर कि 'मैं आपका शिष्य हूँ' ज्ञान प्राप्त कर लिया, जिसके लिये उसको तीव्र इच्छा थी, तो फिर भगवान् अपने भक्तोंकी टेर चाहे वे कहीं भी हों, क्यों न सुनेंगे? यदि भगवान्का अस्तित्व नहीं रहा तब तो उन्हें पुकारनेसे कोई लाभ नहीं और यदि वे विद्यमान हैं तो तुम्हारी पुकारका जवाब अवश्य दे सकते हैं और देंगे। तुम उनके हो और वे तुम्हारे प्रभु हैं। तुम किसी वर्णके हो, तुम्हारी मुखाकृति कैसी ही हो, तुम किसी देशमें और किसी स्थानमें, प्रासादमें अथवा पर्ण-कुटीमें रहते हो। तुम उनके हो इसलिये वे तुम्हारी पुकार अवश्य सुनेंगे।

परन्तु आवश्यक यह है कि तुम उनके प्रणत हो जाओ। प्रणत होनेका अर्थ यह नहीं है कि तुम अपने मस्तकको उनके पदरजसे धूसरित कर दो। इस प्रकारकी शरणागति तो केवल मनुष्योंको सुहाती है। तुम्हें चाहिये कि तुम अपने जड़ एवं मनोत्थित अहंकारको उनके चरणोंमें लुटा दो, उसे उनके अर्पण कर दो। एक बात और है, तुम्हें चाहिये कि तुम उनकी सेवा भी करो—'परिप्रश्नेन सेवया' यह ऊपर कह आये हैं। जब तुम उन लोगोंकी सेवा करते हो—जो भगवान्की ज्योतिका प्रसार करते हैं, उनके दासोंको अन्न, वस्त्र, आश्रय एवं मान देते हो (यहाँ मानका अर्थ जघन्य चाटुकारिता नहीं किन्तु वह सच्चा आदर है जो हम एक साध्वी स्त्रीके प्रति दिखलाते हैं) तब तुम भगवान्की ही सेवा करते हो।

बात यह है कि जब कोई मनुष्य पुरुषोत्तमका आश्रय लेता है, तो वह उस एक तत्त्व पर ही अपना मन लगा देता है। वही उसके जीवनका चरम लक्ष्य बन जाता है। मनुष्यको चाहिये कि वह अपनी प्रकृतिके साथ युद्ध न करे। जहाँ उसने अपने चित्तको भगवान्के हवाले किया कि उसके स्वभावमें अपने ही आप शनैः शनैः परिवर्तन होने लगेगा। भगवान्ने कहा है—

"ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुकूल ही आचरण करते हैं। प्राणिमात्र अपनी अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं। निग्रह अर्थात् हठसे कोई काम नहीं होता॥' (गी० ३।३३) निग्रहका फल प्रत्युत यह होता है कि उससे मनुष्यके अन्दर जो कुत्सित वृत्तियाँ होती हैं वे अवकाश पाकर और अधिक क्रुद्ध हो जाती हैं। इसलिये विषयोपभोगसे पराङ्मुख मनुष्यसे विषय अपना मुँह मोड़ लेते हैं, किन्तु उनमें जो रस अर्थात् राग रहता है वह दूर नहीं होता। किन्तु जिसने एक बार परमात्माको देख लिया उसकी इच्छा भी उनकी ओरसे हट जाती है।' (गी० २।५९)

अतः आप हठसे निग्रह न करें, क्योंकि उसके लिये आपमें सामर्थ्य नहीं है। भगवान् ही, जिनकी आप इस समय उपासना कर रहे हैं, आपका बेड़ा पार लगा देंगे।

अब दूसरा प्रश्न यह होता है कि क्या भगवान् (श्रीकृष्ण) अब भी विद्यमान हैं? इस प्रश्नका उत्तर वही दे सकता है जिसे निजीसे अनुभव हुआ हो या जिसने श्रीकृष्णके प्रति गुरुभावसे जिज्ञासा की हो और जिसको उनसे अपने प्रश्नका उत्तर मिल चुका हो। यदि आप 'ब्रह्मानन्द' की बातपर विश्वास करते हैं तो उसका तो इतना ही कहना है कि—भगवान् अब भी विद्यमान हैं।

सारी आत्माएं एक हैं और यदि सच्चे मनसे तथा निष्कपट भावसे श्रीकृष्णसे प्रार्थना की जाय तो वे आपको यह भेद बतला देंगे। आप उन्हें वैसे ही प्यारे हैं जैसा और कोई भक्त हो सकता है। प्राचीन कालके पुतात्मा मत-प्रवर्तक ठीक हमारे ही जैसे मनुष्य थे। वे न तो हमसे अच्छे थे और न बुरे। हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि हम अधम नारकी कीड़े हैं। नहीं! हम परमात्माके ही स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण आपके सामने अपना रहस्य खोलकर रख देंगे और ऐसा होनेपर आप उन्हींके सन्देशको संसारके सामने रक्खेंगे। वे अपनी दैवी मायाके द्वारा आपके मुखसे अपना सन्देश सुनावेंगे। यही नहीं, वे आपके स्वरूपमें मिल जायंगे—आप और वे एक हो जायंगे!

गो० ठाकुर भक्ति-विनोदजी।

गो० भक्ति-सिद्धान्तजी।

श्रीगीतानन्द ब्रह्मचारी।
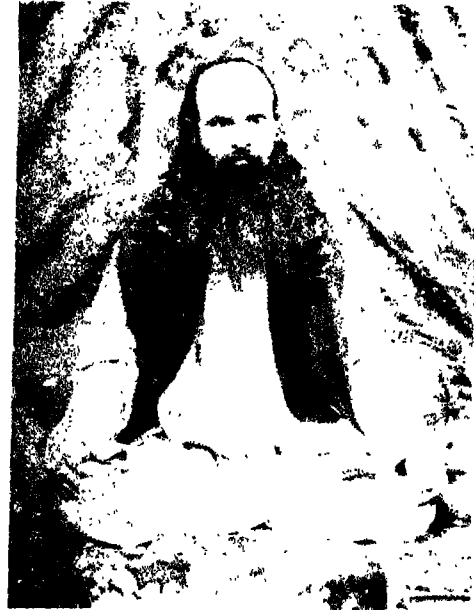
ब्रह्मचारी नर्मदानन्दजी।

स्वामी सहजानन्दजी सरस्वती ।

पं० बाबूरामजी शुक्ल, फर्रुखाबाद ।

पं० विष्णु शास्त्री बापट, पूना ।

श्री स्वामी भगवानजी ।

गीता और उपनिषद्

(ले०—आचार्यभक्त पं० श्रीविष्णुशास्त्रीजी बापट)

सुप्रसिद्ध महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्णजी-द्वारा उपदिष्ट गीता उपनिषद्-स्वरूप है। 'उपनिषद्' शब्दका सामान्य अर्थ है 'रहस्य'। तथापि चारों वेदोंके अन्तिम आरण्यकाण्डमें जो ब्रह्मविद्या है वह 'उपनिषद्' नामसे प्रसिद्ध है। भगवान् पाणिनि महर्षिकृत धातुपाठमें 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' ऐसा 'सद्' धातु-पाठ है; उसमें 'उप' और 'नि' ये उपसर्ग जोड़कर 'क्विप्' प्रत्यय लगानेसे 'उपनिषद्' शब्द सिद्ध होता है। यह स्त्रीलिंग है, अर्थात् उप+नि+सद्+क्विप् (०) ऐसे इसके चार अवयव हैं। उप=समीप, नि=निश्चयसे+और सद्=विशरण—हिंसन—विनाशकरना—गमनकरना—पहुँचाना—शिथिल करना। इस अर्थयोगसे जो मुमुक्षु ब्रह्मविद्याके समीप जाकर निश्चयपूर्वक तन्निष्ठ हो उस विद्याका परिशीलन करते हैं, उनके अविद्यादि संसार-बीजोंका नाश करनेवाली विद्याका नाम 'उपनिषद्' है। अथवा यह मुमुक्षुओंको परब्रह्मके पास पहुँचाती है, इसलिये इसका नाम 'उपनिषद्' है; किंवा संसार-बन्धनको शिथिल करनेवाली विद्याका नाम 'उपनिषद्' है। सारांश, वेदान्तोक्त 'उपनिषद्' शब्दका मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है।

श्रीमद्भगवद्गीता भी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्या है। यह 'रहस्यं ह्येतदुत्तमं' (गी० ४।३), 'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रं' (गी० ९।२), 'ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमं' (गी० १४।१), इत्यादि भगवद्वचनोंसे और 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' इत्यादि अध्यायार्थसूचक शब्दोंसे सिद्ध होता है।

गीता पौरुषेय और वेदोक्त ग्रन्थ है, परन्तु उपनिषद् अपौरुषेय हैं। गीताशास्त्र भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेशरूपसे सुनाया और भगवान् व्यासजीने उसी गीताख्य उपदेशकी सात सौ श्लोकोंमें रचना की। परन्तु वेदोंका ऐसा कोई स्मृति-पुरुष कर्ता नहीं है। ऐतरेय-तैत्तिरीय इत्यादि नाम उस उस शाखा-सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषियोंके नामसे प्रचलित हैं। जो मन्त्र या सूत्र जिस ऋषिद्वारा पठित है वह उसका द्रष्टा है, कर्ता नहीं। अतएव प्रत्येक वेदान्तर्गत उपनिषद् अपौरुषेय और मूल प्रमाण है, परन्तु भगवद्गीता पौरुषेय होनेसे स्मृति है। जो स्मृति मूलश्रुति-प्रमाणके आधारसे लिखी हुई होती है वह प्रमाण और जो श्रुत्यनुसार न होकर श्रुति-विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करती है, वह अप्रमाण है। पूर्वमीमांसाके 'श्रुतिप्राबल्याधिकरण' में 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति हि अनुमानम्' (पू० मी० १।३।३) सूत्रमें ऐसा स्पष्ट कहा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रीमद्भगवद्गीता भी मूल-श्रुतिके अनुसार हो, तभी प्रामाणिक और श्रुत्यानुसारिणी है। श्रीगीतास्मृति मूल उपनिषद्रूप प्रमाणका सर्वथा अनुसरण करती है। उपनिषदोंके विरुद्ध अर्थका जरा भी प्रतिपादन नहीं करती! इस लेखके द्वारा संक्षेपमें गीताजीका यही वेदानुसरण सिद्ध करनेका विचार है।

भगवान् व्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकी, जाबाल और नारायण इन चौदह उपनिषदोंपर विचार किया है। उनमेंसे ईश, माण्डूक्य, श्वेताश्वतर, और नारायण ये चार उपनिषद् केवल मन्त्ररूप और ऐतरेय गाथारूप हैं। ये संवादात्मक नहीं हैं। केन प्रश्नोत्तररूप है, परन्तु उसमें विशेष वक्ताका नाम निर्दिष्ट नहीं है। कठमें यम और नचिकेता; प्रश्नमें पिप्पलाद मुनि और कबन्धी प्रभृति छः शिष्य; मुण्डकमें आंगिरस और शौनक; तैत्तिरीयमें भृगु और वरुण; छान्दोग्यमें प्रवाहण, जाबालि और श्वेतकेतु तथा उसके पिता उद्दालक, कैकेयराज अश्वपति और प्राचीनशालादि छः ऋषि, उद्दालक और श्वेतकेतु, सनत्कुमार और नारद, प्रजापति और इन्द्र-विरोचन; बृहदारण्यकमें अजातशत्रु और दृप्तबालाकिगार्ग्य; याज्ञवल्क्य और अश्वलादि ब्राह्मण, जनक, याज्ञवल्क्य; कौषीतकीमें चित्रगार्ग्यायणि और श्वेतकेतु गौतम, इन्द्र-प्रतर्दन; जाबालमें याज्ञवल्क्य और बृहस्पति प्रभृति ऋषियोंके अध्यात्मसम्बन्धी भिन्न भिन्न विषयोंपर उत्तमोत्तम संवाद और चर्चाएं हैं।

इसी प्रकार गीतामें भी श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है।

उपर्युक्त सब उपनिषदोंमें प्रायः शोक-मोहरूप संसारके बीजभूत दोषको हटानेकी इच्छासे विरक्त मुमुक्षु पुरुष तत्त्ववेत्ता गुरुकी शरण जाकर उनसे शोक-मोहकी निवृत्तिके

उपाय पूछता है और अधिकारी शिष्यको पाकर कारुणिक गुरु भी आत्मज्ञानोपदेशसे उसे कृतार्थ करते हैं। स्वरूपके अज्ञानसे आत्मा संसारी जीव बनकर सुखी दुखी होता है, यानी आत्मस्वरूपका अज्ञान ही सुख-दुःखरूप संसारका कारण है। यह अज्ञान आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी भी उपायसे निवृत्त नहीं होता, इसलिये योग्य शिष्यको कृतार्थ गुरु संसार-निवृत्तिके लिये आत्मज्ञानका ही उपदेश करता है।

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मु० १। २। १२, १३) शौनकोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।' (मु० १। ३) 'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार।' (तै० भृ० १) 'अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः' (छा० ७। १) इत्यादि अनेक उपनिषदोंमें मुमुक्षु पुरुष तत्त्ववेत्ता ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके निकट यथाविधि उपस्थित होकर ब्रह्मविद्या सम्पादन करता है। विस्तारभयसे यहां दो ही तीन उदाहरण दिये जाते हैं। परन्तु उपनिषदोंमें ऐसे अनेक प्रसंग हैं।

श्रीगीतामें भी वीरवर अर्जुन शोकमोहसे व्याकुल होकर भगवान् कृष्णके शरण जानेका सुन्दर वर्णन 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां······शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' (गी०२।७) आदि शब्दोंमें किया गया है।

ब्रह्मविद्या अविद्या-निवृत्तिपूर्वक संसार-कारण-भूत शोक-मोहको निवृत्त करती है। इसके लिये उपनिषदोंके 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'(ई० ७) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविद्।' (छा० ७। ३)। 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि।' (बृ० ४। २। ४) इत्यादि अनेक वचन प्रमाण हैं। इन्हींके अनुसार गीतामें भी अर्जुनने 'न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्०।' 'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च०' 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता०' 'पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः' 'यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम' 'धर्मसंमूढचेताः' 'नष्टो मोहः' इत्यादि वचनोंसे अपने दुर्निवार्य शोक और मोहका वर्णन किया है।

कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्‌में जब इन्द्रने प्रतर्दनको वर माँगनेके लिये कहा तब वह बोला, 'त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' (कौ० ३। १) जो मनुष्यके लिये अत्यन्त हितकर हो वही वर आप मुझे दीजिये। गीतामें भी अर्जुनने 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि' और 'त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते' और भगवान्‌ने 'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्' इत्यादि वचन कहे हैं।

मोह—अविवेक, शोक—मनःसन्ताप ये बड़े भारी दोष हैं। जन्म-मरण, सुख-दुःख प्राप्तिरूप संसारके बीज हैं। इनका कारण अहंकार और ममता है। इस अहं-ममाभिमानका हेतु अनादि अनिर्वाच्य भावरूप अज्ञान है। गीतामें "दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण" से लेकर "न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह" तक अर्जुनके शोक-मोहका ही सविस्तर वर्णन है। शोक-मोहकी निवृत्ति आत्मज्ञानके बिना अन्य किसी भी उपायसे नहीं होती। आत्मज्ञान ही संसार-बीज-भूत अविद्याका एकमात्र निवर्तक है, यही जानकर भगवान् श्रीकृष्णजीने पृथापुत्र अर्जुनको 'अशोच्यान्' (गी० २। ११) से लेकर 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' (गी० १८। ६६) तक अविद्या-निवर्तक आत्मज्ञान और आत्मज्ञानके लिये यथाधिकार कर्म, उपासनादि साधनोंका उपदेश किया है। द्वैपायन व्यासजीने भगवान् श्रीकृष्णके उसी उपदेशकी सप्तशत श्लोकात्मक रचना की। उपनिषदोंमें भी उपायभूत उपासना और उपेयभूत आत्मज्ञानका उपदेश किया है। छान्दोग्यमें कर्माङ्गावबद्ध उपासना, प्रतीकोपासना, अहंग्रहोपासना, शाण्डिल्योपासना, संवर्गोपासना, पञ्चाग्निविद्या इत्यादि अनेक उपासनाएं कही हैं। बृहदारण्यक आदि अन्यान्य उपनिषदोंमें भी न्यूनाधिकरूपसे उपासनाका वर्णन है। इसी प्रकार श्रीगीतामें भी ईश्वरार्पण-बुद्धिसे निष्काम कर्मयोग, कर्मानुष्ठान, भक्ति, ध्यान, अक्षर-ब्रह्मोपासना 'ओं' इति एकाक्षरोपासना इत्यादि सगुण-निर्गुण उपासनाका विधान है। मरणान्तर जीवके लिये जैसे छान्दोग्यादि उपनिषदोंमें अर्चिरादि मार्ग, धूमादि मार्ग और 'जायस्व म्रियस्व इत्येतत्तृतीयं स्थानं' इस प्रकार तीन मार्गोंका वर्णन है। वैसे ही गीतामें भी 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः' श्लोकमें अर्चिरादि मार्ग, 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः' में धूमादि मार्ग और 'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि' तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' 'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्' (गी० १६। २०) इत्यादि वचनोंसे उपनिषदुक्त तृतीय गति बतलायी है।

उपनिषदोंमें वेदोक्त यज्ञ-दान-तपरूप कर्मोंका विविदिषोत्पादकत्व कहा है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति॥ (बृ० ४। ४-२२)

इसी औपनिषद् पुरुषको जाननेकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तपादिरूप निष्काम साधनों-

से स्वात्माको जाननेकी इच्छा करते हैं। आत्मजिज्ञासा होनेपर श्रवणादि उपायोंसे आत्माको जानकर मुनि-संन्यासी-त्यागी होते हैं। इसी आत्मलोककी इच्छा करनेवाले त्यागी पुरुष संन्यास लेते हैं।

गीतामें भी कहा है, 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' 'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।' 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।' 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।' 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि यज्ञ-दान-तपरूप निष्कामकर्म चित्तकी शुद्धि करनेवाले हैं। चित्त-शुद्धिसे आत्मजिज्ञासा होती है। गीताने चित्तशुद्धिके अनन्तर आत्म-जिज्ञासा होनेपर संन्यासपूर्वक ज्ञानयोगका उपदेश किया है। 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥' 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं०' (५।१३) चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः (१८।५७) इत्यादि वचनोंद्वारा आत्मानात्म-विवेक ज्ञानमें संन्यासकी सहकारिता सिद्ध की गयी है।

उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा है कि केवल ज्ञानसे ही अज्ञान-निवृत्तिपूर्वक नित्य-मोक्षकी प्राप्ति होती है 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (ना० उ०) 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' (श्वे० ३।८) 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' (मु० ३।२।९) 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।' (श्वे० ६।२०) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वे० २।१५) ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति।' (श्वे० ४।१४) निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। (का०) इत्यादि शतशः उपनिषद्-वचन एकमात्र आत्मज्ञानको मोक्षका साक्षात् साधन घोषित कर रहे हैं। इसीके अनुसार गीतामें भी 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। 'तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥' 'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।' 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥' 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥' 'ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।' 'समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।' ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।' ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।' इत्यादि वचनोंमें ज्ञानसे ही मोक्ष बतलाया है।

सांख्य, योग, नैयायिक, बौद्ध इत्यादि समस्त दर्शनकार और द्वैतवादीगण भी ज्ञानको ही मोक्षका साधन मानते हैं। कोई भी मोक्षवादी कर्मको मोक्षका साक्षात् साधन नहीं मानता। यद्यपि मीमांसक अग्निहोत्रादि कर्मोंको स्वर्गादि फलोंके साधन और स्वर्गको नित्य मानते हैं तथापि वे कर्मसे अपुनरावृत्तिरूप मोक्षकी प्राप्तिका प्रतिपादन नहीं करते। न्याययुक्त श्रुति-वचनोंद्वारा कर्मसे उत्पन्न फलका अनित्यत्व सिद्ध है। 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छा० ८।१।) इस लोकमें कर्मसे सम्पादन किया हुआ फल जैसे क्षीण होता है, वैसे ही परलोकका कर्मफल भी भोगसे क्षीण होता है। सारांश कि, कर्मजन्य फल विनाशी है। 'यज्जायते तन्नश्यति' यह न्याय सुप्रसिद्ध है और मोक्ष नित्य है, इसलिये कर्म उसका साधन नहीं हो सकता।

गीतामें भी 'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।' 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।' यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।' इस प्रकार मोक्षका निरतिशय नित्यत्व कहनेवाले अनेक वचन हैं। उपनिषदोंमें इस अर्थके द्योतक 'न च पुनरावर्तते।' (छा०) और अनावृत्तिः शब्दात् (ब्र० सू० ४।४।२२) इत्यादि अनेक वचन हैं।

उपनिषदोंमें 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति॥' (मु० १।२।७) 'जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।' (मु०।१।२।८) इत्यादिसे सकाम कर्म करनेवालोंकी जैसी निन्दा उपलब्ध होती है, वैसे ही गीतामें भी 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति' आदि वाक्योंमें मिलती हैं।

उपनिषदोंमें 'नाकस्य पृष्ठे ते, सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति (मु० १।२।१०) इत्यादि वचनोंमें जिस प्रकार स्वर्गसे पुनरावृत्ति कही है, इसीप्रकार गीतामें 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,''''''ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' आदिमें कही है।

मुण्डकोपनिषद्में जैसे 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे (२।२।८) परमात्मज्ञानसे चिज्जडाध्यासरूप हृदय-ग्रन्थिका भेदन, सर्व संशयोंकी निवृत्ति और प्रारब्धभिन्न सर्व संचित-आगामी कर्मोंका क्षय कहा है, वैसा ही कथन ''यथैधांसि समिद्धोऽग्निः

...... ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'' (४ । ३७) गीताके इस श्लोकसे सिद्ध होता है।

उपनिषदोंमें 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' (छा० ८ । ४ । २) 'नैनं कृताकृते (पुण्यपापे) तपतः । (बृ० ४ । ४ । २२) तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन''''''नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति । (बृ० ४ । ४ । २३) इत्यादि वचनोंसे आत्मज्ञानका फल सर्व पापनिवृत्ति कहा है। वैसे ही श्रीगीतामें 'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि' (४ । ३६)भी आत्मज्ञानका माहात्म्य कथन किया है। मुण्डक, प्रश्न, कठ, तैत्तिरीय, छान्दोग्य इत्यादि अनेक उपनिषदोंमें जिस प्रकार प्रणवोपासना विहित है उसी प्रकार 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्।' (गी० ८ । १३) इत्यादि गीता-वचनोंमें भी है।

ज्ञानफलमें सर्वकर्मफलका अन्तर्भाव होना 'सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद । (छा०४।१।४) इत्यादि उपनिषद्वचनोंसे जैसे सिद्ध है, वैसे ही गीताके 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।(२ । ४६) सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।' (४ । ३३) वेदेषु यज्ञेषु.........अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा । (८ । २८) इन वचनोंसे भी सिद्ध होता है।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
(गी० २ । ५५)

आदि स्थितप्रज्ञके लक्षण—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। (कठ २ । ६ । १४) आदि जीवन्मुक्तबोधक उपनिषद्वचनोंका ही रूपान्तर है।

न जायते म्रियते वा कदाचित् । (२ । २०) उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते । (२ । १९) आश्चर्यवत् पश्यति । (२ । २९) यदक्षरं वेदविदो वदन्ति । (८ । ११) सर्वतःपाणिपादं तत् । (१३ । १३) सर्वेन्द्रियगुणाभासं । (१३ । १४) दूरस्थं चान्तिके च तत् । (१३ । १५)ऊर्ध्वमूलमधःशाखम् । (१५ । १) आत्मतृप्त, आत्मरति, आत्मनि, आत्मानं पश्यति इत्यादि अनेक गीता-वचन तो साक्षात् उपनिषदोंसे ही उद्धृत किये गये हैं।

पाठक महोदय ! उपर्युक्त विवेचनासे आपको निश्चय हो गया होगा कि गीता स्मृत्युपनिषद् है और उपनिषद् होनेके कारण ही वह मोक्षके साधन केवल ज्ञानका ही वर्णन करती है। निष्कामकर्म, भक्ति, संन्यास, ध्यानयोग ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सभी ज्ञानके साधन हैं और निष्कामकर्मादि साधनोंका यथाधिकार विभाग हो सकता है। उपनिषद् होनेके कारण ही गीता आरण्यकाण्डमें पठित उपनिषदोंके सदृश निवृत्ति-प्रधान है। गीतामें जो प्रवृत्ति विहित है, वह भी निवृत्तिका ही अंग है। गीतामें जो निष्काम कर्मयोग बतलाया है सो प्रवृत्त-कर्म नहीं, परन्तु निवृत्त-कर्म ही है। कारण मनुस्मृतिमें कहा है:-

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ (१२।८९)

ऐहिक या पारलौकिक फलके लिये किये जानेवाले अग्निहोत्रादि काम्य कर्म प्रवृत्त-कर्म हैं और ब्रह्माभ्यासपूर्वक किये जानेवाले निष्काम कर्म निवृत्त-कर्म हैं। कारण, सकाम कर्म संसार-प्रवृत्त करते हैं और निष्काम कर्म संसार-निवृत्त करते हैं।

अतएव आत्मानात्म विवेकपूर्वक श्रद्धा-भक्तियुक्त चित्तसे गीताजीमें निष्काम कर्म करनेका जो उपदेश है, वह निवृत्त-कर्म ही है। उसका फल चित्त-शुद्धि है। शुद्धचित्त पुरुषको ही ज्ञानाधिकार प्राप्त होता है। शोक-मोहाभिभूत अर्जुनको भगवान्‌ने निष्काम कर्मयोग, ध्यान, कर्मफल-त्यागरूप गौण संन्यास, भक्ति इत्यादि जो साधन बतलाये हैं वे सब चित्तशुद्धिके लिये हैं। समस्त गीताशास्त्रके पूर्वापरका यथाशास्त्र विचार करनेसे यह सिद्धान्त निस्सन्देह विदित हो जाता है। शास्त्रज्ञ विद्वानोंसे यह बात छिपी नहीं है। परन्तु सब लोग शास्त्र-दृष्टिवाले नहीं हो सकते, वे केवल अभिमान और पूर्वाग्रहसे दूषित होकर गीताशास्त्रका विचार करते और उसका मनमाने अर्थ लगाते हैं। गीता उपनिषद् है। उसका अर्थ उपनिषदोंके अनुसार ही करना चाहिये, इस मुख्य बीजको वे भूल जाते हैं। इसीलिये गीता और उपनिषदोंका कितना तादात्म्य है, यह सूचित करनेके लिये मैंने संक्षेपसे इस लेखमें कुछ प्रयत्न किया है। इस विषयमें और भी बहुत कुछ लिखा जाना चाहिये, पर विस्तारभयसे यहाँ केवल इसका दिग्दर्शनमात्र कराकर ही मैं लेख समाप्त करता हूँ।

यद्रोचते तद्ग्राह्यं यन्न रोचते तत्त्याज्यम् ।

स्वामी विवेकानन्द ।

बहिन निवेदिता ।

स्वामी शारदानन्द ।

स्वामी स्वरूपानन्द ।

पं० श्यामाचरण लाहिड़ी।

श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल।

पं० रामदयाल मजुमदार एम० ए०

श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त एम०, ए०, बी०, एल०, कलकत्ता।

गीताका इतना प्रचार क्यों हुआ ?

(लेखक-श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्याल)

गीताका विशेषत्व

यह एक मुख्य प्रश्न है। इस सम्बन्धमें मेरी जो कुछ धारणा है उसे गीता-सम्बन्धी आलोचना करते हुए संक्षेपमें प्रकट करता हूं। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यह रसास्वादमय गीता-दुग्ध उपनिषद्रूप गौ-समूहोंके दुग्धाधार (स्तनों) से दोहन किया गया है और उसके दुहनेवाले स्वयं 'गोपालनन्दन श्रीकृष्ण' हैं। गीता समस्त शास्त्रोंका सार है, इससे यह श्रद्धालु और आस्तिकबुद्धि-सम्पन्न पुरुषोंके लिये सर्वथा आदरणीय और ग्रहणीय है, इसमें विषयोंकी अवतारणा अत्यन्त गम्भीर और बड़े ही ऊंचे ढङ्गकी है। शास्त्रके गम्भीरतम मर्मस्थलको स्पर्शकर उसके अन्तरतम तत्त्वको सुस्पष्ट भाषामें प्रकट किया गया है, इसीसे इसने साधक और प्रवीण ज्ञानियोंकी उच्चतम श्रद्धाको अपनी ओर खींच लिया है। यदि इसमें सुन्दरसे सुन्दर तीक्ष्ण युक्तियों द्वारा शास्त्रका यथार्थ रहस्य खोलनेकी शक्ति न दीखती, तो केवल भगवत्-वाक्यके नाम पर सम्भवतः अधिकांश लोगोंका इतना आकर्षण नहीं किया जा सकता। इसके दार्शनिक विश्लेषण ऐसे युक्तियुक्त हैं कि जिससे आस्तिक-नास्तिक दोनों प्रकारके मनीषियोंकी श्रद्धा इसकी ओर खिंच गयी है। इसमें आलोच्य विषय हैं—योग, ज्ञान, कर्म और भक्ति। सभी वेद-विज्ञानसम्मत और अखण्ड युक्तियोंके आधार पर सुप्रतिष्ठित हैं। गीतामें साम्प्रदायिकताको स्थान नहीं है, साथ ही इसमें एक-देशदर्शिताका भी पूर्णरूपसे अभाव ही दिखायी देता है। जिस समय देशाचार धर्मानुष्ठान और उनके अनुकूल-प्रतिकूल मत क्रमशः विद्रोही होने लगे थे, ठीक उसी समय गीताने प्रकट होकर जगत्की बहुतसी जटिल समस्याओंकी मीमांसा कर दी। प्राचीन और नवीन तन्त्रोंके मतोंकी भलीभांति आलोचना कर गीताने यह निर्भ्रान्तरूपसे बतला दिया कि उनमें कौनसा कहाँ तक ग्राह्य और त्याज्य है। सनातन वेद-शास्त्रोंके प्रति अनास्था न हो और उनके अन्तरतम भावोंके प्रति लोगोंका लक्ष्य च्युत न हो, उनके प्रति लोगोंकी अटूट श्रद्धा बनी रहे, इसके लिये भगवान्‌ने अपने वक्तव्यका वेद-वाणीसे समर्थन किया। जिन साधन-तत्त्वोंकी इससे पहले, उन्हें कठोर श्रमसाध्य समझकर उपेक्षा की जाती थी, और 'वह सबको मिलनेकी वस्तु नहीं है' ऐसा समझकर प्रवीण साधकमण्डलीने एक प्रकारसे हताशाके कठोर तप्त श्वाससे मनुष्यके चित्तक्षेत्रको उत्तप्त और विषाद-युक्त बना दिया था, गीताने प्राचीन तन्त्रकी उस अन्ध और विषादमयी चिन्ताको चूर्णकर साधनाकी निर्जन अरण्यस्थलीको पारिजात-गन्ध-मोदित नन्दन-काननकी अपूर्व सुरभिसे पूर्ण कर उत्सुक जनसमुदायको अध्यात्म-चिन्तनका एक नवीन मार्ग दिखला दिया तथा भीत, विषाद-ग्रस्त और हताश जीवनको आशाका आलोक दिखलाकर उसके प्राणोंमें पुनः नवीन बल और उत्साहका सञ्चार कर दिया। हम उस सर्व-जन-वन्दित गीताको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं और प्राचीन कवियोंके सुरमें सुर मिलाकर फिरसे कहते हैं—

> गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
> या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

यही गीताका विशेषत्व है।

वृन्दावनके कोकिल-काकलि-मुखरित, घन-वृक्ष-छाया-मण्डित, मधुर-निर्झर-गुञ्जित निकुञ्ज काननमें एक दिन जिस मुरलीकी ध्वनिने बजकर गृह-कर्म-संलग्न गोप-ललनाओंका मन हरणकर उन्हें सदाके लिये श्रीकृष्णाभिसारिणी बना दिया था, वही सुमधुर वंशी बजानेवाला ही पार्थ-सारथिके वेशमें इस गीतार्थ संगीत-तत्त्वका गायक और उपदेष्टा है। कुरुक्षेत्रके भीषण समरांगणमें अर्जुन और श्रीकृष्णका अत्यद्भुत कथोपकथन ही गीताशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध है। यही श्रीकृष्ण-द्वैपायन-प्रणीत सर्व-जन-प्रशंसित महाकाव्य महाभारतके अन्तर्गत भीष्मपर्वका एक अंश है।

गीतामें क्या है? अर्जुनने श्रीकृष्णसे क्या पूछा, श्रीकृष्णने उन्हें क्या समझाया और उसे अर्जुन समझ सके या नहीं? यह जाननेके लिये सभीको उत्सुकता होना सम्भव है। हम संक्षेपमें इसी विषयपर आलोचना करते हैं। अर्जुनने गीता सुनकर क्या समझा, इसकी आलोचना करनेके बाद दूसरी बातोंपर विचार किया जायगा। भगवान् अर्जुनको पूछे बिना पूछे नाना प्रश्नोंका उत्तर देकर, युक्ति-

पूर्व अनेक ज्ञानगर्भ उपदेश देकर और साधनप्रणाली बतलाकर अन्तमें पूछा–'क्यों भाई ! तुम्हारा अज्ञान नष्ट हुआ तो ? 'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय'–इसीसे गीताकी उत्पत्तिका कारण समझमें आ जाता है। अर्जुनके अज्ञान-सम्मोहका नाश करना ही इस गीताशास्त्रका मूल तत्त्व है। अर्जुनके उत्तरसे भी इसीका समर्थन होता है–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे आत्मस्मृति प्राप्त हो गयी, धर्माधर्मविषयक सन्देह जाता रहा, मैं आत्मस्वरूपके वरणीय भावमें स्थित हो गया। अब आपकी आज्ञाका पालन करूंगा।

श्रीकृष्णका परम भक्त होकर भी अर्जुन इससे पहले उनकी आज्ञा-पालनके लिये तैयार नहीं हुआ। आत्मामें निश्चय हुए बिना किसी भी विषयको कोई मान नहीं सकता। अपने उपदेष्टाके प्रति हमारी श्रद्धा यथेष्ट होनेपर भी उनकी बातें हम पूरी नहीं मान सकते। इसीसे अर्जुनको समझानेके लिये भगवान्को अनेक युक्तियोंकी कल्पना करनी पड़ी, जब भगवान्की तीक्ष्णधार युक्तिपूर्ण बातोंसे अर्जुनकी स्वाभाविक सुतीक्ष्ण बुद्धिने हार मान ली, अर्जुन जब उनकी यथार्थ धारणा कर सके, तब अर्जुनका स्वाभाविक प्रेम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति और भी सौगुना बढ़ गया। इसीसे गीता-श्रवणके अन्तमें अर्जुनका यह कथन सुनायी देता है:– "करिष्ये वचनं तव।"

गीताके कर्मका रहस्य

इसीलिये किसी किसीने गीतामें केवल कर्म-विमुखचित्तमें कर्मके लिये उत्तेजना उत्पन्न करनेवाले अपूर्व मन्त्रको ही खोज पाया, परन्तु कर्मके लिये उत्साह प्रदान करना ही गीताका एकमात्र लक्ष्य है, ऐसा कहनेसे सम्भवतः गीताके लिये उचित बात नहीं कही जाती। अवश्य ही इसमें कर्मका प्रसंग है, और प्रसंग-क्रमसे कर्म-रहस्यकी मीमांसा भी करनी पड़ी है परन्तु गीतामें भगवान्ने अर्जुनको जिन विषयोंका उपदेश दिया है, कर्म उनका एक अंशमात्र है। फिर गीता क्या है ? गीता है '<u>भव-व्याधिकी अज्ञान-नाशक महामहौषध</u>।' अज्ञानजनित ताप इस संसारको सतत तप्त कर रहा है–वह तप्त-हृदय कैसे शीतल हो ? गीताका प्रत्येक अध्याय इसी प्रश्नके समाधानकारक तत्त्वोंसे पूर्ण है। इन तत्त्वोंको समझानेके लिये सबसे पहले भगवान्ने आत्माका अविनाशी, सदा एकरस, पाप-पुण्य-शून्य और निर्विकाररूप बतलाया 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' आदि। वास्तविक आत्मज्ञानकी उत्पत्ति हुए बिना जीवके क्लेश शान्त नहीं होते, परन्तु जबतक चित्त वासनाद्वारा विक्षुब्ध रहता है, तबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। कुशलतासे कर्मफलमें आसक्ति त्यागकर कर्म करनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता। इस प्रकार जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर साधक सर्वोपद्रवरहित होकर मोक्ष प्राप्त करता है। 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।' भगवान्ने इस मोक्षपदप्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण बतलाते हुए इशारेसे समाधि-साधन आदि अनेक बातें ही अर्जुनको समझा दीं।

जीवकी भोगवासनाके कारण ही इस विशाल विश्वकी स्थिति होती है। मनमें यह भोगवासना संस्काररूपसे रह जाती है और जबतक वह संस्कार रहता है तबतक जन्म-मरणरूप गमनागमनका विराम नहीं होता। इसीलिये ब्रह्माभ्यासकी आवश्यकता है, इस ब्रह्माभ्यासके बलसे क्रोध, भय, अनुराग आदि जीवभाव नष्ट हो जाते हैं। परन्तु इसके लिये अप्रमत्त होकर निरन्तर इन्द्रिय-दमनके लिये सचेष्ट रहना होगा। इन्द्रिय-दमनके लिये तीन विषयोंपर लक्ष्य रखना आवश्यक है। (१) विचारद्वारा विषयोंको हेय समझकर उनके प्रति अनिच्छा, (२) चित्तको एकाग्रताद्वारा निरुद्ध भूमिमें ले जाना और (३) 'मत्परायणता' अर्थात् मुझसे प्रेम करना, मेरे (भगवान्के) लिये ही सब कुछ करना। भगवान्का यही उपदेश है 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।' जीवनके चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको क्या क्या करना चाहिये सो सब भगवान्ने अति स्पष्ट भाषामें समझा दिया। इन सब परमतत्त्वकी बातोंको सुननेपर अर्जुनके मनमें इच्छा हुई कि 'यदि आत्मसाक्षात्कार ही जीवनका शेष लक्ष्य है तब फिर संसारयात्राके लिये इन सब घोर कर्मोंके करनेसे क्या लाभ है ? इसपर भगवान्ने कहा –'अर्जुन ! ज्ञान-समाधि आदि सर्वोत्तम है, बहुत ऊंचे विषय हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु तुम्हारा उस ज्ञानमें अधिकार कहां है ? ज्ञानकी प्राप्तिके लिये जिस वैराग्यकी आवश्यकता है, वह वैराग्य तो तुममें नहीं है। वैराग्य देखादेखी नहीं होता–स्वांग धरनेसे नहीं होता। यदि बिना ही अधिकार ज्ञानी बनना चाहोगे तो नैष्कर्म्य-अवस्था प्राप्त नहीं होगी। केवल 'अकर्म' में ही आसक्ति बढ़ेगी। आजकल संसारमें वैराग्यका 'स्वांग' बहुत बढ़ गया है। 'मैंने भगवान्के लिये संसार छोड़ दिया है,' कहनेवालोंने संसारको छोड़ा कहाँ

है ? फिर इस संसार-सागरसे पार होनेका उपाय क्या है ? कर्मसे तो बन्धन कटता नहीं, उलटा होता है।' जीवके मनमें यह एक घोर सन्देह है। इसी स्थलपर भगवान् एक अद्भुत उपाय बतलाते हैं,—'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, कर्म-संन्यासमें नहीं। कर्म और संन्यास परस्पर विरोधी हैं परन्तु यही कर्म किस प्रकारसे नैष्कर्म्य-भावको ला सकता है सो ध्यानपूर्वक सुनो 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।' अवश्य ही नैष्कर्म्य या संन्यास जीवनका शेष लक्ष्य है और उसीको प्राप्त करना है, परन्तु कांटेसे कांटा निकालनेकी भांति पहले कर्मसे चित्त-शुद्धि करो। यह न समझो कि कर्म चित्तशुद्धि नहीं कर सकते। आसक्तिरहित हो परमेश्वरके अर्पण करके कर्म करनेसे कर्ता पुण्य-पापसे लिप्त नहीं होता।

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

सब कुछ उन्हींके लिये करना होगा, किसी भी कर्मके करते समय सर्वप्रथम उनका स्मरण हो जाना चाहिये। जैसे विश्वासी सेवक स्वामीके लिये कर्म करता है, उसी प्रकार कर्म करनेसे चित्तशुद्धि होती है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

यहां फिर योगकी बात आ गयी, 'मुझे योगी होना पड़ेगा, योगी होकर कर्म करना होगा।' क्यों ? योगी होनेके लिये शरीर और बुद्धिद्वारा कर्मको अभिनिवेशसे रहितकर इन्द्रियद्वारा फल त्यागकर कर्म करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है। चित्त-शुद्ध हुए बिना न तो ज्ञान ही उत्पन्न होता है और न भगवत्-प्राप्ति ही होती है। गीतोक्त कर्मका लक्ष्य किस ओर है, भगवान्ने यहांपर उसीका संकेत किया। इसीलिये अर्जुनको यह भी बता दिया कि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

यह इन्द्रियोंके सभी सुखभोग दुःखोंके कारण हैं, इसलिये विवेकी पुरुष इनमें आसक्त नहीं होते। इस कथनसे यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य-जीवनकी सार्थकताके लिये किस वस्तुका ग्रहण और किसका परित्याग करना चाहिये ? माटी खोदने, कल-कारखाना बनाने, व्यवसाय करने या अन्य किसी कार्यके लिये दौड़धूप करनेसे ही भगवद्युक्त कर्म नहीं होता। अवश्य ही शरीरकी रक्षाके लिये इस प्रकारके कर्म भी आवश्यक हैं। परन्तु ये सब कर्म जीवनके शेष लक्ष्य नहीं बन जाने चाहिये। यह विश्व वासुदेव है, अतएव इस जगत् और जीवोंकी आवश्यकताके अनुसार कभी कभी अति दारुण सुदुष्कर कर्म भी करना पड़ता है परन्तु वह आत्मसुख या निजेन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये नहीं। भगवत्-प्राप्तिके पथका यह केवल एक आनुसंगिक प्रयोजन है, मूल प्रयोजन नहीं ! मूल प्रयोजनका तो गीताके छठें अध्यायमें स्पष्टरूपसे वर्णन है ! दूसरा उद्देश्य होता तो, योगीको किस प्रकार बैठना होगा, कैसे सोना होगा, क्या खाना होगा आदि बातें कहकर व्यर्थ प्रसङ्ग बढ़ानेकी क्या आवश्यकता थी। भगवान् कहते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

इस तरह सर्वदा चित्तको समाहित करके संयमशील योगी निर्वाण-प्रदायिनी मेरी (भगवान्की) स्वरूपस्थिति-रूप शान्तिको प्राप्त होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

जब अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ चित्त आत्मामें स्थित हो जाता है, तब किसी भी काम्य विषयमें स्पृहा नहीं रहती। ऐसा निस्पृह पुरुष ही योगयुक्त कहा जाता है। इसके बाद युक्त अवस्थाका और भी कुछ श्लोकोंमें वर्णन है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

योगके ऐसे सुन्दर लक्षण बतलाकर भगवान् कहते हैं—इस योगका हताशाशून्य चित्तके द्वारा निश्चय ही अभ्यास करना चाहिये 'सः योगः अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः।'

सारांश यह कि, भगवद्-भजन ही गीतोक्त कर्मका मुख्य लक्ष्य है। इसीसे भगवान् कहते हैं 'आसुरीभावके नीच मनुष्य मुझे नहीं भजते।' 'आसुरं भावं आश्रिताः नराधमाः माम् न प्रपद्यन्ते आर्त, अर्थार्थी जिज्ञासु और ज्ञानी भक्त ही मुझे भजते हैं। आर्त और अर्थार्थी भी सुकृति पुरुष हैं, क्योंकि वे भगवान्का भजन करते हैं। भगवान्ने गीतामें कर्मकी जो सुन्दर व्याख्या की है, उसका उल्लेख करना

यहां अप्रासंगिक नहीं होगा । अर्जुनके ' किं कर्म ?' प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।

जीवोंकी उत्पत्ति और उनकी क्रमसे वृद्धि जिस त्यागरूप यज्ञसे होती है, उसका नाम 'कर्म' है। कर्मकी ऐसी व्याख्या और कहीं नहीं मिलती । पाश्चात्य जगत्के मनीषि कहते हैं—"कर्म और कुछ भी नहीं है, आन्तरिक सुप्त भावसमूहोंको जगा देना ही कर्म है।" गीता कहती है, इस भावराशिको तो जगाना होगा ही परन्तु उसे देवताके लिये त्याग भी कर देना पड़ेगा । तभी वह ठीक कर्म होगा, नहीं तो अकर्म हो जायगा। इस बात-को इन दृष्टान्तोंसे समझिये—धन कमाना, खेती करना, पढ़ना, सेवा करना आदि सभी कर्म हैं, कर्म करनेमें शक्तिका व्यय करना ही पड़ता है। (Expenditure of energy) परन्तु यह शक्ति जबतक देवताके लिये व्यय नहीं होती, तबतक वह कर्म नहीं होता । शरीरको बलवान् बनाना चाहिये परन्तु यदि वह दुर्बलकी रक्षा न करके उसे पीड़ा पहुँचाता है तो वह कर्म नहीं है। घरमें धन है, खाने पीनेकी प्रचुर सामग्री है, इनके संग्रहमें बहुत शक्ति खर्च हुई है । परन्तु हमारा वह कष्टोपार्जित धन-धान्य दूसरेके दुःख दूर करनेमें नहीं लगता तो गीताके अनुसार वह 'कर्म' नहीं है । खूब मेहनत करके विद्या पढ़ी है, पर यदि वह दूसरेके अज्ञानान्धकारको दूर नहीं कर सकती तो हमारा वह परिश्रम व्यर्थ ही है, त्यागके द्वारा पवित्र हुए बिना कर्म 'कर्म' नहीं होता । स्त्रीसङ्ग भी कर्म है, उसमें भी शक्तिका व्यय होता है परन्तु वह केवल कामोपभोगकी चरितार्थताके लिये है तो वह भी कर्म नहीं है ।

'कर्म' शब्दसे क्या समझना चाहिये, यह बात समझमें आ गयी होगी । इस प्रकार देवोद्देश्यसे कर्म करते करते प्रवृत्तिकी प्रबलता शान्त हो जाती है। अन्तःकरण शुद्ध होता है और उस शुद्ध अन्तःकरणमें ही आत्मसाक्षात्कार होता है। भगवान्ने अर्जुनसे कहा—'उनमें (भगवान्में) मन-बुद्धि अर्पण करना होगा, तदर्पित चित्तसे कर्म करना होगा, पर अपने लिये नहीं, सर्वभूतस्थित भगवान्की प्रीति-के लिये—बस, ' सर्वलोक हिताय ' ही कर्म करना होगा ।' निरन्तर उनके स्मरण रहनेका अभ्यास चित्त-शुद्धि बिना नहीं होता। अतएव चित्त-शुद्धिके लिये ही स्वधर्मका आचरण करना चाहिये ।

परम गतिके साधन

इस तरह भगवान्में चित्त लगानेका अभ्यास करते करते संकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिका बुद्धि भगवान्में अर्पित हो जाती है। तभी वे मिलते हैं। इसीसे भगवान्ने उपाय बतलाया ' अभ्यास-योगयुक्त ' होना । यानी स्वजातीय प्रत्ययका प्रवाह न होने पर 'योगयुक्त' नहीं हुआ जाता । अतएव जिससे सजातीय प्रत्ययका प्रवाह अविच्छिन्न धारामें चलता रहे, निरन्तर वही अभ्यास करना चाहिये । चित्तमें किसी भी विषयका चिन्तन न होगा, तभी अनन्यचित्तसे भगवच्चिन्तन हो सकेगा । इस तरह अनन्यचित्तसे परमार्थ-चिन्तन करनेकी शक्ति प्राप्त होते ही समाधि समीप आ जाती है । प्रतिदिन नियमपूर्वक दीर्घकाल तक अभ्यास किये बिना संस्कार नहीं जमते । दृढ़ संस्कार हुए बिना बाह्य प्रकृति पर किसीका भी आधिपत्य नहीं चल सकता । भगवच्चिन्तन करते करते ही जीवका जीवभाव कट कर भगवदीय-संस्कारों-की वृद्धि होती है। भगवदीय-संस्कार जितने बढ़ते हैं, उतनी ही परमात्म-स्वरूपमें स्थितिकी अवस्था समीप आती है । 'देहात्मबोध-रूप बन्धन ही जीव भाव है।' स्वरूप-साक्षात्कार हुए बिना यह जीव भाव नहीं मिटता । जीवन कालमें या उसके बाद परमात्म-स्वरूपमें अटल स्थिति ही जीवन्मुक्ति या ब्राह्मी स्थिति है। इस अवस्थामें मोह नहीं रहता । माया सदाके लिये वहांसे विदा हो जाती है । दृढ़ अभ्यासशील पुरुषके लिये मुक्ति पानेका दूसरा उपाय भी है, निदिध्यासनयुक्त पुरुष कमसे कम अन्तकालमें भी उसे पा सकता है ।—भगवान्ने कहा है—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

अन्तकालमें (१) भक्तियुक्त, (२) अचलमानस (विक्षेपरहित मन) होकर (३) योगबलसे सुषुम्ना मार्ग-द्वारा प्राणको भ्रुकुटिके मध्यमें स्थापितकरके जो प्रयाण करता है वह दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है। श्रीमद्-आनन्द-गिरीजी इसकी टीकामें कहते हैं—'चित्तको विषयोंसे हटाकर पुण्डरीकाकार परमात्म-स्थानमें स्थापन करके, हृदयसे निकली हुई इड़ा और पिङ्गला नामक दोनों नाड़ियोंको रोककर हृदयसे ऊर्ध्व-गमनशील सुषुम्ना नाड़ीद्वारा प्राणोंको लाकर ('ऊर्ध्वगामिना नाड्या भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य ।' शंकर।) उसी सुषुम्ना मार्गसे प्राणोंको भ्रकुटिके मध्यमें आविष्ट

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ (गी० अ० ८ । १३)

करके ब्रह्मरन्ध्रद्वारा निष्क्रमण कराना चाहिये ।" श्रीधर स्वामी कहते हैं, भक्तियुक्त और विक्षेपरहित मनके द्वारा परमात्माका स्मरण करना चाहिये । मनकी निश्चलताके कारण ही योगबलसे सुषुम्नामार्ग होकर प्राण भ्रुकुटिमें प्रवेश कर सकते हैं । इस तरह ब्रह्मरन्ध्रद्वारा उत्क्रमण करते ही दिव्य परम पुरुषकी प्राप्ति हो जाती है ।

दो प्रकारकी गति

इसी अष्टम अध्यायमें भगवान्ने उत्तरायण दक्षिणायन मार्ग या शुक्ल-कृष्ण गतिका वर्णन किया है । प्रकाशमयी अर्चिरादि और अन्धकारमयी धूमादि गति–दोनों ज्ञान और कर्मके अधिकारी भेदसे सनातन हैं । इनके सम्बन्धमें भी यहाँ कुछ आलोचना की जाती है ।

जो ब्रह्मज्ञानी या नित्यमुक्त हैं, उनकी गति अगति कुछ भी नहीं है । उनके तो प्राण उत्क्रमण ही नहीं करते । उनके प्राण ब्रह्मलीन रहते हैं, अतएव उनके लिये 'सब' कुछ ब्रह्ममय है । वास्तवमें 'सब' कहना भी भूल है । कारण उनके लिये 'सब' नहीं रहता, 'सब' एक हो जाता है । भिन्न भिन्न अनेक पदार्थोंकी समष्टिका नामही 'सब' है । उनके लिये एक अविभक्त रहता है, सब मिटकर एक बन जाता है । इस अवस्थाको प्राप्त पुरुषकी तो मुक्ति सर्वदा सेवा किया करती है ।

जो इतनी ऊंची स्थितिपर नहीं पहुँचे हैं, परन्तु परमात्माकी उपासना करते हैं, योगाभ्यासी हैं, उन्हींके लिये शास्त्रोंमें क्रममुक्तिका वर्णन देखा जाता है । ऐसे ही पुरुष प्रयाणकालमें अग्निर्ज्योतिका प्रकाश देखते हैं । यह प्रकाशमय देवमार्ग है, अतएव जड़ नहीं है पर चैतन्ययुक्त है । इस मार्गका विभाग इसप्रकार किया जा सकता है (१) अर्चिदेवता, (२) अहःदेवता, (३) शुक्लपक्ष-देवता, (४) उत्तरायणदेवता (५) संवत्सरदेवता, (६) देवलोक, (७) वायुदेवता, (८) आदित्यदेवता, (९) चन्द्रदेवता और (१०) विद्युत्देवता । ये सभी भिन्न भिन्न देवलोक हैं । यहांतक पहुँचनेपर एक अमानव पुरुष आकर उसको ब्रह्मलोकमें लेजाता है । उस ब्रह्मलोकमें बहुत समयतक निवास करनेपर कल्पक्षयके अन्तमें वह मुक्त हो जाता है । उसका जन्मान्तर नहीं होता—'अनावृत्तिम् याति' । यही देवयान मार्ग है । इस मार्गसे प्रयाण करनेके उपाय भी भगवान्ने श्रीमान् अर्जुनको बतला दिये हैं ।

> सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
> मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥
> ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
> यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

अर्थात् (१) समस्त इन्द्रियोंका प्रत्याहार—इन्द्रियोंके द्वारा किसी विषयका ग्रहण न करना (२) मनका हृदयमें निरोध—मनमें किसी विषयकी चिन्ता या सङ्कल्प न रहना । (३) भ्रुकुटिमें प्राणोंको लेजाना (यह अवस्था दीर्घकाल तक प्राणायाम करनेसे साध्य है) (४) योगधारणा—योगाभ्यासके कारण चित्तका स्वतः ही स्थिर हो जाना इसप्रकार होकर (५) ब्रह्मवाचक या ब्रह्मस्वरूप ॐ का स्मरण और जप करते हुए जो देहत्याग करता है, वह इसी अर्चिरादि गतिको प्राप्त होता है ।

इसके विपरीत मार्गका नाम ही पितृयान है, उसीको कृष्ण गति या दक्षिणायन भी कहते हैं, इसमें आकर जीव पुण्यभोगके अनन्तर कर्मानुसार जन्मान्तरको प्राप्त होता है, 'अन्ययावर्तते पुनः ।'

भक्ति और उसमें सबका अधिकार

इन सब साधनोंको बहुत कठिन समझकर लोग हताश न हो जायं । इसीसे भगवान् विषादग्रस्त लोगोंको अभयदान देते हुए कहने लगे—

> अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
> तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

'बस, अनन्यचित्त होकर सदासर्वदा मेरा स्मरण करते रहो तो बड़ी सुलभतासे प्राप्त हो सकूंगा ।' इस श्लोकपर विचार करना है । चित्तको अनन्य करना होगा यानी चित्तमें अन्य किसी भी प्रत्यय-प्रवाहके लिये स्थान नहीं रहना चाहिये । केवल 'वे' रह जायंगे । किसी तरह कायाक्लेश सहकर एकबार ऐसी स्थिति होनेसे ही काम चल जायगा तो ? नहीं ! यह अनन्यचित्तका भाव सतत और नित्यशः होना चाहिये । स्मरणस्रोत निरन्तर बहना चाहिये, कहीं कभी उसका विच्छेद न हो । होना भी चाहिये जीवन भर । शंकर कहते हैं—"सततमिति नैरन्तर्यमुच्यते । नित्यश इति दीर्घकालत्वमुच्यते, न षण्मासं संवत्सरं वा यावज्जीवं ।"

साधन भजनका उद्देश्य ही है 'अनन्यचित्त' होना । श्रीचैतन्यदेवने भी 'अनन्यचित्त' से भगवत्-स्मरण करनेकी ही बात कही थी । कबीरने भी अनन्यचित्तकी ओर ही इशारा किया है—

> माला तो करमें फिरै जीभ फिरै मुखमाहिं ।
> मनुआं तो चहुंदिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं ॥

यह अनन्यचित्त ही भक्तिका मूल उपादान और यही भक्तिका शेष लक्ष्य है। वाञ्छितके प्रति अत्यन्त अनुराग ही भक्तिका नामान्तर है। प्रेमसे भी चित्त निरुद्ध और एकाग्र होता है। हमारी प्रकृतिकी कुछ विरुद्ध भावनाएं इस अनन्यभावको नहीं आने देतीं। इसीलिये 'अनन्यचित्त' होनेके निमित्त प्राणायाम कर्मयोगादिके अभ्यासकी आवश्यकता है। प्राणायामादि द्वारा प्राण निश्चल हो जानेपर मन बुद्धि भी व्युत्थान-रहित हो जाते हैं। बुद्धिकी निश्चलतासे ही शुद्ध बुद्धि उत्पन्न होती है। जिसकी बुद्धि जितनी विशुद्ध हो जाती है, उसका भगवत्-प्रेम भी उतना ही बढ़ता है।

इस भक्तिभावके दृढ़ हो जानेसे आत्मतृप्ति, संतोष और संयम भी बढ़ जाते हैं और अन्तमें मन-प्राण प्रियतमके चरणकमलोंमें अर्पित हो जाते हैं। इसी अवस्थामें साधक 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः, हो जाता है यानी उसे फिर सुखके लिये किसी बाहरी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती। 'तस्य कार्यं न विद्यते।' यहां पर कर्माकर्म और धर्माधर्म सब शेष हो जाते हैं। यही 'योगारूढ' या ज्ञानीके लक्षण हैं। ज्ञान या भक्तिकी प्राप्तिके लिये वास्तवमें बहुत परिश्रमकी आवश्यकता नहीं है, न उसके लिये बहुत धन-संग्रह करनेकी ही जरूरत है। विना ही प्रयत्नके प्राप्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि भक्तिके साथ अर्पण किये जानेपर वे ग्रहण करते हैं। यदि इनका भी कोई संग्रह न कर सके, तो जो कुछ मनमें सोचे या करे, उसीको उनके अर्पणकर देनेसे काम चल जाता है। भगवान्के प्रति समर्पित हो जानेपर फलका सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उन कर्मोंका शुभाशुभ फल कर्त्ताको भोग करना नहीं पड़ता। इस भक्तियुक्त आत्म-समर्पणसे केवल पापोंसे ही छुटकारा नहीं मिलता, वह अति शीघ्र धर्मात्मा भी हो जाता है। यानी उसमें ज्ञानका उदय हो जाता है। ज्ञानोदयके साथ ही अविद्याकी निवृत्ति होकर उसे शाश्वती शान्ति मिल जाती है। सम्यक् प्रकारसे त्यागका जो फल होता है वही भक्तको भी प्राप्त होता है। भगवान् कहते हैं कि 'अर्जुन! तुम छाती ठोककर यह बात सबसे कह दो कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।' इतना बड़ा महान् सत्य और क्या होगा? शरणागत भक्तको भगवान् किसी तरह भी नष्ट नहीं होने देते और ऐसी भक्ति करनेका सबको समान अधिकार है, अध्ययनरहित स्त्री-शूद्रादि और अन्त्यज जाति भी इस भक्तिके द्वारा परमोच्च गति प्राप्त कर सकते हैं। गीतामें यही सबसे उत्तम बात है। यही भगवान्का जीवमात्रके प्रति अभयदान है।

वर्णाश्रम-धर्म

इसके लिये जीवको किसी असाध्य साधनकी भी आवश्यकता नहीं है। अपने अपने अधिकार या वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्म करते करते ही मनुष्य ज्ञान-प्राप्तिके लिये योग्य बन जाता है। इसलिये सबसे पहले अपने वर्णाश्रमके अनुसार कर्म करना ही सबके लिये श्रेयस्कर है।

आजकल वर्णाश्रमका नाम सुनते ही लोग जामेसे बाहर होने लगते हैं परन्तु उनको जानना चाहिये कि वर्णाश्रमके कर्त्ता स्वयं श्रीभगवान् हैं।--'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।' बहुत लोगोंकी यह धारणा है कि भगवान्ने सबको समान बनाकर ही उत्पन्न किया था। मनुष्यने ही स्वार्थान्ध होकर उच्च-नीच वर्णके भेदकी कल्पना कर ली है। अथवा मानव समाजका संगठन होनेपर जिसने जैसा कर्म किया, उसकी वैसी ही जाति बन गयी। यज्ञ-याग करनेवाले ब्राह्मण, युद्ध करनेवाले क्षत्रिय, व्यापार करनेवाले वैश्य और सेवादि करनेवाले शूद्र कहलाये। ऐसा समझना भी एक कल्पना ही है, सत्य नहीं है। ये सभी भेद प्रकृतिमें वर्त्तमान हैं। भगवान्को इच्छा या कल्पना करके इनको बनाना नहीं पड़ा। प्रकृति अनादि और त्रिगुणमयी है। सारी भिन्नता प्रकृतिका उच्छ्वास है यह मनुष्यकृत नहीं है। वरन् इसको न मानना ही मनुष्यका घमंड है। सतोगुणकी वृद्धिके समय जिन मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पत्थर या वृक्षोंकी स्फुरणा हुई वे सभी सतोगुणसे पूर्ण हैं, यानी ब्राह्मण हैं। इसके बाद उस कुलमें जिनकी उत्पत्ति हुई वे भी ब्राह्मण हुए। इसी प्रकार सत-रजमिश्रित शक्तिसे जो भाव स्फुरित हुए, वे ही शौर्य-वीर्यादिका विकास करनेवाले क्षत्रिय कहलाये। यह क्षात्र-भाव भी मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, पाषाणादि सभीमें है। इसी क्रमसे वैश्य और शूद्र भी हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्णभेद 'अनादि सिद्ध' है। वह मनुष्यकी कपोलकल्पना या स्वार्थ-बुद्धि निर्मित नहीं है। और न यही बात है कि एक वर्ण दूसरे वर्णका स्वामी है, सभीका परस्पर भ्रातृत्व-सम्बन्ध है। जैसे कनिष्ठ ज्येष्ठकी और शिष्य गुरुकी सेवा करते हैं, वैसे ही शूद्रादि भी द्विजातिकी सेवा करते हैं। एक ही कालमें सभी बड़े नहीं हो सकते। किसीको छोटा और किसीको बड़ा होकर ही जन्म लेना पड़ता है, यह ईश्वरकृत असमञ्जसता नहीं है, परन्तु प्रकृतिका गुणकर्म-विभाग है। इसलिये मनुष्यको अपने अपने वर्णाश्रमके अनुसार कर्म करना चाहिये। ऐसा करना सहज भी खूब है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

'जिस अन्तर्यामी भगवान्से जीवोंके हृदयमें इस संसार-की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस ईश्वरकी अपने वर्णाश्रमोचित या प्रवृत्तिके अनुयायी कर्मोंद्वारा पूजा करनेसे जीव ज्ञान प्राप्त करता है।'

पराभक्ति

अतएव जो मनुष्य ज्ञान या संन्यासको सर्वश्रेष्ठ समझकर अपना कर्त्तव्य-कर्म पालन न कर बिना ही अधिकार कर्म छोड़ देते हैं, वे ज्ञान-लाभकी योग्यता कभी प्राप्त नहीं कर सकते। 'जो कुछ करता हूँ सो उन्हींकी आज्ञासे करता हूँ, या उन्हींको 'गतिर्भर्ता प्रभु' समझकर इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ कर्म किया जाता है, सो कर्तृत्वा-भिमान त्याग करके उन्हींके चरणोंमें समर्पण करता हूँ।' इस बुद्धिसे कर्म करनेपर भी मनुष्य कृतार्थ हो सकता है। क्योंकि भगवान्के स्मरणसहित कर्म करते करते कर्ममेंसे ममत्व-बुद्धि नष्ट हो जाती है। पुनः पुनः प्रेमसे उन्हें स्मरण करनेपर चित्तमें 'मेरा' नहीं रहता। सब 'उनका' हो जाता है। इस प्रकार 'मच्चित्त' होते ही सांसारिक सुख-दुःखोंका अन्त हो जाता है। 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।' भगवत्प्रसादसे भक्तकी सारी 'दुःख-दुर्गति' समाप्त हो जाती है। फिर वह 'असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह' हो जाता है। तदनन्तर ही ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये मनुष्यको किन किन नियमोंका पालन करना चाहिये? भगवान् बतलाते हैं-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

सात्त्विकी बुद्धिसे युक्त होकर और सात्त्विकी धृतिद्वारा मनको निश्चल करके, शब्दादि विषयोंको परित्यागकर, रागद्वेषको मनमें न आने देकर निर्जन स्थानमें निवास करना, मिताहारी होना, शरीर-मन-वाणीको सदा संयत रखना, निरन्तर ध्याननिष्ठ रहकर ब्रह्मसंस्पर्शकी प्राप्तिके लिये सदा तत्पर रहना और इसके लिये दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेकर अहंकार (अपनी बड़ाई या अभिमान), बल (खूब बड़े होनेके लिये प्रबल चेष्टा), दर्प (मैं ब्रह्मविद् हूँ, मैं योग-बलसे बलवान् हूँ), काम (अप्राप्त विषयोंको प्राप्त करनेकी इच्छा), क्रोध, परिग्रह, ममता (मेरा शरीर, मेरे प्राण) आदि भावोंको विशेषरूपसे त्याग देना चाहिये। इसप्रकार अभ्यास करते करते मनुष्य 'शान्त' यानी उपराम हो जाता है। ऐसी उपरामतासे युक्त पुरुष ही ब्रह्मस्वरूप होनेकी योग्यता प्राप्त करता है—'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—इस ब्रह्मभूत पुरुषमें जिन लक्षणोंका विकास होता है, उनको भगवान् बतलाते हैं-

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

ब्रह्मभूत पुरुष सदा प्रसन्न-चित्त रहता है, न तो उसे नष्ट वस्तुके लिये शोक होता है और न अप्राप्त वस्तुके लिये उसका चित्त व्याकुल ही होता है। समस्त भूतोंमें उसकी आत्मदृष्टि हो जाती है, ऐसे समदर्शनयुक्त, रागद्वेषादि विक्षेप-शून्य चित्तमें पराभक्तिकी उत्पत्ति होती है। चतुर्विध भक्तोंमें भगवान्ने ज्ञानीको ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है, क्योंकि पूर्णरूपसे अभेदभाव हुए बिना भक्तिकी पराकाष्ठा नहीं होती। प्रीति ही भक्तिका नामान्तर है—सा परानुरक्तिरीश्वरे।' यह प्रीति जितनी आत्मामें होती है, उतनी और किसी भी वस्तुमें नहीं हो सकती। इस आत्माको जो जानते हैं, उनसे बढ़कर भक्त और कोई भी नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्ने गीतामें ज्ञानीको 'आत्म' सदृश बतलाया है। क्योंकि ज्ञानीका देह-मन-प्राण आदि किसी भी पदार्थमें अभिमान नहीं रहता। उसकी, भगवान्के मिलनेकी सारी बाधाएं मिट जाती हैं, इसीसे ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ भक्त है। इस पराभक्तिसे पहले भक्तिके जो भाव रहते हैं सो केवल उनसे मिलनेकी इच्छा करनेवाले हैं। परन्तु मिलनकी आकांक्षा ही मिलन नहीं है। पराभक्तिसे आत्मा कृतकृत्य होकर स्वयं परमानन्दरूप हो जाता है। भगवान् कहते हैं-

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

इस पराभक्तिके द्वारा, मैं जैसा सर्वव्यापक, नित्य सच्चिदानन्दघन हूँ, वैसा तत्त्वसे जानकर वह मुझमें प्रवेश करता है यानी स्वयं परमानन्दस्वरूप हो जाता है। उसका अहंज्ञान और भेदभाव सदाके लिये मिट जाता है। भागवतमें कहा है-

तदा रजस्तमोभावाः काम-लोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥

'उस समय रज और तमके भाव काम लोभादिसे चित्त नहीं बिंधता । उसकी स्थिति सतोगुण यानी ब्रह्मचिन्तनमें रहती है । ऐसा पुरुष आनन्दका भोग करता है । इस भगवद्भक्ति और प्रसन्नमनसे दो लाभ होते हैं । (१) भगवत्त्व-का विज्ञान और (२) मुक्त संग होना । फिर देहात्मबुद्धि-रूप हृदयग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्ध-कर्म नष्ट हो जाते हैं इसलिये वह जन्ममरणादि भवबन्धनसे सदाके लिये छूट जाता है ।'

इसीलिये भगवत्-शरणागतिकी इतनी ऐकान्तिक आवश्यकता है । परन्तु यह ऐकान्तिक भाव कर्मशुद्धि बिना नहीं होता । सौभाग्यसे निष्काम कर्मद्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, वह 'सर्वभाव' से भगवान्‌की शरण ग्रहणकर 'भगवत्-प्रसाद' से उत्तम शान्ति और शाश्वत परम धामको प्राप्त होता है—"तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।"

पुरुषोत्तम भाव

गीतामें प्रकृति, आत्मा, पुरुष प्रभृति शब्दोंका जो व्यवहार हुआ है, उनमें दर्शनशास्त्रका मेल होनेपर भी कुछ विशेष है । भगवान्‌ने पुरुष तीन बतलाये हैं ।—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम । ये क्षर अक्षर ही सांख्य-दर्शनके प्रकृति पुरुष हैं । परन्तु गीताका 'पुरुषोत्तम' भाव एक नवीन तत्त्व है और वह पूर्णरूपसे गीताका ही निजस्व है । ये क्षर अक्षर पुरुष ही तेरहवें अध्यायके क्षेत्र क्षेत्रज्ञ हैं । इस क्षेत्रज्ञसे पुरुषोत्तम अभिन्न है —क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । आठवें अध्यायमें भी इसीकी प्रतिध्वनि है—'अक्षरं ब्रह्म परमम्।' यह क्षेत्रज्ञ या अक्षर पुरुष द्रष्टा, निर्विकार और साक्षी मात्र है । आत्माकी उत्पत्ति या विनाश नहीं है गीता कहती है, 'जन्म-मरणादि परिवर्तन देहके सम्बन्धमें हैं । आत्मा तो अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार है, देह मन और बुद्धिका अविषय है ।' आत्मा शरीरस्थ होकर भी वास्तवमें सुख-दुःखादिका भोग नहीं करता । वह तो द्रष्टामात्र है । आत्मा-में कर्त्ता भोक्तापन न होनेपर भी उसमें सुखदुःखादि भोग और कर्मादिकी चेष्टा क्यों प्रतीत होती है ? इसीलिये होती है कि उस समय वह सुखदुःखादिका भोग करता है ।—कारण 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।' यही सांख्यका मत है । वेदान्तने इसको अध्यास या माया बतलाया है । अध्यास मनकी मिथ्या प्रतीतिका नाम है, सत्य नहीं है । परन्तु गीताके 'पुरुषोत्तम' भावकी आलोचना करनेसे मालूम होता है कि 'जीवका भ्रमजन्य ज्ञान ही जगत्‌की उत्पत्ति आदिका कारण नहीं है । यह सभी कुछ है '<u>भगवत्-इच्छा</u>' । कारण गीताने भगवान्‌को केवल 'उपद्रष्टा' ही नहीं कहा, 'अनुमन्ता' यानी अनुमोदन करनेवाला भी बतलाया है और यह भी कहा है कि वही 'भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः' भी है । द्रष्टा या साक्षीरूपसे निर्लेप होनेपर भी ईश्वरभाव होनेके कारण वह समस्त जीवोंका पालन-कर्त्ता है । श्रुति भी इसका समर्थन करती है—"एष सर्वेश्वरः एषः भूताधिपति एषः लोकपाल ।" और गीताके मतसे भी भगवान्—

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥"
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

—'सारे जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हैं, उन्हींसे जीवकी स्मृति और ज्ञान होता है तथा उन्हींमें विलोप होता है । वेदोंके द्वारा वे ही वेद्य हैं, वेही समस्त वेदोंके जाननेवाले और वेदान्त सम्प्रदायके प्रवर्तक—ज्ञान-गुरु हैं ।' इन ज्ञान-गुरु वेदान्त-वेद्य पुरुषके भजनसे ही जीव सर्वज्ञ होता है यानी ब्रह्मस्वरूपताको प्राप्त होता है ।

जब सभी एक है (ईशावास्यमिदं सर्वम्) तब जड़ चेतन-का भेद क्यों है ? चेतन और जड़ केवल व्यवहारिक हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु पूर्णरूपसे जड़ नहीं हो सकती, इसी-लिये गीताने उच्चस्वरसे घोषणा की है ।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥

जैसे कनक-कुण्डलके बाहर भीतर स्वर्ण ही स्वर्ण है, वैसे ही चराचर भूतोंके भीतर बाहर केवल ब्रह्म ही विराज-मान हैं । सूक्ष्म होनेसे उनका स्पष्ट बोध नहीं होता । वे विद्वान्‌के सदा समीप हैं और अज्ञानीको बहुत दूर प्रतीत होते हैं । 'सत्' 'असत्' जो कुछ भी अनुभवमें आता है, ब्रह्म उससे विलक्षण है । इसीलिये मन आदि इन्द्रियां उन्हें नहीं समझकर हार मान लेती हैं । वेही अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे सर्वात्मक भी हैं । अवश्य, विकृति और परिणाम यानी नामरूपादि उनमें नहीं है तो भी गाढ़ी ध्यान-समाधिमें वे 'बुद्धिगोचर' होते हैं, यद्यपि वहां केवल 'अस्ति' मात्र ही बोधका विषय होता है, तथापि कातर

प्राणोंसे जब भक्त उन्हें पुकारता है, तब वे तुरन्त उसकी आवाज सुनते हैं और मनुष्यकी तरह ही उसका जवाब भी देते हैं। इन्हीं आंखोंसे हम उन्हें देख सकते हैं, उनके साथ बातचीत कर सकते हैं, प्रेमालाप करते हैं, यहांतक कि वहां फिर, मान अभिमान भी चलता है। परम प्रेमिकका हृदय ले-कर ही वे भक्तके निकट आविर्भूत होते हैं। उस समय वे हमारा कितना आदर करते हैं, कितना त्रिभुवन-मोहन नृत्य दिखलाते हैं, कैसे हमारी दी हुई वस्तुएं ग्रहण करते हैं और न मालूम कितनी बातें कह सुनकर हमारे तप्त और अतृप्त हृदयको शीतल और तृप्त करते हैं। यह 'महतो महीयान् सर्ववरेण्य' भाव ही उनका 'पुरुषोत्तम' भाव है। यह तर्क या विचारका विषय नहीं है। यह केवल अनन्य और विशुद्ध भक्तिके द्वारा ही जाना जा सकता है। समस्त विरुद्ध शक्तियोंने उनमें कैसी अपूर्व एकता प्राप्त की है—श्रुति कहती है—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।"

भगवान्‌में अनेक भाव हैं, जिस समय वे ब्रह्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं, उस समय सृष्टि, स्थिति, प्रलय नहीं होता; जड़ अजड़का कोई भेद नहीं रहता; जन्म-मृत्युकी पहेली नहीं होती; कर्ता भोक्तापनका कोई विकार नहीं रहता। यह अवस्था व्यवहारसे सर्वथा परेकी है। परन्तु कोई कोई इसका भी पता लगा लेते हैं— "तू तू करते तू भयो तुझमें रह्यो समाय।" यह एक भाव है।

दूसरा एक व्यावहारिक भाव है। एक ओर वे जैसे 'माया-मुग्ध जीव और जगत्‌के रूपमें प्रकट हैं' दूसरी ओर वैसे ही 'मदनमोहन' वेशमें प्रकट होकर सारे विश्वके जीवों-को मुग्ध कर अपने चरणोंमें बुला लेते हैं। त्रिताप-तप्त माया-मुग्ध जीव फिर मानों उनका कण्ठ-स्वर सुन पाता है, उनकी मुरलीध्वनि सुन कर वह अपनेको और इस जगत्‌को भूलकर उनकी ओर अभिसार करता है। परन्तु जबतक वे स्वयं नहीं पुकारते, तबतक इस सुखकी ओर चलनेकी शक्ति जीवमें नहीं है। जीवके प्रति उनकी यह जो करुणा है-जो दया-भाव है, वही उनका ईश्वरत्व या 'पुरुषोत्तम' भाव है। यह जड़ अजड़से अतीत चिन्मय आनन्दघन भाव है।

तीसरा भाव है, इस विश्वके रूपमें उनका प्रकाश। इस भावसे वे सारे विश्वमें अपनेको व्याप्त कर, समस्त जगत्‌में प्रविष्ट हो कर रहते हैं। स्वर्णालङ्कारमें अलङ्कार भी है, परन्तु है वह स्वर्णमय। इस स्वर्णको न देख कर केवल अलङ्कारको देखनेसे ही जीवकी दृष्टिमें भ्रम होता है। यही जीवका बद्ध-भाव है।

उनको स्पर्श करने, पकड़ने या समझनेकी शक्ति न रहने पर भी उनकी कुछ कुछ पहचान तो हो ही जाती है। क्योंकि वे "प्राण" रूपसे समस्त जगत्‌में प्रविष्ट हो रहे हैं। यह 'प्राण' ही उनकी मुख्य प्रकृति या प्रकाश है। इस 'प्राण' से ही समस्त विश्वकी उत्पत्ति होती है। 'प्राण' के आधार पर ही विश्व स्थित है। बाहरसे देखने पर यह अन्ध, या जड़सा प्रतीत होता है परन्तु बात ऐसी नहीं है। इस 'प्राण' में ही विश्वकी चैतन्यशक्ति निहित है। यह 'प्राण' ही उनकी विश्वविमोहिनी माया या पञ्च वायु है। इस 'प्राण' की उपासनासे ही साधकके सामने प्राणकी विद्या-मूर्ति प्रकट होती है। तब साधक उन्हें जगद्धात्रीके रूपमें देख कर भक्तिभावसे प्रणाम करता है। इस प्राणकी उपासना करके ही जीव भवबन्धनसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है।

गीताशास्त्रकी पर्यालोचनासे मेरे मनमें इसी भावका उदय हुआ है कि 'मैं' 'मेरा' आदि देहात्म-बुद्धिरूप मोहके नाशके लिये ही ज्ञानकी सर्वापेक्षा अधिक आवश्यकता है। क्योंकि ज्ञान बिना स्व-रूपमें स्थिति नहीं हो सकती, परमात्माका यथार्थ परिचय नहीं मिलता। इस ज्ञानके प्रकाशके लिये श्रद्धा भक्तिकी आवश्यकता है। आत्मसमर्पण बिना भक्ति विशुद्ध नहीं होती। साथ ही भाव-संशुद्धिके लिये कर्म शुद्धि भी आवश्यक प्रतीत होती है। कर्म शुद्धिके उपायोंकी गीतामें विस्तृत आलोचना है, संक्षेपमें मैं उनका वर्णन पहले कर चुका हूं।

गीताका सार

इस 'परम' ज्ञान या वास्तविक 'सोऽहमस्मि' भावमें विचारसे भी डूबा जा सकता है, विचारकी सहायता लेनी ही चाहिये। परन्तु केवल विचारका मार्ग सहज नहीं है। इसीलिये दयामय भगवान्‌ने दीनार्त भक्तको अभय प्रदान करते हुए कहा है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।

सब गुह्य विषयोंसे भी अत्यन्त गोपनीय इस परम वाक्यको सुनो, और इसे दृढ़तासे मनमें अङ्कित कर रक्खो। 'यदि तुम मेरे भक्त होओगे तो तुम्हें विचार-वितर्कके घोर अरण्यमें दौड़-धूप करनेकी कोई आवश्यकता न होगी। 'मैं' ही सब हूं, 'मैं' ही जीवका सर्वस्व हूं, यह समझकर—

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'

'किसी भी आश्रयकी ओर न ताककर एक-दम कूद पड़ो, मेरे अन्दर डूब जाओ।' यही यथार्थ आत्मसमर्पण

है। एक बार भक्तिपूर्ण हृदयसे अपनेको उनके चरणोंमें अर्पण करके कहो 'हे स्वामी! हे प्रभो! हे मेरे हृदयके नाथ! मेरे और कुछ भी नहीं है! मेरे और कोई भी नहीं है, मुझे तुम ग्रहण करो, मुझे अपने अन्दर छिपा लो!' जो प्राण भरके इतने शब्द कह सकता है, उस शरणागत व्यथित कातर भक्तको वे तुरन्त कहते हैं—

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

चिन्ता न करो, तुम्हें सारे पापोंसे मैं मुक्त कर चुका!

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
या हि सर्वात्मभावेन मयास्याऽकुतोभयः॥ (भागवत)

अतएव हे उद्धव! श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य और श्रुत सब कुछ छोड़कर मैं जो सब देहियोंका आत्मा हूँ, उसकी शरण ग्रहण करो, इसीसे निर्भय हो जाओगे! यही गीताका सार है। इसीसे इसका इतना प्रचार है।

गीताका पुरुषोत्तम

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम० ए०)

श्रीमद्भगवद्गीताके पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

यहां भगवान्ने त्रिविध पुरुषोंका उल्लेख किया है। परन्तु श्रीशंकराचार्यजीके मतसे ब्रह्म ही एकमात्र पुरुष है, वे क्षर पुरुषका अर्थ 'समस्त विकारशील पदार्थ' और अक्षरका अर्थ 'भगवान्की माया-शक्ति' करते हैं। श्रीधर स्वामी क्षर शब्दका अर्थ 'जड़पदार्थ-समष्टि' और अक्षरका अर्थ 'जीवात्मा' करते हैं। श्रीरामानुज स्वामी क्षर शब्दका अर्थ 'देहसंयुक्त आत्मा' और अक्षरका अर्थ 'देहमुक्त आत्मा या मुक्तपुरुष' करते हैं। हमें इन तीनोंसे ही सन्तोष नहीं होता, श्रीशंकराचार्यके मतानुसार यदि क्षर और अक्षरको पुरुष नहीं मानते हैं तो भगवान्की 'पुरुषोत्तम' संज्ञा अयुक्तियुक्त ठहरती है, क्योंकि अनेक पुरुषोंमें जो श्रेष्ठ होता है उसीको पुरुषोत्तम कहना युक्तियुक्त समझा जाता है। एक ही पुरुषकी पुरुषोत्तम संज्ञा सार्थक नहीं होती*। श्रीधर स्वामीने यद्यपि अद्वैतमतका ग्रहण नहीं किया, तथापि उनके क्षर शब्दकी व्याख्यानुसार 'जड़-पदार्थ-समष्टि' को पुरुष संज्ञा नहीं दी जा सकती। क्योंकि 'पुरुष' चेतन ही होता है। श्रीरामानुज स्वामीके कथनानुसार क्षर अक्षर दो पुरुष नहीं बतलाये जा सकते, अतएव इन तीनों मतोंसे ही गीताके इस 'पुरुषत्रयवाद' का सामञ्जस्य नहीं होता।

हमारी समझसे क्षर पुरुषका अर्थ 'जीवात्मासमूह' करना ठीक होगा। गीता यही कहती है 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' यहां इस 'भूत' शब्दसे सचेतन प्राणी समझने चाहिये, क्योंकि चेतन हुए बिना उसको पुरुष नहीं कह सकते। भूत शब्दका साधारणतः 'प्राणी'के अर्थमें ही व्यवहार होता है—'सर्वभूते समज्ञान।' गीतामें भी जगह जगह इसका इसी अर्थमें व्यवहार किया गया है। आठवें अध्यायके चतुर्थ श्लोकमें भगवान्ने कहा है, 'अधिभूतं क्षरोभावः।' इसके भाष्यमें श्रीशंकराचार्य लिखते हैं, 'अधिभूतं प्राणिजातं अधिकृत्य भवति।' यहाँ श्रीशंकराचार्यजीने भूत शब्दका अर्थ प्राणी किया है। इसमें यह आपत्ति की जा सकती है कि 'क्षर' शब्दका अर्थ तो विनाशी होता है, 'क्षरतीति क्षरः।' विनाशी सब जड़ पदार्थ हैं, अतएव उन्हींको क्षर कहना चाहिये, सुख-दुःखके भोक्ता सचेतन प्राणी या जीवात्माको क्षर अथवा विनाशी कैसे कहा जा सकता है? आठवें अध्यायके १९ वें श्लोकमें इसका समाधान मिलता है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

'एक ही भूत-समुदाय बार बार उत्पन्न होकर (ब्रह्माकी) रात होनेपर अवश होकर (ब्रह्मामें) विलीन हो जाता है।

---

* गीताके मतसे पुरुष अनेक हैं। गीता कहती है—
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु॥
(१३।२१)
इसके अनुसार भिन्न भिन्न योनियोंमें भिन्न भिन्न पुरुषोंका जन्म ग्रहण करना सिद्ध है।

पुनः (ब्रह्माका) दिन होनेपर उत्पन्न होता है।' इस श्लोकमें जड़ पदार्थोंके लिये भूत शब्दका व्यवहार नहीं हुआ है, वहाँ सचेतन प्राणी ही भूत शब्दका लक्ष्य है। कारण अचेतन पदार्थोंके लिये अवश शब्दका प्रयोग सार्थक नहीं होता। अतएव मालूम होता है कि क्षर पुरुषके अर्थमें समस्त प्राणी या जीवात्मा हैं। ये सुख-दुःखका भोग करनेवाले चेतन पदार्थ हैं। प्रलयके समय इनका ध्वंस और सृष्टिके समय इनकी उत्पत्ति होती है। इसलिये इस पुरुष-समष्टिको क्षर या विनाशशील पुरुष कहा गया है।

अब यह देखना है कि 'अक्षर' शब्दसे गीता किसका निर्देश करती है, 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'—कूटस्थको अक्षर कहते हैं। कूटस्थ शब्दकी व्याख्या दो प्रकारसे की जाती है। कूट यानी पर्वत-शिखरोंके समान जो निर्विकार भावसे रहता है, उसे कूटस्थ कहते हैं; अथवा कूट—माया या वञ्चना यानी जो वञ्चनापूर्वक रहता है वह कूटस्थ कहा जाता है। यहां कूटस्थ शब्दका पहला अर्थ ही ग्रहण करने योग्य प्रतीत होता है। कारण, अक्षर शब्दके अर्थसे 'शैल-शृङ्गकी भाँति निर्विकार' अर्थका अधिक सामञ्जस्य है। अक्षर और कूटस्थ यानी अविनाशी और निर्विकार नामसे भगवान् यहाँ किस पुरुषको बतलाते हैं? आठवें अध्यायमें अर्जुनने भगवान्से पूछा कि 'ब्रह्म किसको कहते हैं।' इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा, 'अक्षरं ब्रह्म परमं'—अक्षरको (परम) ब्रह्म कहते हैं। हमारी समझसे गीता और उपनिषदोंमें ब्रह्म शब्दका व्यवहार एक ही अर्थमें नहीं हुआ है। उपनिषदोंमें ब्रह्म शब्दसे भगवान्के सविशेष और निर्विशेष दोनों ही रूपोंका वर्णन है। परन्तु गीतामें 'अक्षर' या 'ब्रह्म' शब्दसे निर्विशेष और 'पुरुषोत्तम' शब्दसे सविशेषका लक्ष्य किया गया है, साथ ही यह भी कहा गया है कि निर्विशेष (ब्रह्म) से सविशेष (पुरुषोत्तम) उत्कृष्ट है।

गीतामें श्रीकृष्णने अपनेको ही पुरुषोत्तम बतलाया है। गीताके जिन जिन स्थानोंमें 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग है, उन सबके अर्थकी आलोचना करनेसे यही सिद्ध होता है कि श्रीकृष्णने 'ब्रह्म' शब्दसे कहीं अपना निर्देश नहीं किया।* प्रत्युत कई जगह स्पष्टरूपसे यह कहा है कि 'मैं ब्रह्मसे उत्कृष्ट हूं।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

'जो निरन्तर भक्तिपूर्वक मेरी ही सेवा करते हैं, वे तीनों गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ; अमृत, अव्यय, सनातनधर्म और ऐकान्तिक सुख-इन सभीकी मैं प्रतिष्ठा हूँ।' अवश्य ही यहाँ 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ पितामह चतुर्मुख ब्रह्मा नहीं है; क्योंकि यहाँ गुणातीत अवस्थाकी बात कही गयी है, चतुर्मुख ब्रह्मा गुणातीत नहीं पर सगुण है। श्रीशंकराचार्य भी यहां ब्रह्म शब्दका अर्थ गुणातीत ब्रह्म करते हैं। 'ब्रह्मभूयाय' का अर्थ 'ब्रह्मभवनाय, मोक्षाय' और 'ब्रह्मणः' शब्दका अर्थ 'परमात्मनः' करते हैं। अतएव इन श्लोकोंमें यह स्पष्टरूपसे कहा गया है कि भगवान् ब्रह्मसे भिन्न हैं—ब्रह्म भगवान्में प्रतिष्ठित है। अठारहवें अध्यायमें भी भगवान् कहते हैं—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

'अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको त्यागकर, निर्मम और शान्त होनेपर (वह) ब्रह्मके साथ एकताको प्राप्त होता है। ब्रह्मभूत होनेपर वह प्रसन्न होता है, उसके शोक और आकांक्षा नहीं रहती, वह सब भूतोंमें समदर्शी हो जाता है तब उसे मेरी उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त होती है। उस भक्तिसे वह, मैं जैसा हूं वैसा यथार्थरूपसे जाननेके अनन्तर मुझमें प्रवेश करता है।' यहाँ भी कहा गया है कि ब्रह्मकी प्राप्ति करनेके बाद भगवान्की प्राप्ति होती है। अतएव ब्रह्मसे भगवान् भिन्न हैं। अद्वैतमतके अनुसार जीव ब्रह्मके साथ एक हो जाता है। इस ब्रह्मको यदि भगवान् या पुरुषोत्तमसे नीचे दर्जेका यानी भगवान्का एक निर्विशेष अंश मान लेते हैं तो इस विषयमें अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतका सामञ्जस्य किया जा सकता है। कारण, विशिष्टाद्वैत मतके अनुसार मोक्ष प्राप्त करनेपर जीव जिस अवस्थाको प्राप्त होता है, वह जन्म-मरणादिसे अतीत है। अतः वह अक्षर या ब्रह्म शब्दवाच्य हो सकती है। इन दोनों मत और गीताके मतका सामञ्जस्य करनेसे सिद्धान्त यह ठहरता

* १०वें अध्यायके १२वें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्को 'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्' कहा है परन्तु इस अर्जुनकी उक्तिसे भगवान्के स्वरूपका निश्चय नहीं किया जा सकता।

है कि—जीवात्मा विनाशी है; जीवात्मासे अतीत एक अक्षर पुरुष है जिसका स्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होनेपर उपलब्ध होता है और तब जीव अपनेको उस अक्षर पुरुषसे अभिन्न समझता है। यही अक्षर पुरुष 'ब्रह्म' है। यह अक्षर-पुरुष पुरुषोत्तमके अन्तर्गत होनेसे इस मतके अनुसार अद्वैतवाद भी अक्षुण्ण रह जाता है।

ब्रह्मकी अपेक्षा उत्तम इस चरम वस्तुको ही गीताने परमात्मा, पुरुषोत्तम, और परमेश्वरके नामसे कहा है *। श्रीकृष्णने गीतामें जिसको 'अहं' कहा है, वही यह चरम तत्त्व है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा और ब्रह्ममें क्या भेद है? चौदहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि इस श्लोकमें भगवान्ने अपनी माया-शक्तिको योनि कहा है, और वह माया-शक्ति विकारजात समस्त पदार्थोंकी अपेक्षा बृहत् होने तथा उनका भरण करनेवाली होनेके कारण इसको 'ब्रह्म' का नाम दिया गया है। परन्तु हमारी समझमें गीतामें दूसरी जगह ब्रह्म शब्दका जिस अर्थमें व्यवहार हुआ है, यहां भी वही अर्थ लेनेमें कोई आपत्ति नहीं मालूम होती। ऐसा होनेपर यह समझा जा सकता है कि, भगवान्ने ब्रह्मके द्वारा ही जीव और जगत्की सृष्टि की है। सृष्टिका अव्यवहित कारण ब्रह्म है, परन्तु उसका मूल और आदि कारण भगवान् हैं। सृष्टिके समय जीव-जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं और प्रलयके समय ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। ब्रह्मसूत्रके प्रारम्भमें महर्षि बादरायणने ब्रह्मके जिस वेदान्तसम्मत लक्षणका निर्देश किया है, 'जन्माद्यस्य यतः' (जिससे अखिल जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें निवास करता है और जिसमें लयको प्राप्त होता है) उसके साथ गीताके इस भावका मेल हो जाता है। आठवें अध्यायमें सृष्टि और प्रलयका वर्णन किया गया है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं कि यहाँ दो अव्यक्तोंका उल्लेख है, जिनमें पहला अव्यक्त माया या अविद्या है और दूसरा अव्यक्त ब्रह्म है। परन्तु हमारी पूर्वकृत व्याख्यानुसार प्रथम अव्यक्त ब्रह्म और द्वितीय अव्यक्त भगवान् हैं। परन्तु उपर्युक्त बीसवें श्लोकका पाठ इसी प्रकार है या नहीं, इस सम्बन्धमें हमें सन्देह है। प्रचलित पाठ है—'तस्मात् अव्यक्तात् तु परः अन्यः सनातनः अव्यक्तः भावः।' हमारी समझसे निम्नलिखित पाठ अधिक युक्तिसंगत है, 'तस्मात् व्यक्तात् तु परः अन्यः सनातन अव्यक्तः भावः हमारे प्रस्तावित पाठको ग्रहण करनेसे केवल एक लुप्त अकार मात्र उठना है।—यथा—

प्रचलित—परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
प्रस्तावित—परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात् सनातनः।'

इन दोनों पाठोंके उच्चारणमें कोई अन्तर नहीं है। प्रचलित पाठके ठीक न समझनेका प्रधान कारण यह है कि इस पाठके अनुसार श्लोकके प्रथमार्द्धमें पूर्वोक्त अव्यक्तसे उत्कृष्ट दूसरे अव्यक्तका कथन है 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः' और शेषार्द्धमें इस उत्कृष्टतर अव्यक्तके लक्षण बतलाये गये हैं 'यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति' यहाँ जिन लक्षणोंसे उत्कृष्ट अव्यक्तको निकृष्ट अव्यक्तसे अलग किया गया है, उन लक्षणोंका निर्देश करना ही युक्तियुक्त है, परन्तु जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे दोनों अव्यक्तोंके साधारण लक्षण हैं, क्योंकि सब भूतोंका विनाश होनेपर उत्कृष्ट या निकृष्ट कोईसे अव्यक्तका भी नाश नहीं होता। इसके सिवा 'तस्मात् अव्यक्तात्' की अपेक्षा 'तस्मात् व्यक्तात्' के पाठ युक्तियुक्त भी है, क्योंकि पूर्वके १८ वें श्लोकमें अव्यक्तका कोई भी उल्लेख नहीं है, पर उसमें व्यक्तका ही वर्णन है। 'तस्मात् अव्यक्तात्'

---

* गीताके निम्नलिखित श्लोकोंमें इस चरम तत्त्वका या पुरुषोत्तम-उल्लेख है—

अ० ४। ५ ६-१४; अ० ५। १४, १५, २९ अ० ६। ७, १४, २९-३१; अ० ७। ४ ४, ६, १०, १३, १४-१६; अ० ९। ३, ४-११, १८, १९, २२-२४, २६, २९, ३२, ३४; अ० १०। ३-४२; अ० ११। १८-२०, ३२, ३३, ३७-३९, ४०, ४३, ५३-५५; अ० १२। ६, ७; अ० १३। ३, २३, २८, ३२, ३३; अ० १४। ३, ४, १९, २६, २७; अ० १५। ७, १२-१५, १६-१९; अ० १६। १९; अ० १८। ४६, ५४, ५५, ५६, ६१, ६२, ६५, ६६।

पाठ लेनेसे बीचमें एक श्लोकको छोड़कर पिछले तीसरे श्लोकको लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त २१वें श्लोकसे भी यही प्रतीत होता है कि बीसवें श्लोकमें एक ही अव्यक्तका वर्णन है, क्योंकि २१वें श्लोकमें कहा गया है कि, 'अव्यक्तको अक्षर कहते हैं, वही परम गति है—जिसको पाकर फिर संसारमें लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा परम धाम है।' बीसवें श्लोकमें यदि दो प्रकारके 'अव्यक्त'का उल्लेख होता तो इक्कीसवेंमें कौनसे 'अव्यक्त'का प्रसंग है, यह स्पष्ट कहना चाहिये था, परन्तु २१वें श्लोकमें इस ढंगसे कहा गया है मानों पहले एक ही ब्रह्मका उल्लेख हो' २१वें श्लोकमें 'अव्यक्त'को अक्षर कहा है। आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा है 'अक्षर ब्रह्म परमम्'। १५वें अध्यायमें कहा है, पुरुष तीन प्रकारके हैं—क्षर, अक्षर और उत्तम। अतएव मालूम होता है यह अव्यक्त, ब्रह्म, अक्षर पुरुष सब एक ही वस्तुके नाम हैं।

तेरहवें अध्यायके श्लोक १२से१७में ब्रह्मका वर्णन है। ब्रह्म और भगवान्‌की अभिव्यक्तिके भेदका स्मरण रखकर हमें यह वर्णन पढ़ना चाहिये—

> ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
> अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
> सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
> सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
> सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
> असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
> बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
> सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
> अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
> भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
> ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
> ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

श्रीशंकराचार्यजीने अवश्य ही यह कहा है कि यह परम तत्त्व या भगवान्‌का ही वर्णन है परन्तु बारहवें श्लोकमें जो कहा है, 'अनादि मत्परं ब्रह्म' उसका स्वाभाविक अर्थ होता है 'ब्रह्म अनादि और मत्पर' (उसकी अपेक्षा मैं अर्थात् भगवान् उत्कृष्ट हैं, 'अहं पर उत्कृष्टतरः यस्मात्') है। हमने ब्रह्म और भगवान्‌का जो भेद दिखलाया है, उसके अनुसार इस स्वाभाविक व्याख्याको ग्रहण करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु श्रीशंकराचार्यजीके मतसे ब्रह्म ही परम तत्त्व है, इसलिये उन्होंने इस स्वाभाविक व्याख्याको ग्रहण नहीं किया है। उन्होंने 'अनादिमत्'का एक पद और 'परं'का दूसरा अलग पदच्छेद किया है। 'अनादिमत्' पदको उन्होंने इस तरहसे सिद्ध किया है कि 'आदिरस्य अस्ति इति आदिमत्। न आदिमत् अनादिमत्।' इस भावसे सिद्ध किये हुए पदका भी वही अर्थ होता है जो केवल 'अनादि' शब्दका होता है। जब अनादिसे ही काम चल जाता है, तब व्यर्थ ही इस विरल-प्रयोगकी कोई आवश्यकता नहीं थी। श्रीशंकराचार्यने इस आपत्तिको समझा भी है। वे कहते हैं कि 'अनादि' और 'मत्पर' पदच्छेद करनेसे अर्थ-संगति नहीं होती, इसीलिये 'मत्' शब्द अनावश्यक होनेपर भी श्लोक-पूरणार्थ ऐसा प्रयोग किया गया है। परन्तु अनादि और मत्पर पदच्छेद करनेसे हमारी व्याख्याके अर्थमें कोई असंगति नहीं होती।*

उपर्युक्त ब्रह्मके वर्णनमें, 'मत्परं'के अतिरिक्त सभी बातें भगवान्‌के सम्बन्धमें प्रयुक्त हो सकती हैं। 'सर्वमावृत्य तिष्ठति, निर्गुण, भूतभर्तृ, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु, ज्योतिषां-ज्योतिः, तमसःपरं, ज्ञानं ज्ञेयं, हृदि सर्वस्य विष्ठितं' इन सबका साधारणतः भगवान्‌के प्रति प्रयोग होता है। अतएव ब्रह्म और भगवान् दोनोंके ही ये साधारण लक्षण हैं एवं यही लक्षण ब्रह्म और भगवान्‌को जगत्‌की अन्यान्य वस्तुओंसे अलग कर देते हैं। फिर ब्रह्म और भगवान्‌में भेद सिद्ध करनेवाले कौनसे लक्षण हैं? एक लक्षण तो पहले बतलाया जा चुका है।

> सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
> तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

अखिल विश्वके बीज भगवान् हैं, ब्रह्म उसका उत्पत्ति-स्थान है। दूसरी जगह भगवान्‌ने ब्रह्मको अपना धाम बतलाया है।

> अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
> यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
> न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
> यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

---

* श्रीरामानुज स्वामीने भी यहां 'अनादि' और 'मत्पर' इन दोनों शब्दोंको अलग अलग लिया है और हमने जिस प्रकारसे व्याख्या की है, उन्होंने भी दोनोंकी वैसी ही व्याख्या की है। परन्तु उनके मतसे इन श्लोकोंमें जीवात्माका निर्देश है। वे जीवको अनादि और निर्विकार मानते हैं।

इन दोनों श्लोकोंमें ही ब्रह्मका लक्षण है। ब्रह्म और भगवान्‌का भेदसूचक एक लक्षण है ईश्वरत्व। ब्रह्म समस्त जगत्‌का प्रसव करते हैं और भरण भी करते हैं (भूतभर्तृ) परन्तु ब्रह्मको कहीं भी प्रभु, ईश्वर या अन्तर्यामी (जो हृदयमें रहकर नियमन या शासन करता है) नहीं कहा। भगवान्‌के लिये इस तरहके शब्द जगह जगह मिलते हैं। जैसे–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (१५।१७)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ (९।१८)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (१८।६१)

गीताके आठवें अध्यायका नाम है 'अक्षर-ब्रह्मयोग'। हम पहले कह चुके हैं कि अक्षर और ब्रह्म भगवान्‌की एक अभिव्यक्ति है और पुरुषोत्तम उससे उत्कृष्टतर दूसरी अभिव्यक्ति है। पुरुषोत्तम ब्रह्मसे उत्कृष्ट है, यह तथ्य पन्द्रहवें अध्यायमें स्पष्ट सिद्ध है। इस अध्यायका नाम है 'पुरुषोत्तम योग'। इसके अन्तिम श्लोकमें भगवान् कहते हैं–

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

भगवान् ब्रह्मसे उत्कृष्ट है, यह तत्त्व साधारणतः अविदित है और अत्यन्त ही गुप्त है। इसीलिये भगवान्‌ने इसको 'गुह्यतम' कहा है। आठवें अध्याय या 'अक्षर-ब्रह्मयोग' में भगवान् कहते हैं–

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

इस श्लोकको देखकर मालूम होता है कि अक्षर या ब्रह्म क्या वस्तु है, इसका प्रश्न यहां स्पष्ट निर्देश किया जायगा। परन्तु इसके अगले ही श्लोकोंमें अकस्मात् दूसरा प्रसंग आ गया है कि मृत्युकालमें किस प्रक्रियासे उत्तम गति प्राप्त हो सकती है। कठोपनिषद्‌में भी ऐसा ही एक मन्त्र मिलता है–

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण, ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(२।१५)

इसमें श्रुतिने जिस तत्त्वके कहनेका प्रस्ताव किया, उसे 'ओं' शब्दके द्वारा कहकर अगले श्लोकोंमें उसीका विचार किया–

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

परन्तु गीतामें भगवान्‌ने प्रस्तावित विषयके सम्बन्धमें इस तरह कुछ भी न कहकर सहसा (Abruptly) क्यों दूसरे प्रसंगपर कहना आरम्भ कर दिया? क्या इस प्रसंगके कुछ श्लोक छूट गये हैं?

ब्रह्मकी अपेक्षा भगवान् उत्कृष्ट हैं, परन्तु है वह भगवान्‌से अत्यन्त घनिष्ठ वस्तु। ब्रह्म और भगवान् दोनों ही मायातीत हैं। इसीलिये भगवान्‌ने ब्रह्मको अपना धाम बतलाया है, और कहा है कि, ब्रह्मको प्राप्त करनेपर फिर दुःखभरे संसारमें लौटकर नहीं आना पड़ता।—'यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते' (८।२१) फिर कहा है–'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मृतमश्नुते।'

वास्तविक ब्रह्मप्राप्ति हो जानेके बाद भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। यही बात भगवान्‌ने १२ वें अध्यायमें कही है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

यह ब्रह्मोपासनाका प्रसंग है, क्योंकि अक्षर कूटस्थ आदि शब्द अन्यत्र ब्रह्मके सम्बन्धमें ही प्रयोग किये गये हैं। इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा था कि भगवान्‌की उपासना श्रेष्ठ है या ब्रह्मकी श्रेष्ठ है? जैसे—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

उत्तरमें भगवान्‌ने मीमांसा करके कहा कि जो भगवान्‌की उपासना करते हैं, वही श्रेष्ठ हैं। यानी भगवान्‌की उपासना ही उत्तम है। जो ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे भी शेषमें भगवान्‌को ही प्राप्त करते हैं, परन्तु उस ब्रह्मोपासनाका मार्ग बहुत कष्टकर है।

ब्रह्म निर्गुण है, उसके सत्त्वगुणोपहित सगुण भावको भगवान् या परमात्मा कहते हैं, इससे गीताके पुरुषोत्तमभावका समाधान नहीं होता। कारण, प्रथम तो पुरुषोत्तम या परमात्मा केवल सगुण नहीं है वे भी ब्रह्मकी तरह निर्गुण हैं–'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः॥ (१३।३१)

दूसरे अद्वैत मतसे ब्रह्म ही चरम तत्त्व है, विष्णुसे ब्रह्म उत्कृष्ट है, विष्णु ब्रह्ममें प्रतिष्ठित है परन्तु गीताके मतसे परमात्मा ही चरम तत्त्व है, ब्रह्मकी अपेक्षा परमात्मा उत्कृष्ट है; ब्रह्म परमात्मामें ही प्रतिष्ठित है। हम पहले कह चुके हैं कि इन दोनों मतोंका इस प्रकार समन्वय हो सकता है कि गीतामें पुरुषोत्तम और ब्रह्म शब्दद्वारा भगवान्‌की दो भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियोंका वर्णन है और वेदान्तमें केवल ब्रह्म शब्दसे ही दोनोंका कथन है। इसलिये वेदान्तमें ब्रह्मको चरम तत्त्व कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

गीता और शास्त्रविधि

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

सोलहवें अध्यायके इस अन्तिम श्लोकमें भगवान् कहते हैं, 'अतएव क्या कार्य है, क्या अकार्य है, इसकी व्यवस्थामें शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण है। शास्त्र-विधानमें क्या कहा गया है उसे जानकर ही तुम्हें कर्म करना चाहिये।' हमारे यहां शास्त्रोंकी कमी नहीं है, संसारके प्रति महान् कर्मसे लेकर क्षुद्राति-क्षुद्र कार्यका भी शास्त्रविधान है। क्या करना चाहिये, क्या न करना चाहिये, सो सब स्पष्टरूपसे बतलाया गया है। इसलिये कार्याकार्यका निर्णय तो सहजहीमें हो सकता है। निश्चिन्त चित्तसे शास्त्र-वचनोंका अनुसरण करते रहनेसे ही काम बन गया! यदि यही बात है तो गीतामें कर्म-तत्त्व समझानेके लिये अठारह अध्यायोंकी अवतारणा क्यों की गयी? इस एक श्लोकसे ही सारा झगड़ा निपट जाता। परन्तु वास्तवमें यह बात इतनी सहज नहीं है। अर्जुनके लिये शास्त्रविधि जानना बाकी नहीं था, जीवनभर शास्त्रविधिका पालन करते हुए अर्जुनने शुद्ध, संयत और सात्त्विक भावसे अपना जीवन बिताया था। सो भी कुरुक्षेत्रके युद्धस्थलमें वह स्वधर्मके नामसे कांप उठे तथा शोक, दुःख, संशयसे उनके शरीर, मन, प्राण व्याकुल हो गये! अर्जुनने युद्धके विरोधमें जो युक्तियां उपस्थित की थीं, सो सब प्रचलित शास्त्रोंकी ही थीं। अतएव 'शास्त्रविधि जानकर कर्म करो' इतना कह देनेसे ही अर्जुनकी समस्याका कोई समाधान नहीं होता। 'जय-पराजय और जीवन-मरणको तुच्छ समझकर कर्तव्य-बोधसे युद्ध करना क्षत्रियका धर्म है' यह जैसे शास्त्रका विधान है, वैसे ही 'जाति और कुल-धर्मकी रक्षा करना, अहिंसा, गुरुजनोंका सम्मान, वर्णसंकर-निवारण, पितृपुरुषोंकी पिण्ड-रक्षा आदि' भी शास्त्रका विधान है। अर्जुनको कौनसा विधान मानना चाहिये? दोनोंमें कौनसा विधान बड़ा है? गीतामें इस विषयपर कोई आलोचना नहीं है। शास्त्रके मतसे क्षत्रियका क्या धर्म है, सो अवश्य ही गीताने बतलाया, परन्तु उससे अर्जुनकी तृप्ति नहीं हुई। जिस कर्तव्य-धर्मके पालनमें गुरु-हत्या और स्वजन-हत्या होती है, अपने ही हाथों समाज और जातिके ध्वंसका पथ साफ करना पड़ता है, उसके लिये अर्जुनके प्राणोंने अनुमति नहीं दी। इसीसे अर्जुन अपना 'निश्चित श्रेय' जाननेके लिये श्रीकृष्णके शरणापन्न हुए। श्रीकृष्णने अर्जुनकी मूल समस्याका गीतामें जो कुछ उत्तर दिया है, उसमें मूल सिद्धान्त यही है कि बाह्य शास्त्रोंद्वारा इन सब विषयोंका शेष समाधान नहीं होता, शेष समाधान चाहते हो तो इनको लांघकर ऊपर उठो—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

इसीलिये गीताका अर्थ जाननेमें किसी एक श्लोक या एक अंशपर जोर देनेसे काम नहीं चलता। अन्यान्य अंशोंके साथ उसे मिलाकर समग्र-भावसे अर्थ समझना चाहिये। "शास्त्रविधि जान लो और तदनुसार कार्य करो।" यह बात केवल उन्हीं लोगोंके प्रति कही जा सकती है, जो किसी उच्च भाव या उच्च आदर्शका अनुसरण नहीं करते और काम, क्रोध, लोभके वशमें रहकर अपना जीवन बिता रहे हैं। परन्तु जो इस नीची श्रेणीके पुरुष नहीं हैं, अर्जुनकी भांति शास्त्रानुसार जीवन बिताकर जिन्होंने काम, क्रोध, लोभको जीत लिया है, उनको तो अब शास्त्रोंसे ऊंचे उठकर सत्यको प्राप्त करना है। इसलिये गीता उसी ऊपरके सत्यका—उत्तम जीवनका पता बतलाती है। यही गीताका 'उत्तम रहस्य' है।

स्थूलरूपसे कार्याकार्यका विचार प्रचलित शास्त्रोंसे ही होता है यह ठीक है परन्तु कर्मतत्त्वकी सूक्ष्म मीमांसा अत्यन्त ही कठिन है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

बहुतसे लोग कहते हैं कि शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंको ईश्वरकी आज्ञा समझकर निष्कामभावसे पालन करना ही गीताका कर्मयोग है और इसीसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः गीताका कर्मयोग इससे बहुत ऊंचा है। हां, यह उसकी प्राथमिक अवस्था हो सकती है! केवल शास्त्रनिर्दिष्ट कर्म करना ही गीताका कर्मयोग नहीं है, ईश्वरार्पण बुद्धिसे कोईसा भी कर्म करना कर्मयोग है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

पहली अवस्थामें केवल कर्मफल भगवान्के अर्पण किया जाता है, जो कुछ किया जाता है सो भगवदर्थ ही किया जाता है, 'मैं भगवान्का दास हूं-उनका सेवक हूं और उन्हींका काम करता हूं।' इस भावसे कर्म किया जाता है। परन्तु आगे चलकर केवल कर्मका फल ही नहीं, परन्तु कर्म भी ईश्वरके अर्पण कर दिया जाता है,-'मैं कर्त्ता नहीं हूं, मेरे लिये कोई कर्म नहीं है, भगवान्की शक्ति ही मेरे अन्दर रहकर, मेरी प्रकृतिको यन्त्र बनाकर सब कर्म कर रही है।' हृदयमें इस भावको रखकर कर्म करनेसे वह कर्म ईश्वरके अर्पित होता है। संसारके सभी प्रयोजनीय कर्म इस प्रकार ईश्वरार्पित-बुद्धिसे करना ही गीताका कर्मयोग है और इसीसे परम पदकी प्राप्ति हो सकती है।—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

इस 'सर्वकर्माणि' शब्दसे केवल श्रुति-स्मृतिविहित नित्य-नैमित्तिक कर्म समझनेसे तो गीताकी शिक्षा अत्यन्त संकीर्ण हो जाती है। बाहरके किसी भी विधिनिषेधका अनुसरण करना दूसरी बात है। भीतरके भावको किस तरहसे रखना चाहिये, यह जान लेना ही गीताके कर्मयोगके वास्तविक रहस्यको समझना है। कोई भी कर्म हो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे निष्काम होकर करना ही गीताका 'नियत कर्म' है। भीतरका भाव ठीक रहनेपर युद्ध सरीखा घोर हिंसात्मक कार्य भी कर्मयोग बन सकता है और भीतरका भाव ठीक न रहनेसे शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, तप आदि भी राजस तामस हो जाते हैं।

जिसको हम ईश्वरकी आज्ञा समझते हैं, और ऐसा ही विश्वास करते हैं। उसके अनुसार चलनेसे हमारी आत्माकी उन्नति होती है और हम क्रमशः ईश्वरकी ओर बढ़ सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु किस शास्त्रको ईश्वरकी आज्ञा समझें? यदि हमारे मनमें यह सन्देह हो कि अमुक शास्त्र लोगोंने अपने साम्प्रदायिक स्वार्थके लिये ही बनाया है, अथवा जो लोग उसके रचयिता हैं वे स्वार्थ-प्रेरित न होनेपर भी ईश्वरको जाननेवाले नहीं थे, दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न ऋषि नहीं थे। ऐसी स्थितिमें हमें यह विश्वास नहीं होगा कि यह शास्त्र ईश्वरके वचन हैं। समाज यदि जोरसे शासन करेगा-हमें उस शास्त्रको माननेके लिये बाध्य करेगा-तो न उसमें हमारा कल्याण होगा और न समाजका, क्योंकि जिसका जैसा विश्वास है, जैसी श्रद्धा है, वह उसीके अनुसार अपनेको बना सकता है, दूसरी तरह नहीं—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अधिकांश स्थलोंमें मनुष्य जो शास्त्र मानकर चलते हैं सो केवल आदतके कारण, देखादेखीसे या व्यक्तिगत और सामाजिक स्वार्थके लिये ही चलते हैं। समाजमें मनुष्य सुख-सुविधासे रह सके, इसी बातपर विचारकर मनुष्य अपने ज्ञान और अपनी अभिज्ञताके अनुसार शास्त्रविधि बनाता है। शास्त्र समाजके स्वार्थका ही अनुयायी होता है। शास्त्रके अनुसार चलकर मनुष्य अपने ही बड़ेसे बड़े स्वार्थका साधन करते हैं। केवल मुखसे कहनेमात्रसे ही वे सब विधि-निषेध ईश्वरके वचन नहीं हो सकते और उनके अनुसार कर्म करनामात्र ही निष्काम भी नहीं होता। जिसका जैसा स्वभाव है, जैसा अभ्यास है, जैसी वासना है वह तदनुसार ही चलता है, परन्तु वह यदि बुद्धिमान् होता है तो अनेक प्रकारके शास्त्रवचनोंका हवाला देकर अपने अभ्यस्त आचार-व्यवहारका समर्थन कर लेता है। बहुत समय मनुष्य अपने मनके अनुसार शास्त्र-वचन बनाकर ऋषि मुनियोंके नामसे भी चला देते हैं। हमारे यहां बहुतसे ऐसे वचन हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन सब शास्त्रोंको ईश्वरके वाक्य माननेमें सच्चा विश्वास किसीको भी नहीं होता और अन्दर वैसा विश्वास न रहनेके कारण उन शास्त्रोंके अनुसार चलनेसे किसीकी आध्यात्मिक उन्नति भी नहीं होती। पर गतानुगतिक अभ्यास और संस्कार दृढ़ हो जाते हैं, आत्माके बन्धनकी गांठ और भी उलझ जाती है, मुक्तिके पथमें अनेक बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं। 'मैं ईश्वरकी आज्ञा मानता हूं' इस प्रकार मुखसे कहनेसे ही काम नहीं चलता। जबतक उसके साथ प्राण, मन और हृदयका योग न हो तबतक वह सब तरहसे ही व्यर्थ होता है।

इसीलिये अन्ध-परम्परासे शास्त्रोंका अनुसरण करने, शास्त्रोक्त आचार-व्यवहारोंका पालन करने और शास्त्रमतके अनुसार जप, तप, योग, यज्ञ करने पर भी आध्यात्मिक जीवनमें लोग एक पद भी आगे नहीं बढ़ सकते। बाहर धर्म-भावका एक आडम्बर अवश्य होता है परन्तु उनका हृदय अशुद्ध और अपवित्र ही रह जाता है वरन् इस मिथ्याचारके कारण अधिकांश स्थलोंमें अवनति ही होती है। वेद भिन्न भिन्न हैं, स्मृतियाँ भिन्न भिन्न हैं, नाना मुनियोंके नाना मत हैं, इस अवस्थामें मनुष्य किसी एक वाक्यपर कैसे आस्था कर सकता है? इन शास्त्रवचनोंसे लोगोंकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है, इस बातको तो गीताने स्वयं स्वीकार किया है—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

श्रुतिने तुम्हारी बुद्धि विचलित हो गयी है, जब यह समाधिमें स्थिर होगी, तभी तुम योगकी प्राप्ति कर सकोगे, तुमने जो शास्त्र सुने हैं या अब भी जो सुनने बाकी हैं, उन सबसे अब तुम उदासीन हो जाओगे,—गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।

यदि ऐसा ही है तो फिर शास्त्रकी सार्थकता क्या है? हिन्दुओंमें शास्त्रका इतना सम्मान क्यों है? गीताने ही यह क्यों कहा है कि शास्त्र ही कार्याकार्य की व्यवस्थामें प्रमाण है? वह शास्त्र कौनसा है?

भारतके प्राचीन ऋषि अपनी दिव्य साधनालब्ध दृष्टिसे इस बातको देख सके थे कि भगवान्‌को प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका चरम उद्देश्य है; यही श्रेष्ठ कल्याण है। उन्होंने भगवान्‌को जान लिया था और उस मार्गको भी खोज लिया था, जिसपर चलनेसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌को जानने के साथ ही उन्होंने संसार, मनुष्य और संसारमें मनुष्यके जीवनका रहस्य भी समझ लिया था। वे इस बातको समझे थे कि साधारण मनुष्य एक बारगी ही दिव्य ज्ञान, अध्यात्म-जीवन प्राप्त नहीं कर सकता, संसारके साधारण जीवनको बिताते हुए इसीके द्वारा आत्माकी पुष्टि कर उसे क्रमशः भगवान्‌की ओर अग्रसर होना पड़ता है।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। (ईश उपनिषद्)

जीवनके सभी क्षेत्रों और सभी अंशोंकी सार्थकता है; देह, प्राण, मन सभीकी उन्नति करनी होगी, परन्तु इस बातकी ओर सदैव ध्यान रखना चाहिये कि यह उन्नति मनुष्यको क्रमशः अध्यात्मभावमें परिणत करती रहे, कहीं भोगोंके द्वारा वह पशु या असुरके रूपमें परिणत न हो जाय। ऋषियोंने इसप्रकारसे अर्थ और कामके साथ धर्मका समन्वय किया था और उसीको मोक्ष-प्राप्तिका मार्ग बतलाया था। इसीलिये वे केवल अध्यात्म-साधनका उपदेश देकर ही चुप नहीं हो रहे थे। जीवनके सारे क्षेत्रोंमें, संसारके सभी व्यवहारोंमें किस प्रकार बरतनेसे पूर्ण परिणति हो सकती है, इस बातकी भी खोजकी थी और इसीसे सभी विषयोंपर गम्भीर गवेषणामूलक ग्रन्थ बनाये थे। वे ही सब ग्रन्थ असली शास्त्र हैं। इस समय जैसे कुछ विधिनिषेध और आचार-व्यवहारोंकी समष्टिको ही शास्त्र कहते हैं, प्राचीन भारतमें ऐसी बात नहीं थी। अङ्गरेजीमें जिसे Science और Art कहते हैं, भारतमें भी शास्त्र उसी प्रकारका था। उसमें केवल विधि-निषेधकी ही आज्ञा नहीं थी, उसमें विश्लेषण था, युक्ति थी, और कैसे क्या होता है,—इस सम्बन्धमें कार्य-कारणका परस्पर निर्देश था। मनुष्य अपनी बुद्धिसे इन सब चीजोंको समझता था और अपने कल्याणके लिये ज्ञानपूर्वक उन शास्त्रोंके अनुसार चलता था।

किस प्रकारकी साधनासे मोक्ष या अध्यात्म-जीवनकी प्राप्ति होती है? जिसमें इस विषयका युक्तिपूर्ण और विशद वर्णन है, उसीका नाम अध्यात्म-शास्त्र है। गीता स्वयं एक ऐसा अध्यात्म-शास्त्र है—'गुह्यतमं शास्त्रम्।' गीताने अन्धभावसे शास्त्रका अनुसरण करनेको नहीं कहा, परन्तु बुद्धिद्वारा समझकर करनेके लिये कहा है (१२।२०) अन्यान्य संहिताओंकी भांति क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, इसी सम्बन्धमें कुछ विधि-निषेध बतलाकर और नरकका भय दिखलाकर ही गीता चुप नहीं रही। यदि ऐसा होता तो गीता यथार्थ-शास्त्र नहीं कहलाती। यज्ञ, दान और तप किस भावसे करने पर चित्त-शुद्धि होती है? निष्काम-भावसे कर्म करना मनुष्यके लिये कर्तव्य क्यों है? और इस प्रकारके कर्मोंसे भगवत्-प्राप्ति कैसे होती है? गीतामें इन सब प्रश्नोंका समाधान बड़े गम्भीर भावसे किया गया है, और बुद्धिसे समझकर ही उसके अनुसार चलनेके लिये कहा गया है।

ऋषियोंने केवल आध्यात्मिक विषयों पर ही शास्त्र नहीं रचे थे। साहित्य, शिल्प, समाज, राजनीति, अर्थनीति, समरनीति, कृषि, वाणिज्य और चिकित्सा आदि सभी विषयोंपर उन्होंने गम्भीर गवेषणामूलक युक्तिपूर्ण शास्त्रोंकी रचना की थी। मानव-जातिकी बहुत दिनोंकी अभिज्ञता

और ऋषियोंके ज्ञान, उनकी बुद्धि तथा अन्तर्मुख दृष्टि पर ही इन सब शास्त्रोंकी भित्ति थी। इसीसे लोग श्रद्धासे उन सबका अनुसरण करते और उस श्रद्धाके परिणाममें ही उन शास्त्रोंके द्वारा वे सुन्दर फल भी प्राप्त करते थे। वे ऋषि-प्रणीत प्राचीन शास्त्र अधिकांश ही लुप्त हो गये हैं। कारण, वे देश-कालकी अवस्थाके अनुसार, मानवीय क्रम-विकासकी सामयिक और लौकिक आवश्यकताओंके अनुसार रचे गये थे। अब भी जो प्राचीन शास्त्र बच रहे हैं, उनमें भी दो भाग हैं। एक भाग वह है जो सब देशोंमें सब समयके लिये उपयोगी *सनातन धर्म है*, *दूसरा भाग वह है* जो केवल प्राचीन भारतके लिये ही उपयोगी युगधर्म था। दृष्टान्तके लिये भारतके वर्ण-विभागको ले सकते हैं। इसकी जड़में जो सत्य है, सो सनातन है। प्रत्येक जाति और प्रत्येक मनुष्यकी विशिष्ट प्रकृति होती है। उस प्रकृतिके अनुसार कर्म करना ही उसके लिये कल्याणकर हुआ करता है। परन्तु इस सत्यका अनुसरण कर प्राचीन भारतने समाजको जिन चार भागोंमें बांट दिया था, वह वर्ण-विभाग बहुत दिनोंसे विशृङ्खल हो गया है। जिस वर्णसंकरताके भयसे अर्जुन कुरुक्षेत्रके युद्धसे हट रहे थे, भगवान्‌के गूढ़ अभिप्रायसे भारतमें उसी वर्णसंकरताकी सृष्टि होकर आज अनन्त प्रकारकी जातियोंका प्रादुर्भाव हो गया है, इस समय शास्त्रके लक्षणानुसार कौन ब्राह्मण है? कौन क्षत्रिय है? कौन वैश्य है और कौन शूद्र है? यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता। जन्म और व्यवसायसे भी पूरा पता नहीं लगता। इस अवस्थामें चतुर्वर्ण-विभागके अनुसार कर्म-निर्देश करनेकी पहले जैसी उपयोगिता नहीं है। परन्तु अपनी अपनी विशिष्ट प्रकृतिके अनुसार कर्म करना ही सबके लिये कल्याणकर है। ऋषियोंद्वारा बतलाये हुए इस सनातन सत्यका ही हमें अनुसरण करना होगा और इसी सत्यके अनुसार वर्त्तमान देश-कालके उपयोगी नवीन समाज-व्यवस्था करनी पड़ेगी।

'प्राचीन शास्त्रोंसे सहायता लेनेके लिये उनके उपयोगी अंशोंको चुन लेना होगा परन्तु उन्हें चुननेके लिये भी कुछ कुछ उन ऋषियोंकीसी दिव्य दृष्टि भी चाहिये। इसके अतिरिक्त केवल प्राचीन शास्त्रोंपर निर्भर करनेसे ही काम नहीं होगा। 'सत्य एक और सनातन है' इसमें कोई सन्देह नहीं है। हिन्दू, मुसलमान और ईसाईका सत्य अलग अलग नहीं है। लाख वर्ष पहले जो सत्य था वही आज भी सत्य है। हाँ, देश, काल, पात्रके भेदसे वह एक ही सत्य भिन्न भिन्नरूपसे ग्रहण किया जाता है। फिर उस एक ही सनातन सत्यसे अन्यान्य अनेक सत्य उत्पन्न और विकसित होते हैं। उन सभीका, किसी एक विशेष ग्रन्थ या एक विशेष अवतारके द्वारा निःशेषरूपसे कहा जाना सम्भव नहीं है।' (श्रीअरविन्दकी गीता)। समस्त सत्योंके मूल, सब वेदोंके कर्त्ता और ज्ञाता श्रीभगवान् हमारे हृदयमें ही विराजमान हैं (१५।१५) साधनाके द्वारा उनसे युक्त होकर हमें नये नये सत्योंकी खोज करनी पड़ेगी। दूसरे देशोंके दूसरे दूसरे लोग जिन सत्योंका आविष्कार करते हैं, वह भी हमें जानना होगा और उन सबके समवाय और सामञ्जस्यसे जीवन और समाजके नवीन रूपका विकास करना पड़ेगा। इसी तरह मानव-समाजके अन्दर अनन्त सुन्दर श्रीभगवान्‌के नये नये भावोंका स्फुरण होगा।

कुछ आचार-व्यवहारोंको अन्ध-भावसे मानकर चलनेसे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनकी विशेष क्षति होती है, यह पहले कहा जा चुका है। मनुष्यके अन्दर जो आत्मा है वह भागवत-सत्ता है, उसको जितनी स्वाधीनता होगी, वह अन्दरके भागवत-भावका उतना ही विकास करेगी। विधि-निषेधके असंख्य बन्धनोंसे बांध रखनेपर स्वभावकी दिव्य स्फूर्तिमें बाधा पहुंचती है, उससे अन्तरस्थित भगवान्‌को ही कष्ट दिया जाता है, 'मां चैवान्तःशरीरस्थं।' व्यक्ति और समाजके कल्याणके लिये आचारके अनुसरणकी जो आवश्यकता है, उसको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु 'अत्याचार' भी अच्छा नहीं है। जो आचार निरर्थक है, जिस आचारका मतलब हम नहीं समझते, जिस आचारको हम स्वेच्छासे ज्ञानपूर्वक ग्रहण नहीं करते, जो भय दिखाकर हमें ग्रहण कराया जाता है, उससे हमारा कल्याण नहीं हो सकता। अतएव बाहरका विधि-निषेध जितना कम हो, उतना ही अच्छा है, पर वह भी युक्तियुक्त और व्यक्ति तथा समाजके लिये कल्याणकारी होना चाहिये, जिसका लोग भलीभांति समझ सोचकर स्वेच्छासे अनुसरण करें। लड़कपनमें मैंने एक श्लोक सुना था-

> आर्द्रकं मधुमांसञ्च यो भक्षति रविवासरे।
> सप्तजन्म भवेद्रोगी जन्म जन्म दरिद्रता॥

इसके बाद यदि कभी भूलसे रविवारको अदरख खा लेता तो प्राण कांप उठते। दो तीन दिनों तक लगातार वही आशंका बलवती बनी रहती और उससे शरीर तथा मनको नुकसान पहुंचता। कोई भी

चीज़ प्रतिदिन खाते रहना उचित नहीं है, बीच बीच में बाद देना चाहिये। यह अवश्य ही युक्तियुक्त बात है। पर एक बार रविवारको अदरख खाते ही सात जन्मों तक बीमारी और सभी जन्मोंमें दरिद्रता रहेगी, ऐसी कोई बात अब समझमें नहीं आती। इस प्रकारसे शास्त्र-रचना करनेका एक समय यहांके लोगोंको नशा सा हो गया था। इससे समाजको कितना नुकसान पहुँचा है, जिसका अनुमान करना कठिन है। आजकलकी यही दशा है। शास्त्रोंके असली अभिप्रायको लोग भूल गये हैं, या उसकी आवश्यकता नहीं समझते। तथापि परलोकमें नरकोंके मिथ्याभयसे, समाजके शासनके डरसे या परम्परागत अभ्यास और संस्कारके वश होकर 'मूढग्राहेणात्मनो' उन सबको मानकर चल रहे हैं। यह तामसिकता है। इस भावसे शास्त्र और आचारोंका पालन करनेसे आत्माकी अवनति होती है। हिन्दू-समाजमें उठते-बैठते, खाते-पहनते, चलते-फिरते और छींकते-खाँसते सभी बातोंमें इतना अधिक विधि-निषेध है, पद पद पर इतने शास्त्रोंको मानकर चलना पड़ता है कि जिससे जीवनकी स्वाधीनताका विकास असम्भव हो जाता है। ऋषि-मुनियोंने जीवनके सर्वतोमुखी विकासके लिये जिन आचारोंका विधान किया था, वही आज हमारे अज्ञानसे अत्याचारके रूपमें परिणत होकर अपने गुह्यतम आध्यात्मिक उद्देश्यको व्यर्थ कर रहे हैं। जो जीवन-पथका सहारा था, हाथकी लकड़ी थी, वही आज बाँस बनकर छातीमें चुभ रहा है। इसीलिये आज समाजहितैषी पुरुष इस अन्धपरम्परागत शास्त्र-पालनके विरुद्ध सर्वत्र विद्रोहकी घोषणा कर रहे हैं। कुरुक्षेत्रमें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं धर्म और समाजकी ग्लानिके विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर सदाके लिये इस विद्रोहके आदर्शको सामने रख दिया है।

जबतक देशकी प्रचलित भाषा संस्कृत थी, तबतक तो जनसाधारण संस्कृतमें शास्त्रोंका रहस्य हृदयङ्गम कर बुद्धिके साथ उसका अनुसरण करते थे। परन्तु जबसे संस्कृतके बदले देशमें भिन्न भिन्न दूसरी भाषाओंका प्रचार हुआ, तभीसे जनता आर्य शिक्षा-दीक्षाके मूलसे विच्छिन्न हो गयी। इसके बाद संस्कृत जाननेवाले जो कुछ विधान करते, उसीको लोग शास्त्र समझकर मानने लगते। इसी प्रकार क्रमशः धर्म, समाज और शास्त्रोंमें नाना प्रकार ग्लानि, मिथ्याचार और अत्याचारने प्रवेश किया। आधुनिक युगके आरम्भमें जब महाभारत, रामायण और पुराणोंका संस्कृतसे प्रान्तीय भाषाओंमें अनुवाद होने लगा, उनके आधारपर दूसरी भाषाओंमें ग्रन्थ बनने लगे, गोस्वामी तुलसीदासजी सरीखे सन्त प्रान्तीय भाषामें रामायण जैसे ग्रन्थोंकी रचना करने लगे, तब संस्कृतज्ञ लोग सशंकित हो गये। 'देवभाषा संस्कृतमें जो भाव व्यक्त हुए हैं, प्रान्तीय भाषामें उन भावोंकी रक्षा नहीं हो सकती। मूल भाव विकृत होने लगेंगे और यों होते होते हिन्दुओंकी शिक्षा-दीक्षाका मूल उद्गमस्थान दूषित हो जायगा।' इसीसे उन्होंने इस प्रकारकी चेष्टाका निषेध किया। परन्तु वे यदि इसी उपर्युक्त भावसे समझाकर अनुवादादि निषेधकी आज्ञा करते तो वह यथार्थमें शास्त्रके अनुकूल कार्य ही होता। पर उन्होंने तो लोगोंके बुद्धिविवेकको कुछ भी न समझकर सीधे नरकका भय दिखलाकर उसको रोकना चाहा। उस समय इस प्रकार शास्त्र-वचन बने—

'अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितानि च।
भाषायां मानवः श्रुत्वा रौरवं नरकं व्रजेत्।'

उन लोगोंने केवल एक ही तरफ देखा, भाषामें मूल संस्कृतके पूर्ण भावोंकी रक्षा न की जा सकनेपर भी उपर्युक्त व्यक्तियोंद्वारा भाषान्तरित होनेपर उसका बहुत कुछ भाव प्रकाशित हो सकता है। मूल संस्कृत-ग्रन्थ तो है ही। भाषामें उसका जितनासा प्रकाश किया जा सकता है उससे, भी जन साधारणका बहुत कल्याण होगा—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' परन्तु इस तरफ उन लोगोंने विचार नहीं किया। यदि उस समय सभी इन निषेध-वाक्योंको मान लेते तो तुलसीदास, रामदास, सूरदास, काशीदास, कृत्तिवास आदि अपने अमूल्य ग्रन्थ-रत्नोंका निर्माण नहीं कर सकते। ऐसा होनेपर हिन्दू-जातिका कितना नुकसान हो जाता, आज उसका कोई अनुमान भी नहीं कर सकता।

इसीलिये अन्धभावसे शास्त्र-वचनोंका अनुसरण न कर बुद्धिबलसे उनकी युगोपयोगी सार्थकता और आवश्यकताको समझना चाहिये और यदि यह समझमें आ जाय कि व्यक्ति या समाजके कल्याणके लिये उनका अतिक्रम करना आवश्यक है, तो उसके लिये कभी पीछे नहीं हटना चाहिये। इस प्रकार भारतमें युग-युगान्तरोंमें न मालूम कितने देशाचार और कुलाचार बदले हैं, ज्ञान और अभिज्ञता-विकासके तथा जाति और समाजकी अवस्था परिवर्तनके साथ ही साथ न मालूम कितने देश-कालोपयोगी नये नये आचारोंका विकास हुआ है। इसीसे यह देखा जाता है

कि जगत्में सबसे प्राचीनतम सभ्य इस हिन्दू-जातिमें इतने प्रकारके शास्त्र हैं और उन सबमें इतनी विचित्रता तथा विभिन्नता है।

वैदिक युगमें स्त्रियोंका बड़ी उम्रमें विवाह हुआ करता था। कोई कोई तो सदाके लिये अविवाहिता रहकर शिक्षा-दीक्षामें ही जीवन बिताया करती थीं। समाजमें स्त्री-पुरुषका स्थान एक सा था। स्वामी और स्त्री परस्पर सखा थे। विवाहके समय स्वामी स्त्रीसे कहता 'सखा सप्तपदा भव, सख्यान्मे मा योष्टाः।' स्त्रियां भी ऋषि और ब्रह्मचारिणी होती थीं। घोषा, गार्गि, मैत्रेयी, सुलभा आदि आर्य-रमणियां इस बातका ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। कालक्रमसे समाजमें स्त्रियोंका स्थान बहुत नीचा हो गया। स्त्रियोंकी शिक्षा-दीक्षा बन्द हो गयी। शास्त्र-पाठ निषिद्ध हो गया, स्वामीकी दासी होना-स्वामीके लिये संसारमें अपनेको सम्पूर्णरूपसे उत्सर्ग कर देना ही उनके जीवनका श्रेष्ठतम धर्म समझा जाने लगा। उस समय समाजके संचालकोंने विचार किया कि स्त्रियोंका अधिक अवस्थामें विवाह करनेसे काम नहीं चलेगा, छोटी उम्रमें ही उन लोगोंको पतिके परिवारमें आकर मिल जाना चाहिये, स्वामीमें अपने निजके व्यक्तित्वको विलीन कर देना चाहिये। इसीसे उन्होंने नवीन शास्त्रकी रचना की; सीता, सावित्री, द्रौपदी और दमयन्तीके देशमें यह नया कानून बना कि यौवन-प्राप्तिके पूर्व कन्याका विवाह न कर देनेसे महापाप होगा।

अबतक जो कुछ कहा गया उसका सारमर्म यही है कि हिन्दू-समाजमें आज जिन ऋषियोंके नामसे जो शास्त्रग्रन्थ प्रचलित हैं, वे सबके सब सम्पूर्णरूपसे प्राचीन वैदिक ऋषियोंद्वारा प्रणीत नहीं हैं। वैदिक युगके बहुत पीछे लोगोंने अपनी बुद्धि, अभिज्ञता और रुचिके अनुसार समाजकी व्यवस्था बनानेके हेतुसे नयी नयी विधियां बनाकर प्राचीन ऋषियोंके नामसे उन्हें चला दिया था। ऋषिप्रणीत प्राचीन शास्त्रोंके भी सभी विधान, सभी देशों और सभी समयके लिये उपयोगी नहीं हैं। भारतमें ही युग-युगान्तरोंमें शास्त्र-विधियोंमें बहुतसा परिवर्तन और विकास हुआ है। अतएव इस समय हमें किस शास्त्रको मानकर चलना चाहिये? वर्तमान अवस्थापर विचार करके ही इस विषयका निर्णय करना होगा और वर्तमानमें जो पुरुष अध्यात्म-साधनाओंद्वारा ऋषित्वको प्राप्त हो चुके हैं, उन्हींसे वह शास्त्र ग्रहण करना होगा। वे अपनी दिव्य दृष्टिसे प्राचीन शास्त्रों- (जो कुछ चिरन्तन और सनातन सत्य है,) का उद्धार करेंगे, भारतके जातीय जीवनका जो सार सत्य और विशिष्ट है, उसीका अनुसरण करेंगे और उसी सत्य-सनातन आधारपर वर्तमान देशकालोपयोगी शास्त्रविधानकी रचना करेंगे।

इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है, हिन्दू-जाति आज चारों ओरसे घिरी हुई है। अबतक तो प्रधानतः बाहरके आक्रमणसे ही उसे अपनी आत्मरक्षा करनी पड़ी थी, वह आक्रमण अब भी नाना प्रकारके नये रूप धारण कर रहा है। इसके सिवा इस समय हिन्दू-जातिपर अन्दरका आक्रमण भी क्रमशः बहुत जोर पकड़ रहा है। हिन्दुओंमें जो आधुनिक शिक्षाप्राप्त हैं, जो देश तथा जातिके लिये आदर्श त्याग स्वीकार कर जीवनको उत्सर्ग कर चुके हैं. सारे देशके लोग जिनको नेता मानते हैं तथा जिनके इशारेपर चलनेके लिये तैयार हैं और जो अपने तेज, साहस एवं कर्मशक्तिके द्वारा देशके सभी कार्योंमें अग्रणी हैं; उन नेता और देश-सेवकोंमें आज अधिकांश ऐसे हैं, जो हिन्दू समाज यहां तक कि, हिन्दू-धर्मके भी विरोधी हैं। वे भारतको सब प्रकारसे पाश्चात्य रूपमें परिणत करना चाहते हैं। हिन्दू-जातिके लिये इससे बढ़कर विपत्ति और क्या होगी? इस समय यदि हम कुछ वर्तमान अर्थहीन या अनिष्टकर आचार-व्यवहारोंको—कुछ कालगत संस्कारोंको ही हिन्दूधर्म समझकर जोरसे पकड़े रहेंगे तो क्रमशः देशके सभी हितैषियोंकी सहानुभूति खो बैठेंगे और कोई लाभ भी नहीं होगा। फिर कुछ थोड़ेसे कट्टर-पन्थी लोग, जिनको देशका अग्रणी शिक्षित समाज कुछ भी नहीं समझता और देशकी जनता जिनकी बातोंपर ध्यान नहीं देती, क्या अपनी चेष्टासे- पाश्चात्य-भावकी बाढ़से देशको बचा सकेंगे? कभी नहीं। हिन्दूधर्म और हिन्दूसमाजमें तामसिकता और अज्ञानके परिणामस्वरूप जो ग्लानियाँ संग्रहीत हो गयी हैं, शास्त्रकी दुहाई देकर उन सबको पकड़े रखना और निश्चित मृत्युको पुकार कर बुलाना एक ही बात है। आज सत्य-दृष्टिकी कसौटीपर सबको कसना होगा। हिन्दुओंकी शिक्षा-दीक्षामें, हिन्दूधर्ममें, हिन्दूसमाज-व्यवस्थामें जो जो सार वस्तु हैं, उत्कृष्ट व्यवस्था है, उन्हींको लेकर खड़े होनेसे हिन्दू-जाति उठेगी, भारत उठेगा, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

इसीलिये आज गीताकी संकीर्ण व्याख्या करनेसे काम नहीं चलेगा। गीताने जहां शास्त्रविधिका अनुसरण करनेकी आज्ञा दी है, वहां केवल प्राचीन भारतमें प्रचलित ग्रन्थोंको ही मान लेनेसे गीताका अर्थ बहुत ही संकुचित कर दिया जाता है। गीताने कहीं ऐसा नहीं कहा है। सोलहवें

अध्यायमें गीताने देव-धर्मी और असुर-धर्मी मनुष्यका भेद बतलाकर, मनुष्य असुर-धर्मी न बन जाय, इसी बातका उपदेश दिया है। काम, क्रोध और लोभके वश होकर चलनेसे मनुष्य क्रमशः असुरके रूपमें परिणत हो जाता है, अतएव इन सब शत्रुओंके वशमें न होकर कर्तव्यका अनुसरण करना चाहिये। कर्तव्य क्या है? उसका ज्ञान कहांसे होता है? प्रत्येक युग और प्रत्येक देशमें मनुष्योंने अपने ज्ञान और अभिज्ञताके द्वारा मनुष्यका कर्तव्य निर्धारित किया है। वह निर्धारित कर्तव्य ही शास्त्र है। हिन्दुओंकी श्रुति-स्मृति जैसे शास्त्र हैं, ईसाइयोंका बाइबल और मुसलमानोंका कुरान भी वैसे ही शास्त्र हैं। गीताकी उदार शिक्षा यही है कि वेद, बाइबल, कुरान या किसी भी शास्त्रके अनुसार कर्तव्यपालन करके यदि मनुष्य काम, क्रोध और लोभको जीत लेता है तो वह असुर-धर्मसे—नरकके पथसे बचकर देव-जीवनकी ओर—ईश्वरकी ओर—अग्रसर हो सकता है। परन्तु शास्त्र-विधिके अनुसार चलकर इस प्रकारका फल प्राप्त करनेके लिये शास्त्रपर श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये, नहीं तो परम्परागत भावोंसे, अन्धभावसे या समाजके भयसे शास्त्र-विधिका अनुसरण करनेपर उपर्युक्त गीतोक्त फल नहीं मिल सकता। इस लोक और परलोकमें उसका कोई कल्याण नहीं होता।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

वर्तमान युगके मनुष्योंने सभी अगह वेद, बाइबल और कुरान आदि पर श्रद्धा-विश्वास खो दिया है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि इन शास्त्रोंमें ऐसी बातें हैं जो वर्तमान कालके लिये उपयोगी नहीं हैं। प्रत्युत कोई कोई तो अधिकांश स्थलोंमें सामाजिक जीवनके लिये हानिकर है। बहुतसे विषय वर्तमान विज्ञान-सम्भूत ज्ञानके विरोधी हैं। इनपर विश्वास करनेके लिये जोरसे कहनेमें कोई लाभ नहीं है। इस समय यदि आध्यात्मिक साधन-सम्पन्न ऋषि-कल्प महापुरुष इन शास्त्रोंकी सार शिक्षाका उद्धार करें और उनका वर्तमान देश-कालोपयोगी भावसे प्रयोग करें, तभी उनमें लोगोंकी निष्ठा और विश्वास हो सकेगा। तभी वे उन शास्त्रोंका अनुसरण कर काम, क्रोध और लोभको संयतकर देव-जीवनकी ओर अग्रसर हो सकेंगे।

परन्तु शास्त्रोंका अनुसरण करना ही गीताकी शेष शिक्षा नहीं है। आसुरी जीवनकी सम्भावनासे दैवी जीवनकी ओर मुख फिरानेकी पहली अवस्थामें शास्त्र सहायक होते हैं। परन्तु निष्ठा और विश्वासके साथ शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य पालन करनेसे चित्तकी ज्यों ज्यों शुद्धि होती है, त्यों ही त्यों मनुष्य यह देख पाता है कि कोई भी शास्त्र सम्पूर्ण नहीं है, कोई भी कर्म निर्दोष नहीं है और केवल बाहरके शास्त्रोंको मानकर चलते रहनेसे ही वह परमगतिको प्राप्त नहीं कर सकता। तब वह शास्त्रविधिका अतिक्रम करना चाहता है, अपने अन्दरकी श्रद्धाके बलपर, अपने अन्तरात्माके निर्देशानुसार चलना चाहता है। ऐसे लोगोंकी अवस्था कैसी होती है? यही जाननेके लिये अर्जुन दूसरे ही क्षणमें भगवान्से पूछता है—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥

शास्त्रविधिको त्याग कर काम, क्रोध, लोभके वशमें होना ही दोषकी बात है, उच्च आध्यात्मिक जीवनकी प्राप्तिके लिये अन्दरकी श्रद्धाके अनुसार शास्त्रविधिका उल्लंघन करना गीतामें निषिद्ध नहीं है। वरन् शेषमें तो यही करना पड़ेगा, गीताने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें यही बतलाकर अपनी अपूर्व आध्यात्मिक शिक्षाका उपसंहार किया है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

कितने भी उच्च शास्त्रका अनुसरण क्यों न किया जाय, मनुष्यको जबतक बाहरके विधिनिषेधोंके अनुसार चलना पड़ता है, तबतक वह पराधीन है, तबतक उसकी आत्मा मुक्त नहीं हुई, तब भी वह तीनों गुणोंके अधीन है, 'त्रैगुण्यविषया वेदाः'। यद्यपि उसमें सतोगुणकी प्रधानता है; वह सात्त्विक, धार्मिक और चरित्रवान् है, तथापि उसको बड़े कष्टसे, बड़ी सावधानीसे उस सतोगुण और धर्मकी रक्षा करनी पड़ती है। किसी भी अतर्कित क्षणमें तमोगुण या रजोगुणके आक्रमणसे अभिभूत होकर उसका पतन हो सकता है*।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

* कुछ दिनों पूर्व महात्मा गांधीने लिखा था कि किसी भी मनुष्यकी उसके जीवनकालमें पूजा नहीं करनी चाहिये। कारण, मृत्युसे पूर्व-क्षण पर्यन्त किसी भी कालमें उसका पतन हो सकता है।

परन्तु सतोगुणकी उन्नति करके या आभ्यन्तरिक इच्छा-शक्तिको सम्यक् प्रकारसे व्यवस्थित करके जो पूर्णरूपसे भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर सकते हैं, भगवान् अपनी शक्तिद्वारा उनकी त्रिगुणमयी प्रकृतिको दिव्य भागवत प्रकृतिमें रूपान्तरित कर देते हैं,-अहं त्वा मोक्षयिष्यामि। तब उनकी प्रकृतिमें दिव्य ज्योति, शान्ति, शक्ति और आनन्द स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। फिर उन्हें शास्त्रोंका अनुसरण करके नहीं चलना पड़ता। अपनी शुद्ध, बुद्ध रूपान्तरित प्रकृतिके अनुसार चलनेसे ही भगवान्‌का दिव्य उद्देश्य जगत्‌में अव्यर्थ भावसे सिद्ध किया जा सकता है। ज्ञानपूर्वक भगवान्‌की लीलामें साथी होकर, उनके सखा होकर, इसी जीवनमें दिव्य जीवनका आनन्द और पवित्रताकी प्राप्ति की जा सकती है। फिर वह मुक्त पुरुष कहीं भी क्यों न रहे, कुछ भी क्यों न करे, उसे कभी पाप नहीं लगता, उसका कभी पतन नहीं होता। वह सर्वदा ही श्रीभगवान्‌के साथ परम आनन्दमें युक्त रहता है।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।'

भगवद्गीतामें वर्णाश्रम धर्म।

(लेखक-पं० श्रीलज्जाराम शर्मा मेहता)

वेदके मन्त्र और ब्राह्मण नामसे दो भाग हैं। दोनों ईश्वरप्रणीत और अनादि हैं। जो इन्हें ईश्वरप्रणीत नहीं मानते, उन्हें भी इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि जगत्‌के यावत् उपलब्ध ग्रन्थोंमें सबसे पूर्व वेदोंकी रचना हुई है। वेदोंके मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागोंमें अनेक स्थलपर वर्णाश्रम-धर्मकी व्यवस्थाका विशद उल्लेख है और इनका स्रष्टा परमात्मा ही बतलाया गया है। नमूनेके लिये पुरुषसूक्तका—

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

—मन्त्र काफी प्रमाण है। इसका शब्द 'अजायत' इस बातको सिद्ध करता है कि 'ब्राह्मण' भगवान्‌के मुखसे, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य और चरणारविन्दसे शूद्र पैदा हुए। महाभारत शान्तिपर्वमें राजर्षि भीष्म शर-शय्यापर लेटे हुए भगवान्‌की स्तुति करते समय—

ब्रह्मवक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥

इस श्लोकके द्वारा भगवान् विराट्‌का वर्णात्मक विभाग बतला रहे हैं। जो बात वेदमें कही गयी है, जिसका वर्णन महाभारतमें है, वही भगवान् आनन्दकन्द श्रीकृष्णने भागवत एकादश स्कन्धके पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें परम भागवत उद्धवजीसे कही है। आप आज्ञा देते हैं:—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥

इस श्लोकमें उक्त उद्धरणोंसे कुछ और भी विशेषता है। अवश्य ही वर्णों और आश्रमोंका अन्योन्याश्रय है परन्तु लेख बढ़ जानेके खयालसे ऐसे प्रमाण संग्रह करनेका उद्योग नहीं किया गया, जिनमें आश्रमोंके विषयमें उल्लेख है, किन्तु भगवान्‌ने इस उपदेशमें आश्रमको भी संयुक्त कर लिया है। इसमें एक और विशेषता यह है कि 'जज्ञिरे' के साथ 'गुणैः' का भी प्रयोग है और वह केवल इस प्रयोजनसे है कि उस जमानेमें प्रायः ब्रह्मबन्धुत्व अथवा क्षत्रबन्धुत्व—ऐसे शब्द केवल कोषोंमें पड़े रहनेके लिये थे। समग्र भागवतमें या तो राजा परीक्षितने अथवा राजा मुचुकुन्दने शिष्टाचारके लिये अपनी नम्रता प्रदर्शित करनेको अपने लिये 'क्षत्रबन्धु' शब्दका प्रयोग किया है और जिस समय अश्वत्थामाने पाण्डवोंके सोते हुए बालकोंका वध कर घोर अधर्म किया, उस समय उसके लिये 'ब्रह्मबन्धुर्न हन्यः' इस वाक्यका प्रयोग भगवान्‌के मुखसे किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्यके साथ बन्धु शब्दका प्रयोग करनेसे उसकी नीचता उसकी कर्त्तव्य-भ्रष्टता उसका अधर्म सिद्ध होता है। अब भी लोकाचारमें 'बाम्हन भाई' और 'रंघड़ भाई' शब्दोंका प्रयोग घृणाका द्योतक है। इसके अतिरिक्त 'गुणैः' शब्दका उपयोग करके गुणकी आवश्यकता भी बतला दी गयी है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका जो उपदेश गीतामें अर्जुनके प्रति है वही भागवतके एकादश स्कन्धमें उद्धवसे किया गया है। समय, स्थिति और अधिकारीभेदसे जितना अन्तर पड़ना चाहिये, उसके अतिरिक्त दोनोंकी एकवाक्यता है। गीतामें कर्मयोगका प्रधानतः उपदेश देकर हतोत्साह, कर्त्तव्यशून्य अर्जुनके मन मनमें क्षात्रधर्मकी बिजली दौड़ा दी गयी है। उसे नामर्दसे मर्द बनाया गया है और भागवतमें उद्धवको संसारकी माया-मोहका त्याग कराकर हिमालयकी

सौम्य वदन रवि तेज सम, मन उदार गुणखान ।
धर्म-नीति नभ शशि उदित, धर्मराज नृ निधान ॥

गिरिकन्दराका आश्रय लेनेको प्रवृत्त किया गया है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें वर्णाश्रमकी विशद व्याख्या करते हुए अध्याय १७ में श्लोक १५ से २१ तक द्रष्टव्य है। भगवान् कहते हैं कि:—

> 'वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
> आसन्प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः॥
> शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम्।
> मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥
> तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
> स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः॥
> आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
> अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः॥
> शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया।
> तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः॥
> अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।
> कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनाम्॥
> अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
> भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥

इसका प्रयोजन यह है कि-'वर्णाश्रमवाले मनुष्योंकी मुख बाहु आदि जन्म स्थानोंके अनुसार नीचसे नीच और उत्तमसे उत्तम प्रकृति हुआ करती है। जैसे शम, दम, तप, पवित्रता, सन्तोष, क्षमा, नम्रता, ईश्वरभक्ति, दया, सत्य इत्यादि ब्राह्मणकी प्रकृति है। तेज, बल, धैर्य, शूरता, तितिक्षा, उदारता, उद्यम, स्थिरता, ब्राह्मणसेवा और ऐश्वर्य—ये क्षत्रियके स्वभावसिद्ध गुण हैं। इसी तरह आस्तिकता, दानमें निष्ठा, अदम्भ, ब्राह्मणसेवा, द्रव्योपार्जनमें असन्तोष—ये वैश्यकी प्रकृतियां हैं। द्विजों और गौओंकी सुश्रूषा और देवताओंकी सेवा,-ये बातें मायारहित हों और यथालाभ सन्तोष-ये शूद्रकी प्रकृतियां हैं। अपवित्रता, अनृत, चोरी, नास्तिकता, शुष्क लड़ाई झगड़े, काम, क्रोध, असन्तोष—ये अन्त्यजोंके लिये स्वभावसिद्ध हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अकाम, अक्रोध, अलोभ और प्राणीमात्रके हितकी इच्छा-यह सब वर्णाश्रमवालोंका सार्ववर्णिक धर्म है। यहां केवल इतना देखना है कि अन्यान्य छः श्लोकोंमें भगवान्ने उन उन गुणोंके साथ स्वभाव और प्रकृति शब्दका तथा अन्तिम श्लोकमें सब वर्णोंके साथ धर्म शब्द का प्रयोग किया है। प्रकृति और स्वभाव दोनों शब्द पर्यायवाची हैं परन्तु धर्म शब्द अपने विशद अर्थोंके साथ इस अगाध कर्तव्यका द्योतक है। यह बात यहां स्पष्टरूपसे प्रकाशित कर देना आवश्यक और उचित है कि यदि परम्परासे शुद्ध रजवीर्यकी सन्तान हो तो इसमें किसी तरहका सन्देह नहीं है कि अवश्य ही अपने अपने वंश-परम्परागत गुणोंके साथ इसी प्रकारके स्वाभाविक या प्राकृतिक अभ्यासको लिये हुए सन्तान उत्पन्न होगी। यही जन्मना और कर्मणा वर्णधर्मका मुख्य सिद्धान्त है। भारतवर्षकी उत्कृष्टताका जो प्रधान तत्त्व है, वह पूर्णरूपसे इसमें सन्निहित है। अपने अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वभाववाला जो बालक पैदा हो, उसे उत्पन्न होनेके अनन्तर माताकी गोदसे शिक्षा-दीक्षा और बाहरी यावत् संस्कार उसी वर्णधर्मके अनुसार मिलने चाहिये। पूर्वकालमें जो ब्रह्मर्षि, देवर्षि अथवा राजर्षि इत्यादि हो गये हैं और अब भी जो महात्मा इस घोर कलिकालमें जन्म लेते हैं उनकी उत्कृष्टताके-उनकी भलाईके यही कारण होते हैं। इसी प्रकारकी शिक्षा-दीक्षाकी आवश्यकता है। इस प्रकारका गुण-सम्पन्न यदि एक भी ब्राह्मण उत्पन्न हो जाय और पैदा होनेके बाद इसी प्रकारके संस्कार उसमें सम्मिलित किये जायं तो अवश्य ही वह एक नहीं—हजारों महान् नेताओंसे बढ़कर होगा। अवश्य ही वह अवतार-कोटिमें गिना जायगा और यदि होगा तो देशका उद्धार भी उसीके द्वारा होगा।

इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीता अध्याय ३ श्लोक ३५ में इस बातको स्पष्ट कर दिया है। वे भगवान् थे। त्रिकालदर्शी थे। आजसे पाँच हजार साल पहले जानते थे कि किसी समय वर्णाश्रमधर्मकी अवहेलना की जायगी, इसे व्यर्थ और हानिकारक बतलाया जायगा। इसीलिये उन्होंने—

> श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

—'का अर्जुनको उपदेश किया है। इसका भावार्थ यह है कि 'अपना धर्म विगुण (गुणहीन) होनेपर भी उत्तम है और दूसरेके भलीभांति अनुष्ठान किये हुए धर्मसे बढ़कर है। अपने धर्मका निर्वाह करते हुए मर जाना भी श्रेयस्कर है। परधर्म भयावह है।'

मैं कहता हूं और इन पंक्तियोंके आधारपर दृढ़ताके साथ कहता हूं कि स्वधर्म भले ही समयपर विगुण दिखलायी दे किन्तु कदापि, किसी कालमें विगुण हो नहीं सकता। यदि विगुण होता तो यह कदापि सम्भव न था कि भगवान् श्रीरामचन्द्र जैसे मर्यादापुरुषोत्तम शूद्र तपस्वीका

अपने खड्ग द्वारा शिर काटने। पवित्रतासे चात्रधर्मका पालन न कर हिंसामें प्रवृत्त होना एकलव्य व्याधका स्वभाव सिद्ध धर्म समझकरही भगवान् द्रोणाचार्यजीने उसका अंगूठा कटवाया। प्रतिपक्षियोंकी दृष्टिमें भगवान् परशुरामजी और द्रोणाचार्यजीका चात्रधर्म और विश्वामित्रजीका ब्राह्मणधर्म अवश्य ही इस नियमके विरुद्ध होगा किन्तु प्रथम तो यह प्रतिवाद है और प्रतिवाद नियम नहीं हुआ करता, फिर इनकी उत्पत्तिपर दृष्टि डालनेसे ऐसा तर्क फूंककी तरह हवामें उड़ जाता है। विषयान्तरके विचारसे मैं इस समय इस विषयमें विस्तार नहीं कर सकता। इसका विशदीकरण किसी स्वतन्त्र लेखका विषय है।

वर्णाश्रम-धर्मके विषयमें भगवान् आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें उद्धवजीसे जो बातें कही हैं, वे ही भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायके श्लोक ४१ से ४७ तक अर्जुनसे कही गयी हैं। दोनों जगह एक ही प्रकारका उपदेश है, एक ही तरह के शब्द हैं और एक ही भाव है। वह उपदेश ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। यहां उसे फिर दुहरानेकी आवश्यकता नहीं।

देशके दुर्भाग्यसे इस जमानेमें जो लोग भारतवर्षके चिरप्रचलित वर्णाश्रमधर्मको यावत् हानियोंका मूल माननेवाले हैं-जो लोग हिन्दूधर्मके तत्त्वोंपर अपने अङ्गरेज-गुरुओं-द्वारा किये हुए अङ्गरेजी भाषान्तरोंके सहारे अपनी बुद्धि लड़ाते हैं, संस्कृतका अध्ययन-अध्यापन ठीक न होनेसे अङ्गरेजोंकी की हुई समालोचनाएँ पढ़कर जो धर्मके तत्त्व खड़े करते हैं उनमेंसे सौभाग्यसे अधिकांशकी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और उनके उपदेश गीता पर श्रद्धा है, अतः उन्हें आँखें खोलकर देखना चाहिये कि भगवान्का क्या उद्देश्य है। यदि भगवद्गीता पर व्यर्थकी डींगें हांकनेके बदले सच्चा मनन किया जाय तो फिर कोई यह कहनेका साहस नहीं कर सकता कि हिन्दुओंका वर्णाश्रमधर्म हानिकर है। आवश्यकता निःसन्देह इस बातकी है कि समयानुसार सनातनधर्मकी—वर्णाश्रम-धर्मकी उचित शिक्षा दी जाय। यह तभी होगा जब संस्कृतका पठन पाठन फिरसे प्रचलित किया जायगा और सो भी इस तरहसे कि जिसमें प्राचीन शास्त्र समझनेकी ठोस योग्यता उत्पन्न हो। यह कार्य कालेज स्कूलकी पढ़ाईसे-एम० ए० पास कर लेनेसे न होगा क्योंकि केवल संस्कृतमें एम० ए० पास कर लेनेपर भी किसीकी योग्यता एक सामान्य पण्डितके बराबर नहीं होती और वह एम० ए०, धर्मके तत्त्व समझनेके लिये अङ्गरेजी भाषान्तरोंपर ही अपने विचार स्थिर करेगा।

गीता और विश्वशान्ति तथा विश्वप्रेम

(लेखक—पं० विद्याधरजी शास्त्री बी० ए०)

शान्ति और प्रेमका सुखद निवास सात्त्विक प्रकृति, भेदाभाव, साम्यदृष्टि और संशयरहित हृदयके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होता।

वर्तमान संसारकी अशान्तिका मूल कारण यही है कि प्रत्येक देश स्वार्थपर हो दूसरे देशोंको अपनेसे सर्वथा भिन्न मानकर उनको हड़प जानेके लिये अनवरत विनाशकारी उद्यममें प्रवृत्त हो रहा है। भेद, विषमता और दुष्कर्मोंका साम्राज्य उनमें प्रवाहरूपसे फैल रहा है।

'गीता' दुःखके इस जालको मिटानेके लिये, अज्ञानको नष्टकर मनुष्य-जातिको उसका सच्चा मार्ग बतानेकेही लिये उद्भूत हुई है। वह-इस भेदभाव और दुष्प्रवृत्तिको समूल नष्ट कर देती है और इसीलिये वह विश्वभरकी पूज्य और विश्वशान्ति तथा विश्वप्रेमका प्रकाश करनेवाली एक अखण्ड ज्योति है।

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन'

यही उसकी विश्वप्रेमके पाठको पढ़ानेवाली प्रथम शिक्षा है। गीता वेदान्तका सार है। वेदान्तकी—एकमात्र शिक्षा 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यही है। गीताके प्रेमीका प्रेम अबाध्य है। वह किसीको अपनेसे भिन्न नहीं मानता, सबमें एक परमात्माके रूपको देखकर वह किसीसे घृणा नहीं कर सकता।

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'

-यही उसकी रागिनीकी टेक होती है।

अशान्तिके प्रधान कारणोंमें इस विभिन्नताके साथ साथ

मनुष्यकी आकांक्षाओंका अत्यधिकरूपमें विस्तृत हो जाना भी एक अग्रगण्य हेतु है। निर्वाधरूपसे धर्म तथा भविष्य जीवनकी सर्वथा उपेक्षा कर इस समय मनुष्यसमाज इच्छाप्रवाहके साथ बहा जा रहा है। शक्तिशाली राष्ट्र निर्बल राष्ट्रोंको, अधिकार-सम्पन्न जातियां अशिक्षित जातियोंको,पुरुष स्त्रियोंको और स्त्रियां पुरुषोंको दबाकर अपनी अपनी इच्छाकी तृप्तिके लिये अशान्त हो रही हैं। गीताने इस इच्छाप्रवाहका तीनों गुणोंके अनुसार पूर्ण विश्लेषणकर अनुसरणीय मार्गको पूरी तरह दिखा दिया है। साथ ही गीताकी यही शिक्षा है कि 'मनुष्य-समाजका कल्याण इच्छाओंके बढानेमें नहीं अपितु नियमित रखनेमें ही है। मनुष्य जबतक अपने कर्मको नियमानुसार नहीं करेगा तबतक उसे शान्ति नहीं मिल सकती। विश्व यदि शान्ति चाहता है तो उसे शान्तिदायक सात्त्विक दैवी मार्गका अनुसरण करना ही होगा, अन्यथा -

> 'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
> इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
> असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
> ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥'

आदि मार्गके अवलम्बी स्वार्थमय वर्त्तमान संसारको भगवान्के कथनानुसार—

> 'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
> क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

नरकमें ही जाना होगा। कुछ समयके लिये निर्बलोंके रक्तको चूसकर सबल चाहे आनन्द मनालें, पर अन्तमें उनकी आत्मामें भयंकर अशान्ति ज्वाला प्रज्वलित हो जायगी

इन सिद्धान्तोंके साथ साथ गीता संसारको एक ही धर्मकी दीक्षा देती है। गीताका प्रेमी विभिन्न मतावलम्बियोंसे झगड़ने नहीं बैठता। उसको यही शिक्षा मिलती है कि—

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इस शिक्षापर अटल विश्वास रखकर वह हिन्दू-मुसलमान, पूर्वीय-पाश्चात्य आदि संकुचित विचारोंसे प्रभावित होकर कलहका कारण नहीं बनता।

रहा आर्थिक प्रश्न, उसके लिये भी गीता मौन नहीं है। गीता यही कहती है कि--

> 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

आजकल जो संसारमें आर्थिक अव्यवस्था हो रही है उसका कारण यही है कि लोग निरुद्देश्य अनिश्चित कार्योंके पीछे पड़ रहे हैं। जिस दिन एक परमात्माको ही सबका पिता समझकर सम्पूर्ण मनुष्यसमाज भ्रातृभावसे प्रेरित हो एक ही धर्मका अनुयायी बनकर उचित इच्छाओंकी पूर्तिके लिये अपने अपने योग्य कर्मका अनुसरण करेगा, उस दिन विश्वमें स्वयमेव शान्ति स्थापित होगी और विश्वप्रेमका आनन्दमय प्रकाश सर्वत्र फैल जायगा।

नवजीवन और आशाका यह शुभसन्देश गीताके प्रति श्लोकसे प्रतिध्वनित हो रहा है। आजकल जो विश्वप्रेमका मधुर पद सहृदयोंको सुखद स्वप्न दिखा रहा है और जिसके लिये लोग पूर्ण आशावादी बन रहे हैं उनका मूल कारण गीता ही है। यह ध्वनि सबसे पहले 'गीतामें' या यों कहिये कि 'भगवान्की भविष्यद्वाणीमें' ही निनादित हुई थी। कवीन्द्र रवीन्द्र इसीका गान करते फिर रहे हैं। पश्चिमके स्वर्गीय धुरन्धर तत्त्ववेत्ता एमर्सन कार्लाइल प्रभृति भी इसीपर मस्त हुए थे और वर्त्तमानकालीन यूरोपियन विद्वान् गीताके इस सिद्धान्तपर ही भारतके शिष्य बनते जा रहे हैं।

> 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥'

गीताके इस 'समः' शब्दकी विजय होती जा रही है और हमें पूर्ण आशा है कि गीताके पूर्ण प्रचारके साथ साथ संसारमें शान्ति और प्रेमका साम्राज्य भी अटल होता जायगा।

गीता अद्वितीय ग्रन्थ है

'प्राचीन युगकी सभी स्मरणीय वस्तुओंमें भगवद्गीतासे श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नहीं है। ×××× भगवद्गीतामें इतना उत्तम और सर्वव्यापी ज्ञान है कि उसके लिखनेवाले देवताको हुए अगणित वर्ष हो जाने पर भी उसके समान दूसरा एक भी ग्रन्थ अभीतक नहीं लिखा गया। ×××× गीताके साथ तुलना करनेपर जगत्का आधुनिक समस्त ज्ञान मुझे तुच्छ लगता है, विचार करनेसे इस ग्रन्थका महत्त्व मुझे इतना अधिक जान पड़ता है कि किसी किसी समय तो ऐसा विचार हो जाता है कि यह तत्त्व-ज्ञान किसी और ही युगमें लिखा हुआ होना चाहिये। × × × मैं नित्य प्रातःकाल अपने हृदय और बुद्धिको गीतारूपी पवित्र जलमें स्नान करवाता हूं।' —महात्मा थारो

माया और मायाकी निवृत्तिका उपाय

(लेखक—स्वामी श्रीभोलेबाबाजी)

यस्य शरणमात्रेण मायां भक्ताः तरन्ति वै ।
तं भजे मायिनं कृष्णं शुद्धमेकं महेश्वरम् ॥

कुशाग्र-बुद्धि नामक शिष्य और उसके गुरु स्वामी अच्युतानन्द सरस्वतीमें एक दिन इस प्रकार बातचीत हुई—

शिष्य—भगवन् ! गीताके अनुसार मायाका स्वरूप क्या है ? और मायाकी निवृत्तिका उपाय क्या है ? महाराज ! माया अनादि-सिद्ध है, मायाके सत्त्व, रज और तम तीन गुण हैं, इन तीनों गुणोंमें सब जीव बँधे हुए हैं। तीनों गुणोंमें बंधा हुआ होनेसे जीव परतन्त्र है। परतन्त्र होनेसे जीव सामर्थ्य-हीन है। सामर्थ्यहीन परतन्त्र जीव त्रिगुणात्मक मायाको किस प्रकार निवृत्त कर सकता है ? माया अनादि होनेसे अनन्त भी होगी, जब अनन्त माया यथार्थ वस्तुका विवेक होने ही न देगी तब जीव मायासे कैसे मुक्त होगा ?

गुरु—वत्स ! यह ठीक है कि मायामें फंसा हुआ जीव मायाको निवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि मायाबद्ध जीव मायाको जान ही नहीं सकता। जब जान ही नहीं सकता, तो निवृत्त कैसे कर सकता है ? यद्यपि अन्य उपायसे मायाकी निवृत्ति नहीं हो सकती तो भी मायाके अधिष्ठान और आधार भगवत्की शरण लेनेसे तत्त्व-वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और यथार्थ ज्ञान होनेसे मायाकी निवृत्ति सम्भव है। माया अनादि होनेपर भी अनन्त नहीं है। अनादि और अनन्त तो केवल एक परमात्मा ही है। परमात्माके ज्ञानसे माया इस प्रकार उड़ जाती है, जैसे गदहेके सिरसे सींग ! अथवा जैसे जागते ही स्वप्न ! गीताके अनुसार मायाका स्वरूप क्यों पूछता है ? बारम्बार तो सुन चुका है कि गीतामें और श्रुतिमें रंचक भी भेद नहीं है। अच्छा ! गीताके अनुसार ही मायाका स्वरूप बताता हूँ। देख ! भगवान्‌ने गीतामें मायाका स्वरूप इसप्रकार बताया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गी० ७ । १४)

इस श्लोकमें भगवान्‌ने मायाको दैवी, हि, एषा, गुणमयी, मम और दुरत्यया ये छः विशेषण दिये हैं। इन छओंका अर्थ स्पष्ट करके समझाता हूँ—

दैवी—एको देवः सर्वभूतेषु गूढः। इत्यादि अनेक श्रुतियां परब्रह्मको स्वप्रकाश, चैतन्य, आनन्द-स्वरूप बतलाती हैं और जीव तथा ईश्वर विभागसे रहित वर्णन करती हैं। ऐसे शुद्ध चैतन्यमात्र परब्रह्ममें, जैसे सूर्यके सामने रात्रि कहना असम्भव है, वैसे मायाका होना असम्भव है, फिर भी शुद्ध चैतन्यमात्र देवके आश्रयरूपसे तथा विषय-रूपसे मायाकी कल्पना करनेमें आती है, इसलिये माया दैवी कहलाती है। भाव यह है कि जैसे अन्धकार घरके आश्रित रहता है और घरको ही ढांपता है, वैसेही माया भी जिस शुद्ध चैतन्यदेवके आश्रित रहती है, उसीको विषय करती है यानी ढांपती है, इसलिये चैतन्य-देवके आश्रित और चैतन्य-देव-विषयक होनेसे माया दैवी कहलाती है। यही बात अन्य शास्त्रोंमें भी कही है:—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥

अर्थ-जीव तथा ईश्वर विभागसे रहित केवल चैतन्य-मात्र ही अनादिसिद्ध अज्ञानका आश्रय और विषय होना है क्योंकि अनादिसिद्ध अज्ञानके पीछे होनेवाला कोई भी पदार्थ न तो आश्रय होना है और न विषय होना है। भाव यह है कि आद्य पदार्थ ही आश्रय और विषय हो सकता है, पीछे होनेवाला नहीं होता।

एषा-यह दैवी माया 'मामहं न जानामि' मैं अपनेको नहीं जानता, इस प्रकारके सार्वरूप प्रत्यक्ष करके सिद्ध है, कोई इस मायासे इन्कार नहीं कर सकता, इसलिये सबके अनुभवसिद्ध होनेसे भगवान्‌ने मायाको 'एषा' विशेषण दिया है।

हि-इस पदसे भगवान्‌ने मायाकी अन्यथा अनुपपत्ति सिद्ध की है। जैसे अर्थापत्ति-प्रमाणसे स्वप्न तथा जगतादिकी अन्यथा अनुपपत्ति सिद्ध होती है, वैसे मायाकी अन्यथा अनुपपत्ति अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध होती है। प्रसंगसे अर्था-

पत्ति-प्रमाणका स्वरूप दिखाते हैं—अनुपपद्यमान पदार्थको देखकर उसके उपपादकरूप दूसरे पदार्थकी कल्पना करनेका नाम अर्थापत्ति-प्रमा है। जैसे देवदत्त नामका कोई पुरुष दिनमें भोजन नहीं करता, फिर भी मोटा है, उसका मोटा होना रात्रि-भोजनके बिना अनुपपद्यमान है, यानी बन नहीं सकता, इसलिये अनुपपद्यमान मोटेपनके ज्ञानसे, मोटेपनके उपपादक रात्रि-भोजनकी कल्पना की जाती है। इस प्रमामें अनुपपद्यमान मोटापन करण है और रात्रि-भोजनकी कल्पना फल है। यह अर्थापत्ति, दृष्टाऽर्थापत्ति और श्रुताऽर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है। किसीने प्रथम सीपीमें चांदीका अनुभव किया, फिर पीछे यथार्थ सीपी देखकर यह जाननेमें आया कि यह चांदी नहीं है क्योंकि उसका बाध देखनेमें आया है। यदि चांदी सच्ची होती तो उसका बाध अनुपपन्न था, मिथ्या चांदी होनेसे उसका बाध हो गया है। इस प्रकार चांदीके मिथ्यापनकी कल्पनाका नाम अर्थापत्ति प्रमाण है। यहां चांदीका ज्ञान स्मृति नहीं है क्योंकि यदि स्मृतिज्ञान हो तो प्रत्यक्ष प्रवृत्ति न होनी चाहिये; प्रत्यक्ष प्रवृत्ति देखनेमें आती है इसलिये यह स्मृति-ज्ञान नहीं है। यह चांदी असत्य नहीं है क्योंकि असत्यका प्रत्यक्ष होना ही असम्भव है। यह चांदी सत्य भी नहीं है क्योंकि सत्य हो तो उसका बाध न होना चाहिये, पर बाध होता है, इसलिये सत्य नहीं है। यह चांदी दूसरे स्थानपर भी नहीं है, क्योंकि यदि दूसरे दूर स्थानपर हो तो इन्द्रियोंसे सम्बन्ध न होनेसे प्रत्यक्ष न होना चाहिये। सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है इसलिये दूर देशमें भी नहीं है। यह चांदी अनिर्वचनीय है,यानी भ्रम-कालमें इसकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति होती है। यद्यपि वहां लौकिक सामग्रीका अभाव है तो भी सामने पड़ी हुई सीपीके 'इदं' अंशसे इन्द्रियोंका सन्निकर्ष होते ही इदमाकार-वृत्ति होनेपर इदं अवच्छिन्न-चैतन्य-निष्ठ सीपीपनेकी प्रकारवाली अविद्या चांदीके समान सीपीकी चमकसे उत्पन्न हुए संस्कारोंसे सहकृत हुई चांदीके और चांदीके ज्ञानके आकारमें परिणत हो जाती है। मायाका कार्य होनेसे यह चांदी और चांदी-का ज्ञान मिथ्या है। यह दृष्टाऽर्थापत्तिका वर्णन हुआ। दूसरी श्रुताऽर्थापत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये।-जैसे 'तरति शोकमात्मवित्' आत्माको जाननेवाला शोकसे तर जाता है। इस श्रुतिसे शोक उपलक्षित प्रमाता आदि बन्धकी आत्मज्ञानसे निवृत्ति सुननेमें आती है। यदि बन्ध सत्य हो तो उसकी निवृत्ति अनुपपन्न है। इसलिये बन्ध मिथ्या है। ऐसी कल्पना करनेका नाम श्रुतार्थाऽपत्ति है। इस प्रकार अर्थापत्ति-प्रमाणसे माया-भ्रम सिद्ध है, क्योंकि भ्रम बिना शुद्ध चैतन्य आत्मामें कर्त्ता, भोक्ता, प्रमातापन बनता ही नहीं।

गुणमयी—सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। यह माया तीन गुणमयी है। भाव यह है कि जैसे तीन रस्सियों-का त्रिबल किया हुआ रस्सा अत्यन्त दृढ़ होता है, दृढ़ रस्से-से बँधा हुआ पुरुष कठिनाईसे छूट सकता है, वैसे त्रिगुणा-त्मिक माया अत्यन्त दृढ़ है और पुरुषके लिये उससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। यही अर्थ बोधन करनेके लिये मायाको भगवान्‌ने गुणमयी कहा है।

मम—ममका अर्थ मेरा है। भगवान् कहते हैं कि यह माया मेरी है यानी सर्व जगत्‌का कारणरूप, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिसम्पन्न मुझ मायावी, ईश्वरकी यह माया है। जैसे घरवालेके ममत्वका विषय घर होता है, वैसे मुझ मायावी ईश्वरके ममत्वका विषय माया है। माया मुझ परमेश्वरके अधीन होकर इस जगत्‌की उत्पत्ति आदिका निर्वाह करने-वाली है। माया तत्त्व-वस्तुका भान नहीं होने देती और अतत्त्व वस्तुका भान कराती है इसलिये यही आवरण और विक्षेप शक्तिवाली अविद्यारूप है। यही जगत्‌की प्रकृति यानी उपादान कारण है। जैसा कि श्रुतिमें कहा है:—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' अर्थ—मायाको इस सर्व जगत्‌का उपादान कारण और महेश्वरको माया-वाला जाने। वहां यह प्रक्रिया है:—शुद्ध चैतन्य जीव, ईश्वर तथा जगत् इत्यादि विभागसे रहित है। उस शुद्ध चैतन्यमें अनादि मायारूप अविद्या अध्यस्त है। यह अविद्या सत्त्वगुणकी प्रधानतासे अत्यन्त स्वच्छ है। जैसे स्वच्छ दर्पण मुखके आभासको ग्रहण करता है, वैसे यह स्वच्छ अविद्या चैतन्यके आभासको ग्रहण करती है। जैसे दर्पणरूप उपाधिके श्यामता आदि दोष मुखरूप बिम्बको स्पर्श नहीं करते, इसी प्रकार अविद्यारूप उपाधिके दोषोंसे असम्बद्ध होनेसे परमेश्वर बिम्बस्थानीय है और जैसे दर्पणमें स्थित प्रतिबिम्ब दर्पणके श्यामता आदि दोषोंसे सम्बद्ध होता है इसी प्रकार अविद्यारूप उपाधिके दोषोंसे सम्बद्ध होनेसे जीवात्मा प्रतिबिम्ब-स्थानीय है। जीवके भोगके लिये बिम्बरूप ईश्वरसे आकाशादि पञ्चभूत शरीर, इन्द्रिय आदि संघात तथा संघातका भोग्यरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है, इस प्रकार कल्पना की जाती है। जैसे बिम्ब प्रतिबिम्ब इन दोनोंमें शुद्ध मुख अनुगत है इसी प्रकार ईश्वर और जीव इन दोनोंमें माया-उपहित चैतन्य अनुगत है। यह माया

उपहित चैतन्य साक्षी कहलाता है। साक्षी चैतन्यमें अव्यक्त माया तथा मायाका कार्यरूप सर्व प्रपञ्च साक्षी चैतन्यसे ही प्रकाशित किया जाता है, इसलिये साक्षीचैतन्यके अभिप्रायसे भगवान्‌ने अविद्यारूप मायाको 'दैवी' कहा है और बिम्बरूप ईश्वरके अभिप्रायसे भगवान्‌ने मायाको 'मम माया' कहा है।

दुरत्यया:—यद्यपि एक अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप एक ही जीव हो सकता है, तो भी एक ही अविद्यामें रहनेवाले अन्तःकरणोंके संस्कार भिन्न भिन्न हैं। संस्कारोंके भेदसे अन्तःकरण उपाधिवाले जीवोंका गीता और श्रुति दोनोंमें भेद कहा है। जैसे गीतामें 'मामेव ये प्रपद्यन्ते,' 'दुष्कृतिनो मूढा न प्रपद्यन्ते,' चतुर्विधा भजन्ते माम्,' इत्यादि वचनोंसे जीवोंका भेद कहा है और श्रुतिमें 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणाम्' इत्यादि वचनोंसे जीवोंका भेद कहा है। अन्तःकरणरूप उपाधिके भेदका विचार न करके जीवत्वकी प्रयोजक अविद्यारूप उपाधि एक होनेसे गीता और श्रुति दोनोंमें जीवका एकत्व ही कहा है। 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत,' 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि,' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इत्यादि वचनोंसे गीतामें जीवका एकत्व कहा है। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्सर्वम-भवत्,' 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः,' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य,' 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' इत्यादि वचनोंसे श्रुतिमें जीवका एकत्व कहा है। यद्यपि दर्पणमें पुरुषका जो प्रतिबिम्ब होता है, वह अपने अथवा दूसरेको जानता नहीं है क्योंकि पुरुष जड़-चेतनका समुदायरूप है और पुरुषके शरीररूप अचेतन अंशका ही दर्पणमें प्रतिबिम्ब होता है, चेतन अंशका प्रतिबिम्ब दर्पणमें नहीं होता इसलिये वह प्रतिबिम्ब जड़ होनेसे अपने अथवा दूसरेको नहीं जानता। अविद्यामें जो चेतनका प्रतिबिम्ब है, वह चेतनरूप होनेसे अपने और दूसरेको जानता है क्योंकि प्रतिबिम्ब-पक्षमें प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं होता किन्तु बिम्ब चैतन्यमात्रमें उपाधिरूपसे ही कल्पित होता है और आभास-पक्षमें यद्यपि चिदाभास सीपीमें चांदीके समान अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है तो भी वह चिदाभास घटादि जड़ पदार्थोंसे विलक्षण है, इसलिये चिदाभासमें भी अपना और दूसरेका ज्ञान होना सम्भव है। यह प्रतिबिम्बरूप जीव जबतक परमेश्वररूप अपने बिम्बके साथ अपनी एकताको नहीं जानता, तबतक जैसे जलमें रहा हुआ सूर्य जलके कम्प आदि विकारोंको प्राप्त होता है वैसे यह प्रतिबिम्बरूप जीव भी अविद्यारूप उपाधिके हजारों विकारोंका अनुभव करता है। परमेश्वरके ऐक्य साक्षात्कार बिना 'मायाका' तरना अशक्य है। इसीलिये भगवान्‌ने मायाको दुरत्यया कहा है। यही बात श्रुतिमें भी कही है:—यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा:—इत्यादि जब चर्मके समान मनुष्य आकाशको लपेट लेंगे, तब 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार परमात्मादेवको न जानकर भी अविद्या आदि सर्व दुःखोंका नाश हो जायगा। तात्पर्य यह है कि जैसे निरवयव आकाशको चर्मके समान लपेटना अत्यन्त अशक्य है वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार बिना अविद्या आदि दुःखोंका नाश करना भी अत्यन्त असम्भव है। जीव अन्तःकरणा-वच्छिन्न होनेसे अन्तःकरणसम्बद्ध पदार्थोंको नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा प्रकाशित करता है इसलिये जीव अल्पज्ञ कहलाता है। अल्पज्ञ होनेसे जीव 'मैं जानता हूं, मैं करता हूं, मैं भोगता हूं' इत्यादि अध्यासरूप अनेक अनर्थोंका पात्र होता है और यही प्रतिबिम्बरूप जीव जब अपने बिम्बभूत ईश्वर-का आराधन करता है यानी जो बिम्बरूप ईश्वर अनन्त शक्तिवाला है, अविद्यारूप मायाका नियन्ता है, सर्व प्रपञ्च-को जाननेवाला है, सब शुभाशुभ कर्मोंके फल देनेवाला है, परिपूर्ण आनन्दघन-मूर्ति है, भक्त-जनोंका उद्धार करनेके लिये अनेक अवतार धारण करता है और सबका परम गुरु-रूप है, ऐसे बिम्बरूप ईश्वरका जब प्रतिबिम्बरूप जीव सर्व कर्मोंके समर्पणद्वारा आराधन करता है, तब बिम्बमें समर्पण किये हुए गुणोंका प्रतिबिम्बमें भान होनेसे जीव सर्व पुरुषार्थको प्राप्त होता है, यही बात प्रह्लादने कही है: 'जब दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुखपर तिलकादि करनेकी अपेक्षा होती है तो बिम्बरूप मुखपर ही तिलकादि चिह्न करनेमें आते हैं, उस बिम्बभूत मुखपर किये हुए तिलकादि चिह्न ही प्रतिबिम्बमें प्रतीत होते हैं।' भाव यह है कि जिस प्रकार बिम्बभूत मुखपर तिलकादि चिह्न करनेके सिवा प्रतिबिम्बपर तिलकादि करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है इसी प्रकार बिम्बभूत ईश्वरमें समर्पण किये हुए धर्मादि पुरुषार्थोंको ही प्रतिबिम्ब जीव प्राप्त होता है। बिम्बभूत ईश्वरमें धर्मादिके समर्पणके सिवा प्रतिबिम्बरूप जीवको पुरुषार्थ प्राप्त करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण भगवान् वासुदेवका आराधन करनेवाले अधिकारीका अन्तःकरण जब ज्ञानके प्रतिबन्धक पापोंसे रहित हो जाता है और ज्ञानके अनुकूल पुण्यसे युक्त होता है, तब जैसे अत्यन्त निर्मल दर्पणमें मुख स्पष्ट प्रतीत होता

है वैसे ही सर्व कर्मोंके त्यागपूर्वक ब्रह्मवेत्ता गुरुके समीप जाकर किये हुए श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे संस्कृत तथा अत्यन्त स्वच्छ अन्तःकरणमें 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारकी साक्षात्काररूप वृत्ति उत्पन्न होती है। जो वृत्ति ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेश किये हुए 'तत्त्वमसि' वेदान्त वाक्यसे उत्पन्न हुई है, अनात्मकारतासे रहित है और सब उपाधियोंसे रहित शुद्ध चैतन्यके आकारवाली है, उस साक्षात्काररूप वृत्तिमें प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य, जिस प्रकार दीपक अपनी उत्पत्तिके कालमें ही अन्धकारका नाश कर देता है, इसी प्रकार स्व-आश्रय अविद्याका नाश कर देता है। अविद्याका नाश होते ही वृत्तिसहित सर्व कार्य प्रपञ्चका नाश हो जाता है, क्योंकि उपादान कारणका नाश होनेपर उपादेय कार्यका नाश सभी शास्त्रकार मानते हैं। यही बात भगवान् कहते हैं:-

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥'

जैसे 'आत्मेत्येवोपासीत', 'तदात्मानमेवावेत्', 'तमेव धीरो विज्ञाय', 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति' इत्यादि श्रुतियोंमें जो 'एव' शब्द है, वह एवकार प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्ममें सर्व उपाधियोंसे रहितपन दिखलाता है, इसी प्रकार 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इस गीता-वचनमें जो 'एव' शब्द है, वह भी प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्ममें सर्व उपाधियोंसे रहितपना दरसाता है यानी स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप सर्व उपाधियोंसे रहित सच्चिदानन्द, अखण्ड अद्वितीय परमात्मदेवका जो अधिकारी पुरुष साक्षात्कार करता है, वह अधिकारी पुरुष ही अविद्यारूप मायाका नाश करता है। तात्पर्य यह है कि 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-वाक्योंसे जो अन्तःकरणकी वृत्ति उत्पन्न हुई है, निर्विकल्पक साक्षात्काररूप है, निर्वचन करनेके अयोग्य, शुद्ध चिदाकारत्व धर्मसे विशिष्ट है, सर्व पुण्योंका फलरूप है, निदिध्यासनके परिपाकसे उत्पन्न हुई है और सर्वकार्यसहित अज्ञानकी विरोधिनी है। ऐसी साक्षात्काररूप वृत्तिमें जो अधिकारी पुरुष तत्पदार्थरूप परमात्मदेवका अपने आत्मरूपसे साक्षात्कार करता है, वह अधिकारी पुरुष ही मेरी अविद्यारूप मायाका बिना आयास ही नाश करता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके साक्षात्कारके सिवा दूसरे किसी भी उपायसे मायाका नाश नहीं होता। यह माया सर्व अनर्थोंकी जन्मभूमि है। इस अविद्यारूप मायाको अधिकारी पुरुष परमात्मदेवके साक्षात्कारद्वारा सुखसे नष्ट कर सकता है यानी सर्व उपाधियोंके निवृत्त होनेसे पुरुष सच्चिदानन्दघनरूप ही हो जाता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुषको कोई भी प्रतिबन्ध नहीं कर सकता। श्रुति कहती है:- 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुषका इन्द्रादि देवता भी अभिभव नहीं कर सकते, क्योंकि ब्रह्मवेत्ता पुरुष सब देवताओंका आत्मा ही है। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' यह वचन जो भगवान्‌ने कहा है, इसका अभिप्राय यह है कि जो अधिकारी पुरुष मुझ एक परमेश्वरके शरणको प्राप्त होकर परमानन्दघन परिपूर्ण भगवान् वासुदेवका चिन्तन करता हुआ समय व्यतीत करता है, वह अधिकारी पुरुष मुझ परमेश्वरके प्रेमजन्य महान् आनन्द-समुद्रमें मग्न-मन हो जाता है और मग्न-मन हो जानेसे मेरी मायाके सम्पूर्ण गुण-विकारोंसे अभिभवको नहीं प्राप्त होता यानी मायासे दबता नहीं, बल्कि माया ऐसे भगवद्भक्तसे उलटी भयभीत रहती है कि कहीं भगवत्-शरणको प्राप्त हुआ यह भक्त मेरा नाश न कर दे, ऐसी शंका करके माया भगवत्-भक्तोंके पासतक नहीं फटकती, दूर ही रहती है। जैसे क्रोधी तपस्वीसे वारांगना दूर रहती है, वैसे ही भगवद्भक्तसे माया दूर रहती है। इसलिये अधिकारी पुरुषको मेरी माया तरनेके लिये निरन्तर मुझ परिपूर्ण भगवान् वासुदेवका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। सारांश यह कि, भगवत्‌की गुणमयी अद्भुत मायाका तरना दुस्तर है, भगवत्‌के निरन्तर भजन बिना तरी नहीं जाती, भगवत्-चरणोंकी शरण ही मायाके तरनेका केवल उपाय है।

मनुष्य-जातिके उज्ज्वल भविष्यका निर्माता

श्रीमद्भगवद्गीता भारतके विभिन्न मतोंको मिलानेवाली रज्जु तथा राष्ट्रीय-जीवनकी अमूल्य सम्पत्ति है। भारतवर्षके राष्ट्रीय धर्मग्रन्थ बननेके लिये जिन जिन नियमोंकी आवश्यकता है वे सब श्रीभगवद्गीतामें मिलते हैं। इसमें केवल उपर्युक्त बातें ही नहीं हैं अपितु यह सबसे बढ़कर भावी विश्वधर्मका धर्मग्रन्थ है। भारतवर्षके प्रकाशपूर्ण अतीतका यह महादान, मनुष्यजातिके और भी उज्ज्वल भविष्यका निर्माता है।

—एफ० टी० ब्रुक्स

गीतापर श्रीवल्लभाचार्यका मत

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

गीताके ऊपर श्रीमद्वल्लभाचार्यका भाष्य या टीका अभीतक प्राप्त नहीं हुई है। इसलिये उनके मतकी गीतार्थके साथ तुलना करते समय मुझे कुछ कठिनाई पड़ती यदि उनके ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रभाष्य, श्रीसुबोधिनी और निबन्धमें भगवद्गीताके विषयमें उनके मतकी प्रतीकें न मिलतीं। ब्रह्मसूत्रभाष्य, सुबोधिनी और निबन्धमें भी श्रीवल्लभाचार्यजीने गीताके विषयमें अनेक जगह अपना मत प्रकट किया है।

ब्रह्मसूत्र १-२-६—'स्मृतेश्च' इस सूत्रके अणुभाष्यमें श्रीमद्वल्लभाचार्य कहते हैं कि 'पुनश्च भगवांस्तदधिकारेण ब्रह्मविद्यां निरूप्य स्वकृपालुतया 'सर्वगुह्यतम'मित्यादिना भक्तिप्रपत्ती एवोक्तवान्। अतोऽङ्गत्वेन पूर्वं सर्वनिर्णया उक्ता इत्यध्यवसेयम्। तथैवार्जुनविज्ञानात्। 'करिष्ये वचनं तवेति।'

अर्थात् फिर भी भगवान्ने अर्जुनके अधिकारके अनुसार पूर्वमें ब्रह्मविद्याका निरूपण किया। उसके पश्चात् स्वयं परम-कृपालु होनेके कारण 'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः' इत्यादि श्लोकोंसे अन्तमें उन्होंने भक्ति और प्रपत्तिका ही उपदेश दिया। इसलिये मालूम होता है कि पहले अध्यायोंमें जो ज्ञान, कर्म, योग आदि सिद्धान्तोंका निर्णय किया गया है, वह सब भक्ति और प्रपत्तिके ही अङ्गस्वरूपका निर्णय है क्योंकि 'मैं आपकी आज्ञाके अनुसार करूंगा' यह अर्जुनका निश्चय भक्ति और प्रपत्तिको ही सूचित करता है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन थोड़ेसे ही अक्षरोंमें श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने भगवद्गीताका समस्त सारांश कुशलतापूर्वक कह दिया है। गीताके तात्पर्यार्थमें अब कोई अंश बाकी नहीं रह जाता। तथापि इन्हीं अक्षरोंका यदि हम श्रीमद्वल्लभाचार्यके अन्य ग्रन्थोंके भावोंको लेकर कुछ स्पष्टीकरण कर दें तो तुलनात्मक विचारके समय लोगोंको समझनेमें विशेष सुविधा हो जायगी।

श्रीमद्वल्लभाचार्यके इन भाष्याक्षरोंमें १—अर्जुनका अधिकार २—भगवान्, ३—ब्रह्मविद्या, ४—कृपा, ५—भक्ति, ६—प्रपत्ति, ७—भक्ति-प्रपत्तिके अङ्ग और ८—सर्वनिर्णय ये आठ पदार्थ निरूपित होते हैं। प्रथम इन पदार्थोंका निर्णय यदि उनके ही वाक्याशयोंद्वारा कर दिया जाय तो गीताके साथ तुलना करने और समझनेमें बड़ी सरलता हो जायगी। क्योंकि गीतामें यही सब पदार्थ भरे हुए हैं।

अर्जुनका अधिकार

भारतवर्षके प्रत्येक धर्ममें अधिकारको बड़ा महत्त्व दिया गया है। अपने अपने अधिकारके अनुसार ही धर्मकी व्यवस्था दी गयी है। यह क्रम अनादिकालसे चला आ रहा है और आज तक भारतवर्षीय समस्त आचार्य और विद्वान् लोग इस अधिकारानुसारिणी धर्मव्यवस्थाको बराबर मान देते चले आ रहे हैं, स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्ने भी गीताके अन्तमें (इदं ते नातपस्काय) प्रभृति दो तीन श्लोकोंके द्वारा अधिकारका निरूपण किया है। मीमांसाके प्रखर पण्डित भट्टपादने अपने श्लोकवार्तिक प्रभृति ग्रन्थोंमें स्पष्ट कह दिया है कि ग्रन्थकर्त्ता और धर्म-प्रवर्तकको पहले उसके अधिकारीका निरूपण करना चाहिये। बिना अधिकारीके वह ग्रन्थ और धर्म उपादेय या प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसलिये गीताके तुलनात्मक विचारके साथ यह भी विचार करना होगा कि गीताका निर्माण किस अधिकारके अनुसार हुआ है। यह तो स्पष्ट है कि गीताका उपदेश समराङ्गणमें रथपर बैठे हुए अर्जुनको दिया गया है। बुद्धिमान् लोग एक ही कार्यका अनेक दृष्टियोंसे प्रारम्भ किया करते हैं यह बात ठीक है, किन्तु गीताका उपदेश अर्जुनके लिये दिया गया है इसमें किसीको मतभेद नहीं हो सकता। अर्जुन क्षत्रिय है, राजपुत्र है, राज्य लोलुप है और युयुत्सु है। क्योंकि राज्यार्थ युद्धके लिये ही वह घरसे निकलकर युद्धक्षेत्रमें आया है। ऐसी अवस्थामें अर्जुनके लिये शान्त, दान्त, और मुमुक्षु ब्राह्मणके प्रति उपदेश करने-योग्य साक्षात् ब्रह्मविद्यात्मक उपनिषदोंका उपदेश करना श्रीकृष्ण भगवान्के लिये उचित नहीं था। अधिकारके अतिरिक्त देश, काल और अवस्था भी उचित नहीं थी।

उपनिषदोंका उपदेश दो प्रकारसे हो सकता है। एक शास्त्रीय मर्यादासे, और दूसरा कृपाकर अपने स्वतन्त्र ऐश्वर-सामर्थ्यसे। अर्जुन युयुत्सु, क्रोधामर्षयुक्त और राज्य-लोलुप था। गुरुके (प्रभुके) स्वरूप और वचनोंमें उसका संदेहरहित विश्वास भी नहीं था। स्वयं रथी बनकर बैठा था और गुरुको उसने सारथी बना रक्खा था। देश, काल और अवस्था भी राजस थे। अतएव शास्त्रीय मर्यादासे तो अर्जुनको उपनिषदोंका उपदेश देना प्राप्त नहीं था। इसीलिये भगवान्ने

स्वधर्ममें मोह-बुद्धि उत्पन्न करके उसे ज्ञान देना चाहा। प्रारम्भमें साधनहीनता और निःसीम स्नेह प्रभृतिके अर्जुनमें न होनेसे मालूम होता है कि अर्जुन केवल अनुग्राह्य भक्त भी नहीं था। अतएव कृपालुता-वश होकर अपने स्वतन्त्र ब्राह्म सामर्थ्यसे भी अर्जुनके प्रति उस समय उपनिषदोंका उपदेश देना प्राप्त नहीं था। किन्तु जब श्रीकृष्णने देखा कि अर्जुनको स्वधर्ममें भ्रम, मोह और अज्ञानके दूर करनेके लिये उपनिषदोंका अर्थ तो कहना ही चाहिये, तब प्रभुने अपने मर्यादास्थित निश्वासप्रवर्तक परब्रह्मस्वरूप गुरुत्वरूपका तथा निःश्वासरूप शब्द-ब्रह्मात्मक उपनिषदोंका और उनके अर्थोंका स्मरण करके अर्जुनको गीतारूप स्मृतिका उपदेश दिया। अन्यथा उपनिषद् जिस परब्रह्मका निःश्वास कहा जाता है, वही, परब्रह्म श्रीकृष्ण जिस गीताको साक्षात् अपने मुखसे कहते हैं, उस भगवद्वचनरूपी गीताको वेदव्यासजी जैसे सर्वज्ञ विद्वान् अपने ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृतेश्च' आदि सूत्रोंसे स्मृति कैसे कहते? इसलिये सिद्ध होता है कि अर्जुनाधिकारके अनुसार श्रीकृष्णने अपने अनवलीय ब्रह्म-स्वरूपका, अर्थ और स्वरसहित उपनिषदोंका एवं देश-कालादि नदंगोंका भी स्मरण करके गीताके रूपमें उपदेश दिया। इसीलिये गीताकी स्मृतिरूपमें प्रसिद्धि हुई।

इन विचारोंको श्रीमद्वल्लभाचार्यने इसी सूत्रके भाष्यमें इस तरह व्यक्त किया है। 'ननु सर्ववेदानां यन्निःश्वसितत्वं तस्य भगवतो वाक्यं कथं स्मृतिरिति-उच्यते, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति (बृहदा० ३-९-२६।) श्रुतेः केवलोपनिषद्वेद्यं ब्रह्म न प्रमाणान्तरवेद्यम्। ततश्चार्जुनस्य शिष्यरूपेण प्रपन्नस्य पुष्टिभक्त्याभावात् भगवद्वाक्यं निर्विचिकित्सवेदवामाभावात् रथित्वेनैव स्थाप्यत्वान्न तादृगाय तादृशदेशकालयोरुपनिषदामवक्तव्यत्वात्। गुरुरूपतादृरूपं निःश्वसितवेदोद्गमजनकं स्मृत्वा तदर्थमपि स्मृत्वा भगवान्पुरुषोत्तमो वाक्यान्युक्तवान्स्मृतिरूपाणि' (ब्रह्मसू० १-२-६)

इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन अनुग्रह-मर्यादाधिकारी है और इसीलिये प्रभुने उसको स्मृत्युपनिषद्रूप उभयात्मक गीताका उपदेश देना ही उचित समझा। शास्त्रोक्त साधनाके द्वारा फल प्रदान करना या फलकी प्राप्ति होना मर्यादा कहलाता है, और बिना ही साधनोंके अपने ऐश्वर-सामर्थ्यसे फल-दान कर देना, अनुग्रह (कृपा) है। यह दोनों बातें लोकमें भी प्रसिद्ध हैं। अर्जुन दोनोंका अधिकारी है, केवल एकका नहीं। श्रीकृष्णने अर्जुनको कुछ फल तो साधनके द्वारा देने चाहे तथा दिये हैं और कुछ फल अनुग्रहमात्रसे देने चाहे, इसलिये अर्जुन मर्यादामिश्र अनुग्रहका अधिकारी सिद्ध होता है। भारतकी और श्रीभागवतकी अर्जुन-कृष्ण सम्बन्धिनी कथाओंसे पूर्वोक्त बात स्पष्ट होती है। अर्जुनको ही नहीं धर्मराज युधिष्ठिरको भी प्रभुने दोनों प्रकारसे ही फल प्रदान किया है।

जिस प्रकार अधिकारमें उभयात्मकता है उसी प्रकार उपदेशरूप गीतामें भी उभयात्मकता है। गीतामें अर्थतः उपनिषत्त्व है और शब्दतः स्मृतित्व है। गीताका संकल्प और 'स्मृतेश्च' आदि सूत्र इसी तरह सार्थक होते हैं। बड़े बड़े आचार्य और विद्वानोंने गीताको उपनिषद् नामसे कहा है यह सब विद्वानोंको विदित ही है।

अर्जुनके अधिकारका तो संक्षेपसे निर्णय हो चुका।

भगवान्

अब भगवान् श्रीकृष्ण कौन हैं? यह निर्णय भी गीताकी तुलनासे सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसका भी विचार यहां कर्तव्य है। श्रीकृष्ण भगवान् सर्ववेदवेद्य, परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं यह श्रीभागवत और गीतासे ही सिद्ध है। इसी बातको श्रीमद्वल्लभाचार्यने अपने तत्त्वार्थदीप निबन्धमें इस तरह कहा है-'स एव परमकाष्ठापन्नः कदाचिज्जगदुद्धारार्थमस्पष्टः पूर्ण एव प्रादुर्भूतः कृष्ण इत्युच्यते।' अर्थात्, जिससे श्रेष्ठतम और कोई नहीं, वह सच्चिदानन्द परमात्मा ही किसी समय अपनी इच्छासे जगत्के उद्धारके लिये अपने व्यूह-शक्ति और कलाओंको साथ लेकर अपने इच्छित वेशके मायावरणको हटाकर प्रकट होता है तब वह श्रीकृष्ण कहलाता है। यह मान्यता श्रीमद्वल्लभाचार्यकी है। अन्य विद्वान् पुरुष इसे इस रूपमें मानेंगे या नहीं इसमें सन्देह है, अतएव इस बातको मैं अन्य प्रामाणिक पद्धतिसे सिद्ध करूंगा।

वेदोंको सभी आस्तिक लोग समान रीतिसे प्रमाण मानते हैं। उस वेदकी कितनी ही श्रुतियां स्पष्ट रीतिसे परब्रह्मका वर्णन करती हैं, जैसे-'रसो वै सः' 'वह परमात्मा रसरूप है।' 'अक्षरात्परतः परः' 'वह परब्रह्म पररूप अक्षर ब्रह्मसे भी पर है' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।' 'हे भृगो! जिससे यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, और जिसमें प्रवेशकर एक हो जाते हैं

वह ब्रह्म है उसे तू जान ।' 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'जहां वाणी नहीं पहुंच सकती और जिसका अनुमान मन भी नहीं कर सकता, वह आनन्दरूप परब्रह्म है।' 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' 'उस परमात्मामें पहुंचकर जीव जन्म, जरा, मरणादिको लांघ जाता है।' यह श्रुतियां मैंने केवल उदाहरण स्वरूप ही दी हैं, अब यदि श्रुत्युक्त ये समस्त धर्म श्रीकृष्णमें मिल जायं तो श्रीकृष्णकी परब्रह्मता श्रौत-प्रमाणसे सिद्ध हो जायगी। श्रीमद्भागवतमें इन सब बातोंपर प्रकाश डालनेवाली श्रीकृष्णकी अनेक लीलाएं स्पष्ट हैं, किन्तु आज मैं गीताके साथ वाल्लभ मतकी तुलना करने लगा हूं इसलिये तुलनाके विषय श्रीभगवद्गीताके प्रमाणों से ही श्रीकृष्णकी श्रौतार्थ-परब्रह्मता सिद्ध करना चाहता हूं।

श्रीकृष्ण रसरूप हैं, रसाधिष्ठाता हैं, रसदेवता हैं। इस विषयमें तो किसी आस्तिकको सन्देह नहीं होगा। 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः' कृष्णके कृष्का नित्यता अर्थ है और णका आनन्द (रस) अर्थ है. इसलिये इस श्रुतिसे श्रीकृष्ण सदा रसरूप सिद्ध होते हैं। गीतामें कहा है कि 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।' अर्थात् अक्षर ब्रह्मका आश्रयस्थान मैं हूं, अव्यय मोक्षका आधार-स्थान मैं हूं, सनातन-धर्मकी प्रतिष्ठा मैं हूं, और नित्यसुख (सदा रसस्वरूप) का आश्रय मैं हूं। इन प्रमाणोंसे श्रीकृष्ण रस-स्वरूप सिद्ध होते हैं।

सर्वश्रेष्ठताके विषयमें भी गीतामें कहा है कि 'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय' हे अर्जुन ! मुझसे श्रेष्ठतर कोई दूसरा जगत्में नहीं है। अर्थात् मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूं। इस वचनसे श्रीकृष्णकी परात्परता सिद्ध होती है। अन्यत्र गीतामें ही कहा है कि 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः' 'क्षरसे अतीत और अक्षर ब्रह्मसे मैं उत्तम हूं।' इससे भी श्रीकृष्णकी परात्परता सिद्ध होती है। 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' मैं सबका उत्पन्न करनेवाला हूं और मुझसे ही सब लोग अपने अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं। इस प्रमाणसे एवं 'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि' 'मुझे सबका बीज समझ' इस प्रमाणसे भी 'यतो वा इमानि' श्रुतिप्रतिपाद्य श्रीकृष्ण हैं यह सिद्ध होता है। 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः' 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे' अर्थात् मेरा प्रभाव देवता और ऋषि लोग भी नहीं जानते। मेरे विस्तारका अन्त नहीं है।' 'नाहं वेदैर्न तपसा' वेद और तप आदि साधनोंसे मेरा ज्ञान नहीं हो सकता। इत्यादि प्रमाणोंसे श्रीकृष्ण अपरिच्छेद्य हैं, अनन्त हैं, और मन, वाणीके अगम्य हैं यह स्पष्ट होता है। 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि जीवको श्रीकृष्ण जन्म-मरणके चक्रसे छुड़ानेवाले हैं। इस तरह पूर्वोक्त श्रुतियोंमें जो परात्पर परब्रह्मके लक्षण कहे थे वे सब श्रीकृष्णमें सिद्ध हो चुके, अतएव निःसन्देहरूपसे यह कहना होगा कि श्रीकृष्ण भगवान् परात्पर परब्रह्म हैं।

ब्रह्मविद्या

ब्रह्मज्ञानको ही ब्रह्मविद्या कहते हैं। 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' आदि श्रुतियोंसे जाना जाता है कि सत्य व्यापक और आनन्दानुभवरूप ब्रह्म है। अनन्तता दो प्रकारसे होती है। जिसके रूपोंकी गिनती न हो सकती हो वह अनन्त है, और जो एक रहकर भी बिना नाप तौलका हो, वह भी अनन्त कहा जाता है। ज्ञानरूपसे ब्रह्म एक होकर देश-काल परिच्छेदसे रहित है और विज्ञानरूपसे अनन्तरूप होकर अनन्त है। ब्रह्मके अनन्तरूपोंको विविध विशेष-सहित जान लेनेको विज्ञान कहते हैं। ब्रह्मके विविध अनन्तरूपोंको एक परब्रह्मरूपमें समेटकर समझ लेनेको ज्ञान कहते हैं, और इन दोनोंको ब्रह्मविद्या कहते हैं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' श्रुतिसे उसे सर्वशक्तियुक्त कहा है, इसलिये वही ब्रह्म अपनी इच्छाशक्तिसे किसी समय परिच्छिन्न भी हो जाता है, परन्तु परिच्छिन्न होनेसे भी वह अपरिच्छिन्न रहता है यह उसकी शक्ति है। उस समय वह ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप, इन पांच विभागोंमें विभक्त होता है। विरुद्ध धर्माश्रय होनेसे किसी तरहकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती। सद्रूप ब्रह्मके अगणित प्रकार होते हैं। चिद्रूप ब्रह्मके भी अगणित विस्तार होते हैं। और आनन्दरूपके भी अनन्तभेद हो जाते हैं। ब्रह्मकी इस अनन्तताको विविध विशेष-सहित समझ लेनेको विज्ञान या ब्रह्मविद्या कहते हैं। यह विज्ञान भी ब्रह्मविज्ञान ही है। और इन विविधरूपोंको एक रूपमें अर्थात् ब्रह्मरूपमें जान लेनेको ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मविद्या कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान दोनोंको ब्रह्मविद्या कहते हैं। इस ज्ञान विज्ञानकी प्रतिज्ञा और निरूपण भी भगवान् श्रीकृष्णने गीताके सप्तमाध्यायसे लेकर समाप्ति पर्यन्त किया है। 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः'। सत्-चित् आनन्द, इदं अहं सः, ये तीन पदार्थ प्रमेय (जानने योग्य) हैं। सद्ब्रह्मके भीतर 'इदं' (जगत्) है। चिद्में सब 'अहं' (जीव)

भक्तोद्धारक भगवान् ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ (गी० अ० १२।७)

आ रहे हैं। और आनन्द ब्रह्मके एक अंशमें अन्तर्यामी एवं सब लौकिकालौकिक आनन्द आ रहे हैं। इस आनन्दको 'सः' (अन्तर्यामी-परमात्मा) कहते हैं। अथवा यों कहिये कि जिनको हम लोगोंने जड़ जीव अन्तर्यामी समझ रक्खा है वे सत्, चित् और आनन्द हैं और ये तीनों ज्ञेय हैं। इनको अनेक प्रकारसे जान लेनेको विज्ञान कहते हैं। चित्को विविधरूपसे जान लेना भी विज्ञान कहा जाता है। तथा आनन्दके भी परमात्मा तथा अन्य अवतार प्रभृति सब रूपोंको जान लेना विज्ञान है। सत्, चित्, आनन्द तीनोंको एकरूपमें-परब्रह्मरूपमें जान लेनेको ज्ञान कहते हैं। यही पूर्वोत्तर-काण्डरूप सर्व वेदोंका प्रमेय है, ज्ञेय है, अर्थ है और यही ब्रह्मविद्या है।

यद्यपि 'इदं' का (जड़-जगत्का) कुछ भाग अपनी इन्द्रियोंके द्वारा हमारी समझमें आता है तथापि वह वेदोक्त रीतिसे ही जानने लायक है। हम उसे जिस रूपमें देख रहे हैं वह उसका वास्तविक और पूर्णरूप नहीं है। जड़-जगत्का वास्तविक रूप सद्ब्रह्म है और वह वेदके द्वारा ही समझा जा सकता है। चिद्ब्रह्मका भी यद्यपि हमें आत्मा (जीव) रूपसे आभास मालूम हो रहा है तथापि वह उसका वास्तविक और पूर्णरूप नहीं है, किन्तु देहेन्द्रियाध्यास-संवलित आभास है। उसका वास्तविक और पूर्णरूप तो अक्षरब्रह्म है और वह भी वेदके द्वारा ही ज्ञेय है। इसी तरह आनन्दरूप ब्रह्मका भी आभास कभी कभी विषयानन्द और स्वर्गानन्द-रूपसे देखने और सुननेमें आता है, किन्तु वह आभासमात्र है, यथार्थ ब्रह्मरूप आनन्द नहीं है। आनन्दका वास्तविक रूप तो तैत्तिरीयादि उपनिषच्छास्त्रसे ही ज्ञेय है। अवताररूप सब आनन्द हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ आनन्दरूप श्रीकृष्ण हैं, किन्तु 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' 'अवजानन्ति मां मूढाः' इत्यादि न्यायसे जीवको उनमें भी अनेक असम्भावना-विपरीतभावना होती हैं, इसलिये अवयवशः ब्रह्मज्ञानके (विज्ञानके) साथ साथ गीतामें भगवान्‌ने अपने स्वरूपका भी स्पष्ट निर्णय कर दिया है। भगवद्गीतामें परब्रह्म श्रीकृष्णको ही समुच्चय रीतिसे और अवयवशः कहा है। ब्रह्मको पृथक् पृथक् विविधभावसे समझ लेना (जो विज्ञान है वह) भी गीतामें है। और सब एक श्रीकृष्ण ही है यह (यह ज्ञान) भी गीतामें है। यही ब्रह्म-विद्या कही जाती है। यह भी एक भक्तिका अङ्ग है। यह बात श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने निबन्धमें इस तरह कही है-

> स्वरूपं तु त्रयो भेदा क्रियाज्ञानविभेदतः।
> विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरेः ॥ सर्व-८९॥

क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी यज्ञ एकः। तथा ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी ब्रह्म द्वितीयः। ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तृतीयः। (प्रकाशः)

क्रिया ज्ञान और क्रियाज्ञान इस भेदसे विशिष्ट (सर्वतः श्रेष्ठ) स्वरूपसे क्रियाज्ञानवान् श्रीकृष्णके स्वरूपमें तीन भेद स्वेच्छासे होते हैं। अन्यत्र भी कहा है कि-

> प्रकृतिःपुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत्पुरा।
> यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते ॥ सर्व-९८ ॥
> अन्येप्यवान्तरा भेदाः शतशः सन्ति सर्वशः ॥ १२६॥

अक्षरकालकर्मस्वभावान्निरूपयन्प्रथमक्षरमाह-प्रकृतिः पुरुषश्चेति। भगवान् यदा येन रूपेण कार्यं कर्तुमिच्छति तद्रूपमेव व्यापारयति। तत्र ज्ञानेन मोक्षो देय इति विचारयति तदाऽक्षरमेव ब्रह्मस्वरूपं पुरुषोत्तमस्याधारभागश्चरणस्थानीयः। तमादौ चतुर्मूर्तिं करोति, अक्षररूपं कर्मरूपं कालरूपं स्वभावरूपं च।

अक्षर, काल कर्म और स्वभावका निरूपण करनेके लिये प्रथम उसके मूलका निरूपण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके अनेक रूप हैं इसीलिये उन्हें अनन्त कहते हैं। ये सब रूप कार्यके अनुसार हैं। वे जब जिस कार्यको करना चाहते हैं तब उस कार्यके लिये उसी रूपकी प्रेरणा करते हैं अर्थात् उसी रूपसे उस कार्यको लेते हैं। जब ज्ञानके द्वारा मोक्ष देना चाहते हैं तब अक्षरस्वरूपसे काम लेते हैं। यह अक्षरब्रह्म, जैसे हमारे खड़े होनेका सहारा चरण है इसी तरह श्रीपुरुषोत्तमका आधार भाग है, अतएव कहीं कहीं इस अक्षरको शास्त्रमें चरण भी कहा है। पुरुषोत्तमका रूपान्तर यह अक्षर ब्रह्म सर्व जगत्का कारण है। यही अनन्त रूपोंसे जगद्रूपमें प्रकट होता है। सबसे प्रथम यह अक्षरब्रह्म, अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव इन स्वरूपोंमें प्रकट होता है। और तदनन्तर वह अक्षर ही प्रकृति और पुरुष (महाजीव) रूप हो जाता है। तदनन्तर प्रकृति, पुरुष, काल, कर्म और स्वभावके सहारेसे वह ब्रह्म ही सर्व जगद्रूप होता है। कहां तक लिखें, इस तरह वह भगवान् अपने ही पूर्व पूर्व रूपोंसे नवीन नवीन सहस्रशः अनेक रूप धारण करता ही रहता है और इसीलिये अनन्तसे प्रकट हुआ यह जगत् भी अनन्त है।

प्रभुके माहात्म्य (बड़प्पन) को समझकर उनमें सुदृढ़ भक्ति और उसके अंग और सबसे अधिक स्नेह होना, यही भक्तिका स्वरूप है। माहात्म्यज्ञान या सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या भक्तिका अङ्ग है और इसीलिये 'सा

परानुरक्तिरीश्वरे' इस शाण्डिल्य सूत्रमें अनु शब्दसे माहात्म्य ज्ञानका सूचन किया है।

भज्-ति—भज्का अर्थ है साधनरूप परिचर्या (कृति) और ति का अर्थ है भाव रति या प्रेम और दोनोंमें ज्ञान सहयोगी है। प्रेममें भी ज्ञान चाहिये और कृतिमें ज्ञानकी अपेक्षा है। भगवान् समस्त जगत्का पैदा करनेवाला है, इस ज्ञानसे भी प्रेम होता है और वह प्रभु मेरी या सबकी आत्मा है इस ज्ञानसे भी प्रभुमें प्रेम होता है। प्रभुमें किसी तरह जीवोंकी भक्ति हो, इसीलिये वेदमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' आदि श्रुतियोंसे भगवान्को जगत्कर्ता और सर्वात्मा कहा है। इस तरह ज्ञान और कृति दोनों भक्तिके अङ्ग हैं। ये दोनों भक्तिके लिये हैं, इसलिये इन्हें अङ्ग कहा है। 'शेषः परार्थत्वात्' इस मीमांसा-सूत्रमें पदार्थका अङ्ग कहा है। भक्तिके लिये कृति है, और भक्तिके लिये ज्ञान भी है इसलिये कृति और ज्ञान दोनों भक्तिके अङ्ग हैं।

प्रपत्ति और उसके अंग।

आश्रयको शरण या प्रपत्ति कहते हैं 'शरणं गृहरक्षित्रोः' घर या रक्षा करनेवालेको शरण कहते हैं। श्रीकृष्ण ही सबका घर है और रक्षा करनेवाला है, इसलिये श्रीकृष्ण ही शरण और आश्रय है, प्रपत्तिका मुख्यरूप या अङ्गी आत्म-निक्षेप संन्यास या परित्याग है और उस आत्मन्यासके पांच अङ्ग हैं। अपने उद्धारका सारा भार प्रभुके हाथमें सौंप देना ही आत्मनिक्षेप कहलाता है और यही आश्रय है।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाखण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम॥

कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति सब मार्गोंका नाश हो चुका है क्योंकि ढोंग और दुष्टता धर्मवाला यह कलियुग है। सब लोग पाखण्डप्रचुर हो गये हैं, ऐसी अवस्थामें मेरा उद्धार करनेवाला एक श्रीकृष्ण ही है यानी उद्धार-साधनोंके नाश होनेसे अब मेरा उद्धार करना श्रीकृष्णके ही हाथमें है। इसीका नाम आश्रय, शरण, प्रपत्ति तथा आत्मनिक्षेप है, और यही मुख्य सम्यक् न्यास (संन्यास) है और यही परितः त्याग (परित्याग) है।

पण्डितराज त्रिशूलीने भी आत्मनिक्षेपका ऐसा ही वर्णन किया है:—

विषीदता नाथ! विषानलोपमे विषादभूमौ भवसागरे विभो!
परं प्रतीकारमपश्यताऽधुना मयाऽयमात्मा भवते निवेदितः॥

इस आत्मनिक्षेपके पांच अङ्ग हैं। (१) आनुकूल्यका सङ्कल्प, (२) प्रतिकूलताका परित्याग, (३) प्रभु जो करेंगे वह सब अच्छा ही करेंगे, (४) मेरी रक्षा करनेवाले एक श्रीकृष्ण हैं और कोई नहीं, और (५) निःसाधनता।

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
करिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

सर्वनिर्णय

भगवद्गीता विवरण-ग्रन्थ (या वेदानुवाद-ग्रन्थ) नहीं है, किन्तु निर्णयात्मक ग्रन्थ है। सन्देह-निराकरणका ही नाम निर्णय है। वेदमें बहुतसे विषयोंका सन्देह दूर कर गीतामें उनका निर्णय किया है। भगवद्गीताके अर्थको समझानेके लिये ही श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके भी तीन निर्णयात्मक ग्रन्थ हैं। तत्त्वदीप-निबन्धका शास्त्रार्थ प्रकरण संक्षिप्त-गीतार्थ निर्णय है। उसका दूसरा सर्वनिर्णय-प्रकरण मध्यमगीतार्थ-निर्णय है और भागवतार्थप्रकरण तथा श्रीसुबोधिनी दोनों मिलकर विस्तारसे गीतार्थ सर्वनिर्णय है क्योंकि गीताका ही विस्तार श्रीभागवत है और श्रीभागवतका भाष्य श्रीसुबोधिनी है। भागवतके चार अर्थ निबन्धमें है तो तीन अर्थ श्रीसुबोधिनीमें है इसलिये निबन्ध और श्रीसुबोधिनी दोनों गीतार्थका विस्तृत सर्वनिर्णय है। जो सज्जन लोग गीताको कुछ सामान्य दृष्टिसे और भागवत तथा सुबोधिनीको सर्वोत्तम दृष्टिसे देखते हैं, वे ऐसे हैं जैसे कोई बीजको अलग रखकर वृक्ष लगाना और उसके फल खाना चाहता हो। निबन्धके प्रारम्भमें ही श्रीमद्वल्लभाचार्यने कुछ परिभाषाएं कही हैं। उन परिभाषाओंमें एक प्रतिज्ञा है कि—

कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि।
ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः।

शा० २१ श्लो०

शास्त्रार्थं वेदार्थम्। भगवद्वाक्यानि वाक्यशेषरूपाणि, सन्देहे निर्णायकानि। एवं वक्तारो भागवता भगवत्सम्बन्धिनो विद्वांसः। अनेन भक्ता इत्युक्तम्। त एव च शुद्धाः कर्मिणः। यथोक्तकर्मकरणात्। त एव च ब्रह्मवादिनः। यथोक्तब्रह्मस्वीकारात्।

अर्थात्—वेदान्तवाक्योंका शेषरूप भगवद्वाक्य गीता है। शेष अङ्गको कहते हैं। वाक्योंमें भी शेष और शेषी होते हैं। वेदान्तोंके वाक्य शेषी (अङ्गी) हैं और भगवान्के वाक्य गीताके वाक्य शेष वाक्य (अङ्गवाक्य) हैं। अङ्गके बिना अङ्गीकी सिद्धि होना असम्भव है। यद्यपि वक्तव्य

विषयमें-विषयसिद्धिमें शेषवाक्यका प्रामाण्य स्वतन्त्र नहीं है तथापि सन्देह-निराकरणमें उसका प्रामाण्य स्वतन्त्र है इसलिये शेषीवाक्योंका निःसन्देह अर्थ शेष वाक्योंके बिना नहीं हो सकता। वक्तव्यका निरूपण करदेने मात्रसे अङ्गीवाक्यकी फलसिद्धि नहीं हो जाती, किन्तु सन्देह निराकरणपूर्वक वक्तव्य ज्ञान होनेके बाद शेषीवाक्यकी फल सिद्धि होती है। जैसे प्रकृतिकी सिद्धि विकृति (अङ्गयाग) बिना नहीं हो सकती। गीताके वाक्य वेदार्थके सन्देह-निराकरण करनेवाले हैं, अतएव अङ्ग हैं, शेष हैं और शेष होनेसे ही तदनुसार वेदार्थ करना उचित है, उनके विरुद्ध या उनसे अलग अर्थ करना उचित नहीं।

जो विद्वान् वेदोंका अर्थ गीताके अनुसार करते हैं वे भागवत हैं, भगवद्भक्त हैं। वे ही शुद्ध-कर्मी हैं, उनका ही चित्त शुद्ध हुआ है। अर्थात् जो विद्वान् गीताके अनुकूल वेदोंका अर्थ लगाते हैं वे ही शुद्ध कर्मठ हैं, वे ही कर्मके द्वारा चित्त-शुद्धिको प्राप्त होते हैं, क्योंकि कर्म किस प्रकारसे करना चाहिये इसका गीतासे निःसन्देह ज्ञान हो जाता है और वे ही सच्चे ब्रह्मवादी हैं, ब्रह्मज्ञानी हैं, क्योंकि वेद और गीता दोनोंका समन्वय करके वे लोक सत्य ब्रह्म-ज्ञानको प्राप्त करते हैं।

एक दो उपनिषदोंको छोड़कर अन्य उपनिषदोंमें श्रीकृष्ण-भक्तिका निरूपण स्फुट रीतिसे नहीं है। क्योंकि 'परोक्ष प्रियाह वै देवाः' इस श्रुतिके अनुसार भगवान् और वेदको गुप्तभाषामें बोलना पसन्द है। अतएव सम्पूर्ण वेदमें परोक्ष रीतिसे नवधा भक्तिका, स्नेह भक्तिका और प्रपत्तिका वर्णन अनेक जगह किया है और भगवद्गीतामें उसी वेदकी गुप्त सूचनाको लेकर साधनरूपा (नवधा) साध्यरूपा (स्नेह) और प्रपत्तिका वर्णन विशद रीतिसे किया गया है एवं इसीलिये श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने ग्रन्थोंमें साङ्गभक्ति और प्रपत्तिका वेद-गीतासे निर्णीत निरूपण किया है। कर्म, ज्ञान, अङ्ग-सहित भक्ति और स्वतन्त्र प्रपत्ति ही प्रभुके साक्षात्कारका या प्रभु-प्राप्तिका मुख्य साधन है, यह श्रीवल्लभाचार्यजीने स्पष्ट रीतिसे अपने ग्रन्थोंमें कहा है। कर्मज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और कर्मादि चारोंके अङ्गोंके निर्णयमें ही सम्पूर्ण वेद और गीताका निर्णय समाया हुआ है अर्थात् फल-साधन और अङ्ग-सहित कर्मज्ञान भक्तिके निर्णयमें ही सर्व निर्णय आ चुका है। इन पदार्थोंको पृथक् पृथक् समझ लेना ही विज्ञान कहा जाता है और सब पदार्थोंको एक ब्रह्मरूपमें समझ लेनेको ज्ञान कहते हैं। सद्रूप ब्रह्मका ही एक रूपान्तर क्रिया है (कर्म है) चिद्रूपका एक रूपान्तर ज्ञान है, और आनन्दरूप ब्रह्मका ही एक रूपान्तर स्नेह या भक्ति है।

गीतामें क्या कहा गया है

(लेखक—पं० श्रीआनन्दघनरामजी,)

बहुतसे लोगोंको अध्यात्म-ज्ञानकी—वेदान्तकी बड़ी शौक रहती है, इसीसे वे अपना सारा समय वेदान्त-ग्रन्थोंके पढ़ने सुननेमें लगाया करते हैं, उनमेंसे अधिकांशकी तो यही समझ होती है कि ये सब शास्त्र केवल पढ़ने सुननेके लिये ही हैं। इसलिये उन ग्रन्थोंको पढ़ पढ़ और सुन सुनकर उनकी ऐसी दृढ़ धारणा हो जाती है कि बस, हमें पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। इस तरहके पढ़नेके शौकीनोंमें कुछ मनोरञ्जनके लिये, कुछ आनन्द पद आनेके कारण, कुछ पुण्य-लाभकी इच्छासे, कुछ केवल मान बड़ाई प्राप्त करनेके लिये और कुछ 'साम्प्रदायिक' आग्रहसे उन ग्रन्थोंको पढ़ते हैं। कोई विरला ही ऐसा होता है जो सत्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये इन ग्रन्थोंका अध्ययन करता हो। अधिकांश मनुष्य तो पूर्व परम्परागत धारणा या मानसिक संस्कारोंके ही दास हुआ करते हैं। इसीलिये इन ग्रन्थोंका अर्थ निश्चय करते समय वे अपने संस्कारानुकूल अर्थका प्रतिपादन करते हैं, यही कारण है कि एक ही ग्रन्थकी टीकामें भिन्न भिन्न सम्प्रदाय-के लोगोंको अपने अपने मतका समर्थन करनेका अवसर मिल गया है।

अतएव इस बंधी हुई दृष्टिको छोड़कर हमें मुक्तदृष्टिसे विचार जमाने चाहिये। यद्यपि जबतक हम इन विचारोंको अनुभवके लिये आचरणमें नहीं लावेंगे तबतक ये हमें साक्षात्कार करानेमें समर्थ नहीं होंगे तथापि कमसे कम विचारोंके सम्बन्धमें तो हमें स्वतन्त्रता मिल जायगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतएव इस दृष्टिसे जरा भगवद्गीता-की ओर देखिये—

भगवद्गीतामें कर्मयोग है, परन्तु वह कर्मठोंका कर्म

नहीं है, न वह ज्ञानयोगका ही साधन है और न वह स्वाभाविक कर्मोंमें परिवर्त्तन करनेके लिये कहता है। वह तो अपने कर्मस्वरूपको ही नष्ट करके ज्ञानरूप होनेवाला ज्ञानयोग है।—कर्मयोग ही नहीं है।

भगवद्गीतामें ज्ञानयोग है, पर वह वाचक वेदान्तियोंका नहीं है, न वह अरण्यवास बतलानेवाला संन्यास-धर्म है। और न वह, 'यह पाप है, यह मत करो, वह मत करो' कहकर रोनी सूरत बनानेको कहता है, वह तो प्राप्त परिस्थितिमें योग्य कर्तव्य बतलानेवाला और उस समय अपनी ईश्वर-भक्तिकी शक्तिके सहारे पाप-पुण्यको नष्ट करके श्रीकृष्ण-ध्यानमें कृष्ण-रूप बना देनेवाला भक्तियोग है—वह ज्ञानयोग ही नहीं है।

भगवद्गीतामें भक्तियोग है, पर वह भिखमंगे सकाम उपासकोंका नहीं, न वह किसी दूसरेका साधन है। वह तो कर्म और ज्ञानको खींचकर अपने स्वरूपमें करके श्रीकृष्ण-स्वरूप-सहित समस्त विश्वको आत्मस्वरूपमें परिणत कर देनेवाला भक्तियोग है—यानी पूर्ण भक्तियोग है।

भगवद्गीतामें यज्ञ-योग है, पर वह कर्मठ याज्ञिकोंका नहीं है, न वह स्वर्ग नरकमें ढकेलनेवाली क्रिया है और न वह विधि-निषेधके जञ्जालमें ही फंसानेवाला है। वह तो होनेवाले प्रत्येक शुभाशुभ कर्मको यज्ञस्वरूपमें परिणतकर यज्ञकर्त्ताको परमात्म-रूप बनानेवाला है, इसलिये वह भी यज्ञ न होकर भक्तियोग ही है।

भगवद्गीतामें भावुक स्त्रियोंको प्रेम बढ़ानेके लिये पूरा स्थान है। कामियोंके कामका आत्यन्तिक निषेध नहीं है। संसारी मनुष्योंके संसार-व्यवहारमें बाधा नहीं है। पुण्यवान्को ही मोक्ष देनेका पक्षपात नहीं है। महान् पापीके लिये द्वार बन्द नहीं है। *किसी भी धर्म या जाति-भेदका प्रतिबन्धन नहीं है।* इस प्रकार सर्व-स्वभाव-धर्मरूप गीता-तत्त्वमें प्रवेश करनेकी इच्छावाले श्रद्धा-भक्ति-सम्पन्न समस्त स्त्री-पुरुषोंको अपने समीप बुलाकर उनको अपने स्वाभाविक सर्वसमर्थ स्वरूपमें पहुँचा देनेवाली, पतित और अनाथोंकी यदि कोई उदार धर्म-माता है तो वह एकमात्र *श्रीभगवद्गीता* ही है। आइये! उस माताके स्वीय स्तनोंसे झरनेवाली असंख्य दुग्धधाराओंका हम प्राशन करें। आइये आइये और सब तरहसे तृप्त हो जाइये।

श्रीभगवद्गीतामें द्वैतवाद

(लेखक—आचार्य श्रीचितीन्द्रनाथ ठाकुर बी० ए०)

गीताके मतसे जीव और ब्रह्म एक हैं या भिन्न भिन्न?

(स)बसे प्रथम हम इस बातपर विचार करेंगे कि महाभारत और तदनुसार भगवद्गीताका द्वैतवाद और अद्वैतवादके सम्बन्धमें क्या मत है? महाभारतका प्रधान मन्त्र द्वैतवाद या अद्वैत-गर्भ द्वैतवाद है। अद्वैत-गर्भ द्वैतवादका अर्थ मेरी समझमें यह है कि—जीवात्मा और परमात्मामें वास्तविक एक भेद है, परन्तु जीवात्मा धर्माचरण द्वारा अपनेको पवित्र बनाता रहे तो एक ऐसी अवस्था आती है, जिसमें वह यथेच्छरूपसे—उच्छृङ्खल भावसे कर्म न करके ईश्वरकी इच्छाके साथ स्व-इच्छाको सम्पूर्ण भावसे युक्त कर देता है और निष्काम भावसे कर्म करता हुआ संसारमें विचरण करता है। इस अवस्थामें जीवात्मा अपने कर्तृत्व ज्ञानको भूलकर ईश्वरके कर्तृत्वका ही अधिकतर अनुभव करना चाहता है। इस स्थितिमें जीवात्मा जो सत्कर्म करता है, उसके लिये वह यही समझता है कि 'मैं ईश्वरके आदेशसे ही यह सब कर रहा हूं, ईश्वर ही यह सब करनेके लिये मुझे शुभ बुद्धि प्रदान कर रहे हैं। इस प्रकारका द्वैतवाद या अद्वैत-गर्भ द्वैतवाद जीवात्माका प्रकृत सात्त्विक भाव है।

महाभारतमें बहुत जगह यह भाव भलीभांति व्यक्त किया गया है। नारायण और नरोत्तम नरको नमस्कार करके ही महाभारतका प्रारम्भ किया गया है। महाभारतमें नर-नारायणके बदरिकाश्रममें निरन्तर तप करनेकी कथा है। इस नर-नारायणके निरन्तर तपकी कथाको हम जीव-ब्रह्म-सम्बन्धी द्वैतवादमूलक एक रूपक समझते हैं। नर अर्थात् आदर्श मनुष्य, नारायणकी यानी ब्रह्म-पदकी प्राप्तिके लिये निरन्तर तपस्या कर रहा है। जिसके फलमें वह नर कभी नारायण नहीं हो गया परन्तु नारायणको बन्धुरूपमें प्राप्त कर लिया। नारायण भी सदा तप करते हैं; पता नहीं वे किसलिये करते हैं, परन्तु मालूम होता है कि वे नरके और साथ ही सारे जगत्‌के कल्याणके लिये तप करते हैं। महाभारतमें श्रीकृष्ण-अर्जुनके लिये नर-नारायणका अवतार

शरणागतिमें सबका उद्धार ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ॥

होनेका वर्णन न रहनेके कारण कुछ लोग श्रीकृष्ण-अर्जुनको भी द्वैतवादमूलक एक रूपक समझते हैं, परन्तु हम श्रीकृष्ण-अर्जुनको रूपक नहीं समझते। कारण, यह-रूपक होनेसे महाभारतका इतिहासके नामपर इतना प्रचार नहीं होता।

अब मैं यह दिखलाऊंगा कि, जब श्रीमद्भगवद्गीता महाभारतका एक अंश है, तब उसीके अनुसार गीतामें भी द्वैतवादका प्रतिपादन हुए बिना नहीं रह सकता। गीतामें श्रीकृष्ण कहते हैं–

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ (८। २२)

हे पार्थ! उस परम पुरुषकी प्राप्ति अनन्य भक्तिके द्वारा ही की जा सकती है, यह सब भूत उन्हींमें स्थित हैं, वे ही समस्त जगतमें व्याप्त हैं।

इस श्लोकसे पता लगता है कि ये सारे भूत ईश्वरमें अवस्थित हैं। ईश्वर स्वयं भूत नहीं बने हैं। इसी भावको श्रीकृष्णने क्रमशः प्रस्फुटित किया है। तेरहवें अध्यायमें सांख्योक्त प्रकृति-पुरुषकी बात कहनेके पश्चात् वे कहते हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ (१३। २२)

अर्थात् 'इस देहमें (पूर्वके कुछ श्लोकोंमें बतलाये हुए पुरुष या आत्माके अतिरिक्त) एक परम पुरुष भी हैं, उन्हींको परमात्मा कहते हैं, वे साक्षीस्वरूपसे सब कुछ देखते और जानते हैं, एवं वे जगत्के भर्ता, पालक और महेश्वर हैं।' पन्द्रहवें अध्यायमें श्रीकृष्णने जीवात्मासे परमात्माकी भिन्नता अति स्पष्ट भाषामें प्रदर्शित की है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
(१५। १६-१७)

भावार्थ यह है कि, लोकमें दो प्रकारके पुरुष प्रसिद्ध हैं। एक क्षर और दूसरा अक्षर। सारे पदार्थ क्षर हैं और कूटस्थ पुरुष (जीवात्मा) अक्षर कहलाता है। परन्तु तीसरे (यानी उपर्युक्त दोनों पुरुषोंसे भिन्न) एक पुरुष और हैं, वे ही पुरुषोत्तम हैं, उन्हें ही परमात्मा कहते हैं, वे ही ईश्वर हैं और वे ही त्रिलोकमें प्रविष्ट रहकर तीनों लोकोंका पालन करते हैं। इन दोनों श्लोकोंके बाद ही भगवद्गीताकी आख्यायिकाके अनुसार ईश्वरस्वरूपसे श्रीकृष्ण अर्जुनको संशय-समुद्रसे उद्धार करते हुए कहते हैं—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(१५। १८)

'चूंकि मैं जड़ पदार्थसे अतीत और 'अक्षर' पुरुष जीवात्मासे श्रेष्ठ हूं, इससे केवल लोकमें ही नहीं, वेदमें भी मुझको पुरुषोत्तम कहा गया है।' इस श्लोकके द्वारा यह स्पष्ट ही समझा जाता है कि श्रीकृष्ण या वेदव्यासका ही मत द्वैतवाद नहीं था। उनके मतसे वेदका भी मूल भाव द्वैतवाद ही है। उपनिषद्में कहा भी है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
(मुंड० ३। १। १)

सुन्दर पक्षधारी दो पक्षी एक वृक्षपर हैं, वे एक दूसरेके सखा हैं। उनमें एक सुस्वादु कर्म-फल भोग करता है और दूसरा निरशन रहकर केवल देखता है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥
(मुंड० २। २। ४)

प्रणव धनुष है और आत्मा शर है एवं ब्रह्म लक्ष्य है, प्रमादशून्य होकर परब्रह्मको विद्ध करनेके लिये शरकी भांति तन्मय हो जाना चाहिये। लक्ष्य वस्तुमें जैसे बाण संयुक्त रहता है, वैसे ही परब्रह्ममें तन्मय हो जाना चाहिये।

इन शब्दोंसे ब्रह्मके साथ आत्माका एक हो जाना नहीं परन्तु केवल आत्यन्तिक संयोग ही सिद्ध होता है, इन उपनिषदोंके आधारपर कहा जा सकता है कि द्वैतवाद ही हमारे शास्त्रका प्रधान अवलम्बन है। योगी याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

'उपास्यं परमं ब्रह्म आत्मा यत्र प्रतिष्ठितः॥'

'जिस परब्रह्ममें आत्मा प्रतिष्ठित है, वही परब्रह्म उपास्य देवता है।' इन सब वाक्योंकी आलोचना करनेके पश्चात् यह कैसे कहा जा सकता है कि शास्त्रमें अविमिश्र अद्वैतवादका ही उपदेश है? प्रत्युत प्रमाण तो इस बातके हैं कि, द्वैतवाद या अद्वैतगर्भ द्वैतवाद ही हमारे शास्त्रोंके मूलगत प्राण हैं, यहांतक कि, अद्वैतवादी पण्डित-समुदाय जिनके मतका अनुसरण करके अद्वैतवादकी स्थापना करना चाहता है, उन श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने भी वास्तवमें अद्वैतगर्भ द्वैतवादका ही प्रचार किया था। अद्वैतवादी विद्वान् अद्वैतवादकी स्थापनाके लिये जिन युक्तियोंका प्रयोग करते हैं, उनमें अधिकांश उपमानुमान ही है। वे कहते हैं, जीव

और ब्रह्म जलके बुद्बुदे और समुद्रकी भांति एक हैं। परन्तु श्रीशंकराचार्यके उपदेश साहस्री नामक सुप्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थके टीकाकारने एक उपमानुमानका प्रयोग किया है, उसीसे शंकरके मतका तत्त्व प्राप्त हो सकता है, वह उपमा है—जीव और ब्रह्म कैसे एक हैं? जैसे नमक और जल। यहां देखते हैं कि नमक और जल भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, जलमें छोड़ देनेपर नमक दीखता नहीं है, मिलकर एकसा हो जाता है। इस प्रकार जलमें मिल जानेपर भी यह अनुभव तो होता ही है कि जल और नमक अलग अलग पदार्थ हैं। अतएव इस उपमानुमानसे यह सिद्ध होता है कि श्रीशंकराचार्यजीके मतसे यद्यपि जीव ब्रह्मके साथ एकात्मभावको प्राप्त हो जाता है परन्तु वह परमात्माके साथ वास्तवमें ही एक और अभिन्न नहीं हो जाता। अधिक क्या, श्रीशंकराचार्यने जिस वेदान्तसूत्रके आधार पर वेदान्त-मतका प्रचार किया है। उसी वेदान्त सूत्रमें है–

'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च।' (वे० सू० ४ । ४ । २१) केवल भोगोंमें मुक्त जीवोंका ईश्वरके साथ साम्य होता है, सृष्टि-कर्तृत्वमें साम्य नहीं होता। एक और सूत्र है—

'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणात्वादसन्निहितत्वाच्च।' (वे० सू० ४।४।१७)

'जगद्व्यापारसे अर्थात् जगत्के कर्तृत्वसे मुक्त जीवोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण, सृष्टि-प्रकरणमें कहा गया है कि, वह शक्ति केवल ईश्वरकी ही है, जीवमें वह सामर्थ्य सन्निहित नहीं है और किसी काल होती भी नहीं।' द्वैत और अद्वैतवादके सम्बन्धमें बहुत दिनोंसे झगड़ा चल रहा है, इस विषयमें हम और कोई तर्क नहीं करना चाहते। हमारा उद्देश्य जीव-ब्रह्मके सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीताका मत दिखलाना था, सो दिखलाया गया।

गीताके मतसे जगत् और ब्रह्म एक हैं या भिन्न भिन्न?

अब यह देखना है कि ब्रह्म और जगत्के सम्बन्धमें गीताका क्या उपदेश है? जब गीताके मतसे जीव और ब्रह्म एक नहीं रहते, तब कहना नहीं होगा कि उसके मतसे जगत् और ब्रह्म भी भिन्न हैं। गीताके मतसे ब्रह्मसे जगत् भिन्न अवश्य है परन्तु जगत् उसीसे उत्पन्न होकर और उसीको अवलम्बन करके स्थित है। गीताकी आख्यायिकानुसार ईश्वर-स्वरूपसे श्रीकृष्ण कहते हैं—

'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।' (७।१०)

'हे पार्थ! मुझे समस्त भूतोंका सनातन बीज या कारण समझ।' यह सारा जगत् उस तेजोमय पुरुषके तेजोबिन्दुसे ही उत्पन्न होता है—

'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता' (१४।४)

गीता स्पष्टरूपसे कहती है कि कार्यरूप जगत् अश्रेष्ठ है और इसके कारण ईश्वर सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव ईश्वर और जगत् परस्पर भिन्न हैं; अवश्य ही चराचरकी स्थिति उसीमें है। श्रीकृष्णने कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (७।७)

'हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, जैसे ग्रथित मणियां सूत्रके आश्रय रहती हैं, इसी प्रकार यह समग्र विश्व-चराचर मुझे अवलम्बन करके स्थित हो रहा है'

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ (९।६)

जैसे सर्वत्रगामी वायु आकाशमें निरन्तर रहनेपर भी उसके साथ आकाशका विशेष लिप्त भाव नहीं है, वैसे ही चराचर संसार भी ईश्वरमें है। आकाश सदा स्थिर ही रहता है, पर जैसे चंचल वायुके उसमें क्रीड़ा करनेपर भी आकाश-शरीरमें कुछ भी हवा नहीं लगती; वैसे ही ईश्वरमें भी इस चञ्चल संसारकी स्थिति और क्रिया वर्तमान है, परन्तु ईश्वरने निर्विकार भावसे इन सबको धारण कर रक्खा है।

गीतामें श्रीकृष्ण परब्रह्मको केवल सृष्टिकर्ता कहकर ही चुप नहीं रह गये, उन्होंने कहा कि, परमपुरुष परमेश्वर केवल सृष्टि करके ही निश्चेष्ट होकर बैठ रहते हैं सो बात नहीं है। वे अपनी सृष्टिके नियन्ता भी बने रहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ (९।१०)

ईश्वरकी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचरको प्रसव करती है, और यही जगत्के परिवर्तनका कारण है। प्रकृति नित्य नयी नयी घटनाओंका प्रसव करती है परन्तु ईश्वर नियन्ता होकर सबको नियमित कर रहे हैं। उन्हींके आदेशसे प्रकृतिके कर्म हो रहे हैं, इस श्लोकसे पूर्वके श्लोकमें ईश्वरके लिये 'उदासीनवदासीनम्' कहा गया है, इससे लोग कहीं यह न समझ लें कि जगत्का कार्य नहीं चलता, इसलिये इस चरणके बाद दूसरे चरणमें 'असक्तं तेषु कर्मसु' कहा गया है अर्थात् ईश्वर जगत्में निर्लिप्त रहकर भी जगत्के कर्माध्यक्षतारूप कार्यको कर रहे हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे यह पाया गया कि गीतामें ईश्वरकी

चोट द्वैतवादका प्रचार किया गया है परन्तु गीता और उपनिषदोंमें जगह जगहपर जगत् और ईश्वरके एक होनेका उल्लेख भी मिलता है। उसका यही कारण है कि साधक जब ईश्वरकी सर्वव्यापकता, अपरिच्छिन्नता और साथ ही उसीपर जगत्की निर्भरता–'इतनी निर्भरता कि ईश्वर यदि अपनेको जगत्से अलग कर लें तो जगत्का अस्तित्व ही न रहे–'की गंभीर भावसे आलोचना करता है, तब उसके मुखसे स्वाभाविक ही जो शब्द निकलते हैं सो कुछ कुछ अद्वैतवादके सदृश ही प्रतीत हुआ करते हैं।

विभूति-योगाध्यायमें जहां ईश्वर-स्वरूपसे श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'आदित्योंमें विष्णु, इन्द्रियोंमें मन, स्थावरोंमें हिमालय, दैत्योंमें प्रह्लाद, पशुओंमें सिंह, छन्दोंमें गायत्री, ऋतुओंमें बसन्त आदि मैं हूं।' वहां यह नहीं समझना चाहिये कि वास्तवमें ईश्वर ही वे सब बन गये हैं। वे सबके आदि और श्रेष्ठ हैं, यही विभूति-योगाध्यायमें समझाया गया है। इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है, पाठक उस अध्यायका पाठ करते ही हमारी बातकी यथार्थता हृदयङ्गम कर सकेंगे।

गीताके मतसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं या नहीं ?

यह पहले कहा जा चुका है कि 'श्रीकृष्णने ऐसा कहा है कि, ब्रह्मसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है।'–'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।' परन्तु वे ही आगे चलकर एक जगह सांख्य-मतके अनुसार प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनोंको अनादि बतलाते हैं- 'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।' (१३।१९) इससे यदि गीताके मतसे प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं तो वे अनादित्वके सम्बन्धमें ब्रह्मके समान ठहरते हैं और अनादि होनेके कारण सामर्थ्यमें भी ब्रह्मके समकक्ष हो जाते हैं, फिर ब्रह्मको सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। इसीसे पूर्वोक्त दोनों प्रसंग परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु श्रीकृष्णने अन्य दो श्लोकोंद्वारा इस विरोधका नाश कर दिया है-

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
> अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
> जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्॥ (७।४-५)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार ये आठ मेरी (ईश्वरकी) विभक्त प्रकृति हैं। यह अष्टधा प्रकृति अपरा यानी अश्रेष्ठ है; हे महाबाहो! इसके अतिरिक्त मेरी (ईश्वरकी) और एक जीवस्वरूप परा यानी उत्कृष्ट प्रकृति है और उसीने इस जगत्को धारण कर रक्खा है।'

हिन्दू-शास्त्रको समझनेकी एक प्रणाली यह है कि विरोधाभासयुक्त शब्दावलीका सामञ्जस्य कर लेना चाहिये। उसी नियमके अनुसार ऊपर उद्धृत श्लोकोंका सामञ्जस्य करनेसे निम्नलिखित भाव निकलता है।–

'प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, इसका अर्थ यह नहीं है-उनका आदि या मूल नहीं है। हमारी प्रकृति (Nature) और पुरुष (जीवात्मा) ईश्वर-प्रकृतिके अंश या कणमात्र हैं। यह अवश्य समझ रखना चाहिये कि इससे ईश्वरमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, वे अपने स्वरूपमें विकारहीन रहकर भी अपनी प्रकृतिसे इस प्रकृति और पुरुषको प्रकट करते हैं। वे ईश्वर अनादि हैं, ईश्वर-प्रकृति भी अनादि और नित्य है एवं उसीकी इच्छासे, उसकी प्रकृतिसे जगत्-प्रवाह और जीव-प्रवाह बह रहा है, अतएव हम प्रकृति और पुरुषको आपेक्षिक अनादि और नित्य कह सकते हैं। इससे वास्तवमें इनके आदि या मूलका अभाव नहीं समझना चाहिये। पहले दो शीर्षकोंमें यह दिखलाया गया था कि गीताके मतसे जीव और ब्रह्म तथा जगत् और ब्रह्म एक नहीं हैं एवं इस शीर्षकमें यह दिखलाया गया कि गीताके मतसे प्रकृति और पुरुष वास्तवमें अनादि नहीं हैं तथा प्रकृति और पुरुष दो भिन्न पदार्थ हैं।

परमात्माके साथ जीवात्माका विशेष सम्बन्ध।

यह कहा जा चुका है कि जीवात्मा परमात्माकी परा प्रकृति है और चराचर-भूत उनकी अपरा प्रकृति है। इससे यह भाव भी निकलता है कि परमात्माके साथ चराचर भूतोंकी अपेक्षा जीवात्माका एक विशेष सम्बन्ध है। ईश्वर प्रकृतिके नियन्ता अवश्य हैं, परन्तु जीवात्माके साथ उनका एक महान् घनिष्ठ सम्बन्ध है। पिताके साथ पुत्रका जो सम्बन्ध होता है, सखाके साथ सखाका जो सम्बन्ध होता है, परमात्माके साथ भी जीवात्माका वही सम्बन्ध है–

> पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः।
> प्रियः प्रियाय * * * * (११।४४)

ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिये जीवात्माका सबसे महान् कार्य परमात्मासे मिलना है, इस जीव और ब्रह्मके सम्मिलनका नाम ही योग है। सारी गीतामें भगवान्ने इस योग-साधनके लिये ही उपदेश दिया है, इसीसे गीताके प्रत्येक अध्यायके नामके साथ 'योग' शब्द जोड़ा गया है।

गीतामें हिंसा है या अहिंसा ?

(ले०-श्रीविनोबाजी भावे)

उपनिषदोंका दोहन करके महर्षि व्यासने गीतारूपी दुग्ध निकाला, जब उपनिषदोंमें अहिंसा-धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मका प्रतिपादन नहीं पाया जाता, तब गीतामें भी अहिंसाका ही प्रतिपादन होना सिद्ध है। यद्यपि इस तर्कसे उपर्युक्त प्रश्नका समाधान हो सकता है तथापि शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार इसपर कुछ विचार किया जाता है।

गीताके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें बहुत लोगोंको जो शंका होती है, उसका कारण है गीताकी पोशाक। इसीसे लोग भ्रममें पड़ जाते हैं। केवल ऊपर ऊपरसे ही देखनेपर तो गीता युद्धमयी प्रतीत होती है। और इसीसे लोग सहसा अनुमान कर लेते हैं कि युद्ध ही गीताका विषय है, परन्तु बात यह नहीं है। गीताकी स्थिति नारियल जैसी है। ऊपरसे देखनेपर किसीको यह नहीं मालूम होता कि इसके अन्दर नरम गुदा और मीठा रस भरा है। नारियलका बाहरी कवच इतना कठिन होता है कि उसके फोड़नेमें ही आधा घण्टा लग जाता है। यही हाल गीताका है। गो० तुलसीदासजी और बाल्मीकिजीने जिसप्रकार श्रीरामका वर्णन किया है—जो बाहरसे वज्रके समान कठिन है, परन्तु अन्दरसे कुसुम-सदृश कोमल है, केवल सीता-त्यागके सम्बन्धमें ही नहीं, परन्तु सभी प्रसंगोंमें। वैसे ही गीता भी अन्दरसे कोमल, बाहरसे कठिन है। इसलिये गीताके बाहरी कवचको तनिकसा तोड़कर अन्दरसे देखिये। मुख्य आपत्ति क्या थी, अर्जुन भगवान्के पास किस बातका फैसला चाहता था, इसपर विचार कीजिये। 'हिंसा उचित है या अहिंसा' क्या अर्जुनके मनमें यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था? मुख्य बात तो यह थी कि—

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।

युद्धमें स्वजनोंका वध करनेसे कोई कल्याण नहीं होगा। फिर स्वजन भी कैसे? प्रत्येक विषयका कुछ कुछ वर्णन करनेवाले व्यासजीने इन स्वजनोंके वर्णनमें भी पांच छः श्लोक खर्च किये हैं। आचार्य, चाचा, पितामह, मामा, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर आदि सबका वध कर डालनेपर हमें क्या सुख मिलेगा?—'कथं सुखिनः स्याम माधव?' यह प्रश्न है। अर्जुनने इसके पहले अपार हिंसा की थी। आज भी मारने योग्य शत्रुके समाचार प्राप्त करनेमें अर्जुन नहीं चूका, परन्तु उसको तो स्वजनोंको देखकर मोह हो गया!

अर्जुनने युद्धके दोष दिखलाये। युद्धसे कुलक्षय होगा, कुलक्षयसे कुलधर्म-नाश होनेपर स्त्रियां भ्रष्ट हो जायंगी आदि परिणामका उसने विस्तारसे वर्णन किया परन्तु अर्जुनका यह युक्तिवाद उस न्यायाधीशके युक्तिवादके समान ही था जो जीवनभर फांसीकी सजा सुनानेवाला होनेपर भी अपने लड़केके द्वारा खून किये जानेपर फांसीके विरुद्ध हो जाता और कहता है कि 'फांसीकी सजा बहुत बुरी है।' जीवनभर उसको यह बात नहीं सूझी, परन्तु जब अपने लड़केके फांसी चढ़नेकी नौबत आयी तब मोहके कारण यह युक्तिवाद सूझा कि 'फांसीकी सजा बहुत बुरी है, उसका परिणाम अच्छा नहीं होता, इससे अपराध नहीं रुकते, ऐसा महात्मा गांधी कहते हैं।' इस प्रकार मोहमें फंसा हुआ मनुष्य अनेक बार उन शास्त्र-प्रमाणोंको सामने रखता है जिससे उसकी युक्तिका समर्थन होता है। पुत्रको फांसीकी सजा देनेका प्रसंग न्यायाधीशकी आत्माको जाग्रत् करनेका कारण बन सकता है, परन्तु अर्जुनके लिये वैसा कुछ नहीं हुआ। 'हिंसा निन्दनीय वस्तु है इसलिये मैं उसका त्याग करना चाहता हूं।' इस भावके एक भी शब्दका अर्जुनने उच्चारण तक नहीं किया। भगवान्ने भी युद्ध-सम्बन्धी युक्तिवादका कोई उत्तर नहीं दिया, उसकी कहीं चर्चा तक नहीं की, कुल-क्षयसे कुलधर्मके नाशद्वारा स्त्रियोंका पतन होना आदि युद्धके परिणाम होनेपर भी युद्ध करना कर्तव्य है, ऐसी बात भगवान्ने कहीं नहीं कही, उन्होंने तो उलटे अर्जुनसे यह कहा—

प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

यानी युद्ध या हिंसा अनुचित है, यह बात सर्वथा सत्य है, परन्तु तू तो केवल वाद कर रहा है, इस यथार्थ सत्य

वस्तुका उपयोग तू केवल वाणीकी शोभा बढ़ानेमात्रके लिये कर रहा है। भगवान्‌का तो यह कहना है। 'प्रज्ञावाद' शब्दका उपयोगकर भगवान्‌ने उसकी यथार्थता और अर्जुन-द्वारा किया हुआ उसका दुरुपयोग ये दोनों ही बातें सिद्ध कर दीं। अर्जुन यदि युद्धको बुरा समझता या उसके मनमें युद्धके प्रति तिरस्कार उत्पन्न हुआ रहता तो भगवान्‌ने उसको वारम्वार जो कुछ कहा, उसका वह उचित उत्तर भी देता। भगवान्‌ने कहा--

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।

इसपर अर्जुनको कहना चाहिये था कि, 'मुझे अकीर्तिकी कोई परवा नहीं है, मैं युद्ध नहीं करूंगा।' भगवान्‌ने अर्जुनकी मानसिक स्थितिको 'क्लैब्यं क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं' आदि कहा है। अर्जुन यदि अहिंसा-धर्ममें प्रवृत्त होकर युद्ध-परित्याग करनेका सिद्धान्त रखता तो वह भगवान्‌से कहता, 'नहीं! भयसे नहीं परन्तु वीरतासे।-मेरा मन दुर्बल है इसलिये नहीं, पर वह दृढ़ है, इसीलिये, मैं कह रहा हूं कि मुझे युद्ध नहीं चाहिये।' परन्तु अर्जुन इस तरहकी कोई चर्चा ही नहीं करता, वह तो स्वजनोंका वर्णन करता है, 'पूजनीय भीष्म और द्रोणको मैं कैसे मारूं?' यह उसका प्रश्न है। अहिंसा ही यथार्थ कल्याण है, यह समझकर यदि वह हिंसाका त्याग करना चाहता तो भगवान्‌को उसे इतनी बड़ी गीता सुनानेकी आवश्यकता ही नहीं होती। पर अर्जुनकी रण-त्याग करनेकी इच्छा तामसी या राजसी थी, उसमें सात्त्विकता नहीं थी, युद्ध उसका नियतकर्म था। मोह-वश होकर वह जो उसका त्याग करना चाहता था, सो तो तामस त्याग था—

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः।

मोहसे नियतकर्मका त्याग करना तामस त्याग है। दुःखके भयसे किये जानेवाला त्याग राजस कहलाता है—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥

भगवान् इन दोनों तरहके त्यागोंसे अर्जुनको बचाना चाहते थे। गीताका मुख्य प्रश्न मोह और उसका निवारण है। अर्जुन अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए कहता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।

इस 'धर्मसम्मोह' का नाश करनेके लिये सारी गीता सुनाकर भगवान्‌ने अर्जुनसे पूछा—

कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।

'तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?'—अर्जुनने उत्तरमें स्पष्ट कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

इस प्रकार शास्त्रीय-दृष्टिसे देखनेपर भी प्रधान प्रश्न मोह ही सिद्ध होता है। कार्याकार्यता या हिंसा अहिंसाका यहां प्रश्न ही नहीं है।

इसके अतिरिक्त न्यायशास्त्रके नियमोंके अनुसार पूर्वपक्ष-की जिन बातोंका उत्तर नहीं दिया जाता, वे प्रतिपक्षीको स्वीकार है, ऐसा माना जाता है। युद्धसे होनेवाली अनिष्ट-परम्पराके सूचक युक्तिवादमें 'प्रज्ञावाद' वास्तवमें सत्य है। यानी युद्धका परिणाम, अर्जुनने जो कुछ बतलाया सो ठीक है। परन्तु (युद्धप्रेमी) अर्जुनके मुखसे यह प्रज्ञावाद शोभा नहीं देता। यही भगवान्‌का कहना है। आगे चल-कर भी कहीं इसका उत्तर नहीं दिया गया है। इससे यही मानना चाहिये कि भगवान्‌ने इस प्रज्ञावादको स्वीकार किया है।

दूसरे प्रमाण

अब एक प्रमाण और लीजिये।—भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

इसका क्या अर्थ है? सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। इससे क्या भगवान् यह कहते हैं कि 'सदा सर्वदा कुरुक्षेत्रमें युद्ध करता रह?'

भगवान्‌ने इस उपर्युक्त श्लोकमें यह बतलाया है कि मेरा स्मरण करते करते जिसका अन्त होता है उसे परमगति प्राप्त होती है। सब समय मेरा स्मरण करते रहनेसे ही अन्तकालमें मेरा स्मरण रहता है अतएव परमगतिकी प्राप्ति करनेके लिये सब समय मेरा स्मरण कर।

इस स्मरणके साथ ही जो 'युध्य' शब्द कहा गया है, उसका यदि 'युद्ध कर' ऐसा स्थूल अर्थ किया जायगा तो अनर्थ हो जायगा। तुकाराम महाराज कहते हैं—'रात्र दिन आम्हां युद्धाचा प्रसंग' मेरे तो आठों पहर युद्ध ही लगा रहता है। यहांपर भी यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये। यहांके सर्वकाल शब्दसे यही अर्थ सिद्ध होता है। यानी सर्वकाल आसुरी सम्पत्तिसे लड़ता रह।

भगवान्‌का सरल उपदेश देखा जाय तो वह अहिंसा-का ही प्रमाणित होता है। ज्ञानी, भक्त और कर्मयोगी इन सबका उन्होंने एकसा ही वर्णन किया है। दैवी सम्पत्तिके उपदेशमें 'अहिंसा' का उल्लेख तो है ही परन्तु और भी

कई अहिंसावाचक गुणोंका वहां वर्णन है। जैसे—अक्रोध, शान्ति, भूतेषु दया, मार्दव इत्यादि। क्षत्रियोंके गुणोंमें भगवान्ने 'युद्धे चाप्यपलायनम्' भी एक गुण बतलाया है परन्तु उसका अर्थ युद्धमें निर्भयतासे छाती खोलकर खड़े रहना है, न कि दूसरोंको मारना या संहार करना। सतरहवें अध्यायमें जहां त्रिविध तपका वर्णन है, वहां शारीरिक तपमें साक्षात् 'अहिंसा', वाङ्मय तपमें 'अनुद्वेगकर वाक्य' और मानस तपमें 'सौम्यत्वं' कहकर प्रकारान्तरसे अहिंसाका ही निर्देश किया है। अपने अत्यन्त प्रिय भक्तोंके वर्णनका तो प्रारम्भ ही भगवान्ने—'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'—से किया है और शेषमें 'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः' कहकर अहिंसाकी ही पुनरुक्ति की है।

अब टीकाकारोंका कथन लीजिये, यद्यपि टीकाकारोंका कथन प्रमाण नहीं है परन्तु उनका मत जानने तथा अपने पक्षके समर्थनमें उसका उपयोग होता है या नहीं, यही देखनेके लिये ऐसा किया जाता है। शांकर भाष्यमें यह स्पष्ट कहा है कि 'युद्धयस्व' वाक्य 'विधि' वाक्य नहीं है पर 'अनुवाद' वाक्य है। विधिका अर्थ है नियम-आज्ञा और अनुवादका अर्थ है अनुज्ञा। मनुष्यके किसी प्रसंगपर 'मैं ऐसा करूं' यह पूछनेपर जो 'हां कर' कहा जाता है सो आज्ञा नहीं पर अनुज्ञा कहलाती है। 'युद्धाय युज्यस्व' के सम्बन्धमें श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं कि 'यह प्रासंगिक उपदेश है, 'विधि' नहीं है।'

अन्य किसी भी टीकाकारने गीताका हिंसा-परक अर्थ नहीं किया है, यह बात ध्यानमें रखने योग्य है। यह ठीक है कि जिसकी जैसी वृत्ति होती है, वह वैसे ही अर्थ निकालता है, परन्तु शास्त्रीय रीतिसे गीताके अन्तर्बहिरंगकी परीक्षा करनेपर अहिंसाके अतिरिक्त उसका दूसरा कोई अर्थ नहीं निकल सकता।

गीताका सर्वश्रेष्ठ श्लोक

(लेखक—पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र एम० ए०, एल एल० बी०, एम० आर० ए० एस)

सर्वश्रेष्ठ ज्ञानका भाण्डार उपनिषदोंमें है और उनका सर्वश्रेष्ठ निचोड़ गीतामें भरा हुआ है। यों तो गीतामें लगभग ७०० श्लोक हैं परन्तु उनमेंसे लगभग १२५ श्लोक धृतराष्ट्र, सञ्जय तथा अर्जुनकी उक्तियोंमें निकल गये हैं। शेष ५७५ श्लोक ऐसे हैं जिनमें अगाध गम्भीर दार्शनिक तत्त्व भरा हुआ है। दार्शनिक तत्त्व ही क्यों सामाजिक तत्त्व भी उन्हींमें है, राजनैतिक तत्त्व भी उन्हींमें है, धार्मिक तत्त्व भी उन्हींमें है, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्व भी उन्हींमें है। इन श्लोकोंमें प्रत्येक ही महामहिम है। प्रत्येक ही अद्भुत प्रभावशाली है और इसीलिये प्रत्येक ही मन्त्र कहाता है। प्रत्येक श्लोकरूपी बिन्दुमें ज्ञानका अगाध सिन्धु समाया हुआ है। इनमें यह कहना बहुत ही कठिन है कि कौनसा श्लोक बड़ा तथा कौनसा छोटा है। फिर भी चिरकालसे मनुष्योंकी यही प्रवृत्ति रही है कि वे इस 'दुग्धं गीतामृतं महत्' से कुछ नवनीत रूपी सारश्लोक निकालकर प्रेमी पाठकोंके सम्मुख रख दें। इसी उद्देश्यको लेकर चतुःश्लोकी गीता, सप्तश्लोकी गीता, अष्टादशश्लोकी गीता आदिकी रचना हुई है और इसी उद्देश्यको लेकर गीताके सर्वश्रेष्ठ श्लोकके अनुसन्धानकी चेष्टा हो रही है। श्रीमान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलकने:

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

इस श्लोकको बहुत महत्त्व दिया है। उनके विचारमें कर्मसिद्धान्तका भलीभांति प्रतिपादन करनेवाला इससे बढ़कर दूसरा कोई श्लोक नहीं। एक कर्तव्यनिष्ठ महाशयः

> पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
> न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

—इस भगवत्-प्रतिज्ञापर मुग्ध होकर इसे ही सर्वोपरि श्लोक मानने लगे थे।

इसी प्रकार एक भावुक भक्तः

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

—इसी श्लोकको सर्वप्रधान मानकर प्रसन्न हो सकता है। परन्तु वास्तवमें ऐसा कोई भी श्लोक गीताका सर्वश्रेष्ठ श्लोक नहीं कहा जा सकता। इनमें गीताके सर्वोत्तम विचार अवश्य सन्निहित हैं परन्तु वे एकाङ्गरूपसे हैं, सर्वाङ्गरूपसे नहीं। इसीलिये एक श्लोक एकको सर्वोत्तम जचता है तो दूसरा दूसरेको। मेरे विचारमें गीताका सर्वोत्तम श्लोक तो वही

होगा जिसमें गीताकी सम्पूर्ण विशेषताएं किसी न किसी रूपसे सन्निहित हों तथा जो एक प्रकारसे गीताका वास्तविक साररूप हो। जिस श्लोकमें गीताकथित प्रत्येक विषयका कुछ न कुछ दिग्दर्शन हो गया हो, जिस श्लोकका आशय भलीभांति समझ लेनेसे सम्पूर्ण गीताका आशय भलीभांति समझमें आ जाय, जिस श्लोकमें वे ही सब चमत्कार वर्तमान हों जो सम्पूर्ण पुस्तकमें हैं, उसे ही गीताका सर्वश्रेष्ठ श्लोक समझना चाहिये। क्या श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसा कोई एक श्लोक है?

विद्वज्जनोंकी यह परिपाटी हुआ करती है कि वे प्रायः गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखने अथवा प्रवचन करनेके अनन्तर उसका सारांश भी व्यक्त कर दिया करते हैं। उनका अन्तिम वाक्य ही वास्तवमें उस विषयका अन्तिम वाक्य (अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वाक्य) रहता है। गीता भी इसी प्रकारका एक गवेषणापूर्ण भाषण है। यदि उसका अन्तिम श्लोक हमें उपर्युक्त गुणोंसे परिपूर्ण मिल गया तो उसे ही सर्वश्रेष्ठ श्लोक मान लेनेमें किसीको किसी प्रकारकी आपत्ति कैसे हो सकती है?

अब देखना यह है कि गीताका अन्तिम श्लोक कौनसा माना जाय? भगवान्‌ने गीताके अन्तिम अध्यायमें सब कुछ ज्ञान सुनाकर निम्नलिखित श्लोक कहे हैं:-

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
> तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
> इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
> विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

अर्थात्—ईश्वर अपनी मायासे यन्त्रारूढ समग्र प्राणियोंको भ्रमाता हुआ सर्वभूतोंके हृदय-देशमें स्थित है। हे भारत! तुम सर्वभावोंसे उसीकी शरण जाओ। उसके प्रसादसे तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान पाओगे।

इस प्रकार हमने तुम्हें गुह्यसे गुह्य ज्ञान बता दिया है। इसको अच्छी तरह सोच विचारकर फिर जैसी इच्छा हो वैसा करो।

इसके बाद भी उन्होंने 'मन्मना भव मद्भक्तो'—इत्यादिका उपदेश दिया है परन्तु 'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।' ऐसा कहनेसे यह केवल अर्जुनके प्रति दिया गया है। गीता तो अर्जुनके बहाने समग्र मनुष्योंके लिये कही गयी है। (देखिये १८वां अध्याय श्लोक ६७, ६८, ६९, ७०, ७१)। इसलिये समग्र मनुष्य इस 'मन्मना भव मद्भक्तो' के अधिकारी भी नहीं हो सकते। तब फिर 'ईश्वरः सर्वभूतानां' वाला उपर्युक्त श्लोक ही गीताका अन्तिम उपदेश सिद्ध होता है, क्योंकि इसके बाद ही भगवान्‌ने—

> इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
> विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

—कहा है। तब क्या इस श्लोकको हम गीताका सारांश तथा सर्वश्रेष्ठ श्लोक मान सकते हैं? इस विषयका विवेचन करनेके पहले हमें यह देखना है कि गीताका वर्ण्य विषय क्या है?

यों तो गीता अर्जुनको महाभारत-युद्धमें प्रेरित करनेके लिये कही गयी है, परन्तु इसी प्रसङ्गमें भगवान्‌ने मनुष्यता तथा मानव-धर्मका इतना अच्छा और ऐसा पूर्ण वर्णन कर दिया है कि यह ग्रन्थ एक सुन्दर मानव-धर्म-शास्त्र बन गया है और इसी दृष्टिसे इस ग्रन्थकी आज दिन इतनी महत्ता है। उन्होंने अपने इस मानव-धर्म-शास्त्रको इतना अविरोधी बनाया है कि अद्वैतवादी शङ्कराचार्य, विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य, शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य, द्वैताद्वैतवादी निम्बार्काचार्य, द्वैतवादी मध्वाचार्य आदि सब आचार्योंने परस्पर विरोधी सिद्धान्त रखते हुए भी इस ग्रन्थको एक समान प्रामाणिक माना है तथा इसको अपने अपने ढङ्गसे समझानेकी चेष्टा की है। इतना ही नहीं, आस्तिक भक्तिवादी, नास्तिक सांख्यवादी, धर्मिष्ठ कर्मवादी, वेदान्ती ज्ञानवादी, तथा योगी ध्यानवादी इत्यादि सभी ही इसमें समान आनन्दका अनुभव करते हुए अपनी अपनी रुचिकी बातें पाते हैं। यह अविरोधी सिद्धान्त भी इस ढङ्गपर प्रतिपादित हुआ है कि प्रत्येक वादकी अपूर्णता भी दूर हो गयी है और सब वादोंका समन्वय भी हो गया है। यही गीता-ग्रन्थकी एक बड़ी विशेषता है। इसमें षड्दर्शनोंके सिद्धान्त रहते हुए भी एक ऐसी नवीनता आ गयी है, जिसने उन छओं दर्शनोंकी अपूर्णता दूर करके उन सबका समन्वय कर दिया है और उस समन्वय सिद्धान्तको बड़ा ही मनोमोहक रूप प्रदान कर दिया है।

गीताने इसी विशेषताके साथ मनुष्य-जीवनका ध्येय तथा उस ध्येयकी प्राप्तिके साधनोंका निरूपण किया है। उसके अनुसार मनुष्य-जीवनका ध्येय 'परा शान्ति' तथा 'शाश्वत स्थान' है। गीतामें इस सिद्धान्तके प्रतिपादक

वाक्य कई जगह फैले पड़े हैं। उदाहरणके लिये 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' "यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' 'जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते' 'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः' 'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥' इत्यादि। कहना पर्याप्त होगा। इस ध्येयकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌ने तीन मार्ग बनाये हैं। वे हैं (१) ज्ञान (२) कर्म (३) भक्ति। श्रीमद्भागवतमें भी उन्होंने इसी बातको दुहराते हुए कहा है-

योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

अर्थात्—मनुष्योंके कल्याणकी इच्छासे मैंने तीन प्रकारके योग कहे हैं। वे हैं ज्ञान, कर्म और भक्ति। इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। यहां 'प्रोक्ताः' शब्दसे कदाचित् गीताके इसी ज्ञानकी ओर भगवान्‌का लक्ष्य था।

ज्ञानके विषयमें उन्होंने क्षर और अक्षर पुरुषकी विवेचनाके साथ उत्तम पुरुष अर्थात् परमात्माका वर्णन करते हुए उसे ही समस्त चराचर जगत्‌के केन्द्रमें स्थित बताया है और उसीके सम्यक् ज्ञानसे मुक्ति अर्थात् अभीष्ट ध्येय प्राप्तिका हाल बताया है। इसी प्रकार कर्मके विषयमें उन्होंने जीवको परमार्थ-दृष्टिमें अकर्ता सिद्ध करते हुए केवल निमित्तमात्र बताया है। उनका कहना है कि नियति-चक्रके अनुसार कर्म तो आप ही आप होते रहते हैं। उन सब कर्मोंका सञ्चालक महेश्वर है न कि जीव। लेकिन जीव नाहक ही उनमें ममत्व-बुद्धि रखकर दुःख भोग किया करता है। उसे तो चाहिये कि वह असङ्गरूपी शस्त्र लेकर इस ममत्व-बुद्धिको काट डाले। बस, उसे परम पदकी प्राप्ति हो जायगी। भक्तिके विषयमें उन्होंने शरणागतिको ही प्राधान्य दिया है। 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते' 'मत्परायण' 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः' 'अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते' 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय' 'यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्' इत्यादि न जाने कितने वाक्य इस विषयमें भरे पड़े हैं। इन तीनों मार्गोंको बताते हुए भी उन्होंने इन तीनोंको परस्पर सापेक्ष कहा है और तीनोंका बढ़िया समन्वय भी कर दिया है। उनका कथन है कि ज्ञानके मार्गसे जो परम तत्त्व स्थिर होता है, वही तो कर्ममार्गियोंके सम्पूर्ण कर्मोंका सञ्चालक है और भक्तिमार्गकी सफलता तभी है जब अनन्यभावसे उसी परम तत्त्वकी शरणमें जाया जाय। ऐसा ही करने पर जीवको उसका ध्रुव ध्येय प्राप्त होगा। उस परम तत्त्वको भगवान्‌ने ईश्वर-नामसे सम्बोधित किया है और इस प्रकार यह ईश्वर-वाद गीताकी प्रधान सम्पत्ति है।

अब देखना है कि अपने श्लोकमें यह सिद्धान्त भली भांति प्रतिपादित हो सका है कि नहीं। (यद्यपि इस श्लोकमें वस्तुतः दो श्लोक हैं फिर भी इनका वर्ण्य विषय एक ही है इसलिये इस युग्मकको हम एक ही श्लोक मानते हैं)। सबसे पहले इस श्लोककी अन्तिम पंक्तिपर दृष्टि दौड़ाइये। 'तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्' इसमें मानवजीवनके ध्येयकी बात तो पूर्णरूपसे आ गयी है। इसी प्रकार ध्यानसे देखिये, प्रथम पंक्तिमें ज्ञानकी बात, द्वितीयमें कर्मकी बात और तृतीयमें भक्तिकी बात सोलहों आने ओतप्रोत है और फिर विशेषता यह कि इन तीनों विषयोंको इस खूबीसे लिखा गया है कि तीनोंका समन्वय होकर ईश्वर-वादकी महत्ता पूर्णरूपसे व्यक्त कर दी गयी है।

इस श्लोकका एक एक शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसी श्लोकको भलीभांति समझ लेनेपर गीताका सम्पूर्ण रहस्य समझमें आ जाता है। इसी श्लोकमें सम्पूर्ण गीताका निचोड़ है और इसीलिये यही श्लोक सम्पूर्ण कथनके बाद सारांशरूपमें कहा गया है और इसके बाद फिर इति (इति ते ज्ञानमाख्यातम्) हो गयी है।

इन्हीं कारणोंसे यही श्लोक गीताका सर्वश्रेष्ठ श्लोक कहा जा सकता है।

भविष्यमें कभी इस श्लोकके एक एक शब्दके रहस्योद्घाटनका प्रयत्न किया जायगा। अभी इतना ही लिखना अलम् है।

गीताका अद्वितीय उपदेश

'किसी भी जातिको उन्नतिके शिखरपर चढ़ानेके लिये गीताका उपदेश अद्वितीय है।'

—वारेन हेस्टिंग्स।

गीताका स्थितप्रज्ञ*

(लेखक—श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त)

श्रीभगवान् कहते हैं—

छोड़कर जब मनके सब काम, मनुज होता है आत्माराम,
तुष्ट जो अपने ही में आप, वही है स्थितप्रज्ञ निष्पाप ।

दुखोंकी जिसे न हो परवाह, सुखोंकी करे न जो कुछ चाह,
रहे भय, राग, रोषसे दूर; वही है स्थितप्रज्ञ हे शूर !

कहीं जो करे न ममता-मोह, किसीसे प्रेम न जिसको द्रोह,
अशुभसे रुष्ट न शुभसे तुष्ट, उसीकी प्रज्ञा है परिपुष्ट ।

समेटे अङ्ग कूर्म जैसे, खींच सब विषयोंसे वैसे,
इन्द्रियोंका जो करे निरोध, उसीको होता है स्थिर बोध ।

अनाहारी या अवश अभुक्त, रहे चाहे विषयोंसे मुक्त;
परात्पर दर्शन बिना परन्तु टूटते नहीं रोग रस-तन्तु ।

यत्नकारी बुध जनको भी, प्रमाथी इन्द्रियगण लोभी,
अचानक वशमें करते हैं: हृदय हठ-पूर्वक हरते हैं ।

उन्हें वशमें कर साधनसे, योगयुत मत्पर हो, मनसे,
इन्द्रियाँ जिसके हुईं अधीन, उसीकी प्रज्ञा योगासीन ।

विषय-सेवनसे विषयासक्ति, और बढ़ती है अति अनुरक्ति,
उसीसे काम, कामसे क्रोध, प्रकट होता है बिना विरोध ।

क्रोधसे दारुण मोह-विकाश, उसीसे होता है स्मृतिनाश !
जहां स्मृति नाश वहीं मतिभ्रष्ट, हुई मतिभ्रष्ट कि फिर सब नष्ट

किन्तु वश कर इन्द्रियाँ अशेष, विधेयात्मा गतरागद्वेष,
भोगकर भी विषयोंका स्वाद, प्राप्त करता है मनःप्रसाद ।

प्राप्त होनेपर हृदयाह्लाद, दूर होते हैं सभी विषाद ।
जहां यों हुई हृदयकी शुद्धि, शीघ्र ही होती है स्थिर बुद्धि ।

अयुक्तोंमें वह बुद्धि कहां ? कहां वह आस्तिक भाव वहाँ ?
शान्ति कैसी उन भ्रान्तोंको? भला सुख कहाँ अशान्तोंको?

इन्द्रियोंके पीछे अश्रान्त, दौड़ता हुआ मनुज-मन भ्रान्त,
बुद्धिको हरता है पलमें, नावको वायु यथा जलमें ।

इन्द्रियाँ इस कारण हे शूर ! रहें विषयोंसे जिसकी दूर,
वही है स्थितप्रज्ञ जन धन्य:कौन उसका-सा सुकृती अन्य?

रात जो है सबकी जानी, जागते हैं उसमें ज्ञानी ,
जागते हैं जिसमें सब लोग, संयमीका वह है निशियोग ।

पूर्ण जलनिधिको ज्यों नदनीर नहीं कर सकते कभी अधीर,
समाकर त्यों जिसमें सब भोग, प्रकट कर सकें न राग न रोग।

वही पाता है शान्ति यथार्थ; काम कामी न कभी हे पार्थ !
छोड़कर इच्छाएं जो सर्व, तोड़कर अहंकार या गर्व ।

विचरता निर्मम निस्पृह है, शान्तिका वह मानो गृह है ,
यही है ब्राह्मी स्थिति, इसको, प्राप्तकर मोह रहे किसको ?

इसीसे अन्त समय स्वच्छन्द, प्राप्त होता है ब्रह्मानन्द ।

---

* गीता अध्याय २के श्लोक ५५ से ७२ तक ।

गीतासे जगत्का कल्याण

(ले० स्वामी श्रीचिदात्मानन्दजी)

पृथ्वीपति सम्राट् सिंहासनपर विराजमान हैं। सामने एक मनमोहिनी वारांगना चित्र विचित्र वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई नृत्य कर रही है। उसका रूप-लावण्य चित्ताकर्षक है। अंग-प्रत्यंग ऐसे सुन्दर हैं कि वर्णन नहीं किया जा सकता। नृत्यके साथ गान भी हो रहा है, मन लुभानेवाले सुरीले बाजोंकी ध्वनिसे नाच गानका समां बंध रहा है। नर्त्तकीके हाव भाव तो मानो दर्शकको मस्त ही कर देते हैं। महाराज यह सब नाच रंग देखकर अत्यन्त प्रसन्न हैं। एकटक दृष्टिसे उसी दृश्यको देख रहे हैं और उसमें ऐसे तल्लीन हो गये हैं कि कुछ सुधि न रही। यहां तक मस्त हो गये कि सिंहासन छोड़ वारांगनाके साथ स्वयं भी नाचने लगे। समयका भी कुछ ज्ञान न रहा। रात्रि भी बीत गयी। सूर्य भगवान् अपनी देदीप्यमान रश्मियोंसे जगत्को प्रकाशित कर रहे हैं, परन्तु सम्राट्के लिये मानों अभी रात्रि ही है। वह उसी नृत्यमें दत्तचित्त होकर नाच रहे हैं। उधर राज-सभामें महाराजकी प्रतीक्षा हो रही है। बहुत समय बीतनेपर राजगुरुको चिन्ता हुई। राजाका कुशल-समाचार जाननेके हेतु वे राजप्रासादमें गये तो उन्हें वहां विचित्र ही दृश्य दिखायी दिया। सम्राट्की इस दुर्दशामें देख गुरु महाराजको बड़ी दया आयी और सम्राट्को प्रबुद्ध करनेके अभिप्रायसे वे गम्भीरतासे बोले--'राजा! यह क्या कर रहा है? प्रजाका प्रभु होकर इस प्रकारका अयोग्य और हास्यास्पद कार्य करना तुझे शोभा नहीं देता। तू महिपाल है, सर्वशक्तिसम्पन्न है। इस मोहको छोड़कर अपने सिंहासनपर बैठ, अपने स्वरूपको पहचान। राज्यसभामें तेरी प्रतीक्षा हो रही है, अपने वास्तविक अधिकार पर प्रतिष्ठित होकर पृथ्वीका शासन कर।' गुरुदेवके इन शब्दोंने जादूका काम किया, राजाको होश हो आया, सावधानी-से सिंहासनपर आरूढ हो अपनी पिछली अचेतन अवस्थापर आप ही हंसने लगा। गुरुदेवको दण्डवत्कर क्षमाप्रार्थी हुआ और उसके उपस्थित होते ही राजकार्य नित्यकी भांति होने लगा।

प्रिय सज्जनो! यह नाच रंग नित्य हो रहा है। राजाकी भांति प्रत्येक जीव ऐसे ही मायामोहमें फंसा हुआ अपने स्वरूपको भूल माया प्रकृतिके साथ नाच रहा है। सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि प्रकृतिके द्वन्द्वोंमें बंधा हुआ जन्म-मरणके क्लेश भोग रहा है। भर्तृहरिके शब्दोंमें 'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्' समस्त संसार पागल हो रहा है। श्रुतिभगवती गुरुरूपसे तत्त्व बोध करानेके हेतु जीवको सम्बुद्ध करती हुई कहती है कि 'तू इस प्रकृति-प्रपञ्चका अधिष्ठाता 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है' जो 'सत्यं शिवं अद्वैतम्' है। यह सकल दृश्यमान जगत् माया-पूर्ण एवं असत्य इन्द्रजालके तुल्य है, एक सत्य वस्तु ब्रह्म ही नित्य है-'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन' और वही तू है 'तत्त्वमसि'। अर्जुन जैसा प्रतापी वीर और बुद्धिमान् पुरुष भी इस मोहसे न बच सका, अज्ञान और विपरीत ज्ञानके चक्करमें आ ही गया। झूठे वैराग्यका आश्रय ले शस्त्र छोड़कर अकर्मण्य बन बैठा। सत्यासत्य-विवेकसे जो वैराग्य होता है वह सच्चा वैराग्य है और आलस्य, कायरतादिसे जब मनुष्य कर्मोंसे विरक्त होता है तो वह अज्ञान एवं मोह है। जो मनुष्य अपने पैतृक अधिकारकी रक्षा नहीं करता, प्रतिपक्षियोंके सामने निर्भयतासे खड़ा नहीं हो सकता और जो दुर्बलताको धर्म माने बैठा है वह कायर तथा अधर्मी है। कायरता और भय महापाप हैं। यद्यपि अर्जुन जैसे पराक्रमी वीरको न तो अपने शरीरके नाशका भय था, और न वह कायर ही कहा जा सकता है, परन्तु उसे अपने प्रतिपक्षियोंकी हिंसाका भय था। वह दयासे विह्वल हो गया था और इसी दयाभावको धर्म समझ रहा था। अपने स्वजनोंकी हिंसा करना उसे महापाप प्रतीत होता था। इस मोहको नष्ट करनेके अभिप्रायसे श्रीभगवान्ने गीताका उपदेश किया। अपने अधिकारकी समयानुकूल योग्य उपायोंसे रक्षा करना हिंसा नहीं कही जा सकती। पापसे घृणा करना और पापी जीवपर दयार्द्र होकर प्रेम करना अहिंसा एवं परम धर्म है। अधर्मी पापात्मा मनुष्यके अन्यायको चुपचाप सहन करना अपनी आत्माका हनन और विपक्षीके पाप-कर्मोंमें सहायता करना है, जिससे उसकी मानसिक और आत्मिक अवनति होती है। उसके हृदयमें पापकी वृद्धि होकर उसकी आत्माका भी हनन होता है। सारांश यह है कि अन्याय सहन करना दोनों पक्षवालोंके लिये हानिकारक है। इसी कारण भगवान् पहले उसके क्लैब्यको दूर करनेके अभिप्रायसे कहते हैं--'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदय-

गीतामन्दिर।
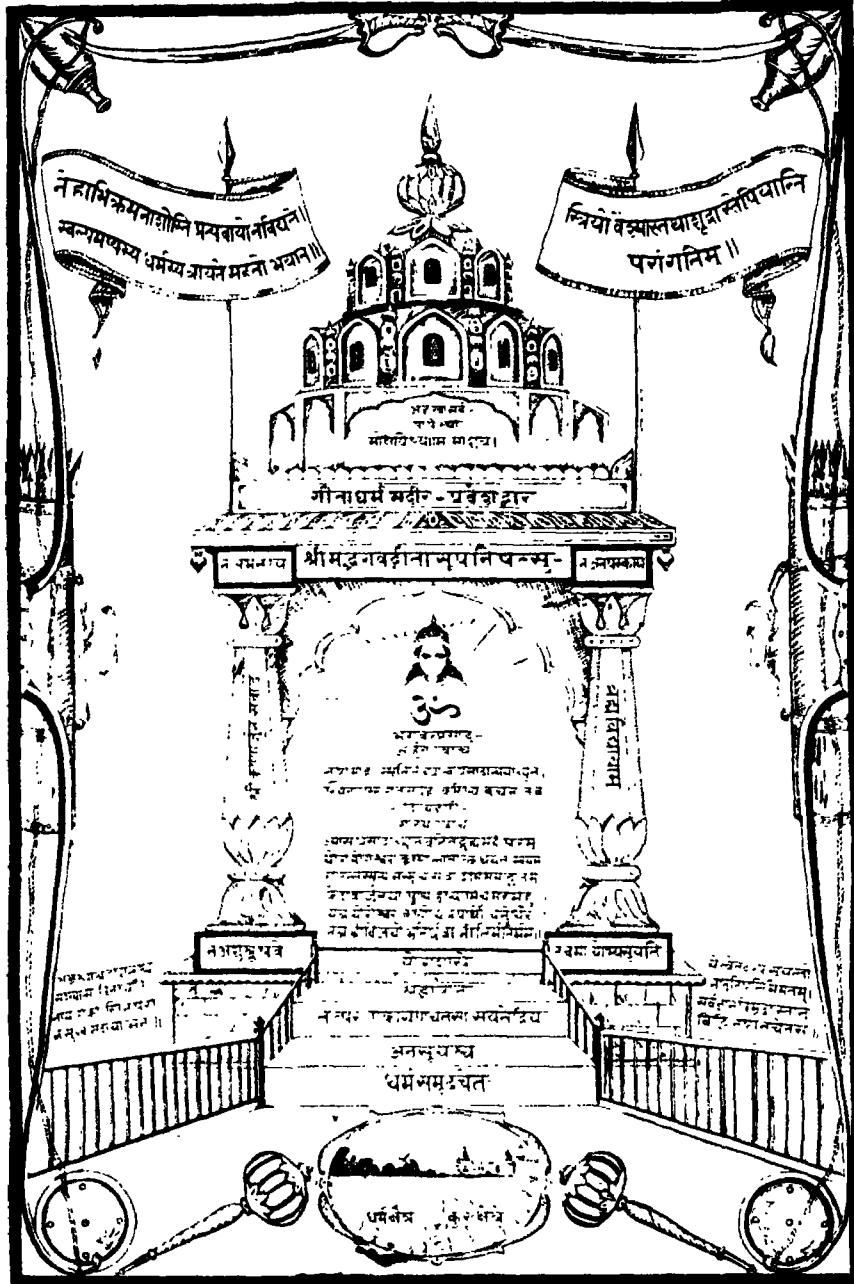
दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप' विपक्षियोंकी हिंसाके भयको हटानेके लिये वे कहते हैं कि 'शरीर तो नाशवान् है, वह सदैव विद्यमान नहीं रह सकता। जिसका जन्म होगा वह अवश्य मरेगा, मरणके पीछे जन्म भी होगा, यह शरीरोंका धर्म है। फिर देहके सम्बन्धमें सोचनेसे क्या लाभ? आत्माका कभी विनाश नहीं होता। वह अजर, अमर, अविनाशी है। शरीरके विनाशसे आत्माका नाश नहीं हो सकता। जो इस आत्माको अविनाशी मानता है वह न आप मरता है, न किसीको मारता है। इसलिये किसीके शरीरके नाशका सोच करना वृथा है।'

अब भगवान् धर्माधर्मकी व्याख्या करनेके अभिप्रायसे कहते हैं कि 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥' 'इन्द्रियोंके बन्धनसे आत्माको मुक्त करनेके उपायोंका नाम धर्म है। इसके विपरीत अधर्म कहा जाता है अर्थात् सुख दुःखादि विषयोंमें लिप्त न होना धर्म है। धर्म पालन करनेसे आत्माके बन्धन कटते हैं। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय जिसे समान लगते हैं, उस उदारचेताको पाप स्पर्श नहीं कर सकता। गीताकी विशेषता उसका निष्काम कर्मयोग है। ज्ञान-मिश्रित होनेसे यह परम श्रेयस्कर है। कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेका यही एक उपाय है। आत्माको कर्मोंकी आसक्ति ही बन्धनमें डालती है। आसक्तिरहित होकर तत्त्वज्ञानके विचारसे परिपूर्ण हो जब कर्म किये जाते हैं तो वे कर्म मोक्षके हेतु होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य कर्मोंके फलोंको छोड़कर जब कर्म करता है तो वह जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो परम पद प्राप्त करता है। ऐसे निश्चयात्मिका बुद्धिको प्राप्त करना परम पुरुषार्थ है। इसीसे आनन्द और शान्ति मिलती है। क्योंकि जो इन्द्रियोंको वशमें करके, रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे विमुक्त होकर निष्काम भावसे विषयोंको भोगता है, वह परमानन्दका अनुभव करता है। सब काम-वासनाओंको त्यागकर निःस्पृह और निरहंकार होकर कर्म करनेवाला शान्ति पाता है। जब तक शरीर है, देहधारीसे कभी कर्म नहीं छूट सकते। शरीर चाहे कर्मरहित हो भी जाय, परन्तु मानसिक कर्म होते ही रहेंगे। इस कारण भगवान् कहते हैं कि देह-धारियोंके कर्म कभी बन्द नहीं हो सकते, परन्तु जो कर्म-फलका त्याग करता है वस्तुतः वही त्यागी कहा जा सकता है। जो समस्त कामनाएं त्यागकर अपनी ही आत्मामें स्थित है, वही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसकी बुद्धि कभी विचलित नहीं होती। वह सदैव परमानन्द भोगता है। नाना प्रकारके विषय-चिन्तनमें मग्न जीव, जल-प्रवाहमें पड़े हुए तृणकी भांति भटकता फिरता है और अनेक क्लेशोंसे व्यथित रहता है। उसकी शान्ति नष्ट हो जाती है। मोहादि भ्रम आ घेरते हैं। परन्तु उक्त प्रकारका स्थिरबुद्धि यतात्मा मनुष्य आनन्द प्राप्त करता है, वह कर्म करता हुआ भी कर्तृत्वभावसे रहित है। वह सदैव नित्य, तृप्त और निराश्रय है। अतः तू सब कर्म ब्रह्मको अर्पण कर, ब्रह्मयज्ञका अनुष्ठान कर, अर्थात् कर्ता, कर्म, क्रिया सभीको ब्रह्म ही जान; क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इस प्रकारके ज्ञानसे कर्मबन्धन नष्ट हो जाते हैं, जैसे अग्नि ईंधनको सर्वथा नष्ट कर डालता है वैसे ही ज्ञानाग्निसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं।' बार बार इस योग-को अर्जुनके हृदयमें बैठानेके अभिप्रायसे भगवान् फिर कहते हैं—

> 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
> लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
> कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥'
>
> (गी० ५।१०, ११)

श्रीभगवान् तत्त्वज्ञानको लक्ष्य करके कहते हैं कि 'विभु आत्मा, पाप-पुण्यसे सदा अलिप्त है। अज्ञानके कारण ज्ञान ढक जाता है, इसलिये मोहमें पड़ता है। ब्रह्म कर्ता नहीं है, उसके सान्निध्यसे प्रकृति नाना प्रकारकी सृष्टि बनाती बिगाड़ती रहती है। ब्रह्म ज्योंका त्यों निर्लेप है। इसलिये अपनी आत्माको सर्वव्यापी सर्वज्ञ विभु ब्रह्मसे अभिन्न मानता हुआ योगी संसारमें संगरहित रहकर कर्म करे तो कर्म करता हुआ भी वह कर्मोंके बन्धनमें नहीं पड़ता। योगीको अपने स्वरूपमें स्थित रहनेकी बान डालनी चाहिये, निरन्तर यही चिन्तन रखना चाहिये 'कि मैं सब जगत्में विस्तृत हूं और मुझमें समस्त जगत् स्थित है।' ऐसा योगी सदैव सम बुद्धि रखता है। अपने तुल्य सब भूतोंको मानता है। जीव अज्ञान और मोहके कारण अपने स्वरूपको भूल जाया करता है, इसलिये बारम्बार अभ्यास और वैराग्यसे अज्ञान-का नाश करना उचित है।'

श्रीमद्भगवद्गीताकी दूसरी विशेषता भक्तिमिश्रित ज्ञान है; रूखा सूखा शुष्क-ज्ञान नहीं। इस कारण गीताका उपदेश बड़ा ही रुचिकर और मधुर है। अर्जुनको भगवान् बारम्बार यही कहते हैं कि 'निरन्तर मुझे स्मरण करता हुआ कर्म कर, मुझमें अर्पण की हुई बुद्धिसे तू मुझे अवश्य प्राप्त होगा। अनन्य-चित्त होकर जो मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीको मैं अत्यन्त सरलतासे प्राप्त हो जाता हूं। अव्यक्त, अक्षर

ब्रह्म ही जीवकी परम गति कही जाती है। जहाँसे फिर बन्धनचक्रमें नहीं पड़ना होता वही मेरा परम धाम है। वह पुरुषोत्तम अनन्य भक्तिसे प्राप्य है। वह सबके भीतर तथा बाहर विराजमान है। दैवी सम्पत्तिवाले महात्मा अनन्यचित्त होकर मुझे सबका आदि और अव्यय जानते हैं। सदा मेरा कीर्तन करते हैं, सदा मुझे भक्तिसे नमस्कार करते हैं और उपासना करते हैं। इसलिये तू जो कुछ भी करे, जो खावे, जो यजन करे, जो दान करे, और जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण कर। पूर्णरूपसे अपना मन मुझमें लगा, मेरी ही भक्ति कर और मुझे ही नमस्कार कर। इस रीतिसे अपने आत्माको मुझसे संयुक्त कर, मुझसे अभिन्न हो जायगा।' श्रीभगवान् कहते हैं 'कि मेरे भक्त सदा मेरेमें ही अपने चित्त और प्राणोंको मिला देते हैं। मेरी ही शुभ कथा कहते हैं, मुझे ही प्रसन्न करते हैं, और मेरेमें ही रमण करते हैं। ऐसे अनन्य भक्तोंके अज्ञानको मैं ज्ञान-दीपकसे नष्ट कर देता हूँ। हे पाण्डव! मेरे निमित्त कर्म करनेवाला मेरा भक्त सबमें निर्वैर भावको प्राप्त हुआ मुझमें ही मिल जाता है। अव्यक्त, अक्षरकी उपासना करना देहधारियोंके लिये महा कठिन है, इसलिये मुझमें जो अपना मन निरन्तर लगाये रहता है, वह मेरा उत्तम भक्त है। जो सब कर्मोंको मुझे अर्पण करके अनन्य भक्ति-योगसे मुझे भजता है और मेरा ही ध्यान करता है, उसे मैं भवसागरसे पार कर देता हूं। मुझमें ही सर्वदा मनको लगाये रख और निरपेक्ष, रागद्वेषादिसे विरक्त, स्थिरमति तथा भक्तिमान होकर सन्तुष्ट रह।' अन्तमें अर्जुनको परम भक्त जान गूढ़ तत्त्वका उपदेश करते हैं:—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ भगवान् कहते हैं कि 'तू मेरा परम भक्त है, अनन्यशरण होकर मेरा ही आश्रय ले ले, और सब धर्मोंको छोड़ दे क्योंकि सब धर्मोंका सार मेरी शरणागति है।' इसीमें सब धर्मोंका समावेश हो जाता है। ज्ञान, भक्ति और कर्मकी यही पराकाष्ठा है। अपने शरीर, मन, बुद्धिको भगवान्का आधार समझ उन्हींकी शरणमें रहकर जीवनयात्रा करना परम ज्ञान है। पराभक्ति भी यही है, निष्काम कर्मयोग इसीका नाम है। यह योग-समन्वय है। ऊपर कह आये हैं कि इन्द्रियोंके बन्धनसे मुक्त करानेके उपायको धर्म कहते हैं, जो शास्त्रोंमें अनेक प्रकारसे वर्णन किये गये हैं। आत्मा जब इन्द्रियोंके पाशसे छूट जाता है, तब उसे अपने स्वरूपका सर्वाङ्गीन ज्ञान होता है। अनन्य शरणागतिकी प्राप्ति कर जब भक्त सब कुछ भगवान्को अर्पण कर देता है और अपने पास कुछ भी नहीं रखता तो उसका अहङ्कार सर्वथा विनष्ट हो जाता है। यही अहङ्कार अज्ञानका मूल है। इसीलिये यह आत्मसमर्पण परम धर्म है।

पाठकवृन्द! आप शायद यह विचार करें कि 'श्री-भगवान्को इस प्रकार हृदयमें रखना और निरन्तर उनका स्मरण करना महाकठिन है, वह तो हृदयमें ठहरते ही नहीं!' यह शंका निराधार नहीं है। बिना समुचित उपाय जाने तैलधारावत् उनका स्मरण रखना सुलभ नहीं है। जब किसीको वशमें करना होता है तो उसके स्वभाव और प्रकृतिकी भलीभाँति खोजकर उसके योग्य ही उपाय किया जाता है। इस न्यायको भगवान्के विषयमें भी काममें लाना चाहिये। इसलिये अब उनको वशमें करनेका एक परमोत्तम उपाय बतलाया जाता है। श्रीजगदीश, गोपीनाथ, माखनचोर विख्यात हैं। उन्हें गोपियोंके घरोंमें जाकर मक्खन चुरानेकी बान है। मक्खन उन्हें बड़ा प्रिय है। जहां कहीं भी मक्खन होगा, वे बिना बुलाये ही पहुंच जायंगे। इसलिये तुम भी मक्खन ही तैयार करो। परन्तु सज्जनो! वह मक्खनचोर ऐसे वैसे नीरस और सारहीन मक्खनका भूखा नहीं है। मक्खन तैयार करना हो तो जैसे हम बतावें वैसे करो, फिर उस मक्खनका चमत्कार देखना कि वह पवित्र मक्खन कैसे व्रजकिशोरको वशमें करता है! यत्नपूर्वक सावधानीसे ऐसे हृदय-कुम्भको लो जिसमें विषयवासनाकी दुर्गन्ध न हो। फिर उसमें उपनिषद्रूपी गौओंका गीतारूपी पवित्र दूध भरो और विचाररूपी जामन लगाकर भक्तिरूपी मीठा दही जमा लो। तब उसे ज्ञानकी मथानी तथा निष्काम-कर्मकी रस्सीसे खूब मथो। तब उसमेंसे प्रेमरूपी सुगन्धित और मधुर मक्खन निकलेगा। बस, इतना ही करो, उस मक्खनको उन्हें विधिपूर्वक अर्पण करनेकी भी जरूरत नहीं, आप ही दौड़े आवेंगे और तुम्हारे हृदयसे कभी बाहर ही न जावेंगे। सहज काम है, इसी धन्धेमें लग जाओ, सब झंझट छोड़कर वृन्दावनविहारी हृषीकेश पुरुषोत्तमको हृदयमें प्रतिष्ठित कर निष्काम कर्मयोगके द्वारा जगत्की सेवा करो। सब काल, सब ठौर वे विराजमान हैं, जगत्की सेवा उन्हींकी सेवा है। समस्त पृथ्वी-मण्डलपर उनकी महिमाकी ज्योत्स्ना फैला दो, जिससे कामादि पिशाच और स्वार्थरूपी अन्धकारका नाश होकर भूतलपर परस्पर प्रेमकी ज्योतिका प्रकाश हो और जगत्में आनन्द तथा शान्ति फैले एवं सबका कल्याण हो!

गीता-गौरव

(१)

होता जो न युद्ध महाभारतका भीषण, तो–
भारतके गौरवको गर्त्तमें गिराता कौन ?
'रसिकेन्द्र' होता जो न पापोंका प्रचार पूर्ण
भूमिपर चक्रधर-हरिको बुलाता कौन ?
मोह जो न होता रण-भूमिमें धनञ्जयको,–
वीरताका पाठ पढ़ा विजय दिलाता कौन ?
कृष्ण जो न होते; तो सुनाता कौन गाथा गूढ़ ?
गीता जो न होती ज्ञान-भान चमकाता कौन ?

(२)

कौन; किसे मारता है ? कौन; किसका है शत्रु ?
कौन; पालता है ? कौन; किसको जिलाता है ?
'रसिकेन्द्र' विश्व-चक्र चक्कर ही खाता रहे,
स्वर्ग चढ़ जाता कभी भूमिपर आता है।
कर्म करता है कोई और ही विराट्-रूप,
केवल निमित्तमात्र नर बन जाता है।
नाटकका खेल दिखलाता नट-नायक है;
पट रंग-भूमिमें उठाता है, गिराता है।

(३)

लीला-धाम-श्यामने दिखाया था विराट्-रूप,
अगणित-रवि-शशि, जिसमें समा रहे।
'रसिकेन्द्र' वरुण, कुबेर, दिगपाल, यम,
विधि, हरि, हर, इन्द्र, अग्नि तेज छा रहे।
विश्व है वदनमें, चराचर विचर रहे;
सृष्टिके समस्त जीव दृष्टि जहां आ रहे।
बार-बार जय-जय-कार कर देव-गण;
ईश्वरीय-शक्तिके गुणानुवाद गा रहे।

(४)

पाके दिव्य-दृष्टि देखा अर्जुनने दृश्य, तब,–
मोह-मदिराका नशा दूर हुआ पलमें।
कर्म-योग करनेकी दीक्षा गुरु-गीताने दी,
'रसिकेन्द्र' बैठी महा-शक्ति बाहु-बलमें।
जोड़कर हाथ; यदुनाथको झुकाया माथ,
धनुष उठाया जो पड़ा था भूमि-तलमें।
उथल-पुथल तला-तलमें प्रबल हुई,
प्रलयकी हलचल मची कुरु-दलमें।

× × × ×

(५)

मर्म जिसमें है कर्म-योगीकी महानताका;
भीरुताकी भावनाका जिसमें फजीता है।
मानकर जिसको प्रमान पंच-पांडवोंने;
प्रबल-प्रतापी पापी कौरवोंको जीता है।
'रसिकेन्द्र' भूलनेसे जिसका पवित्र ध्येय,
भारतका भाग्य-कोष आज पड़ा रीता है।
भक्ति भरो, आओ, भारतीयो! अपनाओ फिर;
वीरोंके लिये तो बस, सच्चा गुरु गीता है।

(६)

'आत्मा है अमर' इस तत्त्वका महत्त्व जानें,
ठानें कर्म-योग, दशा रोगकी सुधर जाय।
भय, भीरुताका भूत भारतसे भाग जाये;
साहसी-सपूतके समक्ष काल डर जाय।
उक्ति भगवानकी सुझा दे नाविकोंको युक्ति;
भक्तिकी तरणि पाप-पंकसे उबर जाय।
गीताके प्रधान-धर्म-भानुका प्रकाश फैले;–
नाश तमका हो, ज्ञान भूतलमें भर जाय।

× × × ×

(७)

उपसंहार

धर्म-धनुषसे छोड़कर कर्म-योगके बाण ;
गीताका गौरव करे भारतका कल्याण।

—श्रीरसिकेन्द्र

गीताके श्रोता और वक्ता

(ले०—श्रीरामशंकर मोहनजी भट्ट, सम्पादक 'मोक्षपत्रिका')

आजकल प्रतिवर्ष अनेक गीताएं छपती हैं। गीताके लिये गाँव गाँवमें पाठशालाएं स्थापित हो रही हैं। इस प्रचारको देखते तो प्रतिवर्ष हजारों जीवन-मुक्त हो जाने चाहिये। पर कहीं दिखायी तो नहीं देते! गीता हाथमें लेकर भी जो जगत्की निन्दा-स्तुति नहीं छोड़ते, मामूलीसी बीड़ी और माथेके तुच्छ फैशनी बालोंका मोह नहीं त्याग सकते, वे वास्तवमें गीताको बदनाम करते हैं और गीताके उपदेशकको भी लज्जित करते हैं। गीता पढ़कर भी जो बहनें फैशनमें फंसी रहती हैं, पतियोंको धमकाती और सास-ससुरको सताती हैं। गीता रटकर भी जो विधवा बहनें शृंगार करती हैं, वैराग्यकी महिमा नहीं समझतीं, नाना करनेको ललचाती हैं और सफेद पोशाक पहनकर काले कारनामे करती हैं, वे सभी वस्तुतः गीताको बदनाम करती हैं। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिस देशमें यथार्थमें गीता हो, उसकी ऐसी दशा नहीं हो सकती; जिस धर्ममें गीता हो, उस धर्मकी ऐसी स्थिति नहीं हो सकती; जिस कुटुम्बमें गीता हो, उस कुटुम्बकी ऐसी हालत नहीं हो सकती और जिसके मुंहमें गीता हो उस मनुष्यकी यह अवस्था नहीं हो सकती। वह पुरुष तो रागद्वेषसे रहित होता है; कर्म करता है परन्तु कर्ममें लिप्त नहीं होता। सुख देखकर हर्षित नहीं होता और दुःख देखकर घबराता नहीं। वह कुछ तो आद्य शंकराचार्यकी तरह, कुछ महात्मा गाँधीकी तरह और कुछ गौतम बुद्धकी तरह होता है। वह वर्णाश्रम-धर्ममें दृढ़ रहता है। वह ज्ञान होनेके बाद अर्जुनकी तरह उत्साहरूपी धनुष-बाण लेकर प्राप्त कर्मोंको सम्पन्न करनेके लिये सदा डटा रहता है। याद रखिये, पानीसे कभी पूड़ियां नहीं उतरतीं। गन्दे घरमें गोविन्द नहीं पधारते। यदि गोविन्दको हृदय-कमलके सिंहासनपर बैठाना हो तो पहले उस हृदयको निर्मल कीजिये और उसमें विवेकरूपी सिंहासन सजाइये।

आपके हाथमें गीताजी तो हैं परन्तु सावधान! आपको निम्नलिखित रोग तो नहीं लगे हैं? नहीं तो परिश्रम व्यर्थ जायगा। रोग क्या है?

अर्धदग्धता

दो एक पुस्तकोंसे थोड़ीसी जानकारी होते ही, 'मैं सब कुछ समझता हूं,' 'मेरे लिये अब कुछ भी जानना बाकी नहीं है।' इन क्षुद्र विचारोंको हृदयमें स्थान देनेका नाम 'अर्धदग्धता' है। आधे जले हुएको अर्धदग्ध कहते हैं। ऐसे लोगोंके अन्दरसे ऐंठ अकड़का धुंआं निकलता ही रहता है।

भटकू-पन

किसी भी ग्रन्थको अच्छी तरह सुनने-समझनेसे पहले ही दूसरी दूसरी पुस्तकोंके पन्ने उलटकर तथा कहींपर भी दृढ़तासे अच्छी बात नहीं सुनकर गली गली भटकनेवाले, आवारे जानवरोंकी तरह जहां तहां धक्के खानेकी आदतको भटकू-पन कहते हैं।

ये दोनों ही बड़े रोग हैं। जैसे रोगीके पेटमें अन्न नहीं ठहरता और ठहरता है तो रोग बढ़ाता है, वैसे ही अर्धदग्ध या भटकू स्त्री-पुरुषोंके हृदयमें ज्ञान नहीं ठहर सकता। ठहरता है तो उनके भवरोगको भी अवश्य बढ़ाता है। विश्वास न हो तो परीक्षा करके देख लीजिये।

आम फल लगनेसे झुकता है परन्तु महुआ फल लगनेपर और भी तन जाता है। गीता पढ़नेपर यदि नम्रताके बदले कठोरता बढ़े तो समझ लो कि अन्दर रोग है। श्रोता, वक्ता, विद्वान् और भक्त आदिमें अधिकांश (सौमें निनानवें) आजकल इसी रोग-राहुसे ग्रसित हैं। इस अन्दरकी बीमारीको अपने सिवा दूसरा कोई यथार्थ रीतिसे समझ नहीं सकता। अतः स्वयं मनमें घुसकर पता लगाइये कि ऐसा कोई कूड़ा आपके अन्दर है? यदि है तो इस अर्धदग्धताको अर्धचन्द्र देनेके लिये दीनता एवं मौनका अवलम्बन कीजिये।

मृदुतासे प्रभुता रहे, प्रभुतासे प्रभु दूर।
चींटी मिश्री चुन रही, हस्ति उड़ावे धूर॥

तात्पर्य, अभिमानी पुरुष प्रभुसे सदा विमुख रहते हैं। जहांसे ज्ञान प्राप्त करना हो, वहां अपनी ऐंठ अकड़को छोड़ देना चाहिये, अर्धदग्धताको हटानेके लिये पहले अच्छी तरह खोजिये और पता लगनेपर वहीं चिपट रहिये। गुरुओंके तो आजकल टोकरे भरे हैं, जितने पैसे उतने ही गुरु। पर इतने गुरुओंसे काम नहीं चलेगा। जहां श्रद्धा

होगी, वहां उस एक ही सद्गुरुसे काम बन जायगा। अनन्य भावसे एकका ही सेवन कीजिये, अनेकको छोड़ दीजिये।

जुलाब लेकर पेट साफ किये बिना ऊँची दवाएं भी काम नहीं देतीं। इस प्रकार जबतक मनुष्य दोष हटानेके लिये तैयार न हो, तबतक गीताजी जैसी परम औषधसे लाभ नहीं होगा।

गीताके श्रोता

पहले श्रोताकी जाँच कर लीजिये, वक्ताकी पीछे। श्रोताकी अपेक्षा वक्ताके जीवनमें अधिक प्रकाश होना चाहिये, यह तो निर्विवाद है ही। प्रकाशका अर्थ यहां सौन्दर्य या राजसी ठाठ नहीं समझना चाहिये।

गीता सुननेका हेतु तो यही होना चाहिये कि मोहसे उन्मत्त हुआ मन संसारके आसक्तिरूप बन्धनसे छूटकर परमात्मामें लग जाय और हमें परम धाम या मोक्षकी प्राप्ति हो। मोक्षके लिये किन किन सामग्रियोंकी आवश्यकता है, सो श्रीशंकराचार्यजीके शब्दोंमें सुनियेः-

मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति,
　　त्यजातिदूराद्विषयान्विषं यथा।
पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-
　　प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात्॥
　　　　(विवेक-चूड़ामणि ८२)

यदि मोक्षकी अभिलाषा है अर्थात् संसारके बन्धनोंसे निश्चय ही छुटकारा पाना है तो शब्दादि विषयोंको विषकी भाँति त्याग दो और आदर-सहित नित्य सन्तोष, दया, करुणा, सहनशीलता, दृढ़ता और इन्द्रिय-निग्रह आदि गुणोंके अमृतका सेवन करो।

मुमुक्षुओंको अपने अन्दर खोजकर देखना चाहिये कि ऐसा कोई पदार्थ वहां है या नहीं? फिर याद रखिये, पानीसे पूड़ी कभी नहीं उतर सकती। किसी बड़े आदमीसे मिलनेकी इच्छा होनेपर उसकी योग्यताके अनुसार ही हमें भी बनना पड़ता है। इस बातको तो एक भंगी भी समझता है, क्योंकि वह भी राजाके सामने कूड़ेकी टोकरी लेकर नहीं जाता; नहा-धोकर, स्वच्छ वस्त्र पहनकर ही जाता है। हमें मिलना है गीतासे यानी भगवान्‌के हृदयसे। अतएव उसीकी योग्यताके अनुसार हमें भी योग्य बननेकी आवश्यकता है। जबतक डाहसे, निन्दासे, पर-अपकारसे या पर-दुःखसे चित्त प्रसन्न होता है तबतक हम चाहे कितने ही ऊंचे और विद्वान हों—वास्तवमें उस भंगीसे हलके ही हैं। भंगी तो बेचारा खुला भंगी ही है, जातिसे चाण्डाल है। पर हम तो छिपे भंगी हैं यानी कर्मसे चाण्डाल हैं। इस अन्दरके दोषको हमारे मनके सिवा दूसरा कोई भी यथार्थ रीतिसे नहीं जान सकता। अतएव मनमें घुसकर खोजिये, देखिये, ऐसा कुछ है? याद रखिये, ब्रह्मविद्याका उपदेश वैराग्य बिना नहीं ठहरता। पर यह वैराग्य गेरुआ रंग, जटा या गृहत्यागमें नहीं है, यह तो अपने मनकी समझ है। इस समझको पानेके लिये उपर्युक्त श्लोकमें श्रीशंकराचार्यने जो साधन बतलाये हैं वे यदि कड़े मालूम हों तो कमसे कम निम्नलिखित सात साधनोंको तो अवश्य काममें लाइये, इससे अवश्य लाभ होगा।

(१) बने जितना कम बोलो—पूछे बिना सलाह देनेको न दौड़ो। जो बिना पूछे बोलता है उसको लज्जित होना पड़ता है, इस बातको हृदयमें धारण कर लो। किसीका जी दुखे, ऐसी बातके लिये विचारकर ही मुंह खोलो।

(२) बने जितना कम देखो—किसीके दोष, सांसारिक जुलूस, नाच-रंग, मेला-तमाशा आदि राग-रंगसे दूर रहना सीखो।

(३) बने जितना कम सुनो—विषय-चर्चा, वैर बढ़ानेवाली पर-निन्दाकी बातोंसे तो जरूर ही अलग रहो। जहाँ शान्ति-भंग होना सम्भव हो, वहां जानेके पहले भली भाँति विचार कर लो।

(४) आहार-विहारको नियमित करना सीखो। ऐसा करनेसे स्वस्थ रहोगे और सुखरूप ज्ञानको प्राप्त कर सकोगे।

(५) यथासाध्य सन्तोष, शान्ति और सादगीका पालन करना सीखो।

(६) यथासाध्य रागद्वेष और वैर-भावको हटाते रहो। ये बड़े जबरदस्त कुत्ते हैं। वक्ताओंको भी फाड़ खाते हैं।

(७) गीता पढ़नेकी इच्छा हो, तब अपनी डेढ़ अक्लको अर्थात् धन, लक्ष्मी, विद्या, जवानी आदि किसीका भी जो कुछ मद हो उसको त्यागकर सुन्दर सद्गुरुका पता लगाओ। गुरु कैसे सुन्दर होने चाहिये? अच्छा तो सुनोः—

गुरु-शिष्यका सम्बन्ध साधारण नहीं है। देहके सम्बन्धी तो देह तक ही हैं परन्तु आत्माके सम्बन्धी लोक-परलोक दोनों सुधारते हैं। इस ज्ञान-यज्ञमें ज्ञानरहित, विलासी, राजसी ठाठके शौकीन, व्यसनी और विषयी पुरुषको सद्गुरु नहीं मानना चाहिये। कुंवा भले ही अपने पिताका खुदवाया

हुआ हो परन्तु जल नहीं होनेपर उसमें कभी घड़ा डालना उचित नहीं होता, वह जान बूझकर भी घड़ा डालोगे तो वह अवश्य फूट जायगा। संक्षेपमें, जिस वस्तु (शान्ति) की हमें आवश्यकता है वह जहाँ न हो, वहाँ व्यर्थ भटकना उचित नहीं। जिस गुरुके पास ज्ञान, शान्ति, सादगी आदि होंगे, वही उन्हें हमको भी दे सकेंगे।

ऐसे सद्‌गुरु मिल जायं तो उन्हें परमात्माके समान समझो। तन, मन, धन और सम्बन्धी आदि सभी इस लोकमें ही सुख देनेवाले हैं, ऐसा समझने पर उन सबकी अपेक्षा जब गुरुमें प्रीति अधिक बढ़ जाय, तब समझना चाहिये कि योग्यता प्राप्त हो रही है। प्रीतिका अर्थ आरती उतारना या हलुआ पूड़ी खिलाना नहीं है। प्रीतिका अर्थ है, गुरु-वचनोंमें विश्वास रखकर उसी प्रकारका बर्ताव करना। जबतक आपका मन गुरुसे भलीभाँति प्रसन्न न हो जाय और जबतक किसी भी सत्कार्यके करते समय आपके मनमें अभिमान आता हो, तबतक गुरुजीको एक पैसा भी मत दीजिये। इस सिद्धान्तको मामूली न समझिये, नहीं तो आपका धन भी जायगा और धर्म भी। क्योंकि 'अन्तर्यामी भगवान् अभिमानसे सदा दूर रहते हैं।' सदा स्मरण रखना चाहिये कि पवित्र व्यवहारवाले गुरु श्रीपरमात्माके परम प्रिय होते हैं। उनको आपके धनकी इच्छा नहीं होती। इसलिये पहले सद्‌गुरुके वचनामृतका पान कीजिये।

गुरुके वचन प्रतीति न जेही। सपनेहू सुख शान्ति न तेही ॥

'श्रद्धा सकल सुखमूल है, श्रद्धा बिना सब भूल है।'

जैसे निरक्षर पुरुष स्वर्गमें शोभा नहीं देता, धनहीन पुरुष व्यवहारमें शोभा नहीं देता, शीलहीन स्त्री घरमें शोभा नहीं देती, वैसे ही उपर्युक्त मान साधनोंसे हीन, स्त्री-पुरुष, श्रोता-वक्ता, गीता-अध्ययनमें बिलकुल शोभा नहीं देते।

गीताका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पात्र हृदय है। गीता भले ही सुनिये, पर सच्ची लगन बिना हृदय कोमल नहीं हो सकता। पाठशालामें सब लड़के साथ ही पढ़ते हैं परन्तु वह पढ़ना अच्छी चेष्टावालोंको सुगम और चेष्टा न करने वालोंको दुर्गम लगता है। इसी प्रकार इस विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

गीताके वक्ता

वक्ताका जीवन श्रोतासे अवश्य ही उन्नत होना चाहिये। उन्नत जीवनका अर्थ श्रोताकी अपेक्षा वक्ताका राजसी ठाटमें बढ़ जाना नहीं है। इसका अर्थ है, श्रोतासे वक्तामें त्याग और वैराग्य अधिक होना चाहिये।

जो छोटी छोटी बातोंमें क्रोधित हो जाते हैं, धन देखकर गरीब बन जाते हैं और स्त्री देखकर पागल हो उठते हैं, ऐसे पामर पुरुष चाहे कितने ही बड़े भक्त कहलाते हों, चाहे जितनी बड़ी बड़ी वेदान्तकी बातें करते हों, कितने ही अच्छे और कितने ही बड़े विद्वान् हों, उनसे धर्मशिक्षा लेनेके पहले अवश्य विचार कर लेना चाहिये। चरित्रसे विद्याको बड़ा मत समझिये। चरित्र और विद्या दोनों साथ हों तो बड़े आनन्दकी बात है।

हम जाने बिना दातन भी नहीं करते, परन्तु वही हम, गुरु बनानेमें बड़े ही भोले हैं। स्मरण रखिये, जैसे माथेकी बिन्दी और हाथकी चूड़ियां सधवा स्त्रीका खास शृंगार है, वैसे ही ब्रह्मविद्या, वैराग्य और भक्ति भी वक्ताका खास शृंगार है।

वक्ताके धारण करने-योग्य खास बातें

(१) अधिकार जैसे दश वर्षके लड़केका बीस वर्षकी कन्याके साथ विवाह करना अयोग्य है, वैसे ही जबतक श्रोतागण उपर्युक्त नियमोंका पालन करनेवाले न हों, श्लोकोंका शब्दार्थ और भाव न समझते हों, तबतक उनको बड़े बड़े भाष्योंका विवेचन सुनाना व्यर्थ कष्ट देना है। औषधालयमें औषधियोंकी शीशियां भरी हैं और हमारा कोई सम्बन्धी बीमार है, उसके आरोग्यके लिये नियमित परिमाणसे औषध देनेके बदले समूची शीशी पिला देना जैसे बड़ी भूल है, वैसे ही यह भी गम्भीर भूल है। घरमें मिष्टान्न तैयार है परन्तु वह रोगीको नहीं दिया जाता। उसे तो पथ्य ही दिया जाता है। अनधिकारी पुरुष बड़ी बड़ी बातें सुनकर उलटे नास्तिक बन जाते हैं। गीता सुनकर जहां मनमें शान्ति आनी चाहिये, वहां वे बकवाद करना सीख जाते हैं।

(२) सगुण-निर्गुण- इस समय सभी कोई निर्गुणके उपासक बननेमें अपना बड़प्पन मानते हैं और सगुणके उपासकोंको नीचा समझते हैं। जहां देखिये, वहीं सभी जड़भरत और ऋषभदेव जैसे जीवन्मुक्तोंका स्वांग धरनेवाले मिलेंगे। सगुण-निर्गुण दोनों ही प्रभुके स्वरूप हैं, परन्तु जबतक जीवभाव है[१] तबतक सगुण-उपासना करना ही

[१] जीवभाव—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मनको घेरकर बैठे हों, वहां तक अपनेमें जीवभाव है, ऐसा समझना चाहिये। यह न हो तो जीवन्मुक्त समझना।

उचित है। निर्गुण-उपासना करनेका तो अधिकार जीव-न्मुक्तको ही है। गीताके बारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन जैसे अधिकारीको भी सगुण-उपासनाकी ही सलाह दी है। पर आज तो चारों ओर निर्गुण ही निर्गुणके उपासक दिखायी पड़ते हैं।

(३) धर्मके मुख्य अंग—भक्ति, ज्ञान और कर्म, ये तीनों ही गीताके और धर्मके मुख्य अंग हैं। विवेचन करते समय किसी भी अंगकी अवहेलना की जाय तो वह गीताकी और धर्मकी अवहेलना होती है, ऐसा समझना चाहिये।

'ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम्' (गी० ७। १८)

'ज्ञानी मेरा आत्मा है, ऐसा मेरा मत है।' इस वाक्यके आधारपर कई भाई कहते हैं कि ज्ञानी ही भगवान्का आत्मा है, दूसरोंके साथ भगवान्का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु उनको इससे पिछला अर्थात् गीता ७। १७ का श्लोक देखकर तो यह विश्वास करना चाहिये कि 'एकभक्तिः ज्ञानी' जो 'एक अर्थात् अनन्य भक्त है वही ज्ञानी है।' इसी तरह कहीं भक्तिकी महिमा मिले तो वहां भी 'ज्ञानके बिना भक्ति नहीं हो सकती' ऐसा समझकर ज्ञानकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये। इन दोनोंके (ज्ञान तथा भक्तिके) उपासकोंको कर्मका अधिकार है। इसलिये कर्मकी निन्दा करना भी उचित नहीं। ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों ही उत्तम हैं; अपनी अपनी शक्तिके अनुसार तीनोंका ही प्रयोग करना चाहिये।

मेरी यह प्रार्थना आपको माननी ही चाहिये ऐसा मेरा आग्रह नहीं है। मैं तो आप लोगोंका दास हूं। मेरा तो यही निवेदन है कि इन सब बातोंमें जो आपके मनके अनुकूल हों, उन्हें चुन लीजिये। आलस्य न कीजिये। आज-कल करते करते मृत्यु अवश्य आ खड़ी होगी और आप जिस कामको करनेके लिये आये थे—वह रह जायगा। जब उजियालेमें भी दिखायी नहीं पड़ता है, तब अन्धेरेमें क्या हाल होगा? सारांश यह कि जब शरीर नीरोग है, खानेको मुट्ठीभर अनाज प्राप्त है, पहननेको दो एक वस्त्र मिल जाते हैं, इस समय भी यह काम नहीं करेंगे तो क्या रोगी होकर खटिया-पर पड़ेंगे, तब करेंगे? वहां भी नहीं हो सकेगा, तो क्या पशु-योनिमें किसीके यहां जब घोड़े गदहे बनेंगे, तब करेंगे? वहां भी नहीं! इसलिये सावधान होकर यह काम यहीं कर लीजिये। मनुष्य-देह उत्तम है परन्तु है क्षण-भंगुर। इस बातको न भूलिये। बस, बहुत प्रेमपूर्वक जय श्रीकृष्ण।

गीताके अनुसार संन्यासाश्रमकी आवश्यकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीपूर्णानन्दजी सरस्वती)

श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्णने श्रुतिसिद्ध ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके उपाय बतलाये हैं। इसीलिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें भगवान्की इस अमृतवर्षिणी वाणीको 'योगशास्त्र' कहा गया है। जिस योगसे उपनिषदुक्त ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है, उसी योगका गीतामें उपदेश है। इसलिये गीताकथित योगप्रणाली क्या है, इस विषयमें किसीको कोई सन्देह नहीं होना चाहिये। भगवान्ने स्वयं कृपापरवश हो 'सर्वोपनिषद्के साररूप' अद्वैत सिद्धान्तका गीतामें प्रतिपादन किया है और उनके उपदेश किये हुए इस योग-कौशलसे ही गीताभ्यासी विशुद्ध ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति कर कृतार्थ होते हैं।

'योग' शब्द सुनते ही कुछ लोगोंको साधारणतः श्वास प्रश्वासके निरोधका प्रसंग स्मरण हो आता है। परन्तु गीताका 'योग' वास्तवमें 'श्वास प्रश्वासका निरोध' नहीं है। यद्यपि महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनमें चित्त-वृत्ति-निरोध (श्वास-प्रश्वास-निरोध नहीं) को ही योग कहा है और अभ्यास-वैराग्यको ही चित्त-वृत्ति निरोधका प्रधान उपाय बतलाते हुए श्वास-प्रश्वास-निरोधरूप बाह्य प्राणायामको क्रियायोगका केवल एक अंगमात्र माना है, यद्यपि योग-वाशिष्ठने चित्त-निरोधके चार उपायोंमें श्वास-प्रश्वास-निरोध-को भी गौण भावसे (मुख्य भावसे नहीं) ग्रहण किया है और यद्यपि प्रधान प्रधान उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति-के उपायोंमें श्वास-प्रश्वास-निरोध-पूर्वक चित्त-निरोधकी आवश्यकता नहीं बतलायी गयी है; तथापि कुछ ऐसे लोग हैं जो श्रुतिसार-संग्रहरूप गीताके प्रत्येक श्लोक और प्रत्येक शब्दमें केवल प्राणायाम-योग या चित्त-निरोधमात्रकी ही खोजकर वृथा-श्रमसे चिन्तित हो रहे हैं।

श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुज और श्रीधर स्वामी प्रभृति टीकाकारोंने श्रुतिके अनुसार गीताके भावार्थकी व्याख्या की

है। उन लोगोंकी व्याख्या न मानकर गीतामें केवल अष्टांग योगके ही उपदेशकी कल्पना कर लेनेसे गीता पढ़ना व्यर्थ ही होगा। अतएव 'योग' शब्दसे किसीको व्यर्थ भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये। अष्टांग-योग गीतोक्त कर्मयोगका एक अवान्तर अंगमात्र है। भगवान्‌ने जिस सनातन योग-मार्गका उपदेश किया है, उसको महर्षि पतञ्जलि प्रणीत या गोरखनाथजी-कथित क्रियायोगका एक क्षुद्र अंग समझना निरा भ्रम ही है।

चित्त-वृत्ति-निरोध योगका मुख्यार्थ होनेपर भी गीतामें 'योग' लक्ष्यार्थ ब्रह्मज्ञान ही है। गीता इस श्रुतिसिद्ध ब्रह्मविद्याके उपदेशसे पूर्ण है, इसलिये वह योगशास्त्र है। योगदर्शन प्रभृतिमें चित्त निरोधके ही कुछ उपाय बतलाये गये हैं, परन्तु गीतामें भगवान्‌ने चित्तकी समस्त वृत्तियोंको निष्काम उपासना और ज्ञानकी अनुगामिनी बनाकर मनुष्य-मात्रको भक्तिभावमें तन्मय होनेके लिये अपूर्व योग-कुशलता-का उपदेश दिया है।

गीतोक्त योगका लक्ष्य भगवान्‌की शरणागतिरूप परम पुरुषार्थसहित भगवत्प्रेममें तन्मय हो जाना है। यह ब्राह्मी स्थिति या परम शान्ति ही शोक-मोहका नाश करनेके लिये अमोघ महौषध है। चित्तनिरोध या प्राणायामादि छोटे छोटे साधन ही गीताशास्त्रका लक्ष्य नहीं है। भगवान्‌की शरणागति बिना यथार्थ वैराग्य नहीं होता तथा विवेक-वैराग्यहीन चित्त किसी उपायविशेषसे निरुद्ध होनेपर भी उससे भगवत्-साक्षात्कारकी आशा नहीं है। अतः लक्ष्यतक न पहुंचनेसे योगके आनुषंगिक अंगोंसे किसीको भी परम सिद्धि या भगवान्‌में तन्मयताकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये गीताकी भगवदुपदिष्ट ब्रह्मविद्याको प्राप्त करनेके लिये उपयोगी 'योग'को हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिये।

श्रीस्वामी कृष्णानन्दजीने गीताकी व्याख्यामें ईश्वरप्रणि-धानपूर्वक भगवत्-शरणागतिको ही सर्वोच्च साधन माना है। विविध कर्म और योगके अंगोंका अभ्यास तो चित्तशुद्धि-के लिये किया जाता है। शुद्धचित्त पुरुष ही संसारकी सम्पूर्ण आसक्ति त्यागकर अनन्यभावसे भगवान्‌के शरणागत हो सकते हैं और उन्हींके निर्मल अन्तःकरणमें भगवान्‌का नित्य ज्ञानस्वरूप प्रकट होता है।

मनुष्यजीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है। गीतोक्त उपदेश-में निवृत्तिधर्मकी ओर ही लक्ष्य रहनेपर भी, वासना-व्यथित मनुष्योंके प्रवृत्तिमें लगे रहनेतक निष्कामभावसे शुभकर्म करना उनका परम कर्तव्य समझकर उनके लिये शास्त्रविधिसे ईश्वर-प्रीत्यर्थ कर्म करनेका उपदेश भगवान्‌ने दिया है।

जगत्‌में अधिक मनुष्य कर्माधिकारी हैं, परन्तु भगव-द्भक्ति और भगवत्-साक्षात्कारकी प्राप्ति ही मनुष्यजीवनका एकमात्र लक्ष्य है। भगवान् कहते हैं कि 'हजारों प्रयत्न करनेवालोंमें कोई एक मुझ परमेश्वरके स्वरूपका तत्त्व जान पाता है (७ । ३) और ज्ञानवान् व्यक्ति बहुत जन्मोंके अन्तमें मुझको अभिन्नभावसे प्राप्त होता है' (७ । १९)। इन भगवद्वाक्योंसे भक्तिपूर्वक उपासनाकी आयास-साध्यता और आत्मज्ञानकी दुर्लभता सूचित होनेपर भी भगवत्-भक्ति और ज्ञान ही मनुष्य-जीवनमें परम शान्ति दे सकते हैं। निष्काम कर्मद्वारा तो भक्ति और ज्ञानका अधिकारमात्र प्राप्त होता है। कर्म शान्ति देनेमें असमर्थ है। कर्म शान्ति-पथका प्रथम सोपान है—बहिरङ्ग साधनमात्र है। भक्ति और ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तो इसके बाद भी अन्तरङ्ग साधनकी आवश्यकता है।

कर्मद्वारा इस लोक और परलोकमें अस्थायी कल्याण ही मिलता है। इससे भगवत्प्रेमरूप अभिन्न ज्ञानसे सर्व-दुःख-निवृत्ति या नित्य सुखकी प्राप्ति नहीं होती। प्रवेशिका परीक्षा सहज है और सबका उसमें अधिकार भी है परन्तु, वह शिक्षाकी शेष अवधि नहीं है। विश्वविद्यालयकी सर्वोच्च परीक्षामें बहुत थोड़े ही लोगोंको सफलता मिलती है, परन्तु प्रत्येक शिक्षार्थीका लक्ष्य तो वही होना चाहिये। इसी प्रकार कर्मप्रधान प्रवृत्ति-मार्ग सहज और सार्वजनिक अवश्य है, परन्तु निष्काम कर्मसे चित्तशुद्धि होनेके बाद शारीरिक बहिरङ्ग कर्मोंका त्याग कर अन्तरङ्ग साधनके लिये संन्यास ही कल्याण-साधनका सर्वोत्तम उपाय है।

निष्काम कर्मद्वारा चित्तकी शुद्धि हुए बिना भक्ति-ज्ञानकी आवश्यकता उपलब्ध नहीं होती, अथवा भक्ति-ज्ञानका असली भेद जाननेकी शक्ति ही मनुष्यमें नहीं पैदा होती। इसीलिये निष्काम कर्म करना चाहिये, परन्तु निष्काम कर्म चित्तकी शुद्धि हुए बिना शान्ति नहीं दे सकते। जीवन भर कर्म करते रहो, कभी निवृत्तिकी इच्छा नहीं होगी और जिनके उपकारके लिये कर्म करते हो, उनके दुःख भी सर्वथा दूर नहीं किये जा सकेंगे, जीवोंके पूर्वजन्म-कृत दुष्कर्म उनके दुःख-नाशमें बाधक हो जायंगे। दुःख अखण्ड-धारामें बह रहा है और वह अनन्त-काल तक कर्म करते रहनेपर भी सर्वथा शेष नहीं होगा। अवश्य ही जो जितना निष्काम या शुभ कर्म करेंगे उनके चित्तमें उतनी ही स्थिरता या सात्त्विकता भी बढ़ेगी, जिससे भगवद्भक्ति और विवेक-विचार-सहित जीवनके लक्ष्य-पथपर अग्रसर होनेमें बल प्राप्त

होगा। इसके लिये भी संन्यास ही निवृत्ति-साधनके अनुकूल आश्रम है।

जो कर्मोंमें लगे हुए हैं और कर्म करना ही अपना निश्चित कर्तव्य मानते हैं, वे यथार्थ विचारवान् नहीं प्रतीत होते। नीची सीढ़ीपर खड़े होकर ऊंचे साधनोंकी समालोचना करना भी उनके लिये अनधिकार चर्चामात्र है। वे आजीवन लोक-सेवादि बहिरंग कर्म करनेपर भी जब अभी तक न तो स्वयं तृप्त हो सके हैं और न दूसरोंका ही कोई स्थायी उपकार कर सके हैं, तब उनके मनोकल्पित कर्ममात्रके अनुष्ठानसे नित्य शान्तिकी आशा करना व्यर्थ नहीं तो क्या है? गीतामें निष्काम कर्मका उपदेश अवश्य दिया गया है परन्तु उसीको मनुष्य-जीवनका एकमात्र लक्ष्य मान लेना या केवल उसीके द्वारा भक्ति या ज्ञानकी प्राप्तिका निश्चय करना और यह कहना कि सारी गीतामें केवल कर्मका ही उपदेश है, भ्रममें ही पड़ना है।

गीतामें छठे अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें कर्म और कर्म-संन्यासकी सीमा निर्दिष्ट कर दी गयी है। 'वेद-विहित कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा चित्त-शुद्धि होनेसे ज्ञाननिष्ठा परिपक्व हो जानेपर कर्म नहीं करने पड़ते।' तदनन्तर कर्म-निवृत्तिके लिये संन्यासका अधिकार मिल जाता है।

तत्त्वज्ञ महापुरुष लोक-कल्याणके लिये जो कर्म करते हैं, वह अज्ञानियोंकी तरह कर्तव्य-बोधसे नहीं करते। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है-'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन॥' तीनों लोकोंमें मेरे लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है तथापि वे जीवोंका परम कल्याण किस प्रकार होगा इस बातको जानते हैं, इसीलिये वे देश-कालानुसार अपने आदर्श और उपदेशसे जीवोंका असली हित करते हैं। अज्ञानी मनुष्य भगवान्की तरह कर्म नहीं कर सकता। उसको तो कर्तव्य समझकर ही कर्म करना पड़ता है। अवश्य ही जनकादि-ने ज्ञान प्राप्त होनेपर लोक-संग्रहार्थ कर्म किया था, परन्तु उन्होंने भी केवल कर्मसे ही भक्ति या ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं की। साधारण मनुष्यके कर्म पुण्य-पाप-मिश्रित (शुक्ल, कृष्ण या शुक्ल-कृष्ण-मिश्रित) होते हैं, वह अज्ञानके कारण पुण्य-पाप-रहित निवृत्तिकारक कर्म करने-में असमर्थ है। क्योंकि वह रागद्वेषादिसे छूटा नहीं है। एकमात्र ब्रह्मज्ञ पुरुष ही पुण्य-पापके—विधि-निषेधके—अतीत (अशुक्ल-अकृष्ण) कर्मोंद्वारा जीवका परम कल्याण कर सकता है (योगसूत्र ४। ६-७)। तत्त्वज्ञान हुए बिना केवल पाश्चात्य-शिक्षाके शाणपर चढ़ी हुई बुद्धिसे कर्मके इस भेदका अनुभव नहीं हो सकता।

'अज्ञानी मनुष्य मनोविज्ञानकी सामग्रियोंके सिवा और कहीं भी प्रेम, तृप्ति या सन्तोष नहीं पा सकते।' इसलिये ऐसे मनुष्योंको शास्त्र-विधिसे निष्काम कर्म करके चित्त-शुद्धिद्वारा भक्ति या ज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये। चित्त शुद्ध होते ही भक्ति और वैराग्य विकसित हो उठते हैं (गी० सं०)। परिव्राजकाचार्य स्वामी श्रीकृष्णानन्दजीने गीताकी अवतरणिकामें निष्काम कर्म, उपासना और ज्ञानकी प्राप्ति-का क्रम भलीभाँति दिखलाया है और विषयासक्ति छोड़कर भगवत्-साक्षात्कारके लिये संन्यासकी आवश्यकता-का अच्छा प्रतिपादन किया है।

जो लोग केवल प्रवृत्ति-मार्गकी प्रशंसामें ही अपनेको भुलाकर निवृत्ति-मार्गकी श्रेष्ठता स्वीकार करना विस्मृत कर जाते हैं, जो निष्काम कर्मको ही मनुष्य-जीवनका एक-मात्र उद्देश्य स्थिर करके भक्ति और ज्ञानके अन्तरङ्ग साधनोंकी उपेक्षा करते हैं, वे आर्य-शास्त्रके एक ही अंश-मात्रकी व्याख्या करते हैं। उनका यह उपदेश पाश्चात्य शिक्षाका ही फल है। उपनिषदुक्त-गीतोक्त ब्रह्मज्ञान केवल कर्मी मनुष्यको नहीं मिल सकता। भक्तिके प्रधान अङ्ग भगवत्-शरणागतिका अभ्यास होनेसे स्वतः ही विषयोंमें वैराग्य होकर संन्यास ग्रहणकी इच्छा होती है। यह सत्य है कि चतुर्थ आश्रममें संन्यासका अधिकार बहुत थोड़े लोगों-को है परन्तु ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये संन्यासकी आवश्यकताको अस्वीकार करके गीताकी व्याख्या करनेसे श्रुति-सिद्धान्तकी अमर्यादा और गीतोक्त भगवद्वाक्यका विकृत अर्थ ही किया जाता है, ऐसा कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

तेरहवें अध्यायके ११ वें श्लोकमें 'विविक्तदेशसेवित्व-मरतिर्जनसंसदि' और अठारहवें अध्यायके ५२ वें श्लोकमें 'विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः' बारहवें अध्यायके १६ वें श्लोकमें 'अनिकेतः स्थिरमतिः' आदि वचनोंसे ज्ञान या भक्तिकी प्राप्तिके लिये जिन साधनोंका उपदेश किया गया है, वे एकमात्र संन्यासी-जीवनमें ही सम्भव हैं। भगवान्ने अर्जुनके अधिकारानुसार केवल उसको ही क्षत्रियोचित कर्तव्यद्वारा चित्त शुद्धि करनेका उपदेश किया है। चित्त-शुद्धि होनेपर विवेक विचार उत्पन्न होता है फिर किसी कर्तव्य-पालनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। अनन्य शरणागतिका अभ्यास संन्यासी-जीवनमें ही सम्भव

है। संन्यासी-जीवनमें ही आत्मज्ञानका विशेष विकास होता है। शास्त्रीय रीतिसे कर्म-जीवन बितानेपर ही संन्यासका अधिकार मिलता है। निष्काम कर्म इस धर्म-साधनका प्रथम सोपान है, और शरणागति-सहित संन्यास ही ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्तिका अव्यर्थ उपाय है। निष्काम कर्म गौण त्याग है, और चित्त-शुद्धिके बाद ध्यान और विचार आदिके लिये तूर्य आश्रमोचित साधन ही मुख्य त्याग है।

कर्मके अधिकारियोंकी अधिकताके कारण गीतामें जगह जगह कर्मका उपदेश है और प्रधानतः चित्त-शुद्धिके लिये पहले छः अध्यायोंमें निष्काम कर्मका वर्णन है। गृहस्थाश्रममें भी भगवत्-उपासनाका अभ्यास हो सकता है, परन्तु भक्तिके विकासके साथ ही वैराग्यकी प्रबलता हो उठती है, जिससे संन्यास ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। पराभक्ति और ब्रह्मज्ञानके विकासके लिये संन्यासीका जीवन ही विशेष अनुकूल है। अतएव ऐसे संन्यासके अधिकारियोंकी संख्या स्वल्प होने पर भी उसकी परम आवश्यकताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रुतिसार-संग्रह-गीतामें श्रुत्युक्त ब्रह्मज्ञानका ही उपदेश है, इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। वह श्रुति स्वयं ही कहती है-'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृह० ४।४।२३) अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके उपरत (संन्यास ग्रहण कर) और समाहित होकर विशुद्ध बुद्धिके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना चाहिये। अतएव गीताके उपदेशानुसार कर्मसे चित्त-शुद्धि होनेके अनन्तर संन्यास ले लेना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें संन्यासाश्रमकी उच्च मर्यादाका खयाल करके ही केवल कलियुगके दुर्बल अधिकारियोंकी चित्त-शुद्धिके लिये निष्काम कर्मका उपदेश दिया है। शुद्ध-चित्त-पुरुषके हृदयमें आगे चलकर भक्ति और तत्त्वज्ञानके लिये स्वतः ही निवृत्ति-मार्ग-संन्यासमें रति हो जाती है। यही आर्य-शास्त्रका सिद्धान्त है। गीतामें संन्यासाश्रमकी उपेक्षा नहीं की गयी है। संन्यासको सुगम करनेके लिये कर्मयोगके द्वारा चित्त-शुद्धिका मार्ग निर्देश किया गया है। भगवान्ने ही उद्धवसे कहा है—

'गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद्वनेवासो संन्यासः शिरसि स्थितः॥'
(भागवत ११।१७-१४)

'मेरी जंघाओंसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यासाश्रम उत्पन्न हुआ है।' क्या इन वचनोंसे दूसरे आश्रमोंकी अपेक्षा संन्यासाश्रमकी श्रेष्ठता और संन्यासकी अत्यावश्यकता सिद्ध नहीं होती? संन्यासाश्रममें ही भक्तिकी पराकाष्ठा और ज्ञानकी पूर्णता प्राप्त होती है यह स्वतःसिद्ध सत्य है।

पाश्चात्य ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति जिसको कर्म कहते हैं, वह केवल इसी लोकके लिये हितकर है। इस कर्मका तो निष्काम-भावसे पालन करनेपर भी वह निवृत्तिके अत्यन्त अनुकूल सात्त्विकताको नहीं बढ़ाता। शास्त्र-विहित कर्म निष्काम भावसे करनेपर भक्ति और ज्ञानका अधिकार प्राप्त होता है। 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' आदि वचनोंमें भगवान्ने स्वयं ऐसे नवशिक्षितोंका भ्रम दिखला दिया है। बुद्धिके त्रिविध भेदों (१८।३० से ३२) पर विचार करनेसे कर्ममें कर्तव्यसम्बन्धी सन्देह मिट जाता है।

गीताके पहले छः अध्यायोंमें गौणी भक्ति (कर्मयोग) दूसरे छः अध्यायोंमें भक्तिका प्रादुर्भाव या उपासना (भक्तियोग), और तीसरे छः अध्यायोंमें पराभक्ति (ज्ञानयोग) का उपदेश है-

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' (१८।६६)

यह सर्वतोभावसे भगवत्-शरणागति गीताके प्रत्येक श्लोक और प्रत्येक शब्दमें प्रतिध्वनित होकर भक्तोंके हृदयोंमें ईश्वरीय 'शक्ति' का संचार कर रही है। भगवान्में अनन्य शरणागति ही गीताका समस्त गोपनीयोंमें भी गोपनीय उपदेश है। भक्तिसहित भगवान्के नित्य स्वरूपमें आत्मविसर्जन ही मोक्षयोग है, क्योंकि भगवान् ही भक्तके एकमात्र आश्रय हैं। अनन्य शरणागतिसे प्रेमका मधुर भाव-'तत' (ब्रह्म) और 'त्वं' (जीवात्मा) पदार्थके यथार्थ चिन्मयस्वरूपकी अभिन्नता सिद्ध हो जाती है। इसीसे संसारका शोक-मोह नष्ट होता है। इसीलिये भगवान्की—

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' १८।६६

—यह श्लोकार्धरूपी अभयवाणी गीता-शास्त्रका कीलक है। इसीको एकमात्र अवलम्बन-स्वरूप बतला कर भगवान्ने ब्रह्मविद्या-विषयक इस उपदेशका उपसंहार किया है।

गीताके आधार वेद और उपनिषद् हैं

हमें यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि गीताका निर्माण वेद तथा उपनिषदके सर्वोत्कृष्ट भागोंके आधारपर हुआ है। —मदन निवेदिता।

गीताके संन्यासका स्वरूप

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

गीताके अनुसार संन्यासका स्वरूप क्या होना चाहिये, इसका निर्णय करके बतला देना मुझ जैसे अल्पज्ञ व्यक्तिके अधिकारकी बात नहीं है, बड़े बड़े टीकाकारोंका इसमें मत-भेद है, सभीने अपने अपने मतको पुष्ट करनेके लिये यथेष्ट युक्तियां और प्रमाण दिये हैं। उनमेंसे किसी एकका कथन सच्चा और दूसरोंका भ्रमात्मक बतलाना छोटे मुंह बड़ी बात है, अतः इस विषयपर मैं जो कुछ निवेदन करना चाहता हूं, उसका उद्देश्य किसी टीकाकार या सम्प्रदाय-पर आक्षेप करना नहीं है, अपनी समझ जनताके सम्मुख रखनेका सभीको अधिकार है, इसी न्यायके सहारे गीताके अध्ययनसे मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार जो कुछ इस विषयमें समझा है सो आप लोगोंकी सेवामें रखता हूं, त्रुटियोंके लिये सुधीजन क्षमा करें।

गीतामें 'संन्यास' और 'संन्यासी' इन दोनों शब्दों-का प्रयोग कई जगह भिन्न भिन्न अर्थोंमें आया है, कहीं कर्म भगवदर्पण करनेको संन्यास कहा है (१८।५७, ३।३०, १२।६), कहीं काम्य कर्मोंका त्याग ही संन्यास बतलाया गया है (१८।२), कहीं मनसे कर्मोंके त्यागको संन्यास बतलाया है (५।१३), कहीं फल और संकल्पोंके त्यागका नाम संन्यास है(६।१-२), कहीं कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देनेका नाम संन्यास कहा है (३।४, १८।७), कहीं ज्ञानयोग (ज्ञाननिष्ठा) का नाम संन्यास (५।२,६; १८।४९) और कहीं कर्मयोगीको भी संन्यासी (१८।१२) और संन्यासयोग-युक्तात्मा (९।२८) कहा है। इसलिये केवल शब्दार्थको लेकर तो यह समझना असम्भवसा ही है कि गीता वास्तवमें कौनसी एक अवस्थाको संन्यास स्वीकार करती है। परन्तु पूर्वापर प्रसङ्गोंका मिलान करनेसे, गीताके आरम्भ उपसंहार, उपदेशका परिणाम और समय समयपर की हुई स्पष्ट उक्तियोंपर विचार करनेसे इसका पता चल सकता है।

लोकमान्य तिलक, शास्त्रोक्त चतुर्थाश्रमरूप संन्यास-को मुक्तिका साधन मानते हैं, परन्तु उसको गीताका संन्यास नहीं मानते, इसलिये उन्होंने अपनी टीकामें संन्यास शब्दका अर्थ कर्म-फलका त्याग और संन्यासीका अर्थ कर्मयोगी किया है, कहीं भी संन्यासका अर्थ चतुर्थाश्रम या ज्ञानयोग और संन्यासीका अर्थ परि-व्राजक या ज्ञानयोगी नहीं किया। उनका सिद्धान्त है कि ज्ञाननिष्ठाके अनुसार साधन करनेवालोंको चतुर्थ आश्रमकी भले ही आवश्यकता हो, पर गीता तो केवल कर्मयोग-शास्त्र है, इसमें न ज्ञाननिष्ठाकी आवश्यकता है और न चतुर्थ आश्रमकी ही, अपितु गीताने तो कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको ही उत्तम बतलाया है अतः गीताका संन्यास कर्मयोग ही है, अन्य कुछ नहीं।

भगवान् शङ्कराचार्य आदि संन्यास-मार्गीय टीकाकारों-का कथन इससे सर्वथा विपरीत है। वे अपने भाष्य और टीकाओंमें जहां स्पष्टरूपसे भगवदर्पण कर्म करनेके अर्थमें संन्यास शब्द आया है।(३।३०, १२।६, १८।५७, ९।२८)। वहांके सिवा अन्यत्र कहीं भी (५।२, ६; १३, ६।२; १८।१२, ४९) संन्यास शब्दका अर्थ चतुर्थ आश्रमके अतिरिक्त दूसरा स्वीकार ही नहीं करते। बल्कि ब्रह्म शब्दका भी अर्थ संन्यास या चतुर्थ आश्रमही करते हैं (५।६)। उनका कहना है कि अर्जुन संन्यासका अधिकारी नहीं था अतः ऐसा अधिकार प्राप्त करनेके लिये पहले कर्मयोग बतलाया गया है, परन्तु कर्मयोग मोक्षका साक्षात् साधन नहीं है, कर्मयोगसे अन्तः-करणके शुद्ध होनेपर साधक ज्ञानयोगका और चतुर्थ आश्रमका अधिकारी होता है एवं ज्ञाननिष्ठा ही मुक्तिका मुख्य साधन है। गीतामें जहां संन्यासकी अपेक्षा कर्म-योगको श्रेष्ठ बतलाया गया है (५।२) वहांके लिये वे कहते हैं कि, यहां कर्मयोगकी स्तुतिके लिये अज्ञानीके ज्ञान-रहित केवल संन्यासकी अपेक्षासे ऐसा कहा गया है, वास्तविक संन्यासकी अपेक्षासे नहीं, अतः गीताका संन्यास ज्ञानसहित चतुर्थ आश्रम ही है और उसीका नाम ज्ञान-योग भी है।'

इसके सिवा अन्यान्य टीकाकारोंने भी अनेक प्रकारसे अपने अपने मत बतलाये हैं और युक्तियोंसे उनकी सिद्धि की हैं, अतः टीकाओंके आधारपर यह निश्चय करना बड़ा ही कठिन है कि 'गीताका संन्यास वास्तवमें क्या है।'

गीता अध्याय २ श्लोक ११ से,—जहां भगवान्का उपदेश प्रारम्भ होता है,—पूर्वके गीताके श्लोकोंपर विचार

करनेसे यह निचोड़ निकलता है कि 'युद्धमें बन्धुबान्धवों-को देखकर अर्जुन शोकसे व्याकुल हो गया था, उन सबका युद्धमें वध करके राज्य-सुख प्राप्त करनेकी अपेक्षा भिक्षाप्राप्त अन्नसे शरीर-निर्वाह करनेको अच्छा समझने लगा था और अपनी ओरसे वह यह निश्चय कर चुका था कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। इसी व्यामोहको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने उसे उपदेश देना आरम्भ किया। दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक आत्मतत्त्वका निरूपण है, जिसमें यह सिद्ध करके बतलाया गया है कि 'आत्मा नित्य, चेतन, अजन्मा, सदा एकरस, अचल और अविनाशी है, वह कभी मर नहीं सकता, शरीरोंके नाशसे उसका नाश नहीं होता, शरीर विनाशी है, उसका नाश हुए बिना रह नहीं सकता, अतः इन दोनोंके लिये ही शोक करना व्यर्थ है, ऐसा समझकर तू युद्ध कर। वास्तवमें आत्मा अकर्ता है। जो मनुष्य आत्माको नित्य, अज और अविनाशी समझ लेता है, वह अपनेको किसीका मारनेवाला या मरवानेवाला कैसे मान सकता है? उसकी समझसे तो आत्मा कभी मरता ही नहीं, फिर कोई कैसे किसीको मारे और कैसे मरवावे, जो आत्माको मरने मारनेवाला मानते हैं वे दोनों ही अज्ञानी हैं।' इस प्रकार आत्मतत्त्वका निरूपण करके श्लोक ३१ से ३७ तक स्वधर्म-के नाते युद्ध करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया और उसके बाद श्लोक ३८ में यह भी सिद्ध कर दिया कि 'ऐसे कर्म बन्धनकारक नहीं हो सकते।' तदनन्तर श्लोक ३९ में भगवान् कहते हैं कि, 'यह उपदेश मैंने तुझे सांख्यके विषय-में कहा है और अब यह योगके विषयमें सुन। इससे यह पाया जाता है कि गीतामें बतलाये हुए दो मार्गोंका यहां स्पष्ट विभाग बतलाया गया है और इस श्लोकके बाद जो कुछ कहा गया है वह कर्मयोगका विषय है, सांख्ययोगका या संन्यासका नहीं। अब यदि चतुर्थ आश्रमकी कहीं गुंजाइश हो तो वह इसी उपदेशके अन्दर होनी चाहिये, पर विचार करनेपर मालूम होता है कि, इन श्लोकोंके अन्दर संन्यास या चतुर्थ आश्रमका प्रतिपादन तो दूर रहा, उनका नाम तक भी नहीं आया है, वरन् उसके विपरीत उन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर अर्जुनको युद्ध करनेके लिये उत्तेजना दी गयी है।

तदनन्तर ३९ से ५३ वें श्लोक तक निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन है, फिर अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने निष्काम कर्मयोगद्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए सिद्ध-पुरुषके लक्षण बतलाये हैं और उस अवस्थाकी महिमा गायी है। परन्तु इस अध्यायमें कहीं भी संन्यास या चतुर्थ आश्रम-का नाम तक भी नहीं आया।

ऐसा होनेपर भी तीसरे अध्यायके आरम्भमें अपनी भावनाके अनुसार अर्जुनने फिर भगवान्‌से पूछा है कि 'प्रभो! यदि आपकी रायमें कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञान ही श्रेयस्कर है तो आप मुझे इस घोर कर्ममें प्रवृत्त क्यों करा रहे हैं?' इस प्रश्नके उत्तरमें भी भगवान् कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि, 'मेरेद्वारा दो प्रकारकी निष्ठा बतलायी गयी है, एक ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरी कर्मयोगके द्वारा, पर कर्म न करनेसे मनुष्य न तो कर्मबन्धन-से छूट सकता है और न कर्मोंके संन्याससे कोई सिद्धि ही मिलती है, तथा कर्मोंका सर्वथा त्याग किया भी नहीं जा सकता, अतः किसी भी मार्गमें कर्मोंको छोड़नेकी ज़रूरत नहीं है, कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही श्रेयस्कर है, इसलिये तुम अच्छे कर्मोंका आचरण करो, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म बन्धनकारक नहीं होते।' इसके बाद अपना और जनकादि ज्ञानी पुरुषोंका दृष्टान्त देकर भी भगवान्‌ने यही प्रतिपादन किया है कि 'कर्म करते ही रहना चाहिये। स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं।'

चतुर्थाध्यायमें ज्ञानकी और निष्काम कर्मयोगकी महिमा कही गयी है, परन्तु वहां भी संन्यासाश्रमका कोई प्रसंग प्रतीत नहीं होता।

पांचवें अध्यायमें इस विषयका विवेचन विस्तारपूर्वक है, यहां जिस तत्त्वको एकबार संन्यास नाम दिया है, उसीको फिर सांख्यके नामसे भी कहा है, यहांका शब्दार्थ देखनेसे यह प्रतिभासित होता है कि इस प्रकरणमें आया हुआ संन्यास शब्द चतुर्थाश्रमका वाचक हो सकता है, परन्तु विचार करने पर ऐसा ठहर नहीं सकता क्योंकि अर्जुनने अपने प्रश्नमें भगवान्‌के कथनके आधारपर यह कहा है कि आप कर्मसंन्यासकी प्रशंसा करते हैं परन्तु भगवान्‌के उपदेशमें चतुर्थाश्रमकी प्रशंसा कहीं पायी नहीं जाती, एवं आगे चलकर सांख्यकी और संन्यासकी भगवान्‌ने एकता भी कर दी है, इससे यही सिद्ध होता है कि यहां जिस संन्यासका विवेचन किया गया है, वह चतुर्थ आश्रम नहीं हो सकता। इसी अध्यायमें आगे चलकर कर्तृत्व-अभिमानके त्यागका निरूपण है।

छठे अध्यायमें ध्यानयोगका निरूपण किया गया है, वहां भी चतुर्थ आश्रमका ज़िक्र नहीं आया वरन् योगके

साधकके लिये 'युक्त-आहार-विहार और कर्मोंमें युक्तचेष्टा' करना आवश्यक बतलाया गया है।

अठारहवें अध्यायमें जब संन्यास और त्यागके विषयमें उनका तत्त्व जाननेके लिये अर्जुनने प्रश्न किया तो उसके उत्तरमें भी भगवान्‌ने संन्यासका अर्थ कहीं चतुर्थाश्रम नहीं बतलाया बल्कि सांख्यका विषय कहनेकी प्रतिज्ञा करके सतरहवें श्लोकमें यही कहा कि-

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

अन्तमें अर्जुनने भी यह स्वीकार किया कि 'मैं आपके वचनोंका पालन करूंगा' और भगवदाज्ञानुसार उसने युद्ध ही किया, यदि गीतामें कहीं चतुर्थ आश्रमके लिये स्थान होता तो अर्जुन युद्ध क्यों करता? वह तो चाहता ही था कि कहीं भगवान् भी मेरी रायमें राय मिलाकर मुझे इस युद्धसे मुक्त कर संन्यासी बननेकी आज्ञा दे दें।

यहाँ तकके विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि चतुर्थाश्रमरूप संन्यास गीताका संन्यास नहीं हो सकता। अब यह विचार करना चाहिये कि निष्काम कर्मयोगको गीताके मतानुसार संन्यास नाम दिया जा सकता है या नहीं?

विचार करनेपर मालूम होता है कि गीतामें निष्काम कर्मयोग एक स्वतन्त्र मार्ग है और संन्यास स्वतन्त्र। दोनोंका फल एक होनेके कारण किसी अंशमें उनकी एकता स्वीकार करना कोई बुरी बात नहीं है, परन्तु दोनों मार्ग एक नहीं हो सकते। यदि निष्काम कर्मयोगको ही गीताका संन्यास मानलें तो पञ्चम अध्यायमें अर्जुनके प्रश्न और भगवान्‌के उत्तर की संगति नहीं बैठती। वहाँ जिस तत्त्वको संन्यास और सांख्य नाम देकर परम स्थानकी प्राप्तिका कारण बतलाया है, उससे अलग निष्काम कर्मयोगको भी उसी स्थानकी प्राप्तिका कारण बतलाया है, इसके सिवा गीतामें १३ वें अध्यायके २४ वें श्लोकमें सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोगको अलग अलग साधन बतलाया है, और अन्यत्र भी जगह जगह संन्यास यानी सांख्ययोग (ज्ञाननिष्ठा) का और निष्काम कर्मयोगका अलग अलग वर्णन आता है अतः संन्यासको कर्मयोग मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता।

तब फिर गीताका संन्यास क्या है? इस जिज्ञासाका यही उत्तर मिलता है कि, 'परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेके कारण या साधनावस्थामें सर्वव्यापी परमात्मामें अभिन्न भावसे अटल स्थित होकर उसके सिवा अन्य किसीकी सत्ताका भान न रहनेके कारण मन, इन्द्रिय और शरीर-द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्त्तापनके अभिमानका अभाव हो जाना ही (२।१८,१; ३।२८; १४।११) गीताके अनुसार यही संन्यासका स्वरूप है। इसमें किसी भी आश्रम-विशेषकी कोई बात नहीं है।*

* इस विषयपर 'कल्याण' प्रथम वर्षकी दसवीं संख्यामें 'गीतोक्त संन्यास या सांख्ययोग' शीर्षक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हो चुका है, उसे ध्यानसे पढ़ना चाहिये।

गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्म-योग' नामक पुस्तिकामें वह लेख छप चुका है। यह पुस्तिका ≈॥ में गीताप्रेससे मिलती है।

गीतामें सर्वोत्तम भक्तिवाद

'गीताको धर्मका सर्वोत्तम ग्रन्थ माननेका यही कारण है कि उसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों योगोंकी न्याययुक्त व्याख्या है, अन्य किसी भी ग्रन्थसे इसका सामञ्जस्य नहीं है।,

'× × × ×ऐसा अपूर्व धर्म; ऐसा अपूर्व ऐक्य केवल गीतामें ही दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अद्भुत धर्मव्याख्या किसी भी देशमें और किसी भी कालमें किसीने भी की हो, ऐसा जान नहीं पड़ता।'

'× × × ×ऐसा उदार और उत्तम भक्तिवाद जगत्‌में और कहीं भी नहीं है।'

—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

गीता और वेद

(ले०-साहित्योपाध्याय पं० ब्रह्मदत्तजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, एम० ए०)

ता और वेदमें कोई भेद नहीं है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। गीता भी साक्षात् श्रीभगवान्‌के मुखारविन्दसे निःसृत सुधास्यन्दिनी वाणी है जो ईश्वरीय ज्ञानकी शब्दमयी मूर्त्ति है। 'गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्'—मैं गीताके ज्ञानका आश्रय लेकर तीनों लोकोंका पालन करता हूँ' यह वचन भी इसी तथ्यकी सिद्धि करता है कि गीता और वेदमें कोई भेद नहीं है क्योंकि वैदिक ज्ञान भी तीनों लोकोंका पालन करनेवाला है और गीताके ज्ञानको भी श्रीगोविन्द ऐसा ही बतलाते हैं।

प्रायः कहा जाता है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें यत्र तत्र ऐसे वचन पाये जाते हैं जो वेदसे उदासीन होनेकी शिक्षा देते हैं। हमारी सम्मतिमें, यह विचार निराधार और भ्रममूलक है। हम यहांपर श्रीगीताके ऐसे ही दो एक प्रकरणोंको उद्धृत कर उनपर विचार करेंगे।

गीताके द्वितीय अध्यायके ४२ से ४६ तकके श्लोक इस विषयमें प्रायः उद्धृत किये जाते हैं। वे यों हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

इन श्लोकोंका बिलकुल सीधा साधारण अर्थ यह है—

'हे पृथापुत्र! वेदके अर्थवादमें लगे हुए, 'अन्य कुछ नहीं है' यह कहनेवाले, मूर्खलोग जिन फूलोंसे सजी हुई वाणीको कहते हैं। कामों (इच्छाओं) से आक्रान्त आत्मावाले, स्वर्गको ही प्राप्त करनेमें तत्पर, भोगों और ऐश्वर्योंके प्रदान करनेवाली, जन्म तथा कर्मोंके फलोंको देनेवाली (वाणी) जो कि अनेक प्रकारकी क्रियाओंके आवान्तर भेदोंसे बहुत बढ़ गयी है। उस (वाणीसे) चुराये हुए चित्तोंवाले, भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त जनोंको समाधिमें प्राप्त होनेवाली व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि प्राप्त नहीं होती। हे अर्जुन! वेद त्रैगुण्य विषयक हैं। तू त्रिगुणातीत हो जा। द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य सत्त्वमें स्थित, योगक्षेमसे परे, आत्मावाला हो जा। कूप, तड़ागादि अल्प जलाशयोंमें जितना स्नान-पानादि प्रयोजन सिद्ध होता है, उतना ही सब ओरसे जलसे भरे हुए समुद्र, गङ्गादिमें भी होता है। ज्ञानी विद्वान्‌को भी इसी प्रकार वेदोंसे इतना ही प्रयोजन रहता है।'

इन श्लोकोंमें निम्नलिखित सिद्धान्तोंका वर्णन है:—

(१) कर्मकाण्डीलोग अपने वैदिक कर्मकाण्डकी ही डींग मारते रहते हैं, अन्य काण्डों यानी उपासना तथा ज्ञान काण्डोंकी अवहेलना करते हैं।

(२) ये कर्मकाण्डी लोग अनेक प्रकारके फलोंका, भोगों और ऐश्वर्योंका सब्ज़बाग़ स्वयं देखते हैं और दूसरोंको भी दिखलाते हैं।

(३) इस भोग और ऐश्वर्यकी इच्छासे आकृष्ट होनेके कारण, इन कर्मकाण्डी पुरुषोंको समाधिमें प्राप्तव्य व्यवसायात्मिका बुद्धि प्राप्त नहीं होती।

(४) वेद त्रिगुणमयी सृष्टिका ही प्रतिपादन करते हैं। तू गुणातीत हो जा।

पूर्वोल्लिखित चारों बातोंसे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि गीता वेदकी निन्दा करती है अथवा उससे विमुख होना सिखलाती है। इस उद्धरणका तात्पर्य तो उलटा वेद और गीताके ऐक्यको ही सिद्ध करता है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'- नाम अनेक गुणोंमेंसे प्रधानको लेकर ही रक्खे जाते हैं, यह एक न्याय है जो कि शास्त्रीय है। इसी न्यायके अनुसार गीताने इस प्रकरणमें वेदोंको त्रैगुण्य-विषयक कहा है। वेद संसारको ही मार्ग दिखानेके लिये आविर्भूत हुए हैं। उस संसारमें तीनों गुणोंका—मायाका—साम्राज्य है। अतएव मुख्यतया वेद त्रिगुणमय संसारका ही निरूपण करते हैं।

इसलिये भी वेद मुख्य करके त्रैगुण्य-विषयक हैं कि त्रिगुणमयी मायाका काटना बड़ा कठिन है। उस मायाके अनेक आकर्षक रूपोंको, उसके अवान्तर भेदोपभेदोंको, मनुष्यको बतलाये बिना, उसका उस मायाके पञ्जेसे छूटना भी दुस्तर है। इसीलिये वेद प्राधान्यसे त्रैगुण्य-विषयक हैं। श्रीभगवान्ने कहा है—

> दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
> मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'मेरी त्रिगुणमयी यह माया दुस्तर है। जो मुझको ही प्राप्त हो जाते हैं, वे ही इस मायाको पार कर जाते हैं।'

पुनः—

> 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
> मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥'

'हे अर्जुन! यह सारा जगत् इन्हीं त्रिगुणमय भावों (पदार्थों) में मोहित होकर, इनसे परे मुझ अव्ययको नहीं जानता।'

इत्यादि वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि माया बड़ी प्रबल है, अतएव वेद भी मुख्य करके मायाका ही सपरिवार उच्छेद करनेके निमित्त प्रधानतः उसीका प्रतिपादन करते हैं। जैसे वैद्य सन्निपातमें जो दोष सबसे उल्बण हो, उसीको विशेषतया दबानेकी चेष्टा करता है, इसी प्रकार वेद भी मुख्यतया मायाके त्रैगुण्यको ही अपना विषय बनाते हैं।

इतने कथनसे यह तात्पर्य कभी नहीं होता कि वेद गुणोंसे आगेकी बात,—आत्मज्ञानकी आवश्यक बात,— नहीं करते। यदि नहीं करते तो—

> 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'

इत्यादि श्रुतियाँ किस तात्पर्यको लिये हुए हैं? इस श्रुतिमें कहा है:-

'दो पक्षी हैं। वे साथ साथ मिले हुए और मित्र हैं।' एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमेंसे एक स्वादवाले पिप्पलको खाता है। दूसरा, न खाता हुआ (उसकी ओर) देखता रहता है।'

यहां स्पष्ट ही मायारूपी संसारके अश्वत्थको वृक्ष कहा गया है। वृक्ष शब्द संस्कृतके 'ओव्रश्चू छेदने' धातुसे बना है, 'वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षः' जिसे काटा जाय उसे वृक्ष कहते हैं। संसारको ही बन्धन तथा दुःखरूप होनेसे काटनेके योग्य कहा गया है। आत्मा तो 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च' इन वाक्योंसे स्पष्ट ही अच्छेद्य है। इस संसार-रूपी 'वृक्ष' को काटनेके लिये शास्त्रोंमें एक विचित्र शस्त्र बताया गया है। वह है त्याग। 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' पक्के त्यागके शस्त्रसे (इस वृक्षको) काटकर' इत्यादि वचन हैं।

इस संसारको 'अश्वत्थ' शब्दसे कहा गया है। इस शब्दकी निरुक्ति 'श्वः न तिष्ठतीति अश्वत्थः' ऐसी की गयी है। अर्थात् संसारमें जो आज है सो कल नहीं। 'श्वः' शब्दका अर्थ है तो 'कल' परन्तु यहांपर सूक्ष्म दृष्टिसे, इसका अर्थ द्वितीय क्षण ही लेना संगत है। इसीलिये संसारको 'क्षणिक' अथवा 'क्षणभंगुर' भी कहते हैं।

इन प्रमाणोंसे यह स्पष्ट है कि गीताके उद्धृत प्रकरणमें वेदकी निन्दा नहीं है। वेदसे उदासीन रहनेका सङ्केत भी नहीं है। किन्तु केवल यह कटु सत्य है कि वेद मुख्यतया कर्मकाण्डका और त्रिगुणात्मिका सृष्टिका ही *निरूपण करते हैं पर जबतक त्रिगुणातीत न हो जाय तब*-तक आनन्दका लाभ नहीं हो सकता। अतः अर्जुनको गुणातीत होनेका उपदेश किया गया है।

ऊपरकी श्रुतिमें, जीव तथा ब्रह्म दोनोंको चेतनताके गुण-साधर्म्यसे सखा कहा गया है, 'सुपर्णा' से जीवका क्रियाभिमान तथा ब्रह्मकी निष्क्रियताका कथन है। एक ही वृक्षपर—एक ही संसारमें दोनोंकी सत्ता कही है। जीवमें ब्रह्मकी व्यापकता बतलायी है अथवा उपाधिनाश होनेसे जीवकी ही ब्रह्मरूपता बतलायी है। जीवके शुभाशुभ कर्मोंके फल सुख-दुःखके भोगका तथा ब्रह्मके साक्षीमात्र होनेका व्यक्तरूपसे निरूपण किया है।

> 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
> अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥'

इस श्रुतिमें भी माया, जीव और ब्रह्म तीनोंका ही स्पष्ट निरूपण है। लोहित (रज) शुक्ल (सत्त्व) कृष्ण (तम) तीनों गुणोंवाली यह अजा, अनादि, अनन्त, माया है। यह अपने ही समान रूपवाली (त्रिगुणमयी) बहुत सी प्रजाको उत्पन्न करती है। एक अज जीव इसका भोग करता है। दूसरा अज ब्रह्म इसे त्यागे हुए है। इस श्रुतिमें स्पष्ट ही त्रैगुण्यके अतिरिक्त दो अजों—जीव-ब्रह्म इन दोनोंका ही निरूपण है। फिर किस प्रकार यह समझ लिया जाय कि वेद केवल त्रैगुण्यविषयक हैं?

कूप-तड़ागादिसे स्नान-पान आदि प्रयोजन सिद्ध करने-वालेको यदि समुद्र प्राप्त हो जाय तो उसे जैसे कूप-

तडागादिसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार विद्वान्‌को वेदके कर्मकाण्डसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, यदि रहता भी है तो केवल लोकसंग्रहादि मात्रका, वह भी अपनी आसक्तिसे सर्वथारहित ! श्रीमद्-भगवद्गीता वेदसे विरोध कदापि नहीं रखती ! प्रत्युत वेद और गीता दोनोंका आशय समान ही है। वेदकी भांति गीतामें भी कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगका ही प्रतिपादन है। १-६ अध्याय तक कर्मयोग, ७-१२ अध्याय तक भक्तियोग, १३-१८ तक ज्ञानयोग है, वेदोंको भी 'त्रयी' या 'त्रयीविद्या' के नामसे पुकारा गया है, क्योंकि उनमें भी कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इस प्रकारसे तीनों ही काण्ड हैं। 'काण्ड-त्रयात्मके वेदे' यह सायणाचार्यका वचन है। 'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' 'त्रयीमूर्तिः' इत्यादि स्थानों पर भगवान्‌को 'त्रयीमूर्ति' 'वेदमूर्ति' कहा गया है। इन नामोंसे भी यही पता लगता है कि वेदोंमें जिन तीनों काण्डोंका निरूपण है, उन्हींको भगवद्गीतामें 'योग' नामसे कहा है। गीतामें जिस योगका कथन है वह कोई योग नूतन नहीं है, सनातन है। वेद ही सनातन है, अतः गीता और वेद दोनों एक ही वस्तु हैं। गीता-योगकी पुरातनता बतलाते हुए श्रीमन्नारायणने अपने श्रीमुखारविन्दसे स्पष्ट ही कह दिया है:-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

अर्थात् हे अर्जुन ! इस योगको मैंने विवस्वान् (सूर्य) से कहा था, सूर्यने मनु और मनु प्रजापतिने इक्ष्वाकुसे कहा। वही योग काल पाकर गुप्त हो गया था इत्यादि।

'इस विषयपर 'कल्याण' द्वितीय वर्षकी संख्या ९ और ११ में 'गीता-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर' शीर्षक लेखोंमें महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है। उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये। —सम्पादक

महर्षि वेद-व्यास

गौरव गुमान-वाले, आनवाले, शानवाले,
कुञ्ज प्रतिभाके और पुञ्ज प्रभुताके थे।
ज्ञानवाले ध्यानवाले, दिव्य गुण गानवाले,
महिमा महान्‌वाले, सद्रुम सुषमाके थे।
पण्डित प्रवीण पूर्ण, मण्डित सुकीर्तिसे थे,
सागर अखण्डित सु-काव्यकी सुधाके थे।
प्राण थे स्वदेशके समाजकी महान् शक्ति,
वेद-व्यास दीनबन्धु, रत्न वसुधाके थे।

होते जो न व्यास होती हिन्दुओंकी हीन दशा,
विश्व-वैजयन्तीवाले, झण्डे फहराता कौन?
अपने अतीत इतिहासका सजीव चित्र
बिना 'महाभारत' के, हमको दिखाता कौन?
फैलती हमारी कीर्ति, कैसे फिर देश देश,
साहित्यिक-सुखद-सुधा भी, बरसाता कौन?
होता यहां कैसे फिर, गीताका विशद ज्ञान,
नर-जन्म-जीवनको सफल बनाता कौन?

जिनके सु-ग्रन्थोंका सहारा सर्वदा ही पाते,
बने नहीं हम हैं कुचक्रियोंके काल-कौर।
जिनके अपार उपकार हों, उन्हींको भूलें
हम सा कृतघ्न भला, होगा कहीं कोई और?
पूज्य भगवान सम, नाता जिनसे है जोड़ा,
पड़ा है लजाता यहां, उनका ही जन्म[1]-ठौर।
चाहिये था हमको चलाते शाका व्यास ही का,
ऋणको चुकाते उन्हें, मान ज्ञान-शिर-मौर॥

कैसा अपकर्ष पा रहा है गुरुवर धाम,
'शङ्कर' कर यत्न इसे विश्वको बता दो फिर।
देकर उत्साह पूर्ण, उचित सदुपदेश,
नवस्फूर्ति फूंक ज्योति-जीवन जगा दो फिर॥
सोये हुए भाव सभी, जागृत हो उठें आप,
कर्मवीर उठो कर्म करके दिखा दो फिर।
सूखी हुई बल्लरीमें, प्रेम-सुधा सींच सींच,
गीता-ज्ञान-सौरभ सर्वत्र सरसा दो फिर॥

—गौरीशङ्कर द्विवेदी

१ जन्म-ठौर—जन्मस्थान, कालपीका व्यासटीला जिसपर भगवान् वेदव्यासका जन्म हुआ था।

गीताका पाञ्चजन्य

(लेखक-श्रीयुक्त हीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, बी० एल०)

वृन्दावनविहारी वंशीधारी श्रीकृष्ण मुरली बजाते हैं और कुरुक्षेत्रचारी पार्थसारथी श्रीकृष्ण पाञ्चजन्य बजाते हैं। वृन्दावनके श्रीकृष्ण बर्हापीड, नटवर-वपु किशोर हैं—उनके शरीरपर पीताम्बर, गलेमें वैजयन्ती माला, कानोंमें कर्णिका पुष्प और मधुर अधरोंपर मोहन मुरली है, जिसके प्रत्येक रन्ध्रको अधर-सुधासे सींचकर वे व्रजवासी गोप-गोपियोंको आनन्द-राज्यमें बुलाते हैं -

बर्हापीडं नटवर वपुः कर्णयोः कर्णिकारं
विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः॥
(भागवत १०।२१।५)

इस वंशी-ध्वनिको सुनकर मयूरी नृत्य करने लगीं, पक्षी व्याकुल हो उठे, तरु-लताएं पुष्प-बोधसे आनन्दके आंसू बहाने लगीं, हरिणियां रास्ता भूल गयीं, यमुना उल्टी बहने लगीं और गोपियोंके प्राणोंने अपनी सुधि भुला दी। 'केवल तन्मय भई कछु न जानें हमको हैं।'

और कुरुक्षेत्रके श्रीकृष्ण ? वे किरीट-गदाधारी और चक्रहस्त हैं, अपनी महिमासे महीयान् और गरिमासे गरीयान् हैं। उन्हींकी अंगुलि-संकेतसे अठारह अक्षौहिणी सेना सञ्चालित और नियन्त्रित हैं। वे -

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥

--चार सफेद घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर सवार होकर कुरुक्षेत्रके विस्तृत रणाङ्गणमें विचरण करते हुए पाञ्चजन्य शंखकी ध्वनि कर रहे हैं--'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः'--जिस शब्दसे शत्रुका हृदय विदीर्ण होता है और मित्रोंके प्राणोंमें आशा एवं उत्साहका सञ्चार होता है।

वृन्दावनमें वे कान्त और प्राणाराम हैं—कुरुक्षेत्रमें 'कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः, हैं। परन्तु हैं दोनों एक ही—केवल लीलामें तारतम्यता है, व्यक्तिगत भेद नहीं है। वृन्दावनके श्रीकृष्णमें माधुर्य है और कुरुक्षेत्रके श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य है।

इस मनभावन सावनमें जब श्रीकृष्ण झूला झूलते हैं, तब उनकी मधुर वृन्दावनविहारी मूर्ति हमारी हृदयकन्दरामें स्फुरित होती है। उनकी वंशी-ध्वनि हमारे कानोंमें गूंजती है। उनका मधुरभाव सहज ही हमारे चित्तको बहा ले जाता है। परन्तु इससे हमें कुरुक्षेत्रमें बजनेवाले उनके पाञ्चजन्यकी गम्भीर प्राणस्पर्शी ध्वनिको नहीं भूल जाना चाहिये। यह पाञ्चजन्य ही वास्तवमें अर्जुनको उपदिष्ट की हुई महागीता है।

यह गीता-शङ्ख धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें कैसे झंकृत हो उठा था, उसे एक बार स्मरण कीजिये। कौरव और पाण्डवोंकी विशाल सेना भीषण रणके लिये एक दूसरीके सम्मुख सुसज्जित है। युद्ध आरम्भ होना ही चाहता है—प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते—कपिध्वज रथपर सवार अर्जुन विशाल गाण्डीवपर बाणका संयोग करना ही चाहते हैं कि हठात् दोनों सेनाओंमें आत्मीय स्वजनोंके मुख देखकर उनका चित्त मोहसे व्याकुल हो उठा, वे कश्मलके वश हो गये !

यदा श्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने, रथोपस्थे सीदमाने अर्जुने वै।

अर्जुन कहने लगे—

हे कृष्ण ! युद्धके लिये समवेत स्वजन-समुदायको देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूखा जाता है, शरीर कांप रहा है और उसमें रोमाञ्च हो रहा है। मेरे हाथसे गाण्डीव गिरा जाता है और मेरा शरीर जल रहा है।

अर्जुनकी इस प्रकारकी अवस्थाका वर्णन करनेके बाद गीताकार कहते हैं—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥

यों कहकर अर्जुन धनुष बाण नीचे रखकर रथके एक भागमें शोकोद्विग्न-मन होकर बैठ गये, श्रीकृष्णने देखा—अर्जुन हृदयकी दुर्बलताके कारण क्लीब बन गये हैं—'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ।' इससे मानों उनके अवतार-

का प्रयोजन व्यर्थ होता है-उनका जीवन-व्रत निष्फल होता है ! उनका जीवन-व्रत क्या है ? वंगकवि नवीनचन्द्रकी भाषामें वह है—'खण्ड भारतसे महाभारतकी स्थापना ।'

एक धर्म एक जाति, एक राज्य एक नीति,
सकलेर एक भित्ति – सर्वभूत-हित;
साधना निष्काम कर्म, लक्ष्य से परम ब्रह्म, -
एकमेवाद्वितीयं ! करिब निश्चिन,
आइ धर्म-राज्य महाभारत स्थापित ।

अर्जुनकी इस मोहाप्लुत दशाको देखकर श्रीकृष्णने कहा, 'इस विषम समयमें तुमपर यह कैसा कश्मल छाया ? 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।' श्रीकृष्ण उत्साह-वाक्योंका प्रयोग करके अर्जुनके निर्वाणोन्मुख क्षात्र-तेजको पुनः उद्दीप्त करनेकी चेष्टा करने लगे—

'पार्थ ! मनचाहा स्वर्गका द्वार खुल रहा है। वह क्षत्रिय बहुत सुखी है जिसको ऐसे युद्धका अवसर मिलता है। यदि तुम इस धर्मयुद्धसे मुंह मोड़ोगे तो धर्म और यशको खोकर पापमें डूब जाओगे; तुम्हारे शत्रु कितनी न कहनेकी बातें तुम्हें सुनावेंगे, तुम्हारे बलकी निन्दा करेंगे, इससे अधिक संसारमें और कौनसा दुःख है ?'

भस्ममें घृताहुतिकी भांति इतना वाक्यव्यय व्यर्थ गया । अर्जुनने 'प्रज्ञावाद' बतलाना आरम्भ किया। वे बोले, 'स्वजनोंको मारनेकी अपेक्षा भिक्षान्न उत्तम है-पृथ्वीका राज्य तो तुच्छ है, मैं स्वर्गराज्यके लिये भी युद्ध करनेको तैयार नहीं हूं-'

'अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं, राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।"

श्रीकृष्णने जलदगम्भीर स्वरसे फिर कहा-"क्षुद्र हृदयकी दुर्बलता तज उठो शत्रुतापन अर्जुन !

—'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ।'—पुनः पुनः प्रेरणा की—'तस्मात् युद्धस्व भारत' और इसी प्रसङ्गमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्य, वेदान्त, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, जीवात्मा और परमात्मा, पुरुष और पुरुषोत्तम, तथा क्रममुक्ति और विदेहमुक्ति आदि अनेक तत्त्वोंका विवेचन किया ।

इस 'युद्धस्व भारत' को लक्ष्य करके एक अर्वाचीन लेखकने लिखा था कि 'गीता घातक शास्त्र है ।' लेखकके ध्यानमें इतना भी नहीं आया कि, यहाँ युद्ध उपलक्ष्यमात्र है,—लक्ष्य नहीं है; अर्जुन निमित्तमात्र है, उद्दिष्ट नहीं है। गीता वास्तवमें मोक्षशास्त्र है-सर्वशास्त्रमयी है, सब धर्मोंका सार है-Bible of humanity है । प्राचीन लोगोंने कहा है-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

उपनिषद्रूप गायोंको दुहकर गोपालनन्दन-(श्रीकृष्ण) ने अर्जुनको उपलक्ष्य करके सुधी जनोंके भोगके लिये इस गीतामृतका सञ्चय किया था। अतएव गीता सुगीता करना चाहिये। जो अभागा है, उसे इस अमृतमें रुचि क्यों होने लगी ? स्वर्गीय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्यायने कहा है कि 'यद्यपि श्रीकृष्ण सदा सर्वदा मनुष्यके आदर्शकी स्थापनाके उद्देश्यसे चमत्कार (Miraculous) को बचाकर ही चलते थे परन्तु इस गीता-उपदेशके समय तो वे मनुष्य-ज्ञानसे—मनुष्य-प्रज्ञासे बहुत ऊंचे चढ़ गये थे।' यह बात बिलकुल ठीक है। कविवर नवीनचन्द्रने भीष्मजीके मुखसे यही कहलवाया है

उपजिल यथा सुधा समुद्र-मन्थने,
उपजिल गीतामृत कुरुक्षेत्र रणे ।
महायोगी जेइरूप करि महाध्यान,
जीवात्मा परमात्माय करि निमज्जित ।
कहिया ए महाधर्म पार्थ पुण्यवान,
करिल ए महाधर्म-युद्धे नियोजित ।

कविने अपने 'कुरुक्षेत्र' काव्यमें इस गीतामृतके अक्षय निर्झरके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह हमारे लिये समझने योग्य है—

दुइ महा अनीकिनी, करिया दर्शन
स्वजन उभय सैन्ये, करुण-हृदये ।
कहिलेन पार्थ 'आमि करिब ना रण !'
शिहरिनु, एकि कथा ! 'करिब ना रण ।'
आशैशव निर्यातन, घोर पापाचार,
सेइ जतुगृह-दाह, सेइ वनवास,
से कपट द्यूत-क्रीड़ा, द्रुपद-बाला (?)र,
सेइ अपमान लोमहर्षण भीषण,
पुनः त्रयोदश वर्ष वनवास हाय !
सर्वशेष विनिमये सेइ साम्राज्येर
सूच्यग्र मेदिनी नाहि मिलिल भिक्षाय !
थाके यदि अधर्मेर एइ अभ्युत्थान
अक्षुण्ण, हा धर्म ! तव के लइबे नाम ।
पार्थ करिबे ना रण ! करिबे ग्रहण
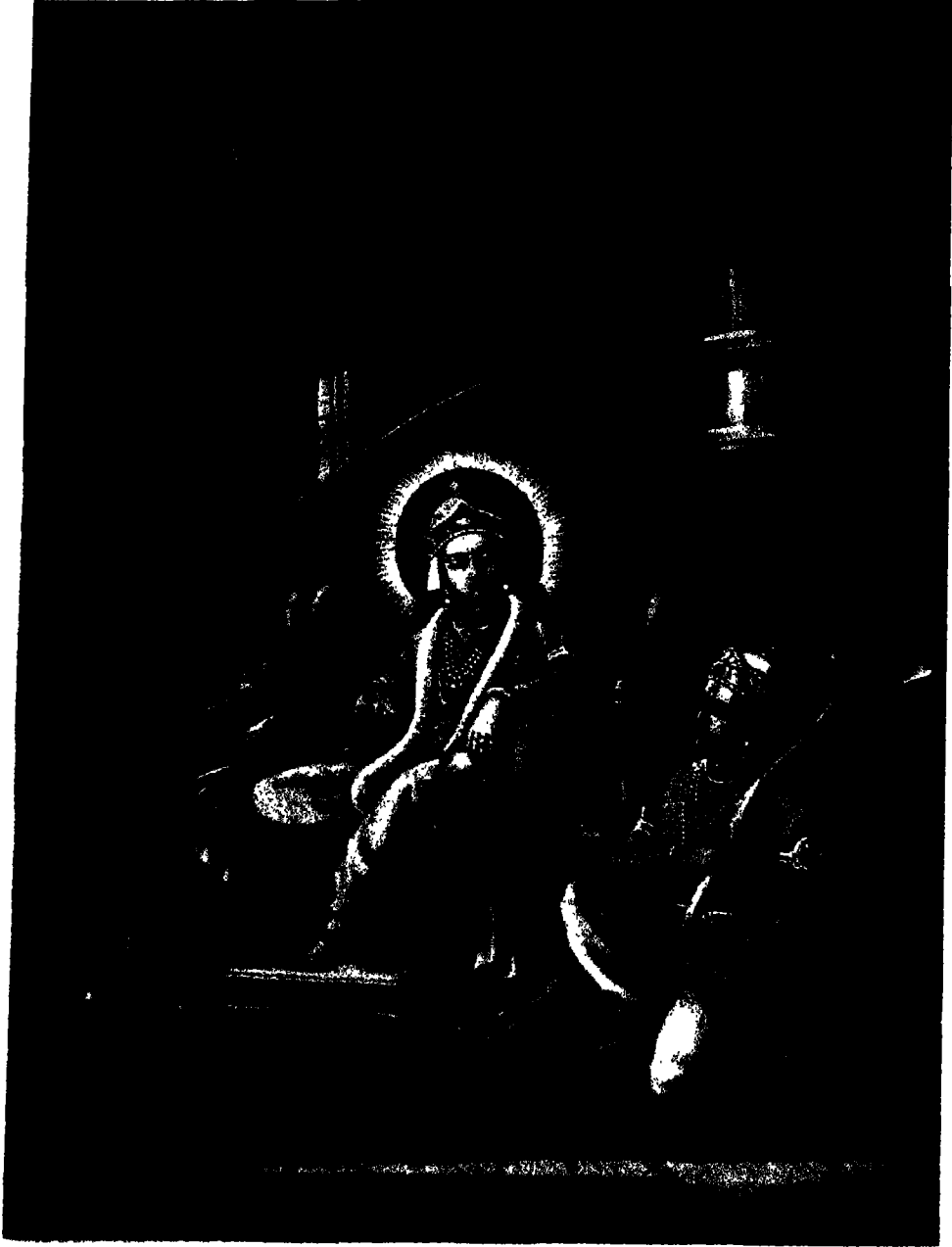
राज-सभाके एक प्रान्तमें सिंहासन बैठे भगवान ।
पूछ रहे अर्जुन फिर उनसे पूर्वकथित गीताका ज्ञान ॥

कौरव अधर्म तबे धर्मेर आसन;
कौरवेर ए आदर्शे मानव दुर्बल।
करिबे अनन्तकाल, पापे प्रवर्तित।
जगतेर ए अशान्ति रबे चिर दिन।
अन्तर विग्रहानल ज्वलिबे एमन!
धर्मेर ए दुरवस्था, दुःख मानवेर
नारायण! पारिब ना करिते मोचन?
आमार जीवन-व्रत चलिल भासिया;
जीवनेर श्रम मम हइल विफल।
साधुदेर परित्राण-दुष्कृत दमन,
हइल ना, हइल ना धर्मेर स्थापन।
पड़िलाम घूर्णावर्त्ते, देखिलाम हाय!
एक दिके अधर्मेर स्वच्छ अन्धकार
अन्य दिके धर्मराज्य-ज्योति निरमल,
हइल जीवने ब्रह्म मुहूर्त-संचार!
से आशाय, निराशाय, आलोके आँधारे
करिल कि चिन्तातीत शक्तिर अधीन!
कहिनु अर्जुने एइ धर्म सनातन,
हइया से ज्ञानातीते योगस्थ विलीन।
नायकसे नारायण एइ गीता ताँर;
आमिओ महर्षिमात्र निमित्त इहार।

कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें गीतारूप पाञ्चजन्य बजानेके समय महायोगेश्वर श्रीकृष्ण योगके सर्वोच्च शिखरपर आरूढ हो गये थे। उनका आत्मा परमात्मामें निमज्जित था, वे महेश्वर-के भावसे पूर्णतया विभावित थे, उनके आवेशसे पूर्णरूपसे आविष्ट थे। यह बात हम अनुशासन-पर्वमें उन्हींके श्रीमुखसे सुनते हैं। कुरुक्षेत्र युद्धके समाप्त हो जानेपर श्रीकृष्ण कुछ दिन हस्तिनापुरमें रहकर शोक-सन्तप्त धृतराष्ट्र और गान्धारी-को सान्त्वना देनेके बाद जब द्वारका लौट जानेको तैयार हुए, तब अर्जुनने उनसे कहा, 'गत कुरुक्षेत्रके युद्धमें मैं आपके ऐश्वर्य और माहात्म्यको विशेषरूपसे जान चुका हूं, आपने सुहृदताके कारण कुरुक्षेत्रमें मुझे जो उपदेश दिया था, चित्तकी व्यग्रताके कारण मैं उसे भूल गया हूं—

यत्तु तद्भवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे व्यग्रचेतसः॥

हे माधव! आप शीघ्र ही द्वारका जायँगे परन्तु उससे पहले ही मुझे वह विषय फिरसे सुनाइये।

इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा, 'हे अर्जुन! मैंने युद्ध-क्षेत्रमें तुमको जो परब्रह्म-सम्बन्धी उपदेश दिया था, उस समय मैं योगयुक्त था, इस समय वे सारी बातें मुझे स्मरण नहीं होंगी।'

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
न च साद्य पुनर्भूय स्मृतिर्मे संभविष्यति॥
न शक्यं तन्मया वक्तुं अशेषेण धनञ्जय।
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया॥
(महा० अनु० प०अ० १७)

इस विवरणसे हम जान सकते हैं कि श्रीकृष्णने जिस-समय अर्जुनको गीता सुनायी थी उस समय वे योगयुक्त थे वह योग महेश्वरके साथ उनके संवित्का संयोग था। इसी-लिये गीताका इतना माहात्म्य है।

आज हमारी इस जातीय हृदय-दुर्बलताके समय, हमारी इस अवसन्नता-क्लीबताके समय, हम देशवासियोंको गीताकी यह बात याद दिला रहे हैं। गीताकी यह शंख-ध्वनि रात-दिन हमारे कानोंमें बजती रहे, केवल भारतके ग्रामों, नगरों और वनोंमें ही नहीं, परन्तु हमारे मनोंमें भी यह महापाञ्चजन्य दिन-रात मुखरित होता रहे!

गीता सन्देह-राक्षसको सदा मारनेवाली है

जिस संशयने अर्जुनको दुःख दिया था वह एक साधारण बात है। इस प्रकारके संशय रात दिन बराबर मनुष्योंके मस्तिष्कमें चक्कर लगाया करते हैं और इनके शिकार होनेवालोंकी संख्या किसी रूपसे कम नहीं है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही जगह ये (सन्देह) सतत मानसिक संघर्षके कारण हैं। ये जाति या वर्णकी अपेक्षा नहीं करते। जब यह सन्देहका राक्षस आपको भयभीत कर मार्गच्युत करना चाहता है, तब प्रत्येक समय (साक्षात्) भगवान् कृष्णका आपके पास सर्वदा रहना कठिन है। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये सभी कालके लिये भगवान्ने इस अनन्त सन्देश गीताका प्रकाश किया था।

—लाला लाजपतराय

गीताके अनुसार शरणागतिका स्वरूप

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया)

भक्तिके अन्यान्य साधनोंमें शरणागत भक्ति सर्वोत्तम साधन माना जाता है। इसीको भक्तोंने आत्मनिवेदन, आत्मसमर्पण अथवा प्रपत्ति कहा है। केवल भक्तिके साधनमें ही इसकी विशेषता नहीं है अपितु जितने प्रकारके कल्याणकारी साधन हैं, उन सबमें प्रधान तत्त्व शरण है। कल्याण चाहनेवालेका साधन आरम्भ ही से शरणागत भावको लेकर शुरू होता है। जैसे मुमुक्षुओंके लिये श्रुतिमें इस प्रकारका वर्णन आता है-'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' यहां पर, अपने कल्याणके लिये श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास समिधा लेकर जानेका आदेश किया गया है-श्रीकृष्ण भगवान्‌ने भी गीतामें इसी बातको समर्थन करते हुए कहा है-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गी० ४।३४)

इसलिये 'हे अर्जुन! तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे, भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

इससे यह पता लगता है कि अपने श्रेयके लिये प्रथम गुरुचरणोंकी शरण ली जाती है, फिर गुरुद्वारा उपदिष्ट होकर परमात्मामें आत्म-समर्पण किया जाता है अर्थात् सद्‌गुरु ऐसे शरणागत शिष्योंको भगवान्‌के चरणकमलोंके आश्रयमें पहुँचाकर अपना कर्तव्य पूरा कर देता है। वही सच्चा गुरु है जो अपने आश्रितजनोंको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर देता है। यदि कोई गुरुकी शरण प्राप्त करनेपर भी भगवदाश्रयसे वञ्चित रहे तो यही समझना चाहिये कि या तो गुरुकी शरण-प्राप्तिमें त्रुटि है अथवा सच्चे योग्य गुरुका अभाव है। शिष्यका कर्तव्य शुद्धान्तःकरणसे—निष्कपट भावसे गुरुकी शरणमें जाना और गुरुका कर्तव्य अपने आश्रितको भगवत-शरणमें पहुँचा देना है। अतएव मुमुक्षुके लिये शरणका साधन आरम्भसे ही आवश्यक है।

यह साधन सब श्रेणीके साधकोंके लिये प्रधान माना जाता है,-चाहे वह सांख्ययोगी, कर्मयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी अथवा भक्तियोगी हों। सभी मार्गोंमें शरणकी प्रधानता है-आरम्भ और उपसंहार दोनों ही शरणमें होते हैं। प्रत्येक मार्गके उपक्रम तथा उपसंहारमें शरणका तत्त्व छिपा हुआ है। यहांपर इसका विवेचन प्रसंग-विस्तारके भयसे स्थगित करके प्रस्तुत विषय 'गीतोक्त शरणागति' के विषयमें ही अपना मन्तव्य पाठक-पाठिकाओंकी सेवामें उपस्थित करना है। उक्त विषयपर विचार करनेके पहले यह भी कह देना आवश्यक है कि शरणागतिके तत्त्वोंको वही जानते हैं जिनके वास्तवमें भगवान्‌को छोड़कर कोई अन्य शरण नहीं है। मैं तो केवल शिक्षार्थीकी भाँति अपने साधनमें सहायताकी दृष्टिसे इस विषयकी चर्चाके लिये उद्यत हुआ हूँ और बालकसदृश विचारोंको आप लोगोंके चरणोंमें उपस्थित करता हूं।

श्रीमद्भगवद्‌गीताका उपक्रम शरणागतिसे है और समाप्ति भी शरणागतिमें ही है दूसरे शब्दोंमें यों भी कह सकते हैं कि जगत्-प्रसिद्ध भगवान श्रीकृष्णकी शिक्षाका बीज शरणागति ही है। भारतकी समरभूमिमें जब अर्जुन व्यामोहके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और उन्हें अपने मोहके नाशका कोई उपाय न सूझ पड़ा, तब उन्होंने अखिल जगद्-गुरु श्रीनन्दनन्दन श्यामसुन्दरके चरणोंका आश्रय लिया -

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥'
(गी० २।७)

--इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहित चित्त हुआ (मैं) आपको पूछता हूं। जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये (क्योंकि) मैं आपका शिष्य हूं, (इसलिये) आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।

जब इस प्रकार अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय ग्रहण करते हैं, तब करुणासागर ब्रजेन्द्रनन्दन अनेक युक्तियों और प्रमाणोंसहित उपदेश देते हुए अन्तमें अपने उपदेशका इस प्रकार उपसंहार करते हैं:—

श्रीकृष्ण सुदामा की गुरु-सेवा ।

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' ।

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'
(गी० १८। ६६)

सब धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर।

यहां भगवान्‌की शिक्षाका पर्यवसान शरणागतिमें है, यही देवकीनन्दनका चरम उपदेश है—इसके बाद केवल अधिकारी तथा गीता-माहात्म्यकी चर्चा है। उपर्युक्त श्लोकमें—'शरण्य' (शरण लेनेके योग्य) एकमात्र अखिल गुणनिधि वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं, और शरणागत (शरण होनेवाले जीव उपलक्षित) श्रीअर्जुन हैं, फल-सम्पूर्ण पापोंका नाश तथा कल्याणकी प्राप्ति है, और साधन 'शरण' है—

अब शरण शब्दके अर्थके विषयमें कुछ विचार किया जाता है, श्रीमद्भगवद्गीतामें 'शरण' शब्द चार जगह आते हैं। यथाक्रमसे उनका अर्थ यह होता है:—

(१) गी० अ० २ श्लो० ४९ में शरण शब्दसे आश्रय लिया जाता है

(२) गी० अ० ९ श्लो० १८-यहां 'शरणम्' शब्दका अर्थ एकमात्र भगवान् शरणयोग्य अथवा शरणरूप भगवान् है।

(३) गी० अ० १८ श्लो० ६२ यहां जो 'सर्वभावेन शरणं गच्छ' कहा है इसका तात्पर्य यह है कि सब प्रकारसे अर्थात् मन, वाणी और शरीरसे भगवत्-शरणको प्राप्त हो।

(४) गी० अ० १८ श्लो० ६६ में जो 'मामेकं शरणं व्रज' कहा है, उसका अर्थ है कि केवल एक मेरी ही शरण ले।

इनके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीतामें शरणागतका वर्णन दूसरे शब्दोंमें कई स्थानों पर मिलता है। जैसे—

१—गीता अ० ७ श्लोक १४ 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' जो मेरी शरणमें आता है वह मायाको उल्लंघन कर जाता है अर्थात् संसारसे तर जाता है।

२—गीता अ० ७ श्लोक १५ 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः' दुराचारी नराधम मूढ लोग मेरी शरण नहीं लेते।

३-गीता अ० १५ श्लोक ४ 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' उस आदि पुरुष नारायणकी शरण हूं।

इत्यादि अनेक वचनोंसे शरणकी महिमा गीतामें वर्णित है। शरणागतिके साधनमें कहीं भी स्वाधीनता नहीं रहती और न कुछ छिपा ही रहता है, पूर्णतया उन्मुक्त हृदयसे आत्मसमर्पणका नाम 'शरण' है। जबतक शरणागत भक्त किसी भी अंशमें अपनेको स्वतन्त्र, किसी भी वस्तुको अपनी तथा किसी भी क्रियामें अपने कर्तृत्वाभिमानका भाव रखता है, तबतक शरणागतिमें त्रुटि ही है। शरणागत भक्त तो अपने आपसहित अपना सर्वस्व भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर देता है—'सर्वभावेन शरणं गच्छ'। और वह शरणागत भक्त ऐसा बन जाता है, जैसे जड़ वस्तु अपनी सत्ता, ममता, अहन्ताका कुछ भी ध्यान नहीं रखकर चेतनके अधीन काम करती है, वैसे ही शरणागत भक्त प्रभुके अधीन हुआ अपनी सत्ता, ममता, अहन्ताको भुलाकर प्रभु जैसे चलाते हैं, वैसे ही चलता है। वह प्रभुके हाथकी कठपुतली बन जाता है। उस समय उस पुरुषका व्यवहार ऐसा ही होता है, जैसा इस उक्तिमें कहा है-'त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।'

वास्तवमें जो भगवत्-शरण नहीं हैं, उनका यह कथन दम्भमात्र है। जो वास्तवमें भगवान्‌की शरण हैं, वह कुछ कहते नहीं, पर उनका व्यवहार इस उक्तिके अनुरूप ही होता है। अतएव शरणका अर्थ प्रभुके भावानुसार अथवा आज्ञानुसार कार्योंका करना तथा कर्तव्याकर्तव्यमें अपनी बुद्धिके निर्णयको त्यागकर भगवत्-निर्णयको ही मान्य करना है। गीतामें अर्जुनने भी शरण शब्दसे यही भाव प्रकाशित किया है, जैसे—

व्रजजनवल्लभ कमलनेत्र श्रीकृष्णद्वारा वर्णित समस्त उपदेशोंका सार यही है-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गी० १८।६६)

वैष्णवोंने इसीको सर्वोत्कृष्ट उपदेश अथवा सर्वोच्च श्लोक कहा है यदि कोई यह जानना चाहे कि समस्त गीतोक्त उपदेशका सार यह श्लोक कैसे है तो उत्तरमें भगवत्-वचन ही प्रमाण है। गी० अ० १८ श्लो० ६४ में भगवान्‌ने कहा है कि:-

'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

'हे अर्जुन ! संपूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनोंको (तू) फिर भी सुन (क्योंकि तू) मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन (मैं) तेरे लिये कहूंगा।' इस उपर्युक्त श्लोकमें 'गुह्यतमम्' शब्द दिया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सब उपदेशोंका सारभूत उपदेश आगे कहनेवाले हैं और उसीको भगवान्‌ने अ० १८ के ६५ तथा ६६ के श्लोकमें कहा है।

भगवान् यहां अपने उपदेशको समाप्त करके अर्जुनकी परीक्षाके लिये जब अ० १८ के श्लोक ७२ में पूछते हैं तब अर्जुन संक्षेपमें एक ही शब्दमें उस सर्वोत्कृष्ट श्लोकका अर्थ अथवा शरणका तात्पर्य बतलाते हैं 'करिष्ये वचनं तव' (अ० १८ श्लोक ७३) आपकी आज्ञा पालन करूंगा।' बस, संक्षेपमें शरणका सब तात्पर्य इसके अन्दर आ जाता है। इस स्थलपर भगवान्‌ने भी अपने उपदेशको समाप्त कर दिया, क्योंकि अब अर्जुन भगवान्‌के भावको ठीक ठीक समझ गये। सच्चे अनन्यशरण भक्तका अपने लिये अपना कर्तव्य अथवा उसे अपने उद्धारकी चिन्ता कुछ भी नहीं रह जाती। वह तो एक बाजेके समान है, बजानेवाला जिस प्रकार चाहे वैसे ही बजा सकता है, जिस रागको वह निकालना चाहता है वही राग निकलता है। अपने हानि-लाभ, जीवन-मरण, मान-अपमानकी चिन्ता उसे नहीं रहती। महात्मा मंगलनाथजी स्वामी कहा करते थे कि 'कल्याणके अनेक मार्ग हैं और सब ही ठीक हैं किन्तु उन सबमें शरणागतिका मार्ग अलौकिक है।' अब यहां यह प्रश्न उठता है कि इसे अलौकिक क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि अन्य मार्गोंमें साधनका भार और कर्तव्य साधकके सिरपर रहता है। वहां शरणागतिमें सब भार अपने प्रभुके सिरपर रहता है। वहां अपनी चिन्ता स्वयं करनी पड़ती है, किन्तु यहां शरणागत भक्तकी चिन्ता भगवान्‌को रहती है; भक्त तो निश्चिन्त रहता है। इसी आशयपर एक भक्तने कहा है:—'व्यास भरोसे कुंवरके सोवत पाँव पसार' इसके अतिरिक्त वहां साधक अज्ञानजन्य ममतामें आसक्ति रहनेसे गिर भी जाता है; पर यहां शरणागत भक्तके रक्षक स्वयं त्रिभुवनपति भगवान् रहते हैं, फिर गिरनेका भय कैसे हो सकता है। यहां तो शुकदेव स्वामीके यह वचन चरितार्थ होते हैं 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भयाः' 'आपद्वारा रक्षित हुए निर्भय विचरते हैं।' शरणागत भक्तका रक्षण प्रभु उसी प्रकार करते हैं जैसे एक छोटे स्तन्यपायी बालककी रक्षा और देखभाल जननी करती है। माता भी परिमित शक्तिवाली होनेके कारण सर्वथा रक्षा नहीं कर सकती यहां तो अपरिमित शक्तिवाले रक्षक हैं। अतएव शरणागति कल्याणका अलौकिक मार्ग है। भगवान्‌की शरण नीचातिनीच भी ले सकता है। सच्चे हृदयसे शरण लेनेके बाद कोई दुराचारी नहीं रह सकता। इधर भगवान् भी नीचातिनीचको शरण देनेसे मुख नहीं मोड़ते, अतएव निर्भय होकर अपने पापोंके समूहको आगे करके विभीषणकी भांति प्रभुके चरणोंमें अपनेको समर्पण कर देना चाहिये, जैसे विभीषणजीने कहा है

श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरत हरन सरन सुखद रघुबीर॥

बोलो शरणागतवत्सल भगवान्‌की जय।

गीता पूर्णतया पवित्र ग्रन्थ है

गीता पढ़नेसे यह धारणा निराधार सिद्ध हो जाती है कि भारतीय दार्शनिक केवल कल्पनाके ही प्रदेशमें चक्कर लगाया करते थे और उन्हें जीवनके क्रियात्मक विषयोंकी कोई चिन्ता नहीं थी, जिस दृष्टिसे कट्टर ईसाई लोग बाइबिलको ईश्वरीय ग्रन्थ मानते हैं, उस दृष्टिसे यह छोटीसी पुस्तक अपौरुषेय हो या न हो परन्तु वास्तवमें यह पूर्णतया पवित्र ग्रन्थ है और अमेरिका तथा यूरोपके लोग इसके प्रति जो श्रद्धा रखते हैं उसके लिये यह सर्वथा उपयुक्त है। —बी० जे० कीर्तिकर

गीता सत्य सुमनोंका गुच्छा है

गीता, उपनिषदोंसे चयन किये हुए आध्यात्मिक सत्यके सुन्दर पुष्पोंका एक गुच्छा है।

—स्वामी विवेकानन्द

शास्त्रविधि और श्रद्धाका सम्बन्ध

(ले०-श्रीयुत वेङ्कटराव अलूर, बी० ए०, एल-एल० बी०, सम्पादक 'जय कर्णाटक' धारवाड़)

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ (गी० १७ । १)

सोलहवें अध्यायमें यह कहा गया है कि शास्त्रविधिके यथार्थ ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्योंका पालन करना चाहिये । यहां अर्जुनको यह प्रश्न करनेका अवसर मिल जाता है कि जिन लोगोंको शास्त्रविधिका ज्ञान नहीं है, उन्हें किस रीतिसे व्यवहार करना चाहिये ? प्रश्नका स्वरूप यह है कि जो लोग शास्त्रविधिका पालन न करते हुए केवल श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं, उनको किस श्रेणीमें परिगणित करना चाहिये—सात्त्विक श्रेणीमें, राजस श्रेणीमें अथवा तामस श्रेणीमें ?

इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर तो श्रीकृष्णको यह देना चाहिये था कि इस प्रकारके मनुष्योंकी गणना तीनोंमेंसे किसी श्रेणीमें हो सकती है । किन्तु श्रीकृष्ण इस प्रकारका उत्तर न देकर श्रद्धाके ही तीन भेद बतलाते हैं । वे ऐसा क्यों करते हैं यही प्रश्न विचारणीय है । कारण यह है कि जिस ढङ्गसे यह प्रश्न अर्जुनने किया था, वह ढङ्ग ही श्रीकृष्णकी समझमें ठीक नहीं था । अर्जुनकी यह धारणा थी कि शास्त्रविधिको न जाननेवालोंके भी कई भेद हो सकते हैं और वे इन्हीं भेदोंको जानना चाहते थे, किन्तु अज्ञान एक ही वस्तु है, उसके टुकड़े नहीं हो सकते । हां, श्रद्धाके कई भेद हो सकते हैं और हैं भी । वह तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी । सात्त्विक जीवों (पुरुषों) की श्रद्धा सात्त्विकी होती है, राजस जीवोंकी राजसी और तामस जीवोंकी तामसी होती है । श्रद्धा जीवोंकी प्रकृतिके अनुसार हुआ करती है और उस श्रद्धाके अनुसार ही उनके आचरण होते हैं । इस प्रकार हम साधारण अवस्थामें यह अनुमान कर सकते हैं कि जिन लोगोंका व्यवहार सात्त्विक है उनकी श्रद्धा भी सात्त्विकी होगी और श्रद्धा सात्त्विकी होनेके कारण ऊपर कहे हुए न्यायके अनुसार ऐसे पुरुषोंकी गणना सात्त्विक जीवोंमें ही होनी चाहिये । यह एक साधारण नियम है । श्रीकृष्णने भी अर्जुनको यही उत्तर दिया है ।

इस प्रकार हमें यह विदित हो गया कि भगवान्‌ने जो उत्तर दिया, वह स्पष्ट नहीं है । अर्जुनका प्रश्न उन लोगोंकी निष्ठा (स्थिति) के विषयमें था जो शास्त्रविधिका परित्याग कर देते हैं । यह परित्याग दो तरहसे हो सकता है, एक तो इस बुद्धिसे कि शास्त्रविधि प्रमाण नहीं है और दूसरे इसलिये कि परित्याग करनेवालेको विधिका ज्ञान ही न हो । ऊपरके श्लोकमें हमें परित्यागका पिछला अर्थ लेना चाहिये, न कि पहला, क्योंकि यदि हम पहला अर्थ लेते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि अप्रामाण्य बुद्धिसे ही छोड़ना यहाँ 'उत्सृज्य' पदसे अभिप्रेत है तो प्रश्न ज़रा गंवारू हो जाता है । कारण आस्तिक पुरुषोंकी दृष्टिमें ऐसे लोग जो शास्त्रविधिको जानते हुए भी इसलिये उसका पालन नहीं करते कि वे उसे प्रमाण ही नहीं मानते, वास्तवमें उपेक्षाके योग्य होते हैं । ऐसे पुरुष यथार्थमें तामसी ही होते हैं । अर्जुनको इस विषयमें कोई सन्देह नहीं हो सकता था । उन लोगोंकी स्थितिके विषयमें, जिनका शास्त्रविधिमें बिल्कुल विश्वास ही नहीं है । उदाहरणतः चार्वाकों और बौद्धोंकी स्थितिके विषयमें, अर्जुनके मनमें किसी प्रकारका सन्देह ही नहीं हो सकता था । इसलिये अर्जुनका प्रश्न शास्त्रविधिको न जाननेवालोंके ही विषयमें समझना चाहिये, न कि उन लोगोंके विषयमें जो उसे अप्रमाण कहकर उसका परित्याग कर देते हैं । अर्जुनका प्रश्न केवल उन्हीं लोगोंके विषयमें है जो श्रद्धालु अवश्य हैं, किन्तु जिन्हें शास्त्रविधिका ज्ञान नहीं है । सात्त्विक पुरुष स्वभावसे ही देवताओंकी पूजा करते हैं, राजस पुरुष यक्षोंकी और तामस पुरुष स्वभावसे ही भूतोंकी पूजा करते हैं ।

इसलिये श्रद्धा ही अभीष्ट है, शास्त्रविधि गौण है । आगे चलकर भगवान्‌ने कहा है—'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं' इत्यादि (गी० १७ । २८) । इस श्लोकसे यह बात स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि इसके अन्दर यह कहा गया है कि अश्रद्धासे दिया हुआ दान असत् अर्थात् नहीं के बराबर होता है ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि 'उत्सर्ग' शब्दका अर्थ वास्तवमें 'प्राप्त वस्तुका परित्याग' होता है। ऐसी दशामें उसका और ही अर्थ कैसे किया जाता है। वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना' इस विधिका लोग पालन नहीं करते। वेदके शब्दोंका ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है। उसे वास्तविक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। वेदका पूरा अर्थ जानना ही यथार्थ ज्ञान है। यह विधि द्विजातिमात्रको स्वीकार है, किन्तु अज्ञानी पुरुष उसका पालन नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि वे शास्त्रविधिसे वस्तुतः अनभिज्ञ होते हैं। 'उत्सृज्य' पदके इस अर्थकी पुष्टि निम्नलिखित श्रुतिसे भी होती है जिसका भाव ऊपरके विधिवाक्यसे मिलता जुलता ही है— ये वै वेदं न पठन्ते न चार्थं वेदोक्तांस्तान्विद्धि सानूनबुद्धीन्' (मधुच्छन्दस श्रुतिः)। इसलिये हमें 'उत्सृज्य' पदका अर्थ 'अप्रमाणबुद्ध्या परित्यज्य' यह नहीं समझना चाहिये, क्योंकि उसका यदि यह अर्थ अभिप्रेत होता तो श्रीकृष्ण तुरन्त ही यह उत्तर दे देते कि वे लोग जो अप्रामाण्य-बुद्धिसे शास्त्रविधिका परित्याग कर देते हैं वास्तवमें तामस हैं और फिर श्रद्धाके तीन भेद बतलानेकी आवश्यकता ही न होती। उन दिनों धर्म वही समझा जाता था जो वेदानुकूल हो। वेद-विरुद्ध जितनी भी बातें होती थीं वे सब अधर्ममें ही परिगणित थीं।

तात्पर्य यह है कि अर्जुनका प्रश्न उन लोगोंके विषयमें था, जो लोग शास्त्रविधिका परित्याग कर देनेपर भी श्रद्धासे च्युत नहीं होते। श्रीकृष्णने इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, क्योंकि ऐसा करना उनके लिये सम्भव नहीं था। इसलिये उन्होंने 'श्रद्धयान्वित' पदको लेकर अर्जुनको यह उत्तर दिया कि श्रद्धा जिसे तुम एक ही प्रकारकी समझते हो, वास्तवमें एक प्रकारकी नहीं है। जीवोंकी प्रकृतिके अनुसार वह भी तीन प्रकारकी होती है। इस प्रसङ्गमें यह बात भी विचारणीय है कि गीताके उपर्युक्त श्लोकमें 'शास्त्रविधिमुत्सृज्य' ऐसा कहा है, न कि 'शास्त्रमुत्सृज्य।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान्‌का उत्तर भी उतना ही स्वाभाविक और उचित है, जितना अर्जुनका प्रश्न है।

गीता-प्रवचन

(लेखक-श्री 'अनूप')

(१)

पारथकी मानस-वसुन्धराको सींचने हीं,
कर्म-ज्ञान-भक्ति तीनों अंकुर उधरिगे।
पायो कनहार जो अपार करुणाको सिन्धु,
तरनि मिली तो मोह-सिन्धु पार करिगे।
शान्त पाठ पढ़िकै अशान्त रण-भूमि-बीच,
भूरि भगवानके अभूत भाव भरिगे।
देखु नट-नागर उजागर कृपा कै नाथ!
सागर-सुधाको गीता-गागरमें भरिगे।

(२)

भव भव-भरित विभावरी भगत हेत,
दीपक-शिखा सी ज्योति जागी प्रभा चमकी।
वृद्ध-बल-हीननके देव-द्रास-दीननके,
मोह-सिन्धु-मीननके आगे आय दमकी।
भक्त-भय-हारनको राग-द्वेष-टारनको
नीति-निरुवारनको वेगि दैकै लमकी।
दौरि यम-शीसन पै दुरित-खवीसन पै,
एक बार ही में गीता गाज ह्वै कै गमकी।

(३)

धवल सुरंग पै कसौटी गुरु-ज्ञानकी है,
चन्द्रसी सुखद हीन दुरित-कलंकसों।
कोमल कमलसी कलित कमनीय कान्ति,
भगत-भ्रमर लिपटाये निज अंगसों।
राशी सुबरनकी है सुजस-सुगन्ध सानी,
देखिबेमें सूक्षम सो मुक्ति हू की लंकसों।
कान्ह कीमियागरको कौतुक विलोक नेकु
नेमके निबन्धको निकार्‌यो प्रेम-पंकसों।

गीताको मायावाद मान्य है, या परिणामवाद

(लेखक—पं० श्रीहरिवल्लभजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृति-तीर्थ)

विषय कठिन है, सम्भव है कि थोड़ा पढ़नेपर कई पाठकोंका मन ऊब जाय। किन्तु यदि वे पढ़नेका कष्ट स्वीकार करेंगे, तो आशा है कि उनका भी मनोरञ्जन होगा।

सबसे पहले यह जाननेकी आवश्यकता है कि मायावाद किसे कहते हैं और परिणामवाद किसे कहते हैं। अच्छा, तो अब पहले परिणामवादको ही लीजिये। परिणामवाद उसे कहते हैं, जो एक वस्तुका परिणाम होकर दूसरी वस्तु बन जाय। जैसे दूधसे दही, इक्षु-रससे गुड़ और चीनी इत्यादि-इसका खुलासा वेदान्तसार-ग्रन्थमें इस प्रकारसे किया गया है।—

"यस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः।

अर्थात् किसी मूल वस्तुसे जब तात्त्विक अर्थात् सचमुच ही दूसरे प्रकारकी वस्तु बनती है, तब उसको (गुण) परिणाम कहते हैं। परन्तु यह गुण-परिणामवाद उपनिषदों और गीताशास्त्रको मान्य नहीं है, क्योंकि परिणामवाद तभी सत्य सिद्ध हो सकता है, जब सत्कार्यवाद सिद्ध हो (अर्थात् कारण और कार्य दोनों सत्य वस्तु हों) किन्तु गीताशास्त्र ब्रह्मसे भिन्न प्रकृतिको स्वतन्त्र कारण नहीं मानता। वैसा माननेसे उपनिषदोंके उन सिद्धान्तोंकी हानि होती है, जोकि वास्तवमें उपनिषदोंके प्रधान सिद्धान्त हैं। जैसे—'भृगुर्वै वारुणिः। वरुण पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।' इत्युपसन्याह—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति (तैत्ति० ३। १) अर्थात् वरुणपुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया। वरुणने उनसे कहा कि तुम ब्रह्मको जानो, जिस ब्रह्मसे ये सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं और जिससे उत्पन्न होकर सम्पूर्ण भूत जीवित रहते हैं, तथा अन्तमें उसीमें लीन भी हो जाते हैं। ऐसे ब्रह्मको तुम जानो। इसीका निर्णयात्मक वाक्य फिर कहते हैं 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। (तैत्ति० ३। ६) इदं सर्वं यदयमात्मा (बृहदारण्यक २। ४। ६) आत्मैवेदं सर्वम् (छा० ७। २५। २) ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् (मु० २। २। ११) सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० ३। १४। १) सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्—इत्यादि। इन श्रुतियोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्मके अतिरिक्त संसारमें कोई दूसरा नित्य पदार्थ नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि बृहदारण्यकमें यह स्पष्ट कह दिया गया है कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस संसारमें एक ब्रह्म ही सत्पदार्थ है। इसके अतिरिक्त प्रतीत होनेवाले ये नाना पदार्थ मायाके विजृम्भणमात्र हैं। इन नाना पदार्थोंको सत्य माननेवालेकी निन्दा भी इस प्रकारसे की गयी है—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति (बृ० ४। ४। १९) अर्थात् वह पुरुष बारम्बार मृत्युको प्राप्त होता है, जो इस संसारमें अनुस्यूत एक ब्रह्मको नाना प्रकारसे देखता है। उपनिषदोंके सिद्धान्त स्पष्ट करके अब हम 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।' अर्थात् सम्पूर्ण उपनिषदोंको गायें बनाकर दुहनेवाले भगवान् गोपालनन्दनने जो गीतामृतरूपी दुग्ध निकाला है उसपर कुछ निवेदन करते हैं। गीता उपनिषदोंसे पृथक् किसी सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेके लिये नहीं रची गयी थी, प्रत्युत उपनिषदोंके गूढ़ सिद्धान्तोंको सीधी सादी भाषामें पार्थ जैसे अधिकारीको समझानेके लिये ही भगवान्ने गीताका निर्माण किया था। अतएव हम दृढ़ता पूर्वक कह सकते हैं कि उपनिषदों और गीतामें प्रकृति कोई स्वतन्त्र और सत्य वस्तु नहीं है। जिस प्रकार उपनिषदोंमें एक ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी वस्तु सत्य नहीं मानी गयी है; उसी प्रकार गीताने भी अद्वैत ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है; जो निम्नलिखित प्रमाणोंसे स्पष्ट होता है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (गीता १०। ८) मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव (गीता ७। ७) विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् (गीता १०। ४२) बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् (गीता ७। १०) उद्भवश्च भविष्यताम् (गीता १०। ३४) यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्। (गीता १०। ३९) सदसच्चाहमर्जुन (गीता ९। १९) इत्यादि।

अतएव प्रकृतिके सत्य और स्वतन्त्र हुए बिना गुण-परिणामवाद (एक वस्तुका दूसरे रूपमें परिणत हो जाना)

साबित नहीं होता। तो फिर, यह दिखलायी देनेवाले संसारके नाना पदार्थ क्या वस्तु हैं? और किससे उत्पन्न हुए हैं? ब्रह्म तो निर्गुण और निर्विकार है उससे सगुण और सविकार जगत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर गीता यों देती है। यह सम्पूर्ण पदार्थ भगवान्की विश्वमोहिनी मायासे असत् होते हुए भी प्राणियोंको सत् प्रतीत होते हैं और यह त्रिगुणात्मिका माया अथवा प्रकृति कोई दूसरी स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। बल्कि एक ही निर्गुण परब्रह्मपर मनुष्यकी इन्द्रियां इसी अज्ञानके बलसे सगुण दृश्योंका अध्यारोप किया करती हैं (अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः) इसी मतको विवर्तवाद कहते हैं। इसका खुलासा वेदान्तसारमें यों किया गया है:—

'अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः' अर्थात् मूल वस्तुमें कुछ भी विकार न होकर वह मूल वस्तु ही कुछकी कुछ भासने लगती है; उसीको विवर्तवाद कहते हैं—जैसे ऐन्द्रजालिककी मायासे न होते हुए भी नाना पदार्थ सत्य दिखायी देते हैं। अथवा सीपमें चांदीका, रज्जुमें सर्पका, मृगमरीचिकामें जलका आभास होना आदि। इसीको अध्यास कहते हैं। 'अन्यस्मिन्नन्यधर्मावभासोऽध्यासः' अर्थात् दूसरी चीजमें दूसरी चीजका भास होना, इसीका नाम अध्यास है। हम सदैव देखते हैं कि एक वस्तुमें भिन्न भिन्न दृश्योंका देख पड़ना उस वस्तुका धर्म नहीं है, और न उन दृश्योंसे उस मूल वस्तुमें कुछ विकार ही उत्पन्न होता है। द्रष्टाके दृष्टि-भेदके कारण वस्तुमें अनेक दृश्य पैदा हो सकते हैं। जैसे आकाशमें झिलमिलाहटका दिखायी देना दृष्टि-दोषके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और न उस दिखायी देनेवाले झिलमिलाहटसे आकाशमें ही कुछ अन्तर पड़ता है। इसी प्रकार निर्गुण, निर्विकार परब्रह्ममें अज्ञान-वश जगत्का भान होता है। इस मिथ्या भानसे उस मूल तत्त्वमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता।

सत्कार्य-वादके अनुसार निर्गुणसे सगुणकी उत्पत्ति होना असम्भव है। इसे दूर करनेके लिये ही विवर्तवाद निकला है, और इसका मूलाधार माया है। इतने विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि मूलतत्त्व एक और सत्य है, परन्तु उसमें भासनेवाले नाम और रूप अनेक और असत्य हैं। यह मनुष्यकी दुर्बल इन्द्रियोंके कारण सदा परिवर्तित होते रहते हैं 'हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते'। प्रकृति, मायाके हेतुसे यह जगत् परिवर्तित होता रहता है। इस मायासे आच्छादित परब्रह्म नित्य और अपरिवर्तनशील है। इसीलिये छान्दोग्योपनिषद्में एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होना वर्णन किया गया है, और वाणीसे कही जानेवाली सब वस्तु विकार बतलायी है। नाम-रूपसे अतिरिक्त जो मूल तत्त्व है, वही सत्य है; यथाः—सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छा० ६।१।४)। इसीका खुलासा वेदान्तशास्त्रमें 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' और 'ब्रह्मामृतं जगन्मिथ्या' आदि प्रमाणोंसे किया गया है।

यहां तक उपनिषदोंके आधारपर विवर्तवाद साबित करके अब हम पाठकोंको गीताके उन प्रकरणोंको दिखलाना चाहते हैं, जिनमें इसी वादकी पुष्टि की गयी है:—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।' (गीता १५।३) अर्थात् इस संसार-वृक्षका जैसा वर्णन किया गया है, वैसा स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि यह स्वप्न, मृगतृष्णा, इन्द्रजाल और गन्धर्व नगरके दृश्योंके सदृश मिथ्या है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिसके बलसे यह असत्य संसार सत्य प्रतीत होता है, वह माया क्या वस्तु है? कहांसे उत्पन्न हुई है? और उसका धर्म क्या है? इन प्रश्नोंका उत्तर गीता यों देती है—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥' (गीता ७।१४) अर्थात् यह गुणमयी दुस्तर दैवी माया मेरी ही है, जो इस मायाको पार कर लेते हैं, वे ही मुझमें प्राप्त होते हैं। 'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' (गीता १५।४) अर्थात् जिस पुरुषसे संसार-वृक्षकी चिरन्तन प्रवृत्ति फैली है। महाभारतके नारायणीय उपाख्यानमें 'माया ह्येषा मया सृष्टा' हे नारद! यह माया मैंने ही उत्पन्न की है। इसी भावको गीतामें यों प्रकट किया है:—'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि' इन सात्त्विक, राजस और तामस भावोंको तू मुझसे ही उत्पन्न जान। 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया' (गीता ४।६) इसमें 'स्व' और 'आत्ममायया' शब्दसे यह प्रतीत होता है कि माया भगवान्की निजी वस्तु है। यहां प्रकृति शब्दसे सांख्य-शास्त्रोक्त स्वतन्त्र प्रकृति नहीं ली गयी है। अपितु यहां मायाका ही नाम प्रकृति है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) अर्थात् प्रकृति शब्दसे यहां मायाको जानना चाहिये। गीता अध्याय ७, श्लोक ४ और ५ में जो अपरा और परा प्रकृतिका वर्णन किया गया है, वहां पर दोनों ही श्लोकोंमें 'अहंकार इतीयं मे' और 'प्रकृतिं विद्धि मे पराम्' प्रकृति (माया) को अपनी कहा है। इन प्रमाणोंसे स्पष्ट विदित होता है कि माया कोई दूसरी वस्तु नहीं है,

किन्तु भगवान्की विश्वमोहिनी कोई अनिर्वचनीय शक्ति है। जो शक्ति उन्हींके बलसे जगत्के दृश्योंको उत्पन्न करती है, 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' अर्थात् मेरी अध्यक्षतामें यह माया चर और अचर संसारको पैदा करती है।

इससे पाठकोंको विदित हो गया होगा कि माया क्या वस्तु है, और कहांसे उत्पन्न हुई है। अब केवल इस विषयका विचार करना है कि मायाका धर्म क्या है ?

हमने पहले कह दिया है कि माया भगवान्की विश्वमोहिनी एक प्रकारकी विभूति है। गीता ७।१४ के अर्थको खुलासा करते हुए भगवान् शंकराचार्यने मायाको सम्पूर्ण जीवोंके चित्तको मोहनेवाली लिखा है। इतना ही नहीं, गीतामें स्वयं भगवान् कृष्णने अर्जुनके प्रति मायाका स्वरूप समझाते हुए कहा है:—'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥' (गीता ७।१३) अर्थात् सत्त्व, रज, तम इन त्रिगुणात्मक भावोंसे मोहित हुआ यह सारा संसार इससे परे निर्गुण मुक्त परमेश्वरको नहीं जानता। इससे मायाका धर्म मोहन करना स्पष्ट साबित होता है। और भी, 'माययापहृतज्ञानाः' 'मूढोऽयं नाभिजानाति' 'सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप' 'प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' 'अवजानन्ति मां मूढाः' आदि वाक्योंसे उपर्युक्त सिद्धान्त सिद्ध होता है। पाठकोंको इतने विश्लेषणसे अच्छी तरह विदित हो गया होगा कि गीताको परिणामवाद नहीं, बल्कि विवर्तवाद (मायावाद) मान्य है।

देव तथा ईश्वर

(ले०—पं० कृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री बी०ए०)

सृष्टि[1] भगवान्की सृष्टि अनन्त, विचित्र, रहस्यमयी और मनोमोहक है। स्तम्बसे लेकर जगद्विधाता ब्रह्माजी तक समस्त सृष्टि उन्हींकी है, अतएव संसारमें आराध्यचरण उन परमेश्वर ही का गुणगान[2] मानव-जीवनका प्रधान पुरुषार्थ है बहुतसे लोग अनेक ऐहिक कामनाओं[3] के वशीभूत होकर उन उन इच्छाओंके पूर्ण करनेवाले भिन्न भिन्न देवताओंकी उपासनामें दत्तचित्त होते हैं। ऐसे पुरुषोंको ईश्वरकी देवाधिदेवत्वका ज्ञान नहीं होता। देवतत्त्व और ईश्वरतत्त्वमें वास्तवमें महान् अन्तर है। नीचेकी पंक्तियोंमें उसी भेदके दिखानेका कुछ प्रयत्न किया जाता है।

वैदिक सिद्धान्तके अनुसार देवता मनुष्येतर,[4] सुखसम्पन्न एक दूसरे ही लोकमें रहनेवाले पुरुष हैं। मनुष्य-सुखसे सौगुना[5] अधिक सुख पितरोंको होता है। पितरोंके सौगुने सुखके समान गन्धर्व-लोकका सुख है। गन्धर्वोंके सुखसे सौगुना अधिक सुख कर्मदेवोंको तथा उनसे भी अधिक जन्मदेवोंको प्राप्त होता है। इस सिद्धान्तको जान-

---

१ सृष्टि-विषयके लिये जून (१९२७) की 'मनोरमा' में प्रकाशित 'सृष्टि-रहस्य' नामक लेख देखिये।

२ सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि। प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्त्ता॥ (भागवत दशमस्कन्ध १०।२।१३)

३ किस कामनाके लिये किस किस देवकी आराधना करनी चाहिये, यह विषय पुराणोंमें वर्णन किया गया है। समयाभाव तथा विस्तार-भयसे यहां श्लोक नहीं उद्धृत किये गये हैं।

४ त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः। (बृहदा० ५।२।१)

५ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो... ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दः। (बृहदा० ३।४।३३)

कर देवताओंके स्वरूपके सम्बन्धमें बहुत कुछ उत्सुकता शान्त हो जाती है। देवताओंके सुखसे सौगुना अधिक सुख प्रजापतिलोकमें तथा उससे भी अधिक ब्रह्मलोकमें मिलता है।

देवता मनुष्योंसे बहुत उन्नत, परन्तु ब्रह्मलोक-निवासियोंसे बहुत अवनत-दशामें रहनेवाले प्राणिविशेष हैं। इनकी स्तुतियां वेदमें स्थान स्थान पर उपलब्ध होती हैं, उदाहरणार्थः—

'ॐ आशुः[6] शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् सङ्क्रन्दनो निमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः'
'ह्वयाम्यग्निं[7] प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाविहावसे ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमूतये'
'युवं[8] च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम् निरंहसस्तमसः स्पर्त्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः'

देवोंकी निवासभूमि स्वर्गलोक[9] है, जहां नाना प्रकारके आनन्दकी प्राप्ति होती है। देवताओंके अधिपति इन्द्र[10] कहलाते हैं। इन देवराजके दो[11] भुजाएं हैं और ये सोमरस[12] पान करते हैं। इनकी पुरी अमरावती, उद्यान नन्दन, वाहन ऐरावत, पत्नी शची, पुत्र जयन्त, और गुरु बृहस्पति[13] हैं। इनके आवासमें सब सुखका सामान[14] प्रस्तुत रहता है। इन बातोंसे इनका पुरुषविध[15] आकार सिद्ध होता है।

कल्पवृक्ष, कामधेनु, गन्धर्व और अप्सराएं स्वर्गकी सुख-समृद्धिमें उल्लेख योग्य हैं। ऐसे ही सुखके अभिलाषी रसिक जन सोमरस पान करते हैं तथा यज्ञोंमें भगवान्‌से स्वर्गगतिकी[16] प्रार्थना करते हैं। ऐसे याज्ञिक शुभ कर्मके प्रभावसे कर्मदेवोंके सुखको प्राप्तकर पुनः पुण्यक्षय[17] होनेपर मर्त्यलोकमें लौट आते हैं। देवताओंके भक्तोंकी पहुंच देवताओं तक ही रहती है। उनको प्रजापति आदि लोक-निवासका आनन्द नहीं मिल सकता।

स्वर्ग-सुख कितना भी मनोरम क्यों न हो परन्तु विवेक-बुद्धिसे विचार करनेपर उसकी अनित्यता ही सिद्ध होती है। इस सुखमें अविशुद्धि[18], क्षय, तथा अतिशय नामक तीन दोषोंकी विद्यमानता है, इन्द्र तकका पद स्थायी नहीं है। राजा नहुषको इन्द्रपद प्राप्त करनेपर भी पुनः भूलोकमें आना पड़ा। देवताओंका समय सर्वदा विलासमें ही बीतता हो, यह भी नहीं है। शुम्भ[19]-निशुम्भ, महिषासुर[20]

---

६ उछलते हुए भयङ्कर बैलके समान द्रुतगतिवाले, निरन्तर शत्रुसंहारमें तत्पर, दुष्टोंके हृदयमें भयका संचार करते हुए, वीराग्रणी इन्द्रने अकेले ही सिंहनाद करते हुए शतशः शत्रुओंको जीत लिया।

७ मैं सर्वप्रथम अग्निदेवका अपनी रक्षाके लिये आवाहन करता हूं। सहायताके लिये मित्र तथा वरुणको बुलाता हूं। जगत्‌को विश्राम देनेवाली रात्रिको बुलाता हूं और तदनन्तर अपने साहाय्यके लिये सविता देवताका आवाहन करता हूं।

८ हे अश्विनीकुमारो! आप दोनोंने च्यवन ऋषिको वृद्धावस्थासे मुक्त किया था। आपने पेदुको एक शीघ्र गतिवाला घोड़ा दिया था। आपने अत्रिको आपत्ति तथा अन्धकारसे बचाया था तथा आपने ही जाहुषको स्वतन्त्र किया था।

९ यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायन् (ऐतरेय ब्राह्मणम्)
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।
(यजु० अ० ३१।१६ या ऋग्वेद १०।९०।१६)
सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः। **(ऋक् ब्राह्मणम्)**

१० इस वर्तमान वैवस्वत नामक मन्वन्तरके इन्द्रका शुभ नाम है 'पुरन्दर' तथा आदित्य, वसु, रुद्र नामक देवगण हैं। जैसा वचन है—
आदित्यवसुरुद्राद्या देवाश्चात्र महामुने।
पुरन्दरस्तथैवात्र मैत्रेय त्रिदशेश्वरः॥ (विष्णुपुराणम् अंश ३)

११ ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू **(वेद)**

१२ अर्द्धन्द्र पिब च प्रस्थितस्य **(वेद)**

१३ बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः **(ऐतरेय ब्राह्मण)**

१४ सुरणं गृहे ते **(वेद)**

१५ अथाकार चिन्तनं देवानां पुरुषविधाः स्युरित्येकम्। अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्। अपि वोभयविधाः स्युः। अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एतेस्युर्यथा यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः। (निरुक्त-दैवतकाण्डम्)

१६ त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
(गीता)

१७ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(गीता)

१८ दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः (सांख्यकारिका २)

१९ पुरा शुम्भनिशुम्भाभ्यामसुराभ्यां शचीपतेः।
त्रैलोक्यं यज्ञभागाश्च हृता मदबलाश्रयात्॥

२० स्वर्गान्निराकृताः सर्वे तेन देवगणा भुवि।
विचरन्ति यथा मर्त्या महिषेण दुरात्मना। (श्रीमार्कण्डेयपुराण)

आदि असुरोंसे उनको दुःख-प्राप्ति इतिहास-विदित है। अतः स्वर्गमें ऐकान्तिक एवम् आत्यन्तिक सुख नहीं है।

एक इन्द्रका आधिपत्य एक मनुके साम्राज्य तक है। चौदह मनु ब्रह्माजीके एक दिनमें व्यतीत हो जाते हैं। लोकपितामह ब्रह्माजीकी परमायु होनेपर एक ब्रह्माण्डकी महाप्रलय होती है। ब्रह्माण्ड भी एक-दो नहीं, तीन-चार नहीं सौ-दोसौ नहीं असंख्य और अगणित[२१] हैं। ये सभी ब्रह्माण्ड जिनके एक एक रोममें[२२] विद्यमान हैं, वे अप्रतर्क्य शक्तिशाली योगशास्त्रके पुरुषविशेष ही ईश्वर[२३] पद वाच्य हैं। ये ही परम पुरुष सबसे बड़े[२४] हैं। इन पुराण पुरुषसे बढ़कर तो क्या इनके समान[२५] भी कोई नहीं है। इन जगदीश्वरसे ही जगत्की उत्पत्ति[२६]-स्थिति होती है। ये विश्वेश ही सर्वज्ञ[२७] हैं। ये त्रिकाल[२८] सत्य सबसे पहले थे, अब हैं और सदा रहेंगे। देवता और महर्षि सभी अर्वाचीन[२९] होनेसे इन अनादिनिधनके जन्मको कैसे जान सकते हैं? महाप्रलयमें केवल ये[३०] ही रहते हैं। ये क्लेश-कर्म-विपाक और आशयसे अपरामृष्ट हैं। यज्ञ[३१] और तपस्यामें इन्हींकी आराधना होती है और ये ही समस्त लोकोंके अधिपति हैं, कालसे अवच्छिन्न न होनेके कारण ये जगदाधार ब्रह्मादिके भी शासक[३२] हैं।

ॐकारके वाच्य[३३] तत्त्व भी ये ही अनन्त देव हैं। ये आप्तकाम होनेपर भी कर्मयोगके प्रवर्त्तक हैं। पूर्ण ज्ञान होनेके कारण इन अखिलेश्वरको कर्मबन्धन[३४] नहीं है। अजन्मा तथा निराकार होनेपर भी लोकशिक्षा, साधुरक्षा, दुष्टदमन तथा पापशमनके लिये अपनी योगमाया-के आश्रयसे प्रादुर्भूत होकर ये अचिन्त्य-प्रभाव साकाररूप[३५] धारण करते हैं।

इन देवाधिदेवके रविकोटि-प्रतीकाश, चन्द्रकोटि-सुशीतल, कोटि-कन्दर्प-दर्पहारी, परम-मधुर, सुन्दरतम, रूपरसका पानकर अनेकों जीव दुस्तर संसार-समुद्रके पार अनायास पहुँच जाते हैं। इन्हींके अशरण-शरण, दीनबन्धु श्रीचरण-कमलोंमें आत्मसमर्पण[३६] करनेसे योगिवृन्द कैवल्य[३७] लाभ कर कृतकृत्य हुआ करते हैं। ब्रह्मलोकसे भी पुनरावृत्ति[३८] सम्भव है, परन्तु इन आनन्दकन्दके सर्वोत्कृष्ट लोककी प्राप्ति होनेपर तो अत्यन्त और अनन्त शोकरहित आनन्दकी[३९] प्राप्ति होती है।

इन्द्रादि साधारण देवताओंकी पूजाको ही सर्वस्व न मानकर जो जन शैवोंके सुधांशु-कलितोत्तंस श्रीसदा-शिवरूप, गाणपत्योंके मोदक-सुशोभित श्रीगणेशरूप, सौरोंके तेजःपुञ्ज श्रीसूर्यरूप, शाक्तोंके सर्वमङ्गलमङ्गल्या वराभयकरा श्रीदेवीरूप, तथा वैष्णवोंके स्मयमान-मुखाम्बुज गीतागायक श्रीविष्णुरूप, करुणावरुणालय ईश्वरके अशरणशरण चरणकमलोंकी शरणमें अनन्यभावसे[४०] जाते हैं, वे धन्य हैं, उनका ही जन्म सफल है।

---

२१ अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति सृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि। (उपनिषद्)

२२ क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः। क्वेदृग्विधाऽविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् (श्रीमद्भागवत १०। १४। ११)

२३ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (योग०)

२४ कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे। (गीता)

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय॥ (गीता)

२५ न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः। (गीता)

२६ जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र)

२७ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् (योगसूत्र)

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन (गीता)

२८ सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम् (भागवत १०। २। २६)

२९ यो देवानां पुरोहितः पूर्वो यो देवेभ्यो जातः (यजुर्वेद)

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ (गीता)

३० तस्माद्धान्यन्नपरः किञ्चनास (ऋग्वेद १०। १२९। २)

३१ भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् (गीता)

३२ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योगसूत्र)

३३ तस्य वाचकः प्रणवः (योगसूत्र)

३४ न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा (गीता)

३५ साकारताके लिये वैशाख (सं० १९८६) के 'कल्याण' में प्रकाशित 'ईश्वरकी साकारता' नामक लेख देखिये।

३६ ईश्वरप्रणिधानाद्वा (योगसूत्र)

३७ ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (योगसूत्र)

३८ आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। (गीता)

३९ मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते। (गीता)

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (गीता)

४० अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्। (गीता)

गीताके अध्ययन तथा प्रवचनकी विधि

[ले०—श्रीयुक्त शङ्करनारायण अय्यर बी० ए०, बी० एल्०]

श्रीगौराङ्गकी जीवनीमें एक उच्च कोटिके भक्तका वर्णन है, जो उन दिनों अपने आचरणके द्वारा गीताका उपदेश दिया करते थे। ऐसा कहते हैं कि जिस समय श्रीगौराङ्ग दक्षिणकी यात्रा कर रहे थे, उन्हें श्रीरङ्गममें एक ऐसा मनुष्य मिला, जो नित्य गीताका पाठ किया करता था और पाठ करते समय उसका शरीर पुलकित हो उठता तथा उसके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुओंकी धारा बहने लगती थी। गीताके आनन्दमें सराबोर हुए उस मनुष्यके दर्शनमात्रसे दर्शकोंके अन्दर कृष्ण-प्रेम उमड़ आया करता था। श्रीगौराङ्गने उससे पूछा कि 'तुम्हें गीतासे कैसा आनन्द मिलता है?' उसने उत्तर दिया कि 'यद्यपि मैं गीताका एक शब्द भी नहीं समझता, किन्तु जब मैं यह अनुभव करता हूं कि श्रीकृष्णने जो शब्द अर्जुनके प्रति कहे थे वे ही मेरे मुखसे निकल रहे हैं तो मेरा हृदय आनन्द और हर्षोद्रेकसे उल्लसित हो उठता है और मैं अपने सामने श्रीकृष्ण और अर्जुनको देखने लगता हूं।' गीताका उपदेश देने, उसके दिव्य अनुभवके भीतर पैठने और उससे जो आन्तरिक आनन्द उत्पन्न होता है, उसे अभिव्यक्त करनेका यह एक ही उपाय सूझता है। उसके दार्शनिक तत्त्वोंके ज्ञानपूर्वक उपदेश करनेका काम तो वे लोग करें, जिन्हें इस कामके लिये भगवान्ने नियुक्त किया हो या जो विद्वान् हों। जब श्रीकृष्ण बोलते थे, तब गोपियां भी उनके वीणा-विनिन्दित स्वर और अधरोंकी मधुरिमाका रसास्वादन करती थीं और उसके दार्शनिक तत्त्वकी व्याख्या करनेका काम वे पण्डितोंके लिये छोड़ दिया करती थीं। दूसरी बार जब उन्होंने अपना सुमधुर गीत केवल मनुष्योंको ही नहीं, किन्तु सारी प्रकृतिको सुनाया, उस समय सारा चराचर जगत् उस गीतके आनन्दमें मग्न हो गया; किन्तु जिन विद्वानोंने उसके दार्शनिक तत्त्वका विश्लेषण करनेकी चेष्टा की, वे उल्टे चक्करमें पड़ गये।

> सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
> कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥

इसलिये जिस समय मनुष्यके अन्दर भावकी जागृति हो अथवा सच्ची उत्कण्ठा उत्पन्न हो, उस समय उसे चाहिये कि वह उस भाव अथवा उत्कण्ठाका अवलम्बन साथ लेकर साधन-पथमें कूद पड़े। साधनके द्वारा प्रत्येक वर्तमान जीवको क्रमशः जो भिन्न भिन्न प्रकारके स्पष्ट अनुभव होते हैं और उनके अन्दर जो सत्यकी प्राप्ति होती है, उसके परिणाम ही—चाहे वे कितने ही सूक्ष्मरूपमें क्यों न हों,—गीता की वास्तवमें महत्त्वपूर्ण व्याख्या प्रतीत होती है, क्योंकि उनसे दूसरे साधकोंको भी सहायता मिल सकती है। केवल बुद्धि अथवा शास्त्रोंके अभ्यासके बलसे गीताका आशय समझनेकी चेष्टा निःसार एवं औद्धत्यपूर्ण प्रतीत होती है। गीताका उपदेश मुख्यतया व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाला एवं गूढ़ है। इसकी भाषा एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक बड़ी ही गहन एवं भाव-गर्भित है. इसका उपदेश गुरुसम्मित अर्थात् आदेशात्मक है और इसके रहस्योंको समझानेके लिये इसमें श्रीमद्भागवतकी तरह रोचक कथाओंका सन्निवेश नहीं किया गया है। श्रीशुकाचार्यके पास अपना उपदेश सुनाने और श्रोताओंको अमृत पान करानेके लिये सात दिनका समय था। किन्तु भगवान् श्रीकृष्णके हाथमें तो केवल थोड़ेसे मिनट ही थे और फिर जिस स्थानपर उन्होंने उपदेश दिया, वहांका वातावरण उस समय तीव्र उत्तेजनाके कारण अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा था, ठीक जिस प्रकार, जब तूफान आनेवाला होता है तो उसकी सूचनाके लिये पहले कुछ देर तक घोर निःस्तब्धता छा जाती है। भगवान् अधिक देर तक न तो उपदेश ही दे सकते थे, न मना सकते थे और न वे दृष्टान्त आदिके द्वारा समझा सकते थे। उन्हें जो कुछ कहना था वह बहुत ही संक्षेपरूपमें और अत्यन्त समाहित होकर कहना पड़ा। इसलिये उपदेशकी बहुतसी बातें कदाचित् निरे शब्दोंके द्वारा नहीं अपितु चेष्टाओं, संकेतों अथवा अन्य किन्हीं साधनोंद्वारा भी समझायी गयी होंगी। वह उपदेश इसलिये दिया गया था कि अर्जुन खड़ा होकर तुरन्त घोर संग्राममें प्रवृत्त हो जाय। यही कारण है कि यद्यपि देखनेमें गीताकी रचना-शैली क्लिष्ट नहीं मालूम होती, फिर भी यह सबसे दुरूह ग्रन्थ है। ऐसी दशामें इस प्रकारकी मीमांसामें पड़ जाना, जो न तो साधन और दर्शनके द्वारा हृदयङ्गम किये हुए किसी सत्यके आधारपर हो और न जिसके पढ़नेसे

पढ़नेवालेकी तुरन्त ही कर्ममें प्रवृत्त होनेकी सम्भावना हो,— गीताके प्रति उद्धतपनका व्यवहार करना है । गीताका भाव इतना गूढ़ है और उसपर स्वयं श्रीकृष्णके व्यक्तित्व एवं साक्षात् सान्निध्यकी ऐसी छाप पड़ी हुई है कि उसका तात्पर्य तभी समझमें आ सकता है, जब स्वयं श्रीकृष्ण हृदयमें बोलने लगें ।

इसलिये एक वर्तमान जीवकी हैसियतसे मैं अपने कुछ अनुभवोंका उल्लेख करूंगा, जिन्हें मैं सारी मानवजातिकी सम्पत्ति समझता हूं । गीताका अनुशीलन करनेकी सबसे उत्तम रीति मुझे उस भक्तकी मालूम हुई जिसका श्रीगौराङ्गने उल्लेख किया है । मैंने उसका अध्ययन किया, किन्तु उसमें अधिक प्रवेश नहीं कर सका । इसलिये मैंने अपने मनमें यह ठान लिया कि मैं श्रीकृष्णके स्वरके साथ अपना स्वर इस प्रकार मिला दूं कि जिसमे वे स्वयं अपना अभिप्राय मेरे सामने प्रकट कर दें । श्रीमद्भागवत मुझे गीताकी सबसे जोशीली व्याख्या मालूम होती है । उसके पढ़नेसे मेरे चित्तमें भगवान् श्रीकृष्णसे मिलनेकी और उनका प्यारा बनने तथा उन्हें अपना वल्लभ बनानेकी उत्कट अभिलाषा एवं उत्कण्ठा उत्पन्न करनेमें बहुत कुछ सहायता अवश्य मिली । उसके पढ़नेका फल यह हुआ कि मैं भगवान्के लिये रोने और आंसू बहाने लगा । जब जब मुझे आवश्यकता होती थी, श्रीमद्भागवतके श्लोक सुमधुर ध्वनिके साथ अपने आप ही मेरे चित्तमें आ जाते थे और एक कभी न चूकनेवाले मित्रकी भांति मानों पद पदपर मुझे पथ प्रदर्शित करते थे । गीता और भागवतसे मेरी किस प्रकार उन्नति हुई, इस बातको बतलानेके लिये मैं निम्नलिखित श्लोक, जिसका मेरे चित्तपर सबसे पहले असर पड़ा है और जिसके द्वारा मैं अपने आचरणको सांचेमें ढाल सका, उदाहरणरूपमें उद्धृत करता हूं:—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
(गीता ३ । १०)

'ईश्वरने जब अपनी सन्तान पैदा की, तब उनके साथ ही उत्सर्ग एवं सेवाका भाव भी उत्पन्न किया और उनसे कहा, इस उत्सर्गके भावकी पुष्टिके द्वारा फलो और फूलो । इसीसे तुम्हें वाञ्छित फलकी प्राप्ति होगी ।' जिस समय श्रीकृष्ण उन यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंकी परीक्षा लेने जा रहे थे, उस समय उन्होंने गोपालोंको जो उपदेश दिया वह मुझे इस श्लोकमें आये हुए 'यज्ञ' शब्दके अर्थ और उसके द्वारा फलने फूलनेकी विधि उन्हींके द्वारा की हुई व्याख्या प्रतीत हुई । यमुनाके तटपर खड़े हुए ऊंचे वृक्षोंकी ओर सङ्केत करके भगवान् कहने लगे:—

पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीविनः ।
वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥
एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु ।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा ॥

'इन श्रेष्ठ जीवोंकी ओर देखो, जिनके जीवनका एकमात्र उद्देश्य दूसरोंकी सेवा करना है । ये स्वयं हवाके झकोरों और धूप, वर्षा एवं पालेकी मार सहते हैं, किन्तु हम लोगोंकी इन सबसे रक्षा करते हैं । जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि, सारे प्राणी दूसरे प्राणियोंके हितके लिये निरन्तर अपनी जीवन-शक्ति, अपनी सम्पत्ति, अपनी बुद्धि और अपनी वाणीका उपयोग करें ।' इस उपदेशका पहला असर जो मुझपर हुआ वह यह था कि जो कुछ मैंने प्राप्त किया था, उसकेद्वारा मैंने अपने निकट सम्बन्धियोंको अर्थात् अपनी अपनी पत्नी और बहनोंको भी लाभ पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया । शुरूमें मुझे ऐसा करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा, किन्तु मैंने हिम्मत नहीं छोड़ी; मैंने उनसे बारम्बार अनुनय-विनय की और पीछे पैर नहीं दिया। अन्तमें भगवान्ने कृपा की और मेरी धर्म-पत्नीकी चित्तवृत्ति इस ओर झुकी । फिर मेरी बहनें भी, जो मुझसे अलग रहती थीं, मेरे इस कार्यमें शामिल हो गयीं । इन्होंने अन्य स्त्रियों और लड़कियोंको भी जीवनके इस भागवतानुमोदित मार्गकी ओर आकर्षित किया । इस प्रकार मैंने यज्ञका जो पहला अनुष्ठान किया उसमें मुझे आशातीत सफलता प्राप्त हुई । पहले तो मेरा यह विचार था कि मैं अपनी स्त्री और बच्चेके निर्वाहका प्रबन्ध कर शीघ्र ही संन्यास ग्रहण करूं, किन्तु जब मैंने अपने घरके लोगोंको स्वतन्त्र जीव समझकर जो कुछ भी मैंने सत्यकी खोज करके प्राप्त किया था, उसे उन्हें खुले हाथों वितरण करना प्रारम्भ किया, तो वे शीघ्र ही अपने जीवनको उच्च साधन और सेवाका उपकरण बनानेके प्रयत्नमें मेरे शामिल हो गये, फिर मेरे लिये संन्यासके द्वारा मुक्तिका साधन ढूँढनेकी आवश्यकता नहीं रही । हम सारेके सारे काम करने, आगे बढ़ने और सेवा करनेके लिये उत्सुक थे । इस प्रकार अपने थोड़े

ही दिनोंके अनुभवमें मुझे यह मालूम हो गया कि यज्ञसे मेरे सारे मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं। अब हम लोग सेवाके अधिकाधिक अवसर प्राप्त करनेके लिये व्याकुल रहते हैं और जब जब और जितनी हमारी योग्यता होती है उसके अनुसार भगवान् हमारे लिये सेवाके अवसर भेजते रहते हैं।

मेरी शेष कथा यह है कि गीता और भागवतने शीघ्र ही मेरे अन्दर सत्सङ्ग और साधुसेवाकी उत्कट इच्छा उत्पन्न कर दी तथा उनसे न केवल मुझे बहुत कुछ शिक्षा ही मिली अपितु यह उन्हींका प्रभाव था जो मेरी इच्छा न होनेपर भी मैं दौड़ा दौड़ा एक महात्माके पास गया। मैंने उनसे श्रीमद्भागवतकी चर्चा की और उन्होंने मुझे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें बहुतसी बातें कहीं। यही नहीं, उन्होंने मुझे इस मार्गपर और भी अग्रसर किया। तब मुझे प्रस्थान-त्रय पढ़नेकी इच्छा हुई, जिनकी व्याख्या वे कई लोगोंको सुनाया करते थे। परन्तु उन्होंने कहा कि "अब तुमने भगवान् कृष्ण और श्रीमद्भागवतका ही आश्रय ले लिया है और जब शृङ्गगिरि-मठके स्वामीजी महाराजने, जो भगवान् शङ्कराचार्यके ही स्वरूप हैं, एक बार जब तुम रोते और बिलखते थे, तुम्हें स्वप्नमें दर्शन देकर तुम्हारे हाथोंमें श्रीमद्भागवतकी पुस्तक पकड़ा दी थी और कहा था 'यही तुम्हें श्रीकृष्णसे मिला देगी।' तब तुम्हारे लिये उन्हींके आदेशका पालन करना उचित एवं पर्याप्त होगा।" फिर भी उन्होंने इतना अवश्य कहा कि यदि तुम्हें अधिक चाह है तो मैं तुम्हें किसी शुभ मुहूर्तमें केवल गीताभाष्यकी आद्यन्त शान्तिका उपदेश दूंगा और फिर जब तुम्हें आवश्यकता होगी तभी तुम्हारे हृदयमें गीताके ज्ञानकी,—जो तुम्हें अभीष्ट है,—अपने आप स्फूर्ति हो जायगी। तदनुसार उन्होंने एक दिन शुभ मुहूर्तमें आद्यन्त शान्ति-पाठ किया। उस दिनसे कभी कभी मेरे अन्दर गीताका परिशीलन करनेकी इच्छा उत्पन्न हो जाया करती है, खास खास श्लोक मेरे चित्तपर अटक जाते हैं और मेरे हृदयमें बारबार चक्कर लगाते हैं। श्रीमद्भागवतके केवल भक्ति-विषयक श्लोक मेरे मनमें सदा गूंजते रहते हैं, किन्तु गीताके जिन श्लोकोंमें भक्तिका माहात्म्य बतलाया गया है और उसीका उपदेश दिया गया है वे मुझे स्मरण नहीं आते, अपितु जिनमें स्थितप्रज्ञके लक्षण कहे गये हैं, वे मेरे चित्तमें बारम्बार भ्रमते रहते हैं। मेरी समझमें नहीं आता कि ऐसा क्यों होता है, किन्तु मैं इस बातको जाननेकी चेष्टा भी नहीं करता। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि श्रीकृष्ण मुझसे बातें करते हुए मेरे आगे आगे चल रहे हैं किन्तु मेरी यह पूछनेकी इच्छा नहीं होती कि वे मुझे क्या दे रहे हैं? मेरी यह धारणा है कि समय आनेपर ये सब बातें अपने आप मुझपर प्रकट हो जायंगी। किसी दिन जब अर्जुनकी भांति मेरे पास भी भगवान् खड़े होकर शब्दोंके अतिरिक्त अपने कटाक्षों, वात्सल्य, सान्निध्य और सबसे अधिक ज्ञानदीक्षा देनेकी इच्छाके द्वारा मुझे समझावेंगे, उस दिन, मुझे आशा है कि मैं गीताके आनन्दका अनुभव कर सकूंगा। तब मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार श्रीगौराङ्गने अपने आचरण एवं कर्मके द्वारा उपदेश दिया था उसी प्रकार मैं भी दे सकूंगा और इस प्रकार भगवान्की सेवा करनेका आनन्द प्राप्त करनेमें समर्थ होऊंगा।

गीतामें दिव्य-भोगकी शिक्षा

(लेखक-पं० जगन्नाथप्रसादजी मिश्र, बी०ए०,बी०एल०)

वेदसे ही नाना शास्त्रों एवं मतमतान्तरोंकी उत्पत्ति हुई है। देश, काल, एवं अधिकारी भेदके अनुसार वेदने भी विभिन्न धर्म-साधनाकी व्यवस्था दी है। युग-भेदके अनुसार धर्मके स्वरूप भी भिन्न भिन्न होते रहे हैं। वैदिक युगमें याग-यज्ञ आदि अनुष्ठानोंद्वारा तथा नाना प्रकारके मन्त्रों एवं विधिविधानोंके अनुसार होम, बलिदान, नैवेद्य, पूजार्चना आदिकी व्यवस्थाद्वारा देवताओंका आवाहन करते हुए उनसे वर-प्रार्थनाके रूपमें 'धनं देहि, पुत्रं देहि यशो देहि' आदि काम्य वस्तुएं मांगी जाती थीं। वैदिक युगके बाद उपनिषद्-कालमें वेदके दो अंग कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्डके बीच परस्पर विरोध परिलक्षित होने लगा। सविधि यज्ञ-यागादि एवं स्तव-स्तोत्र पूजार्चनाद्वारा देवताओंको तुष्ट करके उनसे सांसारिक भोग्य वस्तुओंकी याचना करना

हेय समझा जाने लगा। यह संसार दुःखमय है। इस संसारमें जो सुख देख पड़ता है वह दुःखका ही नामान्तर है। सांसारिक भोग, सुख-ऐश्वर्य आदि जो हमें देख पड़ते हैं वे हमारे दुःख और बन्धनके कारण हैं एवं इनसे हमारे दुःखकी तीव्रता और भी बढ़ जाती है। इस संसारमें रहकर दुःखसे सर्वथा मुक्त होना संभव नहीं है। अतएव इन समस्त क्षणभंगुर सांसारिक भोग-सुखोंका प्रत्याख्यान करके, कर्म-कोलाहलमय संसारसे बिल्कुल पृथक् रहकर ज्ञानकी चर्चा करना, परब्रह्मकी जिज्ञासा करना और अन्तमें उस परब्रह्म सच्चिदानन्दमें लीन हो जाना ही मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य है, परम पुरुषार्थ है। इस प्रकारकी शिक्षाका उपनिषद्-ग्रन्थों एवं दर्शन शास्त्रोंद्वारा प्रचार होने लगा। मनुष्यके हृदयमें जबतक वासना बनी रहेगी, उसका 'अहं' भाव जबतक वर्तमान रहेगा तबतक वह संसार-बन्धनका विच्छेद नहीं कर सकता। अतएव जिस ज्ञानद्वारा मनुष्य वासना एवं कामनासे अपना पिण्ड छुड़ानेमें समर्थ हो, जिसके द्वारा उसकी अहंकार-ग्रन्थिका उन्मोचन हो और जिसके प्रभावसे वह सांसारिक जीवनसे उच्चतर स्थितिमें पहुँचकर अनन्त शान्ति एवं सच्चिदानन्दके आश्रयमें वास करनेमें समर्थ हो, उस ज्ञानकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये।

किन्तु इस ज्ञानकी प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? संसार-प्रवृत्ति, कर्म-प्रवणता एवं सुखैषणाद्वारा नहीं प्रत्युत संसार-विमुखता, कर्म-विमुखता एवं त्याग-परायणताद्वारा। ज्ञान-प्राप्तिका यही मार्ग दार्शनिकोंने सांख्य, पातञ्जल, वेदान्त आदि दर्शनशास्त्रोंमें बतलाया, बौद्ध और जैन पण्डितोंने भी संसारमुक्ति, ब्रह्मलाभ, निर्वाण, कैवल्य आदि शब्दोंद्वारा इसी प्रकारकी शिक्षा दी। मूलतः इस प्रकारकी शिक्षाका सार यही है कि संसारको नाश करके सांसारिक दुःखोंका नाश किया जाय।

भारतके व्यावहारिक जीवनमें इस आध्यात्मिक शिक्षाका कितना महान् प्रभाव पड़ा, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं। भारतकी आध्यात्मिक साधनाका परम विकास इसी समयसे प्रारम्भ हुआ और इसके साथ साथ भारतमें एक नये युगका परिवर्तन हुआ। भारतवासियोंकी स्वाभाविक आध्यात्मिक मनोवृत्ति एवं उनका असीम आत्म-संयम तथा उत्कृष्ट आत्मज्ञान उन्हें सांसारिक बन्धनोंसे विरक्त करके उनके हृदयमें ब्रह्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मज्ञानकी प्रवृत्ति उत्पन्न करने लगा और इस प्रकार वे क्रमशः विषयानन्दकी ओरसे मुड़कर ब्रह्मानन्दके गंभीर-सागरमें गोता लगाने लगे। इस ब्रह्मज्ञानका एकबार सन्धान पाकर, इस आनन्दरूपी अमृत-रसका एकबार रसास्वादन कर तथा इस ब्रह्मानन्दरूपी सरितामें एक बार अवगाहनकर फिर उनके लिये इसका परित्याग करना सर्वथा असम्भव हो गया। इस सुखके आगे उनके लिये संसारमें और कोई सुख वाञ्छनीय नहीं रहा। इस परम पुरुषार्थकी तुलनामें अन्य पुरुषार्थ अथवा भोग्य वस्तुको वे उपेक्षाकी दृष्टिसे देखने लगे। उन्हें सांसारिक सुख-ऐश्वर्य अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते थे। वे सर्वथा वीतराग, निस्पृह एवं अहंभाव-शून्य विदेह बन गये और समस्त संसारको लीलामयकी लीला, मायाका आवरण एवं अज्ञानजनित मिथ्या भ्रम समझकर उससे पृथक् रहने लगे।

किन्तु इस प्रकारकी शिक्षाका देशके जातीय-जीवन पर केवल अच्छा ही प्रभाव पड़ा, सो बात नहीं है। इस कल्याणकारी प्रभावके साथ साथ इसका हानिकर प्रभाव भी पड़े बिना नहीं रहा। अध्यात्मवादकी इस शिक्षासे भारतीय जीवनका अधःपतन भी आरम्भ हुआ। ब्रह्मज्ञान, मोक्ष एवं ब्रह्मानन्दकी चर्चा तो खूब होने लगी, बड़े बड़े ऋषि महात्मा, त्यागी साधुजन इसकी साधनामें अपने जीवनको संलग्न करने लगे, किन्तु इस परम पुरुषार्थरूपी तत्त्वको समझनेवाले और हृदयङ्गम करनेवाले आत्मजिज्ञासु व्यक्ति उस समय भी बहुत थोड़े थे। कुछ थोड़ेसे असाधारण शक्तिसम्पन्न महात्माओंके सिवा शेष सर्वसाधारणके लिये यह सम्भव नहीं था कि वे सांसारिक भोगोंसे एकदम मनसा, वाचा, कर्मणा विरक्त रहकर ब्रह्मकी जिज्ञासामें अपनी समस्त मनोवृत्तियोंको केन्द्रीभूत कर दें। ऐसे लोगोंके लिये कर्मत्याग तथा भोग एवं ऐश्वर्य-त्यागकी शिक्षाका परिणाम देशके लिये महान् अनर्थमूलक सिद्ध हुआ। शुद्ध सात्त्विक त्यागकी भावनाका इनमें सर्वथा अभाव था, विषयोंकी ओर इनकी प्रवृत्ति बनी हुई थी, इनके अन्तस्तलमें भोग एवं सुखकी वासना वर्तमान थी, फिर भी इन्होंने बाह्य आडम्बर एवं प्रदर्शनके लिये इन्द्रिय-वृत्तियोंको बलपूर्वक दबा, आलस्य एवं प्रमादके वशीभूत होकर 'कायक्लेशभयात्' संसारको, कर्मको तथा भोगसुखको त्याज्य समझकर उससे दूर भागनेकी चेष्टा आरम्भ की। किन्तु इस प्रकार संसारसे भागनेकी चेष्टा करनेपर भी इनके हृदयसे कामनाका लोप नहीं हुआ, इनकी मनोवृत्तियां विषयोंकी ओर परिधावित होती थीं और इनका अन्तःकरण भीतर

ही भीतर बराबर विषयोंका चिन्तन किया करता था। त्यागके इस तामसिक भावसे प्रेरित होकर देशमें मिथ्या त्याग एवं कर्म-विमुखताका जो प्रवाह प्रवाहित हुआ, उससे हमारा जातीय जीवन बड़ा ही कलुषित बन गया और समाजमें पाखण्डियों तथा ढोंगियोंकी संख्या क्रमशः बढ़ने लगी। हमारे जातीय जीवनके इस अधःपतन एवं विपर्ययको देखकर ही भगवान् श्रीकृष्णने गीताकी परम कल्याणमयी-अमृतमयी शिक्षाका अपनी इस लीलाभूमिमें प्रचार करना आरम्भ किया। भगवान्की यह शिक्षा कर्मयोगकी शिक्षा है, जो गीताद्वारा प्रतिपादित की गयी है। कर्मयोगकी यह शिक्षा पृथ्वी-को भोग करने 'जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्' की शिक्षा है। इस कर्मयोगकी शिक्षाद्वारा भगवान् श्रीकृष्णने हमें यह बतलाया है कि हम एक क्षण भी कर्म किये बिना रह नहीं सकते, प्रकृति सबसे कर्म कराती है। यदि हम हठपूर्वक कर्मेन्द्रियोंको दबाकर मनमें उनके विषयोंका चिन्तन करते रहेंगे तो यह हमारा दम्भके सिवा और कुछ नहीं होगा। बिना कर्म किये तो हमारे शरीरकी रक्षा भी नहीं हो सकती। गीताके निम्नलिखित श्लोकोंमें भगवान्ने यही उपदेश दिया है:-

'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥'

(गी० ३। ५, ६, ८)

इसके बाद भगवान्ने अर्जुनसे कहा है :—

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥' (३। १७

'जो मनुष्य आत्मामें ही रम गया है, आत्मसुखसे ही तृप्त हो गया है, आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।' किन्तु इस कोटिके ब्रह्मज्ञानी बहुत थोड़े होते हैं। अर्जुन भी नहीं थे। इसलिये उनको भगवान्ने यही उपदेश दिया है कि—

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥' (३। १९)

'जो कर्म करो उसमें आसक्त मत हो, निष्काम भावसे कर्म करनेवाला मनुष्य उत्तम पद पाता है।'

इसके सिवा कर्म करनेका एक और कारण है। 'लोक-संग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि' अर्थात् लोकसंग्रहके लिये,- अज्ञानी लोग अपने अपने कर्तव्य कर्म करें, उच्छृङ्खल न हो जायँ, इस हेतुसे भी कर्म करना चाहिये।' इसके अनन्तर भगवान् स्वयं अपना दृष्टान्त देते हुए अर्जुनसे कहते हैं :—

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥' (३।२२)

'हे अर्जुन! मुझे तो तीनों लोकोंमें कोई कर्तव्य ही नहीं है, और न कोई ऐसी वस्तु ही है जो मुझे न मिली हो, फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ।' क्यों? इसलिये कि—

'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥' (३।२३)

'यदि आलस्य त्यागकर मैं ही कर्म न करूँगा, तो हे पार्थ! मनुष्य भी सब प्रकारसे मेरा ही अनुसरण करेंगे।' इसके बाद गीताके अष्टादश अध्यायमें त्यागका भेद बतलाते हुए भगवान्ने कहा है कि कर्तव्य-कर्मका त्याग तो किसी हालतमें भी नहीं करना चाहिये। इसप्रकारका त्याग तामसिक त्याग है। यथा—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥' (१८। ७)

इसी प्रकार जो कष्ट समझकर शरीर-कष्ट भयसे कर्मका त्याग करते हैं वे भी शुद्ध त्यागी नहीं बल्कि राजसिक त्यागी हैं।

'दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥' (१८।८)

'कर्मको केवल दुःख देनेवाला समझकर शरीर-क्लेशके भयसे उसका जो त्याग किया जाता है वह राजस त्याग कहलाता है, इससे त्यागका फल नहीं मिलता।'

अतएव भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशानुसार सर्वोत्तम कर्मयोग तो यही है कि कर्ममें सर्वथा अनासक्त होकर निष्काम-बुद्धिसे फलाफलकी चिन्ता किये बिना कर्म करता चला जाय और उसका शुभाशुभ फल बिल्कुल भगवान्के ऊपर छोड़ दे। बस, यही शुद्ध सात्त्विक त्याग है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ (१८।९

इस प्रकार गीतामें कर्मफल-त्यागके सिद्धान्तका बड़े सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन किया गया है और भगवान्‌के कथनानुसार 'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते' अर्थात् कर्मफलका त्याग करनेवाला ही सच्चा त्यागी है। यह वाक्य त्यागकी कसौटीके रूपमें कहा गया है।

गीताकी इस परम कल्याणमयी शिक्षाको भारतवासी स्थायीरूपमें ग्रहण नहीं कर सके। बौद्धमतके प्रभावसे तथा स्वामी श्रीशङ्कराचार्यके मायावाद एवं 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' 'अर्थमनर्थं भावयनित्यम्' आदि सिद्धान्तोंके प्रचारके फल-स्वरूप भारतवासियोंमें राजसिक एवं तामसिक त्यागकी भावना ही दिनोंदिन प्रबल होती गयी और वे गीतोक्त सात्त्विक त्यागकी शिक्षासे दूर हटते गये। मिथ्या मोह एवं तामसिक त्यागके वशीभूत होकर भारत आलस्य एवं प्रमाद-का आश्रयस्थल बन गया और भारतवासी शक्तिहीन एवं ऐश्वर्यहीन होते हुए विदेशियोंके अधीन हो गये और अपना सर्वस्व खो बैठे।

यह संसार जो हमें दुःखमय प्रतीत हो रहा है, वास्तव-में दुःखमय नहीं है। इसका यह स्वरूप तो बाह्य है। इसके अन्तरतममें भगवान्‌की जो आनन्द-लीला चल रही है, उसी लीलाके आधारपर ही जगत्‌का समस्त व्यापार चल रहा है। इस आनन्दके अनुसन्धानके लिये हमें अपने पूर्वज ऋषियों-मुनियोंद्वारा प्रवर्तित मार्गका अनुसरण करना होगा। वह मार्ग यह है कि, हमें इस मानव-जीवन-को दिव्य-जीवनमें परिणत करना होगा। हमें उस विश्व-म्भरकी आनन्दमयी लीलाके आधारपर ही अपने जीवनका निर्माण करना होगा। भगवान्‌की इस लीलाका रसानुभव, संसारमें रहते हुए ही भागवत-लीलाका सम्पूर्णरूपेण साथी बनकर अपने अन्तस्तलमें अन्तर्हित भगवान्‌की सत्ताको कर्ममय जीवनके द्वारा प्रकाशित करके, करना होगा।

संसारसे भागकर—इस कर्ममय जगत्‌से पृथक् रहकर हम इस निगूढ़तम आनन्दका, जगत्-पतिकी आनन्दलीलाका रसास्वादन नहीं कर सकते। इसके लिये तो हमें संसारमें रहकर सृष्टिके अणु अणुमें भगवत-सत्ताका अनुभव करना होगा और इस अनुभवको प्राप्त कर लेने पर ही हम सच्चिदानन्दरूपी परब्रह्मको प्राप्त कर सकेंगे। इसके लिये मनुष्य-जीवनको दिव्य-जीवनका रूप देना होगा। और यह तभी हो सकता है जब हम पाशविक प्रवृत्तिके वश न होकर उसके ऊपर नियन्त्रण रखनेमें समर्थ हों। हमें असुरोंके समान नहीं, प्रत्युत देवताओंके समान भोग करना होगा और इस दिव्य भोगके आदर्शपर ही अपने जीवनको संचालित करना होगा। पाश्चात्य संसार आज जिस भोगके अनुसन्धानमें दौड़ रहा है वह तो आसुरी भोग है, उस दुर्दमनीय भोग-लालसाकी तो कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती। इन्द्रियोंके इस पाशविक भोगका कभी अन्त नहीं होता और न इससे जीवनका पूर्ण विकास ही हो सकता है। इस प्रकारके उत्कट उद्दाम इन्द्रिय-भोग-का परिणाम तो अत्याचार, अनाचार, परस्वापहरण एवं व्यभिचारके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता, जिसका नग्न-नृत्य हम आज अपनी आँखोंके सामने पाश्चात्य जगत्‌में देख रहे हैं।

अतएव भारतवासियोंको पाश्चात्य संसारके इस सर्व-संहारक इन्द्रिय-भोगका अनुसरण न करके अपने पूर्वजों द्वारा प्रतिपादित दिव्य-भोगकी शिक्षाका अनुगमन करना होगा और इस दिव्य-भोगके आदर्शपर ही जीवनको सङ्ग-ठित एवं संचालित करना होगा। दिव्य-भोगकी यह शिक्षा हमें 'गीता' से बढ़कर और कहीं नहीं मिल सकती। भग-वान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे कथित इस दिव्य-भोगकी अमृत-मयी शिक्षाको यदि हम भारतवासी अपने जीवनमें चरि-तार्थ करें तो निश्चय है कि हमें इस संसारमें ही स्वर्ग-सुख-का अनुभव होता रहेगा और क्रमशः हम भगवान्‌के समीप पहुँचते जायँगे। क्योंकि हमारे सामने तो भगवान्‌का यह आश्वासन-वाक्य है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'

गीता साधारण संगीत नहीं है।

मानसिक विकासके निमित्त गीताका अध्ययन कर रुक जाना ठीक नहीं है अपितु उसके सिद्धान्तोंको कुछ अंश तक कार्यरूपमें परिणत करना आवश्यक है। गीता कोई साधारण संगीत अथवा ग्रन्थ नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णने इसका उपदेश उस समय दिया था जिस समय उनका आत्मा अत्यन्त प्रबुद्ध था।

—डाक्टर बीसेन्ट

गीता-गौरव-गान

(ले०—श्रीहरिशरणजी श्रीवास्तव्य 'मराल' बी० ए०, एल एल० बी०)

(१)

कुरुक्षेत्र रण-क्षेत्र ! समरकी भेरी भमकी ,
हुआ दुन्दुभी-नाद, खड्ग वीरोंकी चमकी।
नरसिंहे बहु-वाद्य, शङ्ख नाना बजते थे ,
विविध भांतिके साज, सुभट रणके सजते थे ॥
उसी समय कुल-नाशके, भयसे धनुको छोड़कर ।
रथमें अर्जुन युद्धसे, बैठ गया मुंह मोड़कर ॥

(२)

योगिराजने तभी, बहाई अमृत-धारा ,
कायरता कर नष्ट, सभी संशय संहारा।
'अविनाशी है नित्य आत्मा,' बोले भगवन् ,
'तू क्या करता सोच, न होता उसका खण्डन॥'
जीना मरना धर्म है, केवल नश्वर देहका।
जिसका निश्चय नाश फिर, क्या करना संदेहका ॥

(३)

नहीं अमर ये लोग, मरें यदि तेरे मारे ,
तो क्या इसमें दोष ? धर्म तू अपना धारे।
निश्चयात्मिका बुद्धि बना, कर्म गय कहाना ,
क्षात्र-धर्मको छोड़, न अपना नाम डुबाना ॥
मरने पर अपवर्ग सुख, नहीं मरा तो राज्य है।
असमयकी यह भीरुता, अर्जुन ! तुझको त्याज्य है ॥

(४)

इच्छाओंको छोड़, कर्म निष्काम किये जा ,
करनी धरनी सभी, ईशको भेंट दिये जा।
भक्ति-भाव उर धार, वही कल्याण करेंगे ,
आत्म-तुष्टिको देख, व्यर्थका मोह हरेंगे ॥
कर्त्ता तो कोई नहीं, तू किसको है मारता ?
प्रकृति-गुणोंका योग यह, अहङ्कार क्यों धारता ?

(५)

नहीं कर्म बिन किये कर्मका बन्धन कटता ,
प्रकृति कराती कर्म, कोई इससे कब हटता ?
यही कर्मका त्याग, कर्मके सङ्ग न जाना ,
फलकी इच्छा छोड़, सदा कर्त्तव्य निभाना ॥
पद्म-पत्र, जल-बिन्दु सी, सङ्कृति आठों याम है।
कर्मोंमें फँसता नहीं, जगमें जो निष्काम है ॥

(६)

अमर-ज्योति-सन्देश, सुना जब योगेश्वर से ,
रही न ममता लेश, कहा जनने नटवर से :-
शिष्य तुम्हारा, नाथ ! शरणमें तेरी आया ,
मिटा सभी भ्रम-फन्द, सत्यका रूप सुझाया ॥
कृत-निश्चय संग्राम-हित, मैं होता हूं अग्रसर।
धर्म-युद्धसे पग हटे, अब मरकर या मारकर ॥

(७)

जिसका सुन उपदेश, सजग सोते होते हैं ,
खोते सारा क्लेश, मोहसे जो रोते हैं।
क्षुब्ध हृदयके द्वार, खोलकर शान्ति दिलावे ,
ज्ञान-पिपासा देख, ज्ञानकी सुधा पिलावे ॥
सञ्जीवन-बूटी सरिस, गुण-गौरवकी खान है।
पड़ती गीता-ज्ञानसे, निर्जीवोंमें जान है ॥

(८)

जीवनका आदर्श दिखाती भगवद्गीता ,
कर्मयोग-उत्कर्ष सिखाती भगवद्गीता।
अमर-तत्त्वका भेद बताती भगवद्गीता ,
दुर्बल मनका खेद हटाती भगवद्गीता ॥
धर्म-युद्धका हो रहा, गीतामें जय-घोष है।
शूर करे कर्त्तव्यको, फल कुछ हो, निर्दोष है ॥

गीता अमूल्य है

मैं गीताको इस कारण अमूल्य मानता हूं कि इस पवित्र ग्रन्थमें हिन्दू दर्शन-शास्त्र एवं ज्ञानके वे उच्चतम आदर्श निहित हैं जो हमें जीवनकी सर्वोत्कृष्ट कोटिके विचार एवं कर्मकी ओर अग्रसर करते हैं।

—महाराजा मैसूर

भगवद्गीताके कुछ सिद्धान्त

(लेखक-स्वामी श्रीभोलेबाबाजी)

(१)

इष्टदेवी माता गीता

शुद्धां सनातनीमम्बां शोकमोहविनाशिनीम्।
कृष्णस्वरूपिणीं गीतामिष्टदेवीं भजाम्यहम्॥

एक मुमुक्षु और एक सन्तमें एक दिन यह बातचीत हुई:-

मुमुक्षु:-महाराज! मैंने अंग्रेजी और संस्कृत साथ साथ पढ़ी है, दोनों भाषाएं अच्छी तरह समझ सकता हूं। पाश्चात्य विद्वानोंने भगवद्गीताकी बहुत प्रशंसा की है। ऐसा देखकर मुझे उसके पढ़नेकी उत्कट इच्छा हुई। मैंने आदिसे अन्ततक भगवद्गीताका कई बार पाठ किया है और करता भी रहता हूं। पुस्तक बहुत ही उत्तम है और समस्त दर्शनशास्त्रोंका सार है, बारबार पढ़नेसे भी रुचि नहीं हटती, ज्यों ज्यों पढ़ता हूं, नया नया अर्थ प्रकाशित होता है परन्तु बहुतसी टीकाएं देखकर तबियत उलझती हैं और बहुत शंकाएं उठती हैं। महाराज! बालक-बुद्धिसे पूछता हूं, क्या आपने गीता पढ़ी है और क्या आप मेरी शङ्काओंका समाधान कृपया कर देंगे?

सन्त प्रसन्न होते हुए बोले:

इष्टदेवी गीता

सन्त:-बच्चा! गीता मैंने पढ़ी ही नहीं है। गीता तो मेरी इष्टदेवी है! गीता मेरी छठीमें पूजी गयी है! जन्मसे मेरे माता-पिताने मुझे गीताका ही अभ्यास कराया है, गुरुने उसका ध्यान करना सिखाया है। भाई! मेरे तो माता, पिता, गुरु, इष्टदेव, भाई, बन्धु जो कुछ है, सो गीता ही है। जैसे मारुतिजीके सब कुछ धनुषधारी श्रीरघुनाथजी हैं, इसी प्रकार मेरा सर्वस्व गीता भगवती ही है। मैं गीताके सिवा और कुछ जानता ही नहीं। भाई! मेरा वृत्तान्त तो इस कुण्डलियाके अनुसार है:-

कु०-गीताका नित पाठकर, गीताका धर ध्यान।
गीता गीता नाम रट, गीता भगवत ज्ञान॥
गीता भगवत ज्ञान, ज्ञान विज्ञान यही है।
भगवद्गीता एक, भेदकी गन्ध नहीं है॥
मरता रहता अज्ञ, तत्त्वदर्शी ही जीता।
भोला! देख अभेद, पाठ कर भगवद्गीता॥

मुमुक्षु:-महाराज! क्या आपने भगवद्गीता ही पढ़ी है या कुछ और भी पढ़ा है?

सन्त:-बच्चा! ऊपर यही तो कहा है, मैंने गीता ही पढ़ी है, और कुछ नहीं पढ़ा! क्या तूने नहीं सुना है?—'एकहि साधे सब सधै, सब साधे सब जाय' पूरेका पासँग ही बहुत होता है। पाश्चात्य कहावत भी तो यही है 'Master of one is far better than jack of many' बच्चा! गीता पढ़ लेनेके बाद कुछ पढ़ना पढ़ाना शेष रहता ही नहीं, फिर मैं क्या पढ़ता? तू जानता ही है कि गीतामें वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराणादि सब भरे हैं, गीतासे कोई विद्या बाहर नहीं है, गीता पढ़कर भी जिसको पढ़ना शेष रहे, उसने अभी गीताका तत्त्व ही नहीं जाना, ऐसा समझना चाहिये। भगवत्-तत्त्व बतलाना वेद-वेदान्तका तात्पर्य है। जो भगवत्-तत्त्व है वही गीताका तत्त्व है। वही तत्त्व भगवान्ने स्पष्ट करके गीतामें दिखलाया है। इस तत्त्वका जानना ही परम पुरुषार्थ है। गीता पढ़नेसे परम पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है फिर अन्य शास्त्रोंका पढ़ना पढ़ाना पिसे हुएको पीसना ही है।

मु:-महाराज! क्या भगवान्ने स्वयं गीता कही है? इसमें क्या प्रमाण है?

गीता स्वयं भगवान्ने कही है

संत:-बच्चा! यह शङ्का नास्तिकोंकी है! नास्तिकोंके संसर्गसे तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो रही है, तभी तू ऐसी भद्दी शङ्का करता है। गीतामें बारम्बार कहा है 'श्रीभगवान् बोले, श्रीभगवान् बोले' फिर भी तू शङ्का करता है कि क्या गीता भगवान्ने स्वयं कही है? बच्चा! मूर्खसे मूर्ख भी सफेदीपर स्याही करनेमें डरता है, झूठे स्टाम्पपर हस्ताक्षर नहीं करता, तो क्या व्यासजी यों ही लिख देते? क्या उन्हें कुछ लाभ था? बच्चा! भगवत् और भागवतोंके वाक्योंपर अश्रद्धा करना महापातक है। यह अश्रद्धा

ही नरकमें ले जानेवाली और अधोगति प्राप्त करानेवाली तथा सब अनर्थोंकी मूल है। मोहाग्रबुद्धिवाले मूढ़ पुरुषोंके सिवा पूर्वी, पश्चिमी किसी विद्वान्‌ने आजतक ऐसी शङ्का नहीं की। इसमें प्रथम तो सञ्जयका वचन ही प्रमाण है। गीताके अन्तमें 'साक्षात्कथयतः स्वयम्' यह सञ्जयका वाक्य है। वाराहपुराणमें विष्णु भगवान् पृथ्वीसे कहते हैंः-

'चिदानन्दघने कृष्णेनोक्तास्वमुखतोऽर्जुन।
वेदत्रयीपरानन्दा तत्त्वार्थज्ञानमञ्जसा॥'

चिदानन्दघन श्रीकृष्णके मुखसे अर्जुनके प्रति कही हुई यह वेदत्रयरूपी यानी कर्म, उपासना, ज्ञान-तीन काण्डमयी गीता परमानन्दरूप तत्त्वका साक्षात् ज्ञान प्रदान करती है। पृथ्वी भरके भूत और वर्तमान सब विद्वानोंको गीता मान्य है। पूर्वके छओं शास्त्रोंके कर्ता छओं ऋषियोंके सिद्धान्त भिन्न भिन्न हैं। परन्तु गीताको सब मानते हैं, गीताके प्रमाणसे सब अपने अपने मतको सिद्ध करते हैं। वेदके प्रचारक मुख्य पांच आचार्य हैं, उनमें कोई द्वैत मानते हैं, कोई विशुद्धाद्वैत, कोई विशिष्टाद्वैत, कोई द्वैताद्वैत और कोई अद्वैतके माननेवाले हैं, पर वे सभी गीताको मानते हैं और गीताका प्रमाण देकर अपने अपने मतकी पुष्टि करते हैं। सारांश यह है कि सब शास्त्रकारोंने गीताको प्रमाण माना है। इससे सिद्ध होता है कि गीता स्वयं भगवान्‌ने अपने मुखसे कही है, इसीलिये वेदोंके समान गीता सार्वभौम धर्मग्रन्थ है। गीता सर्वशास्त्रमयी है, इसलिये एक गीताके पढ़ लेनेसे ही सब शास्त्रोंका ज्ञान हो सकता है। जिस प्रकार श्रुति भगवती अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनोंकी हेतु है, इसी प्रकार गीता भी अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनोंकी सिद्धि करनेवाली है। विचारकर देखा जाय तो श्रुतिसे भी गीताकी श्रेष्ठता अधिक है, क्योंकि श्रुतिमें तो केवल तीन वर्णोंका ही अधिकार है परन्तु गीता तो गङ्गाजीके समान चारों वर्णोंका उद्धार करनेवाली है। श्रुतिकी भाषा प्राचीन और क्लिष्ट है, पर गीताकी भाषा सरल और सीधी है, थोड़ा पढ़ा हुआ भी इसे समझ सकता है, इसलिये भी गीताकी श्रेष्ठता है। भोग और मोक्ष दोनों ही पुरुषार्थ गीतासे सिद्ध हो सकते हैं, इसलिये सिद्धिकी इच्छावाले साधकको गीताके अध्ययनके सिवा अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं है। गीताका पूर्ण ज्ञाता हो जाना ही पर्याप्त है और यही परम पुरुषार्थ है। गीताके प्रेमी पाठकको भगवत्-तत्त्व हस्तामलकके समान प्रत्यक्ष हो जाता है, भगवत्-तत्त्व प्रत्यक्ष होनेके बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। क्योंकि ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सब भगवत्‌का ही पसारा है, भगवत्‌के ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है। कारणसे कार्य भिन्न नहीं होता, भगवत् सबके कारण हैं इसलिये उनके जाननेसे सब जाननेमें आ जाता है। जैसे मिट्टीके जाननेसे मिट्टीके कार्य घट आदि जान लिये जाते हैं इसी प्रकार भगवत्-तत्त्वके जाननेसे नाम, रूप, और क्रियारूपी जगत् जान लिया जाता है। बच्चा! मैंने तो केवल गीता ही पढ़ी है और गीताकी ही आराधना की है।

मुमुक्षुः-महाराज! गीता सर्वशास्त्रमयी है, सार्वभौम धर्म-ग्रन्थ है, यह बात तो समझमें आती है और गीता पढ़ लेना ही पर्याप्त है, यह बात भी कुछ कुछ समझमें बैठती है परन्तु गीता आपकी इष्टदेवी है, यह बात समझमें नहीं आती! अठारह अध्यायरूप वाक्य जड़ होनेसे इष्टदेव अथवा इष्टदेवी नहीं हो सकते! गीता शब्द भी जड़ होनेसे इष्टदेव नहीं हो सकता! इष्टदेव तो चेतन ही होता है क्योंकि चेतन ही फल देनेमें समर्थ है। चेतनको पूजनेसे ही चेतन फल देगा, अचेतनको पूजनेसे तो चेतन फल दे नहीं सकता! फिर भगवद्गीता आपकी इष्टदेवी किस प्रकार है? यदि गीता आपकी इष्टदेवी है, तब तो काशीका प्रत्येक कङ्कर भी शङ्कर है, यही बात सिद्ध हो जायगी!

संतः-(हँसते हुए) बच्चा! यह नियम नहीं है कि चेतनको पूजनेसे ही चेतन फल देता हो। नियम यह है कि चेतन-अचेतन किसीको भी पूजो, फल चेतन ही देता है! नाई सबेरे उस्तरा पूजता है, वैश्य दुकान खोलते ही गद्दीको पूजता है, उस्तरा और गद्दी जड़ ही हैं, फिर भी भाव और ज्ञानके अनुसार चेतन ईश्वर फल देता है। विचार कर देखा जाय तो चेतन ही पूजा जाता है, और चेतन ही फल देता है। क्योंकि भगवान्‌का वचन है कि 'मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता और फलदाता हूं' वाक्यरूप अठारह अध्याय जड़ होनेपर भी उनमें प्रतिपादन किया हुआ तत्त्व जड़ नहीं है, वह चेतन है। गीता शब्द जड़ होनेपर भी गीता-पदका वाच्य तत्त्व जड़ नहीं है, चेतन है। वही चेतन यानी चिति शक्ति मेरी इष्टदेवी है और वही अपने उपासकोंको फल देती है। इसी प्रकार काशीका प्रत्येक कङ्कर भी साक्षात् शङ्कर ही है, परन्तु जिनकी आँखें नाम, रूप और क्रियारूप मायासे ढकी हुई हैं, उनको शङ्कर दर्शन नहीं देते, उन्हें तो सब कङ्कर ही दिखायी देते हैं! बच्चा! यह बात जल्दी समझमें नहीं आ सकती, जब बहुत दिनों तक

गीताका विचार करेगा और निरन्तर दीर्घ काल तक आदर-पूर्वक सत्सङ्ग करेगा, तब परमार्थ तत्त्व जाननेमें आवेगा ! गीता-तत्त्वके जाननेवालोंने गीताका ध्यान इस प्रकार बताया है:—

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं,
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥

इसी प्रकार गीताप्रेमियोंको भगवती गीताका ध्यान करना चाहिये ।

भगवद्गीताका अर्थ

बच्चा ! किसी वस्तुको बिना जाने उसका ध्यान नहीं हो सकता । ज्ञानके अनुसार ध्यान होता है और ध्यानके अनुसार फल होता है । भाव यह है कि एक ही देवकी उपासना करनेपर भी भाव और ज्ञानके अनुसार न्यूनाधिक फल होता है । पूर्ण भाव और पूर्ण ज्ञानका फल पूर्ण होता है, नहीं तो तारतम्यसे न्यून होता चला जाता है । मैं तुझे भगवद्गीताका अर्थ समझाता हूँ, ध्यान देकर सुन—भगवद्गीता पद 'भगवत्' और 'गीता' इन दो शब्दोंसे बना है । दो शब्दोंसे बने हुए शब्दको द्वन्द्व-समास कहते हैं । द्वन्द्व समासको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है । द्वन्द्व-समास अव्ययीभाव, तत्पुरुष और बहुव्रीहि भेदसे तीन प्रकारका होता है । अव्ययीभाव समासमें प्रथम शब्द मुख्य होता है, तत्पुरुष समासमें दूसरा शब्द मुख्य होता है और बहुव्रीहि समासमें दोनों शब्द मुख्य होते हैं । भगवत्-गीताके प्रथम 'भगवत्' शब्दका अर्थ भगवान् है और दूसरे 'गीता' शब्दका अर्थ गीति अथवा गान है । अव्ययीभाव समाससे भगवद्गीताका यह अर्थ होता है, 'भगवान्‌की गीति' यानी भगवान्‌ने जिसका गान किया, वह भगवद्गीता है । इस प्रकार गीताके अर्थ जाननेवालेके लिये भगवान्‌ने यह फल कहा है:—'जो पुरुष श्रद्धावान् और दोषदृष्टिरहित होकर इस गीताशास्त्रका केवल श्रवण करता है, वह पुरुष सब पापोंसे मुक्त होकर पुण्य करनेवाले पुरुषोंके स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है ।' (गी० १८ । ७१) ।

तत्पुरुष समाससे भगवद्गीताका यह अर्थ होता है 'गीताके भगवत्' यानी गान किये गये भगवत् अर्थात् जिसमें भगवत्-तत्त्वका गान किया गया है—प्रतिपादन किया गया है, वह भगवद्गीता है । ऐसा अर्थ जाननेवाला गीताशास्त्रको प्रतिपादक और भगवत्-तत्त्वको प्रतिपाद्य जानता है, इस पुरुषको भगवत्का परोक्ष ज्ञान होता है । इसके लिये भगवान्‌ने यह फल कहा है:—'जो पुरुष तेरे और मेरे संवादरूप तथा धर्मरूप इस गीताशास्त्रका अध्ययन करेगा, उस पुरुषने ज्ञान-यज्ञसे मेरा पूजन किया, ऐसा मैं मानता हूँ' (१८ । ७०) इस अर्थका जाननेवाला क्रम-मुक्ति-फलका अधिकारी है ।

बहुव्रीहि समाससे भगवद्गीताका यह अर्थ होता है 'भगवत् सो ही गीता और गीता सो ही भगवत्' इस अर्थके जाननेवालेके लिये भगवान् यह फल कहते हैं:—'जो पुरुष इस परम गुह्य शास्त्रको मेरे भक्तोंको सुनावेगा, वह पुरुष मुझ परमेश्वरकी पराभक्ति करके मुझ ईश्वरको ही प्राप्त होगा इसमें संशय नहीं है । मनुष्योंमें ऐसे पुरुषसे अधिक न तो कोई दूसरा पुरुष मुझ ईश्वरको प्रिय है, न हुआ है और न आगे होगा ।' (१८ । ६८-६९) यह फल भगवत् और गीता दोनोंको एक यानी अभेद जाननेका है । ऐसे ज्ञानी भक्तको भगवान्‌ने अध्याय ७ । १८ में अपना आत्मा कहा है । अपना आत्मा ही सबसे अधिक प्यारा होता है, ऐसा अर्थ जाननेवाला कृतार्थरूप होनेसे भगवान्‌के समान पूजने-योग्य है और वही गुरु-पदवीका अधिकारी है, ऐसा पुरुष जिसको अपना शिष्य अङ्गीकार कर लेता है, वह बड़भागी शिष्य भी कृतकृत्य हो जाता है । ऊपर ध्यानके मन्त्रसे भी यही तीन प्रकारका अर्थ सिद्ध होता है ।

पूर्वार्ध मन्त्रसे अव्ययीभाव समासका अर्थ सिद्ध होता है, अष्टादशाध्यायिनी और अद्वैतामृतवर्षिणी ये दोनों विशेषण तत्पुरुष समासका अर्थ दरसाते हैं और भगवती तथा अम्बा ये दोनों बहुव्रीहि समासका अर्थ पुष्ट करते हैं । भगवती और भगवत् एक ही हैं क्योंकि परब्रह्मके नाम तीनों लिंगोंमें वेदमें देखनेमें आते हैं । बच्चा ! गीतामें 'गी' और 'ता' दो अक्षर हैं । 'गी' का अर्थ गाना है और 'ता' का अर्थ तारना है । जो कोई गीताका पाठ करता है, गीता शब्दका जप करता है अथवा गीताका ध्यान करता है, गीता उसको संसार-सागरसे तार देती है, इसमें संशय नहीं है । वाराह-पुराणमें विष्णु भगवान्‌का वचन है :—'गीता मेरी परमा विद्या है, ब्रह्मरूपा है, इसमें संशय नहीं है । मात्रा, अर्धमात्रा, अक्षर, पाद, श्लोक ये सब मुझ अनिर्वाच्यके ही रूप हैं । जो गीताके अर्थका निशिदिन ध्यान करता है, वह बड़े बड़े कार्य करता हुआ भी जीवन्मुक्त है, और देहान्तमें परम

पदको प्राप्त होता है, श्रीगीताजीके आश्रयसे जनकादि बड़े बड़े राजा पापोंसे मुक्त होकर गीता गीता कहते हुए परम पदको प्राप्त हुए हैं।' इत्यादि बहुत कुछ महिमा श्रीविष्णु भगवान्‌ने गायी है,सबमें प्रसिद्ध होनेसे केवल दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। तू स्वयं देख सकता है। गीता भगवान्‌को बहुत प्यारी है, गीताका पाठ और जप करनेवाला भगवान्‌को प्रिय है और गीताका प्रचार करनेवाला भगवान्‌को सबसे अधिक प्रिय है, यह भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखसे कहा है, इसलिये यथासामर्थ्य सबको गीताका प्रचार करना चाहिये।

गीताके प्रचारका उपाय

एक बार दक्षिण देशके विजयनगर शहरमें मेरा जाना हुआ था। वहां यह नियम है कि चारों वर्णोंमें जो बालक जन्मता है, उसकी छठीमें भगवद्‌गीताका पूजन होता है। वहांके स्त्री-पुरुष सबको गीता कण्ठ होती है और जब बालक बोलने लगता है तभीसे उसके माता, पिता, भाई आदि घरवाले उसको गीता कंठ कराते हैं। कुछ और बड़ा हो जानेपर गुरु गीताका ध्यान बताते हैं, जबतक गीतातत्त्व उसकी समझमें न आ जाय, तबतक न तो उसे अपनी पंक्तिमें जिमाते हैं और न उसका विवाह करते हैं। वहांके मदरसों और पाठशालाओंमें भी गीता पढ़ायी जाती है और परीक्षा भी ली जाती है। गीता-प्रचार करनेका यह बहुत ही उत्तम उपाय है, बचपनके संस्कार उम्रभर नहीं निकलते, वे क्रमशः दृढ़ होते जाते हैं। समाधि लगानेसे भी गीता पढ़ने, पढ़ाने और प्रचार करनेका विशेष फल है क्योंकि समाधिस्थ पुरुष अपना ही कल्याण करता है, और गीताप्रचारक तो अपने कल्याणके साथ साथ दूसरोंका भी कल्याण करता है।

(२)

अश्वत्थ

यस्य कृपा कटाक्षेण संसारोऽयं प्रणश्यति ।
सर्वगं सच्चिदात्मानं तं वन्दे पार्थसारथिम् ॥

अमरपुर ग्रामकी रहनेवाली अमरी नामकी बूढ़ी माता और उसके बेटे चिरञ्जीमें एक दिन इस प्रकार बातचीत हुई :—

चिरञ्जीः—मैया ! बचपनमें जब मैं काजल नहीं लगवाता था, तब तू कहा करती थी 'बेटा! काजल लगवाले, कदवे नीमसे भी ऊंचा हो जावगा और अब भी बहुधा कहा करती है 'जुग जुग जी, चिरञ्जीव हो ! क्या तेरी ये बातें साररहित, झूठमूठकी, मुझे बहकानेके लिये नहीं हैं? मेरी समझमें तो ऐसा ही है ! दुनियापुराणके सिवा अन्य किसी शास्त्रमें तो इन बातोंका प्रमाण मिल नहीं सकता ! भला ! मैं साढ़ेतीन हाथका कदवे नीमसे ऊंचा कैसे हो जाऊंगा ? क्षण क्षणमें बदलनेवाले दृष्ट-नष्ट शरीरवाला मैं जुग जुग कैसे जी सकता हूं ? यों तो कलतककी भी खबर नहीं है, अधिकसे अधिक मनुष्य सौ वर्ष जीता है, फिर मैं चिरञ्जीव कैसे हो जाऊंगा ? संसारमें सब बातें उल्टी उल्टी देखनेमें आती हैं, निस्सारका नाम संसार धर दिया है, गादीको उखली कहते हैं, चलती हुई गाड़ी कहलाती है, मुझ दो दिन जीनेवालेका नाम चिरञ्जी रख दिया है, तुझ मरीको सब छोटे बड़े अमरी कहते हैं ! जहांके रहनेवाले सर्वदा मरते ही रहते हैं, उस मरपुर ग्रामका नाम अमरपुर रख दिया है ! भला ! पृथ्वी तो अमर है ही नहीं, ऐसा शास्त्रोंसे सुननेमें आता है, फिर पृथ्वीपर बसनेवाला ग्राम अमरपुर कैसे हो सकता है ? संसारमें कोई भी वस्तु तो स्थिर नहीं है, फिर तू मुझे 'जुग जुग जी' इत्यादि कहकर क्यों बहकाया करती है ? क्या मैं मरूंगा नहीं ? सब तो मरे चले आ रहे हैं, फिर मैं कैसे अमर हो सकता हूं ? मुझे तो संसारमें कोई वस्तु अमर नहीं दीखती ! मैया ! तू जानती हो तो बता दे और मेरा तथा अपना नाम सार्थक कर दे !

अमरीः—(प्रसन्न होती हुई) बच्चा ! मेरा काजल लगवाना आज सफल हुआ दीखता है, तेरी आंखें कुछ कुछ खुलने लगी हैं, तभी तो तू संसारको निस्सार कहता है, संसार तुझे नश्वर दीखता है, और तू सारवस्तु-अमर पदार्थको जानना चाहता है ! बच्चा ! यह अटल नियम है कि किसीका स्वरूप बदलता नहीं है। जो अमर है, वह अमर ही रहता है, मर नहीं होता और जो मर है, वह मर ही रहता है, अमर नहीं होता ! बेटा ! तू अपने आप स्वरूपको नहीं जानता इसीलिये अनेक विकल्प उठाता है ! तू कदवे नीमसे ऊँचा, जुग जुग जीनेवाला, चिरञ्जीवी हो नहीं जायगा, किन्तु है ही, इसमें कोई संशय नहीं है ! तेरी आंखोंका कुछ मैल तो कट गया है, आज काजल लगानेसे रहा सहा सब मैल कट जायगा ! बच्चा ! यह संसार जैसा तू कहता है, वैसा ही अस्थिर और परिणामी है परन्तु इसका अधिष्ठान और आधार परब्रह्म स्थिर, अमर और अविनाशी है। वही तेरा, मेरा और सबका आत्मा है। जो परब्रह्मको अपना आत्मा नहीं जानता, वह देहको आत्मा जानता है। देहको आत्मा जाननेसे वह

देहके मरनेके साथ मरता हुआ और देहके जन्मके साथ जन्मता हुआ दीखता है और जो परब्रह्मको अपना आत्मा जानता है, वह अमर हो जाता है अथवा यों समझ कि अमर है ही। स्वरूपसे तू अमर है, परन्तु तू अपनेको जानता नहीं, इसीलिये अमर होनेका तुझे फल नहीं है। मैं तुझे संसार और संसारके अधिष्ठान परब्रह्मका स्वरूप समझाती हूं, इन दोनोंका स्वरूप जानकर तू अपने स्वरूपका निर्णय कर सकेगा और तू मर है अथवा अमर है, साढ़े तीन हाथका है अथवा तीनों गुणोंसे भी पर है, यह भी जान जायगा। बच्चा ! यह संसार एक प्रकारका वृक्ष है।

इतना कहकर अमरी अपना और अपने पुत्र चिरञ्जीका नाम सार्थक करनेके लिये एक निराले ढङ्गका काजल इस प्रकार उसकी आंखोंमें लगाने लगी—'जैसे लोकप्रसिद्ध वृक्ष मूलसे उत्पन्न होता है, इसी प्रकार यह संसाररूप वृक्ष अव्यक्त-अव्याकृत—मायाविशिष्ट ब्रह्मरूप मूलसे उत्पन्न हुआ है, उसी अव्यक्तके अनुग्रहसे यह संसाररूप वृक्ष बढ़ता रहता है। जैसे लोकप्रसिद्ध वृक्षकी शाखाएं स्कन्ध-पीँडसे उत्पन्न होती हैं इसी प्रकार बुद्धिसे संसारके अनेक परिणाम उत्पन्न होते हैं इसलिये स्कन्धके साथ समान धर्मवाली होनेसे बुद्धि इस संसाररूप वृक्षका स्कन्ध है। समष्टि और व्यष्टिरूपसे बुद्धि दो प्रकारकी है। हिरण्यगर्भकी बुद्धि समष्टि कहलाती है और प्रत्येक जीवकी बुद्धिको व्यष्टि कहते हैं। जैसे वृक्षमें छिद्ररूप कोटर होते हैं इसी प्रकार इस संसाररूप वृक्षमें श्रोत्रादि इन्द्रियोंके छिद्र कोटररूप हैं। जैसे लोकप्रसिद्ध वृक्ष अनेक शाखाओंवाला होता है इसी प्रकार संसाररूप वृक्ष भी आकाशादि पञ्चभूतरूप अनेक शाखाओंवाला है। जैसे लोकप्रसिद्ध वृक्ष पत्तोंवाला होता है वैसे ही यह संसाररूप वृक्ष शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयरूप पत्तोंवाला है। जैसे लोकप्रसिद्ध वृक्षमें पुष्प होते हैं और पुष्पोंसे फल उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार संसाररूप वृक्षके धर्माधर्म पुष्प हैं और धर्माधर्मरूप पुष्पोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखरूप फल हैं। जैसे लोकप्रसिद्ध वृक्ष पक्षी आदिका उपजीव्य होता है, इसी प्रकार संसाररूप वृक्ष सब भूत-प्राणियोंका उपजीव्य है। इस संसाररूप वृक्षको परब्रह्म परमात्माने आश्रित कर रक्खा है, इसलिये संसारको ब्रह्म-वृक्ष कहते हैं। यह संसाररूप वृक्ष आत्मज्ञानके सिवा अन्य उपायसे काटा नहीं जा सकता, इसलिये सनातन कहलाता है। यह संसाररूप वृक्ष जीवात्मारूप ब्रह्मका भोग्य है, इसलिये इस संसारको ब्रह्मवन कहते हैं। इस संसाररूप वृक्षमें शुद्ध ब्रह्म साक्षीके समान टिका हुआ है यानी संसारके गुण-दोषोंसे शुद्ध ब्रह्म निर्लेप है। इस संसाररूप वृक्षका 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारके दृढ़ आत्मज्ञानरूप खड्गसे छेदन तथा भेदन यानी मूलसहित नाश करके अधिकारी पुरुष आत्मरूप गतिको प्राप्त होता है और फिर वहांसे लौटकर नहीं आता। यही बात नीचेके पुराणोक्त श्लोकोंसे स्पष्ट होती है:—

> अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
> बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः॥
> महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा।
> धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥
> आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
> एतद्ब्रह्म वनं चैव ब्रह्माऽऽचरति साक्षिवत्॥
> एतच्छित्वा च भित्वा च ज्ञानेन परमासिना।
> ततश्चाऽऽत्मगतिं प्राप्य तस्मान्नाऽऽवर्त्तते पुनः॥

श्रुति कहती है—'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' इसका अर्थ यह है कि यह संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष ऊर्ध्व मूलवाला, अर्वाक नीची शाखावाला और सनातन है। भाव यह है कि इस संसाररूप अश्वत्थ वृक्षका ऊर्ध्व यानी उत्कृष्टरूप ब्रह्म मूल है और हिरण्यगर्भादि कार्योपाधिरूप जीव निकृष्ट शाखाएं अनेक दिशाओंमें फैली हुई हैं। इस संसार-वृक्षके मूलरूप ब्रह्मको श्रुति अमर बताती है:—'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' 'इस संसार-वृक्षका जो मूल है, वह शुक्र यानी शुद्ध है, वही ब्रह्म यानी व्यापक है और वही अमृत कहलाता है।' यही बात गीतामें भगवान् अर्जुनको समझाते हैं:—

> ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
> छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ (१५।१)

भावार्थः—सब संसारका बाध होनेपर भी जिसका बाध नहीं होता और जो सर्वसंसाररूप भ्रमका अधिष्ठान है, उस ब्रह्मका नाम ऊर्ध्व है। यह ऊर्ध्व अपनी माया नामक शक्तिद्वारा इस संसारका कारण है, इसलिये यह संसाररूप वृक्ष ऊर्ध्व-मूल कहलाता है। अधःका अर्थ यहां पीछे उत्पन्न होनेवालेका है। हिरण्यगर्भादि कार्य उपाधिरूप जीव पीछे उत्पन्न होनेवाले हैं। इसलिये संसार-वृक्षकी शाखाएं हैं, जैसे लोकप्रसिद्ध वृक्षकी शाखाएं पूर्व पश्चिमादि दिशाओंमें फैली होती हैं इसी प्रकार हिरण्यगर्भादि जीव

भी भिन्न भिन्न दिशाओंमें फैले हुए हैं। इसलिये हिरण्यगर्भादि जीव शाखाओंके समान होनेसे संसार-वृक्ष अधःशाख कहलाता है। 'यह वस्तु कलतक रहेगी या नहीं।' इस प्रकारका जिस वस्तुकी स्थितिमें संशय हो, उसको अश्वत्थ कहते हैं। यह संसार-वृक्ष प्रतिक्षण परिणामी होनेसे ऐसा ही है। इसलिये यह संसार-वृक्ष अश्वत्थ कहलाता है। देहादिका प्रवाह अनादि और अनन्त है। अनादि और अनन्तरूप देहादिके प्रवाहका यह संसाररूप वृक्ष आश्रय है और आत्मज्ञानके सिवा दूसरे किसी उपायसे इस संसाररूप वृक्षका उच्छेद नहीं होता इसलिये संसाररूप वृक्ष अव्यय कहलाता है। इस मायामय संसाररूप अश्वत्थ वृक्षके छन्दरूप वेद पत्ते हैं यानी तत्त्व वस्तुके ढकनेवाले और संसारके रक्षक होनेसे कर्मकाण्डरूप ऋग्, यजुष्, साम और अथर्वण चार वेद प्रसिद्ध पत्तोंके समान होनेसे संसाररूप वृक्षके पत्ते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे पत्ते वृक्षके परिरक्षणके लिये होते हैं,—क्योंकि पत्तोंद्वारा ही वृक्ष सांस लेते और छोड़ते हैं,—इसलिये जैसे पत्ते वृक्षकी रक्षा करते हैं इसी प्रकार कर्मकाण्डरूप वेद भी इस संसाररूप वृक्षकी रक्षा करते हैं, क्योंकि कर्मकाण्डरूप वेद धर्माधर्म, धर्माधर्मका कारण और धर्माधर्मका फल इन तीनोंको प्रकाशित करते हुए इस संसाररूप वृक्षका परिरक्षण करते हैं। इसलिये कर्मकाण्डरूप वेदको संसाररूप वृक्षके पत्ते कहना युक्त ही है। जो अधिकारी पुरुष मूलसहित इस मायामय अश्वत्थरूप संसार-वृक्षको जानता है, वह अधिकारी पुरुष वेदका जाननेवाला है। भाव यह है कि कर्मकाण्डरूप वेदका जो कर्मरूप अर्थ है और ज्ञानकाण्डरूप वेदका जो ब्रह्मरूप अर्थ है, उस कर्मरूप अर्थको और ब्रह्मरूप अर्थको जो अधिकारी जानता है, वह वेदका जाननेवाला है। इस संसाररूप वृक्षका मूल ब्रह्म है और हिरण्यगर्भादि जीव इस संसार-वृक्षकी शाखाएँ हैं। यह संसाररूप वृक्ष स्वरूपसे तो विनाशवान् है और प्रवाहरूपसे अनन्त है, यह संसाररूप वृक्ष वेदोक्त कर्मरूप जलसे सींचा जाता है और ब्रह्मज्ञानरूप खड्गसे काटा जाता है, इतना ही वेदका अर्थ है। इस प्रकार वेदके अर्थको जो अधिकारी जानता है, वह वेदोंके समस्त अर्थको जानता है। हे पुत्र! संसार-वृक्षका स्वरूप बुद्धिमें स्थिर करानेके लिये भगवान् उसी वृक्षके अन्य अवयवोंकी कल्पना करते हैं:—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥(१५।२)

भावार्थः—हे अर्जुन! ये हिरण्यगर्भादि शाखारूप जीव पुण्यात्मा और पापात्मारूपसे दो प्रकारके हैं। शास्त्र-निषिद्ध कर्म करनेवाले पापी जीव इस संसाररूप वृक्षके नीचेकी तरफ फैली हुई शाखाएं हैं यानी पापी जीव वृक्ष, पशु आदि नीच योनियोंमें फैली हुई शाखाएं हैं और शास्त्र-विहित कर्म करनेवाले पुण्यात्मा जीव इस संसार-वृक्षकी ऊपरको फैली हुई शाखाएं हैं यानी धर्मात्मा पुरुष देवादि योनियोंमें फैली हुई शाखाएं हैं। इस प्रकार मनुष्यसे लेकर पशु, पक्षी, वृक्ष, नारकीय शरीरपर्यन्त नीचेके स्थानोंमें और मनुष्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोक तक ऊपरके स्थानोंमें संसाररूप वृक्षकी जीवरूप शाखाएं फैली हुई हैं। जैसे वृक्षकी शाखाएं जलके सींचनेसे स्थूल हो जाती हैं, इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, विषय इत्यादि आकारोंसे परिणामको प्राप्त हुए सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणरूप जलसे जीवरूप शाखाएं स्थूल होती हैं। ये शाखाएं विषयरूप पल्लवोंवाली हैं यानी जैसे वृक्षकी शाखाओंके अग्रभागके साथ कोमल अंकुररूप पल्लवोंका सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त जीवरूप शाखाओंके अग्र भागके स्थानमें इन्द्रियजन्य वृत्तियां हैं, उन वृत्तियोंके साथ शब्दादि विषयोंका सम्बन्ध होता है इसलिये शब्दादि विषय उन जीवरूप शाखाओंके कोमल पत्र हैं। जीवरूप शाखाओंके सिवा संसार-वृक्षकी अवान्तर जड़ें और भी हैं, जो नीचे ऊपर फैली हुई हैं। पदार्थोंके भोगसे रागद्वेषादि वासनाएं उत्पन्न होती हैं और पुरुषकी धर्माधर्ममें प्रवृत्ति कराती है इसलिये रागद्वेषादि वासनाएं संसार-वृक्षकी अवान्तर मूल हैं। पूर्व श्लोकमें मायाविशिष्ट ब्रह्मको संसारका मूल कहा था, वह मायाविशिष्ट ब्रह्म संसारका मुख्य मूल है, और ये वासनाएं अवान्तर मूल हैं, इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं है। ये वासनारूप अवान्तर मूल कर्मानुबन्धी हैं। जिसके पीछे धर्माधर्मरूप कर्म उत्पन्न हों, उसका नाम कर्मानुबन्धी है। रागद्वेषादि अवान्तर मूल पहले उत्पन्न होकर पीछे धर्माधर्मरूप कर्म उत्पन्न करते हैं, इसलिये कर्मानुबन्धी कहलाते हैं। ये वासनारूप मूल ब्राह्मणादि मनुष्य-शरीरमें ही विशेष करके धर्माधर्मरूप कर्म उत्पन्न करते हैं, क्योंकि शास्त्रमें मनुष्यको ही कर्मका अधिकार बताया है।

अब श्रीभगवान् संसार-वृक्षको अनिर्वचनीय कहकर उसके काटनेका उपाय बताते हैं:—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

परमात्मा श्रीकृष्ण

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

સ. સા. મુદ્રણાલય-અમદાવાદ.

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी (१५।३,४)

भावार्थः—हे अर्जुन! संसारमें रहनेवाले प्राणी इस संसाररूप वृक्षका रूप नहीं जानते क्योंकि सब वस्तुएं अपने केन्द्रपरसे ही यथार्थ दीख सकती हैं, संसारचक्रके साथ घूमनेवाले संसारचक्रको नहीं जान सकते। जैसे स्वप्नके पदार्थ, मृगतृष्णाका जल, मायारचित पदार्थ, गन्धर्व-नगर आदि पदार्थ मिथ्या होनेसे दृष्ट-नष्ट रूपवाले हैं इसी प्रकार संसारवृक्ष भी मिथ्या होनेसे दृष्ट-नष्ट रूप है। जो पदार्थ देखते देखते नष्ट हो जाय, उसको दृष्ट-नष्ट कहते हैं। दृष्ट-नष्ट स्वभाववाले इस संसार वृक्षका पूर्वोक्त ऊर्ध्वमूल अधःशाख इत्यादि रूप जीवोंके देखनेमें नहीं आता, इसलिये इस संसारका अन्त, आदि और मध्य जाननेमें नहीं आता। भाव यह है कि कितने काल पीछे संसार समाप्त हो जायगा, यह जाननेमें नहीं आता, इसलिये संसार अन्तसे रहित है; कितने कालसे संसार चला आ रहा है, यह भी जाननेमें नहीं आता, इसलिये संसार अनादि है; अन्त और आदिकी अपेक्षासे मध्य होता है, अन्त और आदि सिद्ध न होनेसे संसारका मध्य भी सिद्ध नहीं होता, इसलिये यह संसार प्रतिष्ठा-रहित है। ऐसा होनेसे यह संसार-वृक्ष दुरुछेद्य और अत्यन्त दृढमूलवाला है। इस अश्वत्थरूप संसार-वृक्षको दृढ असङ्गशस्त्र लेकर अधिकारीको काटना चाहिये। विषय-सुखकी इच्छाका नाम सङ्ग है और सङ्गके विरोधी वैराग्यका नाम असङ्ग है अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा इन तीनोंका त्यागरूप जो वैराग्य है, उसका नाम असङ्ग है। जैसे लोकप्रसिद्ध कुठारादि शस्त्र वृक्षके विरोधी हैं, इसी प्रकार रागद्वेषादि रूप संसारका वैराग्य विरोधी है इसलिये वैराग्य शस्त्र है। यह वैराग्यरूप असङ्ग शस्त्र, 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार ब्रह्मज्ञानकी उत्कट इच्छासे दृढ होना चाहिये और इसे विवेकाभ्यासरूप सिल्लीपर घिसकर तीक्ष्ण करना चाहिये। ऐसे दृढ और तीक्ष्ण वैराग्यरूप शस्त्रसे अधिकारी पुरुषको संसारवृक्षका मूल-सहित उच्छेदन करना चाहिये। वैराग्य, शम, दमादि साधन-सम्पत्तिद्वारा सर्व कर्मोंका सन्यास ही संसार-वृक्षका उच्छेदन है। वैराग्यरूप असङ्ग-शस्त्रसे इस संसाररूप वृक्षको मूलसहित काटकर पीछे अधिकारी पुरुषको श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाकर संसाररूप अश्वत्थ वृक्षसे ऊर्ध्व स्थित जो शुद्ध ब्रह्मरूप वैष्णव-पद है, उस पदको श्रवण, मननरूप वेदान्त-वाक्योंसे जानना चाहिये। उस वैष्णव पदको, 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारके ज्ञानसे प्राप्त हुआ तत्त्ववेत्ता पुरुष संसारमें लौटकर नहीं आता। उस वैष्णव पदको जाननेका उपाय यह है कि जिस आद्य पुरुषसे मायाके योगसे इस मायामय संसार-वृक्षकी अनादि प्रवृत्ति चली आ रही है, उसी परब्रह्म आद्य पुरुषके शरण हो जाना ही परम पद प्राप्त करनेका उपाय है। भाव यह है कि सर्व जगत्के आदिमें जो मौजूद होता है, वह आद्य कहलाता है और जो इस सर्व जगत्को अपने अस्ति, भाति, प्रियरूपसे पूर्ण करता है अथवा जो सर्व शरीररूप पुरियोंमें शयन करता है, उसका नाम पुरुष है। ऐसे आद्य पुरुष परब्रह्मका आत्मरूपसे निरन्तर चिन्तनरूप जो अनन्य भक्ति है, वह अनन्य भक्ति ही परब्रह्मरूप पदके साक्षात्कारका उपाय है।

चित्रार्थः—(प्रसन्न होता हुआ) मैया! तेरे उपदेशरूप काजलने आज मेरी आंखें खोल दी हैं, मुझे ऐसा अनुभव होता है कि जैसे संसार वृक्ष अश्वत्थ है, इसी प्रकार कड़वा नीम भी है, क्योंकि इसमें दुःखके सिवा सुखकी गन्ध भी नहीं है! परब्रह्म ही सार सूर्यरूप है और यह संसार उसकी छाया है! परब्रह्म ही मेरा, तेरा और सबका आत्मा है, वही सत्य है, उसके सिवा सब संसार वन्ध्या-पुत्रके समान असत्य है! परब्रह्मके शरण होनेसे मैं अवश्य कड़वे नीमसे ऊंचा हो जाऊंगा! मैया! आजसे मैं किञ्चित् भी कभी मान न करूंगा, न किसी संसारकी वस्तुको देखकर मोहको प्राप्त होऊंगा! मृग-जलको जानकर कौन मूर्ख उसको पान करनेकी या उसमें स्नान करनेकी इच्छा करेगा? अब मैं किसीका सङ्ग नहीं करूंगा, सङ्ग क्या ध्यान तक भी नहीं करूंगा! ध्यानसे ही सङ्ग होता है! सदा आत्मचिन्तनमें ही लगा रहा करूंगा! कामनाका नाम तक न लूंगा! सदा निर्द्वन्द्व रहूंगा! हे मैया! 'घर आये नाग न पूजे, बाँबी पूजन जाय!' यह चतुराई नहीं है! अब मैं तुझे छोड़कर अन्य किस गुरुको ढूंढता फिरूंगा? हे मैया! तू ही मेरी मदालसा बन जा! तेरे गर्भसे पैदा होकर क्या अब मैं दूसरीके पेटमें जाऊंगा। नहीं! नहीं! कभी नहीं! हे मैया! वैष्णव-पदका किञ्चित् परिचय और दे दे और मुझे जैसे तू आज तक अपना पुत्र मानती थी, आजसे मुझे अपना शिष्य भी अंगीकार कर ले! इतनी ही मेरी प्रार्थना है!

अमरी बेटेकी प्रेमभरी वाणी सुनकर बदनमें फूली नहीं समाती है और वैष्णव-पदका इस प्रकार परिचय देती है:—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (१५।६।)

हे पुत्र ! भगवान्‌ने अपने पावन धामका उपर्युक्त स्वरूप बताया है और श्रुति भगवती भी कहती है:-

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

परब्रह्मरूप परम पदको सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता, चन्द्र और तारागण भी प्रकाशित नहीं कर सकते और विद्युत भी प्रकाशित नहीं कर सकती, तो फिर यह अल्प प्रकाशवाला अग्नि परब्रह्मको किस प्रकार प्रकाशित करेगा ?' यही भाव नीचेके कुंडलियामें दिखाया है:-

तारा चन्द न बीजुरी, नहिं जहँ सूरजधाम।
जहाँ काल तोरत नहीं, सो पावन प्रभु धाम॥
सो पावन प्रभुधाम, आप ही आप प्रकाशत।
इन्द्रिय, मन न बुद्धि, कछु नहीं न जानत॥
[illegible]
[illegible]

इतना सुनकर चिरञ्जीवने माताके चरण छुए ! पश्चात दोनों मा बेटे अमर जीवन्मुक्त होकर विचरने लगे, और अबभी विचर रहे हैं ! प्रेमपूर्वक नीचेकी कुण्डलिया इनकी भेट करते हैं।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(३)

गीता और अवतार-तत्त्व।

[illegible]
[illegible]

एक कृष्ण-भक्तने एक दिन एक सन्तसे यह प्रश्न किया:-

भक्तः-महाराज ! देह-इन्द्रिय आदिके ग्रहणको जन्म कहते हैं और उन्हींके त्यागनेको मरण कहते हैं। जन्म और मरण इन दोनोंको नैयायिक प्रेत्यभावना कहते हैं। 'जन्मे हुए का निश्चय मरण होना है और मरे हुए का अवश्य जन्म होना है' यह नियम है। धर्म-अधर्मसे जीवका जन्म-मरण होता है। देहाभिमानी अज्ञानीको कर्मका अधिकार है। अज्ञानी जीव ही धर्म-अधर्मके वश हो सकता है इसलिये उसका जन्म होना सम्भव है। ईश्वर सर्वज्ञ है, सबका कारण है, इसलिये ईश्वरका देह-इन्द्रिय आदिका ग्रहणरूप जन्म होना सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि ईश्वरका शरीर स्थूलभूतोंका कार्य-व्यष्टिरूप हो तब तो ईश्वर हमारे समान ही होगा यानी जैसे जाग्रत अवस्थामें हम सबका जीव विश्व कहलाता है इसी प्रकार विश्वके समान ही ईश्वर होगा और यदि ईश्वर समष्टिरूप हो तो ईश्वर विराट्‌रूप होवेगा, क्योंकि समष्टि-स्थूल उपाधिवाला विराट् ही है। यदि ईश्वरका शरीर सूक्ष्मभूतोंका कार्य-व्यष्टिरूप हो तो ईश्वर स्वप्नावस्थाके अभिमानी तैजस नाम जीवके समान होगा और यदि ईश्वरका शरीर सूक्ष्मभूतोंका कार्य-समष्टिरूप हो तो ईश्वर हिरण्यगर्भके समान होगा, क्योंकि समष्टि-सूक्ष्म उपाधिवाला हिरण्यगर्भ ही है। इतने कथनसे यह सिद्ध होता है कि आकाशादि भूतोंका कार्यरूप कोई ऐसा भौतिक शरीर ईश्वरका नहीं हो सकता जो किसी जीवने धारण न किया हो। यदि कोई कहे कि जो भौतिक शरीर किसी जीवसे युक्त है, उस भौतिक शरीरमें भूतावेशके समान ईश्वर प्रवेश करता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस जीवयुक्त शरीरमें ईश्वरने प्रवेश किया है, उस शरीरसे जीवको सुख-दुःखका भोग होता है या नहीं ? यह कहना चाहिये। इनमेंसे प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि अन्तर्यामीरूपसे ईश्वरका प्रवेश सब शरीरोंमें विद्यमान है ही, इसलिये ईश्वरका शरीर विशेषका अङ्गीकार करना व्यर्थ ही है। यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो वह शरीर उस जीवका रहेगा ही नहीं, इसलिये किसी प्रकार भी ईश्वर-का भौतिक शरीर नहीं हो सकता। तब फिर ईश्वरका अवतार किस प्रकार होता है ?

सन्तः-भाई ! न तो ईश्वरका देह-इन्द्रिय आदि ग्रहण-रूप जन्म है, न ईश्वरका देह-इन्द्रिय आदिका परित्यागरूप मरण है, ईश्वर जन्म और मरण दोनोंसे रहित है और ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त जितने प्राणी हैं, इन सबका ईश्वर नियामक है ईश्वरमें धर्माधर्म ही नहीं है, तब वह धर्माधर्मके वश किस प्रकार हो ? क्योंकि जन्म-मरणवाला पराधीन जीव ही धर्माधर्मके वश होता है, स्वतन्त्र ईश्वर धर्माधर्मके वश नहीं होता। यद्यपि ईश्वर जन्म-मरणादि सर्व विकारोंसे रहित है तो भी परमेश्वरकी उपाधिरूप अनेक विचित्र शक्तिवाली, अघटितघटनापटीयसी मायावाली तथा सत्त्व, रज, तम त्रिगुणात्मक मायारूप जो प्रकृति है, वह अपने चिदाभासद्वारा इस प्रकृतिको वश करके इस मायाके परिणामविशेषसे

परमेश्वर देहवालेके समान जन्मता हुआ सा प्रतीत होता है। यही बात भगवान्‌ने इस श्लोकसे दिखलायी है:-

> अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
> प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
>
> (गीता ४ । ६)

भाव यह है कि उत्पत्तिसे रहित होनेसे माया अनादि है। यह अनादि माया ही परमात्मा देवकी उपाधि है। यह माया व्यवहारकालपर्यन्त स्थायी होनेसे नित्य है, परमात्मामें सर्व जगत्‌के कारणपने की सम्पादकत्व है और परमात्मा देवकी इच्छासे ही यह माया प्रवृत्त होती है यह माया ही विशुद्ध सत्त्वरूपसे परमात्मा देवकी मूर्ति है। इस मायारूप मूर्तिविशिष्ट परमात्मा देवमें जन्म-मरणसे रहितपना और सर्व भूतोंका ईश्वरपना हो सकता है। इसलिये शुद्धसत्त्वप्रधान मायारूप नित्य देहसे परमात्मादेव सृष्टिके आदि कालमें सूर्यके प्रति इस ज्ञानयोगका उपदेश करता है और वर्तमानमें यानी गीताकालमें अर्जुनको उपदेश करता बन सकता है। इसमें किञ्चिन्मात्र भी पूर्वोक्त दोषोंकी प्राप्ति नहीं होती। श्रुति कहती है 'आकाशशरीरं ब्रह्म' अर्थात् आकाश है नाम जिसका, ऐसा जो मायारूप अव्याकृत है, उस अव्याकृतरूप शरीरवाला ब्रह्म है इत्यादि श्रुतियोंसे मायाको ही ब्रह्मका शरीर कहा है। इस मायारूप शरीरसे परमात्मा देवकी स्थिति, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयकालमें सर्वदा सम्भव हो सकती है।

शङ्का: भगवन्! यदि केवल माया ही परमात्मा देवका शरीर हो, पञ्चभौतिक शरीर परमात्मा देवका न हो, तो भौतिक शरीरके धर्म जो मनुष्यत्व आदि हैं, वे धर्म परमात्मा देवके प्रतीत न होने चाहिये।

समाधानः—इसी शङ्काके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा है 'आत्ममायया इति' हे अर्जुन! मुझमें मनुष्यत्व आदि धर्म जो प्रतीत होते हैं, वे धर्म मुझमें वस्तुतः नहीं हैं किन्तु भक्तोंपर अनुग्रह करनेको और दुष्टोंका निग्रह करनेको मेरी मायासे मनुष्यत्व आदि धर्म मुझमें प्रतीत होते हैं। यही बात मोक्षधर्ममें भी कही है:—

> माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
> सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि॥

अर्थः—हे नारद! जिस शरीरविशिष्ट मुझको तू इन चर्म-चक्षुओंसे देखता है, उस शरीरको मैं मायासे रचता हूं और कारणमायारूप शरीरवाला जो मैं हूं, उस मुझको इन चर्म-चक्षुओंसे तू नहीं देख सकता। अनेक शक्तियोंवाली तथा माया नामवाली ऐसी जो नित्य कारण-उपाधि है, वह मायारूप कारण-उपाधि ही परमेश्वरका देह है, यह भगवान् भाष्यकारका मत है और दूसरे कई शास्त्रकार तो परमेश्वरमें देह-देही भाव नहीं मानते किन्तु जो सत्-चित्, आनन्दघन भगवान् वासुदेव परिपूर्ण निर्गुण परमात्मा हैं, वही परमेश्वरका शरीर है, दूसरा कोई भौतिक अथवा मायिक शरीर परमेश्वरका नहीं है। श्रुति कहती है 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' अर्थात् हे भगवन्! वह परमात्मा देव किसमें रहता है? इसके उत्तरमें कहा है कि वह परमात्मा देव सच्चिदानन्दरूप अपनी महिमामें रहता है। इत्यादि श्रुतियोंमें परमात्मा देवकी अपने स्वरूपमें ही स्थिति कही है। किसी मायिक अथवा भौतिक शरीरमें स्थिति नहीं कही है। इस पक्षमें तो उपर्युक्त गीताके श्लोकका यह अर्थ होता है कि मैं परमात्मा देव वस्तुतः जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित, सर्व जगत्‌का प्रकाश तथा सर्व जगत्‌की कारणरूप मायाका अधिष्ठान होनेसे सर्व भूतोंका ईश्वर होनेपर भी 'स्वां प्रकृतिं' यानी अपनी स्वरूपभूत सच्चिदानन्दघन एकरस स्वभावरूप प्रकृतिको आश्रय करके यानी अपने स्वरूपमें स्थित होकर देह-देही भाव बिना ही लोकप्रसिद्ध देहवाले जीवोंके समान यह परमेश्वर देहवाला है इस प्रकारके व्यवहारका विषय होता हूं। यदि अर्जुन शंका करे कि मायिक तथा भौतिक देहसे रहित सच्चिदानन्दघन आपमें मनुष्य-देहवालेकी प्रतीति कैसे होती है तो भगवान् कहते हैं:—'आत्ममायया' हे अर्जुन! देह-देही भावसे रहित मुक्त नित्य, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेवमें जो देह-देहीरूप प्रतीति है वह केवल मायामात्र है, वस्तुतः देह-देही भाव मुझमें नहीं है। यही बात भागवतमें भी कही है:—

> कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
> जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
> अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
> यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्मसनातनम्॥

इन कृष्ण भगवान्‌को तू सर्वभूतप्राणियोंका आत्मा जान, इस लोकमें भक्तजनोंके उद्धार करनेके लिये यह भगवान् अपनी मायासे देहवाले जीवोंके समान प्रतीत होते हैं। व्रजभूमिमें रहनेवाले जो नन्द, गोप, गोपियां हैं, उन सबका अहोभाग्य है, अहोभाग्य है कि जिन व्रजवासी लोगोंको यह परमानन्द, परिपूर्ण, सनातनब्रह्म कृष्णरूपसे मित्र भावको प्राप्त हुए है।

हे भावुक ! इस प्रकार जन्म-मरणसे रहित निर्विकार परमेश्वरमें मायासे जन्मादि बन सकते हैं। कोई कोई पुरुष परमात्मादेवको नित्य, निरवयव, निर्विकार, परमानन्दरूप मानकर भी परमात्मादेवमें अवयव-अवयवी भाव वास्तविक ही मानते हैं, उन पुरुषोंका कथन श्रुति और युक्ति दोनोंसे अत्यन्त विरुद्ध है। मायाका शरीर धारण करके परमेश्वरका धर्मस्थापनके लिये युग युगमें जन्म हुआ करता है। यही बात भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! जब जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब तब मैं अपने देहको उत्पन्न करता हूं। साधु पुरुषोंकी रक्षाके लिये और पापी पुरुषोंके नाशके लिये, और धर्मस्थापन करनेको युग युगमें अवतार धारण करता हूँ।'

(४)

गीताके अनुसार स्वधर्मका अर्थ

धर्माधर्मविधातारं धर्माधर्मविवर्जितम् ।
धर्माब्धिरूपराकाष्ठां कृष्णं वन्दे जगत्पतिम् ॥

एक श्रीमान्ने एक दिन एक पण्डितजीसे प्रश्न किया:-

श्रीमान् पण्डितजी ! गीताके अनुसार स्वधर्मका क्या अर्थ है ?

पण्डितजी:-भाई ! अपने अपने वर्णाश्रमका धर्म ही स्वधर्म है, अपना धर्म ही कल्याणकारक होता है, दूसरेका नहीं, उल्टा वह हानिकारक है। अर्जुन क्षत्रियके युद्धरूप हिंसक-धर्मसे हटना चाहता था और हिंसारहित भिक्षाका अन्न भोजन करना श्रेष्ठ समझता था। इसीसे श्रीभगवान् समझाते हैं:—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ (गी० ३।३५)

हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र चार वर्ण हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चार आश्रम हैं। इन चारों वर्णों और चारों आश्रमोंमें जिस जिस वर्ण, आश्रमके प्रति जिस जिस धर्मका धर्मशास्त्रने विधान किया है, वही धर्म उस वर्ण और आश्रमका स्वधर्म कहलाता है और वही धर्म दूसरे वर्ण और आश्रमका परधर्म कहलाता है। जैसे बृहस्पतिसव नामक यज्ञका शास्त्रने ब्राह्मणके प्रति ही विधान किया है, क्षत्रियादिके प्रति नहीं, इसलिये यह बृहस्पतिसव नामक यज्ञ ब्राह्मणका स्वधर्म है और क्षत्रियादिका परधर्म है। इसी प्रकार राजसूय यज्ञका शास्त्रमें केवल क्षत्रियके लिये ही विधान है, ब्राह्मणादिके लिये नहीं। इसलिये राजसूय यज्ञ क्षत्रियका स्वधर्म है, और ब्राह्मणादिका परधर्म है। इसी प्रकार सब असाधारण कर्मोंमें स्वधर्मता और परधर्मता जान लेनी चाहिये। ईश्वरका नाम स्मरण करना आदि साधारण धर्मोंमें तो प्रत्येक प्राणीमात्रकी स्वधर्मता ही है। किसी प्राणीकी परधर्मता नहीं है। साधारण धर्म मनुष्यमात्रका होता है और असाधारण धर्म प्रत्येक वर्णाश्रमका भिन्न भिन्न होता है। असाधारण धर्ममें एक वर्णका दूसरे वर्णके धर्ममें अधिकार नहीं है। द्रव्य, मन्त्र, देवता इत्यादि कर्मके अङ्ग यानी साधन हैं। इन अङ्गोंकी सम्पूर्णता विना जो धर्म किया जाता है, वह धर्म विगुण कहलाता है। ऐसा विगुण स्वधर्म भी सब अङ्गोंकी पूर्णतापूर्वक किये हुए परधर्मसे श्रेष्ठ है, क्योंकि एक वेदप्रमाणके सिवा दूसरा कोई प्रमाण धर्ममें नहीं है, किन्तु धर्ममें एक वेद ही प्रमाण है। यह बात 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस पूर्वमीमांसाके सूत्रमें विस्तारसे वर्णन की है। इसलिये 'परधर्म भी धर्म होनेसे स्वधर्मके समान अनुष्ठान करने योग्य है' ऐसा अनुमानप्रमाण इस धर्ममें प्रमाण नहीं हो सकता। इसलिये यत्किञ्चित् अङ्गोंकी न्यूनतासे विगुणभावको प्राप्त हुए, स्वधर्ममें वर्तनेवाले (स्वधर्मनिष्ठ) का मरना भी परधर्ममें वर्तनेवालेसे श्रेष्ठ है क्योंकि स्वधर्मनिष्ठका मरण इस लोकमें उसकी कीर्ति फैलाता है और परलोकमें उसे स्वर्गादिकी प्राप्ति कराता है, इसलिये स्वधर्मनिष्ठका मरण भी अत्यन्त श्रेष्ठ है। परधर्म इस लोकमें पुरुषकी अपकीर्ति करता है और परलोकमें नरकादिकी प्राप्ति कराता है। इसीलिये जैसे राग-द्वेष मनुष्यको त्याज्य है, वैसे ही परधर्म भी त्याज्य है। श्रद्धासे रहित होना, असूया करना, चित्तकी दुष्टता, मूढ़ता, प्रकृतिके वशवर्ती होना, राग-द्वेष करना और परधर्ममें प्रीति करना, यह सब अधोगति प्राप्त करानेवाले हैं। भगवान्ने अन्तमें अठारहवें अध्यायमें भी यही कहा है कि अपने अपने कर्ममें निष्ठावान् पुरुष ही संसिद्धिको प्राप्त होते हैं। फिर कहा है कि 'जिस ईश्वरसे आकाशादि भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जो सबमें व्यापक है, उस ईश्वरको स्वकर्मसे सन्तुष्ट करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।' आगे भगवान्ने 'स्वाभाविक कर्म करनेसे पाप नहीं होता,' यह भी कहा है, 'स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त हो तो भी न त्यागे, क्योंकि सभी कर्म धूमसे अग्निकी तरह सदोष होते हैं' यह भी भगवान्ने कहा है। इस सब कथनसे यही सिद्ध होता है कि अपने अपने वर्णाश्रमका कर्म ही श्रेयस्कर

है और दूसरे वर्णाश्रमका कर्म अधोपतनका हेतु है। इसलिये—

कु०:-धर्म पराया जो करे, सो नर बाल अबुद्ध।
सदा करे निज धर्म सो, योगी प्राज्ञ प्रबुद्ध॥
योगी प्राज्ञ प्रबुद्ध, धर्म अपना ही करता।
करता भगवद्भक्ति, सहज भवसागर तरता॥
पार्थ-सखा समुझाय, युद्ध श्रीकृष्ण कराया।
भोला! भला स्वधर्म, शोकप्रद धर्म पराया॥

श्रीमान्:—(आश्चर्य करता हुआ) महाराज! क्या युद्ध भगवान्‌ने कराया था? तब तो लोगोंका यह कथन ठीक ही है कि कृष्णने युद्ध कराकर भारतका नाश कर दिया।

पण्डितजी:—सेठजी! भगवान् कुछ करते कराते नहीं हैं, जैसा हम करते हैं, वैसा ही भोगते हैं। भगवान् समान हैं, फिर भी वे पापियोंके लिये महा क्रूर हैं और धर्मात्माओंके लिये अति सौम्य हैं। भगवान्‌को कोई अपना पराया नहीं है।

एक दिन गान्धारीने कहा, 'हे कृष्ण! यह महाभारत किसने कराया है?' भगवान् बोले, 'मैं ही महाभारतका करानेवाला हूं!' गान्धारी बोली, 'तब तो जैसे तुमने मेरे कुटुम्बका नाश कराया है, इसी प्रकार तुम्हारे कुटुम्बका भी नाश होगा, ऐसा मैं शाप देती हूं।' भगवान् हंसकर बोले 'तथास्तु'। सेठजी! देखा, भगवान् तो निष्पक्ष हैं, असङ्ग हैं, निर्लेप हैं, कुछ भी करते नहीं हैं, और सब कुछ करते हैं! आजकलके लोगोंकी आंखें लोभने ढक दी हैं, चर्मचक्षुको ही वे प्रमाण मानते हैं, उपरकी टीपटाप देखकर उनकी आंखें चौंधिया गयी हैं! शास्त्र संस्कारसे वे रहित हैं, वे न कालको मानते हैं न कर्मको और न ईश्वरको! मानें भी कहांसे? ईश्वरको देखनेकी आँखें अन्धी हो रही हैं! तभी तो वे ईश्वरपर दोषारोपण करते हैं और इसीसे दुःख पा रहे हैं! भगवान् उनपर दया करें और उनकी आंखें खोल दें! सेठजी! काल, कर्म और ईश्वर ये तीनों ही संसारके कारण, जगत्‌के कर्ता धर्ता हैं! जीव परतन्त्र है! जीवका किया हुआ कुछ नहीं हो सकता, जो कुछ पूर्व जन्ममें किया है, वह इस जन्ममें अवश्य भोगना पड़ता है! हां, नया कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है! जो पाप करता है, आगे दुःख भोगता है। जो पुण्य करता है, सुख भोगता है और जो भगवत्‌की प्रीतिके लिये निष्काम-कर्म करता है उसको भगवत्‌की प्राप्ति होती है। भगवान्‌ने निष्काम-कर्म करनेके लिये ही बारम्बार कहा है। भगवान्‌ने जो बारम्बार युद्ध करनेको कहा है, इसमें उनका अभिप्राय स्वधर्मसे है, युद्धसे नहीं। युद्ध विधि नहीं है, युद्धके प्रसंगमें अर्जुनको मोह हुआ था इसलिये भगवान्‌ने उसे युद्धरूप वर्तमान स्वधर्मका पालन करनेको कहा। निष्काम स्वधर्मका आचरण ही भगवद्भक्ति है और वही गीताका उद्देश्य है।

(५)

श्राद्ध-तर्पण

श्रीमान्:—महाराज! श्राद्ध-तर्पण गीताको मान्य है या नहीं? पुनर्जन्मको प्राप्त हुए पिताको पिण्ड कैसे मिलता है? इसमें प्रमाण क्या है?

पण्डितः—भाई! श्राद्ध-तर्पण नित्य-नैमित्तिक कर्म है, नित्य-नैमित्तिक कर्म मनुष्यका कर्तव्य है, ऐसा गीता और श्रुतिका मत है। प्रथम अध्यायमें अर्जुनका वचन है:—'कुलके नाश करनेवाले पुरुषको नरकमें डालनेके लिये वर्णसंकर पुत्र जन्मता है। कुलके नाश करनेवालेके पितर पिण्ड-जलकी क्रिया लोप होनेसे नरकमें पड़ते हैं।' अर्जुनके इस वचनसे सिद्ध होता है कि पुत्रका दिया हुआ पिण्ड-जल ही पितरोंको मिलता है, अन्यके वीर्यसे स्व-स्त्रीमें जन्मे हुए पुत्रका दिया हुआ पिण्ड-जल पिता अथवा पितरोंको नहीं मिलता, यह बात श्रुतिमें भी कही है:—'न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति' अर्थात् 'हे अग्ने! अपनी स्त्रीके उदरमें अन्य पुरुषसे उत्पन्न हुआ पुत्र 'पुत्र' नहीं होता।' यास्क मुनिका वचन है:—'अन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्यो ममायं पुत्र इति' 'अपनी स्त्रीके उदरमें अन्य पुरुषसे उत्पन्न हुए पुत्रको क्षेत्रपति पिता मनसे भी अपना न माने।' इससे सिद्ध होता है कि मुख्य पुत्रका पिण्डदान ही पिताको मिलता है। भगवान्‌ने कहीं भी श्राद्ध-तर्पणका निषेध नहीं किया है, उल्टे कर्म करनेको बारम्बार कहा है, इससे सिद्ध होता है कि गीताको श्राद्ध-तर्पण मान्य है। जिस पिताका जन्म हो गया है, उसको पिण्ड पहुँचनेमें मत्स्यपुराणका यह वचन प्रमाण है:—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तदन्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
दैत्यत्वे मद्यमांसादि पशुत्वे च तृणं भवेत्।
मनुष्यत्वेऽन्नपानादि नानाभोगरसम्भवेत्॥

अर्थः—यदि शुभ कर्मोंके योगसे पिता देवता हो जाता है तो पिण्ड अमृत होकर देवताको प्राप्त होता है। यदि पिता दैत्य होता है तो मद्य-मांसरूप होकर प्राप्त होता है, पशु

होनेपर पिण्ड घास भूसा आदि होकर प्राप्त होता है और मनुष्य हुए पिताको अन्न-पानादि अनेक रसरूप भोग होकर प्राप्त होता है।' सेठजी! पिताका श्राद्धादि अवश्य करना चाहिये, यथायोग्य पिण्ड देना चाहिये। अश्रद्धासे किया हुआ श्राद्ध दुष्ट और निष्फल होता है। श्राद्धके दिन जुआ खेलना, कलह करना, दिनमें सोना, दुबारा भोजन करना, मार्ग चलना, मैथुन और दान लेना वर्जित है। श्राद्धकी सामग्रीसे बने हुए बेलके आकारवाले पितरके देने योग्य अन्नको पिण्ड कहते हैं।

(६)

पितृयान और देवयान मार्ग।

श्रीमान्ः—महाराज! गीतामें दो प्रकारकी गतियां बतलायी हैं, कृपया उनका संक्षेपसे वर्णन कीजिये।

पण्डितजीः--भाई! गीतामें पितृयान और देवयान दो मार्ग बताये हैं। उनमें पितृयान-मार्ग कर्मी पुरुषोंका है, और देवयान-मार्ग उपासकोंका है। पितृयान-मार्गसे कर्मी पुरुष स्वर्गलोकको जाते हैं और पुण्यका भोग समाप्त होनेपर वहांसे लौट आते हैं। देवयान-मार्गसे उपासक ब्रह्मलोकको जाते हैं। उनमेंसे विशेषकरके लौटकर नहीं आते, ब्रह्मके साथ मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं। कोई कोई उपासक ब्रह्मलोकसे लौट आते हैं। दहरादि अहंग्रह उपासनावाले ब्रह्मलोक जाकर वहांसे लौटते नहीं हैं और पञ्चाग्नि विद्यावाले लौटकर आते हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है कि 'अग्निरूप ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, छः मास उत्तरायणमें गये हुए सगुण ब्रह्मके उपासक सगुण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।' अग्नि आदि शब्दोंसे उनके अभिमानी देवताओंका ग्रहण है और अग्नि आदि श्रुतिमें बताये हुए अन्य देवताओंके भी उपलक्षक हैं। उपासकके जानेका क्रम यह है:—प्रथम उपासक अग्निके अभिमानी देवताको प्राप्त होता है, पीछे दिनके अभिमानी देवताको, पीछे शुक्लपक्षके अभिमानीको, फिर छः मास उत्तरायणके अभिमानीको, फिर संवत्सरके अभिमानीको, फिर देवलोकके अभिमानीको, फिर वायु देवताको, फिर आदित्यको, फिर चन्द्रमाको, फिर विद्युत्को, फिर वरुणको, फिर इन्द्रको, फिर प्रजापतिको और फिर ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। भाव यह है कि उपासकको प्रथम अग्नि देवता अग्निलोकमें ले जाता है, अग्निलोकसे दिनका अभिमानी देवता अपने लोकमें ले जाता है, इसी प्रकार आगेके देवता अपने अपने लोकमें ले जाते हैं। विद्युल्लोकमें ब्रह्मलोकवासी अमानव पुरुष आकर उपासकको वरुणलोकमें ले जाता है। विद्युत्का अभिमानी देवता उपासक और अमानव पुरुषके साथ वरुणलोक तक जाता है। पीछे वरुण देवता इन्द्रलोक तक दोनोंके साथ जाता है, पीछे इन्द्र देवता प्रजापतिलोक तक दोनोंके साथ जाता है। प्रजापतिको ब्रह्मलोकमें जानेका सामर्थ्य नहीं है इसलिये केवल अमानव पुरुष ही उपासकको ब्रह्मलोकमें ले जाता है। प्रजापतिका अर्थ विराट् है। अग्निसे लेकर प्रजापति तक सब देवता देवयान-मार्गमें जानेवाले सगुण ब्रह्मके उपासकको हिरण्यगर्भरूप सगुण ब्रह्म तक पहुँचा देते हैं। सगुण ब्रह्मद्वारा अन्तमें उपासक निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होता है। पितृयानमें जानेवाले कर्मीका क्रम यह है: कर्मी पुरुष प्रथम धूमके अभिमानी देवताको प्राप्त होता है, पीछे रात्रिके अभिमानी देवताको, पीछे कृष्णपक्षके अभिमानी देवताको, पीछे षट्मास दक्षिणायनके अभिमानी देवताको, पीछे पितृलोकके अभिमानी देवताको, पीछे आकाशके अभिमानी देवताको, पीछे चन्द्रलोकको प्राप्त होता है। चन्द्रलोक ही स्वर्ग कहलाता है। स्वर्गलोकमें पुण्यकर्मके भोगकालपर्यन्त निवास करता है, पश्चात् बाकी बचे हुए पुण्य-पाप कर्मोंके वशसे फिर उसी मार्गद्वारा मनुष्यलोकमें लौट आता है। भगवान्ने धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन चार ही देवता कहे हैं, ये चारों पितृलोक, आकाश और चन्द्रलोकके अभिमानी देवताओंके उपलक्षक हैं।

(७)

गीतापूजन

श्रीमान्ः-पण्डितजी! क्या गीताका पूजन भी करना चाहिये?

पण्डितजीः हां! अवश्य पूजना चाहिये! भगवन्-भावसे ही पूजना चाहिये! जैसे शालग्रामको विष्णुबुद्धिसे पूजते हैं अथवा पार्थिवकी शंकररूपसे आराधना करते हैं, इसी प्रकार भगवद्गीताको साक्षात् कृष्णरूप भावसे चन्दन, पुष्प, धूप आदिसे पूजना चाहिये! भाई! भाव ही तो मुख्य है! भगवान् भावके ही भूखे हैं! भगवान् तो खम्भेसे निकल आये थे! गीता तो उनका स्वरूप ही है, फिर गीताके पूजनेसे क्या वे दर्शन नहीं देंगे? अवश्य देंगे! भाई! प्रतिवर्ष बहीका लक्ष्मीरूपसे पूजन करता है या नहीं? पूजी हुई बही राज्यमें भी प्रमाण समझी जाती है! जब विदेशी सरकार पूजी हुई बहीको प्रमाण मानती है तो हमें गीताको भगवद्रूप माननेमें क्यों संशय करना चाहिये?

हमको तो आरम्भसे सिखाया ही जाता है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।' भगवान् कहते हैं 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इसलिये हे भावुक ! गीताका प्रेमसे नियमपूर्वक पाठ किया कर, भगवान्‌का ध्यान किया कर, गीताका ही जप किया कर, अवश्य तेरा कल्याण होगा और तू किसी दिन सच्चा श्रीमान् बन जायगा ! कहा भी है:—

> कुं०-भगवद्गीता प्रेमसे, पूजें पुष्प चढ़ाय।
> पढ़ें सदा ही नियमसे हरिपद प्रेम बढ़ाय॥
> हरिपद प्रेम बढ़ाय, चित्तका मैल मिटावें।
> मन हो निर्मल स्वच्छ, कृष्णका दर्शन पावें॥
> जन्म मरण भय जाय, अमर हो जुग जुग जीता।
> भोला ! मत जा भूल याद रख भगवद्गीता॥

और भी कहा है:—

> कुं० गीता गीता रटत जो धरत कृष्णको ध्यान।
> हरि कृपा ते सहज ही पावत पद कल्यान॥
> पावत पद कल्यान लौट नहिं जगमें आवत।
> हो भगवत्‌में लीन, राज्य निष्कण्टक पावत॥
> भोला ! निश्चय जान जगत् है सुपनसम गीता।
> धरि भगवत्‌का ध्यान पाठ कर भगवद्गीता॥

(८)

कर्म, अकर्म और विकर्मकी व्याख्या

> कर्माकर्मविकर्मान्तं क्रियाकारकवर्जितम्।
> निष्कलं निश्चलं शान्तं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

एक शिष्यने एक दिन एक सन्तसे इस प्रकार प्रश्न किया—

शिष्यः—महाराज ! श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्रमें विधान किये हुए अर्थका नाम कर्म है और शास्त्रमें निषेध किये हुए अर्थका नाम विकर्म है, यह बात तो समझमें आती है। शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये और शास्त्रनिषिद्ध कर्मसे बचना चाहिये, यह ठीक है; परन्तु अकर्म क्या है, यह समझमें नहीं आता। कर्म न करनेको यानी चुपचाप बैठ जानेको अकर्म कहें तो यह बन नहीं सकता, क्योंकि चुपचाप बैठना हो ही नहीं सकता, चुपचाप बैठनेसे तो प्राणीका जीवन ही नहीं रहेगा। कारण खाने पीने, चलने फिरने, व्यापारादि करनेसे ही तो प्राणियोंका जीवन चलता है। तब चुपचाप बैठना तो अकर्मका अर्थ है नहीं, फिर अकर्मका क्या अर्थ है ? गीतामें कर्ममें अकर्म देखनेको और अकर्ममें कर्म देखनेको कहा है, और ऐसा देखनेवालेको बुद्धिमान् बताया है, यह बात समझमें नहीं बैठती। कृपा करके सरल रीतिसे समझाइये।

सन्तः—बच्चा ! कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरूप बतानेके लिये ही भगवान्‌ने यह श्लोक कहा है—

> कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥(गी०४।१८)

श्रीभगवान् कहते हैं—हे अर्जुन ! देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदिका श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्र-विहित जो व्यापार है, उसका नाम कर्म है और शास्त्र-निषिद्ध व्यापारका नाम विकर्म है। यह कर्म-विकर्मरूप कर्म वस्तुतः तो देह-इन्द्रियादिमें ही रहता है, असङ्ग आत्मामें कर्म नहीं रहता तो भी वह व्यापाररूप कर्म 'मैं करता हूँ' ऐसा सबको अनुभव होता है यानी सब अपनेको कर्ता मानते हैं। इस प्रतीतिके बलसे आत्मामें कर्म आरोपण करनेमें आता है। जैसे नदीके किनारेके वृक्षोंमें यद्यपि वास्तवमें चलनरूप क्रिया नहीं होती तो भी नौकामें बैठे हुए पुरुष नौकाके चलनेसे नदीके किनारेके वृक्षोंमें चलनरूप क्रियाका आरोपण करते हैं, इसी प्रकार शास्त्र-विचारसे रहित मूढ़ पुरुष अक्रिय आत्मामें देहेन्द्रियादिके व्यापार-रूप कर्मका आरोपण करते हैं। आत्मामें कर्म आरोपित है, वस्तुतः आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार विचारकर आत्मामें कर्मका अभाव देखना ही कर्ममें अकर्म देखना है। भाव यह है कि जैसे नौकामें बैठे हुए पुरुष यद्यपि किनारेके वृक्षोंमें चलनरूप कर्मका आरोपण करते हैं तो भी वस्तुतः वृक्षोंमें चलनरूप क्रिया नहीं है, इसी प्रकार मूढ़ पुरुष यद्यपि अक्रिय आत्मामें देहादिके व्यापाररूप कर्मका आरोपण करते हैं तो भी अक्रिय आत्मामें परमार्थसे कर्मोंका अभाव ही है, इस प्रकार देखना कर्ममें अकर्म देखना है। और देह-इन्द्रियादि सत्त्वादि तीनों गुण-वाली मायाका परिणाम है इसलिये देहादि सर्वदा व्यापाररूप कर्म करनेवाले हैं, उन देहादिमें वस्तुतः कभी भी कर्मका अभाव नहीं होता तो भी देह-इन्द्रिय आदिमें कर्मके अभावका आरोपण होता है। जैसे दूर देशमें चलते हुए पुरुषोंमें यद्यपि वस्तुतः गमनरूप क्रियाका अभाव नहीं है तो भी दूरत्वरूप दोषके कारण उनमें गमनरूप क्रियाके अभावका आरोपण किया जाता है, अथवा जैसे आकाशमें स्थित चन्द्र नक्षत्र आदिमें वस्तुतः गमनरूप क्रियाका अभाव नहीं है, वे सर्वदा चलते ही रहते हैं, तो भी दूरके कारण उन चन्द्रादिमें गमनरूप क्रियाके अभावका आरोपण होता है। इसी प्रकार सदा व्यापाररूप कर्मवाले

देह-इन्द्रियादिमें वस्तुतः कर्मका अभाव नहीं है तो भी 'मैं चुपचाप बैठा हूं, कुछ भी नहीं करता' इस प्रकारकी अध्यासरूप प्रतीतिके बलसे देहादिमें कर्मके अभावका आरोपण करनेमें आता है। इस प्रकार देह-इन्द्रिय आदिमें आरोप की हुई व्यापार उपरामतारूप जो अकर्म है, उस अकर्ममें देह-इन्द्रिय आदिके सर्वदा व्यापाररूप वास्तविक स्वरूपका विचार करके, कर्म देखनेका नाम अकर्ममें कर्म देखना है। भाव यह है कि जैसे दूर देशमें चलनेवाले पुरुष तथा आकाशमें गतिशील चन्द्रादिमें यद्यपि दूरीके कारण गमनरूप क्रियाका अभाव प्रतीत होता है तो भी वस्तुतः वे क्रियावाले ही हैं, वैसे ही 'मैं चुप बैठा हूं, कुछ करता नहीं हूं' इस प्रकारकी अध्यासरूप प्रतीतिके बलसे यद्यपि देह-इन्द्रियादिमें व्यापाररूप कर्मका अभाव प्रतीत होता है, तो भी देह-इन्द्रिय आदि वस्तुतः कर्मवाले ही हैं। उदासीन अवस्थामें भी 'मैं उदासीन होकर स्थित हूँ' इस प्रकारका अभिमान भी कर्म ही है। इस प्रकार देखनेका नाम अकर्ममें कर्म देखना है। ऐसे कर्ममें अकर्म देखनेवाला और अकर्ममें कर्म देखनेवाला पुरुष परमार्थ-दर्शी है, क्योंकि वह यथार्थ देखनेवाला है यानी अक्रिय आत्माको अक्रिय देखता है और क्रिया करनेवाले देहादिको क्रिया करनेवाला देखता है। परमार्थदर्शी होनेसे वही सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वही योगयुक्त है और वही सब कर्मोंको करनेवाला है। 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इस प्रथम पदसे श्रीभगवान्ने कर्म तथा विकर्मका वास्तविक स्वरूप दिखलाया है क्योंकि 'कर्म' शब्द विहित कर्म और निषिद्ध कर्म दोनोंका वाचक है और 'अकर्मणि च कर्म यः' इस दूसरे पदसे भगवान्ने अकर्मका वास्तविक स्वरूप दिखलाया है। भगवान्का तात्पर्य यह है 'कि हे अर्जुन! तू जो मानता है कि कर्म बन्धनका हेतु है इसलिये मुझे करना नहीं चाहिये, मुझे चुपचाप होकर बैठ जाना चाहिये, तेरा यह मानना मिथ्या है क्योंकि 'मैं कर्मोंका कर्ता हूँ' इस प्रकारका कर्तृत्व अभिमान जबतक रहता है तबतक ही विहित कर्म और निषिद्ध कर्म उसको बन्धन करते हैं। कर्तृत्व अभिमानसे रहित शुद्धको केवल देह-इन्द्रियादिका धर्म मानकर किये हुए कर्म बन्धन नहीं करते। यही बात 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' इत्यादि वचनोंसे पूर्वमें कह चुका हूं। हे अर्जुन! कर्तृत्व अभिमान होनेपर 'मैं चुपचाप बैठा हूं' इस प्रकारकी उदासीनताके अभिमान-रूप जो कर्म है, वह कर्म भी बन्धनका हेतु है; क्योंकि कर्तृत्वाभिमानी पुरुषने वस्तुका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना, इसलिये हे अर्जुन! कर्म, विकर्म और अकर्म इन तीनोंके वास्तविक स्वरूपको जानकर कर्तृत्व अभिमानसे रहित होकर और फलकी इच्छा छोड़कर तू शास्त्र-विहित शुभ कर्मोंको ही कर!'

इस श्लोकका दूसरा अर्थ इस प्रकार है:—प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य ज्ञानका जो विषय हो, उसका नाम कर्म है। यह दृश्यरूप तथा जड़रूप प्रपञ्च ऐसा ही है, इसलिये प्रपञ्चका नाम कर्म है। क्रियारूप होनेसे भी प्रपञ्चका नाम कर्म है। जो वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाणजन्य ज्ञानका विषय न हो, वह वस्तु अकर्म कहलाती है। ऐसा स्वप्रकाश, सर्वभूतका अधिष्ठानरूप चैतन्य है इसलिये चैतन्यरूप परमात्मादेव अकर्म है। अक्रिय होनेसे भी चैतन्य अकर्म है। जो पुरुष जगतरूप कर्ममें अपनी सत्ता-स्फुरणासे अनुस्यूत स्वप्रकाश-अधिष्ठान-चैतन्यरूप अकर्मको परमार्थदृष्टिसे देखता है और जो पुरुष उस स्वप्रकाश अधिष्ठान-चैतन्यरूप अकर्ममें इस मायामय दृश्य प्रपञ्चरूप कर्मको कल्पित देखता है अर्थात् द्रष्टा चैतन्यका तथा दृश्य प्रपञ्चका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, इसलिये वस्तुरूपसे दृश्य प्रपञ्च द्रष्टा चैतन्यमें है ही नहीं, इस प्रकार जो देखता है, वही बुद्धिमान्, योगयुक्त और सब कर्मोंका कर्ता है।

श्रुति कहती है:-

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥'

अर्थात्—'जो पुरुष सर्व भूतोंको अधिष्ठान आत्मामें कल्पित देखता है, और सर्वभूतोंमें सत्ता-स्फुरणारूपसे आत्माको अनुस्यूत देखता है, वह परमार्थदर्शी पुरुष किसीकी निन्दा नहीं करता इसलिये सबसे श्रेष्ठ है।'

चैतन्य आत्माका तथा दृश्य जगत्का परस्पर अध्यास होनेपर भी जो पुरुष परमार्थ-दृष्टिसे शुद्ध चैतन्यको ही देखता है, वह विद्वान् पुरुष ही सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, उसके सिवा दूसरा बुद्धिमान् नहीं है, क्योंकि इस लोकमें भी यथार्थ-दर्शी ही बुद्धिमान् कहलाता है, अयथार्थ-दर्शी बुद्धिमान् नहीं कहलाता। जैसे रज्जुको रज्जु जाननेवाला पुरुष ही बुद्धिमान् कहलाता है और रज्जुको सर्प जाननेवाला बुद्धिमान् नहीं कहलाता इसी प्रकार सर्वके अधिष्ठानरूप शुद्ध चैतन्यको देखनेवाला पुरुष ही परमार्थ-दर्शी होनेसे बुद्धिमान् है और अनात्म प्रपञ्चको देखनेवाला अज्ञानी

पुरुष मिथ्या-दर्शी होनेसे बुद्धिमान् नहीं हो सकता। परमार्थ-दर्शी पुरुष ही बुद्धिके साधनरूप योगसे युक्त है और अन्तःकरणकी शुद्धिसे एकाग्रचित्तवाला है और ऐसा होनेसे सर्व कर्मोंका कर्ता भी है।

हे भावुक ! आत्माको अकर्ता जानकर देह, इन्द्रिय और बुद्धिसे शास्त्र-विहित शुभ निष्काम कर्म करना, इतना ही कर्म, विकर्म और अकर्मके स्वरूप जाननेका प्रयोजन है और यही मोक्षका साधन और स्वरूप है। मोक्ष ही आत्मारूप अकर्म है।

कुं०-देखे कर्म अकर्ममें, कर्मन मांहि अकर्म।
पण्डित योगी श्रेष्ठतम, करत सर्व ही कर्म॥
करत सर्व ही कर्म, कर्ममें लिप्त न होवे।
जानत कर्म अकर्म, शान्त मन सुखसे सोवे॥
करे देहसे कर्म, आत्मको निष्क्रिय देखे।
भोला ज्ञानी सोय, आपमें सबको देखे॥

गीताका सबसे बढ़िया श्लोक

(लेखक-एक संन्यासी महोदय)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(गी० १८।६५)

'मुझ (पूर्ण परमात्मा) का चिन्तन कर, मेरी आराधना कर, जो कुछ करे सो मेरे लिये कर और मुझे प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू अवश्य मुझे पा लेगा (अर्थात् अपने अन्दर तथा बाहर सब जगह मुझ परमात्माको ही देखने लगेगा। मैं तुझे सत्य भावसे विश्वास दिलाता हूं, क्योंकि तू मुझे प्यारा है।' इसके पूर्वके श्लोकमें जो इस प्रकार है-'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः' (अर्थात् मेरे बहुमूल्य उपदेशको सुन, जिसके अन्दर सबसे गूढ़ और पवित्र सिद्धान्त भरा हुआ है) भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं इस बातको स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि इसके आगेका श्लोक सबसे उत्कृष्ट है। श्रीधरस्वामीने इस श्लोककी टीका-में कहा है-'अतिगम्भीरं गीताशास्त्रमशेषतः पर्यालोचयितुमशक्नुवतः कृपया स्वयमेव तस्य सारं संगृह्य कथयति-सर्वगुह्यतमामिति।' अर्थात् जो लोग गीतारूपी अगाध सागरमें गोता नहीं लगा सकते उनके लिये अब भगवान् स्वयं सारभूत सिद्धान्त समझाते हैं। सप्तश्लोकी गीताके नामसे जो सात श्लोक प्रसिद्ध हैं, उनमें भी सबसे अन्तिम श्लोक यही है। अतः सब लोगोंकी दृष्टिमें इस श्लोकको सबसे ऊँचे मानका स्थान प्राप्त है और इसी-लिये हम भी इसे बिना किसी आपत्तिके गीताका सबसे उत्तम श्लोक मान सकते हैं। इसके अन्दर जो उपदेश दिया गया है वह क्रमशः आचरणमें लाने योग्य है। यही नहीं, वह आत्माको हिला देने और जोशसे भर देनेवाला है, क्योंकि इसके अन्दर जो बात कही गयी है, वह प्रेमके ज़ोरसे कही गयी है। इस प्रकार दीनसे दीन और हीनसे हीन मनुष्य भी सच्चे दिलसे परमात्माको नमस्कार करके उसकी सेवा कर सकता है, क्योंकि वह सर्वत्र सब कालमें विद्यमान है। जो लोग शरीरसे समर्थ हैं वे केवल परमात्माके लिये निःस्वार्थ-बुद्धिसे अनेक प्रकारके अच्छे काम करके उन्हें प्रसन्न कर सकते हैं, चाहे वे बाह्य पूजाके रूपमें हों अथवा लोकहित-के लिये किये गये पारमार्थिक कामोंकी शकलमें हों। जो लोग भजनानन्दी हैं, वे समस्त जीवोंके उद्धारके लिये अपना सारा जीवन भगवान्को अर्पण करके उन्हींकी आराधना कर सकते हैं। जो लोग बहुत ऊंची आध्यात्मिक स्थितिको प्राप्त कर चुके हैं वे सर्वदा ध्यानावस्थित रहकर, उसीका चिन्तन कर सकते हैं और इस प्रकार अपने अन्दर और दूसरे सब लोगोंके अन्दर उसीका अनुभव कर सकते हैं।

परिव्राजक श्रीकृष्णानन्द स्वामीने,-जो हिन्दू-धर्मके एक बड़े भारी उपदेशक और गीताके व्याख्याता थे,-अपनी विद्वत्तापूर्ण टीकामें बतलाया है कि गीताके पहले छः अध्यायोंमें जिस कर्मयोग (कर्मके द्वारा आत्मानुभव) का विवेचन किया गया है उसका भाव संक्षेपमें 'मद्याजी' शब्दके द्वारा द्योतित किया गया है। इसी प्रकार अगले छः अध्यायोंमें निरूपित भक्तियोग (भक्तिके द्वारा परमात्म-प्राप्ति) के सारे विस्तारका 'मद्भक्तः' इस पदके अन्दर समावेश कर दिया गया है और 'मन्मनाः' इस पदके द्वारा ज्ञान-योग (ध्यानके द्वारा आत्मसाक्षात्कार) का सङ्केत किया गया है, जिसका गीताके अन्तिम छः अध्यायों-में विस्तार-पूर्वक वर्णन है। मनुष्य-शरीरके अन्दर तथा सारे ब्रह्माण्डमें परमात्माकी अभिव्यक्तिके जो तीन प्रकार हैं, उनका

इस श्लोकमें ज्ञान, भक्ति और कर्म इस अनुलोम-क्रमसे निरूपण किया गया है। इस प्रकार जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान हो गया है, जिनका हृदय परमात्माके अन्दर रम गया है और जो सच्चे दिलसे काम करनेवाले हैं, उन तीनोंको ही जीवनमें शान्ति-लाभ करनेके लिये इस संसाररूपी रङ्गस्थलमें अपना अपना पार्ट करनेका आदेश इस श्लोकमें दिया गया है। शरणागति अथवा आत्मसमर्पणका मार्ग,-जो उपासनाका सबसे व्यापकरूप है और जिसका सङ्केत 'मां नमस्कुरु' इस श्लोकपादके द्वारा किया गया है,-सभी श्रेणीके लोगोंके लिये है। 'तमेव शरणं गच्छ' (उसीका आश्रय पकड़ ले) और 'मामेकं शरणं व्रज' (मुझ परमात्माका ही अनुसरण कर) इन वाक्योंमें इसी मार्गका उपदेश किया गया है।

गीताके प्रत्येक श्लोकको लोग मन्त्रकी दृष्टिसे देखते हैं और दिनमें जितनी बार इस प्रसिद्ध श्लोककी आवृत्ति की जायगी, उतनी ही बार सारी गीताका पारायण हो जायगा, क्योंकि इसके अन्दर गीता एवं उपनिषदोंके उपदेशोंका सार गागरमें सागरकी तरह भर दिया गया है। इसके अतिरिक्त जिस आत्मसमर्पणका महान् उपदेश भगवान्ने कृपापूर्वक सब कालके लिये और प्रत्येक आश्रमके लिये दिया है, उसका यह श्लोक स्मरण दिलाता है। आध्यात्मिक साधनका यह मार्ग इतना अधिक व्यापक है कि वह सबको मान्य हो सकता है, चाहे वे स्त्री हों पुरुष हों और किसी धर्म या वर्गके अन्तर्गत हों।

यह श्लोक हमें यह भी बतलाता है कि कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीनोंका परमात्माके लिये निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अर्थात् जो कुछ भी हम करें, अनुभव करें और सोचें वह सब उसीके लिये करते रहनेसे एवं उस परम वल्लभ परमात्माके वात्सल्यपूर्ण अङ्कमें ज्ञानपूर्वक अपनेको डाल देनेसे हमें उस गुह्यतम योगकी प्राप्ति हो सकती है, जिसमें जीवात्माका ब्रह्मके साथ नित्य सम्बन्ध हो जाता है।

गीता-गौरव

स्वर्ग जिमि लोकनमें सरितामें सुरसरी,
सत्य व्रत धारिनमें हरिश्चन्द्र भूप है।
ऋषिनमें नारद त्यों शारद सुपण्डितोंमें,
बाल ब्रह्मचारिनमे भीष्म भव्य रूप है।
भाइनमे भरत यों मारुति कपिन्ह मंह,
लखन सुवीरनमें आदर्श स्वरूप है।
सागरमे क्षीर धनुधारिनिमें पार्थ त्यों ही,
सर्वोपनिषद्में गीता ही अनूप है।

(२)

कपटी कुटिल कौरवोंका कुलनाशिनी है,
महामोह भंजनको वर यम फाँसी है।
पार्थके हृदय माँहि ज्ञानके प्रकाशनको,
यही मनमोहनके मुखसों विकासी है।
येहि भवसागरसे तारनको तरनि है,
अघतम नाशनको भानुकर राशी है।
''सूर्य'' के हृदयको तू शान्त नित करती है,
परम पुनीत जग जननी सिया-सी है।

—सूरजमल गौड़ 'सूर्य'

प्रबोध

(१)

सन्ध्याके झोंकोसे चञ्चल विस्तृत सागर-तीरे ।
जीवन-वीणा बजा रहे हो योगी धीरे धीरे ॥
अन्तर्जगकी आकुलताके ये मतवाले गाने ।
रत्नाकरमें मूक वेदना उठा रहे क्यों जाने ?

खींच प्रलयकी रेखा मानों सागरकी ये लहरें ।
छायानट सी दिखा रही हैं मृत्युकेश शत बिखरे ॥

(२)

भूमि-परिधिकी सीमासे उड़ अन्तरिक्षको जाऊ ।
अथवा ज्ञानलोकमें ही नव शान्ति-प्रसगको पाऊँ ॥
इन्द्रजालसे बिछे जगत्‌की अस्थिर है यह माया ।
घिरे हुए बादलसे रविकी कहीं धूप घन छाया ॥

करुणस्वरोंकी मादक धारा शनैः शनैः मन मेरे ।
प्रतिपल मोहमयी कल मदिरा भरती अलस घनेरे ॥

(३)

दीप-शिखाकी क्षीण ज्योतिसे तारे बेसुध सोते ।
अर्धनिशामें मधुमय स्वप्नोंके नव सुमन पिरोते ॥
भावोंके गम्भीर सलिलमें गोते गहन लगाना ।
मृग-मरीचिका क्षुब्ध पथिक सा हा ! निराश हो जाना ॥

पृथ्वीसे ले शून्य गगन तक देख न पड़ता अपना ।
कौन भला बतलावे जग है केवल मिथ्या सपना !

(४)

उज्ज्वल नभ पंखोंपर उड़कर कौन बजाता वंशी ?
स्वप्न, मतिभ्रम माया है यह अथवा हैं यदुवंशी !!
क्या सुनता हूँ : 'छोड़ सभी धर्मोंको आओ प्यारे ।
चिन्तित मन हो, मुक्त करूंगा पापोंसे मैं सारे'* ॥'

जीवन तन्द्रा भंग हुई सुन, हरिके वचन सलोने ।
हृदय-स्रोतकी हर्ष वीचिका चलीं पद्म-पद धोने ॥

—सत्याचरण 'सत्य' बी० ए० विशारद

* सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

गीता और पाश्चात्य योग (Mysticism*)

(ले०—श्रीयुत शिवदास बुद्धिराज-चीफ जस्टिस, काश्मीर)

सामान्यरूपसे ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वीय एवं पश्चिमीय देशोंमें उभयत्र ही योगशास्त्रकी उत्पत्ति इस सिद्धान्तके आधार पर हुई है कि नाम-रूपात्मक जगत्, जिसके साथ सामान्य मनुष्योंका इतना घनिष्ठ परिचय है, वास्तवमें धोखेकी टट्टी है, दुःखका रङ्गस्थल है, उससे एकबारगी मुख मोड़ लेना ही वास्तविक एवं सच्चा सुख तथा आनन्द प्राप्त करनेका साधन है और इन्द्रियातीत सत्य पदको जिसे गीताने 'परम पद' कहा है, प्राप्त करना ही चरम लक्ष्य है।

दोनों जगह योगका लक्ष्य एक है, केवल इतनी ही बात नहीं है; अपितु इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिये जिन साधनों और उपायोंका अवलम्बन किया गया है, वे भी प्रायः एक हैं। पाश्चात्य योगमें इस लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये तीन सीढ़ियां बतलायी गयी हैं जो प्राचीन कालसे प्रचलित हैं। पहली सीढ़ीका नाम है तप (Purgation), दूसरीका ज्ञान (Illumination) और तीसरीका नाम है योग (Union)।

प्राच्य योगका जो स्वरूप गीतामें है उसमें भी (१) 'ब्रह्मभूत' (२) 'ब्रह्मसंस्पृष्ट' और (३) 'ब्रह्म-संस्थ' ये तीन अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं।

इन सीढ़ियोंके विषयमें जिन्हें प्राच्य एवं पाश्चात्य देशों-के योगियोंने बतलाया है, तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करने-से यह विदित होता है कि योगकी उक्त दोनों पद्धतियोंमें केवल साधनों और प्रक्रियाओंकी ही प्रधान अंशोंमें एकता नहीं है अपितु योगियोंके व्यक्तिगत अनुभवोंका वर्णन करनेमें जिन शब्दोंका प्रयोग किया गया है, वे भी एक हैं। उदाहरणके लिये गीताके छठे अध्यायके २८ वें श्लोकको ही लीजिये, जिसमें स्पष्टरूपसे ध्यानयोगका (Mystic way) निरूपण है। इस श्लोकका अनुवाद इस प्रकार होगा:—

'जो योगी (Mystic) पापरहित होकर इस प्रकार निरन्तर योग-साधन करता है, वह सहज ही में ब्रह्म-संस्पर्श-रूप आत्यन्तिक सुखको प्राप्त होता है। अपने यहां पूर्वीय देशोंमें योगियोंके अनुभवोंका कोई सविस्तर वृत्तान्त नहीं मिलता, क्योंकि वे लोग अपने अनुभवोंको लेखबद्ध नहीं करते थे। इस ऊपरके श्लोकको पढ़कर 'ब्रह्म-संस्पर्श' और 'आत्यन्तिक सुख' इन शब्दोंका भाव शायद ही कोई समझ सके। किन्तु पश्चिमीय देशोंके योगियोंने जो वृत्तान्त अपने सम्बन्धमें प्रकाशित करवाये हैं, उनके पढ़नेसे इस श्लोकमें जो अनुभव सूत्ररूपसे बतलाया गया है, उसके हृदयङ्गम करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। 'ब्रह्म-संस्पर्श' का क्या अर्थ है यह स्कैरामेली (Scaramelli) के निम्न-लिखित अवतरणसे स्पष्ट हो जायगा:—

'जिस प्रकार एक मनुष्य-देहका दूसरे मनुष्य-देहके साथ स्पर्श होता है और बदलेमें दूसरे मनुष्य-देहका पहले मनुष्य-देहके साथ पुनः स्पर्श होता है और इस अवस्थामें जैसे पहला मनुष्य-देह दूसरे मनुष्य-देहके सान्निध्यका अनुभव करता है और कभी कभी उसे इसमें आनन्द भी मिलता है, उसी प्रकार जीवात्माका किसी आध्यात्मिक तत्त्वके साथ स्पर्श होता है और बदलेमें उस आध्यात्मिक तत्त्वका जीवात्मा-के साथ पुनः स्पर्श होता है एवं जीवात्माको उस आध्यात्मिक तत्त्वके सान्निध्यका ज्ञान प्राप्त करके वैसा ही अनुभव होता है और इसमें उसे कभी कभी उतना ही आनन्द आता है जितना उदाहरणतः भगवान्‌का स्पर्श होनेसे और उनके समीप आनेसे शुद्ध-चेतनको होता है (Tr. 3. No. 24)

'भगवान्‌के सान्निध्यके अनुभव' का, जो ज्ञानकी अवस्था का प्रधान लक्षण है, इस प्रकार अभ्यास करता हुआ 'जीवात्मा परमात्माकी ओर बढ़ता हुआ' यह कहने लगता है कि मैंने परमात्माको स्पर्श कर लिया है और उस दिनसे उसे अपने साधारण जीवनमें अर्थात् सोते, जागते, उठते, बैठते प्रत्येक अवस्थामें उस परमात्माके सान्निध्यका स्पष्ट एवं आनन्ददायक अनुभव होने लगता है और कई बार उसे मधुर आध्यात्मिक झांकियों और मृदुल स्पर्शोका गुह्य अनुभव प्राप्त होता है।' देखिये 'जूलियां आफ़ नार्विच' (Julian of

* (Mysticism) वास्तवमें वह सिद्धान्त है जो इस बातपर विश्वास करता है कि जीवात्माका परमात्माके साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।
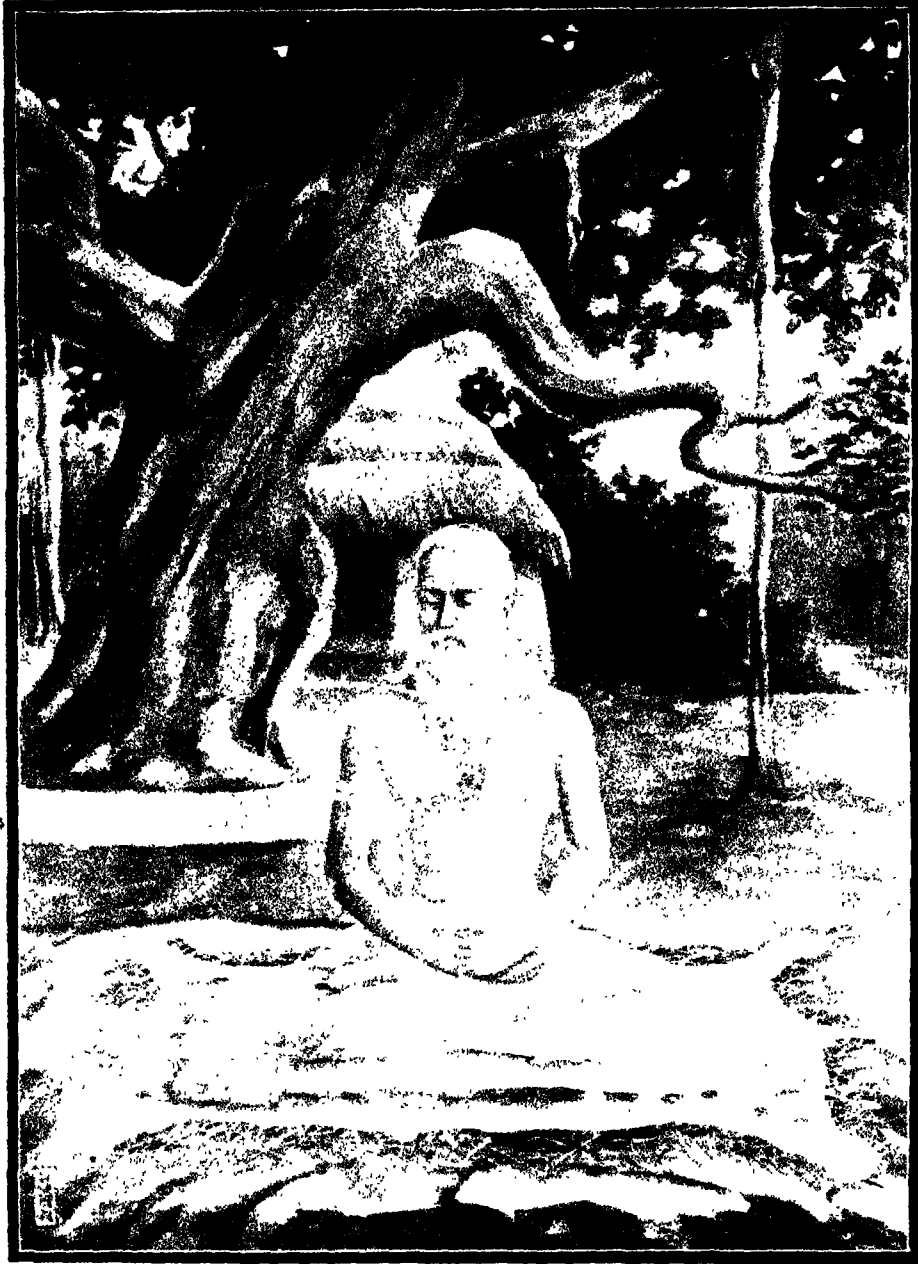
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

(गी० अ० ६। ११।१२।१३)

Norwich) द्वारा रचित 'रेवेलेशन्स' (Revelations) नामक ग्रन्थका अध्याय ४३ (Chap. XLIII)

ह्यू आफ सेण्ट विक्टर (Hugh of St Victor) द्वारा रचित 'डी एरा एनीमाई' ('De Arrha Animai') नामक योग-विषयक ग्रन्थमें जीवात्मा और अहंकारके बीच एक छोटासा संवाद है, जिसमें 'ब्रह्म-संस्पर्श'के अनुभवका सुन्दर वर्णन है। जीवात्मा अहंकारसे कहता है:-

'मुझे बताओ यह आनन्ददायक वस्तु क्या है जिसकी स्मृतिका ही मुझपर ऐसा मधुर एवं साथ ही साथ तीव्र प्रभाव पड़ा है कि मैं आपेसे बाहर हो गया हूं और न जाने क्योंकर उस आनन्दके प्रवाहमें बहा जाता हूं ? मुझमें सहसा नवजीवन आ गया है। मेरा कायापलट हो गया है। मैं अनिर्वचनीय शान्तिके समुद्रमें गोते लगाने लगा हूं। मेरा चित्त आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठा है। मैं अपनी सारी पिछली दुर्दशा और वेदनाको भूल गया हूं। मेरी आत्मा हर्षसे उछलने लगी है। मेरी बुद्धि आलोकित हो गयी है। मेरा हृदय उत्साहसे भर गया है। मेरी इच्छाएं दयासे स्निग्ध और सौम्य हो गयी हैं। मुझे यह भी ज्ञान नहीं रहा कि मैं कहां हूं? क्योंकि मेरे प्रियतमने मुझे अपने हृदयसे लगा लिया है।'

'इतना ही नहीं, मेरे प्राणवल्लभके मुझे हृदयसे लगा लेनेके कारण ऐसा भान होने लगा है कि मेरे पास कुछ है। यद्यपि मैं जानता नहीं कि वह क्या वस्तु है, किन्तु फिर भी मैं उसे अपने पास ही रखनेकी चेष्टा करता हूं; ताकि वह मुझसे कभी दूर न हो। मेरी आत्मा प्रमुदित होकर इस बातके लिये प्रयत्न करती है कि वह उस वस्तुसे कभी विलग न हो, जिसे वह सदा अपने गलेसे लगाये रखना चाहती है, मानों उसे अपनी सारी आशाओंका फल वहीं मिल गया हो। वह एक अपूर्व एवं अनिर्वचनीय ढंगसे हर्ष मना रही है और उसकी ही गोदमें पड़े रहनेके अतिरिक्त न तो उसे किसी बातकी इच्छा है और न टोह है। क्या वही मेरा हृदयेश है ? मुझे बताओ तो सही, ताकि मैं उसे जान लूं और यदि कभी वह फिर इधर आ निकले तो मैं उससे विनती करूं कि तुम मुझे छोड़कर न जाओ अपितु सदा मेरे ही पास बने रहो।'

इसके उत्तरमें अहङ्कार कहता है: 'यह सचमुच तेरा हृदय-वल्लभ ही है जो तेरे पास आया करता है, किन्तु आता है वह छिपकर। वह छद्मवेशमें आता है। वह इस तरहसे आता है कि उसे कोई जान न सके। वह तुझे स्पर्श करने आता है, किन्तु इस तरहसे कि तू उसे देख न सके। वह तुझे अपना सर्वस्व अर्पण करने नहीं आता, केवल अपने रसका आस्वादनमात्र कराने आता है; तेरे मनोरथको पूर्ण करने नहीं अपितु तेरे अनुरागको और भी उच्च बनानेके लिये आता है।'

योगीका परमात्माके साथ स्पर्श अवश्य होता है, केवल स्पर्श ही नहीं होता अपितु उसके अन्दर चुम्बककी सी शक्ति आ जाती है। उसका स्वरूप कुछ और ही हो जाता है। वह अब दृश्यमान जगत्को और ही दृष्टिसे देखने लगता है।

'ज्ञानावस्था' के निरूपणको समाप्त करते हुए एवेलिन अण्डरहिल (Evelyn Underhill) 'मिस्टिसिज्म' अपनी (Mysticism) नामक पुस्तकमें कहते हैं-

'यह प्रशान्त और आलोकित विज्ञान जिसके सम्बन्धमें हम इस अध्यायमें विचार कर रहे हैं, वह आभ्यन्तर एवं बाह्य जीवनके सुन्दर सामञ्जस्य अथवा विवेकयुक्त व्यवस्थाकी दशामात्र है। प्रेम एवं सङ्कल्पके समन्वयसे— जो हृदयका गूढ़ रहस्य है—मनुष्य सारे संसारको परमात्माके अन्दर और परमात्माको सारे संसारके अन्दर देखने और जानने लगता है; यह एक उच्च भावनाकी अवस्था है।'

सैकड़ों बरस पहले गीताकारने छठे अध्यायके २९ वें श्लोकमें ठीक इसी ढङ्गसे इस ज्ञानावस्थाकी,— जिसका प्रधान लक्षण 'ब्रह्म-संस्पर्श' है,—व्याख्या संक्षेपरूपसे इस प्रकार की है—'जिसने अपनी आत्माको योगमें लगा दिया है वह सबको समान भावसे देखता हुआ अपनेको सबके अन्दर और सबको अपने अन्दर देखने लगता है।' किन्तु यह ज्ञानावस्था चिरकाल तक ठहरती नहीं, थोड़े दिन रहकर विलीन हो जाती है। योगीको यह डर बना रहता है कि यह हाथसे चली न जाय। यही कारण है कि ह्यू आफ सेण्ट विक्टरके 'मिस्टीकल ट्रैक्ट' मेंसे उद्धृत किये हुए उपर्युक्त संवादमें जीवात्मा चिल्लाकर कहता है 'मैं इसे अपने पास ही रखना चाहता हूं ताकि वह मेरे हाथसे चला न जाय। मुझे बतलाओ, जिससे मैं उसे जान जाऊं और यदि वह फिर कभी इधर आवे तो मैं उससे हाथ जोड़कर विनती करूं कि तुम मुझे छोड़कर न जाओ अपितु सदा मेरे ही पास बने रहो।'

यह डर,—कि वह अवस्था कहीं हट न जाय,—सच्चा है क्योंकि पाश्चात्य योगके सिद्धान्तोंका अध्ययन करनेसे यह पता लगता है कि योग अथवा सायुज्य अवस्थाकी प्राप्तिके पूर्व प्रायः एक ऐसी दशा आती है जिसे जीवात्माकी कालरात्रि अथवा योगीकी मृत्यु कहते हैं-जिस दशामें परमात्माका सान्निध्य उससे बिल्कुल हट जाता है। परमात्माके दूर हो जानेसे विरहकी पूर्ण अनुभूति साधकको मूढ बना देती है। जीवात्माकी इस अन्धेरी रातमें योगीको पापका सा अनुभव होने लगता है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह उत्कट अनुराग, शान्ति और आनन्द जो आत्माके अन्दर पहले था, अब नहीं रहा। आध्यात्मिक एवं मानसिक वृत्तियां एक बार फिर निम्नगामिनी हो जाती हैं। इसीलिये श्रीकृष्ण छठे अध्यायके तीसवें श्लोकमें अर्जुनको इस प्रकार विश्वास दिलाते हैं—

'जो मुझे सब वस्तुओंमें देखता है और सारे संसारको मेरे अन्दर देखता है, उससे मैं कभी दूर नहीं होता और मुझसे वह कभी दूर नहीं होता। जो साधक सायुज्य अवस्थाको प्राप्त करना चाहता है, उसे यदि इस प्रकारका विश्वास न दिलाया जाय तो वह कदाचित् उसके लिये प्रयत्न ही करना छोड दे और जैसा गीतामें कहा है, 'छिन्नाभ्र' (छिन्न भिन्न हुए बादल) की नाईं नष्ट हो जाय, यह आशङ्का रहती है। 'जीवात्माकी यह अन्धेरी रात' वास्तवमें लक्ष्यसे भ्रष्ट होनेका ही नाम है। उस समय जीवात्माकी वही दशा होती है, जो गीताके छठे अध्यायके ३७ वें और ३८ वें श्लोकमें वर्णित 'योगभ्रष्ट' की बतलायी गयी है। यह वह दशा है, जो 'ज्ञानकी' अवस्था और योगकी अवस्थाके बीचमें आती है। पाश्चात्य योगियोंका यह कहना है कि यह रात्रि चाहे कितने ही कालतक रहे उसका अवसान कभी न कभी अवश्य होता है और तब योगीको लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है, किन्तु इस समय यह प्रश्न उचितरूपसे उठता है-'यदि कोई योगभ्रष्ट पुरुष जीवात्माकी अन्धेरी रातके अवसानसे पूर्व ही शरीर छोड दे तो उस समय उसकी क्या दशा होगी?'

पाश्चात्य योगियोंका इस प्रश्नकी ओर ध्यान नहीं गया और इसका कारण सम्भवतः यह है कि उनका पुनर्जन्ममें विश्वास नहीं है। गीताके प्रणेताकी दृष्टिमें तो यह प्रश्न सबसे अधिक महत्वका था और उन्होंने छठे अध्यायके ४०वेंसे लेकर ४५ वें श्लोक तक इस प्रश्नका उत्तर दिया है। वे कहते हैं:-'योगभ्रष्ट पुरुष अपने पूर्व-जन्मके संस्कारोंको लेकर फिर जन्मता है और पहले जन्ममें जो बुद्धि उसे प्राप्त थी, उसके साथ उसका फिरसे सम्बन्ध हो जाता है।' (गी० ६। ४३) तब उसका पूर्वाभ्यास उसे आगेकी ओर खींच ले जाता है और ज्ञानकी अवस्थाको लाँघकर (जिसे गीतामें 'शब्द-ब्रह्म' कहा गया है-देखिये श्लोक ६।४४ और पाश्चात्य योगियों के मतमें भी नाद-श्रुति ही इस अवस्थाका लक्षण है) वह योगावस्थाको प्राप्त करनेके लिये लगनके साथ अविश्रान्त परिश्रम करता है। इसी अध्यायके ३१ वें और ३२ वें श्लोकमें इस अवस्थाका लक्षण 'एकीभावमें स्थित होना' ही बतलाया गया है, जिसे पाश्चात्य योगियोंने 'ब्रह्मके अन्दर एकीभावसे स्थित' (Oneness in Absolute) कहा है। रीसब्राक (Rysbrock) का,-जो पाश्चात्य जगत्का एक बहुत बड़ा योगी है,-कथन है कि 'जब कोई मनुष्य एकीभावमें स्थित हो जाता है, वह परमात्माके अन्दर निवास करने लग जाता है; किन्तु ऐसा होनेपर भी वह सबके साथ प्रेमका भाव रखता हुआ सांसारिक पदार्थोंका भी सेवन करता है और यह उसके अन्तर्जीवनकी सर्वोच्च स्थिति है।' छठे अध्यायके ३१ वें श्लोकमें गीताकारने भी इस स्थितिको पहुंचे हुए पुरुषका ऐसा ही वर्णन किया है। अन्यान्य स्थानोंमें इस स्थितिका और भी सविस्तररूपसे वर्णन किया गया है और इसी एकीभावकी स्थितिको 'ब्राह्मी स्थिति' कहा गया है,जिसका पाँचवें अध्यायके १७ वेंसे लेकर बीसवें श्लोक तक,-जो प्रसिद्ध ही हैं-बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया गया है। इसी अध्यायके २४ वेंसे लेकर २६ वें श्लोक तक योगावस्थाको 'ब्रह्मनिर्वाण' के नामसे पुकारा गया है। छठे अध्यायके १५ वें श्लोकमें 'इसीको मेरे अन्दर स्थितिरूप निर्वाण' कहा गया है और इसीका उल्लेख दूसरे अध्यायके ७२ वें श्लोकमें भी आया है।

यह 'ब्रह्म-चैतन्य' वह नहीं है जो हमारे अन्दर छिपा हुआ है किन्तु वह 'ब्रह्म-चैतन्य' है जिसके अन्दर हम निवास करते हैं। उस आत्माके अन्दर रहनेसे हम सर्व भूतोंके अन्दर निवास करने लगते हैं, केवल अपने अहङ्कारयुक्त स्वरूपमें नहीं। उस आत्माके साथ एकता स्थापित कर लेनेपर हमारी विश्वके सारे पदार्थोंके साथ सुदृढरूपसे एकता स्थापित हो जाती है; यही नहीं, यह एकता हमारी निज प्रकृति बन जाती है, यही हमारे क्रियात्मक ज्ञानका मूल आधार और हमारी सारी क्रियाओंका मुख्य प्रयोजन बन जाती है। छठे अध्यायके २८ वें से लेकर ३२ वें श्लोकतकका सुन्दर क्रम अब हमारी समझमें आ जाता है। इनमेंसे

पहले तीन श्लोकोंमें 'ज्ञानावस्था'का वर्णन है और शेष दो श्लोकोंमें 'योगावस्था' का वर्णन है, यद्यपि वह बहुत संक्षेप-रूपसे है। प्रसङ्गतः हमें इस बातका भी अनुभव हो जाता है कि प्रोफेसर गार्बे आदि जिन विद्वानोंने इन श्लोकोंको प्रक्षिप्त माना है, उनका यह कथन कितना असङ्गत है !!!

अब हमें यह देखना है कि 'तप' का जो स्वरूप पाश्चात्य योगियोंने बतलाया है वह गीताके निरूपणसे भिन्न है अथवा दोनोंका निरूपण एक ही प्रकारका है ? एवेलिन अण्डरहिलने (अपने ग्रन्थ 'मिस्टिसिज़्म' के २४१ वें पृष्ठमें) 'तप' का निरूपण इस प्रकार किया है–'जीवात्माको मिथ्या जीवनकी ओरसे हटाकर यथार्थ जीवनकी ओर पूर्ण-रूपसे लगा देना, उसके दोषोंको दूरकर, चित्तको सत्यका ग्रहण करनेके योग्य बना देना ही तप है। इसका उद्देश्य ममताका त्यागकर उन सारे मूर्खतापूर्ण स्वार्थोंका त्याग करना है; जिनमें बाह्य ज्ञान लिप्त हो रहा है।' आगे चल-कर यह ग्रन्थकार तपके दो स्वरूप बतलाता है, एक निवृत्त्यात्मक और दूसरा प्रवृत्त्यात्मक। उन अनावश्यक, मिथ्या और हानिकारक बातोंको निकाल बाहर करना,–जिनके द्वारा जीवात्माकी बहुमूल्य शक्तिका क्षय होता है,–निषेधात्मक तप है,निवृत्तिका यही उद्देश्य है। इनसे अतिरिक्त सारी बातोंको अर्थात् चरित्रके स्थायी गुणोंको उत्तम आदर्श पर पहुँचा देना, उनका स्वरूप अत्यन्त विशुद्ध बना देना, यही तपका प्रवृत्त्यात्मक स्वरूप है। यह तभी होता है जब आत्माको क्लेश पहुँचाया जाता है, उसे परिश्रम दिया जाता है, जब मनुष्य जान-बूझकर कष्टका अनुभव स्वीकार करता है और दुःसाध्य कर्म करता है।

(१) तपका निवृत्त्यात्मक रूप

निवृत्ति तीन प्रकारकी होती है।

(क) अकिञ्चनता–आवश्यक एवं अनावश्यक दोनों प्रकारके अर्थके त्याग और सारे अनित्य पदार्थोंमें अनासक्ति-का नाम है। अकिञ्चनता वस्तुओंके अभावको नहीं कहते, क्योंकि यदि पदार्थोंके संग्रह करनेकी इच्छा बनी हुई है तो केवल उनके अभावको ही निवृत्ति नहीं कहा जा सकता ! इस प्रकारकी निवृत्ति इच्छाओंके निरोध एवं सुखके त्यागमें ही पर्यवसित हो जाती है। गीतामें इसके लिये 'असक्ति' शब्दका प्रयोग किया गया है और कई स्थानोंमें इसका स्वरूप भी बतलाया गया है। छठे अध्यायके चौथे श्लोकमें इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है–'जब मनुष्यकी इन्द्रियोंके विषयोंमें अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धमें तथा कर्मोंमें 'असक्ति' हो जाती है और जब मनुष्य सारे सङ्कल्पों अर्थात् इच्छाओंका त्याग कर देता है……।' तेरहवें अध्यायके नवें श्लोकमें भी कहा है–'पुत्र, कलत्र, घर इत्यादिमें आत्मबुद्धि न करना ही 'असक्ति'का लक्षण है।'

एक पाश्चात्य योगी कहता है कि 'यदि आप सारे पदार्थोंमें सुख चाहते हैं, तो किसी भी वस्तुमें सुख न खोजें,यदि आप सर्वेश्वर बनना चाहते हैं तो किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा न करें। निवृत्तिमें ही आत्माको शान्ति मिलती है और फिर उसे किसी बातकी लालसा नहीं रह जाती।' छठे अध्यायके दसवें श्लोकमें जो 'अपरिग्रह' शब्द आया है, उसका यही स्वरूप है और उसका आधार ईशोप-निषद्का पहला मन्त्र है, ऐसा प्रतीत होता है। निवृत्ति या असक्तिका संक्षिप्त निरूपण निश्चितरूपसे अठारहवें अध्याय के ५१ वें श्लोकके दूसरे चरणमें इस प्रकार किया गया है–'शब्द आदि विषयोंका त्याग कर तथा राग और द्वेषको छोड़कर' इत्यादि।

(ख) ब्रह्मचर्य—छठे अध्यायके १४ वें श्लोकमें इसका उल्लेख किया गया है–यथा 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' अर्थात् 'ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करता हुआ' इत्यादि।

(ग) शम—इच्छारहित होनेका नाम है, जिसे छठे अध्यायके १४ वें श्लोकमें 'प्रशान्तात्मा' शब्दके द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। इसप्रकारकी असक्तिका भाव निम्नलिखित शब्दोंमें अच्छी तरह दरसाया गया है—'मैं कुछ नहीं हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है, न मुझे किसी बातकी कमी है।'

२ तपका प्रवृत्त्यात्मक रूप अर्थात् 'शरीर-कर्षण'

अण्डरहिल साहब अपनी पुस्तक 'मिस्टिसिज़्म' के २६५ वें पृष्ठमें लिखते हैं:—'शरीर-कर्षणकी आवश्यकता इसलिये नहीं है कि इन्द्रियोंका उचित उपयोग परमात्माकी सत्ताके विरुद्ध है, किन्तु इसलिये कि, इन्द्रियोंने अपनी मर्यादाके बाहर अधिकार जमा रक्खा है। ये अपने नियामक–(आत्मा) की अपेक्षा अधिक प्रबल हो गयी हैं। यही नहीं, अपितु, इन्होंने विषयोपलब्धिके सारे क्षेत्रपर अधिकार जमा लिया है। इस शरीरको जिसे परमात्माने अन्य बड़े बड़े कामोंके लिये बनाया था, इन्होंने अपने वशमें कर रक्खा है और व्यक्ति-गत भेदकी ऐसी दीवारें खड़ी कर दी हैं, जिन्हें, यदि जीवात्मा अपने लक्ष्यपर पहुंचना और एक परमात्माके अनन्त जीवनमें मिल जाना चाहता है तो अवश्य ही ढहा देना होगा।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि अहङ्कारका नाश ही शरीर-कर्षण-का मुख्य उद्देश्य है। किन्तु जिन घोर यातनाओं और भीषण तपश्चर्याओंका सविस्तर वर्णन हमें महात्माओंकी जीवनियोंमें मिलता है, उनसे पता चलता है कि तपस्वियों-ने यातना और कष्ट सहनेमें कैसी अति कर दी थी !

भारतवर्षमें भी 'तप' के अन्दर कई अत्यन्त कठोर तपश्चर्याएं घुस गयी थीं और यह बौद्धधर्मका ही काम था कि उसने सदाके लिये 'तप' को बहुत ऊंचा पद दे दिया। गीताने भी १७ वें अध्यायके पांचवें और छठे श्लोकमें ऐसी अति कृच्छ्र तपस्याओंका विरोध किया और कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप क्या होता है यह उसी अध्याय-के १४ वें, १५ वें और १६ वें श्लोकमें सुन्दरतासे बतलाया। १८ वें अध्यायके ५२ वें श्लोकमें जहां 'ब्रह्मभूत' का लक्षण बतलाया गया है, वहां 'तप'का निरूपण इस प्रकार किया गया है:—'जिसने वाणी, शरीर और मनको वशमें कर लिया हो ' इत्यादि।

भगवान् बुद्धने भी शारीरिक तपश्चर्याको हेय कहा है और गीतामें जिस योगका प्रतिपादन किया गया है, उसमें भी ऐसी तपश्चर्याके लिये कोई स्थान नहीं है, किन्तु पाश्चात्य योगियोंने इसे अब भी महत्व दे रक्खा है।

अठारहवें अध्यायके ५१ वें से लेकर ५३ वें श्लोक तक,-जिनमें 'ब्रह्मभूत ' का लक्षण कहा गया है, तपका बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया गया है। तपकी अवस्थाका इससे सुन्दर निरूपण कल्पना भी नहीं आ सकता। इस प्रकार 'ब्रह्मभूत' का अर्थ 'पापमुक्त आत्मा' हुआ। योग-मार्गमें तप प्रारम्भिक अवस्था है, ज्ञान मध्यम और योगा-वस्था अन्तिम भूमिका है। यहां प्रश्न यह होता है कि ज्ञानावस्था और योगावस्थाको प्राप्त करनेके क्या उपाय हैं और इसके लिये किन किन साधनोंकी आवश्यकता है? अण्डरहिल साहब अपनी पुस्तकके १०१ वें पृष्ठमें लिखते हैं:—'योगकी वास्तविक सत्ताका एक परोक्ष प्रमाण यह भी है कि इस मार्गकी जिन तीन मञ्जिलोंका अथवा आध्यात्मिक उन्नतिके विवेचनका वर्णन भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंके योगियों-ने किया है, उन सबमें भिन्न भिन्न अवस्थाओंका वस्तुतः एक ही क्रम बतलाया गया है। उदाहरणतः किसी भी मानसिक शास्त्रवेत्ताको सेण्ट टेरेसा (St. Teresa) द्वारा वर्णित उपासनाकी कोटियों (Degrees of orison) की इफ् आफ् सेण्ट विक्टरके बतलाये हुए ध्यानके चार प्रकारोंके साथ अथवा सूफियोंद्वारा निरूपित जीवात्माको परमात्माके पास पहुँचा देनेकी 'सात सीढ़ियों' के साथ, जिनमें पहली सीढ़ी श्रद्धा और अन्तिम सीढ़ी जीवात्म-संयोग है, मिलान करनेमें कोई कठिनता नहीं हो सकती। सेण्ट टेरेसा द्वारा निरूपित उपासनाकी सात कोटियां ये हैं: (१) स्मरण Recollection), (२) निश्चलता (Quiet), (३) मिलन (Union), (४) उन्मत्तता (Ecstasy), (५) तन्मयता (Rapt), (६) भगवान्‌का विरह (Pain of god) और (७) जीवात्माका आध्यात्मिक परिणय। प्रत्येक पथिक यदि चाहे तो अपने लिये अलग अलग मञ्जिलें भी चुन सकता है, किन्तु उन मञ्जिलोंका आपसमें मिलान करनेसे स्पष्टतया विदित हो जाता है कि उन सबका मार्ग एक ही है। गीताके दूसरे अध्यायके ३१ वेंसे लेकर ७२ वें श्लोकतक,-जहां बुद्धियोगका वर्णन है,-जो सीढ़ियाँ बतलायी गयी हैं। उनका स्मरण दिलाकर हम भी उपर्युक्त कथनका समर्थन करते हैं। गीतामें वर्णित सीढ़ियां ये हैं:-(१) श्रद्धा, (२) व्यवसाय (निश्चय), (३) स्मृति, (४) समाधि (परमात्माके स्वरूपमें स्थिति), (५) प्रज्ञा (ज्ञान) (६) प्रसाद (चित्तकी निर्मलता), और (७) ब्रह्मनिर्वाण (ब्रह्मानन्द)। यह एक विचित्र साम्य है; सेण्ट टेरेसाने जिस साधनको 'Recollection' (स्मरण) कहा है, उसीके लिये गीतामें 'स्मृति' शब्दका प्रयोग किया गया है और बौद्ध लोग उसे ही 'सती' कहते हैं। ये दोनों शब्द पर्यायवाचक हैं। 'स्मृति ' का साधारण अर्थ 'स्मरण ' होता और 'Recollection' इस अंग्रेजीके शब्दका भी ठीक यही अर्थ है। अण्डरहिल साहब अपनी पुस्तकके ३७५ वे पृष्ठमें लिखते हैं:-'Recollection शब्द,-यद्यपि इसका प्रयोग बहुत बरसोंसे चला आ रहा है, बहुत बुरा है, क्योंकि अन्धीसे पढ़नेवाले लोग इसका अर्थ 'स्मरण' समझ सकते हैं। योगशास्त्रपर लिखनेवाले ग्रन्थकारोंने इसकी व्याख्या इस प्रकारकी है: 'जीवात्माके ध्यानको उसके गूढ़तम अन्तस्तलकी ओर लगाकर उसे इच्छापूर्वक वहीं स्थिर कर देनेका अथवा उसे उधर एकतान कर देनेकी पहली कोटिका नाम Recollection है। इस प्रकारके स्मरणकी अवस्थाका आरम्भ ध्यान-साधनसे अर्थात् सत्ताके किसी एक रूपका ध्यानपूर्वक विचार करने अथवा उसीपर चित्त जमा देनेसे होता है।'

आचार्य रामानुजने भी अपने 'श्रीभाष्य' में 'स्मृति' का लक्षण ध्यान ही किया है, अस्तु। हमें उसी चौथी

तुलना करनेकी आवश्यकता नहीं है; इतना ही कह देना बस होगा कि रास्ता एक ही है, मञ्जिलें अथवा मुकाम भी एक ही है और लक्ष्य भी एक है। किन्तु लक्ष्यके सम्बन्धमें अवरहिल साहब अपनी पुस्तकके ३२०वें पृष्ठमें लिखते हैं कि 'भारतीय योगियोंका योगावस्थाके केवल निवृत्त्यात्मक स्वरूपकी ओर, -जिसमें अहङ्कारका मूलोच्छेद हो जाता है, जो परमात्मतत्त्वके अन्दर लीन हो जाता है,-झुकाव दिखायी देता है, उसका कारण मेरी समझमें यह सत्यका एकदेशीय वैरूप्य ही है। 'प्राच्यदेशीय योगी आध्यात्मिकता सर्वोच्चके शिखरपर पहुँचकर अपने अहङ्कारका लय कर देता है किन्तु वह मृत्युसे लौटकर दूसरे मनुष्योंको उत्साह दिलानेवाला यह संवाद नहीं सुनाता कि मैं मनुष्य-जातिके हितके लिये जन्म-मरणसे मुक्त हो गया हूँ। पाश्चात्य देशोंके योगियोंकी स्वभावमें ही कर्मकी ओर प्रवृत्ति होनेके कारण वे सबके सब इस प्रकारकी एकदेशीय सिद्धिसे बच पाये हैं।'

परन्तु प्राच्यदेशीय या भारतीय योगशास्त्रके सम्बन्धमें, विशेषकर गीतामें प्रतिपादित योगके विषयमें इस प्रकारकी धारणा बिल्कुल भ्रमपूर्ण है, जैसा कि हम ऊपर ब्रह्म-निर्वाणका वर्णन करते समय बतला चुके हैं। सच पूछिये तो निष्कर्षरूपमें गीताके प्रायः सारे ही अध्यायोंमें जो कुछ प्रतिपादन किया गया है उसपर विचार करनेसे इस सिद्धान्तका अपने आप खण्डन हो जाता है। इस सम्बन्धमें ग्यारहवें अध्यायका ५५वां श्लोक विशेषरूपसे द्रष्टव्य है:-'जो मेरे ही लिये सब कुछ करता है, जो मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानता है, जो मेरा ही भक्त है, जिसकी सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति नहीं है, जिसका किसी भी प्राणीके साथ विरोध नहीं है, हे अर्जुन, वह मुझे प्राप्त होता है।'

गीताका महत्व और उपदेश

(लेखक, श्री वी० एल० नन्द शास्त्री एम० ए०, मेरठ)

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥

यद्यपि गीता जैसे सर्व-प्रिय ग्रन्थके महत्त्वका यथार्थ रीतिसे वर्णन करना मुझ जैसे अनभिज्ञ लेखककी सामर्थ्यके बाहर है परन्तु इस अनुपम ग्रन्थपर मेरी जो बाल्यावस्थासे ही रुचि और अटल भक्ति रही है वह मुझे यथाशक्ति इस कार्यमें हाथ डालनेके लिये प्रोत्साहित कर रही है। हिन्दूधर्मावलम्बी मनुष्यमात्र इस ग्रन्थको प्रामाणिक ग्रन्थ समझते हैं और उनके चित्तमें इसके लिये वैसा ही आदर है जैसा ईश्वरप्रणीत वेदोंके प्रति। ऐसा होना ठीक ही है। यदि गीताकी शिक्षा इतनी अमूल्य न होती तो इस संसारसे अबतक उसका नाम कभीका उठ गया होता। वाराहपुराणमें गीताके माहात्म्यका वर्णन करते हुए इस संसारमें जितने उपलब्ध उपनिषद् हैं उन सबको गौकी, बुद्धिमान् अर्जुनको बछड़ेकी और गीताको अमृतरूपी दुग्धकी उपमा दी गयी है। हिन्दूजातिकी दृष्टिमें गौ कल्प-तरुके समान है और गौकी सेवा करना उसका परम धर्म है, क्योंकि एक तो गौसे प्राप्त होनेवाले दूध, दही, घृत इत्यादिसे मानव-शरीरकी भलीभांति रक्षा हो सकती है, दूसरे अधिकतर कृषिसे निर्वाह करनेवाली हिन्दूजातिके लिये गौरक्षा सदैवसे परमावश्यक भी रही है। गौरक्षा बिना कृष्युपयोगी बैल, खाद आदि पदार्थ किसी अन्य मार्गसे इतनी सुगमतासे नहीं प्राप्त हो सकते। मनुष्यमात्रके ऐहिक कल्याणके लिये एवं गौके अत्यन्त अमूल्य वस्तु होनेके कारण स्वाभाविक ही उसे हिन्दूधर्ममें इतना महत्त्व दिया गया है। प्राचीन कालसे ही हिन्दू अपने ऐहिक कल्याण-चिन्तन और उसके प्राप्त करनेके साधनोंकी खोजको ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री नहीं समझते थे, वे पारमार्थिक कल्याणके तत्त्व और उसकी खोजपर भी उतना ही ध्यान देते थे। भिन्न भिन्न समयपर जितने उपनिषदोंका निर्माण हुआ है, वे सभी हिन्दुओंके परमार्थ-चिन्तनमें उनकी विशिष्ट भक्तिके ही परिचायक हैं। कारण

इन उपनिषदोंमें वेदोंके परमार्थ-तत्त्वोंका ही स्पष्टीकरण किया गया है। परन्तु वह वेदान्त-तत्त्व इतना दुर्गम है कि उसके प्रतिपादन करनेवाले उपनिषदोंका समझना बड़े बड़े विद्वानोंके लिये भी प्रायः कष्टसाध्य है। ऐसे गहन तत्त्वको समझानेवाले उपनिषदोंको गौकी उपमा देनेका अर्थ यही है कि जिस प्रकार ऐहिक कल्याणका प्रमुख साधन गौकी सेवा करना है उसी प्रकार पारमार्थिक कल्याणको प्राप्त करनेका अधिकार किसी भी मनुष्यको तबतक नहीं मिल सकता, जबतक कि वह उपनिषदोंके तत्त्वोंको भलीभाँति न समझ ले। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने समस्त उपनिषदोंका सार अर्जुनको समझाकर उसे कर्तव्यमें लगाया है। इसीलिये गीताकी उपमा अमृतरूपी दुग्धसे दी गयी है। जैसे गौसे प्राप्त होनेवाले सब पदार्थोंमें दुग्ध अत्यन्त उपयोगी है, वैसे ही गीतारूपी दुग्ध,—जो भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देनेके लिये उपनिषद्रूपी गौओंसे दुहा,—अत्यन्त ही उपयोगी और अमूल्य है। उपनिषदोंको गौकी उपमा देनेका दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है कि यद्यपि श्रीकृष्ण महाराज वसुदेवजीके पुत्र थे तथापि जन्मसे ही गोपालराज नन्दजीके यहां पलनेके कारण प्रायः गोपालनन्दन ही समझे जाते थे। दुग्ध दुहनेमें ग्वाले ही पटु होते हैं और श्रीकृष्णके ग्वाल-गृह-लालित होनेके कारण ही उनको दोहन-क्रियामें कुशल बतलाया गया है। इसके सिवा जब इस बातपर ध्यान दिया जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण सामान्य ग्वाल-बाल नहीं थे, वे हिन्दूजातिमें पूर्णकलावतार समझे जाते हैं, तब ऐसे पूर्णावतार श्रीकृष्णके द्वारा ही उपनिषद्रूपी गायोंका दुहा जाना इस दोहन-क्रियाकी कठिनताका द्योतक है। वास्तवमें इस दोहन-क्रियाका सम्पादन केवल श्रीकृष्ण भगवान् ही कर सकते थे और वे भी उसी अवस्थामें जब कि बुद्धिमान् अर्जुनरूपी वत्स उस अमृतरूपी दुग्धके लिये अत्यन्त उत्सुक था। इसका भावार्थ यही है कि उपनिषदोंके साररूप गीतामृतका वितरण श्रीकृष्ण भगवान्के लिये भी तभी साध्य हो सका था, जब कि उनके मधुर और अत्यन्त कल्याणप्रद उपदेशको समझने तथा उससे लाभ उठानेकी शक्ति धारण करनेवाला धीमान् अर्जुन उनके सामने हाथ जोड़कर अपने संशयोंकी निवृत्ति करानेकी इच्छासे अत्यन्त व्याकुल खड़ा था। इससे पाठकोंको विदित होगा कि गीताका महत्त्व कितना विशाल है।

फिर जब भगवान् श्रीकृष्णके जीवनपर दृष्टि डालनेसे यह पाया जाता है कि हजारों वर्ष पूर्व उपस्थित उस महान् विभूतिका जन्मदिन आज भी उसी गौरव और उत्साहके साथ हमारे भारतमें मनाया जाता है, मानों वे आज भी हम लोगोंमें उपस्थित हैं, तो क्या आश्चर्य है कि उन्हें हिन्दू-जाति साक्षात् ईश्वरका अवतार ही नहीं वरन् पूर्ण-कलावतार समझती हो और ऐसी महान् विभूतिके मुखसे गायी हुई तीनों वेदोंका साररूपी, परमानन्ददायिनी तत्त्वार्थ-ज्ञानसे संयुक्त, गीताका गौरव केवल हिन्दूजाति ही नहीं परन्तु आज समस्त संसार कर रहा है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता गाकर केवल किंकर्तव्यविमूढ अर्जुनका ही संशय निवृत्त नहीं किया, किन्तु मायाभ्रमसे भ्रमित पथभ्रष्ट समस्त संसारको कर्तव्यका यथार्थ पथ दिखलाकर सभीको अपनी महती कृपासे अनुगृहीत किया है।

गीताकी परम सुन्दरता इस कारणसे भी है कि यह स्वयं श्रीभगवान्के श्रीमुखकी प्रामाणिक वाणी होनेके कारण वेदान्तके अगम तत्त्व भी आज सर्वसाधारणके लिये सुलभ और स्पष्ट हो गये हैं। यहां तक कि श्रीमद्भगवद्गीताके महत्त्वका साधारण रीतिसे वर्णन किया गया, अब उसके उपदेशोंके प्रति विचार किया जाता है कि इसमें खास तौरपर कौन कौन सी विशिष्ट बातें बतलायी गयी हैं।

प्रथमतः गीताके उपदेशोंका मुख्य उद्देश्य उस अवस्थाका सूक्ष्म रीतिसे निरीक्षण करनेसे विदित होता है, जिसमें अर्जुन घबराकर हतबुद्धि-स्थितिमें शस्त्रोंका परित्याग कर संन्यास ग्रहण करनेपर उद्यत हो गये थे। भगवान् श्रीकृष्णने पहले अर्जुनको यह बतलाया कि क्लैब्य-वृत्तिसे कभी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकता। धैर्यहीन तथा दुर्बल-हृदय कुछ भी नहीं कर सकता। विपक्षियोंके अन्यायको दमन करनेका यत्न न कर उसे सहन करना तो केवल भीरुता है। शक्तिका उपयोग यदि दुष्टोंके दमन करनेमें न किया जाय तो वह शक्ति ही किस कामकी? साधुगण केवल दुष्टोंके अन्यायसे दुर्बलोंको बचानेके लिये ही शक्ति सञ्चय किया करते हैं। किसी कविने कहा है:—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

यदि शारीरिक बलका सम्पादन दुर्बलोंकी रक्षाके लिये है तो स्वयं सबल होनेपर भी अन्यायका सहन करना अर्जुन जैसे क्षत्रियके लिये कापुरुषताका ही द्योतक माना जा सकता है, इसीलिये सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको क्लैब्य-वृत्ति छोड़नेका उपदेश किया। मोहसे आत्म-

चित्त अर्जुन कर्तव्यका निर्णय न कर सके। उन्हें यह शङ्का होने लगी कि ऐहिक सुखसम्पत्ति और राज्यकी प्राप्तिके लिये अनेक गुरुजनोंके साथ स्वजनोंकी हत्या करना कहां तक न्याय है? कर्तव्य निश्चित करनेमें अपने और परायेके भावोंका लाना सामान्य जनकी मनोवृत्तिका सूचक है। महान् विभूतिपुरुष अपना कर्तव्य निश्चित करनेके समय अपने परायेके ऐसे भावोंको पास भी फटकने नहीं देते, क्योंकि इस प्रकारके विचार मनुष्योंके मानसिक नेत्रोंपर परदा डाल उसे कर्तव्यसे पराङ्मुख कर देते हैं। इतिहासमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जब मनुष्य ऐसी विचित्र समस्याओंमें पड़ जाता है, तब यदि वह अत्यन्त सावधान और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला न हो तो सहज ही कर्तव्य-च्युत हो जाता है। आधुनिक इतिहासमें देवी अहिल्याबाईपर एक ऐसा प्रसंग आ पड़ा था। एक बार उनके इकलौते पुत्रपर ब्रह्महत्याका दोषारोपणकर उसे न्यायालयमें उपस्थित किया गया। उन दिनों वह देवी विधवा होनेके कारण स्वयं ही राजकार्य देखती थीं। न्यायालयमें दोष सिद्ध हो जानेपर देवी अहिल्याके सामने कठिन समस्या आ पड़ी, पर वह साधारण स्त्री नहीं थीं। उन्होंने अपने चित्तपर पुत्र वात्सल्यका कुछ भी असर न पड़ने दिया और अपने पुत्रको मृत्युका दण्ड सुना दिया, इसी कर्तव्य-निष्ठाके कारण उस महान् विभूतिकी आज भी देवीके तुल्य पूजा की जाती है। संसारमें कई ऐसे प्रसंग आते हैं जब कर्तव्य-पालन अत्यन्त कठोर जान पड़ता है, परन्तु यदि थोड़ा विचार किया जाय तो विदित होगा कि यह कठोरता केवल बाह्य होती है। मनुष्य-जीवनमें ऐसे अनेक प्रसङ्ग आते हैं कि जहां प्राथमिक कठोरता अन्तमें अत्यन्त सुखप्रद हो जाती है। एक दूसरा उदाहरण इस सिद्धान्तकी सत्यता प्रकट कर सकता है।

'लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात् पुत्रस्य शिष्यस्य ताडयेत् न तु लालयेत्॥'

कर्तव्य-पालनकी कठोरताका किसी प्रकारका प्रभाव मनपर न पड़नेके लिये अर्जुनको केवल यही उपदेश नहीं दिया गया कि वे बिना सोचे समझे क्षत्रियका कर्तव्य जानकर लड़नेके लिये तैयार हो जायं परन्तु उन्हें यह भी समझाया गया कि भले बुरेका भार अपने सर पर लेनेमें अर्जुन एक बड़ी भूल कर रहे हैं। भला बुरा जो कुछ सृष्टिमें होता है उसमें मनुष्य तो केवल निमित्तमात्र है। यथार्थमें न वह करता है, न करवाता है। करने करानेवाला सर्वसाक्षी परमेश्वर ही है। यहांपर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि करने करानेवाला ईश्वर ही है तो मनुष्यका पुरुषार्थ कहां रहा? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि 'पुरुषार्थ मनुष्यके कर्तव्य-निश्चयमें ही पाया जाता है। कर्तव्यकी परख उस कर्तव्य-निर्णयकी प्रेरणापर निर्भर करती है। जिस कार्यमें केवल स्वार्थ-लाभकी प्रेरणा है वह अत्यन्त निकृष्ट कोटिका कर्तव्य है। ज्यों ज्यों मनुष्यके कार्य लोकसंग्रहार्थ स्वार्थरहित एवं परमार्थमें प्रेरित होते जाते हैं, त्यों ही त्यों उसके कार्य देव-कार्य-तुल्य समझे जाते हैं और उस मनुष्यमें उसी परिमाणमें दैवी भावोंकी वृद्धि भी होती है। फलाकांक्षा कर्मके महत्त्वको घटा देती है, क्योंकि स्वार्थका स्वभाव ही मनुष्यको अपने उच्चतम ध्येयसे च्युत कर देना है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने यह उपदेश दिया कि-

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।'

किसी भी कामको कर्तव्य प्रेरित होकर करते समय उसका फल क्या होगा? इसकी ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देना चाहिये। फलकी ओर देखनेसे चित्तमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे प्रथम तो कार्य करनेकी तत्परतामें त्रुटि आती है, दूसरे अपेक्षित फल प्राप्त न होनेपर वृथा ही मनस्ताप होता है और कई बार कर्तव्यविमुखता उत्पन्न होनेकी भी सम्भावना हो जाती है। इस मनोभावनाका अति उत्तम उदाहरण पदार्थ-विज्ञानकी प्रयोगशालामें विद्यार्थियोंके प्रयोग-काल (Practical experiment) में दृष्टिगोचर होता है। प्रायः साधारण विद्यार्थी प्रयोग करते समय उसके परिणामकी ओर इस घबराहटकी दृष्टिसे देखते हैं कि प्रयोगशालामें प्रयोग करनेसे जो लाभ उठाया जा सकता है, वे उसे बिल्कुल खो बैठते हैं। परिणामकी चिन्ता उन्हें इतना व्याकुल कर देती है कि अन्यायपूर्ण साधन स्वीकार करनेमें भी उन्हें झिझक नहीं होती। उनके हृदयमें न्याय अथवा अन्यायद्वारा इष्ट सिद्धान्तकी प्राप्ति ही परीक्षामें उत्तीर्ण होनेका साधन दीख पड़ता है। परिणामतः सृष्टिके नियमों एवं घटनाओंको समझनेके लिये उनमें मानसिक कौतूहल भी नहीं रह जाता। परीक्षामें उत्तीर्ण होनेका परम स्वार्थ ही उनके कर्तव्योंका प्रेरक होता है और वह उनकी सदसद्विवेक-बुद्धिको भ्रष्ट कर देता है।

इस विवेचनसे यह भलीभांति सिद्ध हो चुका कि मनुष्यका उच्चतम कर्तव्य वही है 'जो निष्काम और लोक-

संग्रहसे प्रेरित हो।' ऐसे कार्यके करनेमें कर्त्तापर, यदि निर्दयता या कठोरताका दोषारोपण भी हो, तो भी उसके द्वारा किये हुए कार्यका फल उसका बाधक नहीं हो सकता, इस प्रकारकी मनःस्थिति, कर्तव्य-निश्चयकी उपयुक्त स्थिरता और मनका निग्रह किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? इसीको भगवान् श्रीकृष्णने गीताके विविध अध्यायोंमें भली-भाँति समझाया है। इन सब मार्गोंका अंशतः भी उल्लेख करना इस छोटेसे लेखमें प्रायः असम्भवसा जान पड़ता है। इसलिये मैं इस लेखको समाप्त करता हुआ इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि स्थितप्रज्ञ होनेके जो तीन मार्ग गीतामें बतलाये गये हैं, उनमेंसे कर्ममार्ग बहुत कठिन होनेपर भी पुरुषार्थसे भरा होनेके कारण अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय है। गाण्डीव छोड़कर कर्तव्यविमुख होनेको उद्यत हुए अर्जुनको पुनः कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त करनेके लिये भगवान्‌ने गीताका उपदेश दिया था, अतएव मेरी भावनाके अनुसार 'कर्मयोग' ही गीताका मुख्य उपदेश है और ऐसी भावना होनेका प्रधान कारण कैलासवासी लोकमान्य बालगंगाधर तिलकके अति सुन्दर ग्रन्थ 'गीतारहस्य' पर विशेष निर्भर करना ही है। उस महान् विभूतिको अनेकशः धन्यवाद हैं, जिसने बड़े परिश्रमके साथ गीताके रहस्यको मुझ जैसे सामान्य मनुष्यके लिये भी सुगम कर इस संसारको सर्वदाके लिये अनुगृहीत कर दिया। श्रीकृष्णार्पणमस्तु

गीता और ब्रह्मसूत्र

(लेखक—पं० श्री[illegible] जोशी, काव्य-[illegible]-तीर्थ)

सबसे पहले इस बातका विचार करना आवश्यक है कि वेदान्त-शास्त्रमें उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र इन तीनों ग्रन्थोंका इतना महत्त्व क्यों है? ये तीनों ग्रन्थ प्रस्थानत्रयीके नामसे प्रसिद्ध हैं। प्रायः सभी धर्माचार्योंने अपने अपने मतोंका इन तीनोंको मूलाधार प्रमाणित करनेका पूर्ण प्रयत्न किया है। यद्यपि वे अपने अपने मतोंकी पुष्टि अपनी निजी युक्तियों एवं अन्य शास्त्रोंके बलपर भी कर सकते थे। किन्तु उस समयके भारतमें 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं सदाचारश्च तद्विदाम्' अर्थात् सम्पूर्ण धर्मका मूल कारण वेद माना जाता था और वेदके जाननेवालोंका सदाचार ही धर्म माना जाता था। वेद-विरुद्ध समस्त बातें अधर्म मानी जाती थीं। वेदकी निन्दा करनेवाला नास्तिक कहा जाता था। इसीसे मनुने 'नास्तिको वेदनिन्दकः' कहा है। वेदके जिन विभागोंमें उपासना, ब्रह्मतत्त्व और आत्मतत्त्वका वर्णन है, वे विभाग उपनिषदोंके नामसे प्रसिद्ध हैं। धर्मके दो अङ्ग हैं—एक कर्मकाण्ड और दूसरा तत्त्वज्ञान। कर्मकाण्डसे अन्तःकरण शुद्ध होकर तत्त्वज्ञानको समझने योग्य हो जाता है। तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है। यही धर्मका मूल लक्ष्य है। इसी लिये समस्त आचार्योंने अपने अपने धर्मको वेद-वेदान्तमूलक साबित करनेकी प्राण-पणसे चेष्टा की है। यद्यपि एक ईश्वर-रचित वेदमें एक ही शब्दसे अनेक परस्पर-विरोधी भावोंका निकलना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। अतएव जान पड़ता है कि आचार्यगणोंने जिस प्रकारकी शिक्षा अपने गुरुओंसे प्राप्त की, तथा स्वयं जैसा अनुभव किया, उसे प्रमाणित करनेके लिये वेदको मोमकी नाककी तरह जिधर चाहा, उधर ही घुमा दिया। इसी कारणसे वेदमें प्रतिपादित अद्वैत-तत्त्वको स्पष्टतया समझनेमें बड़े बड़े विद्वानोंको भी अनेक अड़चनें पड़ती हैं अस्तु।—जो कुछ भी हो, तत्त्व-ज्ञानका निरूपण उपनिषदोंमें ही किया गया है। उपनिषदोंमें विषयका प्रतिपादन अनुक्रमसे नहीं किया गया है। कहीं संकीर्ण और कहीं विस्तीर्ण रूपसे पृथक् पृथक् विवेचन किये गये हैं। इसलिये उपनिषदोंके विचार इधर उधर बिखरेसे प्रतीत होते हैं। उनकी एकवाक्यता किये बिना उपनिषदोंका तात्पर्य यथार्थ समझमें नहीं आता। इनकी एकवाक्यता करनेके लिये और साधक-बाधक प्रमाण दिखाकर अन्तिम सिद्धान्तका निर्णय करनेके लिये, भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रकी रचना की और उन्हीं उपनिषदोंका भावार्थ सुगमतार्थ समझनेके लिये गीताका निर्माण किया।

बहुतसे आलोचक गीता और ब्रह्मसूत्रके निर्माण-कालमें भेद मानते हैं। इसीलिये "ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥" (गी० १३।४) अर्थात् क्षेत्र क्षेत्रज्ञका अनेक प्रकारसे विविध छन्दोंद्वारा अनेक ऋषियोंने पृथक् पृथक् और हेतुयुक्त तथा पूर्ण निश्चयात्मक ब्रह्मसूत्र पदोंसे भी विवेचन किया है। यहाँ पर 'ब्रह्मसूत्र' शब्दसे उपनिषदोंके मंत्रोंको, और 'छन्दोभिः' शब्दसे वेद-मन्त्रोंको

भी इसी प्रवचन-वश कई विद्वानोंने विवश होकर ग्रहण किया है, क्योंकि गीतामें 'ब्रह्मसूत्र' शब्दसे वर्तमान ब्रह्मसूत्रका ग्रहण करनेसे गीताका निर्माण ब्रह्मसूत्रके बादका साबित होता है और यह किसीको मान्य नहीं है। किन्तु मेरे मतसे इसमें कुछ विरोध नहीं मालूम होता, क्योंकि एक ही कर्ताके निर्माण किये हुए दोनों ग्रन्थ हैं। उन्होंने उपनिषदोंकी एकवाक्यता ब्रह्मसूत्रकी रचना करके की है और उन्होंने ही उपनिषदोंके आधारपर गीताका निर्माण किया है। इसलिये यह निश्चित कर लेना अयुक्तियुक्त न होगा कि व्यासने गीतामें ब्रह्मसूत्रका नामनिर्देश और ब्रह्मसूत्रमें गीताका नामनिर्देश जानबूझकर ही किया है।

ब्रह्मसूत्र		गीता
स्मृतेश्च	···	ईश्वरः सर्वभूतानां०
अपि च स्मर्यते	···	न तद्भासयते सूर्यो०
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च	···	न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादि०
अपि च स्मर्यते	···	ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः०
[illegible]	···	[illegible]
[illegible]		
[illegible]	···	शुक्लकृष्णे गती ह्येते०
स्मरन्ति च	···	शुचौ देशे०
योगिनः प्रति च स्मर्यते	···	यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः०

इस प्रकार उन्हें अपने दोनों ग्रन्थोंका अन्योऽन्य प्रमाण देकर उनका महत्त्व बढ़ाना संसारके लाभके लिये परमावश्यक था, एतदर्थ आजतक गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् यह तीनों प्रस्थानत्रयीके नामसे संसारमें प्रसिद्ध हैं। व्यासके प्रतापसे जितना गौरव प्रस्थानत्रयीको आजतक प्राप्त हुआ है, उतना किसी भी अन्य ग्रन्थको नहीं हुआ।

गीताके कुछ चुने हुए रत्न

(लेखक- श्रीश्रीनिवासराव कौजलगी)

लगभग पाँच सहस्र वर्षकी बात है, जब आपसमें मेल करानेके सारे ही प्रयत्न विफल हो गये, तब कौरवों और पाण्डवोंने कुरुक्षेत्रके मैदानमें शोणिताक्षरोंमें निम्नलिखित सन्देश लिख दिया, ताकि सब लोग उसे पढ़कर उससे शिक्षा ग्रहण कर सकें। सन्देश यह था-'एकतासे सब कार्य सिद्ध हो सकते हैं, फूट ही नाशका मूल है।' यद्यपि विजय-लक्ष्मी पाण्डवोंके साथ रही और उन्होंने कुछ समय तक राज्य भी किया; किन्तु उनकी शक्ति इतनी क्षीण हो गयी थी कि उनके नाती परीक्षितको उसीके घरमें आकर 'तक्षक' नामी एक बाहरका आदमी मारकर चला गया।

इस युद्धका ऐतिहासिक दृष्टिसे जो कुछ भी परिणाम हुआ हो, हम दृष्टिसे वह चिरस्मरणीय रहेगा कि संसारका सबसे दिव्य एवं आत्माको उन्नत करनेवाला गीत इसी युद्धमें गाया गया था। इसी युद्धमें व्यूह बनाकर खड़े हुए कौरव-पाण्डवदलके समक्ष नरदेहधारी परमात्मा श्रीकृष्णने नरोत्तम-अर्जुनको दिव्य सन्देश सुनाया था।

गीता एक रत्न है, जिसे जगत्के सबसे कुशल कारीगरने ऐसे सुन्दर ढङ्गसे तराशा है कि उसका प्रत्येक पहलू,-यद्यपि उससे विलक्षण रङ्गकी ही ज्योति निकलती है,-सूर्यकी रङ्ग-बिरङ्गी किरणोंकी नाईं एक दूसरेकी प्रभासे संवलित होकर एक ऐसी 'अत्यन्त निर्मल एवं शुद्ध रश्मि' की छटा उत्पन्न करती है, जो हमारे मुक्तिके मार्गमें सहायक होती है।

भगवान् वेदव्यासके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महाभारत' का संसारके साहित्यमें अद्वितीय स्थान है। यह दिव्य गीत-जिसे 'गीता' कहते हैं- उसी महाभारतका सुधामय सार है। यह ज्ञानका वह रत्नाकर सागर है, जिसमें गोता लगाकर प्रत्येक मनुष्य सिद्धान्तरूपी अनेक बहुमूल्य मुक्तामणि निकालकर अपनी अपनी योग्यताके अनुसार उन्हें अपने गलेका हार और अपने जीवनका अङ्ग बना सकता है।

लोकमान्य तिलकने इस महोदधिमें गोता लगाकर 'निष्काम कर्मयोग' रूपी अनमोल हीरा निकाला और उसे ही गीताका गूढ़तम रहस्य बतलाया। अर्जुनके सामने युद्धका प्रश्न उपस्थित था, जिससे वह पाप समझकर पीछे हटता था। भगवान् श्रीकृष्ण उससे कहने लगे-'सुख और दुःखको एवं जय और पराजयको एक सरीखा समझ कर (जिससे तुम्हारे चित्तकी एकरूपता अथवा समतामें कोई अन्तर न आवे) युद्ध करो; ऐसा करनेसे तुम्हें पाप नहीं लगेगा।' (गीता २। ३८) भगवान् फिर कहते हैं-'कर्म करना ही तुम्हारे हाथमें है; उसका फल तुम्हारे हाथमें नहीं है। फलकी इच्छासे कोई काम न करो और न अकर्मण्यता (निठल्लेपन) का ही आश्रय लो (इस भयसे कि न जाने कर्म करनेका फल कैसा होगा-भला या बुरा) अर्थात् कर्मको छोड़ो नहीं। (गीता २।४७) 'जो लोग बुद्धिपूर्वक कर्मफलकी इच्छाका त्याग कर देते हैं, वे जन्म-मरणके बन्धनसे छूटकर मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं।' (गी० २। ५१)

यथार्थमें कर्म जीवको बन्धनमें तभी डालता है, जब वह फलकी इच्छासे उसे करता है और साथ ही साथ अपनेको कर्ता समझता है। जब 'मैं कर्ता हूँ' यह भाव निकल जाता है और जब बुद्धि निर्लेप हो जाती है, अर्थात् फलकी इच्छासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसी दशा-में यदि कोई सारे संसारका ही नाश कर दे, वह (वास्तवमें) न तो किसीका नाश करता है और न वह उस कर्मके फन्देमें) फँसता है (गीता १८। १७)। सच्चा संन्यास या त्याग कर्मसे पल्ला झड़का लेनेका नाम नहीं है, अपितु लोक संग्रहके निमित्त अर्थात् 'अधिकसे अधिक प्राणियोंके अधिक-से अधिक हित' (The greatest good of the greatest number) की दृष्टिसे कर्म करना ही वास्तविक संन्यास है। लोकमान्य तिलकने 'निष्काम कर्मयोग' के इस सिद्धान्तका उपदेश ही नहीं दिया अपितु आजीवन उसका पालन भी किया।

महात्मा गांधीने इस ज्ञानार्णवमें गोता लगाकर विश्व-प्रेमरूपी पद्मराग-मणि ढूँढ निकाली। यह पद्मराग-मणि जिसके पास है, उसे बिना किसी प्रत्युपकारकी आशाके दूसरोंकी भलाई करनेमें वास्तविक आनन्द मिलता है। अहिंसा अथवा किसीको कष्ट न देना इसी प्रेमका दूसरा रूप है। मन, वाणी अथवा कर्मसे किसी भी चेतन जीवका अनिष्ट न करना ही अहिंसा है। अहिंसाके इस सिद्धान्तका यथार्थ भाव समझना बहुत ही कठिन है। जैनोंने इस सिद्धान्तकी अति कर दी, यहां तक कि उसका स्वरूप उपहासास्पद सा हो गया। महात्माजीने समय समय-पर जो इस सिद्धान्तकी व्याख्या की है उसमें कई जगह विरोध आता है, इस बातको लेकर कई लोगोंमें मतभेद हो गया है। किन्तु यदि हम अहिंसाके असली रूपको समझ लें तो फिर कोई विरोध नहीं रह जाता। यदि हमारी दृष्टि केवल शब्दोंपर ही है तब तो स्थूलरूपसे कदाचित् हमें उनकी व्याख्यामें विरोध दिखायी दे। किन्तु यदि हम उनकी व्याख्यामें गहरे पैठें तो हमें उसमें आदिसे अन्ततक अहिंसाका ही भाव दिखायी देगा, जो हमें बिना इधर उधर भटकाये ठीक रास्तेपर ले जायगा। हमें कभी कभी दूसरों-के आचरणको कर्तव्य-शास्त्रके नियमोंकी सच्ची कसौटीपर कसना पड़ता है और ऐसा करनेमें हमारे विचारोंसे उन्हें कष्ट भी हो सकता है। किसी मार्गभ्रष्ट पथिकको ठीक मार्ग-पर लानेकी नीयतसे हमें किसी अवसरपर कड़े शब्दोंका भी प्रयोग करना पड़ता है। उदाहरणतः श्रीकृष्णने ही अर्जुनको 'क्लीव' (नपुंसक या हिजड़ा) कहकर उसे आड़े हाथों लिया। चीराफाड़ी करनेमें डाक्टरके हाथों रोगीको शारीरिक कष्ट पहुँचता ही है; इसी प्रकार किसी प्राणी अथवा नर-पशुसे दूसरे जन्तुओं या मनुष्योंके प्राणोंकी रक्षाके निमित्त उस एक प्राणी या मनुष्यका वध करना किसी अवसर-विशेषपर आवश्यक हो सकता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकारकी हिंसा वास्तवमें अहिंसा ही है। भारत-माताके सुपूत युवकोंके लिये उचित है कि वे अहिंसा-के असली रूपको ग्रहण कर निर्भीक हृदयसे जननी जन्म-भूमिको भौतिक एवं आचार-सम्बन्धी क्षय रोगसे उत्तरोत्तर होनेवाले दुःखद नाशसे बचानेके लिये अग्रसर हों।

गीता एवं स्त्रीजाति

(लेखिका, श्रीमती [illegible])
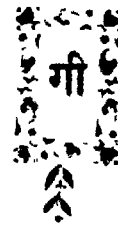
गीताका तात्पर्य बतलानेकी चेष्टा करनेमें मुझे स्वाभाविक तौरपर कुछ सङ्कोच होता है, क्योंकि इस अमरग्रन्थमें जितने विषयोंका निरूपण किया गया है उनके सम्बन्धमें शास्त्र-सम्मत एवं साम्प्रदायिक अनेक मत प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त एक पाश्चात्य महिला होकर जिस दृष्टिसे मैंने जीवनके रहस्यको समझना सीखा है, उससे भिन्न दृष्टिसे न तो मैं उसे देखती हूँ और न देख ही सकती हूँ। यद्यपि अनेक देशोंमें दीर्घ कालतक, जिसमेंसे कई वर्ष मैंने भारतवर्षमें व्यतीत किये हैं, लगातार भ्रमण करते रहनेसे मेरी दृष्टिमें पहलेकी अपेक्षा बहुत कुछ अन्तर हो गया है।

जीवनसे मुझे यह शिक्षा मिली है कि स्त्री और पुरुषके भेदको बीचमें लाकर लोगोंने व्यक्तिगत महत्त्वके सारे प्रश्नको गौण बना दिया है। जीवात्माके अन्दर स्त्री-पुरुषका भेद दृष्टिगोचर नहीं होता और उसके विकासकी मात्राके अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों ही आध्यात्मिक भावोंसे युक्त अथवा आध्यात्मिकताशून्य हो सकते हैं। दोनोंको ही परमात्माने बुद्धि दी है जो नारियोंके अन्दर सहज ज्ञानके रूपमें और पुरुषोंके अन्दर तर्कके रूपमें काम करती है। दोनों ही भावुक होते हैं—अन्तर केवल इतना ही होता है कि नारियां प्रायः अपने भावोंको पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक मृदुताके साथ व्यक्त करती हैं। दोनों ही किसी गुण या दोषके वशीभूत हो सकते हैं—बात इतनी ही है कि वे गुण-दोष जिस व्यक्तिमें पाये

जाते हैं, वह पुरुष है या स्त्री इसके अनुसार वे अतिरञ्जित कर दिये जाते हैं।

मुझे भलीभाँति विदित है कि नारियोंके विषयमें संसारमें आजतक जो कुछ लिखा गया है उसमेंसे अधिकांश पुरुषोंके ही द्वारा लिखा गया है, और मुझसे,-जो एक नारी हूं,-यदि सच पूछा जाय तो मैं यही कहूंगी कि उसका अधिकांश पढ़कर मुझे बड़ी हँसी आयी। नारियोंका समाजमें क्या स्थान होना चाहिये, इस सम्बन्धमें जितनी भी व्यवस्थाएं बनी हुई बतलाई जाती हैं, चाहे उन्हें मनुने बनाया हो, चाहे मूसाने और चाहे किसी और मनुष्यने, उनसे मुझे घोर असन्तोष है। इनमेंसे अधिकांश लोगोंके मतानुसार नारियोंको दासीसे अधिक मान नहीं मिलना चाहिये। इसका फल यह हुआ कि मासमें एक बार जो स्त्रियोंको अलग रहना पड़ता है उस समय उन्हें अस्पृश्य मानकर उनकी अपवित्रताको इतना महत्व दिया गया है जो न केवल अनुचित और नितान्त अनावश्यक है अपितु स्त्री-जातिके लिये मानसिक दुःखका कारण भी है। यद्यपि उस समय जो स्त्रीजातिकी मलशुद्धि होती है वह उनके लिये उतना ही हितावह है, जितना पुरुषोंका प्रतिदिनका शौच आदि उनके लिये हितकर है। इस मासिक धर्मकी नींवपर छूत-छात और अन्धविश्वासोंका एक ऐसा पहाड़ खड़ा कर दिया गया है जो भारतीय ललनाओंके लिये अप्रिय, अन्याय एवं अपमानजनक हो गया है।

स्त्री-पुरुषके भेदपर जिसका लोगोंने इतना हौआ बना रक्खा है, श्रीकृष्णने कोई ध्यान नहीं दिया ऐसा प्रतीत होता है। अर्जुनके निम्नलिखित वाक्य (जो उसने पहले अध्यायमें कहे हैं) बड़े महत्वके हैं-'कुलका क्षय होनेपर कुलधर्म भी उसके साथ ही लुप्त हो जाते हैं, यहाँ तक कि धर्मका ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। फिर अधर्मका साम्राज्य स्थापित हो जाता है अर्थात् जितनी भी बातें यथार्थमें संस्कृतिकी द्योतक हैं, उनका लोप हो जाता है। कुलक्षयसे होनेवाली विशृङ्खलताका परिणाम यह होता है कि स्त्रियाँ उच्छृङ्खल हो जाती हैं और फिर जातिका नाश भी अनिवार्य हो जाता है।' यहाँ श्रेष्ठ आचारोंकी रक्षाके सम्बन्धमें पुरुषों और स्त्रियों दोनोंका ही कर्तव्य स्पष्ट शब्दोंमें अङ्गीकार किया गया है। इतिहास इस बातका पूर्ण साक्षी है-विशेषकर पिछले महासमर एवं महाभारतीय युद्धके कालमें यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है।

अर्जुनके इस प्रश्नका कि,-जिस मनुष्यका चित्त योगसे डिग जाता है उसकी क्या गति होती है,-श्रीकृष्ण यह उत्तर देते हैं कि 'योगभ्रष्ट पुरुष मरनेपर पवित्र आचरणवाले ऐश्वर्य-सम्पन्न लोगोंके यहाँ अथवा प्रशस्त बुद्धिवाले योगियोंके घरानेमें जन्म लेता है और संसारमें इस प्रकारका जन्म मिलना अत्यन्त कठिन होता है।' (गी० ६।४१,४२) इस स्थानपर यह प्रश्न हो सकता है कि ऊपरके वाक्योंमें किस जातिका संकेत है-पुरुष जातिका अथवा स्त्री जातिका? परन्तु वास्तवमें बात यह है कि ज्ञानवान् योगियोंके सम्बन्धमें यह विवेचन नहीं किया गया है कि इस प्रकारके योगी केवल पुरुष ही होते हैं अथवा स्त्रियाँ, अथवा पुरुष और स्त्री दोनों ही हो सकते हैं। मुझे तो यह जँचता है कि श्रीकृष्ण, जो अनन्त-ज्ञान-सम्पन्न थे, इस बातको जानते थे कि इस प्रकारकी सन्तान उत्पन्न करनेके लिये योगियोंके गुण माता और पिता दोनोंके अन्दर होने चाहिये। इस बातको देखते हुए कि बच्चोंकी शिक्षा तथा चरित्र-गठनका भार,-ऐसे समयमें जब कि उनपर दूसरोंका प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है,-स्त्रियोंपर ही होता है, ऊपर बताए हुए गुणका पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें होना अधिक आवश्यक है। अज्ञ एवं विवेकशून्य माताओंके उदरसे ऐसी अलौकिक आत्माओंका आविर्भाव कहांतक उपयुक्त होगा?

गीताका अनुशीलन करते समय भगवान्‌के इस वाक्यको पढ़कर कि, मैं सर्वभूतोंके हृदयोंमें निवास करता हूँ-मनुष्यके चित्तपर स्वभावतः गहरा प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं, भगवान् यहां तक कहते हैं कि 'मैं शुचि और अशुचि दोनों ही हूँ।' उनकी दोनोंके प्रति समान दृष्टि है। उनसे अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं। भगवान् कहते हैं कि 'कीर्ति, श्री (ऐश्वर्य), वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (दृढ़ता) और क्षमा ये स्त्रीवाचक गुण भी मेरा ही स्वरूप हैं' (गी० १०।३४) और इनका सम्बन्ध जीवात्मासे है; केवल स्त्रियोंके साथ अथवा पुरुषोंके ही साथ इनका सम्बन्ध हो, यह बात नहीं है। इन गुणोंको कौन नहीं चाहेगा?

आगे चलकर भगवान् आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंके लक्षण बतलाते हैं। 'आसुरी प्रकृतिके मनुष्य न तो वास्तविक प्रवृत्तिका स्वरूप जानते हैं, न निवृत्तिका; न वे शौच (बाह्य एवं आभ्यन्तरिक शुद्धि) का पालन करते हैं, न आचार (श्रेष्ठ आचरण) का और न सत्यका ही व्यवहार करते हैं।(गीता १६।७) वे विषयोपभोगमें ही परायण रहते हैं और उसे ही जीवनका लक्ष्य मानते हैं (गी० १६ । ११)

और काम-क्रोधका सेवन करते रहते हैं। इन सब कारणोंसे वे अपने ही अनुकूल योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं यह स्वाभाविक ही है। माता और सन्तति दोनोंके कर्म मिल जाते हैं। दोनों ही ओरसे कर्मके नियमका पालन होता है और इस प्रकार समता और न्यायकी रक्षा होती है।

सच तो यह है कि गीताके प्रत्येक स्थलको पढ़नेसे यही भाव हृदयमें उत्पन्न होता है कि भगवानूका उपदेश जीवात्माके प्रति है न कि किसी विशिष्ट स्त्री अथवा पुरुषके लिये; क्योंकि स्त्री-पुरुषका भेद अनित्य एवं आगन्तुक है। भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं। हमें इस बातको माननेमें अधिक आपत्ति नहीं होनी चाहिये। जितना ही जल्दी हम इस सिद्धान्तको स्वीकार करेंगे उतना ही जल्दी पापोंका क्षय होगा। उस समय स्त्रियों और पुरुषोंके अन्दर जो जो महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं, उनका उपयोग होकर समाजकी व्यवस्था पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर एवं दिव्य हो जायगी, क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनोंका ही उसपर नियन्त्रण होगा और दोनोंके ही प्रयत्नसे उसकी रचना होगी।

'शास्त्रविधि' शब्दसे कौनसा शास्त्र अभिप्रेत है ?

(ले० श्री बी० एल० रमानाथजी शास्त्री)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

इस श्लोकमें जो 'शास्त्र' और 'विधि' ये दो शब्द आये हैं उनसे वेद और विधिनिषेधात्मक स्मृतिरूप संयुक्त अर्थ अथवा सङ्कल्पका बोध होता है। जैमिनीय मीमांसा दर्शनमें,-जो कर्म मीमांसाका शास्त्र है, भावना अथवा व्यापार अथवा कृति अथवा कर्म अथवा क्रियात्मक प्रवृत्ति अथवा किसी कामको ऐहिक या पारलौकिक फलकी प्राप्तिके लिये करनेके दृढ़ सङ्कल्पका विकास हुआ है और इसी शास्त्रका सङ्केत इस श्लोकमें किया गया है। 'शास्त्र' का मुख्यार्थ वेद है और यौगिक अर्थ 'आज्ञा' है। जबतासे जो कुछ भी मनुष्यको कर्ममें प्रवृत्त करे, जिस कर्मके द्वारा उसे इस लोकमें अथवा परलोकमें दृष्ट अथवा अदृष्ट फलकी प्राप्ति हो, वही शास्त्र है। इस शास्त्रके कई रूप होते हैं, जिनमेंसे कुछ ये हैं-जैसे आज्ञा (Command,), अनुरोध (Recommendations), औचित्य कथन अथवा कर्तव्यतानिरूपण (Appeal to better instinct or moral conduct), निषेध (Prohibition), स्तुति (Praises), निन्दा (Denunciation), इतिहास (Illustration), पुराण (Allegory), ज्ञापक (Revelation, अनुवाद Assertion), फलश्रुति (Promise of higher benefits, known & unknown), नियत अथवा स्वल्पपाप (Necessary or lesser evils), प्रत्यवाय (Pitfalls), नियम, निषेध, परिसङ्ख्या, अर्थवाद, अनुवाद, गुणवाद, हेतु, निर्वचन इत्यादि। इन सबका उद्देश्य मनुष्यको सामान्य रूपसे प्रवृत्तिमार्ग एवं निवृत्तिमार्गका कर्म एवं नैष्कर्म्यके रूपमें उपदेश करना अथवा उसे हितका मार्ग बतलाना ही है। निम्नलिखित श्लोकमें भिन्न भिन्न क्रियाओंके द्वारा इन आज्ञाओं या विधियोंका स्वरूप बतलाया गया है-

कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत् स्यादिति पञ्चमम् ।
एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥

इस प्रकारसे निरूपित शास्त्र ही प्रमाण है और इसलिये उसकी आज्ञाओंका पालन अवश्य करना चाहिये। जिन लोगोंको शास्त्रके प्रमाण होनेमें शङ्का है अथवा जो लोग उसकी अवहेलना करनेपर उतारू हैं वे प्रायः विकारोंसे अभिभूत होते हैं, चाहे वे विकार उच्च हों या नीच। गीता कहती है कि ऐसे लोगोंको न तो इस लोकमें सुख मिल सकता है और न परलोकमें सद्गति ही प्राप्त हो सकती है। इस वर्गके लोगोंको गीतामें 'आसुर (राजस, एवं तामस) सर्ग' कहा है और इनसे विपरीत अर्थात् शास्त्रको माननेवाले लोगोंको 'दैव (सात्त्विक) सर्ग' कहा है। शास्त्र (वेद) को माननेकी इस प्रवृत्तिको गीतामें 'श्रद्धा' और मीमांसा-शास्त्रमें 'भावना' कहा गया है। इसी भावनाका उदात्त अथवा सात्त्विक स्वरूप वह है जो 'नैष्कर्म्य' अथवा 'निष्काम कर्मयोग' के नामसे प्रसिद्ध है और इसी नैष्कर्म्यमें भावनाको अवगाहन कराके उसे पूर्णतया विकसित कर देना ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि गीता मनुष्यको कर्मयोग अथवा वैदिक कर्मानुष्ठानकी ओर प्रवृत्त करती है और छाती ठोंककर कहती है कि जो कोई इस मार्गका अनुसरण करेगा उसे अवश्य ज्ञान या संन्यासरूप उत्तम फलकी प्राप्ति होगी और यही मोक्ष या निर्वाण (मुक्ति) का साक्षात् साधन है।

श्रीश्रीकृष्णावतार*

(लेखक-पं० मङ्गदत्तजी शर्मा 'शिशु')

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

भगवान् श्रीकृष्ण—गीता ४।६–८)

अङ्क-पहला

(१)

(स्थान जंगल, यमुना-तट । कंस-राजसे प्रपीड़ित मथुरावासियोंकी सभा । एक मनुष्य हाथमें गोमाताके चित्रका झण्डा लिये हुए है)

अभिनयः—

सभाका प्र०—बन्धुओ ! क्या आप बतलानेकी कृपा करेंगे कि राजा कौन होता है ?

प० मनुष्य—श्रीमन् ! राजा ईश्वरका विशेष विकास होता है । नराणां च नराधिपः ।

सब—निःसन्देह ! निःसन्देह !!

प्रधान—तब हमारा उसके प्रति क्या कर्तव्य है ?

प० मनुष्य—सर्वथा उसकी आज्ञाका पालन करना ।

प्रधान—यथार्थ ! यथार्थ !! परन्तु उस राजाका प्रजाके प्रति क्या कर्तव्य है ?

प० मनुष्य—श्रीमन् ! जिस प्रकार परमेश्वर अपनी सब विभूतियोंको,—जैसे कि प्रकाश, वायु, जल और कन्दमूल फल आदि, अपनी प्रजाके कल्याणके लिये सर्वदा न्योछावर करता है, उसी प्रकार उसका विशेष अंश राजा भी अपना सर्वस्व प्रजाके हित-साधनमें न्योछावर करता रहे ।

प्रधान—परन्तु यदि राजा ऐसा न करके उस सारी सम्पत्तिको अपना स्वार्थ-साधन करनेके लिये, अपने भोग-विलासके हेतु, अपने खजानेमें भरता रहे; इतना ही नहीं बरन् प्रजाकी स्वतन्त्रताको भी उससे छीन ले तब आप लोगोंका उसके प्रति क्या कर्तव्य है ?

दू० मनुष्य—कर्तव्य ? पूर्ण असहयोग तथा उससे राज्याधिकार छीननेका दृढ़ प्रयत्न !

प्रधान—तब क्या वर्तमान कंस-राज ईश्वरांश मानकर हम लोगोंसे पूजे जाने योग्य है ? क्या आपको मालूम है कि उसने साधु-हृदय वसुदेवजीको बन्दी-गृहमें डाल रक्खा है और उनके नवजात शिशुओंका बराबर संहार कर रहा है ?

ती० मनुष्य—ओह ! यह किसे मालूम नहीं, व्रजका बच्चा बच्चा जानता है !

चौ० मनुष्य—त्राहि ! त्राहि !! कदापि नहीं ! कंस-राज हमारा शासक कहलाने योग्य नहीं !

प० मनुष्य—त्रिकालमें नहीं ! जिसने हमारे धार्मिक जीवन-पथको कण्टकाकीर्ण बना डाला, जिसके राज्यमें कपटी, धोखेबाज, और चालबाज मनुष्य सम्मानित होते हैं, जिसके शासन-कालमें शराब और व्यभिचारको खुल्लमखुल्ला आश्रय दिया जा रहा है, वह अधर्मी कंस हमारा कदापि राजा नहीं हो सकता ! ओह !

ऋषिवरोंके वंशजोंपर, पापका शासन कहाँ !
शहरका नाला सड़ा और जाह्नवी पावन कहाँ !

प्रधान—ठीक है । परन्तु हम राज्य-सत्ताके सामने क्या कर सकते हैं ?

प० मनुष्य—हम उसकी किसी आज्ञाका पालन न करेंगे !

* पण्डितजीद्वारा लिखित 'श्रीबालकृष्ण' नामक अमुद्रित नाटकके पहले अंकके तीन दृश्य ।

प्रधान—परन्तु वह आपसे बल-पूर्वक करायेगा।

प० मनुष्य—कदापि नहीं!

सत्य-पथसे वह हमें इक पग हटा सकता नहीं।
प्रेम वैष्णव-धर्मसे राजा मिटा सकता नहीं॥

दू० मनुष्य—(गम्भीर उत्तेजनासे) निःसन्देह!

धर्मकी स्वातन्त्र्य वेदी-हित बहा देंगे लहू।
भक्तिके रविसे अधर्मीकी नशा देंगे कुहू॥

प्रधान—धर्मवीरो! तुम्हारा साहस परिपूर्ण हो। परन्तु जगन्नियन्ताकी उसपर कोप-दृष्टि होनेसे पहले तुम्हारे खूनकी नदी बहानेसे क्या लाभ?

पहला—लाभ पूछते हैं श्रीमन्? वर्तमान पराधीन जीवनकी अपेक्षा तो मरनेमें लाभ ही लाभ है। अब हम दुर्वृत्त शासकोंकी तलवार और गोलोंका छाती खोलकर स्वागत करेंगे और दुष्ट-दर्प-दलनकारी श्रीविष्णु भगवान्का ध्यान करते हुए सहर्ष प्राण दे देंगे, परअब पापपूर्ण राजनीतिके आहार नहीं बनेंगे। (उत्तेजित होकर)

उलीचे खून देहोंसे सिरोंपर आग बरसावे।
डुबा दे सिन्धुमें या गर्दनें शूलीपै लटकावे॥
धर्म-अधिकार रक्षण-हित सभी उत्सर्ग कर देंगे।
हृदयकी तप्त आहोंसे हिला हरिका नगर देंगे॥

प्रधान—धन्य है धर्मवीरो! परन्तु आप देख रहे हैं कि इस व्रजमण्डलके पुरुष रत्न, नहीं नहीं देश भरके पुरुष-सिंहोंको कंस-राजने कारागारमें डाल रक्खा है। अधिक क्या, उसने अब अपने पिता धर्मज्ञ राजा उग्रसेन और सौम्य-मूर्ति श्रीवसुदेवको बन्दी बना लिया है, तब तुम्हारी इन क्षुद्र आहुतियोंसे क्या लाभ होगा?

दूसरा—श्रीमन्! क्या होगा, इस बातको तो वे विश्वंभर जानें, हम तो केवल धर्मके लिये मरना जानते हैं।

तीसरा—हर समय तैयार हैं!

प्रधान—बन्धुओ! परन्तु उस दुष्टके कुशासनमें आप लोगोंके ऐसा करते रहनेपर भी अबतक कोई अन्तर नहीं आ सका।

सब—तब आप ही कोई उपाय बतलाइये, जिससे हम लोगोंका उद्धार हो।

प्रधान—मेरे धर्मप्राणो! हमारा उद्धारा उस (आकाशकी ओर संकेत करके) लीलामयके हाथ है। जब मनुष्य अपनी शक्तिभर उद्धारके यथार्थ उपायोंको काममें लाने परभी लक्ष्य वस्तुकी प्राप्तिमें असमर्थ हो जाता है, तब वे भव-भय-भञ्जन भगवान् ही उसके एकमात्र उद्धारकर्ता होते हैं।

पहला—सत्य! सत्य!!

प्रधान—मैं कलकी बात आप लोगोंको सुनाता हूं, कल जब मैं पूजा-गृहमें सन्ध्योपासन कर रहा था, तब कंसराजके दूतोंने आकर, ओफ! मेरे आगेसे प्रभुका सिंहासन लुढ़का दिया, मैं समझ रहा हूं कि उससे वास्तवमें प्रभुका सिंहासन हिल गया है, वे अब अपनी योगनिद्रासे जाग उठे हैं, उन्होंने मेरा करुणक्रन्दन सुनकर मेरे हृदयमें प्रकट होकर कहा—मा भैषीः! मा भैषीः!! अतएव अब चिन्ता न करो, अवश्य ही वे हम सबकी रक्षा करेंगे।

सब—(आशान्वित होकर) अहा! क्यों नहीं? चक्रपाणि भगवान्के अतिरिक्त आश्रित-जनोंकी कौन रक्षा करेगा?

प्रधान—(आनन्दावेशमें) वही! वही!! शार्ङ्ग-पाणि विश्वंभर!

पहला—(मतवाला बना हुआ) अहा! हा! हा!!! वे आयेंगे? वे स्वयं निज-जनोंमें आकर हमें कृतार्थ करेंगे।

प्रधान—निःसन्देह! हृदयमें धर्मका अटल अनुराग हो, उसकी प्राप्तिकी तीव्र उत्कण्ठा हो, घोर वेदना हो, जिह्वापर पुकार हो, नेत्रोंमें अविरल अश्रुओंकी धारा हो, तब क्यों न उस प्यारेका अवतार हो?

कुछ मनुष्य—(आनन्दमग्न होकर) अहा ! हा !! देवर्षि नारदके वचन सत्य होनेको हैं। बोलो ! आनन्द-कन्द सच्चिदानन्द विष्णु भगवान्‌की जय !!

सब—आनन्दकन्द सच्चिदानन्द विष्णु भगवान्‌की जय !'

प्रधान—प्रभुके भक्तो ! हमारे साथ यह गोरूप-धारिणी पृथ्वी माता भी है। देखो ! इसकी आँखोंसे भी आँसू बह रहे हैं। हा ! मां !! मां !!! तेरे ऊपर इतना भार? घोर कष्ट? आह ! (रोता है)

पहला—प्रभो ! करुणासिन्धो !! तेरे सिवा इस धर्म-संकटमें हमारा रक्षक और कौन है ? (आकाशाभिमुख हुए हाथ जोड़कर)

शिथिल पौरुष हुए तेरी शरणमें नाथ आये हैं।
प्रपीड़ित आह ! अत्याचारियोंसे क्लेश पाये हैं ॥
भुला बैठे अधर्मी गुप्त-बलको आपके भगवन् !
इसीसे पाशविक बल पर घमण्डी शिर उठाये हैं ॥

प्रभो ! रक्षा ! रक्षा !!

प्रधान—पीड़ित भक्तो ! आओ ! सब मिलकर उस जगन्नियन्ताको अपना हृदय-शूल दिखायें—उससे प्रार्थना करें।

(गान)—

सब—(हाथ जोड़कर)

कीजिये ! प्रभुवर ! करुणाकोर।
गर्जत बादल स्वार्थ-वारि-युत, काम बिजुरि रव घोर।
कुटिल-नीति-मय निशा प्रलय सी सूझत ओर न छोर ॥
दुःशासनसे हा ! इस नृपके पातक बढ़त कठोर।
या डारो ब्रज-भू सागरमें, या दो शासन तोर ॥
सत्-जन व्यथित आर्त अति बाढ़े जगमें लम्पट चोर।
दीन दुखी जन निबल लखत हैं हे रमेश ! तव ओर ॥
जानत हौ सब दशा हृदयकी, वरणत कौन बहोर।
पराधीनता काट बहा दो ! हे स्वातन्त्र्य-किशोर !

आकाशवाणीः—

मेरे पावन परम-भक्तो ! तुम्हारी करुण-रस-पूर्ण वाणीने अखिल विश्वमें करुणा भर दी है। तुम अब निर्भय हो जाओ ! करुणाके समुद्रमें ज्वार आ गया है। मैं प्रकट हो रहा हूं। कारागार-में ही स्वतन्त्रता उत्पन्न होगी ! (प्रकाश-दर्शन)

सब—अनुग्रह ! (आकाशाभिमुख होकर) अनुग्रह ! प्रभो ! अनुग्रह !

(आनन्द-गान्य नाद-वाद्यके साथ)

जय लीला-मय जय अभिराम, जय मायापति नव-घनश्याम।
जय लीलाधर जय सुखधाम, जय मायापति नव-घनश्याम ॥
जय ! जय !! जय !!!

(पटाक्षेप)

(२)

(दिव्य लोक, अनेक वर्णमय-अद्भुत प्रकाश। नील-जल-भ्रम-समुद्रमें रक्त-कमलपर दिव्य सौन्दर्यमयी श्रीविष्णु-माया अर्थात् योग-शक्तिका अनुपम दर्शन।)

योगशक्तिका गान।

(ऐश्वर्य-भाव, तर्ज लैवनी)

विविध-वर्ण सूर्य एक।
हरित नील पीत रंग, करत केलि अरुण संग।
उठत गगन जल तरंग, एक सिन्धुमें अनेक ॥

जगमगाती एक ही विद्युत् अनेकों दीपमें।
सूत्र विद्युत् केन्द्रके हैं लग्न किन्तु समीपमें ॥
भेद है केवल कलाओंके प्रगटनेका 'वहाँ'।
कम अधिक विकसे कहीं 'वे' रंक और महीपमें ॥

एक वीर्य है अनन्त, व्याप्त करत दिशि दिगन्त।
सूक्ष्मरूप आदि अन्त, प्रेम-सिन्धु सद्-विवेक ॥
विविध-वर्ण सूर्य एक ॥

'ज्योत्स्ना' मन-चन्द्रमें देता 'वही' रवि-अंशुमान्।
हृदय-पंकजको खिला, करता वही पीयूष-दान ॥
नव-मुकुलिका प्रेयसीको प्रेमसे विकसित बना।
विश्व-काननमें भरे प्रिय गन्ध बल जीवन महान् ॥

अनिल, अनल, भू, ख, पयः, रजस्तमः सत्व त्रयः।
महत्-तत्व सृष्टि निलय, सर्व काल आदि टेक।
विविध-वर्ण सूर्य एक ॥

योगशक्ति—अहा ! हा !! अब तो जगत्‌के आधार भगवान्‌की समूची कलाओंका—उनकी लीलाओंका केन्द्र, भारतवर्ष बनेगा। सूर्यका प्रकाश उससे भिन्न कहाँ ? तो

यह अनुगामिनी दासी भी उन्हीं लीला-धारीकी निज-शक्ति है; बस, अब जाती है और उनकी पवित्र आज्ञाका पालन करती है।

(एक दिव्य विभिन्न वर्णमय प्रकाशका आकाशकी ओर जाना)

[पट-परिवर्तन]

(३)

(रात्रिकाल स्थान--कारागार, श्रीवसुदेवजी चिन्तातुर बैठे हैं, पास ही शय्यापर श्रीदेवकीजी लेटी हैं।) (हल्का प्रकाश)
(श्रीवसुदेव चिन्ता-नाट्य करते हुए खड़े होकर गाते हैं)

गान।

हे ! भव-बन्धन काटनहारे, बन्धन क्या एक हमारा है।
तुम जान रहे अन्तर्यामिन्, फिर भी नहीं नाथ निहारा है॥
कुछ लाज नहीं हमको अपनी, कुछ कष्ट नहीं दुखका इतने।
है सोच यही मिटता जगसे, दुख-भञ्जन नाम तुम्हारा है॥
क्या कभी भूलकर भी हमने, प्रतिकूल शास्त्रविधि-कर्म किया।
या कभी स्वप्नमें पाप-कर्म, जिनसे चित-चोर ! विचारा है॥
किसको दिखलायें हृदय-शूल, है कौन यहाँ लखनेवाला ?
हम अबल प्रपीड़ित दोषहीन, जनका जगदीश सहारा है॥
हा ! आह हृदयके टूक टूक, इन अँखियोंसे होते देखे।
यह हृदय प्रभो ! पाषाण-खंड, होता अब भस्म हमारा है !!

(चिन्तामग्न आकाशकी ओर देखते हुए)

प्रभो ! दीनबन्धु !! आह !!!

इस अभागेकी निर्लज्ज आँखोंने इकट्ठे सात बच्चोंकी हत्या देखी ! ओह ! अब न देखा जायगा। इस बार मैं अपने बच्चेको न दूंगा। परन्तु, आह ! मैं उसको रख ही कैसे सकता हूं (भयसे काँपकर) ओह ! वह आया कंस (घुटने टेककर), छोड़ दो ! इस बार मेरे आनेवाले बच्चेको छोड़ दो !! कंस ! प्रभुके लिये छोड़ दो मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूं।

श्रीदेवकी--आर्य-पुत्र ! कंस यहाँ कहाँ है ?

श्रीवसुदेव--(शय्याके पास जाकर) प्रिये ! तुम जाग गयीं। नहीं, कंस कहीं नहीं है। तुम कुछ सोच सन्ताप न करो।

श्रीदेवकी--(बैठकर) प्राणेश ! था, इससे पहले मेरे हृदयमें घोर सन्ताप था ! प्रचण्ड प्रज्वलित अग्नि थी, परन्तु अब मेरे हृदयमें सन्तापका लेश मात्र भी नहीं है, मैं अभी एक अलौकिक मूर्तिका दर्शन कर रही थी।

श्रीवसुदेव--कहाँ पर ? किस ओर ? जाग्रत्‌में या स्वप्नमें ?

श्रीदेवकी--प्राणनाथ ! जाग्रत् कहूं या स्वप्न, कुछ समझमें नहीं आता। मेरे हृदयमें अपूर्व आनन्दकी लहरें उठ रही हैं।

श्रीवसुदेव--प्रियतमे ! यह सब आनन्दकी लहरें तो निर्दयी दुष्ट कंसके आते ही घोर दुःखमें बदल जायँगी। आह ! प्रभो ! दुखियों-के सहारे ! तेरे सिवा अब और कौन रक्षक है ? हाँ प्रिये ! वह अलौकिक मूर्ति कैसी थी, बताओ तो सही।

श्रीदेवकी--प्राणवल्लभ ! वह मूर्ति ! ऐं......कैसा प्रकाश ? ओः ! हो ! (आनन्द-मुग्ध होकर) वह देखो !

(श्रीविष्णु-भगवान्‌का शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये प्रकट होना, कारागारकी अन्धकारमय कोठरीमें प्रकाश छा जाना, वसुदेव-देवकीके हाथ पैरोंसे हथकड़ी बेड़ियोंका टूटकर नीचे गिर पड़ना और श्रीवसुदेव तथा श्रीदेवकीका भगवान्‌के अद्भुत प्रसन्नमुखका दर्शन कर आनन्द-मुग्ध हो जाना)

श्रीवसुदेव--प्रभो ! मैं सपत्नीक श्रीपद-पद्मोंमें प्रणाम करता हूं। नारायण ! (अत्यन्त हर्षोत्फुल्ल होकर) विश्वेश्वर ! आश्चर्य ! महद् आश्चर्य !! आप इस कठिन कारागारमें ?

श्रीविष्णु भ०--मेरे सर्वस्व ! मैं सर्वत्र हूं। मुझे श्रीमान् जैसे महात्मा ही अपने प्रेमपाशमें बाँध लेते हैं, पूर्व कथा स्मरण करो ! सोच त्याग दो, मैं श्रीमान्‌का पुत्र होनेके लिये आया हूं। मेरा प्रणाम स्वीकार करो। मुझे नन्दबाबाके घर ले जाना और वहांसे नव-जात कन्या यहां पर ले आना। तुम्हें कोई भय नहीं है !

(प्रभुका अन्तर्धान हो जाना)

(श्रीकृष्ण-जन्म। मन्द प्रकाश। कारागारके रक्षकों-का भगवान्‌की मायासे सो जाना तथा द्वारके ताले आपही खुल जाना)

दुष्ट दलन पालन-सुजन, लान्त ईश अवतार।
जनक-जननिके दुखहरन, प्रगटे कारागार॥

श्रीवसुदेव—प्रणाम! प्रणाम!! दयासिन्धो! कोटिशः, प्रणाम। कृपा असीम कृपा।

श्रीदेवकी—आर्यपुत्र! प्रभुके आदेशका, पालन करो शीघ्र ही शिशुको नन्दग्राम ले जाओ। (बच्चेका मुंह चूमकर) मेरे प्राणसर्वस्व! जाते हो? जाओ! मैं तुम्हारे दर्शनकी आशामें जीवन धारण करूंगी।

(श्रीवासुदेव शिशुको उठाकर वस्त्राच्छादित टोकरेमें रखकर चल देते हैं।)

(मार्ग भयंकर, झरप, जंगल, श्रीयमुनाजीका चढ़ना, प्रभु चरण-स्पर्शसे उतर जाना। नन्द बाबाके यहां पहुंचकर प्रभुको लिटाकर कन्याको लेआना, दरवाजेके तालोंका पुनः आप ही बन्द हो जाना, कन्याका रोना।)

एक द्वारपाल—(जगकर) अरे! सोते हो? सावधान, बालक पैदा हो चुका है।

दू० द्वार०—(घबड़ाकर उठता हुआ) हां! हां!! महाराजाधिराजको शीघ्र खबर करनी चाहिये।

प० द्वारपाल—रे सावधान रहो! मैं जाता हूं। (जाता है)(कंस बड़ी तेजीसे आंखें मींजता हुआ आता है और द्वार खोलकर भीतर प्रवेश करता है)

कंसराज—वसुदेव! कहां है वह मेरा शत्रु?

उठा लाओ! विषैले सर्पको फौरन कुचल डालूं।
इस अपने कालको अपने ही हाथोंसे मसल डालूं॥
रचा षड्-यन्त्र जो है, देवताओंने मिटाता हूं।
तुम्हारी भक्तिके सब ढोंगका पर्दा हटाता हूं॥

लाओ! वसुदेव!

श्रीदेवकी—भाई!

है नहीं यह पुत्र, कन्या है रुलानेके लिये।
दो इसे मुझ दुःखनीको जी लगानेके लिये॥

कंस—ओह! कन्या? इसमें भी भेद है। हो सकता है इसका पति ही मेरा शत्रु बने। वसुदेव! जल्दी करो, क्या सोचते हो?

वसुदेव—राजन्! रहने दो! मेरी इस हृदयकमलकी अन्तिम पंखड़ीको रहने दो। दया करो।

कंस—(झुंझलाकर) चुप! क्या व्यर्थ बहाने बनाता है? सावधान! मेरे क्रोधसे सावधान!!

वसुदेव—(स्वगत) आह प्रभो! दूसरेकी वस्तु भी अब तो हाथसे छूटी······(प्रकट) (कांपते हुए कन्याको उठाकर) ले निर्दयी·········

(आँखें बन्द कर लेते हैं)

कंस—(कन्याको हाथमें लेकर) यह है आठवां गर्भ मेरा काल, ओ आकाशवाणी! आज मैं निर्भय होता हूं। (सिरसे ऊपर उठाकर पृथ्वीपर देकर मारना चाहता है, परन्तु वह कन्या उसके हाथसे छूटकर आकाशको उड़ जाती है—उस समय बिजली सी चमक जाती है और आकाशसे यह घोर वाणी सुनायी देती है)

'रे दुष्ट! तेरी क्या सामर्थ्य है कि तू मुझे मार सके। सावधान! तुझे मारनेवाला संसारमें प्रकट हो चुका।'

कंस—ओह! ऐं!! मुझे मारनेवाला! कहां?··· (आकाशाभिमुख होकर) भयसे कांपने लगता है!

(ड्राप सीन)

गीता क्या है?

'गीता श्रीभगवान्की आश्वास-वाणी है।'
'गीता प्रकृतिदेवीकी पियूष-पयोधारा है।'
'गीता संसार-प्रवाहमें ज्ञान-प्रदर्शिनी है।'
'गीता विषादमय जीवनमे ज्योति-शिखा है।'
'गीता भगवत्-सान्निध्य-लाभका परमोत्तम उपायहै'
'गीता अज्ञानान्ध व्यक्तिके लिये ज्ञानाञ्जन-शलाका है।'
'गीता मुमुक्षुके लिये एकमात्र उपदेशदात्री है'
'गीता मुक्तिपथमें पथ-सहचारिणी है।'
'गीता संसारार्णवमें भटकते हुए जीवके लिये दिक्सूचक यन्त्रिका है।'
'गीता श्रीकृष्णके पाञ्चजन्यकी शंखध्वनि है।'

—श्रीयोगेन्द्रनाथ राय 'ज्योतिःशास्त्री'

शरणागति-योग

(लेखक-पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी)

यद्यपि वर्तमान कालमें श्रीमद्भगवद्गीताके प्रचारके लिये कतिपय लोग बड़े बड़े प्रयत्न कर रहे हैं और लोगोंमें पूर्व कालकी अपेक्षा श्रीमद्भगवद्गीता-सम्बन्धिनी चर्चा भी बहुत हुआ करती है, तथापि गीतामें वर्णित विषय ऐसे नहीं हैं, जिन्हें जनता सहजमें ही हृदयङ्गम कर ले और गीताके उपदेशानुसार अपने जीवनको आदर्श हिन्दू-साँचेमें ढाल, इस लोक और परलोक दोनोंके लिये शुद्ध शान्ति सम्पादन कर ले। श्रीमद्भगवद्गीताको—

'पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता'

—समझ और वेदके समकक्ष आसन प्रदान कर, उसमें श्रद्धा रखना एक बात है और गीताके उपदेशोंको हृदयङ्गम कर उनको जीवनके व्यवहारमें परिणत करना दूसरी बात है। गीताके प्रति आज लोगोंका जितना आदर है, उसका शतांश भी यदि लोग उसके उपदेशानुसार आचरण करते, तो भारतकी आज न तो यह शोच्य दशा होती और न स्वार्थी तथा सनातन-धर्म-विद्वेषी नेता नामधारी जीव-विशेषोंको इस देशमें कोई अनुयायी ही मिलता। किन्तु वर्तमान कालकी जनता गीताके प्रति श्रद्धा चाहे कितनी ही प्रदर्शित करे; पर गीताके उपदेशके अनुसार चलना उसके लिये लोहेके चनोंके समान है।

श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेश ऐसे नहीं हैं जिनको कोई मनुष्य एक बार गीताका पाठ करने या सुननेसे ही हृदयस्थ कर सके। जिन लोगोंने महाभारतमें अश्वमेध पर्वको पढ़ा होगा, उन्हें मालूम होगा कि स्वयं अर्जुनको भी गीताका उपदेश याद नहीं रह सका। अर्जुनने स्वयं यह बात भगवान् श्रीकृष्णसे कही थी—

यद्भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् ।
तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे व्यग्रचेतसः ॥

अर्थात् 'हे पुरुषव्याघ्र ! हे केशव ! सुहृद्भावश युद्धके समय आपने जो परमार्थ-विद्या वर्णन की थी, उस समय मेरा मन व्यग्र होनेके कारण, वह मेरे मनसे उतर गयी, अर्थात् उसे मैं भूल गया हूं। किन्तु उन विषयोंमें मेरी पूर्ण श्रद्धा है और आप शीघ्र ही द्वारकापुरी जानेवाले हैं, अतः आप उसे मुझको पुनः सुना दें।'

अर्जुनकी इस बातको सुन, श्रीकृष्णने अर्जुनकी निर्बुद्धिताके लिये बड़ी कड़ी फटकार बतायी और कहा-'जो बातें मैंने उस समय तुम्हें बतलायी थी, वे बातें मुझे स्वयं ज्यों की त्यों याद नहीं हैं।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेश और सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनको सदा मनन न करते रहनेसे और प्रतिदिन उनपर अमल न करनेसे वे कभी हृदयङ्गम हो ही नहीं सकते। अतः गीताका केवल पाठ करना या उसको रेशमी वस्त्रेमें बांध नित्य शीश नवाना ठीक वैसा ही है, जैसा लड्डूका नित्य नाम लेना या लड्डुओंको नित्य प्रणाम करना। जिस प्रकार लड्डू खाये बिना लड्डुओंकी मधुरताका रसास्वादन जिह्वा नहीं कर सकती, उसी प्रकार गीताके उपदेशोंको कार्यरूपमें लाये बिना, किसीको गीताके उपदेश भी लाभ नहीं पहुंचा सकते। अतः जिनको गीतामें तिलमात्र भी श्रद्धा है, उन्हें उचित है कि वे गीताके उपदेशोंको कार्यरूपमें परिणत कर अपने आत्माका उद्धार करें और इस संसारको सुख-शान्तिमय बना लें।

श्रीमद्भगवद्गीताके महत्त्वको यहां तक कहकर अब हम दूसरी ओर झुकते हैं। जब श्रीकृष्णने अर्जुनका रथ युद्ध करनेके लिये तैयार खड़ी हुई दोनों पक्षोंकी सेनाओंके मध्यमें ले जाकर खड़ा कर दिया, तब अर्जुनने देखा कि दोनों पक्षोंकी सेनामें उसके पितामह, गुरु, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, ससुर, मित्र, सुहृद् सभी एक दूसरेका गला काटनेके लिये खड़े हैं। उन लोगोंने, लोभसे भ्रष्ट-बुद्धि होनेके कारण कुल-क्षय और मित्रद्रोहकी कुछ भी परवा नहीं की है, तथापि अर्जुनके मनमें यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि राज्यके लिये इन आत्मीयोंका वध करनेसे मुझे उनकी हत्याका जो पाप लगेगा, वह क्योंकर दूर होगा ? अर्जुनकी इस प्रधान शंकाको दूर करनेके लिये श्रीकृष्णने कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और उपासनामार्ग बतलाये ! किन्तु अर्जुनका समाधान नहीं हुआ। न तो कर्ममार्गके, न ज्ञानमार्गके और न उपासनामार्गके उपदेशद्वारा अर्जुनकी उठायी हुई शङ्काका समाधान हो सका और न भगवान्के विराट्रूपका दर्शनकर अर्जुनके मनमें श्रीकृष्णकी यह दलील बैठी कि भीष्म, द्रोण आदि तो मरे हुए हैं ही-तू उनकी मृत्युका केवल निमित्त-

मात्र बन जा। श्रीकृष्णकी दलीलोंसे अर्जुनके मनमें यह बात नहीं बैठी कि स्वजनोंकी हत्या करके उसे हत्याका पाप क्यों न लगेगा। अन्तमें सब प्रकारसे समझाकर श्रीकृष्ण कहते हैं।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥
(गी० १८। ६३)

अर्थात् गोपनीयसे गोपनीय जो ज्ञान था-सो मैंने तुमसे कहा। अब तू अच्छी तरह विचार कर जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।

प्रसङ्ग देखनेपर यह जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण कुछ देरके लिये चुप हो गये और अर्जुनके उत्तरकी प्रतीक्षा करने लगे। किन्तु जब अर्जुनने कुछ भी न कहा—अथवा यों कहिये कि श्रीकृष्णकी दलीलोंपर विचार करनेपर भी अर्जुनकी शङ्काका समाधान न हुआ, तब श्रीकृष्णने फिर कहा:—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।

श्लोक ६४ में 'गुह्याद्गुह्यतरं' कहा, अब कहते हैं सर्वगुह्यतमम्। 'तर' और 'तम' के तारतम्यको समझनेवाले लोग समझ सकेंगे कि अभीतक श्रीकृष्णने अर्जुनसे जो बातें कहीं थीं वे 'गुह्याद्गुह्यतरं' थीं—उन बातोंसे अर्जुनका सन्देह दूर नहीं हो पाया; किन्तु अब श्रीकृष्णने अर्जुनसे सबसे बढ़कर 'गोप्य एवं परमं वचः' अर्थात् उत्कृष्ट वचन कहा। वह क्या है?

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'तुम सब धर्मोंको अर्थात् कर्म, ज्ञान, उपासना-सम्बन्धी जिन धर्मोंका अभीतक मैंने उपदेश दिया है, उन सबका विचार त्याग, मेरे शरणागत हो जाओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूंगा—तुम चिन्ता न करो।'

यह बात सब तर्कों, युक्तियों और दलीलोंके परे है। इसके पूर्व अर्जुनके ऊपर उनके किये हुए कर्मका दायित्व था, किन्तु अब अर्जुनके कर्मका दायित्व श्रीकृष्णने अपने ऊपर ले लिया, तब अर्जुनको किसी प्रकारका सन्देह रह ही क्यों सकता था? अतः वे युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हो गये।

कोई गीताशास्त्रको कर्मपरक, कोई ज्ञानपरक और कोई भक्तिपरक कहता है। इन सबका कहना इस अंशमें अवश्य ठीक है कि गीतामें तीनों विषयोंका वर्णन है; किन्तु अर्जुनकी शंकाको न तो कर्मका सिद्धान्त, न ज्ञानका सिद्धान्त और न उपासनाका उपदेश ही दूर कर सका। अर्जुनके मनमें 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' का सिद्धान्त ऐसा समाया था कि उस सिद्धान्तको न तो निष्काम कर्मानुष्ठान ही हिला सका, न 'ज्ञानाग्निसर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' ही उखाड़ सका और न 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' ही मिटा सका।

जब श्रीकृष्णने स्वजनवधके पापसे छुड़ा देनेका स्वयं निश्चितरूपसे विश्वास दिलाया, तब कहीं अर्जुनको सन्तोष हुआ। यदि कर्मके सिद्धान्तसे अर्जुनका सन्तोष हो गया होता—तो वह उसे सुनकर कह देते 'करिष्ये वचनं तव' यदि ज्ञानका सिद्धान्त उनकी शङ्काका समाधान करनेको पर्याप्त होता, तो वह उसे सुन झट कह देते 'करिष्ये वचनं तव'। यदि उपासनाका उपदेश अर्जुनके हृदयके अनुकूल जंचता तो वे श्रीकृष्णका पूर्ण साढ़े सतरह अध्यायका उपदेश सुन और यह कहे जानेपर 'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु' चुप न बैठे रहते और न श्रीकृष्णको फिर—

सर्व गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः

यह परम गूढ़ विषयके कहनेकी आवश्यकता पड़ती। वास्तवमें श्रीमद्भगवद्गीता दार्शनिक कर्म-ज्ञान-उपासनात्मक उपदेश अर्जुनके लिये उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ, प्रत्युत जब श्रीकृष्णने छाती ठोंककर कहा 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' तब अर्जुन स्वजनोंके साथ लड़नेको तैयार हुए। इसीसे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तके पूर्वाचार्योंने श्रीमद्भगवद्गीतामें शरणागति-योगको सर्वोपरि ग्रन्थ माना है और 'सर्वधर्मान्' श्लोकको चरम मन्त्र समझ, जीवोंके लिये भवसागरसे पार होनेका सुलभ साधन उपस्थित कर दिया है।

संसारके धर्मग्रन्थ गीताके एक अध्यायकी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते

आचरण सम्बन्धी गुणोंके सुधारका मूलतत्व, उनके विपरीत गुणोंका विवेक द्वारा बहिष्कार तथा शास्त्रके अध्ययनके विषयमें गीताके सोलहवें अध्यायमें जो उपदेश दिया गया है। संसारके अन्य कोई धर्मग्रन्थ गीताके सोलहवें अध्यायकी, उत्कृष्टता, ज्ञान, लय, संगीत, मनोभाव तथा प्रकाशकी दृष्टिसे प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते।—के० कृष्ण आयङ्गर राव बहादुर

गीता समस्त मानव-जातिका धर्म-ग्रन्थ है

(लेखक—श्रीमेहरबाबाजी)

आध्यात्मिक दृष्टिसे सारी मानव-जातिपर भगवद्गीताका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। भगवान् श्रीकृष्णका हिन्दू-जातिमें जन्म होनेके कारण, गीताको लोग प्रायः हिन्दुओंका ही धर्म-ग्रन्थ समझते हैं; परन्तु वास्तवमें यह ग्रन्थ केवल हिन्दुओंका ही नहीं अपितु समस्त मानव-जातिका है। इसके अन्दर जो उपदेश दिया गया है, वह केवल भारतवर्षके ही लिये नहीं अपितु सारे जगत्के लिये है। मनुष्य-जाति इसके उपदेशोंके अनुसार आचरण करे, केवल इतनी ही देर है; फिर तो सारे मानव-समाजमें बन्धुत्व (प्रेम) की स्थापना अवश्य और अपने आप हो जायगी। जो श्रीकृष्णके पूर्ण पुरुष होनेमें सन्देह करते हैं वे जान बूझकर ऐसा नहीं करते। श्रीकृष्ण अवश्य ही ईश्वरके अवतार थे और स्वयं सद्गुरु (पूर्ण-पुरुष) होनेके कारण उन्होंने आध्यात्मिक भाव और उच्च आध्यात्मिक उपदेशोंकी पीयूष-वर्षासे जगत्को प्लावित कर दिया!

श्रीश्रीशंकराचार्य और गीतारहस्य

(लेखक—दण्डीस्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)

लोकमान्य तिलकके गीतारहस्यमें पद पदपर इस बातकी घोषणा की गयी है कि गीता में ज्ञान और कर्मके समुच्चयका प्रतिपादन किया गया है और इसीका नाम उन्होंने 'तत्त्व-ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग' रक्खा है। रहस्यके 'संन्यास और कर्मयोग' प्रकरणमें तो यही बात विशेषरूपसे कही गयी है और इसे ही कर्मयोग नाम दिया गया है। अब समूचे ग्रन्थमें इसी कर्मयोग, वैदिक कर्मयोग या ज्ञानकर्मसमुच्चयकी छाप लगी हुई है, तथ प्रदर्शनार्थ पत्रों और पृष्ठोंका उल्लेख करना यद्यपि व्यर्थसा है, तथापि जिन्हें इस बातमें संशय हो, रहस्यकी प्रस्तावनाके १० तथा १७ पृष्ठोंमें और ग्रन्थके ६-१० पृष्ठोंमें यह बात अच्छी तरह देख सकते हैं। प्रस्तावनाके १२ वें पृष्ठमें लिखा है 'गीतामें उस युक्तिका—ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोगका—ही प्रतिपादन किया गया है। ४६५, ४७०, ८२५, ८४८ प्रभृति पृष्ठोंमें इसे गीताधर्म नाम भी दिया गया है। ३६५वें पृष्ठमें लिखा गया है कि 'इस मृत्युलोकका व्यवहार चलानेके लिये या लोकसंग्रहार्थ यथाधिकार निष्काम कर्म और मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञान, इन दोनोंका एककालीन समुच्चय ही गीतामें प्रतिपाद्य है।' ३५७वें पृष्ठमें लिखते हैं 'पहले चित्तकी शुद्धिके निमित्त और उससे परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर फिर केवल लोकसंग्रहार्थ मरणपर्यन्त भगवान्के समान निष्काम कर्म करते रहना ज्ञानकर्मसमुच्चय, कर्मयोग या भागवत मार्ग है।' इन अवतरणोंका आगे चलकर काम पड़ेगा। इसीलिये हमने दे दिया है। यदि रहस्यके ३५२-३५५ पृष्ठ देखे जायं तो वहां जो प्रवृत्ति एवं निवृत्ति-मार्गका नक्शा तैयार किया है, उसमें ब्रह्मज्ञानोत्तर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गोंको अलग अलग दिखलाकर अन्तमें दोनोंसे ही मोक्षकी प्राप्ति स्वतन्त्र रूपसे लिखी है। ऐसा नहीं है कि निवृत्ति या संन्यास-मार्गसे तो मोक्ष मिले ही नहीं और यदि मिले भी तो केवल प्रवृत्ति-मार्ग या कर्मयोग-से ही। इससे सिद्ध है कि लोकमान्य भी श्रीशंकराचार्यकी ही तरह अकेले ज्ञानको ही मोक्षका साधन मानते हैं। यही बात ऊपरके अवतरणमें भी लिखी है। परन्तु कोई ऐसा न कह बैठे कि गीताका यह अर्थ तो निराला ही है और ऐसा ज्ञानकर्मसमुच्चय तो किसीने प्रतिपादित किया ही नहीं, इसीलिये उन्होंने उसी सम्प्रदाय-वादकी शरण ली है जिसे गीतारहस्यमें निर्दयताके साथ सहस्रों बार बुरी तरह कोसा

श्रीमेहेरवानजी शेहेरियारजी ईरानी,
(श्रीमेहेर बाबा)

स्वामी मायानन्द चैतन्य ।

श्रीगंगाधर चिन्तामणिभानु ।

श्रीविष्णुबावा ब्रह्मचारी ।

श्रीगुरुनाथ विद्यानिधि ।

मास्टर होतीचन्द, शिकारपुर (सिन्ध)

श्रीसदानन्द, सम्पादक, 'मेसेज' गोरखपुर ।

श्रीजयतिराज जालन्धरी ।

है ! फलतः प्रस्तावनामें भी और रहस्यके ११ वें पृष्ठमें लिखा है 'तथापि शांकर भाष्यमें ही इन प्राचीन टीकाकारों-का जो उल्लेख है (देखो गी० शां० भा० अ० २ और ३ का उपोद्घात) उससे साफ साफ मालूम होता है कि शंकराचार्यके पूर्वकालीन टीकाकार गीताका अर्थ ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक किया करते थे ।'

अच्छा तो अब यह देखना चाहिये कि,शांकर भाष्यके उक्त उपोद्घातमें किस ज्ञानकर्मसमुच्चयका उल्लेख है । यदि हमारी बातपर विश्वास किया जाय तो हम निःशंक होकर कह सकते हैं कि वही नहीं, गीतामें और और स्थानोंपर तथा प्रस्थानत्रयीके भाष्यभरमें सैकड़ों जगह अपनेसे प्राचीन टीकाकारोंके जिस ज्ञानकर्मसमुच्चय-वादका उल्लेख किया है, वह गीता रहस्यवाला न होकर निराला ही है । जहां गीता-रहस्यमें मुक्ति केवल ज्ञानसे ही मिलती है और उससे पूर्वका कर्म केवल ज्ञानका साधन तथा ज्ञानोत्तर कर्म मुक्त्यर्थ न हो-कर लोकसंग्रहार्थ है, वहाँ ठीक इसके विपरीत प्राचीन समुच्चयवादी लोग यह बात स्पष्टरूपसे कहते हैं कि केवल ज्ञानसे मुक्ति कथमपि सम्भव नहीं और न कर्म ज्ञानका साधन ही है, किन्तु ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर ही मुक्तिके साधन हैं । गीतारहस्यके ३६३ पृष्ठमें हारीतस्मृति-के जिस वचनका उल्लेख सगर्व अपने पक्षकी पुष्टिके लिये किया गया है उसमें भी तो इसी समुच्चयका प्रतिपादन है । क्योंकि जो तीन दृष्टान्त वहां रथ एवं घोड़े, मधु और अन्न तथा पक्षीके दोनों पक्षोंके लिये गये हैं उनमे भी तो यही स्पष्ट है कि दोनों चीजें मिलकर ही इष्ट-साधक हैं । रथ और घोड़े दोनों मिलकर सानन्द यात्राके साधन हैं, पृथक् पृथक् नहीं, मधु और अन्न दोनों मिलकर ही पुष्टिके साधन हैं, अलग अलग नहीं और दोनों ही पक्षोंसे पक्षी उड़ सकता है एकसे कदापि नहीं ! फिर इन्हीं दृष्टान्तोंके बल केवल ज्ञानसे ही मोक्ष कैसे सिद्ध होगा ? अच्छा, अब देखिये शङ्कर भी क्या कहते हैं । गीताभाष्यके द्वितीय अध्यायके उपोद्घातमें लिखते हैं—'सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्म-ज्ञाननिष्ठामात्रादेव केवलात्कैवल्य न प्राप्यत एव, किन्तर्हि, अग्निहोत्रादिश्रौतस्मार्त्तकर्मसहिताज्ज्ञानादेव कैवल्यप्राप्तिरिति सर्वासु गीतासु निश्चितोऽर्थ इति'—'इसपर किसी किसीका कहना है कि सर्व-कर्म-संन्यासपूर्वक केवल आत्मज्ञानकी दृढ़ निष्ठा-मात्रसे ही मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती, किन्तु अग्निहोत्रादि श्रौत-स्मार्त कर्मोंसहित जो आत्मज्ञान है उसीसे मुक्ति होती है यही गीताका निश्चित अर्थ है ।' यही बात तीसरे अध्यायके उपोद्घातमें भी यों लिखी है 'अथ श्रौतैः स्मार्तैश्च गृहस्थस्यैव समुच्चयो मोक्षायोर्ध्वरेतसां तु स्मार्त्तकर्ममात्रसमुच्चिताज्ज्ञा-नान्मोक्ष इति'—'यदि ऐसा कहा जाय कि गृहस्थको तभी मोक्ष मिलता है जब वह आत्मज्ञानके साथ साथ श्रौत और स्मार्त्त दोनों प्रकारके कर्म करता रहे; पर संन्यासीका मोक्ष तो केवल स्मार्त कर्म और ज्ञानके समुच्चयसे ही होता है ।' भला, अब इसमें संशयको स्थान भी कहाँ रह सकता है ? केवल शाङ्कर भाष्यकी ही बात नहीं है । आज तो विशिष्टा-द्वैत आदि सम्प्रदायोंके माननेवाले मौजूद ही हैं और उन्हीं-के यहाँ यह समुच्चयवाद माना जाता है ! उन्हींसे क्यों नहीं पूछकर सन्तोष कर लिया जाता कि आप लोग ऐसा ही समुच्चय मानते हैं जैसा गीतारहस्यमें माना गया है, या नहीं ? इसके लिये शब्दार्थके जालमें फंसनेकी जरूरत ही क्या है ?

लेकिन यदि इतनेपर भी किसीको आग्रह हो कि नहीं, नहीं, शङ्करसे पूर्वकालीन जिन टीकाकारोंके समुच्चयपक्ष-का उल्लेख किया है वह गीतारहस्यवाला ही है, तो हम उसी द्वितीयाध्यायके उपोद्घात भाष्यको देखकर ऐसे महा-पुरुषोंको अपनी गर्मी शान्त कर लेनेकी राय देंगे । यह तो मानी हुई बात है कि जिस समुच्चयका उल्लेख ऊपर किया है, उसका खण्डन शङ्करने कर दिया है । परन्तु उस खण्डनके बाद वह स्पष्ट लिखते हैं कि 'यस्य त्वज्ञानाद्रागादिदोषतो वा कर्मणि प्रवृत्तस्य यज्ञेन दानेन तपसा वा विशुद्धसत्त्वस्य ज्ञानमुत्पन्नं परमार्थतत्त्वविषयमेकमेवेदं सर्वं ब्रह्माकर्तृ चेति तस्य कर्मणि कर्मप्र-योजने च निवृत्तेऽपि लोकसंग्रहार्थं यत्नपूर्वं यथा प्रवृत्तस्तथैव कर्मणि प्रवृत्तस्य यत्प्रवृत्तिरूपं दृश्यते न तत्कर्म येन बुद्धेः समुच्चयः स्यात् यथा भगवतो वासुदेवस्य क्षात्रकर्मचेष्टितं न ज्ञानेन समुच्चा-यते पुरुषार्थसिद्धये तद्वत्फलाभिसन्ध्यहंकाराभावस्य तुल्यत्वाद्विदुषः' 'जो पुरुष प्रथम अज्ञान या रागादि दोषसे कर्ममें प्रवृत्त हो गया हो, परन्तु कर्म-समाप्तिसे प्रथम ही यज्ञ, दान या तपके प्रभावसे अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर उसे ऐसा आत्मज्ञान हो जाय कि यह समस्त संसार अद्वितीय एव अकर्त्ता ब्रह्मस्वरूप ही है, यद्यपि उसके लिये कर्मका प्रयोजन कुछ भी नहीं रह जाता और न उसकी दृष्टिमें कर्म कोई पदार्थ ही रह जाता है, तथापि यदि पूर्ववत् वह लोकसंग्रहके लिये कर्म करता ही रहे तो भी उसका वह कर्म कथमपि कर्म नहीं कहा जा सकता । तब उसके साथ ज्ञानके समुच्चयकी बात ही कैसी ? दृष्टान्तके लिये भगवान् कृष्णके युद्धादि क्षात्र-कर्मोंको ले सकते हैं । जिस प्रकार भगवान्‌के ज्ञानी और योगेश्वर होनेके कारण ही

उनके कर्मको ज्ञानकर्मसमुच्चय नहीं कह सकते, कारण उन्हें फलकी इच्छा नहीं है, ठीक वही बात आत्मज्ञानीके भी विषयमें लागू है। उसे भी फलकी इच्छा कहां रह जाती है?' इससे हस्तामलकवत् स्पष्ट है कि आत्मज्ञानी जो कुछ भी कर्म आत्मज्ञानके बाद लोकसंग्रहार्थ करता है, उसे शंकराचार्य कर्म मानते ही नहीं। उनके विचारसे उसे कर्म नाम देना कर्म शब्दके साथ अन्याय है। फलतः उस कर्मके साथ ज्ञानका साहित्य होनेपर भी उसे ज्ञानकर्मसमुच्चय नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार दग्ध बीजमें अंकुरोत्पादनकी शक्ति न रहनेसे उसे बीज कहना बीज शब्दके साथ घोर अन्याय करना है। ठीक उसी प्रकार ज्ञानोत्तर कर्म करनेमें अहंकार फलेच्छा न रहनेके कारण वह दग्ध ही है। अतएव कर्म शब्दसे उसका व्यवहार हो नहीं सकता। इसी बातमें उन्होंने भगवान्‌को क्षात्र-कर्मका दृष्टान्त दिया है और लेखारम्भके अवतरणमें लोकमान्यने भी लोकसंग्रहार्थ कर्ममें भगवान्‌का ही दृष्टान्त दिया है। इससे स्पष्ट है कि जिस ज्ञानकर्मसमुच्चय-पक्षका समर्थन शंकरके पूर्ववर्ती टीकाकार करते थे वह गीतारहस्यवाला नहीं है। फिर भी आश्चर्य है कि लो० तिलकने किस बुद्धिसे उसे अपना ही समझ लिया, सो भी शाङ्करभाष्यके ही आधारपर! क्या उन्होंने समूचा शांकर भाष्य पढ़ा ही नहीं, उसे वे समझ ही नहीं सके, या समझकर भी शंकरको नीचा दिखानेके लिये बिना समझा कर दिया और तरह दे गये?

सबसे अधिक आश्चर्य एवं खेदकी बात तो दूसरी ही है। ऊपरके लेखसे यह बात स्पष्ट ही विदित है कि जिस कर्मज्ञानसमुच्चय या कर्मयोगके प्रतिपादनके लिये गीतारहस्यमें एड़ी-चोटीका पसीना एक किया गया है उसे स्वयं शंकर स्वीकार ही करते हैं और गीताभाष्यके आरम्भमें ही अपना यह भाव व्यक्त कर देते हैं, सो भी प्रायः उन्हीं शब्दोंमें जिनमें लोकमान्यने व्यक्त किया है। शंकर ज्ञानोत्तर लोकसंग्रहार्थ कर्मके विरोधी न होकर प्रत्युत उसका अनुमोदन ही करते हैं और स्वयं उनका जीवन लोकसंग्रहार्थ ही था भी। फिर भी गीतारहस्यमें प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्षरूपसे उसी शंकरके मतपर बारबार आक्षेप किये गये हैं और जिस संन्यास-धर्मकी दीक्षा उन्होंने स्वयं ली थी, उसपर बीभत्स आक्षेप किये गये हैं। यह बात दूसरी है कि कभी शंकरका नाम प्रत्यक्षरूपसे लिया गया है और कभी निवृत्तमार्गी, अद्वैती, संन्यासी आदि शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। हमारे आश्चर्यकी सीमा तो उस समय नहीं रहती, जब हम देखते हैं कि स्वयं गीतारहस्यके १३ तथा १८ पृष्ठमें लिखा है कि 'श्रीशंकराचार्य बड़े भारी अलौकिक विद्वान् तथा त्यागी थे।' 'यदि कहा जाय कि शंकराचार्यके समान महा तत्त्वज्ञानी आज तक संसारमें कोई भी नहीं हुआ, तो भी अतिशयोक्ति न होगी।' और जब ३६२ पृष्ठमें यहांतक लिखा पाते हैं कि 'यह बात हमें भी मंजूर है कि श्रीमच्छङ्कराचार्य जैसे अलौकिक ज्ञानी पुरुषके प्रतिपादन किये हुए अर्थको छोड़ देनेका प्रसङ्ग जहांतक टले वहांतक अच्छा है।' लेकिन आखिर गीतारहस्यके-'ज्ञान होनेपर संन्यास ले लेना चाहिये, कर्म नहीं करना चाहिये, क्योंकि ज्ञान और कर्मका समुच्चय कभी न्याय्य नहीं।'-शांकर सम्प्रदायके इस मुख्य सिद्धान्त' (पृ०३६१) का क्या अर्थ किया जाय? भला इससे बढ़कर शंकरके साथ घोर अन्याय और क्या हो सकता है? या इसे गीतारहस्यका अज्ञान कहें? जिसने स्वयं ज्ञानोत्तर कर्मका स्पष्ट अनुमोदन किया, उसीपर यह लाञ्छन कि वह इसे अन्याय्य बताता है? नहीं तो फिर यह क्या है कि 'शांकर सम्प्रदायका यह मत है कि ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर संन्यास लेकर कर्मोंको छोड़ ही देना चाहिये।' (गी० र० ३१०) शंकरने कब ऐसा कहा? 'परन्तु कर्म-योगका यह सिद्धान्त श्रीशंकराचार्यको मान्य नहीं था, इस-लिये उसका खण्डन करने और अपने मतके अनुसार गीताका तात्पर्य बतानेके ही लिये उन्होंने गीताभाष्यकी रचना की है। यह बात उक्त भाष्यके आरम्भके उपोद्घातमें स्पष्ट रीतिसे कही गयी है' (गी० र० ११)! इससे बढ़कर मिथ्या कलङ्क और क्या होगा? 'इसपर भी निवृत्ति-मार्गीय टीकाकारोंकी लीपापोतीने तो गीताके कर्मयोगके विवेचनको आजकल बहुतेरे लोगोंके लिये दुर्बोध कर डाला है' (गी० र० १४)। 'गीतापर जो संन्यास-मार्गीय टीकाएं हैं उनमें हमारी समझसे यही (कर्मयोग ज्ञानका साधनमात्र है) मुख्य दोष है' (३०७)। 'ज्ञानके अनन्तर ज्ञानी पुरुषको भी कर्म करना चाहिये, इस मतको ज्ञानकर्मसमुच्चय कहते हैं और श्रीशंकराचार्यकी उपर्युक्त दलील ही उस पक्षके विरुद्ध मुख्य दोष है' (३०१)। इन सभी वाक्योंका तात्पर्य विज्ञजन स्वयं लगावें और परिणाम निकालें। इन्हींके साथ 'कर्मोंको छोड़ देना (संन्यास) निरा पागलपन या मूर्खता है'(३४२)। 'जब भूख और प्यास जैसे विकारोंके निवारणार्थ भिक्षा मांगने जैसा लज्जित कर्म करनेके लिये भी यदि संन्यास-मार्गके अनुसार स्वतन्त्रता है' (३१८), प्रभृति वाक्योंके

भावार्थका विचार करें और निवृत्ति-मार्गीय टीकाकारोंकी लीपापोतीसे गीताको बचावें ! हम जानते हैं कि लोकमान्यके मतका समर्थन करते हुए भी शंकरने एक अपराध किया है। और इसीसे उनपर ये भद्दे आक्षेप हैं। शंकर इस बातपर हठ नहीं करते कि ज्ञानोत्तर कर्म करना ही चाहिये, किन्तु पूर्व-जन्मके संस्कार और प्रकृतिके अनुसार जो कर्म संन्यास कर डाले या जो न करे, वे उन दोनोंका ही समर्थन करते हैं। गीताके 'द्विविधा निष्ठा' में भी यही बात सिद्ध है, सृष्ट्यारम्भसे ही सनकादि और जनकादिने अलग अलग ऐसा किया भी है, सृष्टिके नियममें भी वैचित्र्य लगा है, इसीसे वह त्रिगुणात्मिका है और पूर्व-जन्मके संस्कारको कोई हटा नहीं सकता। स्वयं तिलकने भी रहस्यके ४६६ प्रभृति पृष्ठोंमें यह माना है कि 'तथापि गीतामें संन्यासमार्ग की कहीं भी निन्दा नहीं की गयी है। उल्टा यह भी कहा गया है कि वह भी मोक्षका देनेवाला है। स्पष्ट ही है कि सृष्टिके आरम्भमें सनत्कुमार प्रभृतिने और आगे चलकर शुक-याज्ञवल्क्यादि ऋषियोंने जिस मार्गको स्वीकार किया है, उसे भगवान् भी किस प्रकार सर्वथैव त्याज्य कहेंगे ? इत्यादि।' फिर भी तिलकको इस बातका हठ है कि, नहीं, ज्ञानोत्तर भी कर्म करना ही चाहिये, कभी न छोड़ना चाहिये, यदि वह स्वयं छूट जाय तब भी अपने बच्चेको जैसे मृत्युके बाद भी बन्दरी चिपकाये रहती है वैसे ही कर्मको दांतसे पकड़े रहना चाहिये ! बस, इसी मतभेदके लिये शंकरपर वे आगबबूला हो गये ! परन्तु यह तो विज्ञजन जान ही गये कि किसका पक्ष न्याय्य है ?

एक बात और। चाहे बात कुछ भी हो, लेकिन गीता-को शंकरने अध्यात्म-शास्त्र कहा है और इसमें मुख्यतया अध्यात्म-ज्ञानका प्रतिपादन माना है। इसके विपरीत तिलकने गीतारहस्यमें इसे कर्मयोग माना है। इस सम्बन्ध-में उनकी युक्ति जो सबसे बढ़कर है, सुनिये। वे कहते हैं कि 'गीता, उपनिषद्, वेदान्तसूत्र इस प्रस्थानत्रयीकी सार्थ-कता इसी बातमें है कि जहां उपनिषदों और उनकी ही एक-वाक्यता करनेवाले वेदान्तसूत्रोंमें ज्ञान और निवृत्ति मार्गका प्रतिपादन है, वहां गीतामें प्रवृत्ति-मार्गका है। यदि गीतामें भी ज्ञानका ही प्रतिपादन हो तो फिर यह व्यर्थ ही होगी और गीता-कर्त्ताके मत्थे पिष्टपेषणका दोष लगेगा। इसीलिये विषय-प्रतिपादनमें अपूर्वता भी अपेक्षित है। अर्थात् जिसका पहले कहीं प्रतिपादन नहीं हुआ है।' अतएव लिखते हैं 'यद्यपि उपनिषद् मूलभूत हैं, तो भी उनके कहनेवाले ऋषि अनेक हैं; इस कारण उनके विचार सङ्कीर्ण और कुछ स्थानोंमें परस्पर विरुद्ध भी देख पड़ते हैं। इसलिये उपनिषदों-के साथ साथ, उनकी एकवाक्यता करनेवाले वेदान्तसूत्रों-की भी गणना प्रस्थानत्रयीमें आवश्यक थी। परन्तु यदि उपनिषद् और वेदान्तसूत्रोंकी अपेक्षा गीतामें कुछ अधिकता न होती तो प्रस्थानत्रयीमें गीताके संग्रहका कोई कारण न था। किन्तु उपनिषदोंका झुकाव प्रायः संन्यास-मार्गकी ओर है, एवं विशेषतः उनमें ज्ञान-मार्गका ही प्रतिपादन है, और भगवद्गीतामें इस ज्ञानको लेकर भक्ति-युक्त कर्मयोगका समर्थन है। बस, इतना कह देनेसे गीता ग्रन्थकी अपूर्वता सिद्ध हो जाती है और साथ ही साथ प्रस्थानत्रयीके तीनों भागोंकी सार्थकता भी व्यक्त हो जाती है। ऐसे ही गीतामें केवल उपनिषदोंका ही प्रतिपादन करनेसे पिष्टपेषणका जो वैयर्थ्य गीताको प्राप्त हो जाता, वह भी नहीं होता' (३५१–३५२) परन्तु जब ५३२ से ५५८ पृष्ठोंमें गीता और ब्रह्मसूत्रादिकी समालोचना करते हुए उसकी बहिरङ्ग परीक्षा की है तो लोकमान्यने माना है कि 'भारत और महाभारत दो ग्रन्थ हैं और पीछे भारतका ही रूपान्तर महाभारत हुआ है।' यह भी उन्होंने लिखा है कि यह गीता भारतमें भी थी और महाभारतमें भी यही है जैसा कि 'ईसाके लगभग ६०० वर्ष पहले मूल भारत और मूल गीता दोनों ग्रन्थ निर्मित हुए, और भारतका महा-भारत होते समय यद्यपि इस मूल गीतामें तदर्थपोषक कुछ सुधार किये गये हों, तथापि उसके असली रूपमें उस समय भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ, एवं महाभारतमें जब गीता जोड़ी गयी तब, और उसके बाद भी उसमें कोई नया परिवर्तन नहीं हुआ और होना भी असम्भव था' (५५८)। इससे स्पष्ट है कि पहले जब छोटा सा भारत ग्रन्थ था तो उसमें भी गीता थी। पीछे जब उसी भारतमें अनुक्रमणिका आदि जोड़कर उसे महाभारत बनाया गया तो उसमें भी वही गीता रह गयी और उसमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन या फेरफार न हुआ। भारत और महाभारत दो माननेकी अड़चन उन्होंने ५३२-५३५ पृष्ठोंमें यह दिखायी है कि गीतामें ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रोंका उल्लेख है और वेदान्त-सूत्रोंमें गीताका, पर यह बात असम्भव है। यदि पहले गीता बनी हो और पीछे वेदान्तसूत्र तो गीतामें सूत्रोंका उल्लेख असम्भव है और यदि सूत्रोंके बाद गीता बनी हो तो गीताका उल्लेख सूत्रोंमें असम्भव है। क्योंकि जो ग्रन्थ पहलेसे बने होते हैं उन्हींका उल्लेख सम्भव है। इसी

कठिनाईको हल करनेके लिये तिलकने भारत और महाभारत दो ग्रन्थ मानके दोनोंमें उसी गीताको माना है और यह कल्पना की है कि पहले भारत बना जिसमें गीता भी थी; उसके बाद वेदान्तसूत्र बने। उसके बाद महाभारत बना और उसमें भी प्रायः वही गीता रही जो भारतमें थी। यदि उसमें कोई सुधार भी हुए तो वे ऐसे न थे कि उनसे गीताका पहला अर्थ बदल सके। इस तरह ब्रह्मसूत्रोंमें गीताका उल्लेख सम्भव हो गया। कारण, वह पहले भी और जो गीता अब महाभारतमें है, उसमें ब्रह्मसूत्रोंका उल्लेख भी सम्भव हो गया, क्योंकि यह सूत्रोंके बादकी है, यद्यपि इसका प्रतिपाद्य विषय वही है जो पहली गीताका, और रूप भी प्रायः वही है। हां, एकाध जगह इधर उधर कुछ जोड़ाजाड़ा गया है।'

यही है तिलकका गीता-निर्माण-सम्बन्धी सिद्धान्त। अच्छा अब प्रकृतमें आइये। उक्त विवेचनसे सिद्ध है कि पहले तो उपनिषद् बने थे ही, जिनमें ज्ञानमार्गका ही प्रधानतया प्रतिपादन है। उपनिषदोंके बाद गीता बनी और गीताके बाद ही ब्रह्मसूत्र बने! यह भी उन्होंने माना है कि गीताकी वर्णनशैली पौराणिक है। इसीसे सरस है। जैसा कि 'भगवद्गीतामें जो विषय है उसका वर्णन अर्जुन और श्रीकृष्णके संवादरूपमें अत्यन्त मनोरञ्जक और सुलभ रीतिसे किया गया है। हमने इस संवादात्मक निरूपणको ही पौराणिक नाम दिया है (४४१-४२)। फलतः उपनिषदोंमें जिस ज्ञानमार्ग या अध्यात्मका निरूपण किया गया है, उसीकी संकीर्णता और परस्पर विरोधको हटानेके लिये तथा उसकी शास्त्रीय कठिनता एवं कटुताको दूरकर पौराणिक एवं काव्यकी सरस तथा सुलभरीतिसे गीतामें प्रतिपादन हुआ है और इस प्रकार गीताकी अपूर्वता रह जाती है और उसमें पिष्टपेषण दोष नहीं लगता। हम ब्रह्म-सूत्रोंमें चाहे भले ही पिष्टपेषण दोष लगावें; क्योंकि वे तो गीता-के बाद बने हैं, जैसा कि आपने माना है। फिर आपकी यह दलील कैसी कि गीतामें भी ज्ञानमार्गके प्रतिपादनसे तो पिष्टपेषण दोष होगा? मालूम होता है, रहस्यकर्त्ताको पूर्वापरकी स्मृति नहीं रही कि क्या लिखते हैं और आवेश-में आकर शङ्कर-सम्प्रदायको तथा उनके अर्थको मिथ्या एवं खींचतानका सिद्ध करनेके लिये ही उन्होंने ऐसा लिख मारा। पर यह नहीं सोचा कि शङ्करकी अलौकिक प्रतिभा और अद्वितीय तत्त्व-ज्ञान निराला ही था। फलतः उन तक पहुँच सकना साधारण बात नहीं। लेकिन हमारे इस कथनसे कोई यह न समझ बैठे कि हम लोकमान्यपर कटाक्ष करनेके लिये यह लिखते हैं! कदापि नहीं। इस लेखके द्वारा हमें विज्ञ पाठकोंको केवल यही दिखलाना है कि शङ्करके सिद्धान्त और गीतारहस्यमें कितनी समता और विषमता है और कौन अधिक युक्तियुक्त है। सारांश, हमारा लक्ष्य तुलनात्मक है।

गीता बेजोड़ ग्रन्थ है

जगत्के सम्पूर्ण साहित्यमें, चाहे सार्वजनिक लाभकी दृष्टिसे देखा जाय और चाहे व्यावहारिक प्रभावकी दृष्टिसे देखा जाय भगवद्गीताके जोड़का अन्य कोई भी काव्य नहीं है। दर्शनशास्त्र होते हुए भी यह सर्वदा पद्यकी भांति नवीन और रस-पूर्ण है; इसमें मुख्यतः तार्किक शैली होनेपर भी यह एक भक्ति-ग्रन्थ है; यह भारतवर्षके प्राचीन इतिहासके अत्यन्त घातक युद्धका एक अभिनय-पूर्ण दृश्य-चित्र होनेपर भी शान्ति तथा सूक्ष्मतासे परिपूर्ण है; और सांख्य-सिद्धान्तोंपर प्रतिष्ठित होनेपर भी यह उस सर्व-स्वामीकी अनन्य भक्तिका प्रचार करता है। अध्ययनके लिये इससे अधिक आकर्षक सामग्री अन्यत्र कहां उपलब्ध हो सकती है?

—जे० एन० फरक्यूहर एम० ए०

कार्याकार्य-व्यवस्थितिसे ब्रह्मज्ञान तक

कर्मके बाह्यपरिणाम अथवा परिस्थिति

मनुष्यके इन्द्रिय व्यापार

इन्द्रिय

प्रेरक हेतु

आत्मज्ञानसे बुद्धिकी शुद्धता विषयक विश्वास

ॐ

योबुद्धेः परस्तुसः

मनसस्तु परा बुद्धिः

इंद्रियेभ्यः परं मनः

इंद्रियाणि पराण्याहुः

विषय

श्रीमद्भगवद्गीतामें मुळकर्मसे अर्थात् कार्याकार्यका विचार करते हुए किस प्रकार ब्रह्मविद्याका प्रसंग उपस्थित हुआ, यह इस आकृतिको देखनेसे मालूम होगा.
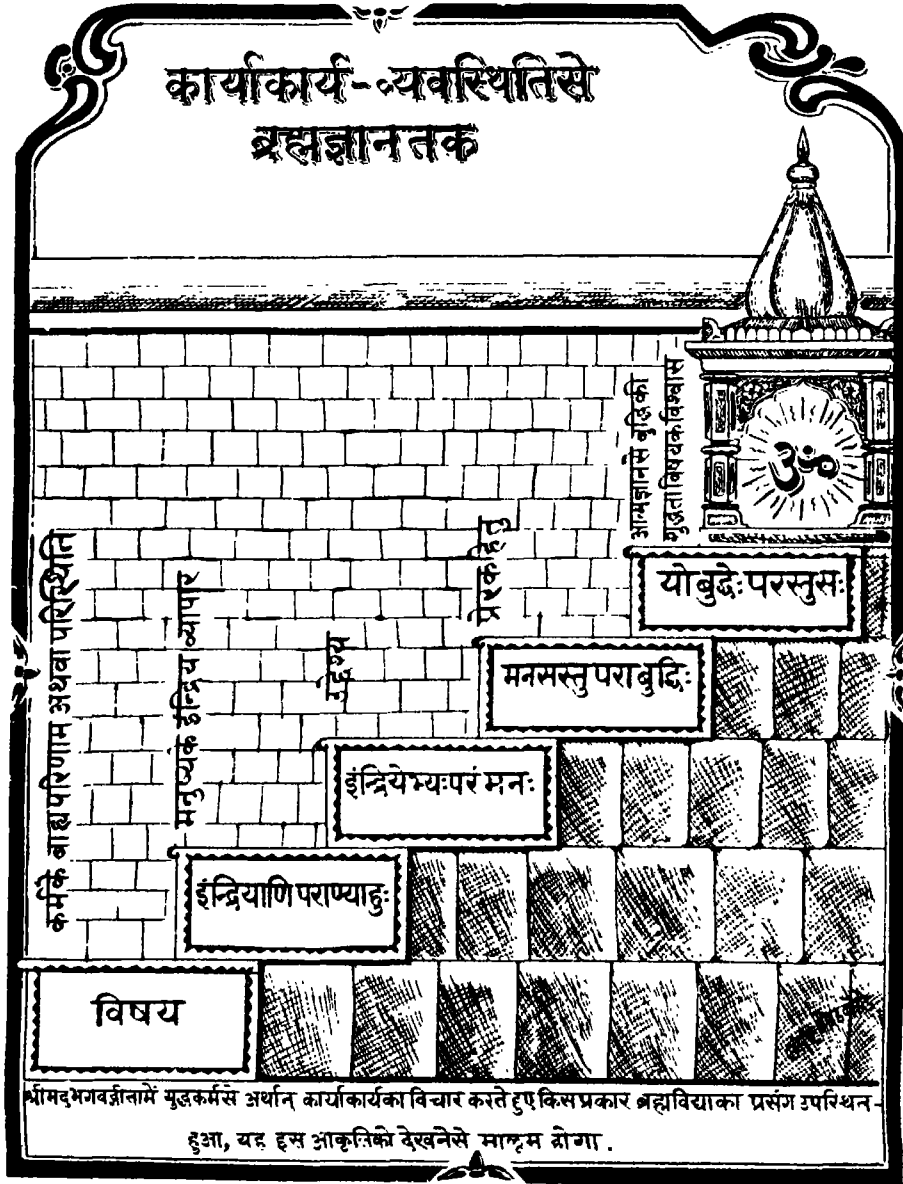
"कार्याकाय व्यवस्थितिः"।

लोकमान्यके गीतारहस्यका कार्य

(ले०— श्री० ग० वि० केतकर बी० ए०, एल-एल० बी०)

लोकमान्य तिलकके गीतारहस्यने हिन्दू-धर्मकी वर्तमान परिस्थितिमें क्या कार्य किया इस बातका विचार ऐतिहासिक दृष्टिसे करनेपर गीतारहस्यकी महत्ता या विशेषता ठीक समझमें आ सकती है।

हिन्दू-धर्मके प्राचीन और अर्वाचीन दोनों इतिहासोंमें धार्मिक हलचलका इतिहास देखनेपर कतिपय लोगोंको ऐसा दिखलायी देता है कि हमारे धर्म और तत्त्व-ज्ञानमें कुछ त्रुटि और दोष है। गीताने उस त्रुटि और दोषको दूर कर दिया है, यही बात लोकमान्यने अपने गीतारहस्यमें दिखलायी है।

प्राचीन इतिहास

बौद्ध-धर्मसे उत्पन्न अवैदिक संन्यास-मार्ग अनधिकारियोंके हाथमें जानेसे अव्यवस्थित और समाजके लिये हानिकारक बन गया था। यह देखकर श्रीमद् आद्य-शङ्कराचार्यने बौद्धोंके इस अव्यवस्थित संन्यासकी अवैदिक प्रवृत्तिसे लोगोंका मन हटा व्यवस्थित और उपयुक्त वैदिक संन्यास-धर्मकी स्थापनाकर वैदिक धर्मको एक महान् संकटसे बचा लिया। बौद्ध और अन्यान्य अवैदिक मतोंके विस्तारसे वैदिक धर्मके समूलोच्छेद होनेका सा समय उपस्थित देखकर आचार्यने 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' की नीति स्वीकारकर संन्यास-धर्मका प्रचार किया।

संन्यास-मार्गकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति बौद्ध-धर्मके आरम्भ या उससे भी पहलेसे थी। इस संन्यास-प्रवृत्तिके कारण डूबते हुए वैदिक धर्मकी रक्षाके लिये प्राचीन कालसे चले आते हुए प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक उभयविध धर्मोंके आधे भागको अपनाया यानी केवल निवृत्तिमूलक धर्मकी जागृति करना और अपनी सारी शक्ति उसीके प्रचारमें लगाना उस समयकी परिस्थितिके अनुसार श्रीमद् आद्य-शङ्कराचार्यके लिये आवश्यक था और उन्होंने अपनी अतुल बुद्धिमत्ताके प्रभावसे यह महान् कार्य भलीभांति सम्पादित किया। इस प्रकार वैदिक धर्मका संन्यासपरक आधा भाग पुनरुज्जीवित किया गया। परन्तु वह सर्वनाशका समय बीत जानेके अनन्तर पीछेसे होनेवाले पण्डितोंको चाहिये था कि वे सर्वनाशके समय छोड़े हुए आधे भागको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करते। अर्थात् श्रीमद् शङ्कराचार्यका कार्य पूरा करनेके लिये वैदिक निवृत्ति-मार्गकी भांति वैदिक प्रवृत्ति-मार्गको भी पुनरुज्जीवित करना पीछेसे होनेवाले पण्डितों या धर्म-प्रवर्तकोंके लिये आवश्यक था। परन्तु ईस्वी सन् ७०० से लेकर सन् १२०० तक इस कामके लिये किसीने भी प्रयत्न नहीं किया। किन्तु श्रीमद्भगवद्गीताको यह वैदिक प्रवृत्तिमार्ग या कर्मयोग अभिप्रेत है, यह सिद्ध करके लोकमान्य तिलकने बारह सौ वर्षसे अपूर्ण अवस्थामें पड़े हुए धार्मिक तत्त्वज्ञानके कार्यको पूरा कर दिया। तात्त्विक-दृष्टिसे श्रीशङ्कराचार्यके सिद्धान्तके साथ गीताके आधारपर प्रतिपादित किये हुए लोकमान्यके सिद्धान्तका जो भेद है, उसे ऐतिहासिक दृष्टिसे देखकर हमें यही कहना चाहिये कि लोकमान्य तिलकने श्रीमद् शङ्कराचार्यके अधूरे कार्यको ही पूरा किया है।

अर्वाचीन इतिहास

अर्वाचीन इतिहासमें, जबसे पाश्चात्य सभ्यताने भारतमें प्रवेश किया, तभीसे यहां एक विशेषप्रकारकी धार्मिक हलचल आरम्भ हो गयी। धर्म-भूमि होनेके कारण भारत-वर्षमें धार्मिक हलचल तो अनादि कालसे ही चली आती है, परन्तु पाश्चात्य संस्कृतिके कारण, उस संस्कृतिकी दृष्टिसे हमारे अङ्गरेजी शिक्षित विद्वानोंको भारतके धार्मिक तत्त्व-ज्ञानमें कुछ अपूर्णता दिखलायी देने लगी और इसीलिये उन लोगोंमें हिंदूधर्मसे निकल कर पृथक् धर्ममार्ग स्थापित करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो चली। राजा राममोहन रायने सन् १८२८ में जबसे ब्राह्मसमाजकी स्थापना की तबसे इस धार्मिक हलचलका स्वरूप प्रकट हो गया। राजा राममोहनने मि० डिग्बीको जो पत्र लिखा था, उसमें वे लिखते हैं कि कर्त्तव्य तत्त्व' और बुद्धिवादकी दृष्टिसे ईसाई-धर्म सबसे श्रेष्ठ है, हमारे धार्मिक तत्त्वज्ञानमें कर्तव्य-तत्त्व (Ethics) के विचार नहीं हैं और वह बौद्धिक (Rational) जगत्के कामकी वस्तु नहीं है। यह राजा राममोहन रायकी समझ थी। इसी प्रकार आर्यसमाजके संस्थापकने अपने धर्मको 'सार्वजनिक धर्म' बतलाया। हमारे धर्ममें वा तत्त्व-ज्ञानमें

केवल व्यक्तिकी उन्नतिका ही विचार किया गया है, उसमें सार्वजनिक उन्नति या अभ्युदयका कोई विचार नहीं किया गया है। पाश्चात्य संस्कृतिके विस्तारसे हमारे शिक्षित समाजकी बुद्धिमें यह बात जँच गयी, इसीसे हिन्दू-धर्ममें कमी मालूम होने लगी। अवश्य ही श्रीमद्दयानन्दने यह दिखला दिया कि यह सार्वजनिक धर्म वेद-प्रतिपादित और वेदमूलक है। परन्तु लोकमान्य तिलकने आधुनिक शिक्षित-समाजको हमारे तत्त्वज्ञानमें जो दोष दीखते थे, वे गीतामें नहीं हैं, यानी श्रीमद्भगवद्गीता कर्तव्य-तत्त्व (Ethics) का सबकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट विचार करनेवाला, बौद्धिक (Rational) जगत्के कामका और सार्वजनिक जीवनका पोषक एक महान् ग्रन्थ है, यह सिद्ध कर दिया। 'गीतारहस्य' के प्रकाशित होनेपर उसपर जो आलोचनाएं और आक्षेप किये गये, उनमें प्रधान ये थे—(१) गीतारहस्यमें अतिशय बुद्धिवाद या तर्कपाण्डित्य दिखलाया गया है, इसमें वकालत की गयी है, भावुकताका माधुर्य इसमें कहीं नहीं है। (२) इसमें नीतिशास्त्रका तुलनात्मक विचार बहुत किया गया है परन्तु वह अवास्तविक है और उसमें गीताका आधार बहुत थोड़ा है। (३) 'गीतारहस्य' सार्वजनिक, राजनीतिक अथवा राष्ट्रीय दृष्टिसे लिखा हुआ ग्रन्थ है, यह सत्य धार्मिक जिज्ञासा-बुद्धिसे नहीं लिखा गया है।

उपर्युक्त आक्षेपोंमें जो तीन दोष दिखाये गये हैं, वे वास्तवमें दोष नहीं पर 'गीतारहस्य' के गुण हैं। भारतके गत सौ वर्षके इतिहासका निरीक्षण करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। लोकमान्यने गीताके आधारपर वैदिक कर्म-योगको पुनरुज्जीवित कर श्रीशंकराचार्यके १२०० वर्षके अधूरे कार्यको पूर्ण कर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि गीता सार्वजनिक जीवनके उपयुक्त, कर्तव्यशास्त्र (Ethics) का पूर्ण विचार करनेवाली और बौद्धिक (Rational) जगत्के लिये उपयोगी वस्तु है। इससे लोकमान्यने गत सौ वर्षोंसे शिक्षित समाजमें धर्म-विमुख करनेवाली जो धार्मिक हलचल चल रही थी, उसको शान्त करके वैदिक धर्मकी सर्वश्रेष्ठता स्थापित कर दी।

भगवद्गीतामें अर्जुनके प्रश्नसे ही यह पता लग जाता है कि उसमें बुद्धिवाद (Rationalism) को कितना स्थान है। कर्तव्य-शास्त्रमें मूलबुद्धिकी प्रेरणा (Motive) ही कार्याकार्य-विवेकमें निर्णायक मानी जाती है। पाश्चात्य विद्वान् यहीं तक पहुँच सके हैं। परन्तु उस बुद्धिको निर्मल बनाये रखनेके लिये क्या करना चाहिये और शुभ प्रेरणाकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है, इस बातका जवाब पाश्चात्य विद्वान् नहीं दे सकते। गीतामें इस प्रश्नका जवाब दिया गया है। आत्म-चिन्तन और आत्मज्ञानसे बुद्धि निर्मल होती है, ऐसा कहकर गीताने कर्तव्य-शास्त्रको अध्यात्म पर प्रतिष्ठित कर दिया है और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के आध्यात्मिक सिद्धान्तद्वारा होनेवाली सत् प्रवृत्ति ही शुभ प्रेरणाका योग्य कारण है, यह दिखला दिया और 'कर्मयोगो विशिष्यते' कह कर लोक-संग्रह-दृष्टिसे यानी सार्वजनिक हित-बुद्धिकी दृष्टिसे 'कर्मयोग' श्रेष्ठ है यह भी गीताने बतलाया।

गीता एक समुद्र है, उसमें विद्वानोंको प्रत्येक कालके उपयोगी सिद्धान्त-रत्न प्राप्त होते रहते हैं। लोकमान्यने अपने समयकी दृष्टिसे, कौनसा सिद्धान्त सामने रखना आवश्यक है यह जानकर, वह सिद्धान्त गीताके आधारसे कैसे सिद्ध होता है, सो दिखला दिया। गीतामें यह एक अलौकिक शक्ति है कि जो लोग वैयक्तिक नीतिधर्मकी दृष्टिसे इसपर विचार करते हैं, उनको जैसे यह उपयोगी मालूम होती है, वैसे ही जो केवल सामुदायिक जीवनका विचार करते हैं, उनको भी यह कामकी वस्तु दीखती है। महात्मा गाँधी कहते हैं कि 'नैतिक व्यवहारकी दृष्टिसे विकट प्रश्न (Trying circumstances) उत्पन्न होनेपर गीताके स्थितप्रज्ञके प्रसंगका एक श्लोक पढ़ते ही मेरे मनको जो शान्ति मिलती है, वह बाइबलसे नहीं मिलती।' अमेरिकन ग्रन्थ-कार मि० ब्रुक्स कहते हैं—

'Gita is india's contribution to the future religion of the world.' अर्थात्—भावी विश्वधर्मके निर्माणमें भारतकी ओरसे गीताके रूपमें बड़ी सहायता मिलेगी।

लो० तिलकने गीतारहस्यके द्वारा हिन्दुओंको और सारे संसारको वैयक्तिक और सामुदायिक दोनों दृष्टियोंसे गीताकी श्रेष्ठता दिखला दी। गीतारूपी हीरेका नया पहलू अपने प्रकाशसे समस्त जगत्को देदीप्यमान और आकर्षित कर सकता है, लोकमान्य तिलकने अपने गीतारहस्यमें यही दिखलाया है और इसीसे गीतारहस्य वर्तमान समयका गीता-सम्बन्धी अद्वितीय ग्रन्थ है।

गीतामें संन्यासका निरूपण

(लेखक—श्रीयुत होसाकेरे चिदम्बरिया)

जीव और जगत्को नियमोंके सूत्रमें बाँधकर रखनेवाले मूल एवं आधारभूत तत्त्व क्या हैं, इस प्रश्नपर विचार करनेवाले हमारे यहां तीन प्राचीन आकर ग्रन्थ हैं, जिन्हें 'प्रस्थान त्रय' के नामसे पुकारते हैं । वे हैं—ब्रह्मसूत्र, दश उपनिषद् और भगवद्गीता । ब्रह्मसूत्र और उपनिषदोंकी व्युत्पादन-शैली गहन एवं कहीं कहीं दुरूह एवं दुर्बोध भी है । भगवद्गीताकी शैली इसके विपरीत विशद एवं सुबोध है और जिज्ञासुको इसके प्रतिपाद्य विषयके समझनेमें जो जो वास्तविक कठिनाइयां हो सकती हैं, उन्हें पहलेसे ही प्रश्नरूपमें रखकर सुलझानेकी चेष्टा की गयी है । अधिक क्या कहें, इस ग्रन्थमें वेदान्तका संक्षेपमें बहुत उत्तम रीतिसे विवेचन किया गया है । जिनकी वेदान्त-शास्त्रमें अभिरुचि है, उन्हें संन्यास अवश्य लेना चाहिये 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' (अर्थात् संन्यास-आश्रममें प्रवेश करके वेदान्त-चिन्तन अथवा ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिये) इत्यादि श्रुतियां इसी बातको दुहराती हैं । यद्यपि हमारे सामने ऐसे कई लोगोंके उदाहरण विद्यमान हैं, जिन्होंने जगत्के रहस्योंका अनुसन्धान करने एवं उनपर विचार करनेके उद्देश्यसे संसारको छोड़ दिया था, किन्तु साथ ही ऐसे लोगोंके उदाहरण भी कम नहीं हैं, जिन्होंने शास्त्रानुसार चतुर्थाश्रममें प्रवेश न करके भी इस प्रश्नको हल करनेकी चेष्टा की थी । इसलिये पहले हमें यह जानना आवश्यक है कि संन्यासका वास्तविक अर्थ क्या है ? भगवद्गीताका इस विषयमें क्या सिद्धान्त है ? इस निबन्धमें इसी बातपर विचार किया जायगा ।

सामान्य लोगोंकी दृष्टिमें संन्यासका अर्थ चतुर्थाश्रममें प्रवेश करना है । जो लोग इस आश्रममें प्रवेश करते हैं वे गृहस्थकी अर्थात् पुत्र-कलत्रादिकी सारी झंझटोंसे मुक्त हो जाते हैं, अतएव स्वभावतः उन्हें वेदान्तके सिद्धान्तों और तथ्योंकी सूक्ष्मताके साथ खोज करनेके लिये अधिक सुविधाएं प्राप्त होती हैं । किन्तु आजकल संसारसे किनारा कर जानेवाले मनुष्यको लोग अकर्मण्य एवं निकम्मा समझते हैं । संन्यासके प्रति लोगोंकी जो ऐसी बुरी धारणा हो गयी है, उसके कई कारण हैं । प्रथम तो जो लोग इस आश्रममें प्रवेश करनेके अधिकारी नहीं हैं वे संन्यासमें आकर अपने अच्छे अवसरका दुरुपयोग करते हैं । दूसरे वे संन्यासके मूल तत्त्वोंके महत्त्वको समझते नहीं । इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि लोग संन्यासियोंके विषयमें बहुत ही जल्दी अपना मत स्थिर कर लेते हैं और साथ ही उन्हें ऐसी कसौटीपर कसना चाहते हैं जिसका कोई आधार नहीं, क्योंकि यदि हम यथार्थ दृष्टिसे इस विषयपर विचार करें तो यह बात सहज ही हमारी समझमें आ जायगी कि संन्यासीका जीवन कर्महीन जीवन नहीं होता अपितु वह दिव्य कर्ममय जीवन होता है । अन्तर केवल इतना ही है कि संसारी जीव अपने शरीरसे और कर्मके स्थूल उपकरणोंसे काम लेते हैं, वहां संन्यासी योगके साधनमें अपने चित्त एवं अन्यान्य सूक्ष्म उपकरणोंका उपयोग करता है । अस्तु । यह तो प्रसङ्गवश हुआ ।

जब अर्जुन युद्धक्षेत्रमें अपने निकट सम्बन्धियोंको सामने खड़े हुए पाता है, तब वह अत्यन्त शोकाकुल होकर यह सोचने लगता है कि जो लोग मेरे विरुद्ध खड़े हुए हैं उनका वध करनेकी अपेक्षा भीख माँगकर जीवन बिताना अच्छा है । (गी० २।५) यहांपर यह प्रश्न होता है कि संन्यासका तत्त्व क्या है ? अर्जुनके हृदयमें जो इस समय (भिक्षावृत्तिरूपी) संन्यासका भाव जागृत हुआ था उसका दिग्दर्शन इस श्लोकमें कराया गया है । अर्जुनने ज्यों ही संन्यासके भाव प्रकट किये, त्यों ही भगवान्ने उसके मतके साथ अरुचि दिखलाते हुए उसकी समझको ठीक करना चाहा और उसके मोहको दूर करनेकी चेष्टा की, क्योंकि आदर्शकी दृष्टिसे संन्यास आश्रम चाहे कितना ही उत्तम क्यों न हो, उस समय उसकी यह वृत्ति कदापि स्तुत्य नहीं थी । भगवान्ने जहाँ अपने उपदेशके अन्तमें यह कहा है कि 'मनुष्य संन्यासके द्वारा कर्मके बन्धनसे बिलकुल छुटकारा पा जाता है ।' (गी० १८।४९) वहाँ आरम्भमें ही यह भी कहा है कि 'केवल संन्याससे मनुष्य पूर्णावस्थाको प्राप्त नहीं हो सकता' (गी० ३।४) श्रीकृष्णके मुखसे ऐसे विरोधी वाक्य निकलें, यह बात कुछ जचती नहीं । हाँ, यदि हम दो प्रकारका संन्यास मानें, जैसे एक तो वह जो हमें पूर्णावस्थाको पहुँचा देता है और दूसरा इससे अन्य, तब तो कदाचित् भगवान्के इन विरुद्धसे

भासनेवाले दोनों वाक्योंका सामञ्जस्य हो जाय और वास्तवमें बात भी ऐसी ही जान पड़ती है। परन्तु 'संन्यास' शब्दसे लोग प्रायः एक ही अर्थ लेते हैं और वह है चतुर्थाश्रममें संसारका त्याग। अर्जुनकी मनोवृत्ति भी इसी ओर झुकी हुई थी, परन्तु श्रीकृष्णने जिस ढङ्गसे इस प्रश्नका विवेचन एवं विश्लेषण किया, वह कुछ निराला ही है।

इस बातको कुछ और स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। पाँचवें अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुनने भगवान्से पूछा है कि 'क्या आप कर्म-संन्यास अर्थात् कर्मोंके त्यागको अच्छा समझते हैं?' इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि 'कर्मयोग अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग ही उत्तम है।' भगवान्का यह उत्तर बड़े मार्केका है और इसपर लोगोंको ध्यान देना चाहिये, संन्यासका पवित्र आश्रम जनताकी दृष्टिमें बड़े महत्त्वका हो गया है, फिर कर्मयोग अर्थात् प्रवृत्ति-मार्गको निवृत्ति-मार्गकी अपेक्षा उत्तम कैसे कहा जा सकता है? परन्तु श्रीकृष्णकी दृष्टि संन्यासके बाह्यरूपकी ओर इतनी नहीं थी। वे तो अर्जुनको उसका मूल तत्त्व समझानेकी चेष्टामें थे। उनका उपदेश जनताकी इस धारणाको दूर करनेके लिये था कि संसार और उसके बन्धनोंसे ऊपरी पिण्ड छुड़ा लेना अधिक महत्त्वका मार्ग है। श्रीकृष्ण यह बात अर्जुनके गले उतार देनेके लिये उत्सुक थे कि संन्यासका बाहरी रूप इतने महत्त्वका नहीं है जितना उसका भीतरी तत्त्व है, भगवान्के उपदेशानुसार संन्यासका अर्थ संसारको छोड़कर उसके बन्धनोंसे पल्ला झड़का देनेका बाहरी विधान नहीं है। उनकी इस उक्तिसे कि 'कर्म किये बिना संन्यासकी प्राप्ति भी कठिन है' इस मतकी पुष्टि होती है। यदि संन्यासका अर्थ उसका बाहरी रूप ही होता तो ऊपरका वाक्य निरर्थक हो जाता। क्योंकि जिसने कपड़े रंगकर भिक्षाकी झोली हाथमें ली और लोकदृष्टिमें संसारसे नाता तोड़ दिया, उस संन्यासीके लिये कर्मयोगके पचड़ेसे क्या मतलब? इसलिये जिस संन्यासकी बात श्रीकृष्णने कही है, वह चतुर्थाश्रमके बाह्य विधानके सम्बन्धमें नहीं, अपितु उसका कुछ और ही अभिप्राय है।

तो फिर श्रीकृष्णके मतानुसार संन्यासका स्वरूप क्या है? इसका उत्तर तीसरे अध्यायके ३० वें और छठे अध्यायके पहले दूसरे श्लोकोंमें दिया गया है। संन्यासका साधारण अर्थ त्याग है और कर्मफलका त्याग ही गीतामें प्रतिपादित संन्यासका प्रधान तत्त्व है। किन्तु यह भी इस विषयका चरम सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि इससे भी तत्त्वका अवधारण नहीं होता। कारण, इस बातको कोई कितना भी चिल्लाकर कहे कि मैंने कर्म-फलका त्याग कर दिया है, किन्तु ऐसा कहना जितना सहज है, कार्यरूपमें परिणत करना उतना सहज नहीं है। फिर भी विधिपूर्वक संन्यास-आश्रममें प्रवेश करके कर्ममय जीवनको छोड़नेकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है। यह संन्यासका एक उत्तम स्वरूप है।

तब क्या संन्यासका इससे भी कोई उत्कृष्ट रूप है, जिससे यह समस्या पूरी तौरसे हल हो जाती है? हाँ, एक रूप और है। मनुष्यकी चित्तवृत्ति जब ऐसी हो जाती है कि कर्म करते रहनेपर भी उसपर कर्मका कुछ असर नहीं होता, वही संन्यासका असली स्वरूप है। जब मनुष्यकी स्थिति इस प्रकारकी हो जाती है, तभी वह कर्मको अकर्म और अकर्मको कर्म समझने लगता है (४।१८)। यह बात सुगमतासे समझमें आ सकती है कि जब कर्ममें अकर्मबुद्धि हो जाती है, तब उसका फल हमपर कभी लागू नहीं हो सकता। परन्तु कर्म अकर्म कैसे हो सकता है? यह सबसे टेढ़ा प्रश्न है। अर्जुन इस प्रश्नको हल नहीं कर सका था। इसीलिये अठारहवें अध्यायके प्रारम्भमें फिर उसने यह प्रश्न किया कि संन्यासका आन्तरिक तत्त्व क्या है? तब भगवान् संन्यासके अर्थमें 'त्याग' शब्दका प्रयोग करके उसे यह समझाते हैं कि 'अपना नियतकर्म अवश्य करणीय है यह समझकर जो मनुष्य केवल कर्मके फलका ही नहीं अपितु 'मैं कर्त्ता हूँ' इस बुद्धिका भी त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी अथवा संन्यासी कहलाता है। इससे हमें यह पता लगता है कि कर्मफलका त्याग ही पूर्ण संन्यास नहीं है, इसके साथ ही 'मैं कर्त्ता हूँ' इस बुद्धिका त्याग भी आवश्यक है। सामान्यतः यह बात सच है कि कर्मफलकी इच्छाका अथवा कर्तृत्व-बुद्धिका पूर्णरूपसे त्याग सहजमें सम्भव नहीं है, किन्तु गीतामें इस बातको समझाते हुए कि कर्तृत्व-बुद्धिका त्याग किस प्रकार हो सकता है, कर्मके सहचारी अङ्गोंका इस प्रकार विश्लेषण किया गया है:—शरीर, कर्त्ता, भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठातृ देवता तथा नाना प्रकारकी भिन्न भिन्न चेष्टाएं ये ही कर्मोंके पाँच हेतु हैं (१८।१४)। अन्तरात्मा,—जो शुद्ध चैतन्य-द्रष्टारूप—है, सदा इस बातका अनुभव नहीं करता अपितु यह कल्पना कर लेता है कि मैं ही कर्त्ता हूँ। जब मनुष्य इस मर्मको समझ लेता है कि जितने भी कर्म हैं वे सब इन्हीं कारणोंसे होते हैं और ये सब कारण उसकी निज आत्मासे,—जो उसके हृदयमें निवास करता है और शुद्ध चैतन्यरूप है,—भिन्न हैं।

तब उसके लिये इस बातको समझ लेना कठिन नहीं होता कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ और फिर जो कोई भी कर्म उसके द्वारा होते हैं वे उसके लिये नहींके बराबर हैं। अब वह इस बुद्धिसे काम करने लगता है, तब उसके लिये कर्म बन्धन-रूप नहीं रह जाते। यही सच्चा संन्यास है। जो मनुष्य केवल संन्यासीके कपड़े पहनकर संन्यासका स्वांग भरता है, वह अपनी बुद्धि इस प्रकारकी नहीं बना सकता। इसलिये गीताका मत यह है कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, यह जानते हुए, जितने भी कर्म होते हैं उन सबको अकर्म मानना ही संन्यासका वास्तविक स्वरूप है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसका अनुभव प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये। १८ वें अध्यायके ४९ वें श्लोकमें जिस परमावस्थाका वर्णन है उसका यही स्वरूप है। जिस संन्यासके विषयमें तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें यह कहा गया है कि उससे सिद्धि प्राप्त नहीं होती, वह संन्यास-आश्रममें प्रवेश करनेका बाह्य विधान है। जबतक मनुष्य कर्मयोगके द्वारा (फल-त्याग-रूप संन्यासके द्वारा) अपनी बुद्धि और इच्छा-शक्तिको साधकर विशुद्ध नहीं बना लेता तबतक उसके लिये उस परमावस्था तक पहुँचना कठिन होता है, जहाँ मनुष्य कर्म करता हुआ भी कर्तृत्व-बुद्धिको छोड़ देता है। इसीलिये श्री-कृष्णने इस बातपर जोर दिया है कि कर्मयोगके बिना असली संन्यासकी सिद्धि कठिन है।

(कर्तृत्व बुद्धिके त्यागरूप) संन्यासके इस स्वरूपका वर्णन कहीं कहीं वेदान्तके अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थोंमें भी मिलता है; किन्तु जिस विशद और हृदयग्राही ढङ्गसे भगवद्गीतामें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। यही भगवद्गीताकी श्रेष्ठता है।

भगवदीय प्रतिज्ञा

(ले० श्रीयुत मोहम्मद हाफ़िज़ सय्यद एम० ए०, एल० टी०)

जीवनके विषयमें लोगोंके कैसे विचार हैं, इस दृष्टिसे अखिल मानव-जातिके दो स्थूल भेद हो सकते हैं, एक तो वे लोग जो जीवनको आधिभौतिक दृष्टिसे देखते हैं और दूसरे वे जो उसे आध्यात्मिक दृष्टिसे देखते हैं। दूसरी श्रेणीके लोगोंमें कुछ ऐसे मनुष्य भी होंगे, जिन्होंने कभी इस बातको स्पष्टतया समझनेका कष्ट न किया होगा कि मानव-जीवनका अर्थ और उद्देश्य क्या है?

हम लोगोंमेंसे अधिकांश मनुष्य जीवन-निर्वाहके कार्य-में इतने व्यस्त रहते हैं कि वे यह जाननेकी चेष्टा भी नहीं करते कि जीवन क्या वस्तु है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवनका कितना मूल्य और कैसा महत्त्व है, इस बातको हम लोग केवल वाणीके द्वारा ही स्वीकार करते हैं। वास्तवमें इस सम्बन्धमें हम इतने उदासीन हैं कि अपने पवित्र धर्मग्रन्थोंका न तो कभी अध्ययन करते हैं और न मनन करते हैं और न उनके भीतरी भावोंका वास्तविक महत्त्व ही समझते हैं।

हम सभी यह चाहते हैं कि हम पूर्ण बनें, हमें शान्ति मिले, हमारा जीवन समन्वय-पूर्ण हो, हम निर्भय हो जायं और हमें सच्चे ज्ञान एवं अक्षय सुखकी प्राप्ति हो। किन्तु जिस मार्गका अनुसरण करनेसे हम अपने इस अभीष्ट स्थानको पहुँच सकते हैं, उस मार्गपर चलनेके लिये हम लोगोंमेंसे कितने मनुष्य सच्चे दिलसे तैयार हैं?

संसारके जितने भी धर्म हैं, वे सब जगत्‌का एक आदि कारण मानते हैं जो स्वयं कारण-हीन है और जिसे वे ईश्वरके नामसे पुकारते हैं, चाहे वह व्यक्तरूपमें हो अथवा अव्यक्तरूपमें। उसे हम संसारकी सबसे अधिक आदरकी वस्तु मानते हैं। उसे हम अपने जीवनका मूल मानते हैं, और हमारा विश्वास है कि बड़ेसे बड़े गुण जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं वे सब उस ईश्वरके अन्दर विद्यमान हैं। वह निरतिशय पूर्णता, निरतिशय शान्ति, निरतिशय ज्ञान और निरतिशय सुखसे संयुक्त है। वह जीवनका स्रोत है, उसीसे सारे जगत्‌की उत्पत्ति होती है और उसीके अन्दर प्रलयके समय सारा जगत् विलीन हो जाता है। हमें जिस किसी श्रेष्ठ या महत्त्वपूर्ण वस्तुकी इच्छा होती है, वह वास्तवमें उसीके सन्निकट होनेसे प्राप्त होती है। इस मूल सिद्धान्तके विषयमें सब धर्मोंकी एकवाक्यता है। लौकिक व्यवहारमें हम उस मनुष्यका विश्वास कर लेते हैं जो अपनी

नेकीके कारण हमारे आदरका पात्र होता है; परन्तु यह कितने दुर्भाग्यकी बात है कि जिस परमात्मापर हमें सबसे अधिक भरोसा होना चाहिये, उसका हम बहुत कम भरोसा करते हैं ! अपितु यों कहना चाहिये कि बिल्कुल ही नहीं करते । हमारा एक दूसरेके वचनोंमें पूर्ण एवं दृढ़ विश्वास है, किन्तु हाय ! हमें उस अव्यय पुरुषके वचनों और प्रतिज्ञाओंमें, जिसकी हम परमात्मारूपसे उपासना करते हैं, यथेष्ट श्रद्धा नहीं है !

सनातन धर्मावलम्बियोंमें एक खासी संख्या उन लोगोंकी है जो सच्चे भावसे श्रीकृष्णको विष्णुका पूर्ण अवतार और श्रीमद्भगवद्गीताको उन्हींकी दिव्य वाणी मानते हैं, जिसका उन्होंने कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें उपदेश दिया था और जो योगका एक ऐसा ग्रन्थ है जो सर्व भूतोंके लिये अर्थात् किसी जाति, वर्ण अथवा धर्मविशेषके लिये नहीं किन्तु, सारी मानव-जातिके लिये उपयोगी हो सकता है ।

यदि हम यथार्थमें और सच्चे मनसे श्रीकृष्णको परमात्मा मानते हैं, जो सर्वभूतोंके हृदयमें समान भावसे निवास करनेवाले हैं और यह समझते हैं कि उनके सम्बन्धसे हमारे अन्दर सारे दिव्य गुण आ सकते हैं, और हमारा जन्म-मृत्यु तथा दुःख-शोकसे, यहाँ तक कि सारे द्वन्द्वोंसे छुटकारा हो सकता है एवं हमें पूर्ण सुखकी प्राप्ति हो सकती है, तो क्या हमारे लिये यह उचित नहीं है कि हम उनकी दिव्य प्रतिज्ञापर पूरा विश्वास करें और आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गपर पैर रक्खें ? आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! जो अनन्य-चित्त होकर मेरा नित्य निरन्तर स्मरण करता है और जो नित्य (मुझमें) युक्त है वह योगी मुझे सहजमें ही प्राप्त कर सकता है ।'

आगे चलकर नवें अध्यायके २२वें श्लोकमें भगवान् फिर प्रतिज्ञा करते हैं कि 'जो लोग अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और जो नित्ययुक्त हैं उन्हें मैं निर्भय बना देता हूँ।' 'हे अर्जुन ! उसीकी अनन्य-भक्तिसे उस परम पुरुषकी प्राप्ति हो सकती है, जिसके अन्दर सारे भूत (प्राणी) निवास करते हैं और जिसने सारे दृश्यमान जगत्को व्याप्त कर रक्खा है ।' (८ । २२)

इनसे अधिक निश्चित, स्पष्ट और पूर्ण तथा असन्दिग्ध शब्द क्या हो सकते हैं ?

अब यदि हम उपर्युक्त श्लोकोंमें की हुई भगवान्की प्रतिज्ञाको चरितार्थ करना चाहते हैं, तो हमें एक ऐसी शर्त अक्षरशः अवश्य पूरी करनी पड़ेगी, जिसमें किसी प्रकारका न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता । उस शर्तको हम एक शब्द 'भक्ति'-से निर्दिष्ट कर सकते हैं । भक्तिका लक्षण नारदने अपने सूत्रोंमें इस प्रकार किया है-'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'-(ना० सू० २) 'उस परमात्माके प्रति अतिशय प्रेमका ही नाम भक्ति है ।' किसी व्यक्तिके प्रति भक्तिका भाव इसी प्रकारका होता है । आगे चलकर नारद फिर कहते हैं-'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति' (ना० सू० १९) 'सारे कर्मोंको उस एक परमात्माके अर्पण कर देना और उसकी स्मृति भूल जानेपर अत्यन्त व्याकुल होना ही प्रेमका लक्षण है ।'

जिस मनुष्यको प्रेमकी यह निधि मिल गयी, उसकी दशाका नारद इस प्रकार वर्णन करते हैं-'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति ।' (ना० सू० ४) 'यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति'-(ना० सू० ५) 'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति'- (ना० सू० ६) 'जिस प्रेमको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर उसे न तो किसी बातकी इच्छा रहती है, न चिन्ता रहती है, न किसी वस्तुके प्रति द्वेष रहता है, न किसीमें आसक्ति होती है और न वह किसी विषयको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है । जिसे जानकर वह मस्त हो जाता है, चेष्टाहीन हो जाता है और अपने ही अन्दर सुखी रहता है ।'

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकारकी भक्ति कैसे प्राप्त हो ? इसका पहला उपाय है 'अपने अन्दर परमात्मासे मिलनेकी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करना ।' भक्तिकी तो बात ही क्या है, धन मान और सांसारिक भोग भी जबतक उनके लिये उत्कट इच्छा नहीं होती और उचित मूल्य नहीं दे दिया जाता, प्राप्त नहीं होते ।

इस प्रकारके प्रारम्भिक श्रेणीके साधकोंके प्रति आचार्य श्रीरामानुजका यह उपदेश है 'कि वे पहले अपने शरीरको सात्त्विक आहारके ग्रहण और आमिषादि निकृष्ट पदार्थोंके त्यागसे शुद्ध करें, शुद्ध विचार और ऊँची भावनाओंको जागृत करें ।' इसी तरह शौचका भी पालन करना उचित है, जिससे यह शरीर सब तरहसे एक भक्तके रहने योग्य मन्दिर बन जाय, क्योंकि प्रेमपथका पथिक बननेके लिये उसे इसी मन्दिरको काममें लाना होगा । इसके अनन्तर आचार्य रामानुज इस महान् सूत्रको हम लोगोंके सामने रखते हैं कि

'शुद्ध भोजन, शुद्ध चित्त और भगवान्‌का निरन्तर स्मरण' करो, यही साधकके लिये उत्तम साधन है।

जो भक्त बनना चाहता है, उसके प्रति यह भी उपदेश दिया गया है कि वह कामनाओंके त्यागका अभ्यास करे तदनन्तर अपनी चित्तवृत्ति भगवान्‌की ओर लगानेकी चेष्टा करे। जब जब उसका चित्त चञ्चल होकर इधर उधर भटकने लगे, उसे चाहिये कि वह उसको दबाने और वशमें रखनेका प्रयत्न करे और ऐसा करते समय सदा भगवान्‌के इन आश्वासनपूर्ण शब्दोंका स्मरण करे कि 'निरन्तर अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मन वशमें किया जा सकता है।' (गी० ६ । ३५) साधकको चाहिये कि जब उसका मन दूसरी वस्तुओंकी ओर दौड़ने लगे, तब वह उसे खींचकर अपनी उपास्य वस्तुके समीप ले आवे। उसे एक ऐसा समय नियत कर लेना चाहिये, जिस समय वह अपने चञ्चल चित्तको भगवान्‌की उपासनामें लगाये रक्खे। थोड़े दिनोंमें अभ्यास हो जानेपर उसका चित्त बड़े प्रेमके साथ अपनी उपास्य वस्तुपर ठहरने लगेगा।

प्रेम-पथका पथिक होनेके कारण साधक त्यागके लिये सदा प्रस्तुत रहता है, क्योंकि त्याग तो प्रेमका स्वरूप ही ठहरा। 'प्रेम केवल यही चाहता है कि प्रेमीको (अपने प्रेमास्पदके लिये सर्वस्व) त्यागका अधिकार हो।' इसलिये दूसरोंका क्रियाके द्वारा उपकार करना भी भक्तिके साधनका एक अङ्ग है। दूसरी बात,—जिसके लिये साधकको उपदेश दिया गया है—वह है सन्त महात्माओंका सङ्ग साधकको चाहिये कि वह अपने समय और शक्तिका व्यर्थ वार्तालापमें और ऐसे सांसारिक व्यापारोंमें जिनसे चित्तको क्षोभ हो, अपव्यय न करे। वह पवित्र धार्मिक ग्रन्थों और ऐसी पुस्तकोंको पढ़े जिनमें सन्त-महात्माओंके चरित्र हों और जिस निकृष्ट साहित्यकी आजकल संसारमें भरमार है उसे छुवे तक नहीं। जो लोग भौतिक विज्ञानमें पारंगत होना चाहते हैं वे किस्से कहानी और साहित्यके ग्रन्थ नहीं पढ़ते।

प्रत्येक वस्तुका कुछ न कुछ मूल्य अवश्य होता है। तब क्या परमात्माकी भक्ति बिना परिश्रम किये और यथेष्ट कष्ट उठाये मिल सकती है? जिस प्रकार हम नाम और ख्यातिके लिये काम करते हैं, उसी प्रकार परमात्माके लिये काम करना हम कब सीखेंगे? जिस उत्साहके साथ हम इस विनश्वर और आनन्दहीन जगत्‌के खिलौनों और तुच्छ पदार्थोंके पीछे दौड़ते हैं, उसी उत्साहके साथ हम उस त्रिभुवनमोहनकी मुखच्छवि और रूप-माधुरीको निहारनेके लिये कब लालायित होंगे?

इस प्रकार क्रमशः अनेक भूमिकाओंको पार करनेके अनन्तर निरन्तर खोज और भक्ति-पूर्वक आराधना करते करते एक दिन ऐसा आवेगा जब भक्तभावन भगवान् अपने भक्तको दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे और जिस शर्तका पूरा होना आवश्यक है उसके पूरी होते ही भगवदीय प्रतिज्ञा पूर्ण होगी।

वे वास्तवमें धन्य हैं, जो इसको अपने जीवनका ध्येय बना लेते हैं।

सार्वभौम गीताधर्म

(लेखक-पं० श्रीहरनारायणचन्द्रजी शास्त्री)

सभी देश, काल और अवस्थाओंमें पापी, तापी, पुण्यवान्, सुखी, ज्ञानी और मूढ़ सारे मनुष्योंके लिये, केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं, किन्तु संसारके सभी जीवोंके लिये जो धर्म कर्तव्य तथा निःश्रेयसका सम्पादन करनेवाला है, वही सार्वभौम धर्म कहनेके योग्य है। ऐसा धर्म परमेश्वरका प्रेम है, इसीको भक्ति कहते हैं। भगवद्गीतामें इसी भगवद्भक्तिके स्वरूपका जो निर्णय किया गया है, वही सार्वभौम धर्म है।

यद्यपि विख्यात वेदान्ती, परमभक्त मधुसूदन सरस्वतीजीने गीताको कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डके रूपमें छः छः अध्यायोंमें विभक्त किया है, तथापि गीतामें कहे हुए विषयोंमें भक्ति ही प्रधान है और उसीमें सारी गीताका पर्यवसान है। इसीसे युद्ध-वृत्ति करनेवाले क्षत्रिय कुलावतंस अर्जुनके प्रति गीताका यह सुस्पष्ट उपदेश है—

> तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
>
> (गी० ८ । ७)

क्योंकि अन्तकालमें परमेश्वर-स्मरण भगवत्प्राप्तिका साधन है, और सदा स्मरण करते रहनेसे ही अन्तकालमें परमेश्वरका स्मरण हो सकता है इसलिये हे अर्जुन! सदा मेरा स्मरण करो और (अपना कर्तव्य) युद्ध करो। मन और बुद्धिको मुझ (परमेश्वरमें) अर्पण करनेसे ही संशयरहित होकर मुझे प्राप्त करोगे।

भगवान्‌की प्राप्ति ही जीवोंका चरम लक्ष्य है। भगवान् श्रीकृष्णने इस श्लोकमें भगवत्प्राप्तिके साधनरूपसे मन और बुद्धिको परमेश्वरके समर्पण करनेके लिये उपदेश दिया है। यहांपर मन और बुद्धिके समर्पणसे परमेश्वरमें पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण करना ही अभिप्रेत है। यह आत्मसमर्पण भक्ति विना नहीं हो सकता। इससे विदित होता है कि भगवद्गीता भक्तिको ही भगवत्प्राप्तिका उपाय बतलाती है और उस भक्तिका जीवनके सारे कर्तव्योंके साथ ही अनुष्ठान करनेके लिये युद्ध-वृत्तिवाले अर्जुनको लक्ष्यकर जीवमात्रको उपदेश देती है। अनन्य भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका साधन है, इस बातको गीताके उसी अध्यायमें स्पष्ट कहा है -

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गी० ८। १४)

हे अर्जुन! जो अनन्य-चित्त होकर मुझे सदा स्मरण करता है ऐसे निरन्तर युक्त हुए योगी पुरुषके लिये मैं सुखसे प्राप्त करने योग्य हूं।

इस श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो सदा मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करनेवाला है वही नित्ययुक्त योगी है और मैं (भगवान्) उसीके लिये सुलभ हूं। अनन्यचित्त न होनेसे-अन्य विषयोंमें चित्तको आसक्त करनेसे सदा परमेश्वरका स्मरण नहीं हो सकता, यह भी अभिप्राय इस श्लोकसे मालूम होता है।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु' (८। ७) इत्यादि श्लोकके साथ 'अनन्यचेताः सततं' (८। १४) इत्यादि श्लोकको मिलानेसे भगवान्‌का यह आशय मालूम पड़ता है कि अनन्यचित्त होकर सदा कर्तव्योंके भीतर परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये और ऐसा स्मरण करना ही भगवत्प्राप्तिका साधन है। यह स्मरण अनन्य भक्ति विना नहीं हो सकता। इसलिये भगवान्‌की भक्ति करना सभी जीवोंका परम कर्तव्य है और वह कर्तव्य अपने अपने विशेष कर्तव्योंके साथ, सभी जीवोंका एक साधारण कर्तव्य है। अपने कर्तव्योंको छोड़कर भगवान्‌की भक्ति नहीं करनी चाहिये, किन्तु अपने कर्तव्योंका पालन करते हुए ही भगवान्‌की आराधना करनी चाहिये। यह बात अठारहवें अध्यायके छयालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्पष्ट कही है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

हे अर्जुन! जिस परमेश्वरसे सारे संसारकी उत्पत्ति हुई, और जिससे सारा संसार व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्मसे आराधना कर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है।

भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें कहा है, 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता' अर्थात् जबतक वैराग्यकी उत्पत्ति न हो, तबतक कर्म करना चाहिये। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वैराग्यकी उत्पत्ति पर्यन्त कर्मका अधिकार है। गीताके अठारहवें अध्यायके उपर्युक्त श्लोकके अनुसार जबतक कर्मका अधिकार है, तबतक अपने अपने कर्मोंसे परमात्माकी आराधना करनेका उपदेश दिया है। हम सब कर्मके अधिकारी संसारी जीव हैं। गीताके इस उपदेशका लक्ष्य हम ही हैं।

गीतामें पशु, पक्षी, म्लेच्छ, शूद्र, स्त्री सबको भगवद्भक्तिका अधिकारी कहा है और उसी भगवद्भक्तिरूपी साधनकी सहायतासे सबको मोक्षका अधिकारी बतलाया है। इस प्रकार मनुष्योंमें ब्राह्मणसे म्लेच्छ पर्यन्त, और इतर जीवोंमें हस्तीसे कीट पर्यन्त सबके लिये भगवत्प्राप्ति रूप मोक्षका एक ही साधन भगवद्भक्तिको बतलाती हुई यह गीता अपनी सार्वभौम दृष्टिसे सार्वभौम-धर्मका प्रतिपादन करती है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गी० ९। ३२)

हे अर्जुन! मेरा आश्रय लेकर पशु, पक्षी, म्लेच्छ आदि पापयोनिवाले और स्त्री, शूद्र, वैश्य सभी मोक्षरूपी परमगतिको प्राप्त करते हैं।

अत्यन्त पापी मनुष्य भी भगवद्भक्तिका अधिकारी है, और भगवद्भक्तिकी सहायतासे वह अविनश्वर शान्तिको प्राप्त कर सकता है। यहांतक कि परमात्माका भक्त कभी नष्ट नहीं होता, अर्थात् श्रेयसे च्युत नहीं होता, इस बातको आनन्दकन्द व्रजनन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गी० ९। ३०-३१)

इस प्रकार गीतामें सर्वत्र भगवद्भक्तिके माहात्म्यका निरूपण किया गया है। अन्तमें भगवान्‌की शरणागति जो

भगवद्भक्तिकी पराकाष्ठा है,—उसीमें गीताकी समाप्ति हुई है।*

यह बात सत्य है कि गीता मोक्षशास्त्र है, परन्तु मोक्षशास्त्रके साथ ही गीता भक्तिशास्त्र भी है। मोक्ष सब दुःखोंका अन्त करनेवाला परम सुखस्वरूप है, इसीसे मोक्ष परम पुरुषार्थ कहलाता है। वह मोक्ष भगवान्की प्राप्तिको छोड़कर अन्य वस्तु नहीं है और वह परमात्माकी भक्ति बिना नहीं मिल सकता; इस भक्तिके अधिकारी जीवमात्र हैं। सारी गीतामें इसी सिद्धान्तका वर्णन होनेसे गीता सार्वभौम-धर्मका प्रतिपादक सार्वभौम-शास्त्र है।

गीता और मानस

(लेखक—श्रीयुत 'भगवान्')

संस्कृत-साहित्यमें श्रीमद्भगवद्गीता एक अनुपम ग्रन्थरत्न है। इसकी विशेषता इसके प्रचारसे ही मालूम हो रही है कि इसका अनुवाद प्रायः संसारकी सभी भाषाओंमें हो चुका है। प्रत्येक देश और सम्प्रदायके मनुष्य इसको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। बड़े बड़े धुरन्धर विद्वान् इसपर भाष्य, टीका या कुछ लेख लिखनेमें ही अपना सौभाग्य समझते हैं। परन्तु यह कहना भी अनुचित न होगा कि जिस प्रकार संस्कृत-साहित्यका अनुपम ग्रन्थरत्न गीता है, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्यका भी अनुपम ग्रन्थरत्न श्रीमद्रामचरितमानस है। इसकी भी विशेषता इसके प्रचारसे ही प्रकट हो रही है कि इसे ही पढ़नेके लिये कितने लोग हिन्दी पढ़ना सीखते हैं। इसका भी अनुवाद अनेक भाषाओंमें हो चुका है। सभी देश और सम्प्रदायके लोग इसका भी सम्मान करते हैं।

इस लेखमें इन्हीं दोनों अनुपम ग्रन्थरत्नोंके सम्बन्धमें कुछ थोड़ासा लिखना है। इसलिये इनकी विशेषताके गानमें ही समयको न गवांकर प्रधान विषयकी ओर ही चलना चाहिये।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि श्रीमद्भगवद्गीता अपने समयसे पूर्वके सभी ग्रन्थोंका भाव अपने अन्तर्गत रखते हुए भी प्रधानरूपसे ईशावास्योपनिषद्की ही व्याख्या करती है। इस उपनिषद्में ज्ञान-कर्म, तथा अव्यक्त-व्यक्तके समुच्चयकी ही विशेषताका गान किया गया है और ईश्वरमय विश्वको समझते हुए विरागपूर्ण रहकर कर्म करनेको ही एकमात्र निर्लेपत्वका साधन कहा गया है। इसीकी व्याख्या गीताने की है और यही मानसने भी राम-जनक-भरत आदिके चरित्रोंद्वारा प्रकट किया है। व्यक्त और अव्यक्तके एकीकरणको नाम-माहात्म्यमें भलीभांति दिखाया गया है और साधु-समाजके द्वारा ज्ञान-कर्म-भक्तिका समुच्चय भी प्रकट किया गया है। वशिष्ठादिके कर्मोंद्वारा ज्ञान-कर्मका एकत्व भी दर्शाया गया है, तथा यथास्थान कर्म-समर्पणका भाव भी दिखाया गया है।

इसके अतिरिक्त त्रिविध वस्तुका वर्णन भी किया गया है, जैसा कि गीताने किया है और जो त्रिविध मानव-श्रेणियां ईशोपनिषद् तथा गीतामें रक्खी गयी हैं वही त्रिविध मानव-श्रेणियां (१) विषयी, (२) साधक और (३) सिद्धकी रामचरितमानसमें भी रक्खी गयी हैं। इन त्रिविध दैव-श्रेणियोंके अतिरिक्त आसुर-श्रेणीका वर्णन भी जिस प्रकार उपनिषद् और गीतामें किया गया है, उसी प्रकार रामचरितमानसने भी किया है।

जिस प्रकार द्विविध माया और उससे परे आत्माका वर्णन गीता और उपनिषद्ने किया है, उसी प्रकार मानसने भी किया है। अद्वैतवाद तीनोंको ही मान्य है।

इस प्रकार ये तीनों ग्रन्थ मूल-वर्णनमें एक ही हैं। इसपर कहा जा सकता है कि तब इनमें कौनसी ऐसी विशेषता है, जिसके कारण मूल-ग्रन्थकी अपेक्षा इनका विशेष प्रचार हो गया? इसके उत्तरमें यह भी कहा जा सकता है कि भाषाकी सरलता एवं उपयोगिता है, परन्तु इस उत्तरमें विशेष यथार्थता नहीं है।

तत्त्वतः इन ग्रन्थोंमें जो विशेषता है वह यह है कि ईशोपनिषद् इतने बड़े विषयका वर्णन केवल अठारह मन्त्रोंमें ही करता है। जिनमें भी अन्तिम मन्त्र अन्तकालकी स्थितिके सम्बन्धमें हैं, जिनकी व्याख्या गीताने आठवें अध्यायमें और मानसने यथास्थान की है। जिससे यह

---

* ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गी० १८।६१-६२)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी० १८।६६)

कहना अनुचित न होगा, कि यह उपनिषद् मानव-जीवनके कर्तव्य-कर्मका वर्णन केवल दो-चार मन्त्रोंमें ही कर देता है और इतना सूक्ष्म वर्णन कदापि सर्वोपयोगी नहीं हो सकता। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन ही सर्वोपयोगी हो सकता है। इस कार्यकी पूर्ति सर्वप्रथम अनुपम रीतिसे गीताने ही की है। इसने संसारके सामने दैव और आसुर मानव-जीवनके रहस्यको खोल दिया है और फिर त्रिविध भाग करके दैव-जीवनका भी विस्तृत वर्णन किया है। इस समूचे वर्णनमें इस ग्रन्थने विज्ञानका ही विशेष आधार ग्रहण किया है। उधार धर्मकी महत्ता इसमें बिल्कुल ही नहीं रक्खी गयी है। संसारमें नक़द धर्म ही विशेष है। सभी इसकी विशेषताको स्वीकार करते हैं और गीताने इसीकी विशेषता प्रकट की है।

मानव-जीवनके लिये उचित आदर्शकी आवश्यकता है। यह आदर्श उपनिषद्ने नहीं दिखाया था। परन्तु गीताने भगवान् श्रीकृष्णको मनुष्य-जातिका आदर्श दिखाया और इस प्रकार मानव-पूजनका भी प्रचार किया। मनुष्य-रूपमें ईश-पूजनका प्रचारक प्रत्यक्षरूपसे यही ग्रन्थ है। यद्यपि वेदोंमें भी इसकी झलक पायी जाती है तथापि इसीके प्रवक्ताने सर्वप्रथम—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
> मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ॥
> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥

—इत्यादिका स्पष्ट उपदेश किया है और अपनेमें ही ईश-भावनाको स्थिर कराते हुए मनुष्यको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्तिका सरल मार्ग दिखलाया है।

पर जब काल-मानसे देश विधर्मियोंके हाथमें चला गया और संस्कृत भाषाका प्रचार भी कम हो गया तथा वासुदेवके स्थानमें रामकी उपासनाका प्रचार हुआ। तब गोस्वामी तुलसीदासजीने भाषामें रामचरित-मानसकी रचना करके इसी भावको प्रकट किया। आपने स्पष्ट यह दिखला दिया है कि वासुदेवके ही अवतार राम हैं। रामके अवतार होनेके पूर्व वासुदेव ही पूज्य थे। देखिये मनु तथा प्रतापभानुका उपाख्यान, जो मानसके आदिमें दिया गया है और अवतारके कारणको दिखाते हुए गीताके ही भावको प्रकट किया है। आपने मानसमें यह एक विशेषता प्रकट की है कि पुत्र, सखा, भाई, शत्रु, पिता आदि किसी भी भावमें ईश्वरकी पूजा की जा सकती है और उससे आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति भी की जा सकती है। यद्यपि ये भाव वैदिक हैं, और गीताको भी सर्वशः मान्य हैं। तथापि आपने आदर्श रखकर इसको बहुत ही स्पष्ट कर दिया है।

इसके अतिरिक्त गीताने जो भगवान् श्रीकृष्णको सर्वोपरि आदर्श रक्खा है, तथा इनसे भिन्न और भी जितने आदर्श रक्खे हैं, वे सभी वैयक्तिक हैं, परन्तु मानसमें श्रीरामका आदर्श पारिवारिक है, जिसके कारण यह ग्रन्थ लोगोंको और भी प्रिय प्रतीत हुआ है। यद्यपि विश्वमें भगवान् वासुदेव कृष्णकी समताका कोई भी पुरुष अभी तक नहीं हुआ है। इसी अनुपमताके कारण सर्वप्रथम भगवान्का पद आपको ही प्राप्त हुआ है, तथापि आपका परिवार आदर्श न था। परिवार-दृष्ट्या एक राम ही आदर्श हुए हैं। जिससे आपके बाद श्रीरामको ही भगवान्-पद प्राप्त हुआ है। इन दोनों दिव्य व्यक्तियोंके जीवनमें यह एक महान् अन्तर है। यद्यपि भगवान् होनेसे दोनों एक ही समझे जाते हैं। और इनके परिवार भी एक ही माने जाते हैं।

जब कि मानसमें गीताके ही आधारपर सारा वर्णन किया गया है और वासुदेवके ही अवतार राम माने गये हैं, तब यह भी कहना अनुचित न होगा कि वासुदेवके जीवन-चरित्रका आवरण भी रामचरित्रपर चढ़ाया गया है। जैसे सर्वप्रथम वासुदेवने अर्जुनको विश्वरूप दर्शन कराया है. जिसका अनुकरण महाभारत और भागवतादि ग्रन्थोंने किया है और वही मानसने भी किया है। इसी प्रकार श्रीकृष्णकी व्रजलीलाओंका भी बहुत कुछ अनुकरण रामचरित्रमें किया गया है। लीलाओंके अनुकरणके अतिरिक्त श्रीकृष्णके उपदेशका अनुकरण भी श्रीरामके उपदेशमें किया गया है। मानसमें जहाँ कहीं भी श्रीरामका उपदेश है; उसे देखकर आप इसे अच्छी प्रकार समझ सकते हैं।

यद्यपि मानसमें गीताके ही भावको दर्शानेका प्रयत्न किया गया है और वर्णन-प्रणाली भी गीताकी ही ग्रहण की गयी है, तथापि गीताकीसी निर्भीकता एवं उदारता मानसमें नहीं है। गीतामें साम्प्रदायिकताकी गन्ध छू भी नहीं गयी है। परन्तु मानसमें इसकी झलक दीख जाया करती है। इन सबके अतिरिक्त गीताने सहज मानवजीवनके आधारपर कर्म, ज्ञान और भक्तिका यथावत् वर्णन किया है परन्तु मानसने केवल भक्तिका ही विशेषरूपसे वर्णन किया है।

इस प्रकारके जो अन्तर गीता और मानसमें दिखायी

दे रहे हैं, वह दोनों ग्रन्थोंके प्रत्रकाओं तथा रचयिताओंके कारण हैं। अन्यथा ये दोनों ग्रन्थ भावात्मक एक ही हैं।

इस रीतिपर साधारणतः यह तो दिखा ही दिया गया कि गीता और मानस मूल विषयमें एक ही हैं। पर यदि इन दोनों ग्रन्थोंके कुछ ऐसे स्थल भी दिखा दिये जाते, जिनसे यह विदित होता कि स्थान स्थानपर मानसने गीताको अक्षरशः भी ग्रहण किया है, तो बहुत ही अच्छा होता, किन्तु लेखके बढ़ जानेके भयसे यहांपर नहीं दिखाया गया है। पाठक दोनों ग्रन्थोंका मेल सरलतासे मिला सकते हैं और यदि समय मिला तो फिर कभी उसे भी दिखा दिया जायगा।

गीतामें कर्मयोग

(ले०—श्रीयुत कैखुशरू जे० दस्तूर, एम० ए०, एल-एल० बी०, सम्पादक, 'दि मेहर मेसेज')

मिक ग्रन्थोंमें भगवद्गीताका स्थान बहुत ऊंचा है। इसका कारण केवल यह नहीं है कि उसके दार्शनिक विचार बहुत गहन हैं और साहित्यिक दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ बड़े महत्त्वका है। इसका मुख्य कारण तो उसके सिद्धान्तोंकी व्यापकता है। गीताका किसी जातिविशेष या धर्मविशेषसे कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिये उसे केवल हिन्दुओंकी ही नहीं अपितु संसारकी सारी जातियोंकी धर्मपुस्तक समझनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह इस अमर ग्रन्थको ध्यानपूर्वक एवं पक्षपात-रहित होकर पढ़े, चाहे वह किसी धर्मको और किसी धर्म-गुरुको मानता हो। हम इसे एक निश्चल नक्षत्रकी उपमा दे सकते हैं, क्योंकि यह अपने ही तेजसे प्रकाशमान है, और संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इसकी ख्यातिको मिटा सके अथवा इसकी ज्योतिको मलिन कर सके। इसका एक एक शब्द बड़े ही विचारपूर्वक लिखा गया है; इसकी प्रत्येक पंक्ति पवित्र विचारोंसे सुरभित है; इसका प्रत्येक वाक्य विचार-परम्पराको जागृत करनेवाला है, इसका प्रत्येक अध्याय क्रमबद्ध है और आध्यात्मिकता इसमें एक छोरसे दूसरे छोर तक हैमसूत्रकी नाईं ओतप्रोत है।

गीताको यदि दिव्य ज्ञानकी खानि कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसलिये जो इसके तत्त्वको भलीभांति समझना चाहे और इसके दार्शनिक विचारोंको अपने जीवनका एक अङ्ग बनानेकी इच्छा रखता हो, उसे चाहिये कि वह इसको बारम्बार शुद्ध हृदयसे और अवहित चित्त होकर पढ़े। वह मनुष्य वास्तवमें सुकृती है जो इसके ज्ञानरूपी अगाध समुद्रमें गोता लगाकर उसकी गहराईकी थाह लगाता है। वह पुरुष सचमुच धन्य है जो इसके उपदेशोंको कार्यरूपमें परिणत करता है और इसमें प्रतिपादित कर्मयोगके अनुसार आचरण करता है। भगवान् श्रीकृष्णका सबसे अपूर्व एवं महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्त,—जिसके द्वारा दर्शनशास्त्रकी सम्पत्ति बढ़ी है,—उनका 'कर्मयोग' सिद्धान्त ही है। ईश्वरके अवतारों अथवा धर्म-संस्थापकोंमें सम्भवतः उन्होंने ही सबसे पहले कर्म करने तथा दूसरोंकी सेवा करनेकी यथार्थ विधि बतलायी है।

जो लोग आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त कर चुके हैं, उनकी बात तो जाने दीजिये। शेष सभी मनुष्य संस्कारोंके वशमें होते हैं। मनुष्य इच्छापूर्वक अथवा किसी उद्देश्यको लेकर कोई भी कर्म करे, संस्कारोंके बन्धनमें वह अवश्य फंसेगा। शुभ कर्मोंसे अच्छे संस्कार और अशुभ कर्मोंसे खोटे संस्कार उत्पन्न होते हैं परन्तु संस्कार चाहे कितने ही अच्छे क्यों न हों, जबतक उनका पूर्णरूपसे नाश नहीं होगा अथवा उनका फल भोग नहीं लिया जायगा तबतक वे किसी भी जीवात्माकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक ही बने रहेंगे। बेड़ियां चाहे सोनेकी हों या लोहेकी, रहेंगी वे बेड़ियां ही। सोनेकी बेड़ियोंका बन्धन सुखकर नहीं होता। इसलिये जिसे बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा है, उसे सोनेकी बेड़ियां भी उतनी ही भारी मालूम होंगी जितनी लोहेकी और उन्हें तोड़नेके लिये भी वह उतना ही व्याकुल होगा। इससे यह परिणाम निकला कि हमें काम करते समय अपनी मनोवृत्ति ऐसी बना लेनी चाहिये कि जिससे हमारे चित्तपर उसका संस्कार उत्पन्न ही न हो, जिससे हम नये बन्धनोंके फन्देमें न फँसें। अब प्रश्न यह होता है कि काम करनेकी इस मनोवृत्तिका स्वरूप क्या है? 'कर्मयोगका अभ्यास करना अर्थात् इस प्रकार निःस्वार्थ भावसे तथा निरपेक्ष होकर कर्म करना कि जिससे उनके फलमें आसक्ति न हो।' यही उसका स्वरूप है। यहांपर यह बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि जो लोग कर्मयोगी होनेपर भी आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्ण नहीं हैं, वे नवीन संस्कारोंके बन्धनसे सर्वथा छूट नहीं जाते; किन्तु उनके संस्कार दूसरे लोगों-

के संस्कारोंसे भिन्न होते हैं। श्रीसद्गुरु मेहर बाबाके मतानुसार संस्कारोंके दो स्थूल भेद हो सकते हैं, एक तो 'सूलत' या सामान्य संस्कार, जो भले और बुरे दोनों ही प्रकारके हो सकते हैं, और दूसरे 'ऊलत' या विशिष्ट संस्कार जो सर्वदा श्रेष्ठ ही होते हैं। जो लोग कामनाओंका त्याग नहीं कर सके हैं और जो प्रायः अच्छे कर्म भी किसी फलकी प्राप्तिके निमित्त ही करते हैं, उन साधारण श्रेणीके लोगोंके सङ्कल्पों और कर्मोंसे जो संस्कार उत्पन्न होते हैं वे 'सूलत' ही होते हैं, किन्तु जो कर्म नितान्त निःस्वार्थ बुद्धिसे किये जाते हैं अर्थात् विश्वप्रेम और सेवाके अतिरिक्त जिनका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं होता, उनसे 'ऊलत' संस्कारोंकी ही उत्पत्ति होती है। ये 'ऊलत' संस्कार कुछ 'सूलत' संस्कारोंको नष्ट करनेकी अच्छी दवा है क्योंकि जैसे ही किसी मनुष्यके 'ऊलत' संस्कार उत्पन्न होने लगते हैं, वैसे ही उसके 'सूलत' संस्कारोंमेंसे कुछ संस्कार नष्ट हो जाते हैं, और इससे भी अधिक मार्केकी बात तो यह है कि इन कतिपय 'सूलत' संस्कारोंके नष्ट होनेके साथ ही साथ 'ऊलत' संस्कार भी सारेके सारे उसी समय नष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि किसी मनुष्यके चित्तपर 'ऊलत' संस्कारोंके बनते ही उसके कुछ 'सूलत' संस्कार और सारेके सारे 'ऊलत' संस्कार* अपने आप नष्ट हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि कर्मयोगी दूसरोंका उपकार करता हुआ और फल-निरपेक्ष होकर कर्म करता हुआ अनजानमें अपना भी आध्यात्मिक दृष्टिसे उपकार ही करता है, यद्यपि वह अपने लिये फलकी इच्छा नहीं रखता।

जो मनुष्य कर्मोंका त्याग करता हुआ भी कर्म करता है जो दूसरोंकी सेवा केवल परमात्माके प्रति अपना कर्तव्य समझकर और 'सिया-राम मय सब जग जानी' इस भावको लेकर करता है, उससे जो आध्यात्मिक लाभ होता है उसे देखते हुए यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं जान पड़ती कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने भक्तोंको फलमें बिल्कुल आसक्ति न रखते हुए कर्म करनेकी आवश्यकता समझायी। हम सबको चाहिये कि हम सेवाका भाव रखकर कर्म करें; धन रहे या जाय, यश मिले या अपयश हो, इसकी हम लोग बिल्कुल परवा न करें। मानव-जातिकी हम उसी भावसे सेवा करें, जिस भावसे कर्म करनेका उपदेश भगवान्ने अर्जुनको दिया था। इस समय भारतको आवश्यकता है कर्मियोंकी न कि नेताओंकी; कर्मयोगियोंकी न कि प्रसिद्धिके भूखे 'जैसी बहै बयार पीठ तैसी करि दीजै' का सिद्धान्त माननेवालोंकी!

गीताका भक्तियोग और चतुर्विध भक्त

(लेखक—श्रीरामचन्द्र शङ्कर टाकी बी० ए०)

गीताके भक्तियोगका स्वरूप क्या है? यह जाननेके लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि 'भक्ति' और 'भक्त' शब्दोंका श्रीकृष्णने किस अर्थमें प्रयोग किया है, क्योंकि भक्तियोग भक्तिके उस स्वरूप अथवा प्रकारका ही नाम है, जिसका ज्ञानी भक्त अभ्यास करते हैं। मुक्तिके जो दो और साधन हैं—ज्ञान और वैराग्य—उन्हें तो एक प्रकारसे भक्तिके अनुचर या जैसा श्रीमद्भागवतके माहात्म्यके अनुसार भक्तिके पुत्र कहना चाहिये। दूसरोंकी तो बात ही क्या है, अद्वैतवादके बड़े कट्टर पक्षपाती श्रीशङ्कराचार्यका भी यही सिद्धान्त है कि मोक्ष-प्राप्तिके समस्त साधनोंमें भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है (मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी)। भक्तिके प्रधान आचार्य श्रीनारदके मतमें भक्ति स्वयं मुक्तिका हेतु है ('स्वयं फलरूपतेति'—नारदभक्तिसूत्र)।

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार आत्मबुद्धिसे अथवा सर्वात्म-बुद्धिसे ईश्वरभक्तिको संक्षेपमें भक्तियोगका स्वरूप कह सकते हैं (जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते। तद् ब्रह्माहमस्मीति ज्ञात्वा बन्धैः प्रमुच्यते-श्रुति), क्योंकि परमात्मा ही सब कुछ है (वासुदेवः सर्वमिति गी० ७। १९)। या यों कहिये कि गीताके मतमें जीव, ब्रह्म और जगत् वास्तवमें एक हैं, इस ज्ञानके आधारपर परमात्मासे प्रेम करना भक्ति है।

ईश्वरके साथ आत्मबुद्धिसे या सर्वात्मबुद्धिसे प्रेम करनेको गीतामें 'पराभक्ति' और 'अनन्यभक्ति' कहा गया है और यही गीताका मूल सिद्धान्त अथवा मुख्य विषय है। गीतामें इस 'पराभक्ति' अथवा 'अनन्य भक्ति' को कितना ऊँचा स्थान दिया गया है, इसका ग्यारहवें अध्यायके निम्नलिखित तीन अन्तिम श्लोकोंसे अनुमान किया जा सकता है, जिनका भाव यह है—

* यहां 'ऊलत' से वह ज्ञान समझना चाहिये कि जो अज्ञान (सूलत)का नाश करके स्वयं भी अन्तर्धान हो जाता है, जैसे ईंधनको जलाकर अग्नि स्वयं भी छिप जाती है।

'जिस रूपमें तुमने मुझे आज देखा है, उस रूपमें मुझे कोई वेदोंका अध्ययन करके, तपस्या करके, दान देकर अथवा पूजा करके नहीं देख सकता। हे अर्जुन! हे परन्तप! केवल अनन्यभक्तिके द्वारा ही इस रूपमें मुझे लोग तात्त्विक-दृष्टिसे देख और जान सकते हैं एवं मुझमें समा सकते हैं। जो मेरे ही लिये सारे कर्म करता है, मुझे ही सबसे ऊंची वस्तु मानता है, मेराही प्रेमी है, सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित है और जिसका किसी प्राणीके साथ द्वेष नहीं है, हे पाण्डव! वह मुझे प्राप्त होता है। (गी० ११। ५३-५५)।

पराभक्ति ईश्वर-प्रेमकी चरम सीमाका नाम है, जैसा कि उसके नामसे ही व्यक्त होता है। इसके महत्त्व और गौरवको भलीभांति समझनेके लिये यह जानना आवश्यक है कि भक्तिकी जो सबसे पहली भूमिका है, वहांसे सबसे ऊंची भूमिका तक किस प्रकार पहुंचा जा सकता है।

जिसे ईश्वरका प्रेम कहते हैं वह अन्य देवतोपासककी भक्तिमें भी प्रारम्भिक अवस्थामें अवश्य मिलता है। सांसारिक कामनाएं ही उसकी प्रवृत्तिका प्रधान हेतु होती हैं और इन कामनाओंके कारण अन्धा और बेवश होकर वह दूसरे देवताओंकी आराधना करने लगता है तथा ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारके सुखोंका उपभोग करनेकी आशासे शास्त्रवर्णित सकाम कर्मोंमें लगता है (कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः इत्यादि (गी० ७, २०)। अतः वेदों और उनके रचयिताके प्रति,–जो देवोंके देव हैं,–उसका विश्वास केवल गौण होता है। इसलिये उस उपासककी उपासना भक्ति नहीं कहला सकती। स्वामी विवेकानन्दने एक स्थानपर कहा है–'देवताओंकी विविध प्रकारकी उपासनाएं सब कर्म-काण्डके अन्तर्गत हैं। उनसे उपासकको किसी न किसी प्रकारके दिव्य भोगोंके मिलनेमें अवश्य सहायता मिलती है, किन्तु उनसे न तो भक्ति ही हो सकती है और न मुक्ति। इसी-लिये वेदोंने अन्य देवतोपासकोंको अज्ञानी कहकर उनकी निन्दा की है; कहीं कहीं तो उन्हें पशु तक कहा गया है। 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' और गीतामें उन्हें अल्पबुद्धि कहा गया है (अध्याय ७। २२)।

गीतामें भक्तोंकी चार श्रेणियां बतलायी गयी हैं:— (१) आर्त अथवा द्वैतवादी (२) जिज्ञासु अथवा ज्ञानकी इच्छा रखनेवाला, (३) अर्थार्थी अथवा सिद्धिकी कामना रखनेवाला, धनकी इच्छा रखनेवाला नहीं, जैसा कि इस पदका किसी किसी टीकाकारने अर्थ किया है; और (४) ज्ञानी (अध्याय ७।१६)

आर्त अथवा द्वैतवादीके नामसे ही यह व्यक्त होता है कि इस प्रकारका भक्त सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति और जीवनमें आनेवाली विपत्तियों और असफलताओंसे अपनी रक्षा करनेके लिये ही ईश्वरकी उपासना करता है। उसका उपास्य और उपासककी एकतामें विश्वास नहीं होता और इस-लिये वेदोंने 'आर्त' भक्तकी उतनी ही निन्दा की है, जितनी अन्य देवतोपासककी। उसकी भक्ति सबसे अधिक दूषित होती है, क्योंकि भगवद्भक्तिमें जो तीन दोष बहुधा पाये जाते हैं— १–व्यवधान अथवा विच्छेद, २–व्यभिचार अथवा अविशुद्धता और ३-निमित्त अथवा सहेतुकता। उन सबसे यह कलुषित रहती है। आर्तकी भगवद्भक्तिमें व्यभिचार और निमित्तका दोष तो आये बिना रहता ही नहीं, क्योंकि वास्तवमें वह सुखार्थी होता है, उसकी भक्तिमें व्यवधान दोष भी आ जाता है, क्योंकि उसकी एक भी इच्छाके पूरी न होनेपर उसकी भक्ति-में सहसा विच्छेद या भङ्ग होनेका भय रहता है।

फिर भी 'आर्त'की गणना भक्तोंमें ही की गयी है, क्योंकि वह उपासना देवोंके देव ईश्वरकी ही करता है, अन्य देवतोपासककी तरह दूसरे देवताओंकी नहीं। जो कुछ छोटे छोटे देवता कर सकते हैं ईश्वर उतना तो अवश्य ही कर सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं; अपितु संसारी अर्थोंके लिये भी उनका जो परमात्माके साथ सम्पर्क होता है, केवल उसीसे उपासकको वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्तिके द्वारा अन्तमें चलकर मुक्ति मिल जाती है। देवताओंसे इन तीनों पदार्थों—ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति मिलनेकी आशा रखना वृथा है, क्योंकि,–जैसा श्रीरामानुजाचार्यने कहा है:—'ब्रह्मासे लेकर घासके एक छोटे से चंदवे तक सारे सत् पदार्थ कर्म-जन्य जन्म और मरणके बन्धनसे जकड़े हुए हैं, इसलिये हम उन्हें अपना ध्येय नहीं बना सकते, क्योंकि वे सब अज्ञानमें डूबे हुए और विकारी हैं।' आर्त भक्तोंको अन्य ऊँची श्रेणीके भक्तोंके साथ साथ सुकृति इसीलिये कहा गया है कि वे देवोंके देव भगवान् की ही उपासना करते हैं।

सारांश यह है कि,–जैसा श्रीमती बेसेण्टने एक स्थानपर कहा है, आर्त भक्तकी इच्छा भगवान्की कृपासे एक दिन तृप्तिमें-परिणत हो जाती है, धीरे धीरे उसका ज्ञान अन्तर्मुख होने लगता है और अनात्म-पदार्थोंमें आसक्ति कम होकर आत्माकी

ओर रुचि बढ़ने लग जाती है, यद्यपि बीच बीचमें कई बार भविष्यकी चिन्ताएं आकर उसे घेर लेती हैं, पर वह मनुष्य निश्चयरूपसे निवृत्ति-मार्गमें अग्रसर हो जाता है।

जब इस प्रकार आर्त भक्तको सांसारिक सुखोंसे वैराग्य हो जाता है, तब वह अपने चारों ओर शाश्वत आनन्द-के स्रोतकी सच्चे दिलसे खोज करने लग जाता है, उसकी इस खोजमें वेदादि शास्त्र और सन्त महात्माओंके बनाये हुए आत्मबोध करानेवाले ग्रन्थ उसके पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं। धीरे धीरे उसके दिलमें यह बात जम जाती है कि सांसारिक पदार्थोंमें नित्य सुख नहीं मिल सकता, अब सकाम कर्मोंकी ओरसे उसका चित्त क्रमशः हट जाता है और इस-लिये वह जीवनके आवश्यक कर्मोंको ही करता है, तात्पर्य यह कि उसके अन्दर मुक्तिकी इच्छा प्रबल हो उठती है और वह भगवान्से उद्धारकी प्रार्थना करने लगता है। इस प्रकारकी मानसिक अवस्थासे उसकी कुछ चित्त-शुद्धि अवश्य होती है, चाहे वह ऊपर ऊपरसे ही क्यों न हो? इसके अनन्तर भगवत्कृपासे उसे महात्माओंका संग मिल जाता है (ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः गीता ४।३४)।

महात्माओंके सङ्गमें रहनेसे उसे परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उसका परमात्माके साथ क्या सम्बन्ध है एवं परमात्माके प्रति उसका क्या कर्तव्य है? इस बातका भी उसे पता लग जाता है। इस सिद्धान्तको वह समझ लेता है और श्रद्धापूर्वक मान भी लेता है कि "परमात्मा—सगुण ईश्वर, जिनकी मैं परम पुरुष मानकर उपासना करता आ रहा हूं,—जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण दोनों है (अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते गीता १०।८), वास्तवमें मेरा आत्मा और परमात्मा दोनों एक ही वस्तु हैं और सकाम कर्मोंका त्याग ही मेरा परमात्मा-के प्रति कर्तव्य है (काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः गी० १८।२) व्यक्तिगत, सामाजिक और धार्मिक जितने भी जीवनके आवश्यक कर्म हैं, उन्हें मुझे आसक्तिरहित होकर करना चाहिये, एवं नवविधा भक्तिका अभ्यास करना चाहिये। सबसे मुख्य बात तो यह है कि मुझे उन सारे कर्मोंको यज्ञरूप समझकर परमात्माके समर्पण कर देना चाहिये।(यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।···मुक्तसङ्गः समाचर ॥ गी० ३।९। यतः प्रवृत्तिर्भूतानां······सिद्धिं विन्दति मानवः-गी०१८-४६;त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः-श्रुतिः)।" इस भगवदर्पणका स्वरूप यह है कि मनुष्य पहले इस बातको मान ले और सदा याद रक्खे कि जीव,—जो परमात्माका ही प्रतिबिम्ब है (ममैवांशो—गी० १५।७), वास्तवमें अक्रिय है और वे कर्म,—जिनका कर्ता मैं हूं ऐसा प्रतीत होता है,—स्वभाववश पूर्व-जन्मोंकी वासनाओंके अनुसार होते हैं, (स्वभावस्तु प्रवर्तते-गी० ५।१४; पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि······दैवं चैवात्र पञ्चमम् १८।१३-१४); दूसरी बात यह है कि ज्ञान और भक्तिके सिवा मनुष्य किसी बातकी इच्छा न करे और तीसरी बात यह है कि वह इसे पूरी तरहसे मान ले कि ईश्वर निर्दोष है (निर्दोषं हि समं ब्रह्म गी० ५।१९)वह कल्पवृक्षकी नाईं न्यायशील और दयालु है। यह एक बहुत मार्केकी बात है और ध्यानमें रखने योग्य है, क्योंकि अठारहवें अध्यायके ६७ वें श्लोकमें श्रीकृष्णने अर्जुनको यह बात विशेषरूपसे कही है। भगवान्‌के यह कह देनेपर भी कि परमेश्वर न तो कर्तापनको पैदा करता है, न कर्मोंको तथा न कर्म और फलके सम्बन्धको पैदा करता है (न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः गी० ५।१४)—जो पुरुष ईश्वरमें दोष देखता है, उसकी निन्दा करता है अथवा उसके अवतारोंकी बुराई करता है, उसे गीताका उपदेश नहीं देना चाहिये।

जिस श्रेणीके भक्तका ऊपर वर्णन किया गया है उसे 'जिज्ञासु'कहते हैं। उसकी अहैतुक भक्ति इस प्रकार अविच्छिन्न-रूपसे बनी रहती है, यद्यपि वह अभी द्वैतपनको लिये हुए रहती है तब भी उपादेय है (पृथक्त्वेन-गीता ९।१५), क्योंकि परमात्मा और अपनी आत्माकी एकताका विश्वास ही इसका आधार है।

'जिज्ञासुका स्वरूप क्या है और महात्माओंके संग रह-कर वह किस प्रकार उपासना करता है?' इसका वर्णन गीतामें इस प्रकार किया है।

'जो संगरहित होकर ब्रह्मार्पण बुद्धिसे कर्म करता है उसे पाप उसी प्रकार स्पर्श भी नहीं करते, जिस प्रकार कमलको जल स्पर्श नहीं कर पाता। योगीजन सङ्गरहित होकर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं' (ब्रह्मण्याधाय कर्माणि···त्यक्त्वात्मशुद्धये—गी० ५।१०-११)।

'वह कर्ता सात्त्विक कहलाता है जो सङ्गरहित होकर कर्म करे, जिसे अहङ्कार छू तक न गया हो, जो धैर्य और उत्साहसे युक्त हो, जिसपर सफलता और असफलता-का कोई असर न हो' (मुक्तसङ्गोऽनहंवादी···कर्ता सात्त्विक उच्यते—गी० १८, २६)।

जिज्ञासु-भक्त उद्धव ।

'वे अपने मनको मुझमें लगा देते हैं, अपने प्राणों-को भी मेरे अर्पण कर देते हैं, एक दूसरेको मेरा तत्त्व समझाते रहते तथा सदा मेरे गुणोंका बखान करते हैं और उसीमें प्रसन्न और मस्त रहते हैं।' (मच्चित्ता मद्गतप्राणा... रमन्ति च—गी० १० । ९) ।

सारांश यह है कि 'जिज्ञासु' दशामें ही सच्ची आध्यात्मिक उन्नतिका श्रीगणेश होता है। उसकी उपासनामें हमें आध्यात्मिक प्रगतिके तीनों आवश्यक साधन वैराग्य, ज्ञान और भक्ति दृष्टिगोचर होते हैं। उसके वैराग्यका स्वरूप यह होता है कि वह सारे इन्द्रियोंके विषयोंको दुःखका कारण समझने लगता है (त्याज्यं दोषवदित्येके—गी० १८, ३); उसकी भक्तिका स्वरूप यह होता है कि वह महात्माओंके सङ्गमें रहकर भगवान्‌का नाम-संकीर्तन और गुणानुवाद करता और सुनता है (येषां त्वन्तगतं पापं···भजन्ते मां दृढव्रताः—गी० ७ । २८); और उसके ज्ञानका स्वरूप यह होता है कि उसे शास्त्रोंके अर्थका तात्त्विक ज्ञान हो जाता है (स्वाध्यायज्ञान—गी० ४ । २८) ।

जो 'जिज्ञासु' इस प्रकार ऊपर बताये हुए क्रमसे सगुण ईश्वरकी उपासना करता है, उसकी थोड़े दिनों-में ही पूर्णतया चित्तशुद्धि हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उसके अन्दर मोक्षकी प्रबल इच्छा उत्पन्न हो उठती है, तदनन्तर वह मुमुक्षुता आठ प्रकारके बाह्य चिह्नोंके रूपमें, जिन्हें अष्ट सात्त्विक भाव कहते हैं, प्रकट हो जाती है। ये सात्त्विक भाव निम्नलिखित हैं:—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥

(१) स्तम्भ (निश्चेष्टता—जो किसी आकस्मिक मर्माघातसे उत्पन्न हुई न हो), (२) स्वेद (पसीना जो गरमी अथवा थकानसे नहीं हुआ हो), (३) रोमाञ्च (रोंगटे खड़े हो जाना—किन्तु भयके कारण नहीं) (४) स्वरभङ्ग (स्वरका विकृत हो जाना-किन्तु कण्ठके विकारके कारण नहीं), (५) वेपथु (कम्प, जो जाड़े अथवा ज्वरके कारण न हो),(६) वैवर्ण्य (चेहरेका रंग फीका पड़ जाना—किन्तु क्रोध अथवा लज्जा इत्यादिके कारण नहीं), (७) अश्रु (आँसू, जो हर्षके हों, रुदनके नहीं), (८) प्रलय (मृत्यु जैसी मूर्च्छा—जो किसी अपस्मार उन्माद आदि रोगके कारण अथवा हठयोगकी किन्हीं क्रियाओंके कारण या सूंघनेकी किसी दवाके कारण न हुई हो)

इस प्रकारके पक्के जिज्ञासु (विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः—श्रुति) को भगवान् सद्गुरुके रूपमें आत्मा अथवा परमात्माका पूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं (ददामि बुद्धियोगं तं—गी० १०।१०), जिसके द्वारा वह एक न एक दिन परमात्माको अवश्य प्राप्त कर लेता है (येन मामुपयान्ति ते १० । १०)।

आत्माका पूर्ण ज्ञान तीन प्रकारका होता है:—व्यतिरेक, अन्वय और सगुण । 'व्यतिरेक ज्ञान' के द्वारा सद्गुरु अपने शिष्यसे चरतत्त्वको पृथक् कराते हैं; उसकी तत्त्वोंके साथ,—जिनसे उसका स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकारके शरीर बने हैं (इन्द्रियाणि पराण्याहुः·······यो बुद्धेः परतस्तु सः—गी० ३। ४२) पार्थक्य बुद्धि कराते हैं और उसे अन्तरात्मा अथवा उस अक्षर तत्त्वका बोध कराते हैं, जो अनिर्वचनीय है (यतो वाचो निवर्तन्ते—श्रुति)। 'अन्वय ज्ञान'के द्वारा सद्गुरु शिष्यको इस बातका बोध कराते हैं कि वही अक्षर ब्रह्म जो सत् वस्तु है (परमं-गी० ८ । ३) चर जगत्‌को व्याप्त किये हुए है, या यों कहिये कि जिस प्रकार कपड़ेमें सूत ही सत् पदार्थ है, भूषणोंमें सुवर्ण और तरङ्गोंमें जल है, इसी प्रकार आनन्द ही संसारमें सत् पदार्थ है। इन दो प्रकारके ज्ञानोंको 'निर्गुण ज्ञान' कहते हैं । इस द्विविध ज्ञानके सहारे भक्त अपनी भक्तिमेंसे दूसरे व्यभिचारके दोषको निकाल देता है, क्योंकि अब आत्मनिष्ठ प्रेम ही उसकी भक्तिका स्वरूप हो जाता है ।

यद्यपि जिज्ञासुको इस स्थितिमें पहुँच जानेपर तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, किन्तु पदार्थोंका रूप, जिसका भासना इस ज्ञानके हो जानेपर भी बन्द नहीं होता, और वह बुद्धि जो उसको पहचानती है, ये दोनों ही बने रहते हैं, यद्यपि इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता। निर्गुणोपासक इन दोनोंको ही माया कहकर प्रत्याख्यान कर देता है । किन्तु वह साधक जो सगुणोपासक बनना चहता है, सद्गुरुकी कृपासे परमात्माके अवतारोंकी भांति उल्टा उन दोनोंको उसीकी अथवा आत्माकी अभिव्यक्ति या 'सगुण ब्रह्म'का संकल्परूप मानने लगता है। यही सगुण ज्ञान है जिसे गीतामें राजविद्या अथवा राजगुह्य कहा गया है और जिसका श्रीकृष्णने अर्जुनको ('पश्य मे योगमैश्वरम्' इत्यादि) नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें उपदेश दिया है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सगुण ज्ञान ईश्वरसम्बन्धी ज्ञानकी चरम कोटि है, किन्तु आध्यात्मिक उन्नतिका यहीं-

पर अन्त नहीं हो जाता । क्योंकि, जैसा श्रीकृष्णने जोर देकर कहा है 'आत्माको'–जो बुद्धिसे परे है,जान लेनेके पश्चात्, कामरूपी दुर्जेय शत्रुका नाश करनेके लिये, चित्तको बुद्धिके द्वारा उस (परमात्मा) के अन्दर स्थिर करना आवश्यक है (एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा······कामरूपं दुरासदम्–गी० ३, ४३)। इसीलिये योगका इतना माहात्म्य और इतनी आवश्यकता है। योगके ही द्वारा साधक, जिसे अब 'अर्थार्थी' सिद्धिको चाहनेवाला–कह सकते हैं, निमित्त-रूप अन्तिम दोषको भी जो अबतक उसकी भक्तिके अन्दर काँटेके रूपमें बना हुआ था, निकाल बाहर करता है। यही कारण है कि योगीको, औरोंकी तो बात ही क्या, आत्मज्ञानियोंसे भी बढ़कर माना गया है (तपस्विभ्योऽधिको योगी······तस्माद्योगी भवार्जुन–गी० ६। ४६)।

'अर्थार्थी'का वैराग्य इस प्रकारका होता है कि वह इन्द्रियों और उनके विषयोंको निरी माया समझने लगता है (मायामात्रमिदं सर्वम्–श्रुति); उसकी भक्तिका स्वरूप यह होता है कि वह अपनी शुद्ध बुद्धिको आत्माकी ओर लगा देता है। (यतो यतो निश्चरति मनः······आत्मन्येव वशं नयेत्–गी०६।२६); और 'ज्ञान' उसका इस ढंगका होना है कि वह आत्माको सच्चिदानन्दस्वरूप समझने लगता है (सुखमात्यन्तिकं यत्तद्···स्थितश्चलति तत्त्वतः–गी० ६। २१)।

'योग' शब्दका–जो संस्कृतके 'युज्' धातुसे बना है,–संयोग या सम्बन्ध अर्थात् जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध, यह अर्थ होना है या यों कहिए कि ब्रह्म या आत्माके स्वरूपके विचारका नाम योग है, जिसके स्वरूपका साधकको अनुभव हो जाता है।

साधारणतः योगियोंकी दो श्रेणियां होती हैं निर्गुणोपासक और सगुणोपासक या भक्त। निर्गुणोपासकके दो अवान्तर भेद और होते हैं,–'व्यतिरेक योगी' और 'अन्वय-योगी।' ये दोनों ही यथेष्ट सत्त्वके अभावसे साक्षात्कार हो जानेके पश्चात् सगुण ईश्वरकी उपासना छोड़ देते हैं और सिद्धि प्राप्त करनेके लिये अष्टाङ्ग योग (ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना–गी० १३। २४) अथवा साङ्ख्ययोग (अन्ये साङ्ख्येन···गी० १३। २४) का साधन प्रारम्भ कर देते हैं। अष्टाङ्ग योगके आठ अङ्ग ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्याहार और समाधि। साङ्ख्ययोगका अर्थ इस बातका अनुभव करना है कि प्रकृति ही सब कुछ करती है और पुरुष अकर्ता है (प्रकृत्यैव च कर्माणि··· ···आत्मानमकर्तारं स पश्यति' गी० १३, २९; नैव किञ्चित् करोमीति······इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्–गी० ५। ८-९)।

'व्यतिरेक योगी' अपने ही शरीरके भीतर जो आत्मा या निर्गुण ब्रह्म है, उसमें अपनी बुद्धिको स्थिर करनेकी चेष्टा करता है और उसकी समाधि-स्थिति निर्विकल्प समाधि कहलाती है (युञ्जन्नेवं सदात्मानं······अत्यन्तं सुखमश्नुते गी०६,२८)।'अन्वय योगी' विश्वव्यापी आत्मा या निर्गुण ब्रह्मके अन्दर अपनी बुद्धिको स्थिर करनेका प्रयत्न करता है और उसकी समाधि सविकल्पक समाधि कहलाती है (सर्वभूतस्थमात्मानं······सर्वत्रसमदर्शनः–गी० ६, २९)। इन दो प्रकारके निर्गुणोपासकोंमें 'अन्वय-योगी' श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह जीवन्मुक्त हो जाता है और 'व्यतिरेक-योगी' मृत्युके अनन्तर मोक्षको प्राप्त होता है।

यहांपर प्रसङ्गवश यह कह सकते हैं कि कुछ ज्ञानी, जिनका सत्त्व निर्गुणोपासकोंकी अपेक्षा भी कम होता है इसलिये उनकी न तो सगुण ईश्वरकी ओर रुचि होती है, और न निर्गुण परमात्माकी ओर ही होती है, वे हठयोगका अभ्यास करते हैं। ये लोग ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं और वहां जाकर इन्हें प्रलयके समय ब्रह्मदेवके साथ क्रममुक्ति प्राप्त होती है (सहस्रयुगपर्यन्तं······तेऽहोरात्रविदो जनाः गी० ८।१७)।

'अन्वय-योगी' समेत ये सब योगी भक्तकी अपेक्षा नीचे होते हैं; क्योंकि श्रीकृष्णने कहा है–'सारे योगियोंमें भी जो श्रद्धायुक्त होकर और अपने अन्तरात्माको मुझमें लगाकर मेरी उपासना करता है, उसे मैं सबसे अधिक युक्त (मेरे अन्दर लगा हुआ)मानता हूं'(योगिनामपि सर्वेषां···स मे युक्ततमो मतः–गी० ६।४७)। इसका कारण उस श्लोकमें बताया गया है जहां भगवान्‌ने यह कहा है–'जो मुझ (सगुण ईश्वर) को सब ठौर और मेरे अन्दर सारे जगत्‌को देखता है, मैं उसे अलग नहीं करता हूं और न वह मुझे अलग होने देता है' (यो मां पश्यति सर्वत्र······स च मे न प्रणश्यति–गी० ६। ३०)। इसका अर्थ यह है कि भक्त, जो केवल जगत्‌में सगुण ब्रह्मको और जगत्‌को सगुण ब्रह्मके अन्दर देखनेकी चेष्टा करता है, उसे योगभ्रष्ट होनेका कभी भय नहीं रहता।

'श्रद्धायुक्त होकर और अपने अन्तरात्माको मेरे अन्दर लगाकर मेरी उपासना करता है' इस वाक्यमें जिस योगका वर्णन है वह भक्तियोग ही है, जिसका स्वरूप श्रीकृष्णने

अर्जुनको गीताके बारहवें अध्यायमें पूरी तरहसे बताया है। इस अध्यायके आठवें श्लोकमें भक्तियोगके प्रधान लक्षणोंका संक्षेपमें इस प्रकार वर्णन किया गया है—'अपना चित्त मेरेमें ही लगा दो, अपनी बुद्धिको भी मेरे अन्दर निविष्ट कर दो, फिर तुम निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगे' (मय्येव मन आधत्स्व……न संशयः)। यहां अर्जुनको श्रीकृष्णने उन्हींके अन्दर अपने मनको लगानेका अर्थात् सारे चराचर जगत्को सगुण ईश्वरका ही रूप समझकर उसकी सेवा या ध्यान करनेका उपदेश दिया है। किन्तु जबतक मनुष्य आत्मा (निर्गुण) को विश्वव्यापी नहीं समझ लेता, तबतक ऐसा होना कठिन है। दृष्टान्त-रूपमें, जबतक कोई मनुष्य एक कपड़ेके अन्दर सूतको नहीं देख लेता, तबतक यह बात उसकी समझमें नहीं आ सकती कि वह कपड़ा सूतके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसीलिये अर्जुनको अपनी बुद्धि तक भगवान्में अर्थात् सगुण ईश्वरके निर्गुण स्वरूपमें लगा देनेके लिये कहा गया है, क्योंकि बुद्धि ही,—जो मनकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म अथवा शुद्ध है,—सर्वव्यापक आत्माके स्वरूपको समझ सकती है।

आत्मसाक्षात्कारके पश्चात् अपनी बुद्धिको स्थिर करनेके लिये सगुण ईश्वरके उपासकको इसी मार्गका अवलम्बन करना होता है; और सगुण ईश्वरके अनुग्रहसे उसके लिये यह सहज हो जाता है। इसी सिद्धान्तको पुष्ट करते हुए श्रीकृष्ण विश्वास दिलाते हैं:—हे अर्जुन! जो लोग सारे कर्मोंको मेरे अर्पण करके, मुझे ही सबमें श्रेष्ठ मानकर और मेरा ध्यान करते हुए अनन्य योगके द्वारा,—जिससे वे सर्वत्र ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ नहीं देखते,—मेरी उपासना करते हैं, और अपना चित्त मेरे अन्दर लगा देते हैं उनको मैं शीघ्र ही जन्म-मरणरूप-संसार सागरसे उबार लेता हूं (ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।………मय्यावेशितचेतसाम् —गी० १२।६-७)।

न्याय और दयासे अनभिज्ञ उस निर्गुणोपासकको, जिसका चित्त निर्गुण ब्रह्ममें पूर्णरूपसे लग जाता है,—अपनी इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये अपने ही बलका भरोसा करना पड़ता है। उसको सगुण ईश्वरकी वह सहायता नहीं मिलती जो सगुण भगवान्के कल्पवृक्षके समान दयालु होनेके कारण भक्तको मांगते ही मिल जाती है। इसीलिये निर्गुणोपासकको अपनी बुद्धिकी स्थिरताके लिये अष्टांग योग के दुस्तर पथपर बाध्य होकर चलना पड़ता है। (क्लेशोऽधिकतरस्तेषा……देहवद्भिरवाप्यते गीता १२।५।)

यद्यपि भक्तका मार्ग निर्गुणोपासकके मार्गकी अपेक्षा कितना ही सुगम है, फिर भी पूर्वजन्मकी खोटी वासनाओंके कारण कभी कभी उसे भौतिक रूपोंमें,—जिनमें उसका स्वभावतः अधिक राग होता है,—आत्मानुभव होना कठिन प्रतीत होने लगता है। इस प्रकारकी स्थितिमें उसे निराश नहीं होना चाहिये, किन्तु थोड़े समयके लिये अभ्यास (व्यतिरेक) योगके द्वारा उसे निर्गुण (अक्षर) ब्रह्मके विचारमें फिरसे लग जाना चाहिये। किन्तु ऐसा करनेमें उसे इस बातके लिये दृढ़ सङ्कल्प कर लेना चाहिये कि इन्द्रियगोचर सारे रूपोंमें आत्मानुभव हो जानेके पश्चात् मैं फिरसे सगुण ईश्वरकी उपासना प्रारंभ कर दूंगा (अथ चित्तं समाधातुं……मामिच्छाप्तुं० गी० १२-६)। किन्तु जिसका चित्त पूर्णरूपसे शुद्ध नहीं हो गया है उसके लिये अभ्यास-योग भी कोई खिलवाड़ नहीं है और ऐसी सूरतमें उसे चाहिये कि वह और भी नीचेकी श्रेणीमें उतर आवे,—चाहे थोड़े ही कालके लिये हो, नवविधा भक्ति (भगवन्नामकीर्त्तन तथा उनका गुणानुवाद करना और सुनना इत्यादि,—जो भगवान्को अत्यन्त प्रिय है और जो चित्तकी शुद्धिके सारे साधनोंमें श्रेष्ठ है —यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ……यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्—श्रीभागवत)—को चरम लक्ष्य मानकर उसीका अभ्यास करे (मत्कर्मपरमो भव—१२।१०) बुद्धि शुद्ध होकर जब आत्माके अन्दर सहजहीमें लीन होने लगे, उस समय साधकको एक बार फिर,—जबतक कि उसकी बुद्धि पूर्णरूपसे स्थिर न हो जाय,—विश्वके अन्दर आत्माका साक्षात्कार करनेकी चेष्टा करनी चाहिये (मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि—गी० १२।१०)।

आत्म-साक्षात्कार[1] के पश्चात् पूर्ण सिद्धि प्राप्त करनेका एक और साधन है। वह है गीताका उपदेश, जिसके विषयमें अठारहवें अध्यायके ६८ वें श्लोकमें श्रीकृष्णने कहा है कि 'जो मेरी भक्तिकी प्रशंसा करता हुआ इस परम गुह्य ज्ञानको मेरे भक्तोंको सुनावेगा, वह निश्चयपूर्वक मुझे ही प्राप्त होगा (य इमं परमं गुह्यं……असंशयः)सच पूछिये तो भगवान्ने इस मार्गका बड़ा ही माहात्म्य बतलाया है, उन्होंने निःसङ्कोचरूपसे कहा है—'मनुष्योंमें ऐसा कोई नहीं है जो मेरी इसकी अपेक्षा अधिक प्यारी सेवा करता हो और उससे अधिक प्यारा मुझे जगत्में आगे भी कोई न होगा।

१, इस लेखमें आत्म-साक्षात्कारसे लेखकका अभिप्राय 'परोक्षज्ञान' मालूम होता है। —सम्पादक

(न च तस्मान्मनुष्येषु··· प्रियतरो भुवि-गी० १८।६९) किन्तु यह बात स्पष्टतया समझमें आ जानी चाहिये कि गीताका उपदेश-रूप साधन तभी सफल हो सकता है, जब दो बातें पूरी हों। पहली बात तो यह है कि गीताको हमें परम गुह्य मानना चाहिये और इसका उपदेश केवल भगवद्भक्तोंको ही देना चाहिये। जिनका भगवान्‌में प्रेम नहीं है वे इसका आदर नहीं करेंगे। दूसरी बात यह है कि भगवद्भक्तोंमें भी एक विशेष रीतिसे अर्थात् सगुण ईश्वरकी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए इसका उपदेश करना चाहिये। यहाँ यह बात समझ लेना उचित है कि भगवद्भक्तिका महत्त्व दूसरोंके चित्तपर जमानेके लिये यह आवश्यक है कि साधकके अन्दर प्रेमका एक उमड़ता हुआ स्रोत हो। फिर ज्यों ज्यों वह दूसरोंके अन्दर प्रेमका सञ्चार करनेकी चेष्टा करता है, त्यों त्यों वह स्रोत और भी अधिक पुष्ट तथा प्रबल होता जाता है एवं उपदेशककी बुद्धिको परमात्माके अन्दर स्थिर करनेमें सहायक होता है।

जब भक्तकी बुद्धि इस प्रकार स्थिर हो जाती है,तब वह जीवन्मुक्त(ब्रह्मभूत) हो जाता है। इस दशामें उसकी भक्तिमेंसे निमित्तरूप अन्तिम दोष भी निकल जाता है, इस प्रकारके भक्तका बड़ा सुन्दर वर्णन छठे अध्यायके ३१ वें श्लोकमें इस प्रकार किया है:—जो कोई (मेरे साथ) एकीभावमें स्थित होता है और 'मैं सर्व भूतोंके अन्दर निवास करता हूँ'—यह समझकर मेरी उपासना करता है, वह योगी मेरे ही अन्दर निवास करता है, चाहे वह किसी प्रकारसे रहता हो। (सर्वभूतस्थितं यो मां···स योगी मयि वर्तते)। वही सबसे श्रेष्ठ योगी है। परन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि इनमेंसे भी 'जो सर्वत्र समदृष्टि रखता है और दूसरोंके सुख दुःखको अपने ही दुःख सुखके समान समझता है वह सबसे उत्तम योगी है' (आत्मौपम्येन सर्वत्र···स योगी परमो मतः गी० ६।३२)। स्पष्ट शब्दोंमें इसका अर्थ यह है कि भगवान्‌के मतमें योगियोंकी इस उत्तम कक्षामें भी सर्वश्रेष्ठ योगी वह है, जो यह समझकर कि,-जिस वस्तुसे मुझे दुःख या सुख होता है उससे दूसरोंको भी उसी भाँति दुःख या सुख होता है,—वह अपनेको दूसरोंकी स्थितिमें मानकर उन्हें जितना अपनेसे बन सकता है, उतना सुख पहुँचाता है और उनका दुःख निवारण करता है। निःसन्देह सबसे उत्तम सेवा जो वह इस दिशामें कर सकता है यह है कि, जो लोग सांसारिक दुःखोंके भारसे दबे जा रहे हैं उन्हें आध्यात्मिक ज्ञानका,—जो उसके पास हो,—उपदेश करके उन्हें सुखी बनावे (सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते)।

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवन्मुक्त होते ही भक्तका भगवत् प्रेम सब दोषोंसे मुक्त हो जाता है। इस शुद्ध प्रेमके बलसे वह इस बातका भी साथ ही साथ अनुभव करने लगता है कि ब्रह्मरूप भी सगुण ईश्वरके अलङ्कार हैं, और उन अलङ्कारोंमें भक्त सुवर्णरूप है। परा भक्ति इसीका नाम है, जिसे पूर्ण ज्ञानी निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके साथ सगुण ध्यान-योगके अभ्यासके द्वारा प्राप्त करता है—(भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् गी०१८।५४)

पराभक्तिके अन्दर वैराग्य, भक्ति और ज्ञान तीनों मिलकर एकरूप हो जाते हैं। उस समय सगुण ईश्वरकी स्थितिका सर्वत्र और सब पदार्थोंमें अनुभव होने लगता है (भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोनुघासम्-श्रीभागवत)।

इस परा भक्तिके विकासमात्रसे सद्गुरुकी अधिक सहायताके बिना ही, ज्ञानी भक्तको उस समय यह अनुभव हो जाता है कि सगुण ईश्वर,-जिनको मैंने अपने निर्गुण आत्मासे अभिन्न माना है, प्रत्येक वस्तुका अपरिमेय निर्गुण द्रष्टा भी है। (भक्त्या मामभिजानाति······ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा गी० १८।५५; साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च।—श्रुतिः।) इस स्थितिमें रहता हुआ वह, जबतक उसका पाञ्चभौतिक देह बना रहता है तबतक, सगुण ईश्वरकी उपासनामें ही अपना कालक्षेप करता है (तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्। हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन् नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥—श्रीभागवत) और उसके नाश हो जानेपर वह 'अनादि वैकुण्ठ' अथवा शाश्वतिक जीवनको प्राप्त हो जाता है (विशते तदनन्तरम् गी० १८।५५; न तद्भासयते सूर्यो······ तद्धाम परमं मम। गी० १५।६; परं स्थानमुपैति चाद्यम्-८।२८; यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति दिव्यम्।—श्रुतिः) जहाँ वह स्वयं सगुण ईश्वररूप बन जाता है (मद्भावमागताः—गी० ४।१०; मम साधर्म्यमागताः गी० १४।२) और उसके अक्षर-आनन्द एवं सङ्गका अनुभव करता है (मद्भक्ता यान्ति मामपि गी० ७।२३)। इसीको सगुण मुक्ति कहते हैं।

निर्गुणोपासक मृत्युके पश्चात् निर्गुण ब्रह्मके अन्दर समा जाता है, जिसे सायुज्यता अथवा निर्गुण मुक्ति

ज्ञानी भक्त शुकदेव ।

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' ।

Lakshmibilas Press, Calcutta.

कहते हैं, वह उसे प्राप्त होजाता है (परां सिद्धिमितो गताः १४ । १) जिससे उसका भिन्न अस्तित्व भी सदाके लिये मिट जाता है।

तात्पर्य यह है कि जहां सगुण भक्तको मृत्युके पश्चात् अमर जीवन प्राप्त होता है,-जिस प्रकार नदियां जाकर समुद्रमें मिल जाती हैं (यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपेविहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।-श्रुति)वहां निर्गुण ज्ञानी केवल निर्वाणको प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार पानीकी एक बूंद समुद्रमें जाकर अपने अस्तित्वको खो बैठती है।

अतः सगुण भक्तके उत्कृष्ट जीवनमें आदिसे अन्ततक जो विलक्षण श्रेष्ठता और महत्त्व निश्चितरूपसे प्रतीत होता है वह इतना स्पष्ट है कि उसे अधिक विस्तारपूर्वक बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णने इस बातको स्पष्ट और जोरदार शब्दोंमें इस प्रकार कहा है-'मेरा भक्त, जिसका किसी प्राणीके साथ द्वेष न हो, जो मित्रताके भावोंसे और करुणासे युक्त हो, जो ममत्वबुद्धिसे रहित हो, जिसे अहङ्कार छू तक न गया हो, जो सुख और दुःखमें समान रहे, जो क्षमाशील हो, सदा सन्तुष्ट हो, आत्माके साथ एकीभूत हो, युक्त हो, दृढ श्रद्धायुक्त हो और जिसके मन और बुद्धि मेरेमें अर्पित हों, वह मुझे प्यारा है' (भगवद्गीता-१२।१३-१४)। इन भक्तोंमें ज्ञानी भक्त, जो सदा श्रद्धालु और एक मुझमें ही चित्त लगाये रहता है, सबमें श्रेष्ठ माना जाता है; ज्ञानीको मैं ही सबसे अधिक प्यारा हूं और वह मुझे सबसे अधिक प्यारा है। गी०७।१७)।

अन्तमें हम यह कह सकते हैं कि भक्तियोगका पूरा भाव अथवा तत्त्व नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें इस प्रकार बतलाया गया है-'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि।' इन शब्दोंको, जिनको गीताके अन्तिम अध्यायके अन्तके करीब करीब दुहराया गया है, हमारे महात्मा लोग भगवद्गीताकी कुञ्जी समझते हैं और वह ठीक ही है। इनमें दो बातें अभिप्रेत हैं-(१) साधन-अर्थात् इस बातका सतत स्मरण कि 'आत्मा, परमात्मा और चराचर जगत् वास्तवमें एक है (सर्वभूतेषु यः पश्यति भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मनि यः स भागवतोत्तमः ।-श्रीभागवत) और उसके नामका कीर्तन (श्रवण कीर्तनादि) (२) फल-अर्थात् सगुण मुक्ति (मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन ...... ब्रह्मभूयाय कल्पते-गी० १४।२६ ; भक्तियोगस्य मद्गतिः-श्रीभागवत)।

गीता कैसे पढ़नी चाहिये ?

श्रीमद्भगवद्गीता ईसाई धर्मशास्त्रोंसे समानता रखती है, जिनसे इसके आध्यात्मिक तत्त्व पूर्णतया मिलते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि ईसा तथा उनके धर्मप्रचारक, खास करके पाल (Paul) इन वैदिक शास्त्रोंको अपने साथ रखते थे और वे स्वयं श्रीकृष्णद्वारा उपदेश किये हुए इस धर्मज्ञानको समझनेमें निपुण थे। गीता समझनेका एक मात्र उपाय उसे पढ़ना और बारबार पढ़ते रहना, हृदयङ्गम करना और मनमें धारण करना है, जिससे कि वह स्मृति-पटल पर अमिट रूपसे अङ्कित हो जाय। पाठकको चाहिये कि आरम्भमें ही गीताको समझने या उसके ज्ञानकी थाह पानेकी चेष्टा न करें, केवल मस्तिष्क द्वारा उसे समझनेकी चेष्टा छोड़कर अपने मनको उसके वाक्योंमें लगाये रक्खे और निरन्तर उसका ध्यान करे,उसके प्रत्येक शब्दका मनन करे, जिससे कि वह उसके अन्तःकरणमें धंस जाय। फिर धीरे धीरे वह अन्तःकरणसे बुद्धि (मस्तिष्कमें) पहुंचकर पाठकको पकड़ लेगी, और उसके विचारोंमें ओतप्रोत हो कर उसके आचरणको बदल देगी। इससे शीघ्र ही उसके विचार तथा कर्म स्वयमेवही गीताके अनुसार होने लगेंगे।

—हाल्डेन एडवर्ड सैम्पसन

गीता-गरिमा

(१)

कृष्ण ! हे गोविन्द ! रहकर लिप्त भी—
भोगियोंके उस भयंकर-भोगमें—
किस तरह फिर आप रहते हैं जमें—
योगियोंके भी अलौकिक योगमें ॥

(२)

आपकी महिमामयी माया महा—
मनुज—मनको मोहमें भी डालती—
और गीताऽमृत पिलाती फिर उसे,
दो प्रणोंको किस तरह है पालती ?

(३)

देख तुमसे रचित, वसुधापर, सुधा—
स्वर्गका पीयूष भी लज्जित हुआ ।
क्योंकि उससे मुक्ति पा सकता नहीं—
है, अमर-गण अमरता-भाजित हुआ ॥

(४)

पातकोंके भारसे लदकर भला—
भूल जाती पापियोंको तारना—
जो तुम्हारे इस सुधाके पानकी—
चित्तमें रखती न गंगा धारणा ॥

(५)

दिव्य-गीताऽमृत-महा-माधुर्य सी-
माधुरी संसारमें है क्या कहीं ?
क्योंकि इसके स्वादसे मीठापना—
ख़ूब पीनेसे कभी जाता नहीं ॥

(६)

मिष्टताके साथ इसमें मद भरा—
जो जगतके है नशोंका नाशकर ।
एक सा ही जो चढ़ा रहता सदा—
कण्ठसे नीचे उतरकर शीश पर ॥

(७)

जो मनुज इसका, निराला, प्रेमसे—
एक भी पी जायगा प्याला भला—
शीघ्र उसके भाग्यका काला मिटे
आँखका हट जायगा जाला भला ॥

(८)

कौन पाता हा ! हमें हरिके बिना
दिव्य-गीता-ज्ञान-रूपी क्षीरको ।
कौन निधनञ्जय-सदृश करता भला—
प्रभु बिना रणमें धनञ्जय-वीरको ॥

(९)

सकल-निगमाऽगम हुए कल-कमल जो—
तो मधुर-मकरन्द गीता-ज्ञान है ।
योगियोंका वृन्द अर्जुन-भृंग-सम
कर रहा जो नित्य इसका पान है ॥

(१०)

देह-धारी जो कहें वेदान्तको—
तो भला गीता उसीका प्राण है ।
सीपके सम वह अभी बन जाय तो—
मञ्जु मोती यह महा द्युतिमान है ॥

१, पृथ्वी । २, ३, अमृत । ४, देवता अमृतसे अमर तो हो सकते हैं परन्तु मोक्षके अधिकारी नहीं कहला सकते । ५, पिलाता ६,७, निधनं (मृत्यु) जय (जीतनेवाले)=महादेवके समान धनञ्जय (अर्जुन) को गीताज्ञानसे श्रीकृष्णने कर दिया था । ८, शास्त्र वेद और पुराण ।

(११)

चारु-चिन्तामणि, महामणि विष्णुकी--
सामने कुछ भी न गीता-रत्नके ।
क्योंकि यह भगवान्‌से निर्मित हुआ–
और वे हैं फल विधाता-यत्नके ॥

(१२)

नीतिका भी, रीतिका भी, भक्तिका
शक्तिका भरपूर है भण्डार यह ।
ज्ञान वा विज्ञान, धर्माऽधर्मका–
और कर्माऽकर्मका आधार यह ॥

(१३)

शास्त्र-'दर्शन'-शीशमणि गीता सदा
और अति आनन्द-पारावार है ।
मुक्ति-पथके ज्ञानहित भगवान्‌का -
भक्तको भेजा हुआ यह तार[9] है ॥

(१४)

सत्य जो संसारका साहित्य है
दिव्य गीता बस उसीका भाव है ।
और यह अद्भुत, अनश्वर, अहित-हर
भीतिकर-भव-सिन्धु-तारिणि-नाव है ॥

(१५)

लोकमें ऐसी नहीं है दूसरी–
औषधी-आवागमनके रोगकी ।
पाप-'मधु[10]'-काली कराली है यही–
और है ताली यही बस योगकी ॥

(१६)

मुक्ति-मन्दिरकी सरल-सोपान है
और है भव-कूपकी जंजीर यह ।
आधियोंकी व्याधियोंकी वह्निको–
नष्ट करने जाह्नवीका नीर यह ॥

(१७)

दुग्धदा हैं, धेनुएं सब उपनिषद्
ज्ञान-रूपी दुग्ध उनका सार है ।
और गीता-सारका भी सार बन–
हो गयी नवनीत[11]-पारावार है ॥

(१८)

इस तरहके मधुर-माखन[12]-सिन्धुको–
एक पलमें ही हज़म जब कर लिया–
तो सभीने सोचकर श्रीकृष्णका--
नाम माखन-चौर तबसे रख दिया ॥

(१९)

कौन करुणा-सिन्धु है श्रीकृष्ण सा–
दीनको जो दान कर दे माँगनेका[13] ।
दूसरा दानी न उनसा है कहीं
यों लुटा दे जो खज़ाना ज्ञानका ॥

(२०)

हे प्रभो ! यह प्रार्थना है, आप अब-
जन्म-भू पर शीघ्र ही आ जाइये ।
चूर करके शत्रुओंका चक्रसे–
श्रेष्ठ-गीताऽमृत हमें पी[14] जाइये ॥

—कुमार प्रनपनारायण 'अविरत्न'

९, गीता वेदान्तका भी सूक्ष्म सार होनेपर तारके समान है, क्योंकि जल्दी पहुंचना, संक्षेपमें सारी बातें आ जाना तारके गुण हैं । १०, राक्षसविशेष । ११, मक्खन (माखन, लूना घी) का समुद्र । १२, गौरूपी उपनिषदोंका ज्ञानरूपी दूध, उसका सार (माखन) गीता अर्थात् समस्त ज्ञान-सिन्धुको पी जानेवाले—हज़म कर जानेवाले श्रीकृष्णका नाम 'माखन-चोर' रखना सर्वथा योग्य है । १३, तपसे मिलनेवाले योगियोंके सम्मानको श्रीकृष्ण गीताद्वारा शीघ्र ही प्रदान कर देते हैं । १४, पिला जाइये ।

योगवासिष्ठ और भगवद्गीता

(लेखक-श्रीभीखनलालजी आत्रेय एम० ए०)

आत्मज्ञानविषयक ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठका स्थान बड़ा ऊँचा है। यह ग्रन्थ इतना बड़ा है और आत्मज्ञान-सम्बन्धी इतने विषयोंका प्रतिपादन करता है कि इसके विषयमें यहां तक कहा गया है कि:-

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।
इदं समस्तविज्ञानशास्त्रकोषं विदुर्बुधाः॥

(यो० वा० ३। ८। १२)

इस ग्रन्थका दूसरा नाम महारामायण भी है। महर्षि वसिष्ठने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीको जिस आत्मज्ञानका उपदेश दिया था, उसीका वर्णन इस ग्रन्थमें है। वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीके हृदय-पटलपर अपने गूढ़ तत्त्वज्ञान तथा शान्तिदायी जीवनमार्गको दृढ़तामे अंकित करनेके लिये नाना प्रकारकी युक्तियों, दृष्टान्तों तथा उपाख्यानोंका आश्रय लिया है। योगवासिष्ठके मनोरञ्जक और उपदेशगर्भित ५५ उपाख्यानोंमें एक अर्जुन-उपाख्यान है, जिसका निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्द्धके ५२-५७ सर्गोंमें ग्रन्थकारने वर्णन किया है। यह उपाख्यान, वसिष्ठजीका श्रीरामचन्द्रजीके प्रति संसारमें आसक्त न होनेके विषयमें है। भगवान् श्रीकृष्ण जिस कर्मयोगका उपदेश अर्जुनके प्रति भविष्यमें देनेवाले थे, उसीका उल्लेख इस ग्रन्थमें पूर्वसे ही है। इसका कारण यह है कि महर्षि वसिष्ठ त्रिकालज्ञ थे और इनके विषयमें उन्हें पहलेसे ही ज्ञात था।

प्रचलित श्रीमद्भगवद्गीतासे अर्जुनोपाख्यानका मिलान करनेपर मालूम पड़ता है कि दोनोंके तत्त्वज्ञानमें कुछ सूक्ष्म भेद है। श्रीमद्भगवद्गीता १८ अध्याय और ७०० श्लोकोंमें है। अर्जुनोपाख्यानमें ७ सर्ग और २५४ श्लोक हैं, जिनमेंसे केवल २७ श्लोक ऐसे हैं जो प्रचलित भगवद्गीतामें अक्षरशः मिलते हैं।

यहांपर हम पाठकोंके लिये संक्षेपमें अर्जुनोपाख्यानका भाषामें अनुवाद देते हैं:-

अर्जुनोपाख्यान तथा भगवद्गीतामें अक्षरशः पाये जानेवाले श्लोक

(यो० वा० पूर्वार्द्ध निर्वाण-प्रकरण)

अर्जुनोपाख्यान		श्रीमद्भगवद्गीता
५२। ३६	...	२। २०
५२। ३७	...	२। १९
५३। २	...	२। १७, १८
५३। ५ २	...	३। २७ २
५३। ९	..	५। ११
५३। १६ १	...	२। ४८-१
५३। ३४	...	९। ३४
५३। ३६,३७	...	१५। १६, १७
५३। ४३	..	६। २९
५३। ६०-१	..	६। २९-१
५३। ६६	...	१५। ५
५४। १	...	१०। १
५४। २	..	२। १४
५४। २२	...	९। २७
५४। २५	...	४। १८
५४। २६	...	२। ४७-२, ४८-२
५४। ३३	...	४। १९
५४। ३८	...	२। ७०
५५। १२	...	२। १६
५५। १३	...	२। १७
५५। १४	...	२। १८
५५। १८ १	...	७। ४-१
५५। २१	...	१५। ८
५८। १	...	१८। ७३

अथ अर्जुनोपाख्यान

वसिष्ठजी बोलेः—

हे महाबाहो! (पुण्डरीकाक्ष) श्रीकृष्णने संसारके प्रति जिस अनासक्तिका निर्देश किया है उसे प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो जाओ (६।५२।८) पाण्डु-पुत्र अर्जुन जिस प्रकार अपने जीवनको सुखसे व्यतीत करेगा (क्षिपयिष्यति) वैसे ही तुम भी अपना जीवन बिताओ (६।५२।८)।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछाः —

हे ब्रह्मन्! पाण्डुका पुत्र अर्जुन कब उत्पन्न होगा और हरि उसको किस प्रकारकी अनासक्तिका उपदेश देंगे? (६।५२।१)।

वसिष्ठजी बोलेः—

भगवान् यम हर एक चतुर्युगीमें कुछ समय व्यतीत हो जानेपर प्राणियोंको पीड़ा देनेके कारण पापकी आशङ्कासे तप किया करते हैं (५२।१७) उस नियमकी मर्यादामें यमके उदासीननामसे स्थित रहनेपर जगत्में मृत्यु किसी जीवको नहीं मारती। (१६) अतः यह भूतल अधिक प्राणियोंसे व्याप्त हो जानेके कारण रहनेके योग्य नहीं रहता (२०) उस समय पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये देवता लोग उन भिन्न भिन्न स्वभाववाले प्राणियोंको मारते हैं (२१) इस समय पितरोंका नायक वैवस्वत नामका यम है और अब इसको कुछ युग बीतनेपर पाप नाशके लिये, मनुष्योंको पीड़ित करना त्यागकर, व्रत करना होगा (२३-२४) उस व्रतके कारण यह पृथ्वी जीवित प्राणियोंसे भर जावेगी (२५) और भारसे दुखी होकर श्रीहरिकी शरणमें जावेगी (२६) इसके पश्चात् नर और नारायणके अनुगामी सम्पूर्ण देवताओं सहित, विष्णु भगवान् दो शरीरोंसे भूमिपर अवतार लेंगे (२७) उनमेंसे एक तो वसुदेवका पुत्र वासुदेव और दूसरा पाण्डुका पुत्र अर्जुन नामसे प्रसिद्ध होगा (२८) चारों समुद्र जिसकी मेखला है, उस पृथ्वीका राजा और धर्मका पुत्र युधिष्ठिर नामसे पाण्डुका धर्म-पुत्र होगा (२६) उसके चचाका पुत्र दुर्योधन नामसे प्रसिद्ध होगा। दुर्योधनका प्रतिद्वन्द्वी भीम होगा (३०) एक दूसरेसे पृथ्वी छीननेके निमित्त, संग्राममें चञ्चल उन दोनोंके लिये अठारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी (३१) गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनका स्वरूप धारणकर विष्णु भगवान् उनका नाश करके पृथ्वीका भार उतारेंगे। (३२) अर्जुनके स्वरूपमें विष्णुका शरीर आरम्भमें हर्ष-शोकादि मानव स्वभावसे युक्त होगा। (३३) और उन दोनों ओरकी सेनाओंमें आये हुए अपने बन्धुजनोंको मरणोन्मुख देखकर विषादसे पूर्ण हो जायगा एवं युद्ध करनेके लिये तत्पर नहीं होगा। (३४) उस अर्जुन नामक अपनी देहको कार्य-सिद्धिके लिये विष्णु भगवान् आत्मज्ञानसम्पन्न श्रीकृष्णरूपद्वारा उपदेश करेंगे। (३५)

'आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न कभी भूतकालमें उत्पन्न हुआ है और न होगा। यह अजन्मा, नित्य, पुराण और सदा रहनेवाला है। शरीर मारे जानेपर मरता नहीं है।' (३६) यह न किसीको मारता है और न किसीसे मारा जाता है। इसलिये उन लोगोंका विचार ठीक नहीं है, जो आत्माको मरने या मारनेवाला समझते हैं। (३७) आत्मा अनन्त, एक रूप, विद्यमान और आकाशसे भी सूक्ष्म सबका स्वामी है। भला, उसका कोई कैसे नाश कर सकता है? (३८) हे अर्जुन! तुम मारनेवाले नहीं हो। तुम तो स्वयं नित्य एवं जरा-मरण-निर्मुक्त आत्मा हो। अभिमानसे मारनेवाला होनेका झूठा विचार—मत त्याग दो।(५३।१) मारते समय जिस पुरुषके देहादि इन्द्रियोंमें अहं-भावना नहीं है और मारकर जिसकी बुद्धि हर्ष, शोक आदिसे युक्त नहीं होती वह सर्व संसारको मारकर भी न तो हन्ता होता है और नहीं बन्धनमें पड़ता है।(२) क्योंकि जिसके दिलमें जैसा विचार होता है उसको वैसा ही अनुभव हुआ करता है। इसलिये मैं यह हूं, यह मेरा है, इस विचारको छोड़ दो। (३) मनुष्य अहंकारसे मृढ़बुद्धि होनेके कारण ही अपनेको उस कामका कर्ता मान बैठता है जो बहुत अंश तक सत्वादि गुणोंद्वारा,—जोकि आत्माके केवल अंशमात्र हैं,—सम्पादित होता है। (५) आंखको देखने दो, कानको सुनने दो, त्वचाको स्पर्श करने दो, जिह्वाको रस लेने दो, इनके कामोंमें अपने आपको क्यों लगाते हो (६) मनका अपने विचार आदि काममें लगे रहने पर भी अहंभावके विचारका कोई कारण नहीं है। तुमको उस काममें क्या क्लेश होता है जिसके कारण तुम्हें शोक करना पड़े? (७) हे भारत! यह बड़ी हँसीकी बात है कि जो काम बहुतसे मनुष्योंके मिलनेपर होता है उसके लिये, एक ही (आत्मा) अभिमान करके दुखी हो (८)

योगी लोग सङ्गको त्यागकर शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियोंसे ही अपनी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं (११) जो मनुष्य ममता और अहङ्कारसे रहित है, वह करने तथा न करनेयोग्य कामोंको करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता (१२) हे पाण्डुपुत्र ! यद्यपि यह तुम्हारा उत्तम क्षात्रकर्म क्रूर है, तब भी वह अत्यन्त श्रेयस्कर तथा सुख और अभ्युदयको देनेवाला है । (१३) हे धनञ्जय ! तुम योगारूढ होकर सङ्गको त्यागकर कर्मोंको करो—क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेसे मनुष्य बन्धनमें नहीं पड़ता (१६) स्वयं शान्त ब्रह्मरूप होकर, कर्मको भी ब्रह्मरूप जानकर, ब्रह्मको समर्पण करते हुए यदि तुम कर्म करोगे तो क्षणमात्रमें ही ब्रह्मरूप हो जाओगे (१७) सब पदार्थ ईश्वरको अर्पित हैं और सर्व भूतोंका आत्मा ईश्वर ही मेरा आत्मा है, इस विचारको रखते हुए इस भूमिके अलङ्कार बनो । (१८) सब सङ्कल्पोंको त्यागकर, शान्त मन और सम भाव रखते हुए संन्यास-योगसे युक्त रहकर काम करते हुए मुक्त-बुद्धि हो जाओ (१९)'

तब अर्जुन प्रश्न करेंगे:—

हे 'भगवन् ! सङ्गत्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, संन्यास, ज्ञान, योगका क्रमसे लक्षणपूर्वक क्या भेद है ? उसे कृपया मेरे मोहकी निवृत्तिके लिये बतलाइये (२०, २१) ।'

तब हरि कहेंगे:—

'सर्व संकल्पोंके शान्त होनेपर, वासनारहित और भावशून्य आकारमें जो स्थित है, वह ब्रह्म है (२२) उस स्थितिको प्राप्त करनेके प्रयासको, ज्ञानी लोग योग और ज्ञान कहते हैं । 'सब जगत् और मैं ब्रह्म हूं' इस भावको ब्रह्मार्पण कहते हैं (२३) कर्मोंके फलत्यागको पण्डित लोग संन्यास कहते हैं (३०) समस्त संकल्पोंको त्यागनेका नाम असङ्ग है (३१) द्वैतभावका त्यागकर सब प्रकारकी कामनाओंको ईश्वरभावसे देखना ईश्वरार्पण कहा जाता है (३१-३२) मैं काल, अद्वैत, द्वैत तथा जगत् आदि सभी कुछ हूं । इसलिये तुम मेरे भक्त एवं पुजारी बनो, मुझे ही नमस्कार करो । मेरे परायण होकर, मुझमें मन लगाकर और आत्माको मुझमें नियुक्त करके अन्तमें मुझमें ही मिल जाओगे (३४)'

तब अर्जुन पूछेंगे:—

'हे भगवन् ! आपके दो रूप हैं-एक तो पर और दूसरा अपर । इनमेंसे सिद्धिके लिये मैं किस रूपका किस समय आश्रय लूं ?'

भगवान् कहेंगे:—

'हे निष्पाप अर्जुन ! मेरा रूप सामान्य तथा पर—दो प्रकारका है । उनमें हस्त-पादादि-संयुक्त तथा शंख, चक्र, गदाधारी सामान्य रूप है (३६) और आदि-अन्त-रहित जो मेरा निर्विकारस्वरूप है, तथा जिसके ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा इत्यादि नाम हैं, वह मेरा पर रूप है (३७) हे अर्जुन ! जबतक तुम ज्ञानसे दूर और आत्माके स्वरूपके बोधसे रहित हो तबतक मेरे चतुर्भुज स्वरूपकी पूजामें तत्पर रहो (३८) और जब क्रमसे तुम ज्ञानी हो जाओगे तब मेरा वह आदि-अन्त-रहित पर रूप जानोगे, जिसके जाननेसे मनुष्य संसारमें फिर उत्पन्न नहीं होता (३९) हे अर्जुन ! अपने आपको योगमें लगाकर तथा सर्वत्र समदर्शी होकर सब भूतोंमें अनुगत आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखो (४३) ।'

आत्माका स्वरूप क्या है ?:—

'त्रैलोक्यके चित्तोंका जो भीतरसे प्रकाशक और ज्ञानियोंके अनुभवमें साक्षीरूपसे आरूढ है, वही मैं आत्मा हूं (४६) अनुभव-योग्य विषयोंसे निर्मुक्त, सर्वव्यापी, सब शरीरोंमें सूक्ष्म अणुस्वरूपसे जो स्थित है, वही आत्मा है (४८) जैसे सब प्रकारके दूधोंमें घृत स्थित है वैसे ही सब पदार्थों और सब शरीरोंमें आत्मा स्थित है (४९) जैसे सहस्रों घड़ोंके बाहर भीतर आकाश स्थित है, उसी प्रकार तीनों लोकके बाहर भीतर आत्मा स्थित है (५१) जैसे धागा सैकड़ों गुथे हुए मोतियोंको धारण करता है वैसे ही लाखों शरीरोंमें वर्तमान अगोचर आत्मा सबको धारण करता है (५२) ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त पदार्थोंमें जो सत्ता सामान्यरूपसे वर्तमान है, उसीको अजन्मा आत्मा कहते हैं (५३) आत्मामें, अहंकारसहित चित्तमें स्थित सृष्टि, प्रलय तथा अन्य विकार इसी प्रकार उदय होते हैं जैसे समुद्रमें जलके हिलोरे । (५८) जैसे सब पर्वत पाषाणमय, सब वृक्ष काष्ठमय और सब तरङ्ग जलमय हैं, वैसे ही सब पदार्थ आत्ममय हैं (५९) ।'

'हे महाबाहो ! तुम्हारे हितके लिये मैं पुनः उत्तम वचन कहता हूं । उनको तुम प्रीतिपूर्वक सुनो (५४ । १) हे कौन्तेय ! इन्द्रिय तथा उनके विषय शीतोष्णादि सुख-दुःखके देनेवाले और उत्पत्ति एवं विनाशशील हैं । इसलिये

उनका तुम त्याग करो (२) साक्षी चेतन आत्मा, शरीरके भीतर स्थित रहनेपर भी न सुखोंसे प्रसन्न होता है और न दुःखोंसे ग्लानिको प्राप्त होता है (६) हे भारत! सुख-दुःख, लाभ-हानि, तथा जय-पराजयका ध्यान न करके शुद्ध ब्रह्ममें तन्मय हो जाओ। तुम तो ब्रह्मरूप समुद्र हो (२०) जो कोई जिस विषयमें चित्तको लगाता है, वह निःसन्देह ही उसको प्राप्त कर लेता है। सत्य ब्रह्मके प्राप्त करनेके लिये तुम ब्रह्ममय हो जाओ (२३) हे अर्जुन! तुम फलकी अभिलाषासे नहीं अपितु अपना कर्त्तव्य समझकर कर्मोंको करो। कर्मोंके न करनेमें भी तुम्हें आसक्ति नहीं होनी चाहिये। सङ्गका त्याग करके और योगमें स्थित होकर कर्म करो (२६) कर्मोंमें आसक्ति, मूढ़ता, तथा अकर्मण्यताको त्याग, समदर्शी, समतायुक्त होकर जो कार्य मिले उसे करते हुए स्थित रहो (२७) कर्मोंके फल-में आसक्तिको त्यागकर नित्य तृप्त और निराश्रय होकर कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेवाला भी कुछ नहीं करता (२८) हे अर्जुन! जो मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें करके कर्मेन्द्रियोंद्वारा फलकी अभिलाषासे रहित होकर कार्य करता है वह उत्तम संन्यासी है (३७)।'

'हे अर्जुन! न तो भोगोंको त्यागना चाहिये और न भोगोंकी इच्छा करनी चाहिये, किन्तु यथाप्राप्त भोगोंको भोगते हुए समभावपूर्वक रहना चाहिये। (५२।१) परम तत्त्वज्ञानका आश्रय लेकर सङ्गरहित पुरुषके सब कामोंको करते रहनेपर भी उसमें कर्तृत्वका भाव नहीं आता। (६)।'

'असत् पदार्थका भाव और सत्का कभी अभाव नहीं हो सकता (१२) जिससे यह सब जगत् व्याप्त है उस आत्माको तुम अविनाशी सत् रूप जानो, क्योंकि इस अव्यय-का कोई नाश नहीं कर सकता (१३) इस देहवान् तथा नित्य अविनाशी और अप्रमेय आत्माके देह तो अनन्त हैं। इसलिये हे भारत! तुम युद्ध करो (१४)'

अर्जुन प्रश्न करेंगेः–

'हे भगवन्! मनुष्य किस प्रकार यह अनुभव करता है कि वह मृतक है? और स्वर्ग, नरक क्या हैं? (१७)।'

भगवान् उत्तर देंगे :–

'भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, इन सबके संघातको अपना रूप समझनेवाले जीव शरीरोंमें स्थित हैं (१८) वह जीव वासनासे इस प्रकार खींचा जाता है जैसे कि रस्सीसे बछड़ा। और वह देहमें, पिञ्जरेमें पक्षीकी भाँति रहता है। (१६) वासनाके वशमें हो, देशकालानुसार जर्जर देहसे जीव उसी प्रकार निकल जाता है जैसे कि वृक्षके पत्तेसे रस (२०) इन्द्रियोंको साथ लेकर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जीव फूलसे गन्धको ग्रहण-कर वायुके सदृश जाता है। (२१) वासनाके अतिरिक्त किसी दूसरे कारणसे देह प्राप्त नहीं होता। वासना त्यागसे देह भी क्षीण होता है और उसके क्षीण होनेसे परम पद प्राप्त होता है (२२) हे कौन्तेय! देहसे जीवके निकल जानेपर वह इस प्रकार निष्क्रिय हो जाता है, जैसे वायुके शान्त होनेसे वृक्ष (२५) जब छेदन भेदन आदिसे शरीरमें चेष्टा प्रतीत नहीं होती, तब जीव-रहित देहको मृतक कहते हैं (२६) वह प्राणमूर्ति जीव आकाशमें, अपनी वासनाओं में सर्वदा लिप्त होनेके कारण जहां तहां नाना प्रकारके आकारोंको अनुभव करता है (२७)।'

अर्जुनः—

'हे जगत्पते! जगत्की स्थितिके कारण जीवके स्वर्ग, नरक, सृष्टि आदिके विषयमें सम्भ्रमका क्या कारण है? (३५)।'

भगवान्:—

'दीर्घकालके अभ्याससे प्रौढ़ स्वप्नके तुल्य वासनाके ही कारण संसार भ्रमयुक्त ज्ञान होता है (३६)।'

अर्जुनः—

'हे देवदेवेश! यह वासना कैसे पैदा हुई और इसका नाश कैसे होता है? (३७)।'

भगवान्:—

'वासना मूर्खता और मोहसे पैदा होती है एवं अनात्मामें आत्मभावना इसका स्वरूप है। यह आत्मज्ञान-रूपी महाज्ञानसे नष्ट होती है। (३७) अपने ही संकल्पसे जब आत्माका रूप कलुषित हो जाता है, उसी वासनामय आकारको जीव कहते हैं। (४१) संकल्पके अभावसे ज्ञान-द्वारा वासनाओंसे मुक्त एवं अविनाशी आत्माके स्वरूपको मोक्ष कहते हैं। (४२) जो वासना-रहित नहीं है वह समस्त धर्मोंपर चलनेवाला और सर्वज्ञ भी हो तो भी पिञ्जरेमें बन्द सिंहके सदृश बद्ध ही है। (५७।८) जिसके चित्तरूपी

भूमिमें किञ्चिन्मात्र भी वासनाका बीज है तो वह बीज महान् संसाररूपी वनके रूपमें परिणत हो जाता है (९) और अभ्याससे जब हृदयमें सत्य आत्मज्ञानरूप अग्नि प्रज्वलित होती है तब वासनारूप बीज दग्ध हो जानेके कारण पुनः अङ्कुरित नहीं होता। (१०) जिसके वासना-बीज दग्ध हो गये हैं वह सुख-दुःखादिसे वैसे ही निर्लेप रहता है जैसे जलमें कमलपत्र (११)।'

अर्जुन कहेंगेः—

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ और आत्मज्ञानका स्मरण हो गया। अब मैं सन्देहरहित हूं और आपकी आज्ञाका पालन करूंगा (१८।१) हे भगवन्! आपके वचनसे समस्त शोकको त्याग कर मेरी बुद्धि उसी प्रकार विकसित हो उठी, जैसे सूर्योदयसे कमलिनी (१५)।'

इस प्रकार कहकर गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन जिनके भगवान् सारथि होंगे, सन्देहरहित होकर रणलीला करेंगे' (१६)।'

भगवान् श्रीकृष्णका संक्षिप्त लीला-चरित

(लेखक—कलाभूषण पं० श्रीनिवासाचार्यजी द्विवेदी)

दोर्भ्यां दोर्भ्यां व्रजन्तं व्रजसदनजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तं,
मन्दं मन्दं हसन्तं मृदुमधुरवचो मेति मेति ब्रुवन्तम्।
गोपालीपाणितालीतरलितवलयध्वानमुग्धान्तरालं,
वन्दे तं देवमिन्दीवरदलनिभलश्यामलं नन्दबालम्॥

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥

लोचन मीन, लसै पग कूरम, कोल, धराधरकी छबि छाजै।
ए बलि, मोहन सांवरे, राम, हैं दुर्जन राजनको हनि काजै॥
हैं बलमें बल, ध्यानमें बुद्ध, लखे कलकी, त्रिपदा सब भाजै।
मध्य नृसिंह हैं कान्हजूमें सिगरे अवतारनके गुण राजै॥

भगवान् श्रीकृष्णका लीला-चरित अत्यन्त हृदयग्राही और नर-तनको ही नहीं, चराचरको पावन करनेवाला है। इस बातको प्राचीन कालसे हिन्दू मानते आये हैं। यह विमल चरित श्रीमन्महाभारत, हरिवंशपुराण, श्रीमद्भागवत, जैमिनीयाश्वमेध आदिमें सविस्तर निरूपित है। एक बङ्गाली विद्वान्ने श्रीमद्भागवतसे भी चमत्कृत स्वरूप देकर आनन्द-वृन्दावन-चम्पूमें बाल-चरित वर्णन किया है। इनमेंसे सार-भूत संक्षिप्त चरित नीचे दिया जाता है।

अयोध्यामें श्रीरामचन्द्रजीके राजत्वकालमें यमुना-नदीके दक्षिण तटपर शत्रुघ्नने लवणासुरका वधकर मधुवन नामक सुरम्य उपजाऊ प्रदेश अपने अधीन कर लिया था। इस देशका नाम शूरसेन देश है। पहले इस देशमें मधु नामक राक्षसने निवास कर राजधानी नियत की थी, वह मधुपुरी, मधुरा, मथुरा नामसे प्रसिद्ध हुई। शत्रुघ्नके वंशजोंका राज्य इस पुरीमें बहुत समय तक रहा था। उस वंशके अस्त हो जानेपर शूरसेन-देशमें यादव, अन्धक, भोज, कुकुर, दाशार्ह और वृष्णि इन सात चन्द्रवंशीय क्षत्रियोंने निवास किया। इनमें यदुवंशियोंकी प्रधानता थी। इसी वंशके जमींदार भोज राजाके वसुदेव माण्डलिक थे। वह यमुना-नदीके पार गोवर्धन पर्वतपर,-जो उनकी निजी जागीर थी,-निवास करते थे। उस समय कृषि, गोरक्षा और व्यापार क्षत्रियोंका व्यवसाय था। प्रायः सभी क्षत्री हजारों गो-समुदायका पालन करते और जहां स्वच्छ हवा तथा चारा-पानीकी सुविधा होती वहीं निवास करते थे। इसी कारण ये गोप कहे जाते थे। वसुदेव सभीके अग्रणी नेता थे, अन्य सभी गोप इनकी आज्ञाको शिरोधार्य करते थे। इस समय शूरसेन-देशके राजा उग्रसेन थे और उनकी राजधानी मथुरा[1] थी। यह राजा पापभीरु और सदाचारी थे, इससे प्रजा सुखी थी। इनका कंस नामका पुत्र महादुष्ट हुआ। उसने अपने

१—'अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका। पुरी द्वारावती, चैव सप्तैता मोक्षदायकाः॥' इस वचनानुसार सभी हिन्दू इन सातों पुरियोंको मोक्ष देनेवाली मानते हैं, तथापि मथुरा सबसे कुछ विशेषता रखती है:—'काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके, तासान्तु

भाइयोंकी सहायता लेकर पिताको कैद कर लिया और स्वयं राजशासन करने लगा। वह अपनी प्रजाको बड़ी ही निर्दयता-से विविध भांति छलने लगा। कंसकी बहिन देवकीका विवाह वसुदेवके साथ हुआ, बरातकी विदाई होनेपर बहिनपर प्रेम दिखाते हुए स्वयं कंस बहिनका रथ हांकने लगा। मार्गमें आकाशवाणी हुई, उसे सुनकर अत्याचारी कंस प्रेमको भूल बहिनको मारनेके लिये तैयार हो गया। बड़ी कठिनाईसे वसुदेवने समयोचित वाक्योंद्वारा सन्तुष्ट कर उसे बहनकी हत्यासे निवृत्त किया। परन्तु स्वभावतः नीच तथा स्वार्थपरायण होनेसे कंस अपने बहनोईको घोर शत्रु मानने लगा। भविष्यमें आकाशवाणीके कथनानुसार वसुदेवके किसी पुत्रसे हानि न हो, इधर वसुदेव निर्वंश रहे और इसके वंशसे हानि न पहुँचे, यह सोचकर कंसने वसुदेवके पुत्रोंको जन्म लेते ही मार डालनेका अनुक्रम पकड़ लिया। इस तरह देवकीके क्रमशः छः पुत्र मार डाले गये। सातवींबार गर्भमें राम थे। वैकुण्ठनाथने योगमाया-को आज्ञा दी, उसने उस गर्भको कंसकी बहिन देवकीके पेटसे उड़ाकर वसुदेवकी बड़ी स्त्री रोहिणी—'जिसको कंसके डरसे वसुदेवने नन्दजीके यहां भेज दिया था'—के उदरमें रख दिया। यथासमय वे रोहिणीके गर्भसे अवतरित हुए। इधर देवकीके गर्भपातका होहल्ला हो गया! रोहिणीके पुत्रका नाम ज्योतिषियोंने गर्भाकर्षण जानकर सङ्कर्षण रक्खा। इन्हीं सङ्कर्षणके राम, बलराम आदि नाम रक्खे गये। आठवीं बार देवकी गर्भवती हुई, तब उसमें तेजपुञ्जता और विलक्षणता पाकर कंस अति चिन्तातुर हुआ। आकाशवाणी कदापि मिथ्या न होगी और यही गर्भज तेरा वध करेगा, श्रीनारदने यह भविष्य कंसको निश्चित करा दिया था। अतएव कंसने वसुदेवको पक्के कोटके कारागारमें सपत्नीक कैद कर रक्खा। यथासमय वसुदेव-देवकीके पुत्र हुआ, किन्तु अन्यान्य पुत्रोंके अनुसार सामान्यतासे नहीं। यहां तो अजन्माका प्रादुर्भाव हो गया 'आविरासीज्जनार्दनः।' उस समय श्रीहरि-की योगमायाने अपना पूर्ण विकाश किया। आधी रातका समय था, संसारमें सन्नाटा छा गया। देवकी-वसुदेवको भगवान्‌के दिव्य-दर्शन हुए:—

*तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं, चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं, पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥

दोनोंने भगवान्‌की भिन्न भिन्न प्रकारसे स्तुति की और मनभर झाँकी करनेके बाद उनसे सामान्य बालक बननेके

मध्ये मथुरैव धन्या। या जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहैर्मुक्तिं ददातीह सदा मनुष्यान्॥' अर्थात् काशी आदि सप्तपुरियोंमें मथुरा ही धन्यवादार्ह है। क्योंकि, इस पुरीमें जन्म होनेसे,—जन्म कहीं हुआ हो, यहाँ लाकर उपवीत संस्कार कर देनेसे,—कहीं जन्मा हो, कहीं रहा हो, मृत प्राणीके शवको फूंक देनेमात्रसे भी यह पुरी मनुष्योंको सदा मुक्ति दे देती है। 'मथुरा' शब्द राममन्त्रका विलोम 'मरा' जिसे जपकर वाल्मीकि लुटेरेसे महर्षि हो गये हैं। 'मथुरा नामतो मध्ये, यदि नो मध्यमाक्षरम्' मथुरा शब्दके बीचका अक्षर 'थु' निकाल देनेसे 'मथुरा याही नामतें, मध्यको अक्षर खोय। जो कोउ यामें भेद बतावे, ताके मुखमें सोय। अर्थात् थू। 'राम-अहै सोई कृष्ण है, राम कृष्णको मूल। जो कोउ यामें भेद दिखावे, वाके मुखमें धूल॥' श्रीरामकी अयोध्यापुरी है। जिसका अर्थ है कि वह पुरी युद्धके योग्य नहीं। विश्वविजयीकी राजधानी होनेके कारण उसे कोई जीत नहीं सकता। रावणने हठ ठानकर अनरण्य राजासे युद्ध किया था। अनरण्यने जर्जरशरीर हो शाप दिया था, उसीके कारण श्रीराम उनके वंशज बने और लङ्कापर आक्रमण कर रावणका सपरिवार संहार किया। श्रीकृष्ण भगवान् राम 'बलभद्र'को ज्येष्ठ भ्राता बहुमानार्थक साथ ले अवतीर्ण हुए। ऐसे त्रिलोकीनाथकी मथुरामें क्या दशा हुई?

'ब्रह्म मैं ढूंढ्यो पुराणन वेदन भेद सुन्यो चितयौं गुन-चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूं कितहूं वह कैसो सुरूप औ कैसे सुभायन॥
हेरत हेरत हारि फिरयो 'रसखान' बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यो कहूं वह कुञ्जकुटी-तट बैठ्यो पलोटत राधिका-पायन॥'

सेस महेस गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अखण्ड अनन्त, अछेद अभेद सो वेद बतावैं।
नारद-से सुक व्यास रटें, पचि हारें तऊ पुनि पार न पावैं॥
ताहि अहीरकी छोहरियां, छछिया भरि छाछपै नाच नचावैं।

'दधि मधुरं मधु मधुरं, द्राक्षा मधुरा सिताऽपि मधुरैव।
मधुरादपि मधुरतरं, मधुरानाथस्य सङ्गीतम्॥'

*'वसुदेवः तं ऐक्षत।' वसुदेवने उसको देखा। किसको? अद्भुत बालकको। बालक अर्थात् बच्चेको नहीं, 'बालः को यस्य' ब्रह्मा

लिये प्रार्थना की। माता पिताको अगला भविष्य समझाकर श्रीकृष्ण शिशु बन गये। वसुदेव उन्हें लेकर उसी काली रात-की घोर अन्धेरीमें मूसलधार पानीकी झड़ीके अन्दर मथुरा-से गोवर्धन ही नहीं, गोकुल तक सब जगह सब फाटक खुले पा, बे-रोकटोक नन्दके घर पहुंचे। वहां यशोदाके जन्मी हुई कन्या,—जिसे वह जानती भी न थी,—को लेकर वसुदेव अपने पूर्वस्थानमें आ पहुँचे। सब दरवाजे ज्योंके त्यों बन्द हो गये। इस देवीने रोकर कुहराम मचा दिया। कंसको समाचार मिला, वह उसी समय राक्षसी आवेशसे दौड़ा आया और हजार प्रार्थना करनेपर भी बहिनकी एक भी न सुन कन्याको उससे छीनकर शिलापर पछाड़ दिया। वह दिव्यशक्ति तुरन्त तेजपुञ्ज होकर कंसके हाथसे निकल गयी और आकाशमें जाकर कंसको सचेत कर कहने लगी कि 'तेरा अन्तकारी अवतीर्ण हो गया है।' यही नन्दकन्या आदि-शक्ति महामाया मानी जाती हैं। अनेक स्थानोंमें इन्होंने जाकर अनेक नाम धारण कर लिये हैं।

कंसने अपने शत्रुका नाश कर लेनेमें प्रसन्नता मानी और वह राजप्रासादमें चला गया। देवकी-वसुदेव बन्धन-से छोड़ दिये गये। इधर नन्द-यशोदाके घर पुत्रजन्मकी बधाइयां होने लगीं। सभी व्रजवासी प्रसन्न हुए। पुत्रका नाम श्रीकृष्ण रक्खा गया। नन्दजी गोकुलके नम्बरदार 'पटेल' थे। परोपकारी और सदाचारी थे। श्रीकृष्णने जल-पूजाके दिन शकटासुरका घात किया। चौथे महीने नन्द तो मथुरामें लगान चुकाने गये। लगान दे देनेके बाद वसुदेवसे भेट और बातचीत हुई। उसमें गोकुलके उत्पातोंकी भविष्य-वाणी इन्होंने की। इधर कंसकी भेजी हुई पूतना बच्चोंको मारती मारती नन्दके घर भी पहुँची और श्रीकृष्ण भगवान्-को स्तन पिला कर उनकी कृपासे परलोक सिधार गयी, सद्गति पा गयी। 'पूतना तें तारां सो तो पूत-नाते तारां है।'

श्रीकृष्ण स्वभावतः चतुर, चञ्चल, सभी छोटे बड़ोंको प्रिय एवं चित्ताकर्षक थे। यशोदाको बालक्रीड़ाकी दौड़ादौड़में क्षणभर भी चैन नहीं लेने देते। धूलखोर लड़का मांको प्यारा होता है, इसलिये बुढ़ापेके एकमात्र खिलौने पुत्रके खिलवाड़में माता-पिताका समय चैनसे कट जाता था। श्रीराम-कृष्णकी जोड़ी थी। दोनों प्रतिदिन गोप-गोपियों-के प्रेमकी सामग्री बन गये। क्रमशः चलना-फिरना सीखे, पूरे पांच वर्षके भी न थे कि पहले बछड़ोंका चराना इनके अधीन हुआ। बालगोपालोंपर श्रीकृष्णकी प्रभुता जम गयी और वे सभी उनके नेतृत्वमें सघन वृक्षोंकी छायामें बछड़े चराने और विविध खेल खेलने लगे। इसी खेल-खेलमें अघासुरको मारा। ब्रह्माने बछड़े चुरा लिये। पूरे एक वर्षके लिये बछड़े और गोप नहीं रहे, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने अपनी सर्वव्यापकता प्रकट कर सभी काम ज्योंका त्यों चलाया।

> यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं,
> यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम्।
> यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं,
> सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

जितने बाल-गोपाल थे, जितने बछड़े थे, छोटे-बड़े, शरीर कदके ऊँचे नीचे, जिनके जैसे हाथ-पैर उँगलियां आदि थीं, जिनके जैसे छड़ी-डण्डे, सींगी, वंशी, पत्ते, सिकहर आदि थे, जिनके जैसे वस्त्र-भूषणादि थे 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इस उक्तिके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण सर्व-स्वरूपी बन गये। वर्ष भरमें ब्रह्माने यह देख अचम्भा किया, तब वे सभी श्रीकृष्ण हो गये! ब्रह्माका गर्व चूर्ण हो गया। अतः उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति कर उनसे क्षमा-प्रार्थना की।

उस समयकी पद्धतिके अनुसार नन्दने गोकुलसे अपना पड़ाव उठाकर वहांसे भी अच्छे स्थानमें ले जाना निश्चित किया। तदनुसार सभी गोप-गोपियां अपने गाय-बैल और गृहस्थीको ले लेकर वहाँसे उत्तर वृन्दावनमें पहुँचे। वहीं पड़ाव पड़ा। श्रीराम-कृष्णको गो-पालनका अभ्यास भली-

---

जिसका पुत्र है उस ईश्वरको। 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहम्प्र-पद्ये।' अथवा 'बालेषु बालेषु कानि ब्रह्माण्डानि यस्य।' जिसके रोम रोममें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं, उस ब्रह्माण्डनायकको! उस बालक 'ईश्वर' के कमलदलके समान विशाल नेत्र थे, या 'अम्बुजाया: ईक्षणं यस्मिन्' लक्ष्मीजीकी दिव्यदृष्टिके पात्र अर्थात् वे लक्ष्मीपति थे, या 'अम्बुजौ ईक्षणे यस्य' चन्द्र और सूर्य नेत्र हैं जिनके, चार भुजाएं थीं। शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म इन दिव्य आयुधोंको साथ लिये थे, श्रीवत्सका चिह्न था, गलेमें कौस्तुभमणि लटक रही थी, पीताम्बर पहने, घनश्याम छवि थी। बहुमूल्य वैदूर्य मणिके किरीट और कुण्डलोंकी झलकसे सुन्दर घुंघराले घने बाल दमक रहे थे। दिव्य कंधोनी, कड़े, भुजबन्द आदि भूषणोंसे दिव्य देह झमझमा रहा था। 'उस समय कारागारका अँधेरा भाग गया, क्योंकि 'अनन्त-कोटि-सूर्य-सम-प्रभ' भगवान् प्रत्यक्ष थे।

भाँति हो गया था। मुरली बजानेमें तो श्रीकृष्ण एक ही थे। इनकी बंसीकी टेर सुनकर पशु-पक्षी भी कर्तव्यशून्य हो जाते थे। ऐसी अवस्थामें गोप-गोपियोंके मोहित होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है? ये दोनों भाई बाल-मित्रोंके साथ कुश्तीका अभ्यास करने लगे। देखते ही देखते दोनों मल्लविद्यामें निपुण हो गये। दूध-मक्खन जैसा सात्त्विक आहार, विशुद्ध जल-वायु तथा प्रेमपगे शुद्ध विचारोंसे पहलेसे ही वे सशक्त थे, अब दोनों मल्लविद्यासे वज्रदेही बन गये। इनके विलक्षण सौन्दर्यसे व्रजके सभी नर-नारी मोहित होने लगे।

इसी व्रजके पास गायोंको पानी पिलाने-योग्य गहरे पानीका एक ह्रद था। जिसके अन्दर कालिय नाग रहता था और उसके विषसे वह पानी जहरीला हो गया था। जो उसके पानीको पीता, वही मर जाता था। भगवान् श्रीकृष्णने पहले उस नागको उभाड़ा, फिर उसका मान मर्दन कर उसे वहाँसे निकाल बाहर किया। इसी अवसरमें धेनुकासुर और प्रलम्ब नामक दो राक्षस गायोंके झुण्डमें जा घुसे और उन्हें भगा ले जानेका प्रयत्न करने लगे श्रीराम-कृष्णने उन्हें भी मार कर मुक्त किया। प्रलम्बासुरके घातके कारण श्रीरामका नाम बलराम और प्रलम्बहा पड़ गया। शरदृतुके आरम्भमें गोपगण पर्जन्याधिपति इन्द्रकी वार्षिकी पूजा करते थे। श्रीकृष्णके समझाने पर सबका विचार परिवर्तित हो गया और उन्होंने इन्द्रके बदले गोवर्धनकी पूजा की, जिससे बारहों महीने गायोंको पेटभर चारा मिलता था। इस प्रमाद पर इन्द्रको बड़ा क्रोध आया और उसने सात दिन रात धक्खड मूसलधार वृष्टि कर व्रजवासियोंका सर्वनाश करनेका पूर्ण प्रयत्न किया। श्रीकृष्णने अपने हाथकी छोटी उंगलीके सहारे गोवर्धन पर्वत उठाकर सभी गोप-गोपी और गायोंको बचा लिया। इतना ही नहीं, वरन् पर्वतके ऊपर सुदर्शन चक्र रख दिया, जिसके तेजसे वर्षाका जल तपे हुए लौहके समान भस्म होता गया। सारा देश सूखा ही बना रहा।

'देख देख मघनकी सेन अकुलानी,
रह्यो सिन्धुमें न पानी अरु पानी इन्द्र-मुखमें।'

अब तो श्रीकृष्णके अलौकिक पराक्रमकी आश्चर्यरूपी बातें देशभरमें फैल गयीं। लोगोंमें यह चर्चा चली कि बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंकी मुखाकृति एकसी है, अतः ये दोनों ही वसुदेवके पुत्र हैं। 'श्रीकृष्ण नन्द-नन्दन नहीं हैं।' धीरे धीरे कंस तक यह चर्चा गयी और श्रीकृष्णके जन्म-सम्बन्धी सभी बात ज्ञात होते ही कंस क्रोधसे आगबबूला हो गया। वसुदेवने हमारे साथ घात किया है, यह विचारकर कंसने मथुरामें एक सभा इकट्ठी की। उसने राजसभामें वसुदेवको खोटी-खरी सुनायी और यह निश्चय कर लिया कि अब अपने यहाँ श्रीराम-कृष्णको बुलवाकर कुश्तीके अखाड़ेमें सुप्रसिद्ध मल्ल चाणूर और मुष्टिकद्वारा वे मरवा डाले जायं। दोनोंको लानेके लिये व्रजमें अक्रूर भेजे गये। अक्रूरने जाकर सत्कारपूर्वक श्रीराम-कृष्णसे सभी वृत्तान्त कह दिया। पश्चात् कंसके भेजे हुए रथमें श्रीराम-कृष्णको बिठलाकर जब अक्रूर मथुराको रवाना हुए, तब व्रजवासी नर-नारियोंने राम-कृष्ण-वियोग पर भारी कोलाहल मचा दिया। इस मथुराकी यात्राका मौलिक वर्णन कवियोंने बहुत ही अच्छा किया है, जिसके श्रवण करनेसे आज भी हृदय गद्गद हो जाता है। अन्तमें निश्चयानुसार अखाड़ेमें चाणूर और मुष्टिकके साथ बड़ी देर तक रोमाञ्चकारी युद्ध होता रहा। सुकुमार किशोरोंके साथ भयानक मल्लयुद्ध अत्याचार है, इसपर आपसमें कहा सुनी करते हुए मथुरा शहरभरके आ-बाल-वृद्ध-वनिता युद्धदर्शनार्थ वहां एकत्र हो गये। परिणाममें दोनों मल्ल दोनोंके द्वारा मार डाले गये और बाद उनके हल्लसे शल-तोशल भी काम आ गये। चारोंके मर जानेपर शेष मल्ल अखाड़ा छोड़ भाग खड़े हुए! इसके पूर्व राजद्वारमें प्रवेश करते समय एक कुवलयापीड़ नामक मस्त हाथीसे रुंधवा डालनेका आयोजन भी कंसने किया था, किन्तु वह प्रयत्न भी निष्फल गया। श्रीराम-कृष्णने हाथीको मारकर उसके दोनों दाँत अपने हाथोंमें ले लिये। जब कंसने देखा कि ये गोप-सुत किसी तरह काबूमें नहीं आते, तब वह अधीर हो उठा। उसने श्रीराम-कृष्णपर कठोर वाग्बाणोंकी झड़ी लगा दी। श्रीकृष्ण अवसर देख,—जिस तरह सिंह हरिणपर छापा मारता है, उसी तरह एक उछालमें ऊँचे राजमञ्चपर जा चढ़े, और वहांसे कंसको जमीनमें पछाड़कर ऊपरसे आप भी कूद पड़े एवं तत्काल ही उसकी जीवनयात्रा समाप्त कर दी।

तदनन्तर उन्होंने माता-पिता देवकी-वसुदेवके चरणोंमें मस्तक लगाकर प्रणाम किया। माता-पिताके स्नेहपूर्ण नेत्राश्रुओंसे पुत्रोंका अभिषेक हुआ। कंसकी अन्त्येष्टि करा अशौच-निवृत्तिके बाद मथुराका राजसिंहासन उग्रसेनको सौंपकर श्रीराम-कृष्ण अपने जन्मदाता माता-पिताके घर रहने लगे। यहां पर यह कह देना अनावश्यक न होगा कि, मथुराकी राजगद्दीपर विजयी राम-कृष्ण ही बैठनेके अधिकारी थे। लोकमत भी सानुकूल था, उग्रसेन भी सहर्ष सिंहासन देनेको तैयार थे,

किन्तु निष्काम कर्मयोगका आदर्श स्थापन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उसका अस्वीकार कर अपने ही कर-कमलोंसे उग्रसेनके सिर पर राजमुकुट रख दिया। कैसी निःस्पृहता है? कितनी उदारता है! इसकी प्रशंसा कौन न करेगा?

नन्दके घरमें रहते हुए उपवीतादि संस्कार नहीं हुए थे। वसुदेवने यथाविधि उपनयनादि संस्कारोंसे सम्पन्न कर दोनों पुत्रोंको वेदादि और धनुर्विद्याकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उज्जैनमें सान्दीपन आचार्यकी सन्निधिमें भेज दिया। अगाध बुद्धिके सागर दोनों शिष्योंने अति शीघ्र चौदह विद्या तथा चौसठ कलाओंका अध्ययन समाप्त कर दिया। गुरु-शुश्रूषासे गुरु-दम्पतीको पूर्ण सन्तुष्ट किया। एक दीन विप्रसुत सुदामा इन दोनोंका सहाध्यायी गुरु-भाई था। विद्याध्ययन समाप्तकर गुरुको अनोखी गुरुदक्षिणा (मृतपुत्र ला) देकर श्रीराम-कृष्ण मथुरामें लौट आये। व्रजवासियोंके समान मथुरावासियोंका भी अनूठा प्रेम इनपर हो गया। नर-नारी, बालक सभी इनपर सदा सन्तुष्ट रहते थे।

कंसके दो पटरानियाँ थीं, जिनके नाम थे अस्ति और प्राप्ति। ये दोनों जरासन्धकी राजकुमारियाँ थीं। उन्होंने पिताके समीप जाकर अपने वैधव्यका बदला राम-कृष्णसे लेनेकी प्रार्थना की। पिता सार्वभौम था, अन्य सब उसके संस्थानिक थे। करूष देशके राजा दन्तवक्र, चेदि देशके शिशुपाल, विदर्भके भीष्मक और उसके ज्येष्ठ पुत्र रण-शूर रुक्मी, काश्मीरके गोनर्द, सौवीरके शैब्य, इसी तरह काशी, विदेह, मद्र, त्रिगर्त, शाल्व और दरद आदि देशोंके राजाओंकी सहायता लेकर जरासन्धने मथुरापर चढ़ाई कर दी। श्रीराम-कृष्णके सेनापतित्वमें घोर युद्ध हुआ और २८ दिनोंमें युद्धकी समाप्ति हुई। जरासन्ध हारकर लौट गया। पर शत्रुसे बदला लेनेकी उत्कट अभिलाषासे उसने फिर सेना बटोरी। जब उसकी फिर चढ़ाई देखी, तब राम-कृष्णने यह सोच कर कि,-लोगोंको सभी सङ्कट हमारे कारणसे हो रहे हैं,-इन्होंने दक्षिण जाना निश्चित कर लिया और मथुरा छोड़कर चल दिये। जरासन्धने इस समाचारको पाकर मथुराकी चढ़ाई बन्द कर दी। उसने श्री राम-कृष्णका पीछा किया और गोमाच पर्वतकी तलहटीमें उन्हें जा घेरा। घनघोर युद्ध होनेपर जरासन्धकी सेना समाप्त हो गयी और वह अपनी राजधानीमें लौट गया।

श्रीकृष्णजीने भी फिर मथुराकी राह ली। रास्तेमें करवीरके पुत्र शृगालसे मुठभेड़ हो गयी और द्वन्द्वयुद्ध होने-पर उसे वहीं ठण्डा कर दिया। वहां भी उसीके पुत्रको करवीरका राज्य देकर श्रीकृष्णजी मथुरामें पहुँचे। इस समय इनकी अवस्था बाईस तेईस वर्षकी थी। इसी अवसरमें भगवान्की बुआ कुन्ती (वासुदेवकी बहिन) अपने पति राजा पाण्डुकी मृत्यु हो जानेसे विधवा हो गयी। तब भगवान्ने अक्रूरको हस्तिनापुर भेजा और धृतराष्ट्रको सन्देश कहलाया कि वह हमारी बुआके पुत्रों (धर्म, भीम और अर्जुन आदि)का प्रेमसे पालन करें। अब मथुरामें परराज्य-का भय न होनेसे प्रतिदिन बढ़ती होने लगी। थोड़े ही दिनोंमें कुण्डिनपुरमें भीष्मक राजाने अपनी कन्या रुक्मिणी-का स्वयंवर ठाना और उसके लिये देश-देशान्तरके राजाओं-को निमन्त्रण भेजा। इसमें भीष्मक और उसके ज्येष्ठ पुत्र रुक्मी जरासन्धके पक्षपाती थे, अतएव उन्होंने श्रीकृष्णको निमन्त्रण नहीं भेजा। रुक्मिणीकी इच्छा श्रीकृष्णको ही वरनेकी थी, किन्तु वह कैसे पूर्ण हो? यह बात उसकी समझमें न आयी। अन्तमें 'रुक्मिणीने एक ब्राह्मणद्वारा श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें प्रार्थनापत्र भेजा' यथासमय भगवान् श्रीकृष्णकी सवारी वहां जा पहुंची। शिशुपाल आदि राजाओंने प्रसिद्ध किया कि 'श्रीकृष्ण राज्याभिषिक्त नहीं हैं, अतएव उन्हें इस स्वयंवरमें आनेका अधिकार नहीं।' यह सुनकर श्रीकृष्ण-पक्षीय एक राजाने अपना राज्य श्रीकृष्णको दिया और उसपर राज्याभिषेक कर दिया। विरुद्ध पक्षवाले यह देखकर अपने देशोंको लौट गये। श्रीकृष्णने अपने मित्रका राज्य उसे लौटा दिया और आप मथुरामें लौट आये। स्वयंवरका कार्य स्थगित हो गया। इधर जरासन्ध और कालयवनने मथुराको फिर घेर लिया। श्रीकृष्णने युक्ति-पूर्वक कालयवनको दूसरेके हाथसे नष्ट करा दिया। (काल-यवनके सम्मुख होकर श्रीकृष्ण भागे, उसने उनका पीछा किया। वे एक गुहामें जा छिपे और अपना पीताम्बर वहां सोये हुए राजा मुचकुन्दपर डाल दिया। पीछे कालयवन पहुंचा और सोये हुएको श्रीकृष्ण समझकर जगाया। मुचकुन्दने ज्यों ही उठकर उसकी ओर देखा त्यों ही वह जलकर भस्म हो गया।) जरासन्ध श्रीकृष्णके भागनेकी खबर पा लौट गया। श्रीकृष्णने अपने ही कारण बारम्बार मथुरामें विपत्तिका सामना होते देखकर उस शहरको छोड़-कर अन्यत्र जा बसना निश्चित किया और वे पश्चिममें समुद्रके भीतर द्वारका द्वीपमें जाकर यदुवंशियों समेत वहीं निवास करने लगे।

द्वारका नगरीकी रचना अत्यन्त रमणीय थी। वहां

बलनेपर यदुवंशकी सन्तति-सम्पत्ति समुन्नत होती गयी और जनताने द्वारकाको इन्द्रपुरीकी उपमा दे दी। द्वारकावासी श्रीकृष्णके मथुरामें न रहनेपर रुक्मिणीके विवाहकी सलाह हुई और रुक्मीके कथनानुसार शिशुपालके साथ विवाह होना निश्चय हो गया। इधर श्रीकृष्णका चित्त रुक्मिणीपर और रुक्मिणीका श्रीकृष्णपर था। इस सम्बन्धकी सूचना रुक्मिणीद्वारा मिलते ही ठीक विवाहके समय श्रीकृष्ण कुण्डिनपुर पहुँचे और उन्होंने युक्तिसे रुक्मिणीका हरण किया एवं उसे रथमें बिठलाकर द्वारकाकी राह ली। इस समय श्रीकृष्ण पचीस वर्षके और रुक्मिणी सोलह वर्षकी होनी चाहिये। सुमुहूर्तमें विवाह सम्पन्न किया गया। यथासमय रुक्मिणीके प्रद्युम्न नामक अति सुन्दर पुत्र हुआ। इसके सिवा श्रीकृष्णके ७ स्त्रियां और थीं। उनके नाम सत्यभामा, नाग्नजिती, सत्या, सुदत्ता, लक्ष्मणा, जाम्बवती, मित्रविन्दा और कालिन्दी थे। इन सभीके दस दस वीर पुत्र तथा सुलक्षणा कन्याएं हुईं। जाम्बवतीका पुत्र साम्ब बड़ा शूरवीर था। इन आठों स्त्रियोंपर श्रीकृष्णका प्रेम समान था, श्रीमद्भागवतमें इन आठोंके विवाह कारणपरत्व भिन्न भिन्न वर्णित हैं। श्रीकृष्णने पिता वसुदेवके हाथसे अनेक यज्ञ और दान धर्मादि कराये। प्राग्ज्योतिषपुरमें नरकासुरने सोलह हजार एकसौ सुन्दरी राजकन्याओंको कैद कर रक्खा था। श्रीकृष्णने युद्ध कर नरकासुरको मार डाला। राजकन्याओंकी प्रीति अपने ऊपर देखकर उन्हें द्वारकामें लाकर उनके साथ विवाह कर लिया। इस प्रकार श्रीकृष्णने गृहस्थाश्रममें मध्यावस्थाका पूर्वार्द्ध द्वारकामें समाप्त किया।

धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि सौ पुत्र पाण्डुके पुत्रों 'धर्म' भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवके साथ घोर द्वेष रखते थे और अन्तमें उनके नाशका उपाय भी उन्होंने आरम्भ किया। पाण्डवोंका विनाश हो जानेपर सम्पूर्ण राज्य भोगनेको मिलेगा, इस दुराशासे दुर्योधनादिने एक लाखका घर बनवाया और उसमें पाण्डवोंको रक्खा। एक दिन आधीरातके समय उस घरमें आग लगा दी। पाण्डवोंको अपने भाइयोंका कपट पहले ही विदित हो जानेके कारण वे आग लगनेसे पूर्व ही उस घरसे निकल गये थे अतः वे बच गये। कौरवोंको यही निश्चय था कि पाण्डव लाक्षाभवनमें जल गये, किन्तु द्रौपदीके स्वयंवरमें पाण्डव फिर प्रकट देख पड़े! मत्स्य-वेधके पणमें जीत हो जानेके कारण द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंके साथ हुआ। श्रीकृष्णको पाण्डवोंका जीवित रहना देखकर अति हर्ष हुआ। कौरवोंको इस बातका भय हुआ कि पाण्डव यादवों और पाञ्चालदेशियोंकी सहायता लेकर अपना राज्य लेनेको कुरुक्षेत्रपर चढ़ाई करेंगे। इसलिये उन्होंने विदुरको भेजकर द्वारकासे श्रीकृष्ण, कुन्ती और पाण्डवोंको हस्तिनापुरमें बुलवा लिया, उन्हें समझा बुझाकर यमुना-तटके जङ्गली प्रदेश देकर हस्तिनापुर और गङ्गा-तटके उपजाऊ प्रदेश अपने रख लिये। फिर श्रीकृष्णकी सलाहसे पाण्डवोंने इस नये देशमें खाण्डव वनके पास इन्द्रप्रस्थ नामक राजधानी बसायी। श्रीकृष्ण भाई पाण्डवोंको इस नयी राजधानीमें रखकर द्वारका चले गये। द्रौपदीको श्रीकृष्ण अपनी सगी बहिनके समान मानने लगे। पाण्डवोंकी समृद्धि प्रतिदिन समुन्नत होती गयी। अर्जुनने प्रण-रक्षार्थ बारह वर्षके लिये तीर्थयात्रा की। वहांसे लौटती बार वे द्वारकामें ठहरे और बलरामकी बहन (श्रीकृष्णकी सौतेली बहन) सुभद्रासे विवाह किया। आगे चलकर पाण्डवोंने श्रीकृष्णकी सलाहसे खाण्डव वन जलाकर उसके प्रान्तीय भागको निवासके योग्य बना लिया। प्रतिदिन पाण्डवोंका वैभव बढ़ता गया। मयासुर दानवने अपनी पूरी निपुणतासे इन्द्रप्रस्थको स्वर्गपुरी बना दिया। पाण्डवोंकी सुकीर्ति दिग्दिगन्तमें व्याप्त हो गयी।

अपने चचेरे भाई पाण्डवोंको निकम्मा जङ्गली प्रदेश देकर अपने लिये सुरम्य प्रदेश रख लिया था, तोभी पाण्डवोंकी समृद्धि बढ़ती हुई देखकर कौरवोंके अन्तःकरणमें मत्सर और विद्वेष उत्पन्न हुआ। इसी बीचमें पाण्डवोंने राजसूय यज्ञ आरम्भ किया। उसमें देशी विदेशी राजाओं और भाई कौरवोंको भी निमन्त्रित किया। उसी समय पाण्डवोंकी इतनी समुन्नति देखकर वे सभी आश्चर्यसे दङ्ग हो गये। बस, कहना न होगा कि कौरवोंने पूर्ण निश्चय कर लिया कि किसी न किसी उपायसे पाण्डवोंकी सम्पत्ति हड़प कर ली जाय। राजसूय-यज्ञके पहले दुष्ट और बलिष्ठ राजा जरासन्धको विजय करनेकी सम्मति श्रीकृष्णने दी, तदनुसार युधिष्ठिरने भीम और अर्जुन-समेत श्रीकृष्णको मगध देश भेजा। उन्होंने जाकर जरासन्धको रण-निमन्त्रण दिया और अट्ठाइस दिन द्वन्द्व युद्ध होनेपर अन्तमें श्रीकृष्णके सङ्केतानुसार भीमद्वारा जरासन्ध मार डाला गया। वहां जरासन्धके कारागारमें हजारों क्षत्रिय कैद थे। श्रीकृष्णने उन सबको कैदसे मुक्त कर उनके वंशजोंको उनका राज्य दे दिया। फिर भीमार्जुन सहित वे इन्द्रप्रस्थमें लौट आये। श्रीकृष्णके द्वारा जरासन्धके मरवाये जाने और उनकी दिनोंदिन वैभव-वृद्धि होते देखकर विद्वेषी पौण्ड्रक वासुदेव श्रीकृष्णसे लड़ने

आया। उसने बनावटी दो और हाथ लगा लिये तथा वह शङ्ख-चक्रधारी, चतुर्भुज वनमाली श्रीकृष्ण बन गया। सच्चे श्रीकृष्णने इस बनावटीसे मुकाबिला किया और अन्तमें सुदर्शन-चक्रसे उसका शिरच्छेद कर डाला।

युधिष्ठिरने श्रीकृष्णकी आज्ञा लेकर अपने चारों भाइयोंको चारों दिशाएं विजय करनेको भेजा, यों अपनी प्रभुता अनेक देशोंमें जमाकर माण्डलिकोंको निमन्त्रित कर राजसूय-यज्ञ आरम्भ किया। इस महोत्सवमें उसने देवताओंको हविष्यान्नोंसे, ब्राह्मणोंको दक्षिणाओंसे, राजाओंको अनुपम सत्कारोंसे, और अन्यान्य सभीको पक्वान्नोंसे सन्तुष्ट किया। अन्तमें आये हुओंके व्यक्तिगत पूजा-सत्कार करनेकी विधि हुई। तब ज्ञानवयोवृद्ध भीष्मपितामहकी सम्मतिसे भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजा हुई। उस समय जरासन्धका सेनापति और चेदि देशका राजा शिशुपाल झट्ट उठा और खड़ा होकर कहने लगा—'पाण्डवो! तुम लोग मूर्खता करके कृष्णको अग्रपूजाका बहुमान क्यों देते हो? यदि वृद्धावस्थाके कारण इसे सत्कारके योग्य समझा हो तो इससे वृद्ध इसका पिता यहां है, उसे क्यों न पूजा जाय? यदि आचार्यत्वसे सत्कारकी नियुक्ति हो तो महात्मा द्रोणाचार्य यहां पूजार्ह हैं। वेदज्ञ होनेके कारण श्रीकृष्ण श्रेष्ठ माना गया हो तो सर्वश्रेष्ठ वेदवेत्ता महर्षि वेदव्यास यहां उपस्थित हैं, उनकी बराबरीका दूसरा नहीं। यदि राजा समझ कर प्रतिष्ठा बढ़ाते हो तो श्रीकृष्णसे बढ़कर दुर्योधन, भीष्मक, कृतलक्षण, पाण्ड्य, शाल्व, शल्य और रुक्मी आदि महान् महान् राजा यहां उपस्थित हैं। इस तरह भाषण कर कठोर शब्दोंमें उसने श्रीकृष्णको डांटा। परन्तु महात्मा भीष्मपितामहने श्रीकृष्णकी योग्यता समझाकर कहा कि 'भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानवृद्ध, बलवृद्ध और धनवृद्ध हैं एवं ये सभी द्विजातियोंमें श्रेष्ठ हैं। ये वेद-वेदाङ्गोंके वेत्ता, शास्त्र-बल सम्पन्न होकर सभीके आचार्य पिता और गुरु हैं।' शिशुपाल इस प्रशंसासे चिढ़ गया और अवाच्य बकने लगा। दो ही चार घड़ीमें बात द्वन्द्व-युद्ध तक आ पहुंची। अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने सुदर्शन-चक्रसे शिशुपाल और विषवादका अन्त कर दिया। उस समयके श्रीकृष्णके साहस, पराक्रम और प्रसङ्गावधानताको देखकर सभी सभासद् विस्मित हो गये। कुछ देर सन्नाटा रहा, पीछे शिशुपालके वधसे सभीने भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा तथा स्तुति की। यथासमय यज्ञ समाप्त हुआ। निमन्त्रित मण्डली अपने अपने स्थानोंमें लौट गयी, किन्तु यह राजसूय यज्ञ मानो भावी भारत महायुद्धके लिये नींवका पत्थर रक्खा गया!

पश्चात् कौरवोंने पाण्डवोंको भौजाई द्रौपदी-सहित हस्तिनापुरमें बुलवाकर कपटपूर्ण जुएसे उनका वैभव अपहरण करनेकी युक्ति सोची। इस कार्यमें दुर्योधनने महाकपटी मामा शकुनिकी सहायता ली। थोड़ेमें यह कहना चाहिये कि युधिष्ठिरने इस द्यूतमें अपना समग्र ऐश्वर्य गँवा दिया। इतने ही में समाप्ति नहीं हुई, द्यूतके पणमें पांचों पाण्डव लगाये गये और वे सभी हार गये, इसलिये पाण्डवोंको कौरवोंकी दासता करनेका प्रसङ्ग आ पहुंचा! अन्तमें युधिष्ठिरने परम साध्वी द्रौपदीको भी पणमें लगा दिया और वे उसे भी हार गये। बस, फिर क्या था, दुर्योधनने द्रौपदीको दासी समझा और उसे दुःशासनके हाथ चोटी पकड़कर भरी सभामें घसीट मँगवाया, तथा सभीके सामने दुःशासनने उसके वस्त्र खींचकर उसे नङ्गी कर देना चाहा। नीचोंकी नीचता पर भीष्मादि सज्जनोंको तर्स तो अवश्य ही आया, पर किसीने कुछ सहायता न की। तब द्रौपदीने पहले भीष्मादिको, फिर पतियोंको पुकारा, किन्तु जब कोई कुछ भी न कर सके, तब उसने आर्त्त-त्राण-परायण भगवान् श्रीकृष्णकी गुहार मचायी। भक्तवत्सल भगवान्ने उस समय स्वयं प्रकट होना अनुचित समझ कर अहिल द्रौपदीकी लज्जा रख लेनेके लिये दशावतारके अतिरिक्त ग्यारहवां वस्त्र-अवतार लिया। मराठीके कविने कहा है कि 'हा अम्बरावतार छिन्नलज्जा-रक्षणार्थ अवतार।' अर्थात् यह आश्रित-जनकी लज्जा रखनेके लिये भगवान्का ग्यारहवां अवतार हुआ। दुःशासन द्रौपदीकी साड़ी खींचने लगा पर वहां वस्त्रोंका ढेर लग गया। द्रौपदी वस्त्रोंमें छिप गयी, पर वस्त्रोंकी समाप्ति नहीं हुई। इस आश्चर्य पर निर्लज्जोंको लज्जित हो जाना था, पर लज्जित होनेवाले हों तो फिर निर्लज्ज ही कैसे? वस्त्रोंका खजाना पाकर वे वस्त्र उठा कर ले जाने लगे, किन्तु ज्यों ही दोनों हाथोंसे वस्त्र उठाये त्यों ही सब अन्तर्धान हो गये! दुःशासन वस्त्र खींचते खींचते थककर सिर नीचा करके बैठ गया, सब सभासदोंने उसे धिक्कारा और द्रौपदीकी प्रशंसा की। अन्धे धृतराष्ट्र भी इस घटनासे विस्मित हो प्रसन्न हो गये और द्रौपदीसे वर माँगनेको कहा। द्रौपदीने वर नहीं, प्रार्थना की कि वे उसके पाँचों पतियोंको दासतासे मुक्त कर दें और उनका राज्य उन्हें लौटा दें। विदुरके कहनेपर धृतराष्ट्रने इस प्रार्थनाको स्वीकार

१ कुलपुरोहित। २ मन्त्र-उपदेश और ज्ञानदाता।
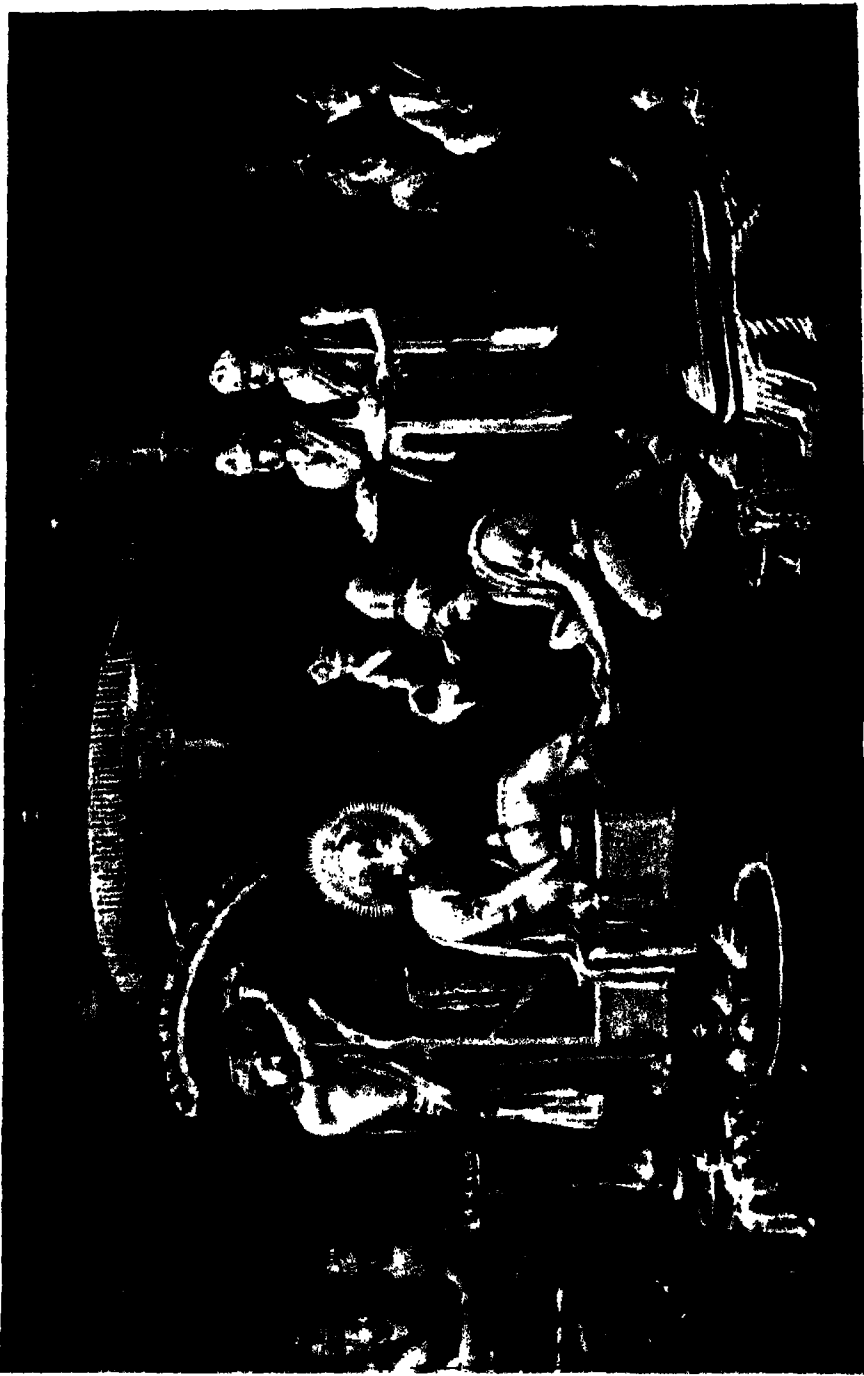
अग्रपूजा कर रहे पाण्डव स-मुद भगवान की।
जगद्गुरु नरदेहधारी परब्रह्म महान की॥

कर लिया, किन्तु दुर्योधनने यह न मानकर कहा कि एक बार फिर द्यूत हो और अब जो हारे वह बारह वर्ष वनवास भोगे तथा एक वर्ष अज्ञातवासमें रहे। अज्ञातवासमें पता लग जाय तो फिर बारह वर्ष वनवास भोगे। यही निश्चय हुआ। कपट द्यूत तो था ही, अतः पाण्डव हार गये और बारह वर्षका वनवास उन्हें भोगना ही पड़ा।

श्रीकृष्णको यह समाचार द्वारकामें पीछेसे मिला। उसी अवसरमें शाल्वने द्वारकामें घेरा डाला और श्रीकृष्णको खूब तङ्ग किया। महाभारतमें लिखा है कि शाल्वने विमान (इस वक्तके अनुसार हवाईजहाज) का उपयोग किया था। अन्तमें श्रीकृष्णने उसे मार ही तो डाला। कुछ दिनोंके बाद श्रीकृष्णने वनवासी पाण्डवोंसे भेंट की और उन्हें आश्वासन दिया कि जिन कौरवोंने यह छलछिद्र रचा है, उनका सर्वनाश करके पाण्डवोंको वे पूर्व स्थितिमें पहुँचा देंगे। इस समय श्रीकृष्णकी ७० वर्षकी उम्र होनी चाहिये। अगले १३ वर्ष श्रीकृष्णने द्वारकामें तपस्या और वैराग्यकी लीलामें बिताये। उपनिषदोंका पठन किया और उनकी श्रेष्ठ योगियोंमें गणना होने लगी। छांदोग्य उपनिषद्में (अ०-३-१६-४) कहा है कि देवकीनन्दन श्रीकृष्णने घोर आङ्गिरससे आत्मविद्या सीखी थी।

वनवाससे लौटनेपर पाण्डवोंने कौरवोंसे अपना राज्य माँगा, किन्तु उन्होंने नहीं दिया, दुर्योधनने सुईकी नोककी बराबर भी जमीन न देनेकी प्रतिज्ञा कर ली! श्रीकृष्णने मध्यस्थ बनकर बहुतेरा समझाया, पर उसकी कुछ भी परवा न कर वे युद्ध करनेको तैयार हो गये। इस महायुद्धमें कौरवोंकी ओरसे ११ अक्षौहिणी (३३ लाख) और पाण्डवोंकी ओरसे ७ अक्षौहिणी (२१ लाख) सेना इकट्ठी हुई। श्रीकृष्णने दोनोंको सहायता देना स्वीकार किया। कौरवोंको सेना दी, और पाण्डवोंमें शूरवीर अर्जुनका स्वयं सारथि बनना स्वीकार किया और युद्धमें समय समयपर योग्य सम्मति दे देकर पाण्डवोंको यशस्वी बनाया। महाभारतमें इस घनघोर संग्रामकी कथा पढ़नेसे रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। परिणाममें कौरव वंश निर्वंश हो गया और पाण्डव फिर सार्वभौम हो गये। युद्धके आरम्भमें अर्जुनको मोह उत्पन्न हुआ और वह युद्धसे मुंह मोड़नेपर उतारू हो गया। भगवान् श्रीकृष्णने कर्तव्य-कर्म-सम्बन्धी अमूल्य उपदेश देकर उसके मोहको दूर कर दिया। यही दिव्य उपदेश गीतोपनिषद् या श्रीमद्भगवद्गीता है। इसी उपदेशके कारण श्रीकृष्णको धर्मसंस्थापककी पदवी मिली। प्रस्तुत 'गीतांक' में इसी महान् दिव्य उपदेशका गुणगान गाया जा रहा है। भारतीय युद्धके समय श्रीकृष्ण ८३ वर्षके थे। शेष अपना समय उन्होंने विदेह राजाके समान ब्रह्मोपासनामें व्यतीत किया। फिर यदुवंशियोंमें मद्यपानका दुर्व्यसन बढ़ा। सम्पत्तिसे मदान्ध हो वे अनीति करने लगे। श्रीकृष्णने समझ लिया कि अब इनका अन्त अवश्यम्भावी है।

'काल दण्ड गहि काहु न मारा। हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा॥'

कुछ ही दिनोंमें यदुवंशियोंमें कलह होकर सभी वीरोंका नाश हो गया। बलरामजी इसके पूर्व ही योग-समाधिमें लीन हो गये थे। उसी आश्रममें श्रीकृष्ण गये और योगीके समान ब्रह्मासन लगाया। वे ध्यानस्थ थे और एक व्याधने श्रीकृष्णके चरणोंमें मणि चमकती देख उसे मृग समझकर बाण मार दिया। श्रीकृष्ण अपनी दिव्य लीला पूरी कर स्वधाम पधारे। द्वारकाके इस घोर अनर्थकी खबर पाकर अर्जुन वहाँ आया। वह अनाथ स्त्री-बच्चोंको साथ लेकर अपनी राजधानीमें जाने लगा। बस, श्रीकृष्णकी द्वारकाको समुद्रने अपने पेटमें रख लिया। अन्त समय ज्योतिष और गणितशास्त्रज्ञोंने श्रीकृष्णकी अवस्था १०१ वर्षकी मानी है। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माने १२५ वर्ष बतलाकर परधाममें पदार्पण करनेकी प्रार्थना की है।

यह भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका अति संक्षिप्त दिग्दर्शन है। अवतार-कालमें श्रीकृष्णके किये हुए कार्योंकी कुछ कल्पना इससे की जा सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण अवतारी पुरुष हैं, ऐसी अवस्थामें अवतार-दृष्टिसे उनके द्वारा कौन कौनसे भारी कार्य हुए, इसका विचार करनेके पहले जो भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं श्रीमुखसे अवतार कार्यकी व्याख्या की है, उसका अर्थ भलीभाँति समझ लेना चाहिये।

भगवान्ने गीतोपदेशमें अर्जुनसे कहा है:—

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

उक्त उपदेशानुसार कार्यक्षेत्रपर दृष्टि डालनेसे ठीक समझमें आ जायगा कि वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण अवतार हैं। अब पहले हम—

परित्राणाय साधूनाम्—इसपर विचार करते हैं। देवकीके उदरसे श्रीकृष्णका आविर्भाव हुआ। बाद उन्हें नन्द गोपके घर ले जाकर रक्खा गया। ये गोपगण क्षत्रिय थे, किन्तु रक्तपातादिका व्यवसाय त्याग कर वे गोपालन और गोरसविक्रयसे अपना निर्वाह करते थे।

इस व्यवसायके करनेवाले अपने उन बन्धु-बन्धुओंके समान-जो राजनीति-कुशल हैं-न पराक्रमी, न युद्धविशारद, न सम्पत्तिमान् ही हो सकते हैं। वसुदेवकी बहिनका विवाह पाण्डुराजासे हुआ था, इससे ज्ञात होता है कि यादवोंका व्यवहार राजघरानेसे बना था। यद्यपि सम्बन्ध बना था तो भी आर्थिक दृष्टिसे इनकी स्थिति ठीक नहीं थी। वे सच्छील, सदाचारी और प्रेमी थे। श्रीकृष्ण छोटेसे बड़े उन्हींमें हुए। अतः उनके सात्विक गुणोंका विकास उनमें भी हुआ। दीन स्थितिमें समय बितानेवाले गोप-गोपियोंके लिये उनके अन्तःकरणमें आदर उत्पन्न हो गया। प्रेमका विकास होकर सभीमें ममता पड़ जानेपर स्वार्थ-त्यागरूपी अनुपम गुण मनुष्यके शरीरमें प्रकट हो जाता है। श्रीकृष्णने स्वार्थत्याग-पूर्वक जो बड़े बड़े कार्य किये उनका कारण लोकदृष्टिसे छोटेपनमें गोप-गोपियोंके सहवासमें स्थिति हो सकता है। अकिञ्चन, दही-भातपर निर्वाह करनेवाले श्रीकृष्णको राज्य-वैभव प्राप्त होनेपर वह उसे ठुकराते और राज्य उनके वारिसों-को देते हैं, क्या यह स्वार्थ-त्यागकी कम मात्रा है?' कंस-जरासन्ध और शृगाल आदि कितने ही आसुरी स्वभाववाले राजाओंके वध करनेके बाद उनके राज्योंपर अपना आधिपत्य जमानेके विचारने तो श्रीकृष्णके मनको स्पर्श भी न किया! इतना ही नहीं, वरन् स्वयं आगे होकर उनके योग्य वारिसों-को वे राज्यादि दे दिये। जिन यदुवंशियोंमें अपनी बाल्यावस्था व्यतीत की थी, उनके गुणोंपर लुब्ध होकर उनकी आर्थिक स्थिति सुधारनेका श्रीकृष्णने प्रयत्न किया। समय पाकर यादव धनाढ्य हो गये और उनकी द्वारका इन्द्रपुरीके समान मानी जाने लगी।

एक दीन हीन गुरुभाई सुदामा श्रीकृष्णके सम्पन्नैश्वर्यता-में उनसे मिलने आ गया, उस समय आधुनिक धनियोंके समान,-जो ऐसे मित्रोंकी पहचान भी भूल जाते हैं-, न कर अपने सगे भाईके समान उससे मिले। स्त्रियों समेत सादर सेवा की और उसका दारिद्र्य दूर कर दिया। कौरव और पाण्डव दोनों इनके समान सम्बन्धी थे, किन्तु पाण्डवोंका सत्पक्ष है, यह जानकर अर्जुनके सारथ्य-कार्यको,-जो नीच सेवकका है-करना स्वीकार किया! खाण्डवप्रस्थ जलाकर प्रदेश आबाद करनेमें पाण्डवोंकी सहायता की। राजसूय-यज्ञमें रसोइयोंके साथ काम किया और आगन्तुकों-के पाद-प्रक्षालनका काम सहर्ष अपने जिम्मे लिया, अर्थात् साधु-परित्राणके लिये समय और प्रसङ्गवश जो जो करना उचित मालूम हुआ, वह सभी ऊंचा नीचा कार्य आपने सहर्ष और सोत्कण्ठ होकर किया।

यह जगत् त्रिगुणात्मक है। रजोगुण और तमोगुणसे सत्त्वगुण श्रेष्ठ है; अतः जब जब सत्त्वस्थ पुरुषोंको रजोगुणी और तमोगुणियोंसे त्रास पहुंचे। तब तब सात्विकोंका रक्षण करना, यह अपना प्रथम कर्तव्य है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे यही कहा। सीधे सरल उपायोंसे ही साधु पुरुषोंका संरक्षण किया जा सकता है, ऐसा नहीं। श्रीकृष्णने दुर्योधनको खूब समझाया और पारस्परिक कलहाग्नि मिटानेकी भरसक चेष्टा की, किन्तु जब दुर्योधनने किसी तरह भी न माना, तब पाण्डवोंको युद्धके लिये खड़े होनेकी सम्मति दी। तात्पर्य यह कि साधुपुरुषोंका संरक्षण-कर उन्हें दुष्टोंके दाँवपेचसे छुड़ानेका मार्ग एक ही खुला रहता है और वह है धर्म-युद्ध। इस बातको जानकर अवतार कार्योंमेंके दूसरे-

'विनाशाय च दुष्कृताम्' को भी श्रीकृष्णने साङ्गोपाङ्ग पार कर दिया। बाल्यावस्थामें पूतना, शकट, तृणावर्त आदि नीचोंका संहारकर कालियनागके घोर त्राससे सभीको छुड़ाया। मधुकैटभको मारा। कंसको मारकर मथुरावासियों-को सुखी किया। नरमेध करने पर तुले हुए महामत्त जरासन्धको मारकर हजारों कैदी राजाओंको बन्धनसे छुड़ाया। शिशुपाल, शृगालादि परविप्रसन्तोषी राजाओंका नाशकर प्रजाको सुखी किया। अन्तमें दुर्योधनादि दुष्ट, अन्यायी, अत्याचारी कौरवोंका सवंश नाश करानेके लिये अर्जुनके सारथ्यको अङ्गीकार कर पाण्डवोंद्वारा उनका विध्वंस करा दिया। अपने सगे सम्बन्धी यादव दुर्व्यसनमें फंसकर घोर कृत्य करने लगे तब श्रीकृष्णने उनके साथ प्रेममें आड़ी लकीर दे दी। पृथ्वीका भार हलका करनेको उनका नाश कर देनेमें भी श्रीकृष्णने आगापीछा नहीं किया! इस तरह दुष्टकृत्य करनेवालोंका विनाश करनेके लिये श्री-कृष्णने अलौकिक पराक्रम, साहस, बल और निश्चय संसारमें प्रत्यक्ष कर दिये। अवतारके कार्योंमें तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्यः—

'धर्मसंस्थापनार्थाय' है। इसे भी भगवान् श्रीकृष्णने किया। इस जगह यह प्रश्न हो सकता है कि उस समय धर्मसंस्थापन करनेकी क्या आवश्यकता थी? भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि:-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

हे भारत! जब जब धर्मकी क्षीणता होती है और अधर्म-की प्रबलता बढ़ती है, तब मैं अवतार लेता हूं। अर्थात् जब कि श्रीकृष्णको धर्म-संस्थापन कार्य भारतीय युद्धके समय करना है, तब अधर्मकी प्रबलता कैसे हुई थी? यह देखें। प्रधानतासे समाजकी व्यवस्था सुचारुरूपसे चलकर व्यवहार भली-भांति चलाया जानेके लिये इस लोकमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थ-चतुष्टयको कैसे प्राप्त कर लेना है, इसका यथार्थ ज्ञान जन-समाजमें रहना ही चाहिये। केवल सात्त्विकी वृत्तिकी वृद्धि हो जानेसे ही समाजकी प्रगति नहीं होती। इहलोकमें सत्कीर्ति और परलोकमें सद्गति प्राप्त होनेके लिये समाजके नेताओंके हाथोंसे सत्त्व, रज-तम तीनों गुणोंके यथोचित सम्मिश्रणसे कार्य होने चाहिये। यदि पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें यथार्थ ज्ञान मिटकर मनमानी कल्पनाएँ उठ खड़ी हुई, तो उसका विपरीत परिणाम होगा। एक ओरसे प्रवृत्ति-मार्गके बर्तावपर जोर, तो दूसरी ओर निवृत्तिपर धूम मच जाती है। सच्ची उन्नतिकी दृष्टिसे प्रवृत्ति-मार्गमें लगना जितना अहितकारी है, केवल निवृत्ति-मार्गका ही पथिक बन जाना भी उतना ही हानिकारी है। इन दोनोंको समकक्ष बनाये रखना चाहिये। प्रवृत्ति और निवृत्ति, अथवा प्रवृत्तिपरत्व निवृत्तिका होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जहां इन दोनोंके तोलका काँटा किसी एक ओर झुका कि तुरन्त ही समाजका कांटा भी झुका ही समझिए। इसका परिणाम यह होगा कि समाजको अपने गन्तव्य मार्गका यथार्थ ज्ञान न होकर वह किसी भी कुपथमें जा फँसेगा। इसी स्थिति-को सुधारनेके लिये छोटे बड़े धर्मसंस्थापक संसारमें वारम्वार अवतीर्ण हुए हैं। सूक्ष्म रीतिसे विचार करनेपर यह बात निश्चित हो जायगी कि सभी धर्मसंस्थापकोंने न्यूनाधिक्यरूप-में यही कार्य किया है।

पाण्डव और कौरव ये दोनों उस समयके निवृत्ति तथा प्रवृत्तिके पुरस्कर्ता थे, ऐसा कहा जा सकता है। एक पक्षने संन्यस्त-वृत्तिका स्वीकार किया तो दूसरेने सर्वथा प्रवृत्तिको ही गले लगाया। इससे जगह जगह धर्माधर्म और कर्तव्या-कर्तव्यका विचार कर पैर रखनेवाले पाण्डव डरते डरते ऐहिक कर्तव्योंका आचरण करते। उसी प्रकार दुर्योधनादि और उनके मित्र जरासन्धादि बे-मान होकर प्रवृत्तिपक्षके चाहे जैसे अनर्गल कार्य कर डालनेमें प्रवृत्त रहते थे। धर्मार्जुनादि निवृत्तिमार्गीय समाजके नेतागण कर्तव्य-कर्मसे परावृत्त होकर धर्म-सम्बन्धी कल्पनाओंको अपने मस्तिष्कमें स्थान दे बैठते थे। अनेक देवोंकी उपासना, उन देवोंको सन्तुष्ट करनेके लिये यज्ञयागादि विविध उपाय, मोहसे बुद्धिभ्रंश हो जानेके कारण कर्तव्यसे विमुखता, देह और आत्माके सम्बन्धमें योग्य ज्ञानका अभाव, सद्धर्मके रहस्यको पहचानने-की समाजके अङ्गमें अयोग्यता आदि अनेक बातें श्रीकृष्ण-ने देखीं और अवसर पाकर योग्य सन्धिमें अर्जुनको दिव्य सद्धर्मका उपदेश दिया। उसके द्वारा उसके मोहको मिटाकर उसे कर्तव्य कार्य करनेमें प्रवृत्त कर दिया। इसी दिव्य उपदेश-का नाम है 'श्रीमद्भगवद्गीता।' यह उपदेश जिस तरह उद्दाम प्रवृत्ति-मार्गसे खींचकर निवृत्ति-मार्गकी ओर लगा देनेवाला है, उसी तरह थोथे निवृत्तिपरायणको भी कर्तव्यकी दिशा सुझा देनेमें समर्थ है। आज हजारों वर्षोंसे इस उपदेशने अपनी धाक भारतवर्षमें जमा रक्खी है। समाजमें राह छोड़कर कुराह चलनेवालोंको बारम्बार सावधान कर देना इसका प्रधान कर्तव्य है। अज्ञानान्धकारको मिटानेवाला यह कोटि सूर्योंके समान है। इस गीतामृतपानके यागसे इस देशमें असंख्य मनुष्योंको परम धाम और शान्तिका लाभ मिला।

गीताके गुरुने स्त्री, शूद्र, पतित और चाण्डालों पर्यन्तको भी उपदेशामृत पान कराकर दिव्य परम धामका द्वार सबके लिये खुला कर दिया है। वर्तमान समयमें तो भगवान् श्रीकृष्णकी सुमधुर वाणीका आलाप पृथ्वीके सभी धर्मवालों और सभी तरहकी मनोवृत्तिवालोंके कानोंमें पड़ते ही उन्हें अत्यानन्द देता है और वे संसारकी ओर नई और विशुद्ध दृष्टिसे देखने लगते हैं। बुद्धिवादको लेकर भक्तिका ऐकान्तिक रहस्य जो भगवान् श्रीकृष्णने बताया, वह संसारको परम वन्दनीय हो गया है। इस दृष्टिसे देखनेपर भगवान् श्रीकृष्ण न केवल भारतवर्षके ही लिये, वरन् संसारभरके लिये विश्वधर्म-प्रतिपादक धर्म-संस्थापक और जगद्गुरु हैं, ऐसा कहना अनुचित न होगा।

हमारा उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्णके संक्षिप्त चरित-लेखन-का है। संक्षेपमें हमें कई महत्त्वकी बातें छोड़ देनी पड़ी हैं। अब हम वसुदेव-देवकी-नन्दन, नन्द-यशोदादुलारे, जगन्मोहन, जगद्वन्द्य, श्रीपति, रुक्मिणीपति, राधावल्लभ, गोपी-जन-वल्लभ तथा अस्मदीय हृद्वल्लभ भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें सप्रेम मस्तक रखकर विश्राम लेते हैं।

नर-कपड़नको डरत है, नरक पड़नको नाहिं।
जस-दातनको करत हैं, जसदा-तनको नाहिं॥

कर्मयोगसे भगवच्चरणोंकी प्राप्ति

(लेखक—महन्त श्रीरघुवरप्रसादजी)

सभी शास्त्रोंमें भगवत्-प्राप्तिके निमित्त मुमुक्षुके लिये कर्म, ज्ञान तथा भक्ति यही तीन उपाय बतलाये गये हैं। इन तीनों साधनोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे यह ज्ञात होता है कि इनमें आन्तरिक रूपसे परस्पर कोई पार्थक्य नहीं है। परन्तु काल-गतिसे नियमानुसार जब किसी एकका विकाश होता है तो उनके बाह्यरूपमें न्यूनाधिकका भेद अवश्य हो जाता है। संसारमें घटने बढ़नेका क्रम लगा हुआ है। एकके बढ़नेमें दूसरेका प्रभाव स्वाभाविक ही घटता है। इस भावनाकी उत्पत्तिका कोई कर्त्ता अवश्य है। उदाहरणार्थ, महर्षि जैमिनी, बादरायण तथा नारदके नामोंका उल्लेख किया जा सकता है। महर्षि जैमिनीने अत्यन्त विस्तृत-रूपसे कर्मकाण्डके प्रभावकी स्थापना की। उसके पश्चात् महर्षि बादरायणकी असीम अनुकम्पासे ज्ञानकाण्डका प्रभाव प्रबल हुआ। देवर्षि नारद तथा शाण्डिल्य तो प्राचीन कालसे ही भक्तिके प्रधान आचार्य माने जाते हैं। किन्तु महाभारतके पूर्व ऐसा कोई भी महापुरुष नहीं हुआ, जो इन तीनोंको मिलाकर एक ही सर्वोपयोगी, सर्वांग-सुन्दर-रूपमें परिणत कर सका हो। विशेषतः इसी कारणसे भगवान् श्रीकृष्णका अवतार हुआ। भगवान् कृष्णने सनातन नियमात्मक विभिन्न सिद्धान्तोंको मथकर, समस्त शास्त्रोंका तथा सब तत्त्वोंका सारांश-रूप यह गीता-अमृत निकाला, साक्षात् भगवान्‌के श्रीमुखसे निकलनेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' पड़ा।

गीताकी यही विशेषता है कि इसने तीनों सिद्धान्तोंका स्वीकार करते हुए उन्हें परस्पर एक दूसरेका उपयोगी बना तीनोंका सम्मिश्रणकर मुक्तिका यथार्थ मार्ग बतला दिया। जिस कर्मयोगको ज्ञानकाण्डी लोग असंगत कहते थे, उसीको गीताने निष्काम बनाकर मोक्षप्राप्तिके लिये उपादेय बतलाया। अतएव आज अन्य विषयोंको छोड़कर हमें इस कर्मयोगपर ही कुछ कहना है। 'योग' शब्दके सम्बन्धमें बहुतसे तर्क-वितर्क हुए हैं, किन्तु श्रीकृष्ण भगवान् गीतामें योगका अर्थ भगवत्-प्राप्तिके निमित्त कर्म करनेकी कुशलता ही बतलाते हैं। 'योगः कर्मसु कौशलम्।'

देखिये! भगवान् कृष्ण निष्काम कर्म करनेके विषयमें कितना सुन्दर उपदेश देते हैं।

> 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
> न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥'

किसी भी मार्गके अनुसार कर्मोंको स्वरूपसे त्यागनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मनुष्य न तो कर्मोंके न करनेसे निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागनेमात्रसे सिद्धिको प्राप्त होता है।

> 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥'

फिर कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना रह भी नहीं सकता। सभीको प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश होकर कर्म करने पड़ते हैं।

> 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
> असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥'

इसलिये तू अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण कर, क्योंकि अनासक्त पुरुष, कर्म करता हुआ भी परमात्माको प्राप्त होता है।

> 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
> लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥'

(पूर्व कालमें) जनकादि ज्ञानीजन भी इसीप्रकार आसक्ति-रहित कर्म करके ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। इस तरह लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी कर्म करना ही योग्य है। देख! मुझे भी लोकहितार्थ कर्म करने ही पड़ते हैं।

> 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
> नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥'

हे अर्जुन! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा कोई भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्म ही करता हूँ। अतएव तू कर्म कर, फलकी आशा न कर। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' तेरा कर्ममें अधिकार है, फलमें कदापि नहीं। इन शब्दोंमें भगवान्‌ने निष्काम कर्मका अद्भुत प्रभाव बतलाया है।

सकाम भावसे कर्म करना इसीलिये निषिद्ध है कि वह बन्धनका कारण है। अब यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि बिना फलकी इच्छासे कर्म किया जाय तो आत्माको किस प्रकार शान्ति हो सकती है ?

इसका उपाय भगवान् इस प्रकार बतलाते हैं कि-

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

सारे कर्म मनसे मुझे अर्पण कर, आशा और ममता छोड़, विगत-विषाद होकर युद्ध कर। कितना सुन्दर आदेश है। मोक्षकी कैसी सुलभ साक्षात् सीढ़ी है! जिनके हृदयमें इस दुःखमय संसारके प्रति विरक्ति-वैराग्य हो, जो मायाके इस क्षणिक सुखको त्यागकर भगवत्-चरण-कमलोंके चञ्चरीक बनना चाहते हों, उन्हें गीतोपदिष्ट निष्काम कर्म करना आवश्यक है। क्योंकि निष्काम कर्म करनेसे मनकी शुद्धि होती है। मनकी परिशुद्धिसे ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानसे चिदानन्दका हृदयमें आभास होता है। उससे अहैतुकी भक्ति उत्पन्न होती है और उस भक्तिसे जीव भगवच्चरणोंको प्राप्त होता है।

गीतामें आदर्श मुक्तिवाद

(लेखक- कविराज पं० गयाप्रसादजी शास्त्री, साहित्याचार्य)

प्रकृति स्वभावतः त्रिगुण-तरंगमयी तथा परिणामिनी है। माया, शक्ति एवं प्रकृति ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। मङ्गलमय भगवान्की जिस जगज्जननी महाशक्तिको तीनों मीमांसादर्शनोंमें एकमत होकर 'माया' के नामसे एवं वैशेषिक-न्यायदर्शन आदि दर्शनग्रन्थोंमें 'शक्ति' के नामसे अभिहित किया जाता है, उसीको योगदर्शन तथा सांख्यदर्शनके प्रणेता महर्षिगण 'प्रकृति' के नामसे पुकारते हैं। सत्त्व, रज एवं तमोगुणकी साम्यावस्थाका नाम 'प्रकृति' है। प्रकृतिका कारण कुछ भी नहीं है, प्रकृति ही सबका कारण है। समस्त पदार्थोंका उपादान होनेके कारण प्रकृति परिच्छिन्न नहीं हो सकती, अतः प्रकृति अनादि तथा अनन्त है। प्रकृति समस्त सृष्टिका आदि उपादान है। प्रकृतिके परिणामसे ही समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति मानी गयी है। प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं, शेष सब अनित्य हैं। पुरुषके भोग तथा मोक्षके ही लिये इस प्रकृतिकी एकमात्र सत्ता है। यह समस्त संसार प्रकृतिका विलास है, अतः दुःखमय है। संसारमें सुख नामकी कोई भी वस्तु नहीं है। संसारके सभी पदार्थ दुःखसे ओतप्रोत हैं। यदि कहीं किसी विशेष स्थलके ऊपर सुखकी प्रतीति होती है, उसे भी दुःखमिश्रित ही समझना चाहिये। कारण, वहां भी किसी न किसी रूपमें परिणाम-तापके बीज विद्यमान ही रहते हैं। यह दुःख आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीन प्रकारका होता है। आध्यात्मिक दुःख पुनः दो प्रकारका होता है-एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। अनेक प्रकारके रोगादि-जनित दुःखको शारीरिक दुःख एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय तथा शोक आदि-जनित दुःखको मानसिक दुःख कहते हैं। इसी प्रकारसे देवता अर्थात् वात, वृष्टि एवं वज्रपात आदि-जनित दुःखको आधिदैविक तथा मनुष्य, हिंस्रपशु-पक्षी आदि-जनित दुःखको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। इन्हीं त्रिविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तथा अक्षय सुखकी प्राप्तिके लिये सभी दर्शनशास्त्रोंमें अपनी अपनी स्वतन्त्र विचारधाराके अनुरूप भगीरथ प्रयत्न किया गया है। सांख्यदर्शनमें तो 'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' इस सूत्रके द्वारा त्रिविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिको ही परम पुरुषार्थ माना है। सांख्यदर्शनमें तत्त्वज्ञान अथवा विवेकके ही द्वारा जीवको कैवल्य-प्राप्ति तथा उसके त्रिविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति मानी गयी है। वह तत्त्वज्ञान अथवा विवेक है—प्रकृति और पुरुषका भेदज्ञान। जिस समय यह जीव प्रकृति और पुरुषके भेदको जान जाता है, उसी समय वह प्राकृतिक बन्धन अथवा भवदुःखसे मुक्त हो जाता है। जबतक पुरुष प्रकृतिके अधीन रहता है, तबतक प्रकृति उसे मनमाने तौरपर अपनी रंगस्थलीमें अनेक प्रकारके नाच नचाया करती है। उस अवस्थामें पुरुष 'जीव'के नामसे पुकारा जाता है। किन्तु जिस समय पुरुष प्रकृतिके वास्तविक

रूपको देख लेता है, उसी समय वह पुरुष पुरुषोत्तम या मुक्त हो जाता है। फिर वह मुक्त पुरुष प्रकृतिके द्वारा कभी भी प्रवञ्चित नहीं हो सकता है। इस विषयपर 'सांख्यकारिका' में बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥

मेरा विचार है कि प्रकृतिसे अधिक सुकुमार या लज्जावती और कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृति 'एक बार पुरुषके द्वारा देख ली जानेपर' मैं पुरुषके द्वारा देख ली गयी हूँ, इस संकोच या विचारसे फिर कभी उस पुरुषके सामने नहीं आती। इस प्रकार सांख्यदर्शनमें तत्त्वज्ञान या प्रकृति-पुरुषके भेदज्ञानके द्वारा ही त्रिविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति अथवा मुक्ति मानी गयी है। फलतः सांख्यदर्शनमें ज्ञानके द्वारा ही कैवल्य-प्राप्तिका सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

भगवद्भक्तिके द्वारा कैवल्य-प्राप्ति

सांख्यदर्शनके समान ही गीताशास्त्रमें भी प्रकृतिको ही भवबन्धनकारिणी माना गया है। श्रीगीताजीमें भक्तप्रवर अर्जुनको उपदेश देते हुए भक्तवत्सल भगवान् कहते हैं-

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो! देहे देहिनमव्ययम्॥
(गीता १४। ५)

हे महाबाहो! अर्जुन! प्रकृति-सम्भूत सत्त्व, रज एवं तम ये तीनों गुण देहमें अविनाशी जीवात्माको बद्ध किया करते हैं। इस भगवद्वचनका यही तात्पर्य है कि द्रष्टा पुरुष दृश्य प्रकृतिके द्वारा जब बन्धनको प्राप्त होता है, तो त्रिगुण ही उसको आबद्ध करते हैं। पुरुष निःसङ्ग, नित्य मुक्त और निर्लेप होता हुआ भी त्रिगुणमयी प्रकृतिके द्वारा किस प्रकार जीवभाव प्राप्त करके आबद्ध हो जाता है? त्रिगुणमें चेतनको आबद्ध करके उत्पत्ति, स्थिति और लयक्रिया उत्पन्न करनेकी कैसी अद्भुत शक्ति है एवं त्रिगुणके अनुसार जीवकी क्या स्थिति होती है? इस विषयमें भगवान् स्वयं श्रीमुखसे अर्जुनको उपदेश देते हैं। हे निष्पाप! अर्जुन!! इन गुणत्रयमेंसे सत्त्वगुण निर्मलत्वके कारण प्रकाशक और अनामय अर्थात् शान्त है, वह जीवको सुखासक्तिके द्वारा एवं ज्ञानासक्तिके द्वारा आबद्ध करता है।

हे कौन्तेय! रजोगुणको अनुरागात्मक तथा तृष्णा एवं आसक्तिसे उत्पन्न समझना चाहिये, वह जीवको कर्मोंमें आसक्त करके बद्ध करता है।

हे भारत! तमोगुण अज्ञान-सम्भूत है अतः इसे समस्त प्राणियोंको मोहित या भ्रान्त करनेवाला समझो, तमोगुण प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा आदिके द्वारा जीवको आबद्ध करता है।

इस प्रकार भक्तवत्सल भगवान्ने भक्तप्रवर अर्जुनको अपनी योगमाया या त्रिगुणतरङ्गमयी प्रकृतिको ही भव-बन्धनकारिणी बतलाकर उससे मुक्ति पानेके लिये बहुत ही सुलभ तथा सुन्दर उपदेश दिया है। भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७। १४)

यह त्रिगुणमयी एवं अलौकिक मेरी माया बड़ी ही दुस्तर है, अतएव जो विवेकी पुरुष मुझ मायाके नाथकी ही शरणमें आ जाते हैं अथवा अनन्यभावसे मेरा ही भजन करते हैं, वे ही महापुरुष इस विश्वमोहिनी मायाका पार पाते हैं अर्थात् भवबन्धनसे मुक्त होते हैं। आगे चलकर भगवान् पुनः अर्जुनको उपदेश देते हैं।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(गीता ८। १५)

हे अर्जुन! मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त करके परम सिद्धि या विदेह-मुक्तिको प्राप्त होते हुए महानुभाव भक्त-जन आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक आदि त्रिविध प्रकार दुःखोंके आश्रयभूत इस अनित्य शरीरको नहीं प्राप्त करते हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते॥
(गीता ८। १६)

हे अर्जुन! भूलोक आदि लोकोंसे आरम्भ करके ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्तनशील हैं अर्थात् इन सभी पुण्यलोकोंके निवासी पुण्यके क्षीण होनेपर फिर भी जन्म ग्रहण करते हैं; किन्तु हे कौन्तेय! मुझ सच्चिदानन्द-रूप भगवान् वासुदेवको प्राप्त कर लेनेपर फिर जन्म नहीं होता।

इस प्रकार भक्तवत्सल भगवान्ने भक्तप्रवर अर्जुनको उपदेश देकर अपने गीताशास्त्रमें निष्काम कर्मयोग एवं ज्ञानयोगकी अपेक्षा भक्तियोगको ही अधिक महत्त्व दिया है। वास्तवमें सांख्यदर्शनोक्त 'ज्ञानान्मुक्तिः' की अपेक्षा श्रीमद्भगवद्गीतोक्त'भक्तेर्मुक्तिः'का सिद्धान्त आजकलके कलि-कल्मष-कलुषित जीवोंके लिये अधिक श्रेयस्कर है। मङ्गल-मय भगवान्के प्रति परमानुरागको ही 'भक्ति' कहते हैं अथवा भगवद्भावमें द्रवीभूत होकर भगवान्के साथ चित्तका जो सविकल्प तदाकारभाव है, उसको 'भक्ति' कहते हैं। जन्म-जन्मान्तरके पुण्य-संचयद्वारा जिस भक्त-हृदयमें इस प्रकार-की भक्तिका उदय होता है, उसी हृदयमें श्रुति-विमृग्य योगिजन-दुर्लभ पुरुषोत्तमका निवास होता है, उस समय वह पुरुष स्वयमेव पुरुषोत्तमरूप होकर सदाके लिये इस दुःखमय संसारके समस्त दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। यही गीता-शास्त्रमें प्रतिपादित भक्तियोग या आदर्श-मुक्तिवादका रहस्य है।

गीताकी महानता

(लेखक—पं० श्रीरामदयाल मजुमदार एम०ए०, सम्पादक 'उत्सव')

अनुष्ठानके साथ तत्त्व-चिन्तन, शास्त्र-चिन्तन, मन्त्र-चिन्तन और तीर्थ-चिन्तन आदि अधिकारीभेदसे सभी चिन्तन मनुष्यकी क्रमानुसार चित्त-शुद्धि करके उसे उन्नतिकी चरम सीमा तक अर्थात् स्वरूप-प्राप्ति तक पहुंचा देते हैं।

ज्ञान तो नित्य ही प्राप्त है, परन्तु वह अज्ञानसे ढका रहता है, इसीसे मनुष्य कष्ट पाता है। अतएव इस अज्ञानका नाश करनेकी आवश्यकता है, फिर ज्ञान तो है ही। अज्ञानसे मोहकी उत्पत्ति होती है। गीता मोहको नाश करनेवाला ग्रन्थ है। मोहसे मनुष्य इस बातका निश्चय नहीं कर सकता कि उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णके सखा श्रीअर्जुनको भी इसी मोहने घेर लिया था। गीता-शास्त्र-द्वारा अर्जुनको उपलक्ष्य करके श्रीभगवान् जगत्के सभी मनुष्योंके मोहको अर्थात् उनके मन-बुद्धिके अन्धकारको दूर करते हैं।

क्षत्रिय होकर भी अर्जुन धर्मयुद्धसे मुंह मोड़, स्वधर्मका त्यागकर परधर्म ग्रहण करना चाहते हैं, यही उनका मोह है। जगत्के मनुष्योंका यही तो प्रधान मोह है। मोहावृत हो-कर ही मनुष्य ईश्वर-निर्दिष्ट कर्त्तव्यसे हटना चाहते हैं और इसीसे वे अपने स्वाभाविक कर्मोंको छोड़कर दूसरेके स्वभावके कर्मोंकी ओर दौड़ते हुए अपना और साथ ही समूचे जगत्का भी अनिष्ट करते हैं। इस प्रकारके कर्त्तव्य-विमुख लोगोंको कर्त्तव्य-परायण बना देना ही गीता-ग्रन्थका उद्देश्य है।

सारी गीता सुनानेके बाद श्रीभगवान् अर्जुनसे पूछते हैं:—

> कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
> कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥
> (१८।७२)

'हे पार्थ! क्या तुमने एकाग्र चित्तसे मेरा उपदेश सुना? हे धनञ्जय! क्या तुम्हारे अज्ञानसे उत्पन्न मोहका सम्पूर्णरूपसे नाश हो गया?' अर्जुनने उत्तरमें कहाः—

> नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
> स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥
> (१८।७३)

'हे अच्युत! आपके अनुग्रहसे मेरा मोह नष्ट हो गया, आत्माके सम्बन्धमें अज्ञानसे उत्पन्न मेरी नष्टबुद्धि जाती रही है। आपके उपदेशजनित ज्ञानको पाकर मैं स्वरूपा-नुसन्धानरूप स्मृतिको यानी 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस धारणाको प्राप्त हो गया हूं। अब मुझे धर्माधर्मविषयक कोई भी सन्देह नहीं है, स्वजनोंके वधसे पाप होगा, मैं सनातन कुलधर्मका ध्वंसक बनूंगा, वर्णसंकरताके विस्तारका कारण हूंगा, पितृगणोंका पिण्डोदक मुझसे लोप हो जायगा, जातिधर्म और कुलधर्मका नाश करके मैं नियत नरकमें निवास करूंगा और गुरु तथा आत्मीय स्वजनोंके वधसे मेरे हृदयमें इन्द्रियोंका शोषण करनेवाला जो शोक उत्पन्न होगा, वह किसी तरह भी कभी दूर नहीं हो सकेगा। यह सब सन्देह अब मेरे

हृदयमें नहीं रह गये हैं। मैंने अब आपकी आज्ञाके पालन करनेका निश्चय कर लिया है। अब आपके वचनोंके अनुसार ही कार्य करूंगा 'करिष्ये वचनं तव।'

यह गीता एक अपूर्व ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें अपूर्व ही उपदेश है। यह समस्त मानव-जातिका पूर्ण सनातन धर्म-ग्रन्थ है। सभी जातियोंके धर्मका सूत्र इसके अन्दर है। यह मानव-प्रकृतिका स्वच्छ दर्पण है। जगत्में जहां कहीं जिस किसी प्रकृतिके ही मनुष्य क्यों न हों, यदि वे अपनेको यथार्थरूपसे देखना और समझना चाहें तो इस गीता-दर्पणमें सभी अपनी अपनी मुखच्छवि स्पष्ट देख सकते हैं।

मनुष्य-प्रकृतिके स्वच्छन्द भावसे स्पन्दनका नाम देव-भाव है और उसीके अस्वच्छन्द-स्पन्दनको आसुरभाव कहते हैं। हमारे वेद या ब्रह्म जैसे प्रकृति और विकृतिके सम्बन्धसे ब्रह्माण्डके स्पन्दनका इतिहास हैं। इसी प्रकार गीता भी देवासुर-सम्बन्धसे मानव-प्रकृतिके स्पन्दनका इतिहास है। इस इतिहासमें कहींपर भी साम्प्रदायिकता नहीं है।

गीता केवल मानव-प्रकृति ही नहीं बतलाती, वह यह भी बतलाती है कि मनुष्य अपनी अपनी प्रकृतिको समझकर, अपने मन्द स्वभावको देखकर किस प्रकार कातर-भावसे भगवत्कृपाकी प्राप्तिके लिये उसकी आज्ञा पालन करता है, किस प्रकार परमानन्द-स्थिति या यथार्थ उन्नतिकी चरम सीमा तक पहुंच सकता है और फिर किस प्रकार नित्य शान्ति या स्वरूपस्थिति प्राप्त कर सकता है। अधिक क्या, मनुष्यके लिये जो वस्तु आवश्यक है, गीता उसीको सबके सामने ज्वलन्त अक्षरोंमें रखकर दिखला रही है। आज जो समस्त संसारमें गीताका इतना आदर है, जगत्की समस्त सभ्य भाषाओंमें गीताके अनुवाद हो गये हैं, उसका यही कारण है।

श्रीगीता ब्रह्म-स्वरूपिणी है, श्रीगीता ज्ञानमयी है। ज्ञान क्या वस्तु है, वह अज्ञानद्वारा आवृत होकर मनुष्यको किस प्रकार कुमार्गमें ले जाता है और इस अज्ञानके पर्देको किस तरह हटाया जासकता है, गीता इन सब बातोंका उपदेश करती है। आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चार प्रकारके भक्तोंमें कोई भक्त किसी भी प्रकारसे गीताकी भक्ति करे, गीता उसी भावके द्वारा अपने उस आश्रित भक्तको,—इस कोलाहलमय जगत्के अन्तस्तलमें जो एक रमणीय निस्तब्ध जगत् है, प्रत्येक गतिके अन्तरमें जो एक परम शान्त स्थिति है, सतत चञ्चल मन जिस एक अचल ज्योतिर्मय परम शान्त चैतन्यके ऊपर ऊपर तैर रहा है, पर डूब नहीं पाता, इसीसे निरन्तर दुःख भोग रहा है,—धीरे धीरे सैकड़ों सौन्दर्यके भण्डार खोलकर उसी रमणीय परम पदमें पहुंचा देती है।

श्रीगीता आनन्दमयी है। साधनमें मतवाला होकर जो इस आनन्दरूपको देखनेके लिये अत्यन्त उत्कंठित-चित्त होता है, गीता अपने उस आश्रितके लिये अपना स्थूल आवरण हटाकर धीरे धीरे क्रमानुसार उसको अपने यथार्थ परम रमणीय रूपका दर्शन करा देती है।

श्रीगीता रंगमयी-कर्ममयी है। जगत्-रूपिणी विश्वनर्तकी मायाका अनुसरण करना जैसा कठिन है, श्रीगीताका अनुसरण करना भी वैसा ही दुरूह है। पहलेसे लेकर शेष-तकके इसके कर्म, उपासना और ज्ञानके उपदेशोंको कौन हृदयमें रख सकता है? भद्राकी सारथ्य-निपुणतामें अर्जुनके रथकी चालके समान, यह विश्वनर्तकी कभी जनमण्डलीके चारों ओर नृत्य करती हुई दिखायी देती है तो दूसरे क्षणमें अदृश्य हो जाती है, बादलोंके अन्दर बिजलीके खेलकी तरह कभी वह शून्यमें चमक उठती है और कभी बादलोंमें छिप जाती है। सुदीर्घ जलाशयमें बड़ी मछलीकी भांति कभी निकट ही दिखायी देती है और कभी बहुत दूर चली जाती है, ठीक यही खेल गीताका है।

जगत्स्वरूपिणी मायाकी चञ्चलताके अन्दर जैसे स्थिर शान्त रमणीय मूर्ति विराजती है, वैसे ही श्रीगीता ब्रह्मान्त-र्ज्योतिर्मयी उपनिषद्-देवी भी यहां विराज रही हैं। अधिक क्या श्रीगीताकी रूपराशि महाकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश सभी जगह फैलकर पृथ्वी-आकाश सभीको चमत्कृत कर रही है।

जो एक ही कालमें स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्म-तम है, जो एक ही कालमें परमाश्चर्यरूप-धारिणी माया-मानवी और सर्व-नरनारी-विजड़ित, सर्व-स्थावर-जंगम-सम्मिलित विश्वरूपिणी है, उसके समूचे स्वरूपका यथार्थ दर्शन साधन-दरिद्र दुर्बल जीवके लिये बहुत ही कठिन बात है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

गीताका अध्ययन एक ही जीवनके लिये नहीं, किन्तु जीवन्मुक्ति न होने तक जितने जीवन हों, उन सबके लिये है। जीव-चैतन्य-बिन्दु जबतक ब्रह्म-चैतन्य-सिन्धुमें समा नहीं जाता, तबतकके लिये है।

गीताके सम्बन्धमें श्रीभगवान् कहते हैं–

गीता मे हृदयं पार्थ, गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं, गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥

गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम सार है, गीता मेरा अत्युग्र ज्ञान है, गीता मेरा अविनाशी ज्ञान है, गीता मेरा श्रेष्ठ निवासस्थान है, गीता मेरा परम पद है, गीता मेरा परम रहस्य है और गीता मेरा परम गुरु है।

'गीता मे हृदयं पार्थ !' आहा ! गीता भगवान्‌का हृदय है ! उसी भगवत्-हृदयको स्पर्श करना चाहते हो ? जैसे तैसे ही उसका स्पर्श न करना। भीतर बाहरसे कुछ पवित्र होकर उसे स्पर्श करनेकी चेष्टा करो। स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनो, इससे बाहरकी पवित्रता होगी, परन्तु इसीसे काम नहीं चलेगा। भीतरकी पवित्रता चाहिये। मनमें विचार करो, श्रीकृष्णको स्पर्श करने जा रहे हो। वे कितने पवित्र हैं और तुम कैसे हो ? दूसरे लोग तुम्हें नहीं जानते, परन्तु तुम अपनेको जानते हो और श्रीकृष्ण भी तुम्हें जानते हैं। कितने दोष हैं, कितने अपराध बन चुके हैं, कितना पाप कर चुके हो, कितनी अपवित्रताओंने हृदयमें आश्रय ले रक्खा है। बताओ, इस हालतमें श्रीकृष्णके हृदयरूप इस गीताको कैसे स्पर्श करोगे ?

आहा ! कातर होकर एक बार श्रीकृष्णके स्वभावको याद करो, वे बड़े ही क्षमासागर हैं, वे किसीका अपराध नहीं देखते, उनकी ओर मुख फिराते ही वे हाथ फैलाकर छातीसे लगा लेते हैं। वे हरि कङ्गालके सर्वस्व हैं, वे पापी-तापीके आश्रय हैं, वे दीनबन्धु हैं, वे अगतिके गति हैं। वे अपने जीवोंको निर्मल बनाकर गोदमें उठानेके लिये निरन्तर पुकार रहे हैं, वे सभीको भरोसा दे रहे हैं। आओ आओ ! इस गीताको नित्य संगिनी बनाओ, गीताका नित्य पाठ करो, पाठ करते करते हो सके जितना इसका प्रवाह हृदयके अन्दर बहानेकी चेष्टा करो, बड़ा कल्याण होगा।

सच्ची बात है–

कृष्णो जानाति वै सम्यक् किञ्चित् कुन्तीसुतः फलम् ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥

'श्रीकृष्ण गीताको सम्यक् प्रकारसे जानते हैं, अर्जुन कुछ फल जानते हैं, व्यास, व्यासपुत्र शुकदेव, योगी याज्ञवल्क्य या राजा जनक कुछ कुछ जानते हैं।' जिस गीताके सम्बन्धमें ऐसा कहा गया है, उस गीताको असंस्कृत-हृदय अकिञ्चन मनुष्य क्या समझेगा ? यह ठीक है, तो भी चेष्टा करो, जितनी चेष्टा करोगे, उतना ही वे समीप आकर तुम्हारे नेत्रोंको एक अपूर्व प्रकाश देकर तुम्हें भीतरका रहस्य समझाते रहेंगे; स्मरण रक्खो, वे करुणा-वरुणालय हैं, उनकी कृपाकी कोई सीमा नहीं है।

गीता और विश्वव्यापक धर्म

(ले०-श्री मदनानन्दजी, सम्पादक 'मेसेज')

गीतामाहात्म्यमें कहा है:—

सर्वधर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ।
सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते ॥

गीताकी विशेषता यह है कि ब्रह्मके विषयमें सत्य ज्ञान बतानेवाले जितने धर्म-ग्रन्थ हैं, गीता सार उनका सब तत्त्व है। गीताकी तुलना दुग्धसे की गयी है। इस दुग्धको अर्जुनरूपी वत्सके लिये गोपालरूपी श्रीकृष्णने उपनिषद्रूपी गौसे दुहा है, या यों कहिये कि यह वह अमृत है जिसे प्रेमरूपी रज्जु और अर्जुनरूपी मथानीके द्वारा श्रीकृष्ण-रूपी मन्थन करनेवालेने हिन्दू-शास्त्रोंसे मन्थन करके निकाला है।

यह भी कहा गया है कि:—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

गीताका अध्ययन ही पर्याप्त है, अन्य शास्त्रोंके विस्तार-की क्या आवश्यकता है ? इसीसे इसका नाम 'विश्वतो-मुखी' रक्खा गया है।

हिन्दू धर्म-ग्रन्थोंके प्रसिद्ध अनुवादकर्ता पं० शशधर तर्कचूडामणिका कथन है कि गीतामें जहां 'मैं' और 'मुझे' शब्द आये हैं वे सब ब्रह्मके द्योतक हैं। उन्होंने शाङ्कर भाष्यके आधारपर यह मत स्थिर किया है।

इस दृष्टिसे गीताका अध्ययन करनेपर यह सहजमें ही ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि गीताकी उत्पत्ति हिन्दुओंके ही लिये हुई थी तथापि इसके उपदेश संसारके सब लोगोंके लिये लागू हो सकते हैं। गीतामें ऐसे अनेक वचन हैं जो किसी भी धर्मकी शोभा बढ़ा सकते हैं। गीताके इस सार्व-

भौम भावने इसको सभी भारतीय और यूरोपीय विद्वानोंकी प्रिय वस्तु बना दिया है। ईश्वरवादियोंके कट्टर विभागके लिये भी उपनिषद्‌के बाद अध्ययन करने योग्य धर्म-ग्रन्थोंमें सबसे पहले इसीका स्थान है।

गीताकी सर्वोत्कृष्ट शिक्षा यह है--

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'

(परस्पर-विरोधी) सब धर्मोंका त्यागकर मुझ (ब्रह्म) की शरण ग्रहण करो, मैं (ब्रह्म) तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा (क्योंकि ब्रह्म ही सब धर्मोंका केन्द्र है) अथवा यों कहिये कि जब तुम अनेक शास्त्रोंके परस्पर-विरोधी मत-मतान्तरोंके गहरे सागरमें अपनेको डूबते देखो तब उस ब्रह्मकी शरणमें जाओ जिससे सब धर्मोंकी उत्पत्ति होती है, वहां जाते ही तुम्हारे सारे सन्देह दूर हो जायंगे, पाप कट जायंगे और तुम्हें मोक्षकी प्राप्ति होगी।

श्रीकृष्णजी स्वयं सर्वप्रथम या अन्तिम पैगम्बर होनेका दावा नहीं करते। उनका कथन है:--

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

जब कभी धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी उन्नति होती है, तभी मैं (ब्रह्म) आविर्भूत होता हूँ। (ऐसे अवसरोंपर) साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी फिरसे स्थापना करनेके लिये मैं (ब्रह्म) प्रकट होता हूं।

महात्मा ईसाने भी इसी प्रकार कहा है कि:-

'यह न समझो कि मैं नियम भङ्ग करने या पैगम्बरोंका विनाश करनेके लिये आया हूं; मैं नाश करनेके लिये नहीं प्रत्युत पूरा करनेके लिये अर्थात् ईश्वरीय राज्यकी स्थापना करनेके लिये आया हूं।' (मैथ्यू ५।१७)

गीताके भाष्यकारोंने गीताको तीन षट्कोंमें विभक्त किया है। प्रत्येक षट्कमें छः अध्याय हैं। प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मका वर्णन है, दूसरे छः में भक्तिका और अन्तिम छः में ज्ञानका।

भारतवर्षका प्राचीन साहित्य साधारणतया चार कालोंमें विभक्त है (१) मन्त्र (२) ब्राह्मण एवं उपनिषद् (३) सूत्र (४) धर्मशास्त्र। प्रथम तीन कालोंमें जिन ग्रन्थोंकी रचना हुई, उनमें गीताका उल्लेख नहीं है, परन्तु गीतामें इन रचनाओंका उल्लेख पाया जाता है, इसीलिये गीताके अध्ययन करनेवालोंका मत है कि गीताकी रचना अन्तिम काल अर्थात् धर्मशास्त्र-कालके आरम्भमें हुई थी। यह स्पष्ट है कि इस कालमें ज्ञान और कर्मवादियोंमें एक बहुत बड़ा विरोध चल रहा था। यह विरोध यहां तक बढ़ गया था कि इससे शुद्ध धार्मिक विचारोंमें एक क्रान्ति सी मच गयी थी और मनुष्य-जाति परस्पर-विरोधी कलह-पूर्ण आदर्शोंके समुद्रमें डूब गयी थी। इस ग्लानिको दूर करनेके लिये शान्ति और प्रेम-पूर्ण ईश्वरीय वाणीकी परमावश्यकता हो गयी थी। श्रीकृष्णके पहले भी इसके लिये यत्न किये गये थे किन्तु विरोध इतना गहरा हो गया था और समाजके ऊपर उसका ऐसा हानिकारक असर था कि उसको सम्भालने और सुधारनेके लिये एक सुदृढ़ और सुयोग्य महापुरुषकी आवश्यकता थी और इस आवश्यकताकी पूर्ति (गीतारूपी महाग्रन्थ-निर्माता) श्रीकृष्णसे हुई।

दर्शनके दो सम्प्रदायोंमें कर्मकाण्डी अर्थात् जैमिनीके अनुगामी पुरुषोंकी अपेक्षा,-जिनका उच्च आदर्श 'शास्त्र-विहित' यज्ञ-यागादि अनुष्ठानद्वारा काम्य पदार्थोंकी प्राप्ति करना था,-वे उन्नतिशील थे, जो उत्कृष्ट धर्मग्रन्थोंमें विहित कर्मके उन्नतर सत्य और उन्नतर विचारोंके अनुगामी थे। ऐसा मालूम होता है कि आरम्भमें गीताके निर्माता सांख्य-मतके प्रतिकूल सम्प्रदायकी ओर जा रहे थे किन्तु वेदान्तके प्रगाढ़ अध्ययन और उत्कृष्ट विचारोंने उन्हें उधरसे मोड़ लिया और फिर उन्होंने सांख्य तथा मायावादी संन्यासियोंके खण्डनमें सच्चिदानन्द परमेश्वर, निष्काम कर्म, एवं ब्रह्मार्पणके सिद्धान्तकी घोषणा की।

प्रसिद्ध मि० आर० सी० दत्त और प्रोफेसर हापकिन्स नामक दोनों विद्वानोंने-जो प्रसिद्ध पौर्वात्य पण्डित हैं-गीताको रूपक माना है। पं० सीतानाथ तत्त्वभूषण,-जो श्रीकृष्ण और गीता (The Krishna and the Gita) अर्थात् भगवद्गीताके निर्माता, तत्त्व और धर्मके विषयमें बारह व्याख्यानोंके विद्वान् लेखक हैं,-इस मतका इस प्रकार समर्थन करते हैं---

गीताकी भावनाका जो केन्द्र है अर्थात् परमात्मा श्रीकृष्णने अपने शिष्य अर्जुनका रथ चलाया था और उसे परम ज्ञानकी शिक्षा दी थी, उसके वर्णनका संकेत कठोपनिषद्‌के प्रथम अध्यायकी तृतीय वल्लीसे मिलता है, जहाँ

शरीरको रथ, इन्द्रियोंको अश्व और विषयाश्रित संसारको मार्ग माना है, जिसपर हम लोगोंको चलना है और वहीं-पर यह भी वर्णन है कि इन्द्रियोंकी अधीनतामें रहनेसे अनेक बुराइयां उत्पन्न होती हैं और प्रज्ञाकी अधीनतामें परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

'परम पुरुषके साथ अपनी तुलना करते हुए और समस्त ग्रन्थमें उन्हींके नामपर बोलते हुए गीताके ग्रन्थ-कार श्रीकृष्ण केवल उपनिषदोंके ऋषियोंकी शिक्षा और उदाहरणोंका अनुकरण करते हैं, क्योंकि उनके अवतारके सिद्धान्तका बीज उपनिषदोंमें विद्यमान है, यहां तक कि उन्होंने शिक्षाका जो रूप अङ्गीकार किया है, वह भी उप-निषद्में पाया जाता है, उदाहरणार्थ कौशीतकीमें इन्द्र और प्रतर्दनका संवाद देखना चाहिये।'

'गीतामें जिस श्रीकृष्णकी उपासना करनेके लिये हमें आदेश दिया है वह किसी समय और स्थानविशेषमें जन्म लेनेवाले व्यक्तिविशेष नहीं हैं; किन्तु सर्वव्यापी परमात्मा हैं, जिन्हें हम अपनी आत्माकी तरह समय और स्थानकी सीमाओंसे रहित, प्रगाढ़ चिन्तनकी अवस्थामें सदा देखते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप गीताके कितने ही श्लोकोंका-विशेषकर छठे, सातवें और ग्यारहवें अध्यायके श्लोकोंका उल्लेख किया जा सकता है।'

हम अवतारके प्रश्नपर यहां विवाद करना नहीं चाहते और इसीलिये हम गीताके एक प्रसिद्ध विद्वान्‌के लेखोंसे कुछ अंश उद्धृत करते हैं ताकि यह मालूम हो जाय कि ईश्वरवादी (Theists) अर्थात् सर्वव्यापक धर्मानुयायी गीताकी सर्वव्यापकताको कैसा समझते हैं।

ईश्वर अर्थात् सर्वव्यापक आत्माका विवेचन जो गीतामें किया गया है, वह उपनिषद्में बतलाये हुए पर-ब्रह्मसे किसी अंशमें न्यून नहीं है। इसका दिग्दर्शन ७,८,९,१०,११ और १२ वें अध्यायके अनेक श्लोकोंमें स्पष्ट है, किन्तु इन सबमें उत्कृष्ट विश्वरूपका वर्णन है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि इन साधारण नेत्रोंसे इस रूपको मनुष्य नहीं देख सकते, इसके लिये दिव्यचक्षुकी आवश्यकता है। यह वर्णन संसारके धार्मिक साहित्यके इतिहासमें अद्वितीय है। कुछ टीकाकारोंका मत है कि यह वर्णन मुण्डक उपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रका विस्तार-रूप है।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

स्वर्ग उनका मस्तक है, सूर्य और चन्द्र उनके नेत्र हैं, दिशाएं उनके कर्ण हैं, वेद उनकी वाणी है, वायु उनका श्वास और संसार उनका हृदय है. उनके दोनों पैरोंसे पृथ्वी-की उत्पत्ति हुई है। (वह) पुरुष प्राणीमात्रकी अन्तरात्मा है। (मुण्डक २।१।४)

किन्तु जो कुछ भी हो, संसारके धर्म-ग्रन्थोंमें और कहीं भी सर्वव्यापक परमात्माका अनन्त आत्माकी कल्पनाके सम्बन्धमें ऐसा विस्तृत और यथार्थ वर्णन नहीं है।

श्रीकृष्ण और क्राइस्टमें भी अद्भुत सादृश्य है। इन दोनोंने ही प्रथम पुरुष एक वचनमें और परब्रह्मके नामसे उपदेश दिया है। श्रीकृष्णने कहा कि 'वह और ईश्वर एक हैं और वह परब्रह्मके अवतार हैं।' महात्मा ईसाने अपनेको ईश्वरका पुत्र बतलाया और कहा कि 'मैं और मेरे पिता एक हैं।'

श्रीमद्भगवद्गीताका सन्देश

(लेखक-स्वामी ओंकारजी, अमेरिका)

गीताका सन्देश व्यष्टि समष्टि सभीके लिये है। यह सन्देश इने गिने लोगोंके लिये नहीं, अपितु सबके लिये है। कुछ लोगोंकी धारणा है कि गीताका सन्देश केवल हिन्दुओं और हिन्दुस्तानके ही लिये है, किन्तु यह ठीक नहीं है। इसका सन्देश सारी मानव-जातिके लिये है। कुछ लोगोंकी,—जो गीताको केवल एक आख्यायिका या इतिहासकी दृष्टिसे देखते हैं—यह धारणा है कि गीताका सन्देश भगवान् श्रीकृष्णने केवल अर्जुनको ही सुनाया था; किन्तु यदि वे अपनी दृष्टिको नामरूपके पर्देसे कुछ ऊंचा उठावेंगे तो उन्हें यह समझनेमें कुछ भी कठिनता न होगी कि यह सन्देश उसी प्रकार सारी आत्माओंके लिये है, जिस प्रकार यह सब लोगोंके अन्तरमें ज्ञानरूपसे अन्तर्हित है। वास्तवमें गीताका पवित्र सिद्धान्त केवल अतीत एवं वर्तमान कालके ही लिये नहीं है, अपितु भविष्यके लिये भी है, क्योंकि वह सर्वथा सार्वभौम है।

गीताके सन्देशका किसी सम्प्रदाय या पन्थसे सम्बन्ध नहीं है। यह सन्देश वायुकी भाँति सर्वसुलभ एवं पृथ्वीकी नाईं विशाल है। सच पूछिये तो यह एक विश्वव्यापक सन्देश है, जो धनी गरीब एवं बड़े छोटे सबके लिये अभीष्ट है। यह एक अधम पापीसे लेकर बड़ेसे बड़े महात्मातकके लिये है, क्योंकि उसके अन्दर हम यह लिखा हुआ पाते हैं—'नीचसे नीच एवं बड़ेसे बड़ा पातकी भी, यदि वह भक्ति एवं उत्साहके साथ भगवान्‌की उपासना करता है, तो वह अवश्य ही उन्हें प्राप्त होता है (९। ३०-३१)।

हम लोगोंमेंसे अधिकांशने भारतवर्षके अन्दर वर्णभेद एवं तत्सम्बन्धी नियमोंके विषयमें बहुत कुछ सुन रक्खा है, किन्तु हमें यह देखकर बड़ा सन्तोष होता है कि गीताके सम्बन्धमें यदि हम जातीय दृष्टिसे भी विचार करें तो भी यह देखते हैं कि उसपर किसी वर्णविशेषका कोई खास अधिकार नहीं है। नीचातिनीचसे लेकर बड़ेसे बड़े मनुष्य तक सबको गीताका सन्देश पढ़ने और समझनेका अधिकार है। सामाजिक जीवनमें वर्ण या जातिके लिये स्थान हो सकता है, किन्तु ईश्वरके घर या धर्मकी दृष्टिमें उसके लिये कोई स्थान नहीं है। जिसने गीताका सन्देश भलीभाँति समझ लिया, वह सबसे उच्च कोटिका मनुष्य समझा जाता है। इस प्रकार हमें यह पता लगता है कि कमसे कम धर्मके मामलेमें भारतवासियोंके अन्दर व्यावहारिकता है।

कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि गीताका सन्देश केवल साधु-संन्यासियोंके लिये ही प्रयोजनीय है। किन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है, यह संन्यासी एवं गृहस्थ दोनोंके लिये ही अभिप्रेत है। जो सब कुछ छोड़कर परमात्माका सहारा पकड़ लेता है, जो अपने जीवनके प्रत्येक क्षण उसीके भरोसे जीता है, जो उसीके इशारेपर चलता है, जो उसीको अपने जीवनका आधार मानता है और जो परमात्मा या सत्य तत्त्वके साथ तदाकार बन जाता है, वही सच्चा संन्यासी है। भारतवर्षमें यह संन्यास-आश्रम सबके लिये खुला हुआ है। कोई भी सच्चे दिलसे इसके अन्दर आ सकता है। जिस मनुष्यने मानव-जीवन लक्ष्यको भुला दिया हो और जो सदा नीची स्थितिमें रहकर तिरस्कारमय जीवन व्यतीत कर रहा हो, उसकी तो संसारका कोई भी धर्म या धर्माचार्य सहायता नहीं कर सकता, किन्तु जो भगवत्-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है, उसे भगवान्‌के निकट पहुँचनेका अवसर कई बार मिलता है।

भारतीय शास्त्रोंमें हम यह लिखा हुआ पाते हैं कि आरम्भमें कुछ काल तक प्रत्येक मनुष्यको किसी गुरुकुलमें ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा आदि यम-नियमोंका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना चाहिये। विद्यार्थी-जीवन समाप्त करनेके अनन्तर मनुष्य गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर अपने कुटुम्ब, देश एवं सबसे बढ़कर प्रिय परमात्मा या परम सत्यके प्रति अपना कर्तव्य पालन कर सकता है। तृतीय आश्रममें उसे चाहिये कि वह अपने सारे सांसारिक कारबारका भार अपने बच्चोंको सौंपकर एकान्त सेवन करे और भगवत्-प्राप्तिके साधनमें गीताका सन्देश समझनेमें अपना अधिक समय लगावे।

अन्तिम अवस्थामें—यदि उसे पूर्णत्यागकी आवश्यकता प्रतीत हो और वह अपनेको परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़नेके योग्य समझे तो—उसे संसार छोड़कर संन्यासीका बाना ग्रहण कर लेना चाहिये। उस समय उसका संसारके साथ किसी प्रकारका स्थूल सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। उस समय वह एक अकर्मण्य पुरुषकी भाँति समाजके लिये भाररूप नहीं होगा। उसका जीवन परमात्म-मय बन जायगा, यही नहीं, वह दूसरोंके जीवनको परमात्म-मय बनानेमें सहायक होगा और उसके मौन एवं आदर्श-जीवनके द्वारा मानव-जातिकी सबसे ऊँची सेवा होगी!

गीताका प्रभाव

भारतवर्षके धार्मिक जीवनपर गीताका कितना प्रभाव है इसका अनुमान इसी बातसे लगाया जा सकता है कि पिछली बारह शताब्दियोंमें कोई ऐसा महान् पुरुष नहीं हुआ जिसने गीताकी समालोचना न की हो।

—मोहिनीमोहन चटर्जी

ईश्वरीय सङ्गीत

श्रीकृष्णके उपदेशमें शास्त्रकथित प्रायः सभी धार्मिक विषयोंका तत्त्व आ गया है। उसकी भाषा इतनी गम्भीर एवं उत्कृष्ट है कि जिससे उसका भगवद्गीता अथवा ईश्वरीय-संगीत के नामसे प्रसिद्ध होना उचित है—

—जस्टिस के. टी. तैलंग

संन्यास और त्याग एक है या विभिन्न ?

(लेखक, श्रीयुत मगदल रामराव)

न्यास' शब्दका प्रचलित अर्थ कर्मोंका त्याग है और भगवद्गीतामें कई जगह इसका इसी अर्थमें प्रयोग हुआ है। छठे अध्यायके अन्त तक अर्जुनने भी इस शब्दका प्रायः इसी अर्थमें प्रयोग किया है। परन्तु यह सहजमें ही अवगत हो सकता है कि श्रीकृष्णने इस शब्दका इस अर्थमें प्रयोग नहीं किया। केवल 'संन्यास' शब्दके लिये ही यह बात नहीं है, और भी कई शब्द ऐसे हैं जिनका उस समयके वेदान्तके ग्रन्थोंमें दूसरे ही अर्थमें प्रयोग होता था और भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें उसका दूसरे ही अर्थमें प्रयोग किया है। इन शब्दोंके जो प्रचलित अर्थ थे वे अव्यवस्थित और अनिश्चितसे थे। श्रीकृष्णके लिये वे ही शब्द उपयोगी हो सकते थे जिनका प्रयोग ऐसे अर्थमें किया जाता रहा हो जो बिल्कुल असन्दिग्ध और उचित हों एवं उनका वही अर्थ लोग समझते भी रहे हों। भगवद्गीतामें जहां तहां प्रचलित शब्दोंके अर्थको समझानेके लिये जो विस्तृत व्याख्या की गयी है उसका कारण यही है कि भगवान्‌को प्राचीन शब्द-कोशको सुधारनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको एक नया शास्त्र सिखानेवाले थे। यद्यपि वह वस्तुतः नया नहीं था, किन्तु चिरकालसे लुप्त हो जानेके कारण नयेके ही समान था (४ । २-३) इसलिये व्याख्या करनेमें ऐसे शब्दोंका प्रयोग आवश्यक था, जिनके द्वारा भगवान्‌का नवीन सिद्धान्त व्यक्त हो सके।

'संन्यास' शब्दका अर्थ है कर्मोंका स्वरूपसे त्याग। श्रीकृष्ण इस प्रचलित अर्थको माननेके लिये तैयार नहीं थे, हो भी कैसे सकते थे? अर्जुन इसका कोई दूसरा अर्थ नहीं जानते थे। जहां कहीं श्रीकृष्णने ऐसे वाक्योंका प्रयोग किया है, जिनका अर्थ अर्जुन भलीभांति नहीं समझ सके, वहां उन्होंने 'संन्यास' का यही अर्थ लिया है। इसी कठिनाईके कारण हम देखते हैं कि दूसरे अध्यायमें श्रीकृष्णने 'संन्यास' शब्दका बिल्कुल प्रयोग नहीं किया। इस शब्दसे अर्जुनको क्या समझना चाहिये, इस बातको भी कई प्रत्यक्ष सिद्धान्तोंके द्वारा विशेषरूपसे समझाया। यह बात बिल्कुल ठीक है कि संन्यासमें एक आवश्यक वस्तुका सम्पूर्ण त्याग करना होता है; किन्तु वह परित्याज्य वस्तु संग है, कर्म नहीं। (अध्याय २।४७)। कर्म छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। कर्म करनेका अर्जुनको अधिकार था और उसके लिये अपने अधिकारके अनुसार कर्म करना आवश्यक भी था, परन्तु फलको सामने रखकर नहीं, क्योंकि फलमें उसका अधिकार नहीं है। सबसे उत्तम बात तो यह होती कि वह संगरहित होकर कर्म करता और इसके लिये आवश्यक यह था कि वह योगमें स्थित होकर हानि-लाभको बराबर समझने लगता (गी० २।४७-४८)।

अब प्रश्न यह होता है कि जिस सङ्गके त्यागका अर्जुनको उपदेश दिया गया है उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? बात यह है कि बहुधा जब मन विषयोंका चिन्तन करने लगता है तब उसकी उन विषयोंमें आसक्ति या समीचीन-बुद्धि हो जाती है। यह आसक्ति धीरे धीरे मनुष्यका सर्वनाश करके छोड़ती है, आसक्तिसे मनुष्यके मन और आत्मा दोनोंकी शान्ति मारी जाती है (गी० २। ६२-६४)। इसलिये संगको छोड़नेकी आवश्यकता है, न कि कर्मको। मनुष्यको चाहिये कि वह सारी कामनाओंको ताकमें रख दे और निरपेक्ष तथा अहङ्काररहित होकर निःस्वार्थ बुद्धिसे सब काम करे। शान्ति-लाभका यही प्रशस्त मार्ग है (गी० २।७१)। श्रीकृष्णके मतमें अहङ्कारका त्याग ही संन्यासका लक्षण है, यद्यपि उन्होंने दूसरे अध्याय तक इस शब्दका इस अर्थमें स्पष्ट प्रयोग नहीं किया है। भगवान्‌ने जिसे सांख्य बतलाया है, उसका यही स्वरूप है।

अर्जुनके लिये यह बात नहीं थी। उसने सांख्यका अर्थ संन्यास अथवा कर्मोंका स्वरूपसे परित्याग समझ रक्खा था। यही मार्ग उसने अपने लिये स्थिर भी किया था। फिर श्रीकृष्ण उसे युद्धरूप कर्ममें प्रवृत्त क्यों कर रहे हैं? अर्जुन इस पहेलीको समझ नहीं सका और कहने लगा 'भगवन्! आपके वाक्य मुझे उल्टे चक्करमें डाल रहे हैं।' तब श्रीकृष्ण बोले कि 'सांख्य और बुद्धियोग दो सिद्धान्त हैं, यद्यपि दोनों ही शास्त्रसम्मत हैं और आस्तिकोंमें दोनोंके ही अनुयायी बराबर मिलते रहे हैं!' अर्जुनने जो

चक्करमें डालनेकी बात कही,वह ठीक नहीं थी,क्योंकि श्रीकृष्णके वाक्योंमें कहीं कोई ऐसी बात नहीं थी जो चक्करमें डालनेवाली हो। अर्जुनकी बुद्धि जो चक्कर खा गयी, इसका कारण यह था कि वह 'कर्म' और 'संन्यास' इन दोनों शब्दोंका अर्थ ठीक तरहसे समझ नहीं सका था। अक्रिय होकर कोई मनुष्य एक क्षण भी नहीं रह सकता। फिर संन्यासके लिये कोई कर्म कैसे छोड़ सकता है? (गीता ३।१-५)। संसारमें जितने भी जीव हैं वे सब कर्मके सूत्रमें बँधे हुए हैं और इसीलिये अकर्मकी अपेक्षा कर्मको श्रेष्ठ मानना चाहिये। यदि कोई निरा अकर्मण्य होकर रहना चाहे तो उससे शरीरकी रक्षा भी नहीं बन सकती। इसके अतिरिक्त अर्जुनको श्रीकृष्णने कहा कि, कुछ कर्म ऐसे हैं जो नियत हैं, अतएव उनका त्याग बन ही नहीं सकता (गी० ३।८)। इसी प्रकार भगवान्‌ने अर्जुनको बतलाया कि जो कर्म यज्ञके लिये किये जाते हैं, वे बन्धनरूप नहीं होते परन्तु जो कर्म यज्ञके निमित्त नहीं किये जाते वे ही बन्धनरूप होते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने उसको सङ्गरहित होकर यज्ञके निमित्त कर्म करनेका उपदेश दिया (गी० ३।८-१०) जैसे सभी नियत और यज्ञार्थ अनिवार्य कर्मोंको सङ्ग छोड़कर करना चाहिये। सङ्ग ही कर्मके लिये हानिकारक है। जो सङ्ग छोड़कर कर्म करता है, उसे परमात्माकी प्राप्ति होती है (गी० ३।१९)। कर्म-सम्बन्धी ईश्वरीय नियमोंका ऐसा ही विधान है। इससे सर्वात्मभावसे भगवान्‌में मन लगाकर, कर्मोंमें आसक्तिका त्यागकर अर्जुन कामनारहित एवं अहङ्कारशून्य हो जाता है। इस प्रकारकी संन्यासकी वृत्ति हो जानेपर अर्जुनको यह उपदेश दिया गया कि तू श्रीकृष्णको ही अपने सारे कर्म समर्पण कर दे, क्योंकि सृष्टिमें जितने भी कर्म होते हैं उनके फलदाता भगवान् ही हैं। इस श्रेणीके कामना और अहङ्कार-बुद्धिके त्यागका ही नाम संन्यास है, स्वरूपसे कर्म छोड़नेका नहीं, जिसका पक्ष अर्जुनने पहले ले रक्खा था। श्रीकृष्णके अन्दर इस प्रकार अपने मनको निरन्तर लगाये रखनेका ही नाम 'योग' है (गी० ८।७-१४) इसी तरह सारी क्रियाओंको उसीके अर्पण कर देनेका नाम 'यज्ञ' है। योग और यज्ञकी इसी स्थितिमें रहकर अर्जुनको कर्म करनेका आदेश दिया गया था।

कर्मके विषयमें श्रीकृष्णने अर्जुनको जो कुछ भी उपदेश दिया, वह सब उसने मान लिया और उसके तत्त्वको समझकर वह प्रसन्नतापूर्वक कर्मयोगी बननेके लिये तैयार हो गया, क्योंकि कर्मयोगका उसने यही स्वरूप समझा था। परन्तु श्रीकृष्ण उसी साँसमें संन्यास अर्थात् कर्मोंके त्याग-की प्रशंसा करने लगे (गी० ४।४१)। इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्णने 'संन्यास' शब्दका जिस अर्थमें प्रयोग किया था, उसे अर्जुन अभीतक नहीं समझा था। संन्यास और कर्म-योग दोनोंकी एक ही समयमें कैसे प्रशंसा हो सकती है? वह सोचने लगा कि दोनोंमेंसे एक मार्ग दूसरेकी अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर होना चाहिये और उसने यह निश्चय किया कि मैं उसी मार्गका अनुसरण करूंगा जो दोनोंमें श्रेष्ठ होगा।

अर्जुनका समझा हुआ कर्मत्यागरूप संन्यास और कर्मयोग, उचित रीतिसे अभ्यास किये जानेपर दोनों ही अच्छे हैं, किन्तु इन दोनोंमें कर्मयोग श्रेष्ठ है। बात यह है कि इस प्रकारके संन्यास और कर्मयोग दोनोंमें ही निःस्वार्थ-बुद्धि अपेक्षित है। कर्म करनेमें और कर्मका त्याग करनेमें, दोनोंमें ही यदि मनुष्य आशा और भयको छोड़ दे तो कर्मके प्रति उसके ये दोनों ही व्यवहार संन्यासीके व्यवहारके सदृश ही होंगे। इस प्रकार निरपेक्ष होनेसे मनुष्य कर्मोंके बन्धनसे छूट जाता है (गी० ५।२)। यदि फलके प्रति इस प्रकारकी अनासक्ति हो जाय तो फिर संन्यास और कर्मयोगको भिन्न क्यों मानना चाहिये? दोनों-का फल एक होनेसे भी वे एक ही हैं (गी० ५।२-५)। परन्तु इस प्रकारकी अनासक्ति अर्थात् अपनी क्रियाओंमें इच्छा और द्वेषका त्याग तभी सुगमतासे सिद्ध हो सकता है, जब योगका भाव विद्यमान हो, जिसका स्वरूप ऊपर बताया गया है। परमात्माकी सत्ताका ज्ञान मनुष्यके अन्दर अलक्षितरूपसे विद्यमान रहता है, योगके द्वारा इस ज्ञानके विकसित हो जानेपर ही मनुष्य उसे समस्त भूतों और समस्त क्रियाओंका मूल तथा सारे फलोंका भोक्ता समझने लगता है। इस प्रकारके योग बिना कर्मत्यागरूपी संन्यासका फल दुःखके सिवा और कुछ भी नहीं होता। जब मनुष्यको इस प्रकारका अनुभव हो जाता है तब वह अपने छोटेसे छोटे व्यापारको भी अपना नहीं अपितु उस सर्वव्यापी परमात्माका समझने लगता है, जिसके हाथमें वह निरी क्रियाहीन कठपुतलीके समान है (गी० ५।७-१०)। इस प्रकारकी वृत्ति हो जानेपर कर्मत्यागरूपी संन्यास कैसे हो सकता है? यदि योग-सिद्धितक पहुँचे बिना ही कर्मोंका त्याग कर दिया जाता है तो दुःखके अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं लगता। इसीलिये अर्जुनको यह बतलाया गया कि

संन्यासका अर्थ कर्मोंका त्याग नहीं है अपितु योगारूढ़, अहंकाररहित और फल-निरपेक्ष होकर कर्म करना है। (गी० ५ । १२)।

जो फलको सामने न रखकर कार्य—कर्म करता है वही संन्यासी और वही योगी है। अर्जुनको यह भी कहा गया कि संन्यास और योग एक ही वस्तु है। संन्यास और कर्मयोग दो सिद्धान्त नहीं हैं, अपितु एक ही सिद्धान्त-योगके दो पहलू हैं। जिस प्रकार कर्मोंका त्याग करके कोई संन्यासी नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार सङ्कल्पका त्याग किये बिना कोई कर्मयोगी भी नहीं हो सकता। कर्मयोगीके लिये जैसे संन्यास-- अर्थात् सङ्कल्पका त्याग— आवश्यक है; वैसे ही संन्यासीके लिये कर्म आवश्यक है (गी० ६ । १–२)। अहंकारयुक्त मानसिक उत्साहका नाम सङ्कल्प है। इस प्रकारके सङ्कल्पसे कर्मफलकी इच्छा उत्पन्न होती है। इसी इच्छाका नाम काम है (गी०६।२४)। यह सङ्कल्प चाहे कैसा ही परिष्कृत—नहीं, नहीं, स्वर्गीय ही क्यों न हो, फिर भी योगसिद्धिके मार्गमें तो यह बाधक ही है (गी० २ । ४२-४५)।

भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अपने आपेको बिना आगा पीछा किये इस प्रकार समर्पणकर देना कि जिसमें अहङ्कारका सर्वथा लोप हो जाय। इसीका नाम योग है। एक बार यदि मनुष्य इस प्रकार भगवान्को आत्मसमर्पण करके उस स्थिति-में पूरी तौरसे टिक जाता है, तो फिर उसकी राजसी प्रकृति शान्त हो जाती है और उस शान्तिके सहारे वह पूर्णयोगके प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार पूर्ण योगकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्यको भगवान्की झाँकी दिखायी देने लगती है। वह उस झाँकीके आनन्दमें मस्त हो जाता है। उस झाँकीसे उसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है। वह योगकी उस स्थितिमें आरूढ़ हो जाता है, जहां आत्माका परमात्माके साथ मिलन होता है। इस प्रकारका निरन्तर अत्यन्त संयोग सृष्टिका मूल तत्त्व है। एक बार इस संयोगके हो जानेपर फिर उसकी निवृत्ति नहीं होती। इसकी प्राप्तिके अनन्तर फिर और कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं रह जाती। जो इस स्थितिपर आरूढ़ हो गया, उसे भीषणसे भीषण दुःख भी विचलित नहीं कर सकता, (६।२२) उसके सारे दुःख निवृत्त हो जाते हैं। इसी स्थिति-का नाम योग है। अर्जुनको इसी योगका अदम्य उत्साहके साथ अभ्यास करनेके लिये कहा गया। इसी स्थितिपर पहुंचनेका पहला साधन उसे यह बताया गया कि 'तू सङ्कल्पसे उत्पन्न हुई सारी कामनाओंका त्याग करके मनके द्वारा सारी इन्द्रियोंको वशमें कर ले और फिर क्रमशः आगे बढ़ता हुआ पूर्ण योगकी स्थितिपर पहुंच जा' (गी०६।२०-२४) इस प्रकारका योगी परमात्माको सबके अन्दर और सबको परमात्माके अन्दर देखने लगता है। समदृष्टि होनेसे वह सर्वत्र समबुद्धि हो जाता है, योगके द्वारा जो इस प्रकारकी समबुद्धि उत्पन्न होती है, उससे उसमें कर्म करने-की कुशलता प्राप्त होती है (गी० २।५०)। ऐसी स्थितिमें युद्ध जैसे घोर कर्म भी उसे दुःखप्रद नहीं होते। वह निर्दोष हो जाता है। वह सहजमें ही ज्ञानपूर्वक ब्रह्ममें स्थित हो जाता है और दिव्य आनन्द लूटने लगता है। (गीता ६। २८)। यह ब्राह्मी-स्थितिरूप योग सबसे बड़ी सिद्धि है जिसे प्राप्त करनेके लिये मनुष्य अभिलाषा कर सकता है।

'संन्यास' शब्दका जिस अर्थमें श्रीकृष्णने प्रयोग किया था, उसे समझनेके लिये अर्जुनको केवल उसी शब्द-का अर्थ जाननेकी आवश्यकता न थी, अपितु कर्म और योग इन दो शब्दोंका भी नया अर्थ जानना उसके लिये आवश्यक था। तीसरे और छठे अध्यायमें श्रीकृष्ण इन दोनों शब्दोंका अर्थ अर्जुनको समझा चुके। तीसरे अध्याय तक अर्जुनको भगवान्के उपदेशके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी शङ्काएं थीं किन्तु 'संन्यास' शब्दसे श्रीकृष्णका क्या तात्पर्य है इसको अब वह भलीभांति समझ गया और अगले अध्यायोंमें जहां जहां इस शब्दका प्रयोग हुआ है, अर्जुन उसके भावको समझ गया है। नवें अध्यायमें उसे यह उपदेश दिया गया है कि तू अपनी सारी क्रियाएं श्री-कृष्णके अर्पण कर दे और उनके फलकी परवा न कर, चाहे वे अच्छे हों या बुरे। इस प्रकार कर्मके बन्धनसे मुक्त होने और इस मुक्तिकी अवस्थामें श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे संन्यास-योगका अभ्यास कर (गी० ६।२८)। आगे चलकर बारहवें अध्यायमें श्रीकृष्ण अनन्ययोगसे अपनी उपासना करने और उपासनाके समय सारे कर्मोंको अपने अर्पण करनेको कहते हैं (गी० १२।६)। इस स्थलमें अर्जुनको 'संन्यास' शब्दके अर्थके सम्बन्धमें अथवा भगवान्के उपदेशके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं होती।

आगे चलकर भगवान्ने 'संन्यास' और 'त्याग' इन दो शब्दोंका साथ साथ प्रयोग किया है। देखनेमें इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है किन्तु जिस ढङ्गसे उनका कहीं कहीं प्रयोग किया गया है, उससे मालूम

होता है कि दोनोंके अर्थमें कुछ भेद अवश्य है। इसीलिये अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा कि यदि इन शब्दोंके अर्थमें कोई भेद हो तो कृपाकर उसे समझाइए। (गी० १८।१)। इसीके अगले श्लोकमें श्रीकृष्णने अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर दिया है।

जिसने पक्षपातरहित होकर गीताका अध्ययन किया होगा, उसके ध्यानमें यह बात अवश्य आयी होगी कि 'काम्य-कर्म,' 'संन्यास' और 'फलत्याग' इन शब्दोंका वही अर्थ समझना चाहिये जो पिछले अध्यायोंके उपदेशके अनुकूल हो। मीमांसकोंने जिस अर्थमें इन शब्दोंका प्रयोग किया है वह अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है। बात तो यह साधारण सी है; किन्तु इसको भूल जाना गीताके साथ अन्याय करना है। गीतामें कहीं कोई ऐसी बात नहीं है जिससे यह प्रकट हो कि मीमांसकोंने कर्मके जो चार भेद बतलाये हैं—जिनमेंसे एक काम्य कर्म है–वे गीताको स्वीकृत हैं। गीतामें जिन साधारण किन्तु बड़े गहन तत्त्वोंका प्रत्येक स्थलमें बड़े आग्रहके साथ प्रतिपादन किया गया है, उन्हें देखते हुए इस प्रकारकी व्याख्या करना बाल-चेष्टा सी जान पड़ती है। इसलिये इस (१८।२) श्लोकमें काम्य कर्मका अर्थ है—कामसङ्कल्पसे उत्पन्न हुआ कर्म (गी० ४ १६) काम-सङ्कल्प कर्ताकी कर्म और उसके फलके प्रति आसक्ति का नाम है। कर्मके प्रति आसक्तिका नाम सङ्ग है और फल-के प्रति आसक्तिका नाम है फलासक्ति। इससे यह सिद्ध होता है कि सङ्ग छोड़ने और फल छोड़नेका एक ही अर्थ नहीं है। इसलिये सङ्ग और फल दोनोंको साथ ही छोड़ना आवश्यक है (गी० १८।६)। जो सङ्गका यह अर्थ समझ-कर उसे छोड़ देता है, वह अपने आपको अपने छोटेसे छोटे कर्मोंका भी कर्ता नहीं मानता। वह समझता है कि मैं कुछ नहीं करता (गी० ५।८)। जो अपने सारे कर्मोंके फल-को त्याग देता है किन्तु उनके प्रति सङ्गको नहीं त्यागता वह अपने अधिकारका पालन करनेमें अपनेको कर्ता मानता है (कर्मण्येवाधिकारस्ते इत्यादि गी० २।४७)। विशेषकर परम सीमाको पहुँचकर फलके समीप सङ्गका सर्वथा त्याग उत्तम और श्रेष्ठ है। इसीका नाम संन्यास है। इस स्थिति-पर पहुँचनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य श्रीकृष्णके साथ अनन्य भक्तियोग स्थापित करे, निरन्तर उनका ध्यान करे और उनकी उपासना करे (गी० १२।६)। इस प्रकारकी परम सिद्धि तुरन्त ही बिना यत्नके नहीं प्राप्त हो सकती। निरे फलत्याग और संन्यासके इस सर्वोच्च प्रयत्नके मध्यमें श्रीकृष्ण-ने दो और मार्गों का उपदेश किया है वे हैं 'अभ्यासयोग' और 'मत्कर्मपरत्व'(गी०१२।९-१०) इससे यही सिद्ध होता है कि काम-सङ्कल्प अर्थात् सङ्ग अथवा कर्म करनेमें कर्ताकी अहं-बुद्धिके त्यागका नाम ही संन्यास है और यह संन्यास श्रीकृष्ण-के मतमें त्यागसे ऊँचा है, क्योंकि त्याग तो केवल फलत्याग-का ही नाम है। परन्तु इस प्रकारका अहंकार-त्यागी संन्यासी, निरा त्यागी ही नहीं है, वह उससे बढ़कर है। यद्यपि जो त्यागी फलका त्याग कर देता है, उस सीमा तक उसके अन्दर संन्यासका भाव आ जाता है, किन्तु श्रीकृष्णके उपदेशानुसार संन्यासीका जो स्वरूप यहां बताया गया है, वह उसमें नहीं घटता अपितु वह त्यागी ही रह जाता है। भगवद्गीतामें जिस योग-शास्त्रका श्रीकृष्णने उपदेश किया है (गी०११।२०) उसका एक स्वतन्त्र पारिभाषिक विस्तार है, एवं संन्यास और त्यागमें जो भेद ऊपर बतलाये गये हैं वे इसी विस्तारके अन्तर्गत हैं। यहांपर इस सम्बन्धमें अधिक लिखना अप्र-सङ्गोचित न होगा; अतः इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि संन्यास और त्याग दोनोंका ही फल कर्मोंके बन्धनसे छूटना है।

इस श्लोकसे आगेके श्लोकोंमें जो बातें समझायी गयी हैं, उनसे त्याग और संन्यासमें जो भेद ऊपर बताया जा चुका है वह स्पष्टरूपसे समझमें आ जायगा। यज्ञ, दान, तप आदि कर्म अवश्य करने चाहिये; किन्तु संगरहित और फल-निरपेक्ष होकर करने चाहिये (गीता १८।६)। ये नियत कर्म हैं और इनका त्याग नहीं बन सकता (गी० १८।७)। गीतामें जिन्हें कार्यकर्म कहा है वे यही हैं और इन्हें सङ्ग तथा फला-सक्ति छोड़कर करना चाहिये (१८।९)। कर्मसे छुटकारा पानेकी चेष्टा करना व्यर्थ है, क्योंकि जबतक यह शरीर है तबतक कर्मोंका सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है। जिसने कर्म-फलका त्याग कर दिया हो वह त्यागी कहलाता है (गी० १८।११)। इस प्रकारका त्यागी और संन्यासी ये दोनों ही कर्म-बन्धनसे छूट जाते हैं (१८।१२)। जिसके मनमें कर्ता-पनका अहंकार नहीं रहता एवं जिसकी बुद्धि संसारमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष सब लोकोंको मारकर भी न किसीको मारता है और न पापके बन्धनमें पड़ता है, क्योंकि उसमें सङ्ग या कर्तृत्व-अहंकार नहीं है। वही संन्यासी है।

गीतामें अपूर्व मिश्रण

भारतवर्षके धर्ममें गीता बुद्धिकी प्रखरता, आचारकी उत्कृष्टता एवं धार्मिक उत्साहका एक अपूर्व मिश्रण उपस्थित करती है।

—डा० मेकनिकल

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' ।
शरशय्या पर पड़े पितामह, श्रीहरिका करते हैं ध्यान ।
तदनुसार ही भीष्म-ध्यान-रत, शान्त विराजरहे भगवान ॥

श्रीभगवद्गीताकी अनुबन्ध-चर्चा

(लेखक—श्रीमाध्वसम्प्रदायाचार्य, दार्शनिकसार्वभौम साहित्य-दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न,न्यायरत्न, गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

बहुभिरपि श्रुतिनिकरैर्विमृग्यते यत्परं वस्तु ।
स्वामिसुहृत्सुतकान्तीभावं भावयति तद्भावात् ॥

इस लेखमें प्रधानतया श्रीभगवद्गीतासम्बद्ध विषयपर कुछ लिखना है, परन्तु सामान्य ज्ञान बिना विशेष विषयकी जिज्ञासा नहीं हो सकती, अतएव सामान्य जिज्ञासामें,—गीताशास्त्रका क्या प्रयोजन है, उसमें क्या विषय है और उसे कौन चाहता है ? ये तीन प्रश्न उठते हैं । इनका उत्तर क्रमसे यह है—गीताशास्त्रका मोक्ष फल है, मोक्षलाभके उपाय इसका विषय है और प्राणीमात्र इसको चाहते हैं ।

इन सब कारणोंसे मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, पुरुष अर्थात् जीव जिसको चाहता है, वही पुरुषार्थ है । जीव प्रधानतया सुख चाहता है, अतः सुख ही मुख्य पुरुषार्थ है । सुख दो प्रकारके हैं, अनित्य और नित्य । अनित्य सुखका नाम काम है और नित्य सुखको मोक्ष कहते हैं । इन दोनों सुखोंके उपाय भी चाहे जाते हैं । अर्थ और धर्म उपाय हैं, इसलिये उनको गौण पुरुषार्थ कहते हैं । इन दोनोंमें धर्म अदृष्ट है और अर्थ दृष्ट है । यही चार अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष नामक पुरुषार्थ हैं । इन चारोंमें धर्म और अर्थकी अपेक्षा मुख्य होनेके कारण एवं अनित्य कामकी अपेक्षा नित्य होनेके कारण मोक्ष ही उत्कृष्ट है, इसीसे मोक्षको परम पुरुषार्थ कहते हैं ।

मोक्षके स्वरूपमें अनेक अवान्तरभेद रहनेपर भी मुख्य दो भेद हैं, कुछ दार्शनिक दुःखके अत्यन्त अभावको मोक्ष कहते हैं और कुछके मतमें नित्य सुखावाप्ति ही मोक्ष है । इसमें फिर दो भेद हैं, (१) नित्यसुख-स्वरूपलाभ, और (२) नित्यसुख स्वरूपानुभव !

इसमें सर्वसमन्वयके सिद्धान्तकी रीतिसे प्रथमसे तो विरोध नहीं रहता । अप्रासंगिक होनेके कारण इसका विवेचन यहां नहीं किया जाता । द्वितीयमें रुचिभेदसे दो भेद व्यवस्थित हैं ।

इस फलकी प्राप्तिके उपाय भी अवान्तररूपोंसे बहुत प्रकारके हैं, परन्तु इनमें प्रधान उपाय तीन हैं,— कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग । अष्टांगयोग भी उपाय है पर वह स्वतन्त्र नहीं है, व्यञ्जनमें लवणकी भांति वह तो सर्वानुगत ही है ।

इन तीनोंमें कर्मयोगका अनुष्ठान सबसे पहले करना चाहिये, इसी कारणसे कर्मप्रधानवाद भी मूलयुक्त है । कर्मके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ज्ञानप्रकाशोदय, प्रेम-प्रभा-विकास होता है । अतएव फलसे व्यवहित कारण होनेसे कर्मका अप्राधान्यवाद भी निर्मूल नहीं है ।

ज्ञान और भक्तिमें भी प्रधानाप्रधानभावको लेकर परस्पर सगोत्र कलह है । परन्तु विवेक-दृष्टिसे देखनेपर इस कलहका बीज अज्ञान, दुराग्रह या दुर्वासना ही प्रतीत होते हैं ।

वस्तुतः ज्ञान शब्दसे दो प्रकारके ज्ञान समझे जाते हैं—प्रथम तत्त्वज्ञान और दूसरा तत्त्वज्ञानके उपायोंका ज्ञान । इसी प्रकार भक्ति शब्दसे भी दो प्रकारकी भक्ति समझनी चाहिये, एक तो फल-भक्ति, जो प्रेमके नामसे प्रसिद्ध है और दूसरी साधन-भक्ति, जिसके श्रवण-कीर्तनादि अनेक भेद हैं । कार्यकारिता क्षेत्रमें इन चारोंका क्रम इस प्रकार है—पहली श्रेणीमें उपायज्ञान, दूसरीमें साधनभक्ति, तीसरीमें तत्त्वज्ञान और चौथीमें फलरूप प्रेम-सम्पत्ति । इस अवस्थामें भक्तिको अंग कहना 'साधनभक्ति'से सम्बन्ध रखता है और ज्ञानको अंग कहना प्रेम-पथिकोंकी दृष्टिसे है ।

यहां इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि साधन-अवस्थामें साधक जिस वासनासे साधनानुष्ठानमें प्रवृत्त होगा, उसे तदनुसार ही फलकी प्राप्ति होगी । क्योंकि—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । यह भगवान्‌के वचन हैं । इस सिद्धान्तके अनुसार ही अन्तिम निर्णय होगा ।

अब रहा वासनाभेद, सो रुचिभेदमूलक है । रुचि-भेद भी अनादि संसारप्रवाहमें अनादि संस्कारोंके अधीन है, इस विषयपर शास्त्रोंने प्रकारान्तरसे विवेचन किया है । जगत्‌में दो तरहकी पकड़ प्रसिद्ध है, वानरी-धृति' और 'वैडाली-धृति' इनमें अन्तर यह है कि पहलीमें (बन्दरीका) बच्चा माता को पकड़े रहता है और दूसरीमें (बिल्ली) माता बच्चेको पकड़े रहती है । अवश्य ही इन साधनोंसे फल चाहनेवाले सभी प्राणी नहीं होते । ऊपर जो प्राणीमात्रको चाहनेवाला कहा गया है सो केवल सुख चाहनेके भावसे कहा गया है । कीट-पतंगादि प्राणियोंको तो साध्य-साधनका ही ज्ञान नहीं है, अतएव वे कैसे साधनसे सुख चाहेंगे ? जिन प्राणियोंके लिये शास्त्रोपदेश सार्थक है वही प्राणी

इसके अधिकारी हैं, ऐसे प्राणी देवता, असुर और मनुष्यादि समझे जाते हैं। इनमें भी सर्वथा अधिकारी तो मनुष्य ही है।

इन मनुष्योंमें वासनाके अनुसार दो प्रकार हैं संसारमें प्रवृत्ति-परायण, और संसारसे निवृत्ति-परायण। निवृत्तिपरायण मनुष्योंके तीन भेद हैं—१, जो प्रवृत्त है किन्तु निवृत्ति चाहते हैं। २, जो निवृत्त हो रहे हैं और ३, जो निवृत्त हो चुके हैं। इन निवृत्तोंमें भी दो भेद हैं—'जीवन्मुक्त' और निवृत्त-अशेष-कर्मफल। विदेहमुक्त भी इन्हींमेंसे कहलाते हैं।

निवृत्ति-परायणोंमें पहले और दूसरे मुमुक्षु कहलाते हैं तथा प्रवृत्ति-परायण मनुष्यको विषयी या संसारी कहा जाता है। इस प्रकार विषयी, मुमुक्षु और मुक्त तीनों ही इस गीता-शास्त्रके अधिकारी हैं, इसी भावसे श्रीभगवान्‌ने 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्यादि कहा है। यहां दुःख-निवृत्तिकी इच्छावालोंको आर्त्त और सुख-प्राप्ति चाहनेवालोंको अर्थार्थी कहा है, प्रकारान्तरसे ये दोनों ही विषयी कहे जा सकते हैं। ये सभी अधिकारी अपने अपने अधिकारके अनुसार श्रीमद्भगवद्गीतासे अपने चरम अभीष्टकी प्राप्ति कर सकते हैं। इस अभीष्टकी प्राप्तिमें मनुष्यको परतत्त्वके साथ अनिवार्यरूपसे साक्षात् सम्बन्ध होता है और वह सम्बन्ध इस विषयमें उपजीव्य-उपजीवकका होता है। जानने योग्य सभी विषयोंको श्रुति-स्मृति-सदाचार अनादि कालसे निरन्तर बतलाते आ रहे हैं। श्रुति भगवती वक्तृ-निरपेक्ष स्वतन्त्र-शब्द होनेके कारण सहजसिद्ध प्रकीर्णरूपसे इसका वर्णन करती हैं, ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) श्रुतियोंमें बिखरे हुए ज्ञानको एकत्र कर वैसे ही सुशृङ्खलित कर देता है जैसे भिन्न भिन्न पुष्पोंमें विलीन मकरन्दको बड़ी ही निपुणतासे मधुमक्षिका एकत्र करलेती है और गीता-शास्त्र उस दुग्ध सदृश समुदित दर्शनसे नवनीतवत् सिद्धान्तका प्रकाश कर देता है। अब अधिकारियोंका कर्तव्य इतना ही रह गया कि जैसे रोगी, दुर्बल और स्वस्थ मनुष्योंको अपनी अपनी शक्तिके अनुसार समुचित रीतिसे नवनीत सेवन करने पर ही लाभ होता है, अन्यथा नहीं होता, वैसे ही यथायोग्य अधिकारानुसार श्रीमद्भगवद्गीताका आश्रय ग्रहण करें।

यद्यपि वेदोंमें परतत्त्व-मार्गके पाँच प्रकार पाये जाते हैं, यथा—१, अद्वैत २, विशिष्टाद्वैत ३, शुद्धाद्वैत ४, द्वैताद्वैत और ५ द्वैत। इन पांचों ही प्रकारोंको श्रीमच्छङ्कराचार्यपाद, श्रीमद्रामानुजाचार्यपाद, श्रीमद्वल्लभाचार्यपाद, श्रीमन्निम्बार्काचार्यपाद और श्रीमदाचार्य मध्वाचार्य श्रीमदानन्दतीर्थाचार्यपादने अपने अपने भाष्योंमें तर्कयुक्तियोंके साथ पुष्ट प्रमाणोंसे क्रमसे पल्लवित किया है। जिसे अल्पज्ञ मनुष्य परस्पर विरुद्ध मानते हैं, दुराग्रही जन इनमेंसे एकको मुख्य और दूसरेको गौण कहते हैं, परन्तु वस्तुतः सर्व-सामञ्जस्यकी सरणिमें सभीका पर्यवसान एकमेंही होता है।

अब चौथा अनुबन्ध-सम्बन्ध रह गया जो शास्त्रीय व्यवहारमें तो अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु साधारणरूपसे जिज्ञासुकी उसके बिना कोई क्षति नहीं होती। इससे उसके सम्बन्धमें तटस्थ ही रहना उचित है। यह लेख उस विशेष वक्तव्यकी भूमिकास्वरूप है, जिसका श्रीमद्भगवद्गीताके चरम प्रतिपाद्यसे साक्षात् एवं शाश्वतिक सम्पर्क रहता है। भगवत्-कृपासे कभी अवसर मिलेगा और पाठकोंका उत्साह प्रतीत होगा तो किसी अन्य उपहारको लेकर पुनः रङ्गमञ्च पर उपस्थित होना सम्भव है।

आशा है मार्मिक विज्ञजन इस लेखकी निरपेक्षभावसे आलोचना कर उचितानुचित दिखानेका श्रम स्वीकार करेंगे।

गीताका सुन्दर सन्देश

श्रीमद्भगवद्गीताको लाखों मनुष्योंने सुना, पढ़ा तथा पढ़ाया है और आत्माको प्रभुकी ओर अग्रसर करनेमें यह पुस्तक अत्यन्त आशाजनक सिद्ध हुई है। उसकी धारणा सर्वथा निराधार नहीं है, क्योंकि गीताका सुन्दर सन्देश अनन्त प्रेमके अभिलाषियोंके लिये प्रत्येक स्थान एवं समय पर अपनी असीम दयाकी वर्षा करना तथा जीवनके सभी कार्योंका परमात्माकी निस्वार्थ सेवाके निमित्त समर्पण करना है।

—डा० लीओनेल डी० बेरेट

गीताका भक्तियोग और चतुर्विध भक्तोंकी व्याख्या तथा भक्तोंके लक्षण

(लेखक—प्रो० श्रीताराचन्दजी राय, एम० ए० बर्लिन युनिवरसिटि, जर्मनी)

श्री मद्भगवद्गीता एक अद्भुत ग्रन्थ है। धन्य है हमारी भारतमाता, जिनके गलेमें ऐसी दिव्य मोतियोंकी माला शोभायमान है। धन्य है हमारा साहित्य जिसमें ऐसी अद्वितीय दार्शनिक काव्यरचना पायी जाती है। संसारके साहित्यिक गगनमण्डलपर इसकी प्रदीप्तिके सम्मुख और सब ज्योतियाँ मन्द पड़ जाती हैं। गीतामें कविता और तत्त्वविचारका विचित्र संसर्ग उपलब्ध होता है। ऐसा आश्चर्यमय सम्मिश्रण किसी अन्य ग्रन्थमें नहीं दीख पड़ता। वेदोंका सार, दर्शनोंका निष्कर्ष तथा उपनिषदोंका रहस्य गीतामें सन्निकृष्ट प्रकारसे संवलित है।

भगवद्गीतासे मेरा परिचय बहुत पुराना है। मुझे वह दिन अच्छी तरहसे स्मरण है कि जब मैंने १४ वर्षकी अवस्थामें व्या० वा० पण्डित दीनदयालुजीसे सनातनधर्म-सभा लाहौरके वार्षिक उत्सवपर गीता-विषयक निम्नलिखित श्लोक सुना था:—

> सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
> पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

गीतामें मेरा हार्दिक अनुराग तो था ही, परन्तु उस दिन पण्डित दीनदयालुजीके व्याख्यानने मुझपर जादूका काम किया। अब गीतासे मेरी प्रीतिकी सीमा न रही। मैं दिन-रात गीताका पाठ करने लगा, अब मैं जहां कहीं जाता था, गीता मेरे साथ रहती थी। दूसरे अध्यायपर तो मैं निछावर हो चुका था। इसमें महत्त्वपूर्ण सात्त्विक विवेचन और कर्तव्य-सम्बन्धी अत्यन्त उपयोगी विचार कूट कूट कर भरे हैं। इस अध्यायके बाईसवें श्लोकका ('वासांसि जीर्णानि यथा विहाय······') मैं बारबार उच्चारण किया करता था। इस अध्यायके अतिरिक्त मुझे उन अध्यायों अथवा श्लोकोंसे विशेष प्रेम था, जिनमें भक्तियोगकी महिमाका वर्णन किया गया है। मेरा हृदय सतत ईश्वरानुरागके अमृतका प्यासा रहा है। इसी कारण मैं 'कल्याणके गीताङ्क' में भक्तियोग-पर कुछ लिखनेका उद्योग करता हूं। वास्तवमें 'कर्ता' स्वयं भगवान् हैं। यह सब उन्हींकी लीला है।

जब हम भक्तियोगके विषयपर विचार करते हैं तो तत्काल हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—

भक्ति क्या वस्तु है ?

इसका उत्तर हमें महर्षि शाण्डिल्य देते हैं:—

'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे'

ईश्वरमें अत्यन्त अनुरक्ति, निरतिशय प्रेम रखना, इसीको भक्ति कहते हैं। भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग गीतामें यह तीन मुक्तिके साधन बतलाये गये हैं। इस सम्बन्धमें 'योग' का अर्थ 'साधन अथवा विधान' समझना चाहिये। ज्ञानयोगके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है:—

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
>
> (गी० ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक-आध ही सिद्धि प्राप्त करनेका यत्न करता है। प्रयत्न करनेवाले सिद्ध पुरुषोंमें से भी एक-आधको ही मेरा वास्तविक ज्ञान होता है।'

आगे चलकर सातवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान्ने ज्ञानीकी प्रशंसा तो की है ('ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्') परन्तु उन्नीसवें श्लोकमें कहा है कि ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ('वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः')। १८वें श्लोकमें इस बातका भी अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि ज्ञानी भक्ति शून्य नहीं है। इस विषयपर हम आगे कुछ अधिक कहेंगे। चौथे अध्यायमें भगवान्ने कहा है 'सब प्रकारके समस्त कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें होता है। इसलिये द्रव्य-मय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है। यदि तू सब पापियोंसे अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानकी नौकासे सब पापोंको तर जायगा। जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि ईंधनको भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! ज्ञान-की अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देती है। वास्तवमें इस जगत्में ज्ञानके सदृश पवित्र कुछ भी नहीं है।'

> श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
> सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३
> अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
> सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ ३६

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । ३८ ।
(गीता, अध्याय ४)

यहाँ भगवान्‌ने ज्ञानमार्गकी महत्ताका प्रतिपादन किया है। परन्तु यह मार्ग केवल तीक्ष्ण-बुद्धिवालोंके लिये है। अन्य मनुष्योंके लिये कर्ममार्ग एवं भक्तिमार्ग ही सुकर है। द्वितीय अध्यायमें कर्मयोगके लक्षणोंका वर्णन है। तीसरे अध्यायमें निष्काम कर्मका गौरव दिखलाया है। सातवें अध्यायमें कर्मयोगकी सिद्धिके लिये ज्ञान-विज्ञानके निरूपणका आरम्भ कर आठवेंमें अक्षर, अनिर्देश्य और अव्यक्त ब्रह्मका वर्णन किया है और नवें अध्यायमें भक्तिका स्वरूप बतलाया है।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् । ९ । २९

'जो भक्तिसे मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं।'

गीतामें भक्तिका इतना उच्च स्थान है कि अनन्यभावसे भक्ति करनेवाला, चाहे वह बड़ा भारी दुराचारी क्यों न रहा हो, साधु ही समझा जाना है:-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥९।३०

भगवान् कहते हैं कि भक्तिके सूर्यका प्रभाव इतना प्रचण्ड है कि इससे शीघ्र ही भक्तके दुराचारका कुहरा दूर हो जाता है। वह जल्दी ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वती शान्ति प्राप्त कर लेता है। ईश्वरके भक्तका नाश कभी नहीं होता:--

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥९।३१

ईश्वरका आश्रय करके स्त्रियां, वैश्य और शूद्र भी परम गतिको पाते हैं, फिर पुण्यवान् भक्तों, ब्राह्मणों और राजर्षियोंकी तो बात ही क्या है। इसीलिये भगवान् अर्जुनको उपदेश देते हैं:-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥९।३४

'मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर और मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार मत्परायण होकर तू मुझे ही आ मिलेगा।'

गीतामें इस बातका स्पष्ट उल्लेख है कि मनुष्य परमेश्वरके असली स्वरूपको वेद, तप, दान, अथवा यज्ञद्वारा नहीं देख सकता। भगवान् कहते हैं:-'हे अर्जुन ! केवल अनन्य भक्तिसे ही इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मेरा दर्शन होना और मुझमें प्रवेश करना सम्भव है।' (गीता ११।५४)

इसी ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको भगवद्गीताका यह सार बता दिया है। 'हे पाण्डव ! जो इस बुद्धिसे कर्म करता है कि सब कर्म मेरे अर्थात् परमात्माके हैं, जो मेरा भक्त मत्परायण और संगवर्जित है और जिसका किसी प्राणीसे वैर नहीं है, वह मेरे पास आ पहुंचता है।'

'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

गीतामें कर्मयोगियोंको बड़ी ऊंची पदवी दी गयी है (६।४६), परन्तु इनमेंसे उनको ही सबसे श्रेष्ठ माना है जो श्रद्धापूर्वक परमेश्वरका भजन करते हैं (६।४७)। १४ वें अध्यायमें लिखा है कि जो मनुष्य अव्यभिचार अर्थात् एकनिष्ठ भक्तियोगसे परमात्माकी सेवा करता है वह तीनों गुणोंके पार होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होनेके योग्य हो जाता है (१४।२६)।

१२ वें अध्यायमें अर्जुन पूछता है 'कि व्यक्त और अव्यक्तके उपासकोंमें कौन उत्तम योगवेत्ता है?' श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं कि 'जो परम श्रद्धासे परमेश्वरकी उपासना करते हैं, वे सब भक्तोंसे श्रेष्ठ हैं। अक्षर, अव्यक्त तथा अनिर्देश्यकी आराधना करनेवाले भी परमात्माको पा लेते हैं, परन्तु उनको बहुत क्लेश होता है क्योंकि देहधारियोंके लिये अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य और कूटस्थ तक पहुँचना बड़ा दुष्कर और कठिन है।' इस कारण श्रीभगवान्‌का कथन है:-'जो सब कर्म मुझे अर्पण करता है, जो मत्परायण होकर अनन्य योगसे मेरी उपासना करता है, मैं उसका उद्धार कर देता हूं। अतएव, हे अर्जुन ! मुझमें ही मन लगा, मुझमें ही अपनी बुद्धिको निविष्ट कर, इससे तू निःसन्देह मुझमें ही निवास करेगा।' (१२।१-८)

इन शब्दोंसे भी भक्तियोगकी श्रेष्ठता स्पष्ट प्रमाणित है।

परमात्मा और जगत्‌का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है। परमेश्वर जगत्‌का पिता, माता, धाता, पितामह है (९।१७)। वही सबकी गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, मित्र, प्रभव, प्रलय, स्थिति, निधान और अव्यय बीज है। ऐसे

आर्त-भक्त द्रौपदी

परमात्मासे प्राणियोंका प्रेम करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। माता, पिता और पुत्रमें परस्पर अनुराग होना प्रकृति-सिद्ध है।

सच्चे भक्तके लिये तो भगवान् हर जगह दृष्टिगोचर होते हैं। भक्त अपनी सब आकांक्षाएं उन्हींको अर्पण कर देता है। गीतामें चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन है (७।१६-१७)

(१) आर्त—अर्थात् जो संसारमें रोग-शोक-भय-कष्टसे पीड़ित होकर परमेश्वरको आत्मसमर्पण करते हैं और इन सब दुःखोंसे छुटकारा चाहते हैं। जैसे द्रौपदी तथा गजराज।

(२) अर्थार्थी—अर्थात् जो ऐहिक कल्याण अथवा सुखके लिये भक्ति करते हैं। वे भोग एवं द्रव्यकी आकांक्षाओंसे प्रेरित होकर ईश्वरकी आराधनामें लग्न और निमग्न होते हैं। ऐसे भक्तोंकी तो संसारमें कोई कमी नहीं।

(३) जिज्ञासु—अर्थात् जो विषयोंपर लात मारकर केवल परमेश्वरका स्वरूप जाननेकी इच्छासे भक्तिमें लीन रहते हैं। वे तुच्छ वासनाओंके गड्ढोंमें नहीं गिरते। उन्हें इहलोक या परलोकके भोगोंकी कामना नहीं होती।

(४) ज्ञानी—अर्थात् जो नित्ययुक्त और अनन्यचित्त होकर एवं परमेश्वरके सम्यक् ज्ञानको प्राप्त कर उसका भजन करते हैं। ऐसे भक्त भगवान्को सबसे प्यारे हैं। वे सब भक्तोंसे बढ़ चढ़कर हैं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(७। १७)

'इन भक्तोंमें अनन्यभावसे भक्ति करनेवाला 'मद्देव युक्त' सबसे उत्तम है। ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

गीतामें इन चार प्रकारके भक्तोंका उल्लेख है परन्तु इन सबोंमें ज्ञानी भक्तकी विशेष प्रशंसा की गयी है। भगवान्ने सभी भक्तोंको 'उदार' कहा है, परन्तु ज्ञानोपेत भक्तको सबसे श्रेष्ठ बतलाया है। केवल इतना ही नहीं बल्कि उसको अपना आत्मा ही माना है (७।१८)।

कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगमें वास्तवमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। निष्काम बुद्धि अथवा ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करनेवाले, भक्तियोगपरायण और ज्ञानी भक्त सब भगवान्में ही जा पहुंचते हैं। अनन्य भक्ति करनेवालेको भगवान् स्वयं ज्ञान प्रदान करते हैं। अतएव अनन्य भक्त और ज्ञानीमें कोई भेद नहीं रहता।

अन्तमें अब यह प्रश्न उठता है कि भगवद्भक्तिके लक्षण क्या हैं। गीतामें इस विषयपर निम्नलिखित निरूपण किया गया है। भगवान् कहते हैं कि 'मेरा भक्त जो मुझे प्रिय है, किसीसे द्वेष नहीं करता, सबसे मित्रता रखता है, सबसे कृपापूर्वक बर्ताव करता है, उसके हृदयमें ममत्व-बुद्धि और अहंकारकी बू भी नहीं होती, वह दुःख-सुखमें समान रहता है, वह क्षमाशील, सन्तुष्ट, यतात्मा, दृढ़निश्चयी होता है। वह मन एवं बुद्धि मुझे अर्पण कर देता है। उससे न जगत्को दुःख होता है और न उसे जगत् क्लेश देता है, वह हर्ष, क्रोध और भयसे मुक्त, निरपेक्ष, पवित्र, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित होता है। वह सांसारिक सुखकी प्राप्तिके लिये कोई उद्योग नहीं करता। उसे न हर्ष होता है न शोक, वह किसी वस्तुकी इच्छा नहीं रखता, शुभ एवं अशुभका त्याग कर देता है। उसे शत्रु, मित्र, मान और अपमान, सर्दी गरमी एवं सुख-दुःख बराबर होते हैं। वह प्रत्येक प्रकारकी आसक्तिसे मुक्त होता है। उसे निन्दा और स्तुति एकसे प्रतीत होते हैं। वह बहुत बोलता नहीं, उसे भगवान्ने जो कुछ दिया है, उसीमें सन्तुष्ट रहता है। उसका कोई विशेष ठिकाना नहीं होता। वह सब बन्धनोंसे रहित जगत्में स्वतन्त्र विचरता है(गी०१२,१३-२०)वह मिताहारी होता है, वह समस्त प्राणियोंमें मेरी परम भक्तिको प्राप्त कर लेता है। भक्तिसे उसको मेरा (भगवान्का) ज्ञान हो जाता है, कि मैं (भगवान्)कितना हूं और कौन हूं। वह मेरा तात्त्विक ज्ञान उपलब्ध कर मुझमें ही (भगवान्में) प्रवेश करता है। मेरा ही आश्रय पानेपर वह कर्म करता हुआ भी मेरे अनुग्रहसे शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता है।(१८।५५-५६)

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गी०१८,५५-५६)

जब ईश्वर-भक्त अशरण-शरणकी कृपासे और परमात्मामें परम अनन्य विशुद्ध प्रेमसे आध्यात्मिक विकास प्राप्त कर एकनिष्ठ भक्तिके प्रकाशद्वारा भगवान्के तात्त्विक स्वरूपको जान जाता है तो उसके अन्दर परम ज्ञानका प्रादुर्भाव हो

जाता है। उसका आभ्यन्तरिक एवं बाह्य जीवन भगवान्‌की सत्तासे ओतप्रोत हो जाता है। आरम्भमें उसे चारों ओर भगवान् ही दीख पड़ते हैं। शनैः शनैः भगवान्‌की सम्पूर्ण शक्ति उसके हृदयमें अवतीर्ण होने लगती है, जिसके प्रभाव-के सामीप्यका अनुभव होते ही उसके समस्त दोष और व्यसन नष्ट हो जाते हैं। उसकी मानसिक पीड़ाओंके पर लग जाते हैं। उसके अन्दर परमात्माके आनन्दका प्रवाह बहने लगता है। इस प्रवाहमें आध्यात्मिक ज्ञान करनेसे मायाकी सारी मैल उतर जाती है। तदनन्तर उसे अपने आपमें और परब्रह्ममें कोई भेद नहीं दिखायी देता। वह स्वयं उसी असीममें लीन हो जाता है, जिसका ससीम अंश होकर वह इससे पहले संसारचक्रमें भटकता फिरता था।

धन्य हैं वे साधक जो ऐसी परम सिद्धिको प्राप्त होते हैं!

समस्त विश्वका धर्मग्रन्थ

(ले०—प्रोफेसर श्रीलौटूसिंहजी 'गौतम' एम० ए०, एल० टी०)

जबसे मनुष्य इस पृथ्वीपर आता है और माताकी गोदसे भूमाताकी गोदमें खिसक पड़ता है, तबसे पार्थिव शरीरके ध्वंसतक उसे प्रपञ्चमें रहना पड़ता है। अपनी निजी बुद्धि और तर्क-वितर्ककी सहायतासे अघटित-घटना-पटीयसी प्रकृति, माया या अविद्याकी विचित्र और अनिर्वचनीय शक्तिका शिकार मनुष्य एक ऐसे सहारेकी खोजमें लगा रहता है, जिससे उसे प्रकृतिके प्रपञ्चोंसे छुटकारा मिले, प्रपञ्चका नाश होकर उसे शाश्वत शान्ति मिले, त्रिविध तापोंका अन्त हो और संसार-चक्रसे छुट्टी मिले। इस दशाको भिन्न भिन्न मतोंने भिन्न भिन्न नाम और रूप दिये हैं। यही बौद्धोंका निर्वाण, ईसाइयोंका सातवां स्वर्ग, मुसलमानोंकी बिहिश्त, सगुण उपासना करनेवालोंका गोलोक, शिवलोक आदि, जैनियोंका कैवल्यज्ञान, दार्शनिकोंकी मुक्ति और श्रीमद्भगवद्गीताका ब्रह्म-निर्वाण है।

इस पृथ्वीके मनुष्यमात्रको भौगोलिक दृष्टिसे टुकड़े टुकड़े करना (अलग अलग जातिके समझना) अविद्याका विचित्र खेल है। इस संसाररूपी महासागरकी भिन्न भिन्न तरङ्गरूप मनुष्योंमें भेदबुद्धि रखना धर्मकी हत्या करना है। मानवी हृदय न तो यूरोपीय है और न भारतीय; वह केवल मानवी है। वही भय, वही निर्बलता, वही निस्सहायता, वही प्रकृतिकी दासता और काम, क्रोध, क्षोभ, मोह, मद, मत्सरका खेल जगत्‌भरमें व्याप्त है। मनुष्य-मात्रका एक ही प्रश्न है। वह प्रश्न है 'प्रपञ्चानामुपशमः' इस प्रपञ्चसे शान्ति।'

धर्मका उदय होता है मनुष्यके निर्बल हृदयपर, जिन्हें हम लोग 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः ... पण्डितं मन्यमानाः' जंगली कहते हैं, उनका भी धर्म हृदयसे उठता है, और जिन जंगली जातियोंको 'पण्डितम्मन्यमानाः' पोथीके बड़े बड़े विद्वानोंने जड़वादोपासक आदिकी संज्ञा दी है, वे भी उसी मानवी हृदयकी शान्तिके लिये वृक्षादिमें स्थित आत्माकी पूजा कर शान्ति चाहते हैं। तात्पर्य यह कि संसारके सारे मतोंने मानवी हृदयकी निर्बलताका अनुभव कर उसे भिन्न भिन्न मार्ग बतलाये हैं, जिनमेंसे किसी एक मार्गसे चलनेपर मनुष्यका अन्तिम उद्देश्य पूरा हो जाता है। ये भिन्न भिन्न मार्ग ही भिन्न भिन्न धर्म, मत या सम्प्रदाय हैं। सभी सम्प्रदायोंके प्रवर्तकोंने एक ही उद्देश्यसे अपने अपने मतका प्रचार किया है और अन्तिम लक्ष्य सबका एक ही है। वह लक्ष्य है 'प्रपञ्चानामुपशमः।' जङ्गली मनुष्यसे लेकर शाङ्कर वेदान्ती तक अपने अपने विकासके अनुसार इसी मार्गके पथिक हैं। अतः जिस धर्म या मतमें मानवी हृदय-की सच्ची शान्तिके लिये जितना अधिक साधन हो, वह धर्म या मत उतना ही उपादेय है। जो धर्म जितना ही सस्ता होगा वह उतना ही हेय और क्षणिक होगा। श्रीपुष्पदन्ता-चार्यने श्रीशिवमहिम्नस्तोत्रमें क्या ही अच्छा कहा है!

'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥'

अतः यह निश्चय हुआ कि मानवमात्रका एक ही ध्येय है। इस ध्येय तक पहुंचनेके लिये श्रीगीतामें जो धर्म बतलाया गया है वह मनुष्यमात्रके लिये है, यद्यपि हिन्दू-

संस्कृतिमें समन्वय-बुद्धि ही प्रधान है, वह भेद भावको अधार्मिक समझती है। ऋग्वेदके ऋषियोंसे लेकर तुलसी और कबीर तक आर्यसंस्कृतिमें पले हुए सभी नर-रत्नोंने भेद भावका निराकरण किया है तथापि जैसा समन्वय हमें श्रीगीतामें मिलता है वैसा और कहीं नहीं मिलता।

इस जगत्‌में प्रपञ्चसे छुटकारा पानेके लिये तीन ही मार्ग हो सकते हैं-कर्म, भक्ति और ज्ञान। इन तीनोंका समन्वय गीतामें है; सो भी ऐसा बढ़िया समन्वय, इतना खासा मेल है कि भिन्न भिन्न सभी मतानुयायियोंको अपनी अपनी पुष्टिके लिये श्रीगीताकी शरण लेनी पड़ी है। पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीज्ञानेश्वर, श्रीबोधायन, लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी आदि सबने अपनी अपनी बात गीतासे निकाली है। इनका तुलनात्मक विचार यहां नहीं किया जा सकता। कहनेका उद्देश्य यही है कि भगवान् श्रीकृष्णने सारी गीतामें यही बात दिखायी है कि भिन्न भिन्न रुचि और विकासके अनुसार भिन्न भिन्न मार्ग उपादेय हैं।

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गी० ३।३)

अर्थात् इस लोकमें निष्ठा दो प्रकारकी होती है। मैंने पहले ही बतलाया है, एक तो ज्ञानद्वारा सांख्योंकी, दूसरी कर्मद्वारा योगियोंकी। चाहे ज्ञानमार्ग हो अथवा कर्ममार्ग; एक ही बात हो, पर ध्यान रहे:—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गी० ३।१९)

अर्जुन! (अभी तुम ब्रह्मज्ञानी तो हो नहीं) अतः असक्त होकर सदैव कर्तव्य-कर्म करो। असक्त होकर कार्य करनेसे परम पद मिलेगा। भगवान् श्रीकृष्णका कर्मयोग साधारण कर्म नहीं है, वह निष्काम कर्म कर्तव्यबुद्धिसे किया हुआ सदैव फलदायक है।

'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥'

(गी० २।४०)

इस निष्काम कर्मयोगमें काम अधूरा रहनेपर भी उसका नाश नहीं होता। इस धर्मका छोटा भाग भी बड़ी बड़ी विपत्तियोंसे बचाता है। स्मरण रहे, गीताने निष्काम कर्मका महत्त्व दिया है, पर सकाम कर्मको भी माना है:—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गी० ७।१६-१७)

चार प्रकारके लोग मेरा भजन करते हैं (१) दुःखी या रोगी (२) जिज्ञासु (३) अर्थार्थी (४) ज्ञानी। इनमें ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह 'नित्ययुक्त' है, सदैव मेरी ओर लगा रहता है और एकमात्र मेरी ही भक्ति करता है। उसे मैं प्रिय हूं और वह मुझे प्रिय है।

जो ऐसा मानते हैं श्रीगीतामें केवल निष्काम कर्म है, उनसे इन पंक्तियोंका लेखक सहमत नहीं है। यदि गीतामें केवल 'कर्म'का प्रतिपादन रहता तो फिर बौद्ध-धर्मके 'चत्वारि आर्य सत्यानि' और भगवान् बुद्धके 'अष्टाङ्गिमार्ग' और 'दश शील' पर्याप्त होते, भगवान् श्रीकृष्णको कुछ उपदेश देना न पड़ता, परन्तु उन्होंने आत्म-विश्वासके साथ श्रीगीतामें भगवद्भक्तिकी तथा विनय और शीलकी आवश्यकता बतलायी। हमारे कर्म भले ही अच्छे हों; हम समाजके नेता भले ही हों, हम संसारके रावण, कंस, सिकन्दर, सीज़र, नैपोलियन भले ही हों, पर जबतक हमारा 'अहम्' छोटेसे शरीरको छोड़ इस ब्रह्माण्डके 'अहम्' में परिणत होकर नष्ट न हो जायगा तबतक माया और अविद्याका नाश नहीं हो सकता। भगवद्भक्तिसे ही इस मायाका अन्त होगा।

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'

(७।१४)

अर्थात् मेरी अत्यन्त दिव्य और त्रिगुणात्मिका माया अति दुस्तर है, जो मेरा ही भजन करते हैं वे इसके पार होते हैं।' बस, भगवान् बुद्धकी अधूरी बात यहां पूरी हो गयी। भगवान् बुद्धने अभिमानी कर्मकाण्डियोंका दम्भ तो जला डाला था, परन्तु मानव-हृदयकी भूमि श्मशान हो गयी थी। जीवन बोझ हो गया था। प्रेम, भाव, दया आदि सभी बन्धन हो गये थे।

जन्मदुःखं जरादुःखं जायादुःखं पुनः पुनः।
आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्॥

इस अशान्त भावके रेगिस्तानी वायुसे हृदय-पुष्प जला जा रहा था, वह मानव-हृदय अन्धकारकी गहरी खाईमें पड़ गया था, समग्र भारत निस्तब्ध दुःस्वप्न देख रहा था,

श्मशानभूमि ही मानव-हृदयका ध्येय हो रही थी, 'जीवन-का त्याग ही जीवनका लक्ष्य हो रहा था। एक ओर मीमांसक स्वर्गका स्वप्न देख रहे थे, उनकी पशु-यज्ञ-शालामें तर्ककी चोटसे हाय-तोबा मची थी; दूसरी ओर उपनिषद्की मन्द,मन्द, शुष्क, ब्रह्म-ध्वनि निकल रही थी, और तीसरी ओर बौद्ध सदृश मतोंका सूखा कर्म जगत्को हेय मान रहा था। इस समय भगवान्के महावाक्यने बड़ा काम किया। भगवान्ने अर्जुनके कानमें 'गुह्यतम' सबसे गुप्त वाक्य कहा, वह कहा, समझनेके लिये—सब तरह समझ-बूझकर उसपर चलनेके लिये, जिससे त्रिविध तापोंसे तपे हुए मानव-हृदयको शाश्वती शान्ति मिले। वह महावाक्य है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते, प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

मुझमें मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरे लिये आत्म-समर्पण करो, मुझे नमस्कार करो, मैं सत्य-प्रतिज्ञा करता हूं कि तुम मुझे ही मिलोगे। सब अन्य धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ाऊंगा, शोक मत करो, आनन्दसे रहो।

यही भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति है। इसमें 'प्रपत्ति' है, पर निर्बलता नहीं। इस भक्तिमें कर्मका त्याग नहीं, इसमें ज्ञान और कर्मका तिरस्कार नहीं। भक्तिकी आनन्दमय अवस्थामें 'अहं' छूटकर 'वासुदेवः सर्वमिति' की ध्वनि लग जाती है वह भक्ति सगुण और निर्गुण ब्रह्म दोनोंके लिये समान लागू है। इस भक्तिका भक्त, भक्त-शिरोमणि नारदके शब्दोंमें, संसारकी दृष्टिमें 'प्रमत्त' मालूम पड़ता है। यह भक्ति स्वार्थके आश्रित नहीं है। यह सस्ते मतोंकी भक्ति नहीं है। इसमें 'मेरेमें ईमान लाओ तो अन्दर आनेका टिकट दूंगा।' यह प्रलोभन नहीं है। जितेन्द्रिय और अच्छे चरित्रवाला ही मनुष्य यह भक्ति कर सकता है। गुरु नानकजीने कहा है—
जे तैं प्रेम खेलन दा चाव। सिर धर तली गली मोरी आव।
गुरु नानकदेवकी भक्ति श्रीगीताकी भक्तिका रूपान्तर है। आत्म-समर्पण करनेवाली भक्ति ज्ञानका सच्चा साधन है। इस भक्तिमें कर्मद्वारा शोधित मन हृदयको विश्वम्भरके चरणोंमें समर्पण कर देता है, जिससे सच्चे ब्रह्मज्ञानका उदय होता है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥
(गी० १३। २७, २८, २९, ३०)

अर्थात् परमेश्वर सब भूतोंमें समानरूपसे है। भूतोंका नाश होनेपर उसका नाश नहीं होता। वह वही ठीक जानता है जो कह सकता है कि परमेश्वर सर्वत्र समभावसे रहता है। वह अपने आत्मासे अपने ही आत्मा (चाहे किसी अन्यमें स्थित हो) का नाश नहीं करता। जब यह बुद्धि आती है तब वह परम गतिको प्राप्त होता है। प्रकृति ही सब कार्य करा रही है; जो यह जानता है वह अपनेको करनेवाला नहीं समझता। जब वह भिन्न भिन्न भूतोंको एक ही ईश्वरमें देखने लगता है, तब पूर्ण ब्रह्मको प्राप्त होता है, और तब—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

यही जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

इस ज्ञानकी सहायतासे वे सज्जन भगवान्का सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं, फिर वे सृष्टिके आरम्भमें न तो पैदा होते और न प्रलयके समय कष्ट पाते हैं। क्योंकि 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है।

सारांश यह है कि मानव-हृदयकी शान्तिके लिये कर्म, भक्ति और ज्ञानका जैसा उत्तम उपदेश ग्रन्थ श्रेष्ठ गीतामें दिया गया है, वैसा संसारके किसी ग्रन्थमें नहीं। यह बात हम ही नहीं कहते हैं, वस्तुतः सभी निष्पक्ष विद्वान् कहते हैं।

जरमनीके सुप्रसिद्ध विद्वान् William von Humboldt ने कहा है—"The Gita is the most beautiful, perhaps, the only true philosophical song existing in any known tongue."

अर्थात् श्रीगीता सबसे सुन्दर गीत है, संसारकी सभी भाषाओंमें यह अद्वितीय दार्शनिक गीत है।

गीतामें सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्तका समन्वय निराले दृष्टिकोणसे किया गया है। हो सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने प्रचलित आधुनिक दर्शनों-का समन्वय न किया हो, पर उनके मौलिक सिद्धान्तोंका बड़ा सुन्दर समन्वय है। कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों ही श्री-गीताकी निजी सम्पत्ति है। इन तीनोंको भगवान् श्रीकृष्णने धूलसे उठाकर सुवर्णमें परिणत कर दिया, तभी तो और सब अवतार साधारण और श्रीकृष्णजी पूर्ण अवतार समझे गये। सचमुच ब्रह्म ही ब्रह्मका मार्ग बता सकता है। श्री-गीताकी भक्तिमें निर्बलता नहीं, गुलामी नहीं, वह प्रेममय है, गीताके कर्ममें अहन्ता नहीं और ज्ञानमें शुष्कता नहीं है। हमारे अन्य मतावलम्बी भाई भी गीताके उपदेशसे लाभ उठा सकते हैं। गीताके सातसौ श्लोकोंका निचोड़ आत्मश्रद्धा, ईश्वर-भक्ति, सदाचार, निष्काम कर्म, 'सर्वभूत-हिते रताः' वाला ज्ञान, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता 'यथेच्छसि तथा कुरु' और अन्तमें भगवच्छरणागति है, ये उपदेशरत्न निराले, अद्वितीय और अत्यन्त उपादेय हैं। यह सब समय, सब देश और सब जातिके लिये तथा सम्पूर्ण मानव-समाजके लिये सार्वभौम धर्म है। अतः प्रत्येक गीताभक्तका कर्तव्य है कि वह अन्धभक्ति, जिसने रुधिरकी नदियां बहायी है और जो बहा रही है, जो घृणाकी सगी बहन है; अभिमान-पूर्ण कर्म जो दयाका शत्रु है, जिसने संसारको मरुभूमिमें परिणत किया है; तथा शुष्क ज्ञान, जो, दम्भ आदिका मित्र है, जिसने व्यभिचारकी मात्रा बढ़ायी है, इन सबको गीता-ज्ञानके प्रबल किन्तु मधुर वायु प्रवाहसे हटावें। आज सच्चे ब्रह्मत्वको प्राप्त करनेका प्रधान साधन यही है।

गीताके उपदेष्टा साक्षात् ईश्वर थे

(लेखक, मधु बी० सी० सील)

सरसरी दृष्टिसे देखनेवालेको वेदवाक्योंमें विरोधसा प्रतीत होता है और ऐसा लगता है कि भाष्यकारोंने यह समझनेमें बड़ी भूल की है कि सारे वेदमें एक ही तथ्यका प्रतिपादन किया गया है, वे भिन्न भिन्न श्रेणीके अधिकारियोंके लिये हैं और विकासक्रमसे उनका विभाग किया गया है। आपाततः विरोधी भासनेवाले इन वाक्योंका सामञ्जस्य करनेके लिये भगवान् स्वयं श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण हुए और उन्होंने गीताके द्वारा अर्जुनको इस ढङ्गसे सत्यका पाठ पढ़ाया जो उस युगके अनुकूल था। इस प्रकारके अनुशासक अथवा अवतार समय समयपर भिन्न भिन्न नाम लेकर संसारमें प्रकट होते रहे हैं।

जब कोई पुरुष सच्चिदानन्द-अवस्थाको प्राप्त होकर अपने वास्तविक आत्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ही भगवान् या जगदीश्वर हूं। ऐसे महापुरुष अपने ब्रह्मानन्दकी स्थिति छोड़कर कर्तव्य करनेके लिये तुर्य अवस्थामें चले आते हैं। उनकी बुद्धि और अहङ्कार दोनोंके ही ज्ञानमें लीन हो जानेके कारण और चित्तके उस ज्ञानसे परिपूर्ण हो जानेसे उनके लिये इस मायिक प्रपञ्चकी वास्तविक सत्ता रह ही नहीं जाती, वह केवल स्वप्नतुल्य-इन्द्रजाल मात्र रह जाती है। वह जान लेता है कि जो कुछ है वह मेरे ही अन्दर है और मुझसे ही उस-की प्रसृति हुई है, मुझसे पृथक् कोई सत्ता नहीं है। मैं ही प्रत्येक वस्तुका प्रभव हूं, सब कुछ मेरे भीतर है और मैं सबके अन्दर हूं। यह बात यथार्थ है और उन सभी सिद्ध पुरुषोंकी अनुभूतिका विषय है, जिन्होंने कर्तव्यके लिये मायाको फिरसे अपना लिया है। इस सिद्धान्तके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण वास्तविक आत्मा या हमारे हृदेशमें स्थित ईश्वरसे भिन्न नहीं हैं। वे हमारे एकमात्र सच्चे गुरु हैं। इसलिये एक सिद्ध पुरुष-की दृष्टिसे हमें अर्जुनको भी अपनेसे भिन्न व्यक्ति नहीं मानना चाहिये, अपितु जीवात्माकी अवस्थामें स्थित अपना ही स्वरूप समझना चाहिये। इस जीवात्माकी अवस्थामें आत्माको अपने आपका तथा विश्वका भान रहता है, किन्तु शिवात्मा या परमात्माके रूपमें नहीं, अर्थात् जिस अवस्थामें जलबिन्दु अपनेको समुद्रका ही रूप अथवा कृत्स्न समुद्र नहीं समझता।

अर्जुनको जो युद्ध करनेके लिये प्रेरणा की जाती है, उसका

भाव यह है कि जीवात्माको अपनी नीच प्रकृति--अर्थात् मनोविकारों, सांसारिक वासनाओं और क्रोध इत्यादिके साथ जोड़ा लेना चाहिये। क्षुद्र आत्मा अथवा अहङ्कारपर विजय प्राप्त करनेसे ही मनुष्य ईश्वर-साक्षात्कारकी स्थितिपर आरूढ़ हो सकता है। सारी मायाके अस्तित्वका प्रयोजन यही है कि परमात्माको उसके द्वारा अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय। यह कार्य सुसाध्य नहीं है और मनुष्यको अनेक युग तथा सहस्रावधि जन्मोंके अनन्तर कहीं इस चरमलक्ष तक पहुँचनेकी आशा हो सकती है। यदि अतिमानुष प्रयत्नोंसे मनुष्य छठी आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँच भी जाय (जो बहुत कम देखनेमें आता है) और भगवान्‌का साक्षात्कार कर भी ले तो भी वह भगवान्‌के साथ तन्मय होनेसे दूर रहता है। उसे आत्मज्ञान हो जाता है, वह भगवान्‌को जान लेता है। किन्तु फिर भी द्रष्टा और दृश्य अर्थात् भगवान्--के बीचमें द्वैत रह ही जाता है। वह सर्वत्र भगवान्‌को देखता है, परन्तु यहां उसे रुक जाना पड़ता है और सप्तम भूमिका तक पहुँचनेके लिये एक सिद्ध अथवा पहुंचे हुए गुरुके अनुग्रह और सहायताकी अपेक्षा होती है। वहां पहुंच जानेपर वह वास्तविक आत्माको सर्वत्र और प्रत्येक वस्तुमें देखने लगता है। अपनी आध्यात्मिकताकी अग्निसे शिष्यके संस्कारोंको दग्ध करके एक गुरु ही भौतिक शरीरद्वारा ही यह कार्य कर सकता है। जबतक ये संस्कार हमारा पीछा नहीं छोड़ते, तबतक आत्मानुभव होना असम्भव है।

प्रत्येक जगद्गुरु और मत-प्रवर्तकके पीछे अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दो प्रकारके शिष्य रहा करते थे। इनमेंसे अन्तरङ्ग-श्रेणीके शिष्योंको वे सिद्धि प्रदान कर अपने ही समान सिद्ध बना देते हैं और बहिरङ्ग-श्रेणीके शिष्योंको वे भगवान्‌का ज्ञान करा देते हैं, अर्जुन श्रीकृष्णके अन्तरङ्ग-वर्गके दुलारे पट्टशिष्य और दीक्षित थे अतएव भगवान्‌ने उन्हें अपनी दिव्य शक्ति प्रदान की थी।

प्रत्येक गुरु जिसे चाहें सिद्धि-प्रदान कर सकते हैं और अपनी दृष्टि, अङ्ग-भङ्गि, वाणी अथवा मृदु-स्पर्शमात्रसे उसे 'मुज़ूब' (मस्त अवधूत) बना सकते हैं। 'मुज़ूब' सिद्ध होता है, किन्तु उसे अपने शरीर अथवा जगत्‌का भान नहीं रहता। वह सदाके लिये ब्रह्मानन्द-अवस्थामें लीन और तन्मय हो जाता है। परन्तु इस प्रकार आत्मानुभव हो जानेके अनन्तर फिरसे कर्तव्य-क्षेत्रमें आनेके लिये बड़ी तैयारीकी आवश्यकता होती है। 'मुज़ूब' तो सैकड़ों हो सकते हैं किन्तु, सद्गुरु एक समयमें एक नियत संख्यासे अधिक नहीं होते। कर्तव्य-हित संसारमें अवतीर्ण होनेके लिये यह आवश्यक है कि ज्ञानधारामें विच्छेद न हो, नहीं तो अवतारी पुरुष अपने स्थूल शरीरसे च्युत हो जाता है। जिस समय वह सच्चिदानन्दकी अवस्थाका त्याग करता है उस समय भी उसकी ज्ञानधारा अटूट रहती है और उसका चित्त ज्ञानसे आलोकित रहता है। वह अपने स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके शरीरोंको बनाये रखता है, किन्तु बुद्धि, अहङ्कार और संस्कार सदाके लिये नष्ट हुए रहते हैं। एक सिद्ध गुरुकी नाईं अवतारी पुरुषके पीछे भी एक अन्तरङ्ग समुदाय होता है, जिसे वह आत्मानुभव एवं ईश्वर-साक्षात्कारके लिये तैयार करता है। परन्तु जितना कार्य एक सिद्ध गुरु कर सकते हैं, उससे अधिक एक अवतारी पुरुष अपने अवतार-कालमें कर सकते हैं। वे जितने चाहें 'सालिक' (वैराग्य-सम्पन्न मुक्त पुरुष) बना सकते हैं। ये 'सालिक' अवतारी पुरुषके अनुयायिवर्गमेंसे ही नहीं होते; इन 'सालिकों' को वे सप्तम भूमिकापर पहुँचा देते हैं और भगवान्‌का साक्षात्कार करा देते हैं; किन्तु साक्षात्कार होनेके बाद तुरन्त ही उन्हें विशेष कर्तव्यमें लगा देते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकारके १७ 'सालिक' बनाये थे और उनमेंसे एक ग्यारह वर्षका बालक था।

करोड़ोंकी संख्यामेंसे कुछ इने गिने मनुष्योंको ही आत्मानुभव प्राप्त होता है और इन थोड़ेसे लोगोंमें भी बहुत कम लोग आचार्य होकर कर्तव्यके लिये मर्त्यलोकमें आते हैं। अपने शिष्यवर्गको तैयार करनेके अतिरिक्त अवतारी पुरुषका यह भी कार्य होता है कि वे सारी मनुष्य-जातिको एक बार ऊपर उठानेमें सहायता करते हैं। मनुष्य-जातिकी आध्यात्मिक उन्नति ही अवतारका प्रधान उद्देश्य होता है।

श्रीकृष्ण और उनके गीताके उपदेशके सम्बन्धमें विचार करते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारे ही वास्तविक आत्मा हैं, हमसे पृथक् नहीं हैं, यद्यपि मायाके स्वप्न-जगत्‌में वे भिन्नसे भासित होते हैं और ठीक जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वरके रूपमें हमारी ही आत्मा हैं, इसी प्रकार उनके शिष्य अर्जुन भी जीवात्म-दशामें स्थित हमारी ही आत्मा हैं। सच्चिदानन्द-अवस्थामें तो एक सच्चिदानन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता। तुर्य अवस्थामें जाकर सिद्ध महात्माओंको यह ज्ञान हो जाता है कि ये सब मेरा ही स्वरूप हैं; गुरुओं और

आचार्योंकी भी स्थिति मेरे ही अन्दर है। मैं ही सब भूतोंके अन्दर हूँ और सारे भूत मेरे अन्दर हैं। इस मूल सत्यका ज्ञान हो जानेपर कि वास्तविक आत्मा अथवा परमात्मा ही एकमात्र सत् है—'एकमेवाद्वितीयम्' मायारूप इस मिथ्या प्रपञ्चके सारे पदार्थोंको केवल स्वप्नवत् मानना चाहिये। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, बुद्धिके द्वारा हमें सत्यका ज्ञान नहीं हो सकता। बुद्धि तो बेचारी एक तुच्छ वस्तु है और आत्मसाक्षात्कारके समय वह रहती भी नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् बुद्ध, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और अन्यान्य अवतारों तथा सिद्ध गुरुओंने इसी सत्यका उपदेश किया है। हां, उनमेंसे प्रत्येकके उपदेशका ढङ्ग उस उस युगके अनुकूल था, जिसमें वे प्रकट हुए थे। इसी सिद्धान्तके अनुसार हमें यह मानना पड़ेगा कि गीता भी जिस युगमें उसका उपदेश हुआ था, उसके अनुकूल ही थी। पिछले दिनोंमें स्वामी रामकृष्ण परमहंस प्रकट हुए। उन्होंने वेदों और अन्य शास्त्रोंको अन्धकारमेंसे प्रकाशमें लाकर दीपकका काम किया।

गीता-वाक्सुधा

(लेखक—श्रीयुत जी० एन० बोधनकर एम० ए०, एल० एल० बी०)

श्रीमद्भगवद्गीता जैसे अथाह उपदेशार्णवका अवगाहन कर उसके भीतर रहनेवाले अनन्त कान्तियुक्त मणि-रत्नोंको प्राप्त करना मान्द्र चन्द्रकिरणोंको पूर्ण अन्धकारमें ढकनेके तुल्य है, तथापि उस अनुपम रत्नागारका एक एक रत्न ऐसा तेजपूर्ण है कि जिसका प्रखर तेज जीवकी दुःख-तमोमयी जड़ताको सरलतासे नष्ट कर सकता है। अतः आज उनमेंसे कतिपय मणि-रत्नोंको शब्द-सूत्रमें ग्रंथित कर 'कल्याण'के सहृदय पाठकोंकी सेवामें अर्पण करनेका प्रयत्न किया जाता है।

जीवोंके संसृति-तापातप-दग्ध आशाविटपको नवपल्लवांकित करनेके लिये भगवद्वाणीस्वरूप गीतानिर्झरसे परम आशाप्रद सन्देश-सुधाका निर्मल स्रोत सम्प्रतिहतरूपसे बह रहा है। चलिये! उस दिव्य पीयूषका रसास्वादन कर क्षणभर समाधानकी शीतल छायाका आनन्दानुभव करें।

द्वेष, तृष्णा और मद मानवी हृत्कुसुमके दुर्दमनीय कीट हैं। रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध जीवको पापमें प्रवृत्त करनेवाले महान् शत्रु हैं (१६।२१. ३।३७)। जब मनुष्य इनका शिकार बन जाता है तब वह प्रज्वलित अग्निपर पैर रखते हुए भी उसकी आँचसे बचनेका प्रयत्न नहीं करता और न उसे ज्ञानियोंका उपदेश ही भाता है। दुर्योधनकी इसी कुमतिके कारण ही भारतीय युद्धका जन्म हुआ।

मोहाविष्ट जीवके लिये अनन्य भगवच्छरणागति ही एकमात्र उपाय है। गीताकी त्रिभुवन-गर्जिनी घोषणा है कि भगवान्‌के चरण-कमलोंमें आसक्त भ्रमरके तुल्य भक्त-प्रवरोंकी ज्ञानोत्पत्ति, योगक्षेम आदिका समस्त भार वह भक्तभावन अपने ही मस्तक पर धारण करता है (१२।६–७, १०।९–११, १८।६६)। 'न मे भक्तः प्रणश्यति' की भगवद्घोषणा मृतप्राय जीवको नवजीवन प्रदान करती और श्रान्त पथिकको कल्याणकारी मार्गपर अग्रसर होनेके लिये प्रबल प्रोत्साहन देती है।

भक्ति ही निखिल बन्धनातीतका एकमात्र बन्धन है। प्रेम-पर ही परमात्मा पलता है। शास्त्रधर्मकी अपेक्षा प्रेमरूपी हृदय-धर्म श्रेष्ठ है और इस तत्त्वका प्रत्यक्ष आचरण करनेवाले ही सच्चे भक्त हैं। लकीरके फकीर सच्चे फकीर नहीं, उनकी फकीरी तो पानीपर खिंची हुई लकीरके समान है।

जो श्रीकान्तके पीछे पड़ते हैं वे श्रीके पीछे नहीं दौड़ते। पर अकिञ्चन भक्तोंका ऐश्वर्य सुरेन्द्रके ऐश्वर्यको भी लजाता है। स्वर्गीय भोग तो नित्य व्यय किये जानेवाले सञ्चित द्रव्यके तुल्य एक दिन नष्ट होनेवाले हैं (९।२१), किन्तु अच्युत भगवान्‌के समीप अच्युत श्री, विभूति और विजयका निवास होता है (१८।७८)। जो स्वयमेव शान्त और नश्वर हैं, उनसे अनन्त और शाश्वत सुखकी आशा कैसे की जाय? अतः याचक ही बनना है तो क्षुद्र सांसारिक याचक न बनकर त्रिभुवनाधीशके याचक बनो और उससे ऐसी वस्तुकी याचना करो, जो और कहीं प्राप्त नहीं हो सकती।

भगवान्के आश्रयमें स्थित भक्त सभी अवस्थाओंमें प्रसन्न रहता है। भक्तिका कवच धारण करनेवाले उस वीरवरके लिये दुःखोंके शराघात सुमन-वर्षाके तुल्य होते हैं।

ईश्वर-भक्ति ही ज्ञानकी जननी है। जिस मनुष्यका हृदय श्रद्धासे हीन तथा मलिन है उसके लिये सत्यका प्रकाश आकाश-पुष्पके समान है।

जो जिस भावनामें निमग्न रहता है वह उसी भावको प्राप्त होता है। अतः सदैव सद्भावनामय रहनेमें ही मनुष्यका कल्याण है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्यका कर्त्ता है और अपने जन्म-मरणको श्रेष्ठतर बनाने या दोनोंसे मुक्त होनेका अधिकारी है। गीताकी यह स्वावलम्बन-नीति और मनुष्यका पूरा पूरा उत्तरदायित्व त्रिकालाबाधित सत्य है, यह गीतावाक्-रत्नहारकी अमूल्य मणि है।

भगवद्दर्शनमें जाति, लिङ्गादि-भेद न बाधक होते हैं और न सहायक (९।३२)। भक्ति ही मुक्तिद्वारकी एकमात्र कुञ्जी है। मोक्षका द्वार सबके लिये एकसा खुला है, जिसमें तेज हो वही प्रवेश कर सकता है। सभी प्रकारके लोगोंकी सुविधाके लिये ही भगवान्ने गुण-कर्मानुसार चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की है। अतएव अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुकूल ही मनुष्यको आचरण करना चाहिये और उसीसे उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है। परधर्म भयावह होता है (१८।४२से४५, ४७)। अपने अपने क्षेत्रमें सभी जातियां श्रेष्ठ हैं। न तो कोई सर्वोपरि श्रेष्ठ है और न कोई सर्वापेक्षा नीच। गीताका यह स्वधर्म-सेवनके निमित्त आग्रह और परमोन्नत साम्यवाद आजकलके हिन्दुओंके लिये विशेष ध्यान देने योग्य है।

ईश्वर-प्राप्तिके कई साधन हैं। किसी भी व्यक्ति, जाति अथवा पन्थविशेषने भगवद्दर्शन करानेका ठेका नहीं ले लिया है। ज्ञान और भक्ति किसी भी क्षुद्र सीमाके अन्दर बँधी रहनेवाली वस्तु नहीं हैं। बाह्य आचारके भेदसे धर्मपन्थोंमें वैचित्र्य रहना स्वाभाविक है। परन्तु जिस प्रकार संसारकी सारी सरिताएं एक सरित्-पतिकी ओर ही प्रवाहित होती हैं और उसीमें जा मिलती हैं, इसी प्रकार सभी मार्ग उस एक ही ईश-धामकी ओर ही जाते हैं। भक्ति, सांख्य, कर्मयोग इत्यादि सभी मार्ग एक ही स्थानमें जाकर केन्द्रीभूत हो जाते हैं। यही बात भिन्न भिन्न धर्ममार्गोंकी है। मुमुक्षुके लिये उसकी परिस्थिति, प्रकृति और योग्यताके अनुसार साधन करना ही उपादेय है। इस परमोदात्त तत्त्वका प्रतिपादन कर गीता अपनी महती उदारताका बड़ा सुन्दर परिचय देती है (४।१७, ९।४-९, १३।१३-२५)।

अनेकों जन्मोंके अनवरत साधनसे ही मुमुक्षुको भगवत्-प्राप्ति होती है (७।१९)। अतएव भक्तको कभी अधीर न होना चाहिये।

मन वायुसे अधिक चञ्चल होनेपर भी ध्यानके अभ्यास-से वशमें किया जा सकता है (६।३५)। परमेश्वर दुर्बलोंकी उपेक्षा नहीं करता। वही तो निराधारोंका एकमात्र आधार है। श्रद्धावान्के लिये फूलकी जगह पंखड़ियोंसे भी काम चल जाता है।

उसी तरह दैववशात् स्थिरबुद्धि मनुष्य भी यदि कभी मोहग्रस्त हो जाय तथापि अव्यभिचारिणी भक्तिके पथपर डटे रहनेके कारण उसे किसी प्रकारकी दुर्गतिका डर नहीं (६।४०-४३)। यहां तक कि जो लोग अभ्यास करनेमें भी असमर्थ हैं उन्हें भी निराश नहीं होना चाहिये (१२।९-११)। दुराचारी भी ईश्वरार्चनसे साधुपदको प्राप्त कर लेता है (९।३०)।

धर्मनिष्ठोंकी सहायताके लिये साक्षात् अव्यय अजन्मा भी लीलासे जन्म धारण करता है। धर्मरक्षण और अधर्मका दलन ही परमात्माकी लीलाका कार्य है (४।७-८)। धर्मके लिये निर्गुणसे सगुण होनेकी यह तपस्या है। अधर्मसे सामर्थ्यहीन एवं मृतप्राय हुए जीवोंके लिये वह प्रत्यक्ष पीयूष ही है। गीताका यह आशावाद इस प्रकारके विशालरूपमें अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता।

मनुष्य बड़ा ही क्षुद्रबुद्धि है, जो संसारमें पद पदपर ठोकर खाता हुआ भी सर्वेशकी 'न मे भक्तः प्रणश्यति' रूप-प्रतिज्ञा-वाणी पर दृढ़ विश्वास नहीं करता! कल्पतरुके रहते भी यदि हम कण्टक-वृक्षसे जाकर लिपटना चाहें तो इसमें किसका दोष है?

पर हां, जिसमें सब कुछ है, उसे पानेके लिये सब कुछ अवश्य ही छोड़ना पड़ेगा। 'मैं' पनकी आहुति देनी पड़ेगी। इस प्रकार अपने आपको भगवत्प्रेमकी अग्निमें होम देनेवाले अनन्य-शरण भक्तको परमात्मा पाप, ताप और मायाजालसे स्वयमेव मुक्त कर देता है (९।३०, ७।१४)।

मनुष्यके हृदयमें भगवान्ने एक ऐसी दुर्दमनीय प्रेरणा प्रज्वलित कर रक्खी है जो उसे सदैव ईश्वरकी ही ओर खींचे लिये जाती है। सभी मनुष्य वास्तवमें ईश्वरके ही पथ पर चलनेवाले हैं। अतः वे चाहे किसी भी राहसे क्यों न

अर्थ, एक दिन उनकी जड़ताका अवसान हो जाना—परमात्माके परम धाममें पहुंच जाना-अनिवार्य है। परन्तु ईश्वरदत्त साधनों और शक्तियोंका यथोचित उपयोग कर उस मार्गको सुगमकर तथा समीपवर्ती बना लेना मनुष्यके हाथ है। अन्यथा न जाने अनन्त संसृति-सागरमें कितनी बार उल्टेसीधे गोते लगाने पड़ेंगे !

यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति होते ही मनुष्यके हृदयमें प्रेम-सिन्धु छलकने लगता है। निःस्वार्थ प्रेम ही सच्चा प्रेम है, और निःस्वार्थ भावका यह दिव्य मुक्ता केवल शुद्ध प्रज्ञा-रूपी उज्ज्वल सीपमें ही प्राप्त हो सकता है।

जीवमात्रमें परमात्माकी सत्ता निहित है। मायाका उच्छेद कर उस सत्ताको प्रकट करनेमें ही मनुष्यकी चतुराई है। आत्मरूपसे सभी जीव परमात्मासे अभिन्न हैं, पर स्वभाव अथवा प्रकृतिसे विभिन्न हैं। जीव प्रकृति-विकृति, अविकसित और अपरिगत अवस्थामें है। ईश्वरकी यही लीला उसकी प्रकृतिके द्वारा नित्य प्रकाशित हो रही है और प्रत्येक जीवके हृदयमें स्थित रहकर भगवान् ही उस लीलाका सञ्चालन कर रहे हैं। जिन मनुष्योंकी दृष्टि संकुचित होती है, उनमें उस महान् अनुपम शिल्पीके शिल्प-नैपुण्यके निरीक्षण करने-की वह दिव्य शक्ति ही नहीं होती, जिसके सहारे ही मानव-जीवनमें जीवन और मनोहरता आ सकती है। यह सूक्ष्मदृष्टि उन्हीं लोगोंको प्राप्त होती है जो सत्यासत्यके नित्य-विवेकसे माया-यवनिकाका नाश कर देते हैं। अव्यभिचारिणी शुद्ध भगवद्भक्ति और निष्काम सत्कर्मसे जिनका चित्त मञ्जु-मुकुरके सदृश निर्मल हो गया है, वही भाग्यवान् ऐसी दृष्टिके अधिकारी होते हैं और ऐसी सूक्ष्म दृष्टिके बलसे नाम-रूपादि भेदोंकी अनन्त तरङ्ग-मालाओंके नीचे गम्भीर महोदधिकी अपार जल-राशिकी एकरसात्मकताका नित्य अनुभव कर सकते हैं (१३ । ३०)।

यज्ञमें ही जगत्की स्थिति है तथा यज्ञ ही सृष्टि-विकास-मन्दिरकी नींव है। स्वार्थपरायणता सद्भावका प्रतिबन्धक है। सुतरां, यज्ञ न करनेवालेका जीवन सृष्टिचक्रकी यथोचित गतिका बाधक है, (३ । १३-१६)। अधिकार भेदसे यज्ञ और यज्ञकर्ताओंके भी कई भेद हैं (४।२५-३२) पर किसी भी श्रेणीका साधक हो, उसे हताश न होना चाहिये।

विचित्र लीलामय नटनागरकी इस विश्व-नाट्यशालामें सभी जीव अपने अपने गुण-कर्मानुसार निरन्तर भिन्न भिन्न प्रकारके रूप धारणकर संसृति-नाटकमें खेल खेल रहे हैं, किन्तु उनमेंसे अधिकांश नट हालके धारण किये हुए अल्पकालस्थायी बाह्य वेशको ही अपना वास्तविक और नित्य स्वरूप समझ कर भ्रमसे दुःख भोग रहे हैं, पर सच्चा नट तो वही है, जो अपने वास्तविक रूपका स्मरण रखता हुआ अल्पकालके लिये धारण किये हुए वेशके अनुसार यथाशक्ति सर्वोत्तम खेल खेलनेका प्रयत्न करता है और अपनेको न भूलता हुआ भी अपनी नाट्यकुशलतासे दर्शकों-को रिझा देता है।

विषयोंसे अस्वाभाविक असम्भव फलोंकी आशा करनेसे ही दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, परन्तु आत्मानात्मविचार-परायण स्थितप्रज्ञ पुरुष सुख-दुःखोंके आघातोंसे कदापि विचलित नहीं होता (६ । २२)। अतः ऐसा ज्ञानी ही सच्चा व्यवहारकुशल और स्वभावसे अकुतोभय होता है।

वासनाहीन, आत्मोद्यान-विहारी, प्रबुद्ध शुकके लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता (३ । १७-१८), वह तो विगतेच्छा होकर भय, क्रोधसे सर्वदा मुक्त रहता है (५ । २८)।

दुःख तो भोगोंमें इन्द्रिय-संस्पर्श-जनित आसक्ति होने-का फल है (५ । २२)। साक्षात् स्वर्गीय भोग भी नित्यस्थायी नहीं होते हैं, क्योंकि उनके भी विषय असत् होते हैं (९ । २१)।

शरीर और बाह्य पदार्थोंसे इन्द्रियां श्रेष्ठ और सूक्ष्म हैं। इन्द्रियोंसे परे मन, मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे भी परे आत्मा है (३ । ४२)। इसी क्रमानुसार मुमुक्षुको आत्म-संयमपूर्वक स्थूल जड़ताके प्रान्तसे सूक्ष्म चैतन्य-प्रदेशमें प्रवेश कर आत्मदर्शन करना चाहिये।

ज्ञानी स्वयं अमर होकर भी मृत्युके अधीन रहनेवाले जीवोंके लिये मृत्युको स्वीकार करता है, क्योंकि सभी जीवों-पर उसका प्रेम होता है। सभी चराचरको वह 'आत्मोपम्य' भाव से ही देखता है। यही सच्चे विश्व-प्रेमकी पराकाष्ठा है (६ । ३२)।

प्रबोधरूपी सूर्य ही अबोध-तमका नाश करनेमें समर्थ है, न कि केवल सदाचार-नियमोंके उडुगण। ज्ञान ही मोक्षका साक्षात् कारण अथवा वही प्रत्यक्ष मोक्ष है। ज्ञान-से बढ़कर पवित्र और प्राप्त करने योग्य वस्तु दूसरी कोई नहीं है। ज्ञानाग्नि ही समस्त कर्मोंको दग्ध कर सकती है (४ । ३७)।

सर्वोच्च धाम वही है जहां एक बार पहुंच जानेपर पुनः पतन नहीं होता (८। २१, १५। ६)। परम लभ्य वस्तु वही है जिसे पानेपर अन्य वस्तुकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। (६। २२) पर उसे पाना उतना ही कठिन भी है। करोड़ों साधकोंमें कोई एक वहां पहुँच पाता है, क्योंकि सान्तका अनन्त होना उतना ही कठिन है जितना कि अनन्तका सान्त होना सहज है। 'सुधरी बिगरै वेग ही' पर बिगड़ी बहुत कठिनाईसे सुधरती है।

शास्त्रविद्रोही स्वेच्छाचारियोंसे योगसिद्धि कोसों दूर भागती है (१६।२३)। युक्ताहार-विहार ही योगसिद्धिका उत्तम साधन है, (६। १७)। केवल सतोगुणकी वृद्धिसे ही सुख सम्भव है अन्य विषय तो दुःखप्रद ही होते हैं। प्रकृति स्वनियमानुसार अपना कार्य अनवरतरूपसे किया करती है (१३। २९)। विश्वमें उस विश्वपिताकी महनीय सत्तासे ही सब कार्योंका सञ्चालन होता है (१८। ६१), मनुष्य तो केवल निमित्तमात्र है (११। ३३)। अतः अपनी इच्छाके विरुद्ध होनेवाली घटनाओंसे कातर अथवा क्रोधित न होकर अहङ्कारका सर्वथा त्याग करना चाहिये। इसीसे परमात्म-रूप योगसिद्धि प्राप्त होगी।

परमात्मारूप सत्का कभी अभाव नहीं होता। और प्रपञ्चरूप असत्का कभी भाव नहीं होता। अतएव सब कुछ भूलकर सत् परमात्माकी ओर ही आगे बढ़ना चाहिये। प्रेमसे ही परमात्माका मिलन होता है। प्रेम ही एक ऐसा मधुर बन्धन है कि जिसमे बँधा हुआ बन्दी कभी मुक्ति नहीं चाहता। प्रेमी उस बन्धनमें ही मुक्तिका अनुभव करता है। इस प्रेम-बन्धनयुक्त मुक्तिको पानेके लिये सारे विधि-निषेधोंसे ऊपर उठना होगा।

जो तीनों गुणोंसे परे है, उसे प्राप्त करनेके लिये गुणोंका अतिक्रमण करना होगा। सत्त्वगुणकी प्रधानतासे स्थैर्य और समाधान होता है। रज या तमकी प्रबलता होने ही व्यक्ति या समाजमें चाञ्चल्य और दुःखका प्रादुर्भाव होता है। सत्त्वगुणकी प्रबलतासे उस काम-शत्रुका दमन होता है जो परमात्म-प्राप्तिके मार्गमें महान् प्रतिबन्धक है। अतः साधकों-को प्रथम सत्त्वगुणकी वृद्धि करनी चाहिये।

परन्तु केवल सत्त्वगुण ही मोक्षका साक्षात् कारण नहीं हो सकता। सत्त्वका पर्दा भी तो पर्दा ही है। तीनों गुणोंकी बड़ी बड़ी दीवारोंसे घिरे हुए अन्धकारमय सम्मोहरूप दुर्गमें यह जीव बन्द है। अतएव उसका अतिक्रमण कर उससे बाहर निकल आनेपर ही उस प्रकाशमयी दिव्य सृष्टिकी अनुपम ज्योत्स्नाका अनुभव हो सकेगा (१४। २०)। त्रिगुणसे ही मायाका आवरण बना हुआ है। अतः भगवान्के साक्षात् संस्पर्शसे ही इस त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिको शुद्ध, बुद्ध और रूपान्तरित कर, परा प्रकृतिका दिव्य-स्वरूप प्राप्त करना होगा।

नीरसे उत्पन्न हुए नीरजकी स्थिति नीरमें होती है न कि नीरकी नीरजमें। वैसे ही ईशसे उत्पन्न हुए त्रिगुणोंकी स्थिति ईशमें होती है न कि ईशकी त्रिगुणोंमें। ईश गुणसे परे है (७। १२)। अस्तु,

अब चलिये! गीताके कुछ कर्म-सिद्धान्तोंका विहंगमावलोकन करें—

गीता न सकाम कर्मका प्रतिपादन करती है और न ही अकर्म अथवा विकर्मका। श्रीकृष्ण जैसे महान् तत्त्वदर्शी उस पाषाणवत् निष्क्रियता या प्रेम-विमुखताके पक्षपाती नहीं हो सकते, जो अकर्मण्यता तथा हृदयशून्यताकी जननी है (३। ५,८,२४,२६)। गीताका तो यज्ञ, दान, तप आदि चित्तके शुद्ध करनेवाले कर्मोंपर बड़ा जोर है (१८। ५, ५। ११)। परमात्मा स्वयम् अज, अव्यय होते हुए भी लोक-कल्याणके लिये सगुणरूपसे जगत्को शिक्षा देने और लोकसंग्रह करनेके निमित्त संसारमें अवतीर्ण होते हैं।

गीताका आदेश है—संसारके सब कर्म करो, पर करो उस विश्वकर्ताके दास बनकर! फलाशासे रहित योगस्थ होकर! ईश्वरार्पण-बुद्धिसे निष्काम कर्म करनेवालेको पापका संसर्ग नहीं होता (२। ४८, ३। २५-२६)। गीतामें जिस प्रकार इस कर्म-मीमांसाका दिग्दर्शन कराया गया है वैसा अन्य दर्शनोंमें पाना कठिन है।

कर्मोंके पाप-पुण्यका सम्बन्ध कर्ताकी बुद्धिसे है, न कि उसके बाह्याचारसे (३। ६)। बुद्धिकी गम्भीरता पर ही कर्मोंकी श्रेष्ठता निर्भर है। आत्मामें बुद्धि स्थिर हो जानेसे कर्ता कर्मोंके दोषादोषमें लिप्त नहीं होता और न कभी वह आशाभङ्गकी यन्त्रणासे पीड़ित ही होता है।

हठात् बाह्य इन्द्रिय-निग्रह अथवा शारीरिक निश्चलता-का मिथ्या भाव लाकर मनको विषय-सागरकी संकल्प-विकल्पात्मक अनन्त तरङ्गोंमें स्वच्छन्द बहने देना मिथ्याचार कहाता है। तनकी (बाह्य) शुद्धिकी अपेक्षा मनकी (अन्तः) शुद्धि कहीं श्रेष्ठतर है। (५। ११, ५। १८ ६। १,)।

मनुष्य अपनी स्वार्थपरता और संकुचित अहंमन्यताको त्यागते ही विश्व-सम्राट् बन जाता है, फिर वह सांसारिक

विषयोंका दास नहीं रह जाता । किसी विषयकी आशा न रहनेके कारण वह स्वार्थसे कलुषित नहीं होता और उसका अहंभाव नष्ट होनेके कारण वह कर्मबद्ध अथवा दोषयुक्त कर्मका कर्ता नहीं हो सकता (१८ । १०) । पापका जन्म तो विषयैषणा और अहंभावमें होता है । जहाँ इन्हींका अभाव है वहाँ पापका समुद्भव कैसे हो सकता है ? (४।१४, ६ । ४) ।

कर्माकर्मका निर्णय करना परम कठिन है (४ । १८) केवल ज्ञान-सरोवरमें क्रीडा करनेवाले परम-हंस ही नीरका त्याग कर क्षीरका सेवन कर सकते हैं । दूसरोंमें यह शक्ति नहीं, पर 'नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।'

ज्ञान-पूर्वक विषयासक्तिके परिमार्जनका ही नाम त्याग है । उसका सम्बन्ध त्यागकी बुद्धिसे है न कि तिल, तण्डुल, हवि अथवा गेरुए वस्त्रसे । काम्य कर्मोंके न्यासको ही संन्यास कहते हैं और उसमें भी सम्यक् सात्त्विक न्यासको ही (१८ । ६) !

पाठकवर ! हमें भी सृष्टिकी समरभूमि पर रजस्-तमोरूप कौरवोंका दलन कर अपना खोया हुआ आनन्द साम्राज्य पुनः प्राप्त करना होगा । अतः चलिये-उस सर्वेश, अशरण-शरणकी शरणमें,—जो अनन्य भक्तोंके मनःस्यन्दनका सारथि बन उन्हें उस तुमुल संग्राममें वैसे ही विजय-माल पहना देगा जैसे उसने विजयीके रथाश्वकी बागडोरको निज हाथमें ले उसे विजयी कर कृतकृत्य किया था ।

बोलो गोपालकृष्ण महाराजकी जय !!

गीताका सर्वोत्तम श्लोक

(लेखक, श्रीयुत 'प्रताप' जी)

गीता शास्त्रपर विचार किया जाय तो उसमें प्रधानतः 'भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोग' का प्रतिपादन ही सर्वत्र दिखायी देता है । ज्ञान, विज्ञान और यज्ञ याग आदि अन्य विषयोंका उपयोग, उसी 'भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोग' के प्रतिपादनार्थ, सोनेमें सुगन्धकी तरह किया गया है । इसी दृष्टिसे इस विषयका प्रतिपादक प्रधान श्लोक निम्नलिखित है ।

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
>
> (गीता १८ । ४६)

इसमें [यतः प्रवृत्तिर्भूतानां] से 'विज्ञान' [येन सर्वमिदं ततम्] से 'ज्ञान' और [स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य] से 'भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोग' का प्रतिपादन करके सारे गीताशास्त्रका समावेश एक ही जगह कर दिया गया है । अतएव इस श्लोकको समस्त गीताशास्त्रका सारभूत कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी ।

मेरी नैया

पड़ी सिन्धुमें मेरी नैया
काँप रही है थर थर थर ।
छत विहीन है जीर्ण-शीर्ण है
जल गिरता है झर झर झर ॥

बैठा हूं खेता जाता हूं
हियमें बहु साहस भर कर ।
कौन कहे कब लगे कछारे
उनके चरणोंसे लग कर ॥

—महेस

गीतामें ज्ञानरूपी जल भरा है

उपनिषद् गम्भीर एवं स्थिर पर्वत-झीलें हैं और भगवद्गीता उन पर्वतोंके अञ्चलकी समीपवर्ती पहाड़ियोंकी झील है, जिसमें वही ज्ञानरूपी जल भरा हुआ है ।

—चार्ल्स जोन्सटन

भगवद्गीतामें ज्ञानके बीस साधन

(अध्याय १३ श्लोक ७ से ११)

१—अपनेमें श्रेष्ठताका अभिमान न रखना।
२—दम्भका सर्वथा त्याग करना।
३—अहिंसा-व्रतका पालन करना।
४—अपना बुरा करनेवालेका अपराध भी क्षमा कर देना।
५—मन-वाणी-शरीरसे सरल रहना।
६—श्रद्धा-भक्तियुक्त होकर आचार्यकी सेवा करना।
७—बाहर और भीतरसे शुद्ध रहना।
८—मनको स्थिर रखना।
९—बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरको वशमें रखना।
१०—इसलोक और परलोकके सभी भोगोंमें वैराग्य होजाना।
११—अहंकारका न रहना।
१२—जन्म, जरा, रोग और मृत्यु आदि दुःख तथा दोषोंका खयाल रखना।
१३—स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिमें मनका फँसा न रहना।
१४—परमात्माके सिवा किसी वस्तुमें 'मेरापन' न रहना।
१५—प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें चित्तका सदा समान रहना।
१६—एक परमात्माकी अनन्य भक्तिमें लगे रहना।
१७—शुद्ध एकान्त देशमें साधनके लिये निवास करना।
१८—सांसारिक मनुष्य-समुदायमें राग न रहना।
१९—परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञानमें नित्य निरन्तर लगे रहना।
२०—तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सदा सर्वत्र देखना।

(यह तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका साधक-ज्ञान है, इसके विपरीत अभिमान-दम्भादि आचरण ही अज्ञान है)

भगवद्गीताके अनुसार गुणातीत या ज्ञानीके चौदह लक्षण

(अध्याय १४ श्लोक २२ से २६)

१—जो तीनों गुणोंके कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहसे उदासीन रहता है।

२—जो साक्षीकी भांति रहकर गुणोंके द्वारा विचलित नहीं होता।

३—जो गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं, ऐसा समझ कर अपनी आत्मस्थितिमें अचल रहता है।

४—जो सुख-दुःखको समान समझता है।

५—जो स्व-स्वरूपमें सदा स्थित रहता है।

६—जो मिट्टी, पत्थर और सोनेको समान समझता है।

७—जो प्रिय और अप्रियको एक सा समझता है।

८—जो किसी भी अवस्थामें अधीर नहीं होता।

९—जो अपनी निन्दा-स्तुतिको समान समझता है।

१०—जो मान-अपमानको समान समझता है।

११—जो शत्रु और मित्रमें भेदभाव नहीं रखता।

१२—जो सभी कर्मोंके आरम्भमें कर्त्तापनके अभिमानसे रहित है।

१३—जो अनन्यभक्तिसे परमात्माका स्वाभाविक ही सेवन करता है।

१४—जो गुणोंकी सीमाको लांघकर ब्रह्ममें स्थित होजाता है।

श्रीभगवद्गीताके अनुसार भक्त कौन है ?

(अध्याय १२ श्लोक १३ से २०)

१–जो किसी भी जीवसे द्वेष नहीं करता ।
२–जो सबके साथ मित्रताका व्यवहार करता है ।
३–जो बिना भेदभावसे दुखी जीवोंपर सदा दया करता है ।
४–जो परमात्माके सिवा किसी भी वस्तुमें 'मेरापन' नहीं रखता ।
५–जो 'मैंपन' को त्याग देता है ।
६–जो सुख दुःख दोनोंमें परमात्माको ही समान भावसे देखता है ।
७–जो अपना बुरा करनेवालेके लिये भी परमात्मासे भला चाहता है ।
८–जो लाभ-हानि जय-पराजय, सफलता-असफलतामें सदा सन्तुष्ट रहता है ।
९–जो अपने मनको परमात्मामें लगाये रहता है।
१०–जो अपने मन-इन्द्रियको जीते हुए है ।
११–जो परमात्मामें दृढ़ निश्चय रखता है ।
१२–जो अपने मन और बुद्धिको परमात्माके अर्पण कर देता है ।
१३–जो किसीके भी उद्वेगका कारण नहीं बनता।
१४–जो किसीसे भी उद्वेगको प्राप्त नहीं होता ।
१५–जो सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें कोई आनन्द नहीं मानता ।
१६–जो दूसरेकी उन्नति देखकर नहीं जलता ।
१७–जो निर्भय रहता है ।
१८–जो किसी भी अवस्थामें उद्विग्न नहीं होता ।
१९–जो किसी भी वस्तुकी आकांक्षा नहीं करता ।
२०–जो बाहर भीतरसे सदा पवित्र रहता है ।
२१–जो परमात्माकी भक्ति करने और दोषोंका त्याग करनेमें चतुर है ।
२२–जो पक्षपातरहित रहता है ।
२३–जो किसी समय भी व्यथित नहीं होता ।
२४–जो सारे कर्मोंका आरम्भ परमात्माकी लीलासे ही होते हैं, ऐसा मानता है ।
२५–जो भोगोंको पाकर हर्षित नहीं होता ।
२६–जो भोगोंको जाते हुए जानकर दुखी नहीं होता ।
२७–जो भोगोंके नाश हो जानेपर शोक नहीं करता ।
२८–जो अप्राप्त या नष्ट हुए भोगोंको फिरसे पानेके लिये इच्छा नहीं करता ।
२९–जो शुभ या अशुभ कर्मोंका फल नहीं चाहता ।
३०–जो शत्रु-मित्रमें समानभाव रखता है ।
३१–जो मान-अपमानको एकसा समझता है ।
३२–जो सर्दी-गर्मीमें सम रहता है ।
३३–जो सुख-दुःखको समान समझता है ।
३४–जो किसी भी वस्तुमें आसक्ति नहीं रखता ।
३५–जो निन्दा-स्तुतिको समान समझता है ।
३६–जो परमात्माकी चर्चाके सिवा दूसरी बात ही नहीं करता ।
३७–जो परमात्माके प्रेमसे मस्त हुआ किसी भी परस्थितिमें सन्तुष्ट रहता है ।
३८–जो घरद्वारसे ममता नहीं रखता ।
३९–जो परमात्मामें अपनी बुद्धि स्थिर कर देता है।
४०–जो इस भागवत-धर्मरूपी अमृतका सदा सेवन करता है ।
४१–जो परमात्मामें पूर्ण श्रद्धासम्पन्न है ।
४२–जो केवल परमात्माकेही परायण रहता है ।

(यह सिद्ध भक्तोंके स्वाभाविक गुण और साधक भक्तोंके लिये आदर्श आचरण हैं)

भगवद्गीता और विल्हेल्म फ़ान हुम्बोल्ट

(ले०-प्रोफेसर डा० हाइनरिच ल्यूडर्स, जर्मनी)

३० जून सन् १८२५ और १५ जून सन् १८२६ ई० के दिन विल्हेल्म फ़ान हुम्बोल्टने बर्लिन नगरकी विज्ञान-शाला (Academy of Sciences) में एक लेख पढ़ा था, जिसका विषय था 'महाभारतका एक प्रसङ्ग-भगवद्गीता।' हुम्बोल्ट जैसे महापण्डित थे, वैसे ही बड़े भारी राजनीतिज्ञ भी थे, उन्होंने इस काव्यमय ग्रन्थका ऑगस्ट विल्हेल्म फ़ान श्लीगल द्वारा प्रकाशित संस्करण संस्कृतमें ही पढ़ा था और उसका उनके चित्तपर बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपने एक मित्रको एक पत्र लिखा था, जिसमें यह कहा था कि 'संसारमें जितने भी ग्रन्थ हैं उनमें भगवद्गीता जैसे सूक्ष्म और उन्नत विचार कहीं नहीं मिलते, जिस समय मैंने इसे पढ़ा उस समय मैं विधाताका सदाके लिये ऋणी बन गया कि उन्होंने मुझे इस ग्रन्थका परिचय प्राप्त करनेके लिये जीवित रक्खा।'

तबसे आज एक शताब्दीसे अधिक समय बीत चुका है। अब हमें भारतीय साहित्य एवं भारतीय दर्शनशास्त्रके विषय-में और भी अधिक ज्ञान हो गया है। इस अवस्थामें यह बात अच्छी तरह समझमें आ सकती है कि हुम्बोल्टके कुछ सिद्धान्त अब पुराने हो गये हैं। किन्तु हुम्बोल्टने अपने भगवद्गीता-विषयक लेखके अन्तमें अध्यात्मसम्बन्धी काव्यकी विशेषता-के विषयमें जो चमत्कारपूर्ण बातें कही हैं वे आज भी विचारपूर्वक पढ़ने योग्य हैं। हुम्बोल्टका मत है कि आध्या-त्मिक काव्यका जो सच्चा आदर्श है, उसके जितनी समीप भगवद्गीता पहुँच पायी है, उतना इस विषयका कोई सा भी प्राचीन ग्रन्थ,-जो हमें आज उपलब्ध है,-नहीं पहुँच सका है। जिन्हें लोग आध्यात्मिक या उपदेशात्मक काव्य कहते हैं, उनसे तो यह ग्रन्थ बिल्कुल ही निराला है। हुम्बोल्टके मनमें काव्य-कला और अध्यात्मशास्त्रका स्वाभाविक सम्मिश्रण ही प्रकृत आध्यात्मिक काव्यकी विलक्षणता है। जो काव्य वास्तवमें आध्यात्मिक ढंगके नहीं हैं, उनके अन्दर काव्य और अध्यात्मवादका जो सम्मिश्रण होता है, वह निरा दिखाऊ और कृत्रिम होता है। स्वाभाविक सम्मिश्रण वहीं होता है जहां अध्यात्मसम्बन्धी विचारोंका भीतरी उमङ्गसे प्रादुर्भाव होता है। चित्तके अन्तस्तलसे सत्यको खोज निकालनेके लिये कवित्वका जोश ज़रूरी है। किसी आध्यात्मिक सिद्धान्तके लिये बाह्य अलङ्कारके रूपमें कविता-के वेशकी अपेक्षा नहीं है। भीतरी प्रेरणासे ही उसे काव्यके रूपमें प्रस्फुटित होना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब आध्यात्मिक विचार उल्टी चालसे चलकर उस सीमा तक पहुँच जाते हैं, जहां विश्लेषणात्मक बुद्धिके द्वारा प्रत्येक कार्यके कारण ढूँढनेका काम बन्द हो जाता है और जहां सत्य, शुद्ध आत्म-संवेदनके उच्चतम शिखरसे सहज ज्ञानके रूपमें स्वयं प्रकाशित हो जाता है। यथार्थ आध्यात्मिक काव्य वह है जिसमें केवल प्राकृतिक तथ्योंका एकत्रीकरण एवं कारणों और कार्योंकी योजना मात्र ही नहीं होती। हुम्बोल्टकी दृष्टिमें यह आदर्श भगवद्गीतामें चरितार्थ हुआ है, जहां सान्त और अनन्तका संयोग ही मुख्य प्रश्न है। इन दोनोंका भेद एक सनातन एवं निर्विवाद तथ्य है। इसके साथ ही साथ यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि महाकवि ल्यूक्रीस (Lucrece) के प्रसिद्ध काव्य 'On the nature of things' 'वस्तुतत्त्व'को भी हुम्बोल्ट इस उत्कृष्ट अर्थमें आध्यात्मिक काव्य नहीं कहते। जिस दर्शनमें प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति प्राकृतिक नियमोंके द्वारा ही बतलायी जाती है और प्रकृतिसे आगे जानेकी न तो आवश्यकता है और न यह सम्भव ही है, ऐसा कहा जाता है; उसका कविता-के साथ वास्तवमें आभ्यन्तर सम्बन्ध नहीं हो सकता। फिर भी यदि उसे काव्यका रूप दिया जाय तो केवल बाहरी वेश-के रूपमें ही दिया जा सकता है।

अन्तमें हुम्बोल्ट महाशयने इस प्रश्नका विवेचन किया है कि इस युगमें भी काव्यकला और अध्यात्म-शास्त्र-का परस्पर सम्मिश्रण हो सकता है या नहीं, और वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि जर्मन कवि शिलर (Schiller) अपने उन उत्तम ग्रन्थोंमें,-जहां उन्होंने उन विषयोंका प्रति-पादन किया है जिनका विमर्शके द्वारा पूरी तौरसे निरूपण नहीं हो सकता, किन्तु कवियोंकी कल्पनाके द्वारा ही सजीव वर्णन हो सकता है,-इस कार्यमें सफल हुए हैं।

ऊपरके लेखसे यह विदित हो गया होगा कि 'भगवद्गीता'-से जर्मनीके एक बहुत बड़े मनुष्यको कितना बड़ा प्रोत्साहन मिला। भगवद्गीताके सम्बन्धमें उसके जो विचार थे, वे दूर दूर तक प्रतिध्वनित हो चुके हैं और उन्हींके कारण आज 'भगवद्गीता' संसारकी उन पुस्तकोंमें है जिनका जर्मनीमें सब-से अधिक पठन-पाठन होता है और यह बात उसके अनेक अनुवादोंसे ही सिद्ध है।
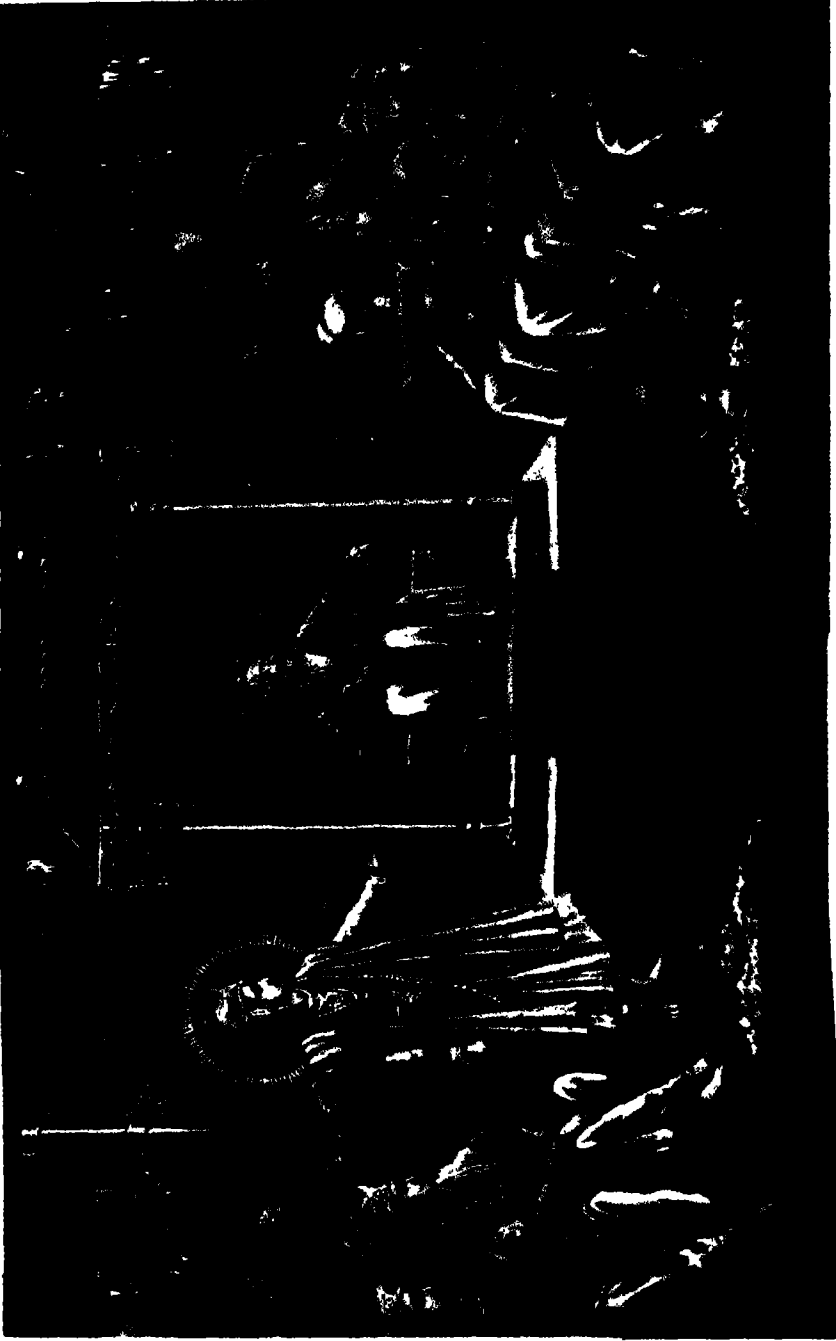
शान्ति-दूत बन शान्ति-घन, हरि, कौरव-दरबार।
शान्ति-सँदेश सुना रहे, सबको बारम्बार ॥

रणाङ्गणमें अर्जुनके व्यवहारका विश्लेषण

[लेखक डाक्टर, बी० जी० रेले, एल० एण्ड एम० एस०, एफ० सी० पी० एस]

सारके जितने भी बड़े बड़े ग्रन्थ हैं, उनमें भगवद्गीताके समान सर्वप्रिय ग्रन्थ दूसरा कोई नहीं है। यह हिन्दुओंका पवित्र-धर्म ग्रन्थ है। लगभग दो सहस्र वर्षोंसे गीताके उपदेशने जनताके हृदयोंपर प्रभुत्व जमा रक्खा है। अपने अपने मनको पुष्ट करने वाले अनुवादों और टीकाओंकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। पर साम्प्रदायिकताके पञ्जेसे निकलकर अब यह व्यापकरूप धारण कर रही है। सभी देशों और सभी जातियोंके विचारशील पुरुषोंके चित्तपर अतीत कालमें भी इसने जादूका सा काम किया और अब भी उनके चित्तोंपर वैसा ही प्रभाव डाल रही है। ऐसी दशामें स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि गीताके अन्दर विशेष महत्वकी बात क्या है? इसका उत्तर यह है कि गीताके उपदेश पूर्णतया आचरणमें लानेके योग्य हैं। उनमें व्यावहारिक तत्त्वज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ है। उन्हें हम जब चाहें तब अपने दैनिक व्यवहारमें ला सकते हैं। वे कर्तव्यमूढ़ मनुष्योंके मार्गदर्शक हैं और क्षुब्ध-हृदयको शान्ति प्रदान करते हैं।

गीताके अध्यात्मवादका आधार युद्धभूमिमें खिन्न अर्जुनकी अकर्मण्यता ही है। वह शोक-सागरमें डूब जाता है और गाण्डीव धनुष उसके हाथसे छूट पड़ता है। यद्यपि उसके गुरु उसे समझाते हैं कि युद्धमें प्रवृत्त होनेसे तुम्हें ऐश्वर्य और कीर्ति प्राप्त होगी; किन्तु अर्जुन टससे मस नहीं होता और किसी प्रकार भी अपना गिरा हुआ धनुष पुनः हाथमें लेनेको तैयार नहीं होता। भगवान् उसे बुरा भला भी कहते हैं और समझाते हैं कि लड़ाईमें पीठ दिखानेसे तुम्हारी कैसी अपकीर्ति और निन्दा होगी; किन्तु इन सबका उसपर कोई असर नहीं होता। वह अपने सम्बन्धियोंके साथ युद्ध करनेके लिये किसी प्रकार भी तैयार नहीं होता और कहता है कि मुझे अपने भाइयोंके रक्तसे रंजित त्रैलोक्यका साम्राज्य भी अभीष्ट नहीं है। अब प्रश्न यह होता है कि अर्जुनकी यह दशा उसके मतिभ्रमके कारण हुई अथवा उसका यह आचरण उसके हृदयकी विशालताका द्योतक था? जो कुछ भी हो, उसकी शारीरिक अवस्था उस समय ऐसी अवश्य हो गयी थी कि वह युद्ध कर ही नहीं सकता था। उसने अपने ही मुखसे अपनी निर्बलताका वर्णन इस प्रकार किया है:-'मेरे हाथ पैर बेकाम हो रहे हैं, मेरा मुंह सूखा जा रहा है, मेरा सारा शरीर थर थर कांप रहा है, मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं। गाण्डीव धनुष मेरे हाथसे छूटा जा रहा है, मेरी त्वचा मानों जल रही है, मैं खड़ा नहीं रह सकता और मेरा मस्तिष्क घूम रहा है।' (गी० १।२८-३०) यद्यपि अर्जुन एक अजेय योद्धा था, पर उसका पराक्रम बिल्कुल जाता रहा और इसीलिये श्रीकृष्णको नीचे लिखे शब्दोंमें उसे डाँट बतानी पड़ी:-'हे अर्जुन! तू नपुंसक मत बन। ये कायरताके भाव तुझे शोभा नहीं देते।' (गी० २।३)

जिस मनुष्यका चित्त ठिकाने होगा, वह अपने स्थूल शरीर-के द्वारा इस प्रकारके भावोंको कभी व्यक्त नहीं होने देगा। दोष था उसके उदार चित्तका, जो उस समय निर्बल हो गया था, न कि उन अवयवोंका जिनके द्वारा उसके चित्तने शरीरके स्थूल अंशको अपने अधीन कर रक्खा था। चित्त-की जब ऐसी दशा हो जाती है तो उस दशाको आधुनिक डाक्टरी भाषामें 'चैत्तिक विकार (Psycho-neurosis) अथवा मनोव्यापार-सम्बन्धी रोग कहते हैं। यह विकार सदा किसी वृत्तिके निरोध करनेसे उत्पन्न होता है और वह इस प्रकार कि उपयुक्त उत्तेजनाके मिलनेसे निरोधक शक्ति अकस्मात् बाहर आकर ऐसे मनोभावोंका रूप धारण कर लेती है जो मूल भावके बिल्कुल विपरीत होते हैं। आध्यात्मिक जीवनकी प्रथम भूमिकामें खिन्न होनेके कारण अर्जुन अपने भाई दुर्योधनादिके प्रति उत्पन्न होनेवाले द्वेष और क्रोधके भावोंको बारम्बार दबाया करता था। यह निरन्तर होनेवाली निरोध-क्रिया अज्ञातरूपसे प्रबल हो रही थी। युद्धभूमिमें जब अर्जुन अपने दुष्ट एवं छली भाइयों (कौरवों) के सामने खड़ा होता है, उस समय वह निरोध-क्रिया पराकाष्ठाको पहुंच कर फूट पड़ती है, वह उस बाहर आयी हुई शक्तिका अपने ज्ञानयुक्त चित्तसे हस्तपादादि-कर्मेन्द्रियों-द्वारा समुचित रीतिसे प्रयोग नहीं कर सकता। उस शक्ति-का प्रभाव उसके मनपर पड़ता है, जिससे भय और दुःखके भाव उत्पन्न होकर उसके चित्तमें भ्रान्ति और उद्वेगका सञ्चार कर देते हैं। परन्तु उसका रोग यहीं समाप्त नहीं हो

आता। सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह होती है कि वह अपने गुरुके सामने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है कि उसके लिये युद्ध न करना ही न्यायसङ्गत है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि यद्यपि एक विशिष्ट विषयके ग्रहण करनेमें उसका चित्त भ्रान्त हो गया था, और सब बातोंमें उसका व्यापार ठीक ठिकाने था। इसीलिये वह अपनी अकर्मण्यताकी पुष्टिमें ऐसी अनेक युक्तियां ढूँढ निकालता है, जिन युक्तियोंको वह लड़ाईके मैदानमें आनेसे पूर्व ही सोच सकता था। गीताके पहले अध्यायके ३२ वेंसे लेकर ४६ वें श्लोकतक अपने भाइयोंके साथ युद्ध करनेसे जो जो बुराइयां हो सकती हैं, उनके सम्बन्धमें अर्जुनने जो ज्ञान बघारा है वह युक्तिवादके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। युक्तिवादका तात्पर्य यहांपर उन हेतुओंसे है, जो मनुष्य अपने किसी आचरणके औचित्यको सिद्ध करनेके लिये प्रदर्शित करता है किन्तु वास्तवमें जो हेतु नहीं होते, अपितु बहाने अथवा युक्तियां होती हैं, जो प्रायः किसी घटनाके अनन्तर सोच ली जाती हैं। ऐसी घटना हमारे जीवनमें प्रायः प्रतिदिन ही घटा करती है। हम लोग अपने कर्तव्यकी अवहेलना करने अथवा जो काम हमें सौंपा गया हो, उसे न करनेके पक्षमें अपने समाधानके लिये अथवा दूसरोंको समझानेके लिये अनेक विचित्र बहाने बना लिया करते हैं। पहले अर्जुनपर दुःख और विषादका आक्रमण होता है और पीछेसे वह इनका युक्तियुक्त कारण ढूँढ निकालनेकी व्यर्थ चेष्टामें पड़कर अपनी अकर्मण्यताके लिये कई धोखा देनेवाली युक्तियां गढ़ लेता है। श्रीकृष्ण तुरन्त इस बातको ताड़ जाते हैं और निम्नलिखित पंक्तियोंमें उसका उत्तर देते हैं जो सदा सर्वदा स्मरण रखने योग्य हैं—'तू जिनके विषयमें चिन्ता करता है, वे वास्तवमें चिन्ता करनेके योग्य नहीं हैं। फिर भी तू ज्ञानकी बातें बघारता है।' भगवान् इस बातको समझ जाते हैं कि दुर्योधनादिके सामने होनेपर मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकारकी क्रियाओंमें परस्पर अनुकूलता रखनेके लिये चित्तकी जो समता अभिप्रेत है, वह नष्ट हो गयी है और उसके कई विभाग होकर वे एक दूसरेसे निरपेक्ष होकर कार्य करने लग गये हैं। उसके अहङ्कार और वैज्ञानिक अहङ्कारके बीचमें विरोध उपस्थित हो गया था। उसका संज्ञायुक्त स्थूल चित्त चेतनान्तरित अथवा बौद्धिक चित्तकी प्रेरक शक्तिसे वञ्चित हो जानेके कारण बाह्य उत्तेजनाके वशीभूत होकर उच्छृङ्खल हो गया था और बौद्धिक चित्त, संज्ञायुक्त अथवा तर्कशील चित्तका नियन्त्रण उस परसे हट जानेके कारण बहाने बनाने लगा था। उसका चित्त सदोष हो गया था और यही उसके रणाङ्गणमें इस प्रकारके विचित्र आचरणका कारण था।

श्रीकृष्णका अर्जुनको उपदेश देनेका अभिप्राय यही था कि उसके अन्दर पहलेवाली समता फिरसे आ जाय और उसके द्विविध चित्तोंकी, जो परस्पर निरपेक्ष होकर कार्य कर रहे थे, एकता हो जाय।

जिन लोगोंका चित्त क्षुब्ध हो जाता है, प्रायः उन सब लोगोंके लिये गीताका उपदेश सब देशोंमें और सब कालमें उपयोगी हो सकता है। गीता मानसिक चिकित्साका ग्रन्थ है और इस विषयके लिये वह अत्यन्त उपयोगी है। आजकल मानसिक विश्लेषण (Psycho-analysis) के नामसे जो प्रयोग प्रचलित है, उसकी अपेक्षा गीतामें बतायी हुई चिकित्सा अधिक महत्त्वकी है; क्योंकि मानसिक विकारको दूर करनेके लिये वह विरोधके कारणोंको समझानेकी चेष्टा नहीं करती, अपितु वह मानसिक एकीकरणकी विधिसे तुरन्त ही इस कार्यको सिद्ध करनेका प्रयत्न करती है। चित्तकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें विरोधका कारण क्या है, इस बातको जान लेनेसे ही वह विरोध मिट नहीं जाता, अपितु कभी कभी इस बातको जान लेनेसे विरोध और भी तीव्र हो जाता है। दबी हुई शक्तियोंको उभाड़ देना ही पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि यदि इस प्रकारसे उभड़ी हुई शक्तियोंका समुचित उपयोग तथा उन्हें परस्पर अनुकूल बनानेके लिये उचित प्रयत्न नहीं किया जाय तो वे पहलेकी अपेक्षा अधिक क्लेशदायक हो सकती हैं। अर्जुनके गुरु इस बातको जानते थे, अतएव उन्होंने विरोधके कारणोंको न तो जाननेकी चेष्टा की और न उन्हें अर्जुनको बतलानेका यत्न किया। वे इस बातको जानते थे कि इस प्रकारके विरोधोंका मनुष्यकी आध्यात्मिक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है और उसके लिये एक अधिक उदार, ऊंची एवं व्यापक सरणिकी आवश्यकता होती है—और वह सरणि भगवद्गीतामें ही मिल सकती थी।

रणाङ्गणमें अर्जुनके व्यवहारका यह विश्लेषण यदि सम्यक् हो तो गीताके श्लोकोंकी इसीके अनुकूल व्याख्या करना उचित होगा ताकि उनकी उचित रीतिसे व्याख्या होकर सबको मान्य हो। ऐसा करनेके लिये हमें गीताके कुछ शब्दोंका नवीन अर्थ लगाकर प्राचीन परम्पराके विरुद्ध चलना होगा; परन्तु इस प्रकारके जो अर्थ होंगे वे बिलकुल निराले ही ढङ्गके हों अथवा जो पहले कभी लोगोंके ध्यानमें न आये हों, ऐसी बात नहीं है।

प्राचीन आचार्योंने अपनी अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण एवं

विशद टीकाओंमें इस विश्लेषणको गीताके उपदेशोंका मूल आधार नहीं माना है और इस प्रकार अपने निजके विचारों-के अनुकूल गीताकी व्याख्या की है और इसीसे किसीने संन्यासको, किसीने दास्यको, किसीने भक्तिको और किसी-ने मुक्तिको ही गीताके उपदेश-का प्रधान फल माना है और ये फल वास्तवमें ऐसे हैं कि चित्त-कीएकता (The spiritual Psycho-Synthesis) को जितना ही ऊंचा बनाया जाय, उसीके अनुसार प्राप्त होते हैं। इस आध्यात्मिक स-मन्वयका प्रति-पादन करनेकी प्राचीन आचार्यों ने चेष्टा अवश्य की है, किन्तु शरीरके साथ उसका सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है, इसका हेतु कदाचित् यह था कि शरीरके आभ्यन्तर रचना तथा उसके व्यापारका ज्ञान उन्हें सम्यक् नहीं था। उन्होंने बाह्येन्द्रिय-गोचर जगत्के व्यापारके आधारपर कई बातोंका निरीक्षण करके तथा उनसे निकाले हुए परिणामोंके द्वारा अपने उद्देश्यको सिद्ध किया है। यदि उन्हें शरीरकी रचना एवं व्यापारका, जो चित्तका भौतिक

जगत्के साथ संयोग कराता है,—ज्ञान होता तो वे 'अश्वत्थ' शब्दका जिसका गीताके १५ वें अध्यायके पहले ही श्लोकमें प्रयोग हुआ है, और ही अर्थ करते। 'अश्वत्थ' शब्दका यदि हम प्राचीन मतके अनुसार 'संसारवृक्ष' यह अर्थ करते हैं, तो हम देखते हैं कि इस 'अश्वत्थ' का चित्तके साथ कोई भौतिक सम्बन्ध नहीं है और यदि इस शब्दका सूक्ष्म अर्थ लेकर हम यह भावना करें कि उसका मूल तो ऊपर है और शाखाएं नीचे, तो यह भाव साधारण लोगोंकी बुद्धिमें नहीं आ सकता। 'अश्वत्थ' शब्दका यौगिक अर्थ 'नाशवान्' होता है—अ (न) श्वः (दूसरे दिन) स्थः (ठहरनेवाला) अर्थात् जिसकी एक दिनसे अधिक ठहरनेकी सम्भावना न हो, किन्तु गीता-में जब उसका स्वरूप अव्यय अर्थात् अविनाशी बतलाया जाता है—ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्—तब बुद्धि और भी चक्कर खा जाती है। 'अव्ययम्' पदका अर्थ ही इस ऊपरके पदका यथार्थ भाव समझनेकी वास्तविक कुञ्जी है। पिछले सैकड़ों वर्षोंसे इस शब्दका अर्थ हमने 'अविनाशी' समझ

रक्खा है। इसका कोई और भी अर्थ हो सकता है या नहीं, यह सोचनेकी हमने परवा न की। इसके जो दूसरे अर्थ हैं, उनमें 'प्राणि-शरीरका अङ्ग या अवयव' यह भी एक अर्थ है। आप्टे और मोनियर विलियम्स इन दो विद्वानोंने अपने अपने कोषमें यह बतलाया है कि वेदान्तशास्त्रमें 'अव्यय' शब्द इसी अर्थमें व्यवहृत हुआ है। इस अर्थकी सहायतासे १५ वें अध्यायके पहले श्लोकका गूढ़ आशय सहजमें ही समझमें आ जाता है और उसका अनुवाद इस प्रकार होगा:—'अश्वत्थको, जिसका मूल ऊपर और शाखाएं नीचे हैं, प्राणि–शरीरका एक अवयव कहते हैं; इच्छाएं (वेद नहीं) इसकी पत्तियाँ हैं। जो इसके व्यापारको जानता है वह जानने योग्य वस्तुको जान लेता है।' अब प्रश्न यह होता है कि यहां शरीरके किस अङ्गसे अभिप्राय है, जिसे ज्ञातव्य कहा गया है। वह अङ्ग स्नायुजाल है जो शरीरके मूर्त भागको अमूर्त भागके साथ जोड़ता है, चित्तका भूतद्रव्यके साथ संयोग कराता है। इस स्नायु-जालका मूल मस्तिष्क-में है और पृष्ठवंश अथवा मेरुदण्ड (जिसे बोलचालकी भाषा-में रीढ़ कहते हैं) इसका तना अथवा धड़ है। इस प्रकार इसका स्वरूप 'अश्वत्थ'के वर्णनसे बिलकुल मिलता है। पृष्ठवंशसे जो स्नायुमण्डल अवान्तर शिराओं सहित सारे शरीरमें फैल जाता है वही मानो इस वृक्षकी शाखाएं, प्रशाखाएं और टहनिएं हैं। अश्वत्थकी नाईं यह स्नायु-मण्डल भी विनश्वर है, क्योंकि देहके नाश हो जानेपर यह भी अपना व्यापार बन्द कर देता है। मेरी यह व्याख्या कुछ निराली नहीं है और न 'अव्यय' शब्दका अर्थ ही कुछ अपूर्व है, यद्यपि आपाततः यह अपूर्व जान पड़ता है, क्योंकि प्राचीन बातोंपर विश्वास करने और उन्हें ही ग्रहण करनेका हमारा अभ्यास हो गया है। गीताके १५ वें अध्यायमें आदिसे अन्त तक स्नायु-जालके सूक्ष्म व्यापारका ही वर्णन है और गीताके आत्मज्ञानपूर्ण उपदेशको समझनेके लिये इसका ज्ञान अर्जुनके लिये अत्यावश्यक था। अर्जुनने दृश्य पदार्थोंको ही सत्य समझ रक्खा था; इसलिये जो लोग उससे युद्ध करनेके लिये इकट्ठे हुए थे, उनके भौतिक शरीरोंको देखकर उसके चित्तमें जिन संस्कारोंका प्रादुर्भाव हुआ, उन्हींको उसने अपनी अकर्मण्यताका हेतु मान लिया। श्रीकृष्णने उसकी युक्तियोंकी पोल खोल दी और उसके चित्तमें उसीके सिद्धान्तोंके विषयमें संशय उत्पन्न कर दिया। उन्होंने उसके ज्ञानयुक्त चित्तको उसके पार्श्ववर्ती इन्द्रिय-गोचर पदार्थोंसे हटा दिया और उसका स्नायु-जाल उसके ज्ञानयुक्त चित्तका,–जिसकी शक्ति दुरुपयोगसे क्षीण हो गयी थी,–नियमितरूपसे आज्ञा-पालन नहीं कर रहा था। अतः उसे वशमें करके चित्तको अपने शरीरके अन्दर ही स्थिर करनेकी भौतिक क्रिया भगवान्‌ने उसे समझा दी। फिर ध्यानकी विधि बतलाकर भगवान्‌ने अर्जुनके भौतिक चित्तको वैज्ञानिक अथवा चेतनान्तरित चित्तके अन्दर, जिसके साथ उसका सम्बन्ध टूट गया था,–लीन कर दिया। इस प्रकार उसके चित्तकी समता फिरसे स्थापित कर दी गयी। यदि भगवान्‌ने अपना उपदेश यहींपर समाप्त कर दिया होता तो अर्जुन अपने धनुषको उठाकर युद्धमें प्रवृत्त हो गया होता; परन्तु भगवान्‌को अपने शिष्यके वास्तविक हितकी चिन्ता थी, उसे मुक्त करनेका उन्हें ध्यान था। युद्धका जो भयङ्कर परिणाम होनेवाला था, उसे देखकर उसको व्यथा होती और उसके कारण वह बारम्बार जन्म-मरणके फन्देमें फंस जाता। इस-लिये भगवान्‌को उसके लिये मुक्तिके मार्ग एवं साधनोंका उपदेश करना पड़ा और सांसारिक जीवनमें लिप्त पुरुषोंके लिये सबसे उत्तम मार्ग जो भगवान्‌ने बतलाया, वह फल-निरपेक्ष अथवा निष्काम कर्मयोगका मार्ग है।❀

सर्वोत्तम धर्मग्रन्थ

भारतवर्षके धार्मिक साहित्यका कोई अन्य ग्रन्थ भगवद्गीताके साथ समान स्थान प्राप्त करनेके योग्य नहीं है।

—रिचर्ड गार्बे

❀ इस निबन्धमें ऊपर बतायी हुई रीतिके अनुसार गीताके उपदेशका दिग्दर्शनमात्र मैंने कराया है। जो लोग इस विषयका ऐसा सविस्तर विवेचन देखना चाहें, वे लोग कृपया मेरी अङ्गरेजीकी पुस्तक 'Bhagavad Gita an exposition' (D. B. Taraporewalla sons, Bombay)को पढ़ें।

गीतामें क्या है ?

(ले०-विद्यालंकार पं० श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ " कमल " साहित्यभूषण)

हमारे यहां धर्म-ग्रन्थोंका बाहुल्य है और उनमें गीता विश्वमान्य हो रहा है। यह जगद्गुरु अच्युतका वह उपदेश है जिसके द्वारा पराक्रमी अर्जुनकी सम्मोह-भ्रान्तिका विनाश हुआ था। मोहकी शक्ति प्रबला है। इसके जालमें फंसकर प्रायः सभी विचलित हो जाते हैं। भगवान्‌ने गीताके श्लोकोंमें आदर्श ज्ञान छिपाकर अर्जुनको सुनाया था। ज्ञानके माहात्म्यसे मोह-तिमिरके अस्तित्वको मिटानेमें प्राणी सफल हो सकते हैं। गीताको इस सफलताका आधार समझना मानव-समाजके योग्य एवं उचित होगा।

सब कुछ छोड़कर केवल काव्यकी दृष्टिसे ही यदि हम इस श्रेष्ठ-ग्रन्थकी परीक्षाके निमित्त प्रवृत्त हों तो हमें इसकी गणना संसारके उत्तम काव्य-ग्रन्थोंमें करनी होगी। कारण स्पष्ट है कि इसमें कितने आत्मज्ञानके निगूढ़तम सिद्धान्तोंकी विवेचना ऐसी प्रभावोत्पादिनी शैली एवं प्रसाद-गुण-पूर्ण भाषामें की गयी है कि वह बाल समाज या वृद्ध-समाजमें सर्वत्र एक प्रकारसे सुगम प्रतीत होती है और इस सुगमताके साथ साथ भक्ति-रसकी भी प्राप्ति होती है।

वेद परब्रह्मकी वाणी है और परब्रह्म सृष्टिका आदि नियामक है जिसे हम सृष्टिकर्ता या अन्य अनेक व्यापक संज्ञाओंसे सम्बोधित करते हैं। इस दृष्टिसे वेदकी महिमा कितनी महान् है इसपर कुछ लिखना सूर्यको दीपक दिखलाना है। वेदमें जिन धार्मिक सिद्धान्तोंकी चर्चा की गयी है, उन समस्त वैदिक धर्म-विचारोंका सार भगवान् श्रीकृष्णकी वाणीसे गीता में संगृहीत है। अब हम अनुमान कर सकते हैं कि इस ग्रन्थकी महत्ता कितनी उच्चतम है।

पहले सभी समझते हैं संसार सुखमय है, किन्तु एक दिन वह समय भी आ जाता है जब प्रकट होता है कि सांसारिक जीवन बन्धनमात्र है और इस बन्धनमें बंध जानेपर दुःखके सिवा सुखकी प्राप्ति नहीं है। सुखसे मेरा मतलब वास्तविक सुख अर्थात् उस सुखसे है जो अविनश्वर और अमर है। जब सांसारिक उलझनोंसे हमें अधिक कष्ट होता है तो ज्ञानका अभाव खटकता है और यह भी जाननेकी कामना होती है कि किस रीतिसे कर्म करना आनन्दके अनुरूप होगा। गीताके अध्ययनसे हम सहजमें जान लेते हैं कि ज्ञानकी प्राप्ति किस प्रकार होती है और कर्म करनेके क्या नियम हैं ? गीतामें केवल वैदिक तत्त्वज्ञानका ही अनुसन्धान नहीं किया गया है, बल्कि ध्यान देनेसे हमें पता चलता है कि उसमें वैज्ञानिक भावोंका भी समावेश है। कर्मके सम्बन्धमें भी हम सिर्फ इतना ही नहीं जानते कि धार्मिक कर्म क्या है ? उपासनामें संक्षिप्त कर्तव्य क्या है ? बल्कि लौकिक कर्तव्य-निष्ठाकी सत्य विवेचनासे भी हम परिचित हो जाते हैं। ऐसी गम्भीर आदर्श और सात्त्विक विवेचना क्यों न हो, जब विवेचक ही अनन्त लीलामय है।

ज्ञानके उद्गमसे कर्मोंका आदर्श होना निश्चित है। ज्ञानकी वृद्धि होनेपर कर्मी उस परमात्माको जान लेता है जिससे सारे कर्मोंकी व्युत्पत्ति होती है। जो मनुष्य तन्मयता-पूर्वक ज्ञानका जिज्ञासु है, उसके लिये यह ग्रन्थ वास्तवमें शुद्ध विवेक और ज्ञानका कोश है।

मनुष्यके आयुष्यमें जीवन-नाटकका कष्टमय प्रसंग एक दिन आता ही है। इस दृश्यके समुपस्थित होनेपर बुद्धि चकरा जाती है। उस समय ज्ञानद्वारा सान्त्वना पानेके लिये गुरुकी खोज होती है। परमात्माने मनुष्यरूपसे गुरु बनकर अर्जुनको भवसिन्धु तरनेकी सुलभता बतलायी थी; किन्तु कौन कह सकता है कि अर्जुन सदृश सभी सौभाग्यशाली हैं। भगवान्‌के स्वयं न रहते हुए गीताशास्त्र ऐसे अवसरपर कितनोंका यशस्वी गुरु और उचित पथ-प्रदर्शक बन सकता है।

जब हमारे अन्दर कुवृत्ति और वासनाओंका इतना आधिक्य हो जाता है कि हम उनको अभिलाषा रखते हुए भी नहीं रोक सकते, तो हमारा विश्वास ईश्वरके अस्तित्वकी ओरसे हटने लगता है, हम किंकर्तव्यविमूढ़से हो जाते हैं; पर गीताके अमूल्य उपदेशोंका उपयोग करनेसे हम पुनः कर्मण्य हो सकते हैं और हमारी पतित मनोवृत्ति पुनः पवित्ररूप धारण कर सकती है।

गीताका सम्बन्ध भक्तिसे भी है। भक्तिके गूढ़ तत्त्वको समझ लेनेपर मानव भगवत्-प्राप्तिके योग्य हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि भक्तिका मार्ग बड़ा ही दुरूह और कठिन

है। इस पथका पथिक बननेके लिये समाजमें मनुष्य-मनुष्यके साथ जो आपात-मधुर सम्बन्ध है उसका वर्जन करना होता है, संसारमें रहकर जिस अपार आनन्दका अनुभव होता है, उसका परित्याग करना पड़ता है। एकान्त काननमें गुरुदेवके चरणोंके समीप बैठकर विश्व-सम्बन्धी उच्च तत्त्वकी शिक्षा प्राप्त करनी होती है। निष्काम भावसे स्थिर चित्त होकर ध्यानावस्थित होना पड़ता है। निश्चल निर्विकल्प समाधिमें लीन रहना पड़ता है। अपने अन्दर भक्ति-भावोंको भरनेके लिये ये साधन हैं, किन्तु यदि इनपर ही भक्तिकी सारी क्रियाएं निर्भर होतीं तो सभी इन साधनोंको दुस्साध्य कहकर अलग जा बैठते। यह बात मनुष्यके स्वभावानुकूल है।

गीताका कथन है—भक्तिके लिये इन मार्गोंको छोड़कर अन्य मार्ग भी हैं और उन मार्गोंकी ओर संकेत कर देना भी गीताका एक महान् उद्देश्य है।

अव्यक्त विश्वगोलातीतके साथ मिलकर एकाकार होना जीवनकी परम गति है। इस गतिके लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है दिव्य-जीवन-लाभकी, तत्पश्चात् अभ्यन्तरमें अभिलाषा की, क्योंकि जब किसी विषयके लिये उत्कट आकांक्षाका उत्थान होता है तो वह दुस्साध्य नहीं प्रतीत होता। आकांक्षाके जाग उठनेपर हम सहज ही अपनेको परब्रह्मकी सेवामें समर्पित कर देंगे। उनकी उपासना हृदयसे करने लगेंगे और उनकी अनुकम्पासे हमारे लिये कुछ भी असम्भव नहीं रहेगा।—'अहं त्वा मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

श्रीमद्भगवद्गीताका ध्येय

(ले०—महामहोपाध्याय पण्डितवर श्रीलक्ष्मणजी शास्त्री द्राविड़, काशीधाम)

ताका तत्त्व बहुत ही गहन है, इसके एक एक श्लोकपर महाभारतके समान बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं, गीताकी विमल विवेचनाओंको देखकर चाहे किसी देशका विद्वान् हो, चकित हो जाता है, सुरभारती सेवकोंका तो कहना ही क्या है। जिस गीताको सारा संसार सम्मानकी दृष्टिसे देखता है, वह गीता साधारण वस्तु नहीं है।

एक तो आम्नायशास्त्र स्वयं ही बहुत दुर्बोध है, उसमें भी उसके सर्वोच्च भाग उपनिषदोंकी तो बात ही क्या है? उन उपनिषदोंके भी अत्यन्त गूढ़ विषयोंको संक्षेप, सरल एवं सरस भाषामें समझानेका गौरव गीताको ही प्राप्त है, अभी तक गीताके समान कोई अन्य पुस्तक संसारकी किसी भाषामें भी नहीं बनी, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि, आज भूमण्डलपर गीता ही एक सार्वजनीन पुस्तक है।

कार्यबाहुल्य एवं समयाभावके कारण इस छोटेसे लेखके भीतर गीताका सारा रहस्य प्रकट करनेमें हम सर्वथा असमर्थ हैं, तो भी अनेक बन्धुओंके अनुरोधसे इस लेखको लिखकर जनता-जनार्दनकी सेवामें प्रवृत्त हुए हैं, इस लेखमें संक्षेपसे गीताका ध्येय बतलाया गया है।

इस ग्रन्थका उद्देश्य क्या है, यह बात जाननेके लिये ग्रन्थके उपक्रम, उपसंहार और परिणामपर पूर्ण दृष्टि देनी चाहिये। अब देखिये, गीताका आरम्भ कहांसे होता है—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
(गीता अ० २ श्लोक ११।)

श्रीभगवान्ने कहा तुम जिनके लिये शोक करना नहीं चाहिये, उनके लिये शोक करते हो, किन्तु पण्डितोंकी तरह बातें करते हो। पण्डितगण जीवोंके जन्म-मृत्युरूप व्यापारमें चिन्तायुक्त नहीं होते।

इस श्लोकमें भगवान्ने उपदेश आरम्भ करते ही शोक और आत्मविस्मृतिरूप मोहका निर्देश किया है, इससे पता चलता है कि गीतोपदेशका सारा तात्पर्य शोक-मोह-निवृत्तिपरक है और अर्जुनके या अर्जुनके समान धवल व्यक्तियोंके अन्तःकरणमें आकस्मिक या प्राक्तन आये हुए शोक-मोहके अन्धकारको दूर करके ज्ञान-सूर्यका पूर्ण प्रकाश हो जानेके लिये ही भगवान्ने गीतोपदेशका अनुग्रह किया है। यह तो हुआ गीताका आरम्भ। अब उसका उपसंहार भी देखिये—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता अ० १८ श्लोक ६६)

इस श्लोकका विवेचन आगे किया जायगा, यहां केवल गीताका उपसंहार भी 'मा शुचः' शोक मत करो, इसीपर होता है यह दिखलानेके लिये उद्धृत किया गया है। अतः गीताका उपसंहार भी शोक-मोहकी निवृत्तिपरक ही है। अब गीतोपदेशका जो फलितार्थ निकला, सो भी सुन लीजिये—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गीता अ० १८ श्लोक ७३)

अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि हे अच्युत प्रभो! आपकी कृपासे मेरा शोक-मोह नष्ट हो गया, स्वरूपकी स्मृति हो गयी, मैं संशयरहित अर्थात् अज्ञानरहित (ज्ञानी) हो गया हूं, अब आपकी बात करूंगा।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने गीताका परिणाम भी शोक-मोहकी निवृत्ति ही रक्खा है। जब गीताके उपोद्घातसे लेकर पर्यवसान तक एक स्वरसे गीताका प्रयोजन शोक-मोहकी निवृत्ति बतलाते हैं, तब गीताका एकमात्र ध्येय ज्ञानयोग ही है, ऐसा कहना अनुचित न होगा। क्योंकि—

'तत्र कः शोकः को मोह एकत्वमनुपश्यतः'

इत्यादि श्रुतियोंने शोक-मोह सन्तरणका एकमात्र उपाय 'ज्ञान' ही है, ऐसी घोषणा कर दी है, अतः भगवान्‌ने भी गीताके अनेक स्थलोंपर ज्ञानकी महिमाका वर्णन करते हुए 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' ज्ञानाग्नि ही सब कर्म बीजोंको भूंज सकता है, इत्यादि वाक्योंके द्वारा उपदेश कर दिया है कि अनात्मबन्धनसे छुड़ाकर जीवको शिव बनाते हुए शोक-मोह-सागरकी भीषण वीचियोंसे बचानेका सामर्थ्य 'ज्ञान' में ही है, दूसरेमें नहीं।

इस प्रकार ज्ञानकी महिमा बतलाकर भगवान्‌ने गीताका ध्येय ज्ञानयोग ही है, ऐसा स्पष्ट कर दिया है। हम इसपर थोड़ी और विवेचना करते हैं—

गीताके १८ अध्यायोंमें एक अध्याय तो भूमिका है, शेष अध्यायोंमेंसे १७ वें अध्याय तक ज्ञानके साधन कर्मयोग, संन्यासयोग तथा उनके अङ्गोपाङ्गोंकी विशद व्याख्या की गयी है, अन्तके १८ वें अध्यायमें सबका निचोड़ दिया गया है, यहां भी अन्तके श्लोकोंसे गीताका चरम लक्ष्य बतलाकर दिव्य उपदेश सफल किया गया है।

वे श्लोक ये हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥

इस श्लोकसे गीताके पूर्व अध्यायोंमें विलोडित विषयोंका उपसंहार करते हुए करुणावरुणालय भगवान् नन्दनन्दन गीताका सर्वस्व बतलानेके लिये—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

इसमें प्रशंसा और प्रतिज्ञा करके गीता-उपदेशका स्वरूप निम्नलिखित दो पद्योंमें बतलाते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता अ० १८ श्लोक ६५-६६)

इन दोनों श्लोकोंसे पूर्व-कथित साध्य तथा साधन-निष्ठाको या कर्म तथा ज्ञानकी प्रतिपत्तिको परिपूर्ण करनेके विचारसे भगवान्‌ने प्रथम श्लोकमें उपासनासहित कर्मनिष्ठा बतला कर द्वितीय श्लोकमें सब धर्मोंके त्यागरूप संन्यासके साथ ज्ञाननिष्ठाका निर्देश किया है।

यहांपर धर्मशब्दसे कार्य और कारण दोनोंका बोध होता है, क्योंकि 'ध्रियत इति धर्मः' इस व्युत्पत्तिसे कार्यका और 'धरतीति धर्मः' इस व्युत्पत्तिसे कारणका ज्ञान होता है। अतः यहां धर्म शब्द कार्यकारणात्मक समस्त अनात्मपदार्थमात्रका बोधक है, इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको जो सब धर्मोंका त्याग बतलाया, उससे अनात्म वस्तुओंका त्याग करना अभिप्रेत है, यहां पुण्यवाचक धर्म शब्द नहीं है, क्योंकि अन्यथा अर्थ करनेसे 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस वाक्यमें आया हुआ 'सर्व' शब्द व्यर्थ हो जाता है।

सारांश यह है कि 'सब धर्मोंका त्याग करके' ऐसा कहनेसे ही 'अनात्म वस्तुमात्रका त्याग करके' ऐसा अर्थ अनायास निकलता है, ऐसा अर्थ करनेपर 'मामेकं शरणं व्रज' इसकी सङ्गति भी ठीक लग जाती है जैसा कि 'अनात्म मात्र जो कार्य-कारणात्मक जागतिक दृश्य हैं उनका परित्याग करके।' अभिप्राय यह है कि तद्गत मोह-माया आदि भ्रमोंका निरास करके समस्त चराचर विश्वका अधिष्ठान जो मैं हूं, मेरे स्वरूपके अतिरिक्त इस मृगमरीचिकामय संसारमें अन्य कुछ भी नहीं है, इस बातको समझो और इसी विज्ञानके शरणागत बनो। यही तात्पर्य 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का है।

मथामुत-रक्षण करनेवालेके पास जाओ, ऐसा अर्थ करने-

से सब पुण्य-पापोंसे रहित होकर शोक-मोहसे निवृत्त होना, जो फल है उसका निरूपण असङ्गत हो जायगा। क्योंकि श्रुतियोंमें तत्त्वज्ञानका ही फल पुण्य-पापोंकी निवृत्तिके साथ साथ शोक-निवृत्ति लिखा है। 'यथाश्रुतके पास जाओ' ऐसा अर्थ ग्रहण करने और ज्ञानका अर्थ न ग्रहण करनेसे शोक-निवृत्तिरूप फलका कथन सर्वथा असङ्गत हो जायगा। इसलिये 'शरणं व्रज' का अर्थ यही है कि 'अनात्मवस्तुमें सत्यता बुद्धिको छोड़कर सर्वाधिष्ठान ईश्वर ही एक वस्तु है' 'उससे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है' इस प्रकार वेदान्त प्रतिपादित ज्ञानका ही निरूपण गीताजीमें किया गया है, ऐसा निश्चय होता है।

यदि गीताका तात्पर्य ज्ञाननिरूपणमें न होता तो गीताके अन्तमें ज्ञान तथा उसका फल जो शोक निवृत्ति है, इनका प्रतिपादन क्यों किया जाता? ज्ञानके बिना शोककी निवृत्ति किन्हीं अन्य साधनोंमें नहीं हो सकती, कर्मानुष्ठान या योगसे शोककी निवृत्ति होना नितान्त असम्भव है।

जहां जहां शास्त्रोंमें शोक-निवृत्तिकी चर्चा छिड़ी है, वहां उसके साधनोंमें ज्ञानका ही प्राधान्य रहता है, श्रुतियोंने भी बार बार यही शिक्षा दी है कि 'तरति शोकमात्मवित्' 'तदा विद्वान् हर्षशोकौ जहाति' इत्यादि। अर्थात ज्ञानी व्यक्ति ही शोकसे निवृत्त हो सकता है।

उस ज्ञानका प्राथमिक साधन कर्म और अन्तिम साधन संन्यास है, संन्यासकी आवश्यकता इसलिये है कि किसी साधारण कामका सम्पादन करना हो तो उसके लिये भी बड़ी एकाग्रताकी आवश्यकता होती है। जैसा कि भगवान पतञ्जलिने भी कहा है 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' अर्थात् 'अभ्यास दीर्घकालतक निरन्तर सादर करनेपर ही साध्य साधनमें समर्थ होता है, अन्यथा नहीं' जैसा कि पाक (रसोई) बनाना ही ले लीजिये—यदि चावल पकाना है तो क्या चावलोंको बटलोहीमें रखकर चूल्हेपर धरें, तुरन्त उतार लें अर्थात् दीर्घकालकी प्रतीक्षा न करें तो क्या चावल सिद्ध होकर भात बन सकेंगे? कभी नहीं। उसी प्रकार उन चावलोंको चूल्हेपर चढ़ावें और उतारें, नैरन्तर्यकी अपेक्षा न करके बार बार ऐसा ही दिनभर भी किया जाय तो क्या भात तैयार हो सकता है? उसी प्रकार चावलोंको अग्निपर चढ़ाकर किसी अन्य काममें लग जाय और चढ़े हुए चावलोंके तरफ ध्यान न रखकर उनका सत्कार न किया जाय तो क्या खानेको पका हुआ भात मिल सकता है? कभी नहीं, बल्कि वे चावल परिपक्व न होकर जल कर खाक हो जायंगे और पाककर्ता महाशय उदरका सत्कार न कर सकेंगे।

इसी प्रकार ज्ञानसाधन करनेके लिये अन्य सब कामोंको छोड़कर बड़ी तत्परताके साथ उसमें रात-दिन लगना चाहिये, तभी ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि इससे बढ़ कर कोई विद्या नहीं है, भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है कि 'राजविद्या राजगुह्यम्' सब विद्याओंमें राजा और सब गोपनीयोंमें गोप्य ज्ञान ही है, इसके समान पवित्र भी दूसरा कुछ नहीं है। तब ऐसी विद्याको पानेके लिये कितनी एकाग्रता चाहिये, इस बातका विचार विज्ञलोग स्वयं ही करें। इसलिये भगवती श्रुति भी तारस्वरसे घोषणा करती है कि 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' ब्रह्मणि संस्थः यस्य स ब्रह्मसंस्थः सम्पूर्वक स्था धातु समाप्तिवाचक है अर्थात् जो अनन्य व्यापारता-रूप ब्रह्मनिष्ठाको प्राप्त हो चुका है, वही ज्ञानके द्वारा अमृतत्वको प्राप्त होगा।

अब विचारना यह है कि वह अपूर्व अनन्य व्यापारताका ठीक ठीक साधन किस आश्रममें हो सकता है? गृहस्थ आदि आश्रमोंमें अपने अपने आश्रम विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना पड़ता है इसलिये उन आश्रमोंमें ज्ञानसाधनी अनन्य व्यापारताका होना सर्वथा असम्भव है, इसलिये विधान रहनेपर भी इच्छासे गार्हस्थ्य कर्मोंका त्याग कर ज्ञानाभ्यास करने लग जाय, तो करनेवाला पातकी होगा जिससे कि ज्ञान-प्राप्तिमें और भी विघ्न-बाधा उपस्थित होगी, इसलिये श्रुतिने संन्यासका विधान किया है। अभिप्राय यह है कि विहित कर्मोंका यथाविधि त्याग करनेसे यथेच्छ कर्मत्यागका जो प्रत्यवाय है, वह भी न लगेगा और ज्ञानाभ्यासके लिये यथेष्ट समय भी मिलेगा, यह संन्यास एक प्रकारका प्रतिपत्ति कर्म है, जैसे किसीने गलेमें माला धारण की, अब उसे कहीं फेंकना है, उसको यदि इधर उधर न डालकर अच्छे पवित्र गंगादि तीर्थोंमें प्रवाह कर दें तो विधिविहित होनेके कारण उस त्यागसे भी पुण्य होगा। दूसरा उदाहरण यज्ञके पुरोडाशका लीजिये

हवन करनेपर जो हवि शेष रह जाय, उसका क्या करना चाहिये? उसे कहीं फेंक देना उचित है या यज्ञ भगवानका प्रसाद समझकर भोजन करना। फेंक देनेकी अपेक्षा तो प्रसाद समझकर उदरमें स्थान देना ही विधिविहित है, अतः उस त्यागसे भी पुण्यजनक अपूर्व ही उत्पन्न होता है। इसलिये जैसे कर्मजन्य अपूर्व उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कर्मत्याग जन्य भी होता है और इन

दोनों प्रकारके अपूर्वसे ज्ञान-प्रतिबन्धक पाप नष्ट होता है, अतः केवल कर्म या संन्याससे अज्ञानकी निवृत्ति न होगी किन्तु इन दोनों साधनोंके द्वारा, कर्मके द्वारा चित्त-शुद्धि और संन्यासके द्वारा ज्ञानकी ओर अनन्य निष्ठा होनेपर ही मोक्षसाधक एकत्वानुभवकी सिद्धि होगी।

जिस प्रकार प्रथम कर्षण, मध्यमें बीजवपन और अन्तमें अकर्षण करने पर बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कर्मसे चित्त-शुद्धि और संन्यासके द्वारा अनन्य व्यापारताका प्रयोग करनेपर ज्ञानयोगरूपी राजविद्याका प्रादुर्भाव होता है, जिसे प्राप्त कर जीव शिव हो जाता है, यही है गीताका अन्तिम प्रतिपाद्य विषय या उसका सर्वोच्च ध्येय!

जिस प्रकार बीजकी अङ्कुरोत्पत्तिके लिये प्रथम क्षेत्रका कर्षण, कर्षणके बाद बीजवपन और उसके अनन्तर पुनः अकर्षण (कर्षणाभाव) का प्रयोग किया जाता है और ये दोनों कर्षण और अकर्षण बीजके अङ्कुर उत्पन्न होनेमें हेतु हैं, उसी प्रकार कर्मयोग और संन्यासयोग दोनोंकी सहायतासे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, यही गीताका मुख्य ध्येय है, इसीलिये गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है -

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

योग (चित्तवृत्तियोंका निरोध) पर आरूढ होनेकी इच्छा रखनेवाले साधकका साधन कर्मयोग है और योगारूढ होनेपर शम संन्यास अर्थात कर्मोंका त्याग ही साधन है, इन दोनों साधनोंसे ज्ञानका प्रादुर्भाव होता है। इस बातका समर्थन शास्त्रान्तरोंने भी किया है

प्र[illegible] बुद्धिः [illegible] ।
कृतार्थ[illegible] प्रावृषि [illegible] इव ॥

कर्मयोगके द्वारा बुद्धिकी समदर्शिता सम्पादन करके शुद्धिसे कृतार्थ होनेपर साधक वर्षाकालके अन्तमें मेघोंके समान संन्यासको प्राप्त करते हैं।

उक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कर्म और संन्यास दोनों ही ज्ञानयोगके साधन हैं। इसलिये संसार-सर्वस्व गीताका महत्त्व बतलाते हुए किसी कविने ठीक ही कहा है कि -

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

गीताका ही खूब अनुशीलन करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंका अध्ययन केवल विस्तारमात्र है, गीताका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अनेक शास्त्रोंका अध्ययन निष्फल प्रतीत होता है, क्योंकि गीता भगवान् विष्णुके साक्षात् मुखारविन्दसे निकली हुई है।

यह कहना अनुचित न होगा कि गीतामें जो नहीं है वह विषय अन्य पुस्तकोंमें कहीं भी नहीं है और जो विषय इसमें है वह अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं वरन् अप्राप्य है।

गीतापर मनन करनेवाले नास्तिकसे नास्तिक व्यक्तिकी अन्तरात्मामें भी यह भावना होने लगती है कि इस पुस्तकके रचयिता भगवान् ही हैं, दूसरा नहीं। अभिप्राय यह है कि ईश्वरकी सत्ता न माननेवाले मनुष्य भी गीताकी ज्ञानगरिमापर विभोर होते हुए किसी अनिर्वचनीय शक्तिकी दिव्य ज्योतिकी अलौकिक छटाका अनुभव करने लगते हैं।

जिस गीतामें ज्ञान-गङ्गा, कर्म-यमुना और उपासना-सरस्वतीकी विमल त्रिवेणी बह रही है, भला, उसमें स्नान करनेवालेको पुनः शरीर-बन्ध क्यों होने लगा? हमारा तो अटल विश्वास है कि भगवान् नन्दनन्दनने परम अनुकम्पा करके कलिके अल्पज्ञ जीवोंको सर्वज्ञ बनानेके लिये गीताके रूपमें अपनी दिव्य वाणीका उपदेश किया है।

गीता मानवीय-जीवनका सर्वस्व, असार संसारका सार, शास्त्रसागरका मथितार्थ, उपनिषदोंका निचोड़ और समस्त वेदोंका निष्कर्ष है। सृष्टिके प्रारम्भसे आज तक गीताके समान कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। सनातन धर्मके गूढ रहस्योंको सरल एवं सरस भाषाके थोड़ेसे शब्दोंमें प्रकट करनेकी अपूर्व शक्ति श्रीगीताजीमें ही है, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि गीताके समान पुस्तक पृथिवीपर 'न भूतो न भविष्यति' न हुई, न होगी।

चाहे किसी देश, किसी भाषा, किसी सम्प्रदाय या किन्हीं मतमतान्तरोंके माननेवाला विद्वान् हो, गीता पढ़ते ही उसकी आत्मामें ज्ञानकी ज्योति जगमगा उठती है, गीताके आधारपर अपनी जीवन-यात्रा या पारलौकिक पाथेयोंका संग्रह करनेवाली व्यक्तियाँ कभी अधःपतनको प्राप्त नहीं होतीं, सारांश यह है कि प्राक्तन पुण्योदयके बिना गीताका मर्मज्ञ होना आकाश-पुष्पके समान है।

उपसंहारमें हमें यही कहना है कि, श्रीमद्भगवद्गीता-

भाष्योंका भी अन्त नहीं है और टीका-टिप्पणियोंका भी अन्त नहीं है, श्रीभगवान् शङ्कराचार्यकी गीतापर भाष्य-रचनाके अनन्तर वैष्णव सम्प्रदायके अनेक आचार्योंने भी भगवद्गीतापर स्वतन्त्र स्वतन्त्र भाष्य-रचना की है, तदनन्तर आधुनिक अनेक विद्वान् तथा महात्माओंने भी टीका टिप्पणी सन्दीपनी, प्रबोधिनी आदि नामोंसे गीतापर बहुत कुछ लिखा है, इसके सिवा पश्चिम देशीय अनेक विद्वानोंके भी इसके ऊपर विभिन्न मतविन्यास देखनेमें आते हैं, किन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि किसीके साथ किसीका मतैक्य देखनेमें नहीं आता है, इसका एकमात्र कारण गीताके यथार्थ लक्ष्यपर ध्यान नहीं देना ही है। गीताका वास्तविक स्वरूप ज्ञानयोग ही है।

गीता और स्वराज्य।

(लेखक—एक महात्मा)

वेदादि विद्या दो नामोंमें विभक्त है, एक परा और दूसरी अपरा। (मुं० उ० १।४) 'परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुं० १।५) पराविद्या वह है जिससे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यही पराविद्या, ब्रह्मविद्या, उपनिषद् या वेदान्त नामसे प्रसिद्ध है। इस वेदान्तभागको छोड़ कर शेष भाग वेदविद्या 'अपरा' नामसे प्रसिद्ध है। इन दोनों विद्याओंका वर्णन नाम भेदसे शास्त्रोंमें प्रायः सर्वत्र ही पाया जाता है और साथ ही साथ सकाम कर्म-प्रतिपादक शास्त्रोंकी निन्दा, निष्काम कर्म और ब्रह्मविद्या-की उत्कृष्टता भी प्रायः सर्वत्र ही पायी जाती है, जिसका दिग्दर्शनमात्र नीचे कराया जाता है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।

(कठ १।२।१)

पुरुषको विविध मनोरथोंमें फँसानेवाली श्रेय और प्रेय नामक विद्याएं भिन्न भिन्न हैं, इनमें श्रेय (परा विद्या) ग्रहण करनेवालेका कल्याण होता है और प्रेयको ग्रहण करनेवाला भ्रष्ट हो जाता है। किञ्च—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।

(कठ १-२।४)

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥

(मनु १२-८९)।

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।

(गीता १६-७)।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन॥

(गीता २।४५)।

इत्यादि शास्त्र-वचनोंमें श्रेय और प्रेय, विद्या और अविद्या, निवृत्त और प्रवृत्तादि नामोंसे क्रमशः परा और अपरा विद्याका द्योतन करते हुए परा विद्याको ही कल्याण-प्रतिपादक बताया है। इसके अतिरिक्त स्वयं भगवान् श्रीराम मुक्तिकोपनिषद्में मारुतिके प्रति वेदान्तका महत्त्व इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं।

मारुति—कथया नद मे नाम मत मुक्तेः सनातनम्।
भगवान्—वेदान्ते सुप्रतिष्ठोऽहं वेदान्तं समुपाश्रय॥
मारुति—वेदान्ताः के रघुश्रेष्ठ?
भगवान्—निश्वासभूता मे विष्णोर्वेदा जाता सुविस्तराः।
तिलेषु तैलवद्वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः॥

मेरे श्वासोंसे उत्पन्न बड़े विस्तार (११८०शाखा) वाले वेदोंमें वेदान्त इस प्रकार स्थित है, जिस प्रकार तिलोंमें तेल स्थित होता है।

एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।

एक वेद-शाखासे एक एक उपनिषद्का प्रादुर्भाव हुआ, अतः ११८० उपनिषदोंके रूपमें वेदान्तका वेदोंसे अव-तरण हुआ जान। इनमें १० उपनिषद् प्रधान हैं, यदि इनके अध्ययनसे सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति न हो सके तो 'विदेहमुक्ताविच्छा चेदष्टोत्तरशतं पठ'। १०८ उपनिषदोंका अध्ययन कर, जिससे विदेहमुक्तिको प्राप्त होगा।

इस प्रकार स्वयं उपनिषदोंकी उत्कृष्टता कथन करते हुए भी देशकालविद् भगवान् श्रीकृष्णको सन्तोष न हुआ। सर्वसाधारणसे अगम्य होनेके कारण उपनिषद्-

सागरान्तरगत भवसागरान्तक अमृतकी व्यर्थताको सहन न करते हुए परम कारुणीक भक्तवत्सल भगवान्ने अर्जुनको निमित्त कर उपनिषद्-सागरको मथनकर जनसाधारणके लिये गीता-अमृतका प्रादुर्भाव किया, जिसपर यह श्लोक है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

जैसे लौकिक गौको लौकिक गोपाल लौकिक बछड़ेसे पन्हाकर लौकिक आनन्ददायक दुग्ध दूहता है वैसे ही अलौकिक-पद प्रतिपादक उपनिषद्-गौको अलौकिक आनन्द-स्वरूप गोपाल (यो दत्तात्रेयकपिलव्यासाद्यवतारैः गा वेदान्त-वाक्यानि पालयति रक्षतीति गोपालः) ने अलौकिक पदेच्छुककी तरह अर्जुन बछड़ेसे पन्हआकर अलौकिकानन्ददायक गीतामृत-दुग्धको दुहा, जिसे पान कर लौकिक जन भी अलौकिकानन्द-रसानुभूतिका अनुभव करता हुआ अलौकिक पदको प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्रीभगवती गीताजीका अवतरण भूतलमें हुआ। जिनकी महिमाके विषयमें इतना कथन ही अलम् होगा कि 'कृष्णो जानाति वै सम्यक्' अथवा—

सो जानै जेहि देहु जनाई,
जानत तुम्हें तुमहिं होइ जाई।

प्रथम तो वेदोंकी महिमा ही अगम है, जिनके विषयमें 'मुह्यन्ति यत्सूरयः' बड़े बड़े ज्ञानी जन भी मोहको प्राप्त होते हैं। फिर उपनिषदोंकी महिमा वेदोंसे भी अगम है, जो तिलों-में तेलकी भाँति वेदोंमें सारभूत हैं। इन उपनिषदोंकी भी सारभूत श्रीगीताजीकी महिमा जनसाधारणसे किस प्रकार सुगम कही जा सकती है ? यद्यपि श्रीगीताजीकी महिमा अगमसे अगम है किन्तु तत्प्रतिपाद्य भगवत्प्राप्तिका साधन सुगमसे सुगम है।

प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ।।

न इस घरको छोड़ना, न उस घरको बिसारना और नित्य गीताभ्यासपूर्वक प्रारब्ध कर्म भोगते हुए मुक्तिको करतलामलकवत् प्राप्त कर लेना चाहिये। यही गीताजीका प्रधान उद्देश्य है। गीता पुरुषको कर्मक्षेत्रके योग्य बनाती है और कायरता, आलस्य तथा हृदयदौर्बल्यादि भावोंसे दूर भगाती है, इसमें अर्जुन ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'न योत्स्ये' इस प्रकार मोहयुक्त अर्जुनसे 'करिष्ये वचनं तव' कहला देना गीताकी ही शक्ति थी। कर्म करते रहना और तज्जन्य 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' के चक्करसे भी निकल जाना, यह उपनिषदोंकी अपेक्षा गीताकी विशेषता है। इस विषयको गीताने अ० ५ श्लोक ७ से १२ तक अच्छी तरह स्फुट किया है। गीता यद्यपि उपनिषदोंका सार है तथापि अन्य शास्त्रोंके समावेशसे रिक्त भी नहीं है, इसीलिये गीताको सर्व-शास्त्रमयी कहा गया है। इसी हेतु 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ॥'

गीतामें एक विशेष महत्त्वकी बात यह है कि इसमें किसी प्रकारका पक्षपात नहीं किया गया है, इसीसे गीता संसारमें पूज्यतम भावको प्राप्त है।

गीतामु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ।।(गी० मा०)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।
(गी० ९ । ३०)

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।
(गी० ९ । ३२)

गीतामें ऊंच नीचका विचार नहीं रक्खा गया है, मनुष्य-मात्र गीताध्ययनसे परम गति प्राप्त कर सकता है। यही परम गति (मोक्ष)की प्राप्ति, पूर्ण स्वतन्त्रता या स्वराज्यकी प्राप्ति है। इसीमें मनुष्यजन्मकी सफलता है। अतः गीताके इस अखिलशास्त्र-सम्बन्धित स्वराज्य-पदपर कुछ विवेचन करना आवश्यक है—

'स्व' का अर्थ आत्मा, स्वयं, आप या मैं है और 'राज्य' का अर्थ अधिकार है। आत्मा शब्दके दो अर्थ हैं—एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा; किन्तु विवेक-दृष्टिसे जीवात्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं। जिस प्रकार महाकाश मठ और घटकी अपेक्षासे मठाकाश और घटाकाश भावको प्राप्त होता है, उसीप्रकार परमात्मा भी विराट्देह तथा मनुष्य-देहकी उपाधिसे ईश्वर और जीव भावको प्राप्त होता है। पर तत्त्वमस्यादि वाक्यविवेकसे आत्मैकत्व ही शेष रह जाता है और यही यथार्थ स्वराज्य है। यही स्वराज्य शास्त्र-सम्मत है।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ।
(मनु० १२-९१)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
(यजुः ४०-६)

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(यजुः ४०-७)

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् ।
(बृ० ५-१४)

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म ।
(मांडू० मं० २)

सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको सम देखता हुआ मनुष्य आत्मैकस्वरूप स्वराज्यको प्राप्त होता है, जिससे वह शोक-मोहादिसे नितान्त विमुक्त होकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है, अन्यत्र शान्तिकी आशा नहीं। श्रुतिमाता डिंडिमघोषसे सूचित कर रही है 'तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्' **यही समस्त शास्त्रोंका यथार्थ सिद्धान्त है ।**

अधीत्य चतुरो वेदान् व्याकृत्याष्टादशाः स्मृतीः ।
अहो श्रमस्य वैफल्यं आत्मापि कलितो न चेत् ॥
अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥
(शंकराचार्य)

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ॥

कबतक स्टेशनोंपर डेरा डाले पड़े रहोगे ? आराम तो घर ही जाकर मिलेगा । स्टेशनोंके क्षणिक पदार्थोंपर मत भूलो । पर-राज्यको कभी स्वराज्य मत समझो । भला 'स्व' (अपने) राज्यको कौन कैसे त्याग सकता ? और जिसका त्याग एक दिन अवश्यंभावी है वह स्वराज्य कैसे हो सकता है ? देहसे लेकर त्रिलोकीके आधिपत्य पर्यंत समस्त भौतिक राज्यपर किसीका स्वराज्य (स्वाधिकार) कभी स्थायी नहीं रहा, सबसे बलात् छीन लिया गया । भोजने क्या ही अच्छा कहा है -

मांधाता च महीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः ,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः ।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते ,
नैकेनापि दिवं गता वसुमती मुञ्ज त्वया यास्यति ॥

अतः उपर्युक्त युक्ति-प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि आत्मप्राप्ति ही स्वराज्य-प्राप्ति है, यही एक महा-शासन है जिसके समक्ष समस्त भौतिक शासन विरस हो जाते हैं—

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्महाशासने ॥
(अष्टावक्र)

यही सच्चा स्वराज्य गीताको सम्मत है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।
(गीता १५ । ६)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(गी० ६ । ३०-३१)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
(गी० १० । २०)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(गी० १३ । २७)

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥
(गी० १३ । २८)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
(गी० ३ । १७)

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।
(गी० ७ । १९)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
(गी० २ । ६९)

अखिल दृश्य-बाधपूर्वक आत्माका साक्षात्कार ही परमपद, परागति, पराकाष्ठा, परमधाम, कैवल्यमोक्ष तथा अविनाशी स्वराज्यादि नामोंसे प्रसिद्ध है ।

बस, अब शीघ्र ही इस अविनाशी स्वराज्यके लिये चेष्टा करनी चाहिये ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् । **(गी० ९।३३)**

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति । **(कठ ३ । १४)**

संसार क्षणभंगुर है, जीवन नलिनीदलगत जलवत् तरल है, घर बहुत दूर है, मार्ग तीक्ष्ण किये हुए छुरेकी धारावत् दुर्गम है । अतः हे जीव ! उठ, मोहनिद्रासे जाग, इन्द्रियरूप घोड़े, मनरूप लगाम और बुद्धिरूप सारथीसे सुसज्जित शरीररूप रथको अपने घरकी ओर हाँक दे ।

यह उपदेश कठ० व० ३ में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसीको गीताने इस प्रकार वर्णन किया है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(गी० ६।५)

अरे जीव! स्वयं अपना उद्धार कर, अपनेको आत्मप्राप्तिसे न गिरा। यदि तूने आत्मप्राप्ति करली तो तू ही अपना बन्धु है, अन्यथा तू ही अपना शत्रु है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
(गी० १८।२६)

अरे जीव! रथ (शरीर) को अपना स्वरूप मत समझ, इसमेंसे मैं और मेरे भावको उठा ले, क्षणिक स्टेशनके पदार्थोंकी सिद्धि और असिद्धिमें विकारवान् न हो, धैर्य-उत्साहपूर्वक सात्त्विक भावसे युक्त हुआ अपने सारथीको इस प्रकार प्रबुद्ध कर—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गी० १८।३०)

हे सारथी! तू संसारचक्रमें फँसानेवाले सकाम कर्मका त्याग कर और परब्रह्मकी प्राप्ति करनेवाले निष्काम-कर्मपूर्वक ज्ञान-मार्गको ग्रहण कर, यही कर्तव्य है। आत्मैकत्वदर्शन ही अभय तथा मोक्ष नामसे कहा जाता है और द्वैत भाव ही भय तथा बन्ध नामसे कहा जाता है। इस प्रकार बुद्धि-सारथीको सात्त्विक भावसे युक्त कर तदनन्तर लगामकी ओर ध्यान देना चाहिये।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गी० १८।३३)

हे जीव! मनरूपी रस्सी ऐसी होनी चाहिये जो अचल धृतिकी सहायतासे स्वयं अपनी तथा इन्द्रियरूप घोड़ों और प्राणोंके गति-चाञ्चल्यको रोक सके। इस प्रकार विज्ञान-सारथीयुक्त रथके द्वारा तू अपने यथार्थ स्वराज्यको प्राप्त हो जायगा 'यस्माद्भूयो न जायते' जहाँसे फिर कभी वापस नहीं लौटना पड़ेगा। 'तद्विष्णोः परमं पदम्' यही तेरी पैतृक सम्पत्ति (पिताका राज्य) है। बस, अब कमर खोल दे, टांग पसारके निर्भय निश्चिन्त सो रह, मंजिल समाप्त हो गयी!

भगवद्गीता और भारतीय मनोवृत्ति

(लेखक—हेल्मूट फ़ॉन ग्लाज़ेनप्प 'कोनिग्ज़बर्ग' जर्मनी)

यूरोपीय विद्वानोंमें कुछ लोग तो ऐसे हैं जिनका यह विश्वास है कि एक सगुण ईश्वर संसारसे अलग रहता हुआ संसारका शासन करता है और कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रसिद्ध दार्शनिक स्पाइनोज़ा (Spinoza) के मतके अनुसार यह कहते हैं कि वह सगुण ईश्वर जगत्से अलग न रहकर प्रकृतिके अन्दर अनुस्यूत है। किन्तु हिन्दुओंके मतमें ईश्वर जगत्से बाहर भी है और जगत्के भीतर भी है एवं यही कारण है कि यूरोपीय विद्वानोंको यह सिद्धान्त सदा ही अनोखा जँचा है, किन्तु हिन्दुओंको यह माननेमें कोई विरोध नहीं दिखायी देता। परमात्माके सगुणरूपकी इस भाँति कल्पना करना कि वे एक अलौकिक विग्रह धारण किये हुए अपने शुद्ध सात्त्विकरूपसे वैकुण्ठमें विराजमान हैं और श्रद्धायुक्त भक्तिके द्वारा उनकी कृपा प्राप्त हो सकती है तथा साथ ही यह भी कल्पना करना कि वे ईश्वर जगत्के मूलतत्त्व एवं वह शक्ति हैं जो विश्वके सारे पदार्थोंके अन्दर ओतप्रोत है। हिन्दुओंकी दृष्टिमें ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद ये दो सिद्धान्त एक दूसरेके इतने विरोधी नहीं हैं कि दोनोंमें किसी प्रकारका सामञ्जस्य हो ही न सके, अपितु ये सिद्धान्त परमात्माके उस दुर्ज्ञेय स्वरूपका अवगाहन करनेकी भिन्न भिन्न प्रकारसे चेष्टा करते हैं जो मनुष्यकी परिच्छिन्न बुद्धिके लिये अतर्क्य है। भारतवर्षमें अनेक दर्शन-शास्त्र प्रचलित हैं, जो ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद दोनोंका सामञ्जस्य करनेकी चेष्टा करते हैं। जो ग्रन्थ इन दोनों सिद्धान्तोंका समानरूपसे प्रतिपादन करते हैं, उनका जनतामें बड़ा आदर है। इससे भी वही बात सिद्ध होती है जो ऊपर कही गयी है। उदाहरणके लिये भगवद्गीता जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थको ही लीजिये, हम देखते हैं कि इस ग्रन्थमें श्रीकृष्ण, जो भगवान् विष्णुके पूर्णावतार थे, साक्षात् सामने आकर अपने मोक्षके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। वे भगवान् सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिसम्पन्न हैं तथा विश्वके शाश्वत नियन्ता भी हैं। जो लोग उनमें श्रद्धा रखकर उनकी उपासना करते हैं

उन्हें वे कृपापूर्वक मुक्तिरूपी फल प्रदान कर देते हैं। वे अर्जुनके सम्मुख मस्तकपर मुकुट धारण किये, हाथोंमें गदा और चक्र लिये, दिव्य माल्याम्बर-विभूषित, मनोमोहक सुगन्धिसे सुवासित, अनेक नेत्रों और अनेक मुखवाले तेजोमय दिव्य शरीरको धारण किये हुए प्रकट होते हैं, उन्हीं भगवान्‌का—जो अपने भक्तको इस प्रकार प्रत्यक्षरूपमें दर्शन देते हैं—अन्यत्र इस तरह वर्णन मिलता है:—

'अविभक्त (अखण्ड) होनेपर भी वे भूतोंमें विभक्तसे जान पड़ते हैं; वही उनके पालक हैं, वही संहार करनेवाले और वही स्रष्टा हैं।' (१३।१६)

उनके लिये ऐसा कहा जाता है कि 'सारी वस्तुएं मालामें मोतियोंकी तरह उनके अन्दर पिरोयी हुई हैं।' (गीता ७।७)

भाषा-तत्त्ववेत्ताओंने इन विरोधोंका समाधान करनेके लिये यह मान लिया है कि भगवद्गीता प्रारम्भमें ईश्वरवादका एक उपदेशात्मक काव्य था और पीछेसे उसके अन्दर जहाँ तहाँ ब्रह्मवादके सिद्धान्तोंको ग्रथित कर दिया गया। परन्तु हिन्दू, भगवद्गीताको एक ही विषयका ग्रन्थ मानते हैं और उसके सम्बन्धमें उनकी अभीतक यह धारणा है कि इस ग्रन्थके अन्दर उनके भगवत्स्वरूप सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी अत्यन्त सुन्दर एवं पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। पूर्वीय लोगोंके धार्मिक सिद्धान्तोंकी समीक्षा करनेमें यूरोपीय विद्वानोंने जो भूल की है—और ऐसा करना उनके लिये बहुत सहज था—वह यह है कि उन्होंने सर्वत्र उन सिद्धान्तोंको पाश्चात्य विचार-पद्धतिकी कसौटीपर कसना चाहा है। पूर्वके लोगोंकी मनोवृत्ति और ही प्रकारकी है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तोंकी उत्पत्ति सीधी उनके धर्मसम्बन्धी अन्तरात्माके अनुभवकी गहराईसे होती है। वे उन सिद्धान्तोंको उसी रूपमें व्यक्त करते हैं, जिस रूपमें उनके अन्दर प्रस्फुटित होते हैं; वे केवल बौद्धिक विचारोंके प्रवाहमें ही नहीं बह जाते। इसलिये जहाँ हम लोग शुष्क तर्कके आधारपर केवल एक ही सिद्धान्तको स्वीकार करते, और दूसरेको भ्रान्त कहकर उसकी अवहेलना कर देते हैं; वहाँ हिन्दू तर्क-दृष्टिसे विरोधी सिद्धान्तोंके भी औचित्यको स्वीकार कर लेते हैं। तथ्योंको यथावस्थित रूपमें स्वीकार कर लेना ही भारतीय मनोवृत्तिको समझनेकी कुञ्जी है और यदि हम यूरोपीय विद्वानोंकी एकदेशीय दृष्टिको ही लेकर चलेंगे तो हम हिन्दुओंकी मनोवृत्तिको कदापि नहीं समझ सकेंगे।

'गीतारहस्य' का आशय

(लेखक—पं० श्रीसदाशिवजी शास्त्री भिडे, संस्थापक गीता-धर्ममण्डल, पूना)

गीताकी योग्यता उपनिषदोंके समान ही है। आजतक जितने ऋषि, आचार्य और उच्च श्रेणीके सन्त महात्मा हो गये हैं, सभीने हृदयसे इस बातको स्वीकार किया है। अतएव कहना नहीं होगा कि गीता कितना महान् ग्रन्थ है। गीताका महत्त्व सर्वमान्य हो गया है, परन्तु गीताके तात्पर्यके सम्बन्धमें अबतक मतभेद चला ही आ रहा है। प्राचीनकालके भिन्न भिन्न आचार्योंमें द्वैताद्वैत-सम्बन्धी मतभेद था। सम्प्रति लोकमान्य तिलकने गीता-रहस्य नामक ग्रन्थकी रचना कर संन्यास और कर्मयोगवादमें विवाद खड़ा कर दिया है। गीतारहस्यके प्रकाशनसे पूर्व वेदान्त और संन्यासका नित्य सहयोग था। वेदान्त या ब्रह्मज्ञानके नामसे ही संन्यास समझा जाता था। परन्तु लोकमान्यने श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर शास्त्रीय रीतिसे यह सिद्ध कर दिया कि ब्रह्मज्ञान जैसे कर्मसंन्यासमें है, वैसे ही कर्मयोगमें भी है। अर्थात् जैसे ज्ञानयुक्त कर्मसंन्यास मोक्षप्रद है, वैसे ही ज्ञानयुक्त कर्मयोग भी स्वतन्त्ररूपसे मोक्षदायक है, बल्कि कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग कहीं अधिक श्रेष्ठ है। लोकमान्यके इस आशयको प्रकारान्तरसे स्पष्ट करके बतलाना ही इस निबन्धका उद्देश्य है।

जिस समय भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति गीतामृतरूपी तत्त्वज्ञानका उपदेश किया था, उस समय वैदिक संस्कृति उन्नतिके उच्च शिखरपर पहुँची हुई थी, इसीसे श्रीमद्भगवद्गीता सनातन वैदिक धर्मका परमोच्च गूढ़ रहस्य है। गीताशास्त्रके उपदेशक भगवान् श्रीकृष्ण किस योग्यताके पुरुष थे, यह बतलाना वाणीकी शक्तिके बाहरकी बात है। इस सम्बन्धमें इतना ही कहना बस है कि वे साक्षात् परमेश्वरके अवतार ही थे, श्रीकृष्णके उपदेशको ग्रहण करनेवाले धनुर्धारी अर्जुन भी कम योग्यताके पुरुष नहीं थे। श्रीकृष्णकी भूमिकापर

गीतावृक्ष
गीताबीजविस्तार
अर्जुन
दान
धर्मक्षेत्र
कुरुक्षेत्र
निवृत्ति
प्रवृत्ति
ब्रह्मविद्यायाम
योगशास्त्रे
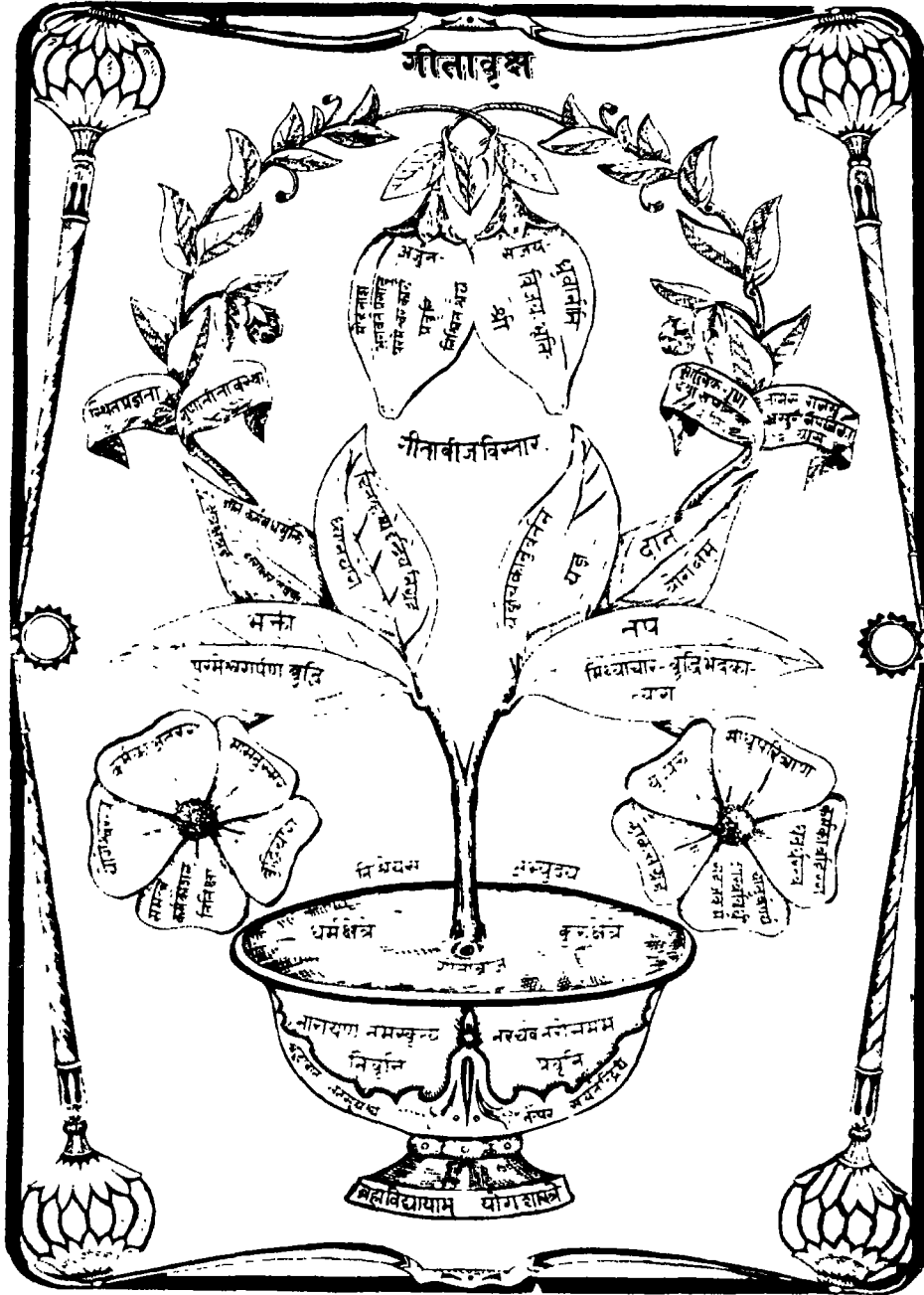
गीतावृक्ष ।

स्थित रहनेकी उनमें योग्यता थी, इसीसे भगवान्‌ने हाथ पकड़ अपनी भूमिकापर चढ़ा कर उन्हें कृतार्थ कर दिया। अर्जुनकी इस ईश्वर-तुल्य भूमिकाकी ओर लक्ष्य करके ही महर्षि व्यासने 'नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्' कहकर श्रीकृष्णके साथ ही अर्जुनकी वन्दना की है।

भगवान् श्रीकृष्णके जिस उपदेशसे अर्जुनकी 'श्री-नारायण' के समकक्ष योग्यता पूर्ण और स्थिर-प्रतिष्ठित हुई, वह उपदेश संन्यासमार्गका न होकर केवल कर्मयोगका कैसे था, इसी विषयपर कुछ लिखना है।

अर्जुनकी शंका

'जिस समाजमें वर्णाश्रम-धर्म सुव्यवस्थित रूपसे प्रचलित है, वही समाज उन्नतिके शिखरपर चढ़ा हुआ माना जाता है।' ऐसा एक ग्रीक तत्त्ववेत्ताका कथन है। महाभारत युद्धके समय वैदिक समाज इस पूर्णावस्थाको पहुंच गया था, यह बात महाभारतके वर्णनसे ही भलीभांति सिद्ध है। मनुष्यका जीवन सम्पूर्णरूपसे समाजपर अवलम्बित होनेके कारण उसके निजी और समाज-सम्बन्धी विषयोंका उत्तर-दायित्व स्वाभाविक ही उसपर आ जाता है, विशेषकर नागरिकताके अधिकारी मनुष्य तो उपर्युक्त दोनों प्रकारके उत्तरदायित्वसे किसी भी प्रकार नहीं छूट सकते। ऐसे ही मनुष्य समाजके सञ्चालक समझे जाते हैं, इन्हींको प्राचीन कालमें द्विज कहा जाता था।

ब्रह्मचर्यादि आश्रम व्यक्तिके जीवन-क्रमकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वके हैं। मर्यादारहित भोगोंसे मनुष्यकी मानसिक और शारीरिक अवनति होती है, परन्तु इसी प्रकार अनुचित त्यागवृत्तिसे भी मनुष्यके मनपर धक्का पहुँचता है। अतएव मर्यादित विषयसेवन और उचित त्याग इन दोनों तत्त्वोंपर समस्त आश्रम-धर्मोंकी व्यवस्था कर वैदिक ऋषियोंने व्यक्ति-धर्मका मार्ग निर्भ्रान्तरूपसे निश्चित कर दिया। इस प्रकार व्यक्तिके जीवनकी श्रेयस्कर व्यवस्था करनेके साथ ही उन्होंने सामाजिक जीवनकी भी बड़ी सावधानीसे सुन्दर व्यवस्था की। ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके धर्मोंको ऐसे माप-तौलसे व्यवस्थित किया कि जिससे समाज सदाके लिये सुसंघटित और तेज-पूर्ण बना रहे। वर्णव्यवस्थाके गुण-कर्मोंकी सूची देखनेसे यह बात सहजमें ही सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार व्यक्तिहितके उद्देश्यसे आश्रमधर्मकी और समाजहितके उद्देश्यसे वर्ण-धर्मकी रचना हुई। वर्णधर्म और आश्रमधर्म एक दूसरेके सहायक होनेपर भी पृथक् पृथक् हैं। इसीलिये उनमें छोटे बड़ेका सम्बन्ध उत्पन्न होना भी अनिवार्य है। यद्यपि ये दोनों ही धर्म परस्पर पोषक हैं, तथापि व्यक्तिके जीवनमें एकाध ऐसा प्रसंग भी आ जाता है, जब वर्ण और आश्रम-धर्ममेंसे एकका स्वीकार और दूसरेका त्याग करनेके लिये मनुष्यको वाध्य होना पड़ता है। ऐसे प्रसंगमें श्रेष्ठ धर्मका स्वीकार कर गौणका त्याग करना न्याय समझा जाता है। परन्तु मुख्य गौणका निर्णय जितना सहज दीखता है, उतना सहज वह है नहीं। कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय और कार्याकार्य-व्यवस्थिति आदिके प्रश्न उस समय ऐसा गम्भीर स्वरूप धारण कर लेते हैं कि बेचारा मनुष्य सहसा इनका निर्णय न कर सकनेके कारण बड़े ही चक्करमें पड़ जाता है। ऐसे प्रसंगपर आश्रम या वर्णधर्मके गुण-कर्मोंकी लम्बी सूची सामने रखनेसे विशेष लाभ नहीं होता। अतएव बड़े लोगोंके 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां' वाक्यके अनुसार मनुष्य सन्तोषपूर्वक चुप बैठना ही अच्छा समझता है। पर छोटी बात होनेपर तो ऐसा करना सम्भव होता है, लेकिन भारी बात होनेपर ऐसी विकट समस्याके समय सरलहृदय मनुष्यको दुःख हुए बिना नहीं रह सकता।

अर्जुनके सामने तो बड़ी ही विकट समस्या थी और वह इतनी नज़दीककी थी कि वे उसे किसी प्रकार टाल नहीं सकते थे।

रणभूमिके बीचमें आकर अर्जुनने जब दोनों सेनाओंको देखा तो दोनोंमें ही प्रत्येक अधिकारी व्यक्ति उन्हें अपना आप्त दिखलायी दिया। तब अर्जुनने सोचा कि भीष्म, द्रोण सदृश महान् पुरुष, जो समस्त राष्ट्रके वन्दनीय और अपने व्यक्तिगत नातेसे परम पूज्य हैं, ऐसे महानुभावोंपर शस्त्र चलाना क्या पाप नहीं है? रणभूमिमें सामने आये हुए लोगोंके साथ युद्ध करना क्षत्रियका धर्म है, यह सच्ची बात है, परन्तु जिस कुलमें उत्पन्न हुए, उसकी उन्नति करना; जिनकी कृपासे छोटेसे बड़े हुए, उन पितृजनोंकी सेवा करना और जिनके अनुग्रहसे अज्ञान दूर होकर ज्ञानकी प्राप्ति हुई उन गुरुजनोंकी भक्ति करना क्या धर्म नहीं है? तात्पर्य यह कि कुलकी समुन्नति, पितृसेवा और गुरुभक्ति गृहस्थका श्रेष्ठ धर्म है। क्षत्रियकी हैसियतसे युद्धमें प्रवृत्त होनेपर कुलक्षय, पितृहत्या और गुरुद्रोह सरीखे महापातक होंगे और जिनके लिये यह पापमय युद्ध करना है उन्हींका इस युद्धमें नाश होगा, अतएव इस समय क्षत्रियके वर्ण-धर्मकी अपेक्षा गृहस्थका आश्रम-धर्म ही श्रेष्ठ है। अर्जुनने अपने मनमें ऐसा

निश्चय कर लिया। अर्जुनके विचार बड़े ही उदात्त और भव्य थे, जिस मार्गसे मनुष्य-जीवनकी यथार्थ सार्थकता हो, विकट प्रसंगमें उसीके स्वीकार कर लेनेका निश्चय अर्जुनके शील-सम्पन्न स्वभावकी शोभा थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अर्जुनकी यह धारणा थी कि मनुष्य-जीवनकी सार्थकता कर्मके आचरणसे नहीं पर कर्मके संन्याससे ही होती है। अतएव जीवनकी सफलताके लिये जो संन्यास कभी न कभी ग्रहण करना ही होगा, उसका इस विकट प्रसंगमें ग्रहण कर लेना अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि इस समय *कर्म त्याग करनेसे कुलक्षय, पितृहत्या और गुरुद्रोह सदृश* गृहस्थ-धर्मके घोर पाप टल जाते हैं और कर्म-संन्याससे जीवनकी सफलता भी होती है। इस प्रकार विजय (मान-सम्मान) या राज्य आदि स्वार्थी हेतुओंपर स्थित वर्ण-धर्मकी अपेक्षा कर्म-संन्यासरूप आश्रम-धर्म निर्दोष और श्रेष्ठ है। अर्जुनकी समझमें यही बात ठीक जँची, इसीलिये वे वर्ण-धर्मको गौण समझ कर उसका त्याग करने और आश्रम-धर्मको श्रेष्ठ समझ कर उसे ग्रहण करनेके लिये तैयार हो गये, एवं श्रीकृष्णके प्रति अपना निश्चय विस्तारपूर्वक सुनाकर अबतक हृदयसे पाले हुए प्राणापेक्षा प्रिय गांडीवको जमीनपर रखते समय उनके मनमें इतनी अधिक वेदना हुई कि वे *गम्भीर-वृत्तिके रण-पण्डित* फूट फूट कर रोने लगे!

भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश

अर्जुनकी शङ्का, अपने निश्चयके समर्थनमें कहे हुए अर्जुनके शब्द और उनकी मानसिक स्थिति आदि सभी बातोंकी ओर ध्यान देकर भगवान् श्रीकृष्णने उनको उपदेश देना आरम्भ किया (२।११)।

आत्माका कभी नाश नहीं होता, वह अविनाशी होनेके कारण त्रिकालाबाधित है। पहले इस तत्त्वका उपदेश करनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उसके विचारोंकी भूल स्पष्टतया दिखला दी। युद्ध करनेमें जैसे ऐहिक और पारलौकिक हानि है, वैसे ही युद्ध न करनेमें भी अपकीर्ति और स्वधर्म-त्यागरूप पाप होनेसे दोनों ही प्रकारकी हानि होगी। अतएव जिस तरह युद्ध करना त्याज्य समझा जाता है, उसी तरह युद्ध न करना भी अनुचित ही सिद्ध होता है। अतएव अर्जुनके युद्ध-त्यागरूप निश्चित विचारको निर्दोष नहीं कहा जा सकता। अर्जुनने जिन कारणोंसे वर्ण-धर्मकी अपेक्षा आश्रम-धर्मको श्रेष्ठ माना, वे कारण उचित नहीं थे, क्योंकि अर्जुनने यह समझ लिया था कि विजय, राज्य या उपभोगकी प्राप्ति ही इस युद्धका उद्देश्य है (१।३२)। पर अर्जुनकी यह धारणा भूल थी। कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली बुद्धि पूर्ण निर्दोष और योगयुक्त होनी चाहिये। वह योगयुक्त बुद्धि क्या है? इसीको भगवान् श्रीकृष्णने दूसरे अध्यायके श्लोक ४५से ४८ तक चार श्लोकोंमें सूत्ररूपसे समझाया है। इन चार श्लोकोंके प्रकरणमें पैंतालीसवां श्लोक प्रधान विधि-वाक्य यानी उपदेशका मुख्य विषय है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

(गी० २।४५)

इस श्लोकमें तीन निषेधक और दो विधायक अंश हैं। *पहले 'निस्त्रैगुण्य' अंशमें यह उपदेश दिया गया है कि 'तू सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकारके भोगोंकी इच्छा छोड़कर निस्पृह हो।'* उपभोग और विलास व्यक्तिके धर्म हैं, वे समष्टि (समाज) के धर्म नहीं हैं, और समाजको हानि पहुँचानेवाला कोई सा भी धर्म व्यक्तिके लिये त्याज्य ही मानना चाहिये। परन्तु ऐश्वर्य यानी सत्ता या स्वामित्वका अधिकार समाजका धर्म है, *सत्ताके साथ भोगका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।* परन्तु एक या कुछ व्यक्तियोंकी भोग-लालसा जब अमर्यादितरूपसे बढ़ती है, तब उन्हें अधिकारकी लालसा भी उत्पन्न हो जाती है। परन्तु विलासिता सदृश क्षुद्र व्यक्ति-धर्ममें फँसे हुए दुर्बल-हृदयके मनुष्य सत्ताके लिये कैसे अनधिकारी होते हैं, इस बातके प्रमाण इतिहास डङ्केकी चोट दे रहा है। जिस हिसाबसे *मनुष्य समाजके साथ* एकरूपताको प्राप्त हुआ है, उसी हिसाबसे मनुष्यमें सत्ताकी योग्यता भी उत्पन्न होती है। सत्ता व्यक्ति-धर्म नहीं है, वह समाज-धर्म है। यही मत महाभारतका है। (शान्तिपर्व अध्याय १० श्लोक १४-१५) सत्ताका सम्बन्ध भोगके साथ जोड़नेसे प्रत्येक दृष्टिसे अनिष्ट ही होता है। भोग-सदृश क्षुद्र इच्छाका परित्याग कर लोकहित सरीखे पवित्र हेतुकी इच्छा करना ही बुद्धियोग-सम्बन्धी उपदेशके 'निस्त्रैगुण्य' शब्दसे बतलाया हुआ अंश है।

'निर्द्वन्द्व' पदसे यह बतलाया है कि बुद्धिको विकार-वश मत होने दे और 'निर्योगक्षेम' पदमें उच्छृङ्खलताके त्यागके लिये कहा गया है। 'नित्यसत्त्वस्थ' का अर्थ है बुद्धिमें रहनेवाला दैवी सम्पत्तिका विकास या स्थैर्य और 'आत्मवान्' सं

ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न अर्थ समझना चाहिये। इस श्लोकके समान मुख्य उपदेश-वाक्य इस प्रकरणके अन्य किसी भी श्लोकमें नहीं है, एवं इन वाक्योंकी प्रधानतामें कोई भी त्रुटि नहीं दीखती। इससे यही सिद्ध होता है कि यह ४५वां श्लोक ही योगनिष्ठाका मुख्य सूत्र है। इसमें दिया हुआ उपदेश अपने आप ही रचित न होनेके कारण मीमांसा-शास्त्रमें इसको अत्यन्त अप्राप्ति कहा है, ऐसे अत्यन्त अप्राप्त-सम्बन्धी मुख्य उपदेश-वाक्योंका ही मीमांसकोंने 'अपूर्व विधि' नाम रक्खा है।

तात्पर्य यह कि, इस प्रधान वाक्यमें योगनिष्ठाका मूल तत्त्व सूत्रमय शब्दोंमें वर्णित है। व्यवसायात्मिका बुद्धि ही कर्मयोगका आधार है, इसलिये उसके परिपूर्ण स्वरूपके सम्बन्धमें इन श्लोकोंमें कुछ कहा गया है। ऐसा कहा जा सकता है कि बुद्धि, एक कर्मयोग-शास्त्रकी ही क्यों,-संसारके सभी शास्त्रोंकी जननी है। मनकी अपेक्षा बुद्धि उत्तम तत्त्व है, मनका धर्म संवेदन है, संवेदनके अनन्तर स्मरण-शक्ति, तारतम्य-विचार, इच्छा या निश्चय ये सभी बुद्धिके स्वरूप हैं। व्यवहार हो या परमार्थ, सभी बातें बुद्धिपर अवलम्बित हैं। अर्जुनके प्रति दिये हुए भगवान्‌के उपदेशानुसार ज्यों ज्यों बुद्धियोगकी पूर्णता होती जाती है, त्यों ही त्यों मनुष्यकी योग्यता भी अधिकाधिक बढ़ती जाती है। उपदेश-वाक्यमें बुद्धियोगके पांच अंशोंका निर्देश होनेपर भी उनमें आत्मज्ञान या समत्वका ही महत्त्व अधिक है। इसीसे उन दोनों अंशोंको आदेशात्मक शब्दोंमें कहा है।

संकुचित भोगेच्छा समाजधर्म या परमार्थमें विघातक है। आत्मज्ञान बिना उसका पूर्ण विनाश नहीं होता। बुद्धिकी यथार्थ साम्यावस्था आत्मज्ञानसे ही उत्पन्न होती है। इसीलिये स्वार्थत्यागी ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न पुरुष ही सबके वन्दनीय होते हैं।

अब ४८ वें श्लोकके आदेशात्मक वाक्योंपर विचार करना चाहिये। परन्तु इसके पूर्व ४७वें श्लोकके अर्थको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है, क्योंकि उस श्लोकमें कहा गया है कि, 'तेरा कुछ अधिकार है तो वह कर्म करनेमें ही है।' इस 'अधिकार' शब्दसे यह स्पष्ट दिखलाया गया है कि बुद्धियोगके अनुसार कर्म अप्राप्त नहीं परन्तु नैसर्गिक रूपसे प्राप्त ही है। फल प्राप्त करना तेरे हाथ नहीं है, अतएव उसकी इच्छा मत कर और कर्म न करनेका भी वृथा हठ न कर, यह कहनेके बाद 'तू योगयुक्त होकर कर्म कर' ऐसी आज्ञा ४८वें श्लोकमें दी है।

प्राप्त हुए सहज कर्मोंकी व्यवस्थाके लिये जो आज्ञा दी जाती है, उसे मीमांसा-शास्त्रमें 'नियम-विधि' कहते हैं। उदाहरणार्थ अन्न खाना सहज कर्म है, परन्तु उसमें अव्यवस्था नहीं होनी चाहिये, इसलिये 'दिनमें एक बार भोजन करो' धर्मशास्त्रकी ऐसी आज्ञाओंका नियम-विधिमें समावेश होता है। इस प्रकार अपूर्व-विधि, निषेध और नियम इन तीनोंके अनुसार कर्मयोग-शास्त्रका सिद्धान्त इन चार (४५से४८) श्लोकोंमें कहा गया है। इसलिये उत्तर-मीमांसाकी चतुः-सूत्रीके अनुसार कर्मयोग-शास्त्रकी यह चतुःसूत्री सिद्ध होती है।

लोकमान्य तिलकने 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इस (४७वें) एक ही श्लोकसे कर्मयोगकी चतुःसूत्री सिद्ध की है परन्तु उसकी अपेक्षा उपर्युक्त चार श्लोकोंमें कर्मयोग-शास्त्रकी चतुःसूत्री सिद्ध करना अधिक सयुक्तिक ठहरता है। चतुःसूत्रीकी कल्पना ब्रह्मसूत्रमें है; वेदान्त-शास्त्रका मुख्य सिद्धान्त उत्तर-मीमांसाके पहले चार सूत्रोंमें सिद्ध किया गया है। अतएव एक ही सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखनेवाले चार सूत्रोंको मिलाकर 'चतुःसूत्री' शब्दका प्रयोग किया जाता है। इस चतुःसूत्रीके अनुसार ही उपर्युक्त चार श्लोकोंमें भी चतुःसूत्री दिखायी देती है। ४५वें श्लोकमें बुद्धियोगका तात्त्विक स्वरूप कहकर ४६वें श्लोकमें उसका फल पूर्णकामता या कृतार्थता बतलाया और अगले दोनों श्लोकोंमें कर्मका तत्त्व बतलाकर बुद्धियोगके साथ उसके एकी-करणकी आवश्यकता दिखला कर कर्मयोग-शास्त्रमें इस जीवन-सिद्धान्तको पूरा किया गया है। इसलिये इन चारों श्लोकोंके समुच्चयको चतुःसूत्री कहना अधिक प्रशस्त है।

बुद्धियोग और कर्मयोग, ये योगनिष्ठाके तात्त्विक और व्यावहारिक स्वरूपके नाम हैं। जीवात्मा, बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रियां, और कर्मेन्द्रियां इस प्रकार मनुष्य-जीवनकी पंच-विभागात्मक रचना है। स्वयंप्रकाश आत्माके साथ नित्य संलग्न रहनेवाली बुद्धि आत्माके प्रकाशसे प्रकाशित होकर मनुष्यके ऐहिक और पारमार्थिक दोनों व्यवहारोंके परिचालनमें पूर्ण समर्थ होती है। बुद्धिके आश्रयसे ही मनका काम चलता है। मनके अधिकारमें ज्ञानेन्द्रियां हैं और ज्ञानेन्द्रियोंके अधीन कर्मे-न्द्रियां रहती हैं। इसी हिसाबसे मनुष्य-जीवनकी ऐसी नैसर्गिक सिद्ध रचना है। परन्तु विषयोंकी ओर इन्द्रियोंकी स्वाभाविक रुचि होनेके कारण वे सदा सर्वदा उनकी ओर ही जाती हैं, जिससे वे मन-बुद्धिको भी जबरदस्ती अपनी ओर खींच लेती हैं, ऐसे समयमें यदि बुद्धिकी शक्ति ढीली पड़ी हुई

होती है तो सबको इन्द्रियोंके अधिकारमें चले जाना पड़ता है और जहां सारे व्यवहार बुद्धिके द्वारा चलने चाहिये, वहां सबके सब राग-द्वेषयुक्त इन्द्रियोंके तन्त्रकी अधीनतामें चलने लगते हैं, जिससे मनुष्यका जीवन-प्रवाह भगवान्के संकेतसे विपरीत दिशामें बहने लगता है। राग-द्वेषादि विकारोंकी प्रेरणासे किया हुआ प्रत्येक कर्म पापके रूपमें परिणत हो जाता है। कारण, इन्द्रियोंके राग-द्वेषादि विकार जीवको विपरीत दशाकी ओर ले जाते हैं। विकारोंके अधीन होकर जो कर्म किये जाते हैं, वे तो पाप ही होते हैं। भगवान्के संकेतानुसार जब सारे व्यवहारोंपर बुद्धिका पूर्ण नियन्त्रण होता है तब किसी भी व्यवहारमें पाप होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसीलिये बुद्धिको इन्द्रियोंके अधिकारमें नहीं जाने देकर निरन्तर शुद्ध और स्वतन्त्र रखना आवश्यक है। इच्छा या वासना बुद्धिका ही धर्म है। अतएव अन्य सारी वासनाओंको दबा कर, ईश्वरोपासनाकी इच्छा बढ़ती रहे, इस तरहका प्रयत्न करना ही इस मार्गकी सावधानी है। उपासनामय हेतुके स्थिर होते ही बुद्धि क्रमशः शुद्ध होकर स्वतन्त्र और शक्तिसम्पन्न हो जाती है। ऐसी शुद्ध बुद्धिके नियन्त्रणमें चलनेवाले मनुष्य-जीवनका क्रम केवल पुण्यमय ही होता है। इस तरह ईश्वरोपासनाके हेतुसे किये हुए कर्म ही पुण्य होते हैं। यही पुण्य-पापकी व्याख्या गीता-शास्त्रको अभिप्रेत है।

निष्काम कर्म

कामका अर्थ है इच्छा, ईश्वरोपासनाकी इच्छाको भी काम कहा जाता है और इस इच्छाके अनुसार किये जानेवाले कर्म भी सकाम कर्म ही होते हैं, परन्तु काम या इच्छामात्र ही पापजनक हैं, ऐसी बात नहीं है। धर्मके अनुकूल इच्छाएं पापकारक न होकर पुण्यमय होती हैं। (गीता ७।११) अधिक क्या, ऐसी शुभेच्छा तो परमार्थका मूल है। इसलिये शुभ इच्छा या उत्तम हेतुसे किये जानेवाले कर्म निष्काम ही हैं। निष्काम कर्मकी यह व्याख्या श्रुति-स्मृतिसे पूर्ण सम्मत है।

जो बात 'सर्व-भूत-हित' की (सार्वजनिक कल्याणकी) है, वही शुभ है, अच्छे-बुरेकी यही व्याख्या गीताको अभिप्रेत है। महाभारतमें कई जगह यही बात कही गयी है। यथा—

> पशवश्चैव वृक्षाश्च जनानां हितकारकाः ।
> तान्सर्वान् देव पश्चश्यानिति विद्धि शुभानने ॥
>
> शुभाशुभमयो लोकः सर्वं स्थावरजंगमम् ।
> दैवं शुभमिति प्रोक्तं आसुरं चाशुभं प्रिये ॥

जो सार्वजनिक हितके अनुकूल है, वही दैवी या शुभ है, एवं जो सार्वजनिक हितके प्रतिकूल है वही आसुरी या अशुभ है। अतएव समाज-हितका हेतु ही सत् हेतु है। ऐसे सत् हेतुसे किये हुए कर्मोंको ही शास्त्रकारोंने निष्काम बतलाया है।

निष्काम कर्म और ईश्वरोपासना

ईश्वरोपासना होनेपर ईश्वरके स्वरूपका ज्ञान आप ही हो जाता है। कारण, ज्ञान हुए बिना उपासना सम्भव नहीं है। परमात्माके व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपको समझना आधिभौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान है। इसीको गीतामें ज्ञान-विज्ञान कहा गया है। परमेश्वरके इस ज्ञान-विज्ञानसे युक्त होनेपर बुद्धिका पूर्ण विकास होकर वह शुद्ध, स्वतन्त्र और शक्तिसम्पन्न हो जाती है। इसीको 'योगयुक्त बुद्धि' कहते हैं। सृष्टिके स्वरूपमें परमात्मा किस तरह व्याप्त करता है, इस बातको समझ लेनेसे ही यह निश्चय हो जाता है कि यह विश्व ही परमेश्वरका व्यक्त स्वरूप है। इस विश्वरूप परमात्माकी उपासना या सेवा करनेसे विश्वव्यापी परमात्माकी उपासनाका क्षेत्र भी मनुष्य-शक्तिका अनुसरण करके मर्यादित बन जाता है। अतएव धर्म और समाज ही परमेश्वरका श्रेष्ठ प्रतीक (मूर्ति) है। यही शास्त्रकारोंका निश्चय है। समाजरूपी मूर्ति ईश्वरकी समस्त मूर्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ मूर्ति है। इस प्रकार ईश्वरके ज्ञान-विज्ञानसे उत्पन्न भक्तिद्वारा की जानेवाली समाजरूप परमात्माकी उपासना ही सबसे श्रेष्ठ उपासना है, यह गीताका सिद्धान्त है।

> तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
> परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥

यह श्रीमद्भागवतमें भगवान् शङ्करके वचन हैं। अतएव जो भक्त स्वयं कष्ट सहकर समाजका दुःख दूर करता है, वही श्रेष्ठ भक्त है और उसकी समाज-सेवा ही श्रेष्ठ भगवद्भक्ति है। इसलिये सर्व-भूत-हित, सार्वजनिक हित, या समाज-हितके कार्योंका भक्तियुक्त अन्तःकरणसे आचरण करना ही निष्काम कर्म है, इसीसे शुद्ध ईश्वरोपासना होती है। इस विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि निष्काम कर्म और ईश्वरोपासना पृथक् पृथक् न होकर एक ही वस्तु है।

निष्काम कर्म और वर्णधर्म

सार्वजनिक हित या समाज-हितको ही गीताशास्त्रमें 'सर्वभूत-हित' या 'लोकसंग्रह' कहा गया है। समाज-रूपी ईश्वरकी भक्ति और समाज-हितकी इच्छा इन दोनों तत्त्वोंपर ही उपासनामय निष्काम कर्म अवलम्बित है। उपासना या शुभेच्छा बौद्धिक सद्गुण है, ऐसे बुद्धियोग-की प्रेरणासे होनेवाले कर्मोंको ही शास्त्रदृष्टिसे ईश्वरोपासना या निष्काम कर्म कहते हैं। परन्तु उपासना या निष्काम कर्मका प्रत्यक्ष कार्य-क्रम क्या है, इस बातका निश्चय किये बिना कर्मयोगका सिद्धान्त पूरा नहीं होता, इस-लिये गीताशास्त्रने इस प्रश्नका स्पष्ट निर्णय किया है।

निष्काम कर्म या उपासनाके मूलतत्त्व समाज-हितके तत्त्वपर दृष्टि रख कर ही वैदिक ऋषियोंने वर्ण-धर्मकी व्यवस्था की है। आश्रम-धर्मका मूलतत्त्व है 'व्यक्तिका हित' और वर्ण-धर्मका मूलतत्त्व है 'समाजका हित।' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों ही वर्णोंके धर्म (गुण-कर्म) भगवद्गीताने बतलाये हैं (गीता १८। ४१ से ४४) इनमें ४२ वें श्लोकमें शम-दमादि नौ गुण बतलाये हैं। इन गुणोंको अपनेमें उत्पन्न करना या बढ़ाना ही ब्राह्मण-धर्म है, इस श्लोकका ऐसा अर्थ किया जाता है परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। समाज या राष्ट्रमें शमादि नैतिक सद्गुणोंकी, आध्यात्मिक विद्या और आधिभौतिक विद्याकी वृद्धिके लिये सतत प्रयत्न करना ही ब्राह्मणका वर्णधर्म है। यही इस श्लोकका अर्थ है। इससे यह सिद्ध होता है कि विद्या और शीलकी वृद्धि करते हुए लोक-शिक्षाका प्रत्यक्ष कार्य करना ही चतुर्वर्णान्तर्गत यथार्थ ब्राह्मण-धर्म है। इसी रीतिसे अगले ४३ वें और ४४ वें श्लोकका अर्थ करना चाहिये। इन तीनों श्लोकोंकी विवेचनासे जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि, चतुर्वर्णोंमें प्रत्यक्ष कर्मोंका जो वर्गीकरण किया गया है, उनमेंसे अपनी बुद्धि और शीलके अनुसार लोकशिक्षा, राज-काज, खेती-व्यापार या मजदूरी आदिमेंसे जो भी कर्म मनुष्य करता है, वही उसका वर्णधर्म है। फिर वर्तमानमें उसकी जाति कोईसी भी क्यों न हो। प्रत्येक व्यक्तिको अपनी जन्मसिद्ध जातिके अनुसार अपने व्यक्तिगत धर्मका पालन करते हुए अपने गुण-कर्मानुसार वर्णधर्मका आचरण करना चाहिये। यही आवश्यक कर्तव्य है। यही समाजधर्म या राष्ट्रधर्म उपर्युक्त श्लोकोंमें बतलाया गया है। इसीको तृतीय अध्यायके ३५ वें श्लोक-में 'स्वधर्म'के नामसे कहा है। प्राणोंपर आ बने तो भी किसीको अपने इस स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। यही गीताशास्त्रकी स्पष्ट आज्ञा है।

इस प्रकार सार्वजनिक हितके किसी भी कर्मको ईश्वरो-पासनाके शुद्ध हेतुसे करनेपर अभ्युदय (समाजोन्नति) पूर्वक निःश्रेयस् यानी मोक्षकी प्राप्ति होनेसे मनुष्य-जन्म सफल होता है। यही कर्मयोग है। भक्ति, ज्ञान और कर्तव्य-निष्ठा ही कर्मयोगके मूलतत्त्व हैं, इसलिये उपर्युक्त वर्ण-धर्मका आचरण ही उसका प्रत्यक्ष कार्यक्रम है। इस सारे विवेचनका सारांश अगले एक श्लोकमें समाविष्ट है। भगवान् कहते हैं—

उपसंहार

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है, उस परमात्माकी अपने अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा (वर्णधर्मद्वारा) उपासना करनेसे मनुष्यको मोक्षकी प्राप्ति होती है।'

विश्वोत्पादक और विश्वव्यापक परमेश्वरके प्रति प्रेम और श्रद्धा करके प्रत्येक व्यक्तिको चातुर्वर्ण्यके अनुसार प्राप्त कर्म परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे करते रहना चाहिये। यही परमेश्वरकी उपासना है, इसी उपासनासे क्रमशः बुद्धियोग पूर्ण होकर पुरुष जीवन्मुक्त कर्मयोगी हो जाता है। यहां प्रथम अध्यायकी अर्जुनकी शंकाका पूर्ण निरसन किया गया है। अर्जुनकी दृष्टिमें व्यक्तिधर्म या व्यक्तिधर्मसे ही विस्तारको प्राप्त हुए कुलधर्मका बड़ा महत्त्व था। परन्तु कुलधर्मकी अपेक्षा वर्णधर्म श्रेष्ठ होनेसे वही कुलधर्मका नियामक है। शुद्ध बुद्धिसे चातुर्वर्ण्यका अनुसरण करके आचरण किया हुआ वर्णधर्म ही परमेश्वरकी सच्ची उपासना है। यह उपासना व्यक्तिके लिये मोक्षदायक और राष्ट्रके लिये अभ्युदयकारक होनेसे यही राष्ट्रधर्म है। इस धर्मके सामने व्यक्तिधर्म या कुलधर्मकी कोई कीमत नहीं है। इसीलिये व्यक्तिधर्म और राष्ट्रधर्ममें विरोध उपस्थित होनेपर मनुष्यके लिये योगयुक्त बुद्धिसे राष्ट्रधर्मका आचरण करना ही श्रेयस्कर समझा जाता है। इस प्रकार भगवान्ने अर्जुनका समाधान किया। अबतक परमेश्वरके ज्ञान-

विज्ञानमय स्वरूपका जो अनेक स्थलोंमें वर्णन आया है। यह ज्ञान-विज्ञान बुद्धिकी पूर्ण शुद्धता या उसके विकासकी पूर्णताके लिये अत्यन्त आवश्यक है। पृथक् पृथक् हेतुओंसे गीताशास्त्रमें बहुतसे नैतिक गुणोंका उल्लेख किया गया है, पर ज्ञान-विज्ञान उन सबमें श्रेष्ठ गुण है। इस ज्ञान-विज्ञानके लिये ही समस्त सद्गुण अभिप्रेत है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। इसीलिये १३ वें अध्याय-में ज्ञानकी जगह ज्ञानके सहकारी समस्त सद्गुणोंका वर्णन आया है। ज्ञान-विज्ञानका समावेश परमात्माके स्वरूपमें ही है, इसलिये 'परमेश्वरके स्वरूप' शब्दके साथ ज्ञान-विज्ञान, दैवी-सम्पत्ति और बुद्धियोगके सभी अंश अभिप्रेत हैं, ऐसा माना जाता है। इसी अभिप्रायसे प्रस्तुत श्लोकके पूर्वार्द्धमें परमात्म-स्वरूपका वर्णन किया गया है। यद्यपि यहां वर्णन संक्षेपमें है तथापि उसमें शब्द बहुत ही उपयुक्त हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अवतकको ज्ञान-विज्ञानकी उपपत्ति बतलानेके लिये यहां भगवान्ने ऐसी गम्भीर शब्दयोजना की है। इस श्लोकके उत्तरार्द्धका 'स्वकर्म' शब्द मुख्यतः वर्णधर्मका बोधक है, क्योंकि इसके पूर्व प्रकरणमें वर्णधर्मका वर्णन है और उसी प्रसंगमें यह श्लोक भी है। अतएव ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न बुद्धिसे आचरित वर्णधर्म ही यथार्थ मोक्षदायक कर्मयोग है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

भगवद्गीताके सम्बन्धमें दो शब्द

(लेखिका—श्रीमती डा० एल्जे श्यूडर्स, जर्मनी)

भारतीय वाङ्मयके बहुशाख वृक्षपर भगवद्गीता एक अत्यन्त कमनीय एवं शोभासम्पन्न सुमन है। इस अत्युत्तम गीतमें हम प्राचीनसे प्राचीन और नवीनसे नवीन प्रश्नका विविध भांतिसे विवेचन किया गया है कि 'मोक्षोपयोगी ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है। क्या हम कर्मसे, ध्यानसे या भक्तिसे ईश्वरके साथ एकता प्राप्त कर सकते हैं, क्या हमें आत्माके शान्तिलाभके लिये आसक्ति और स्वार्थबुद्धिसे रहित होकर संसारके प्रलोभनोंसे दूर भागना चाहिये?' इस चमत्कारपूर्ण काव्यमय ग्रन्थमें हमें ये विचार बारम्बार नित्य नये रूपमें मिलते हैं। भगवद्गीताकी उत्पत्ति दर्शनशास्त्र और धर्मसे हुई है; उसके अन्दर ये दोनों धाराएं साथ साथ प्रवाहित होकर एक दूसरेके साथ मिल जाती हैं। भारतीयोंके इस मनोभावका हम जर्मन-देशवासियोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है और इसी कारण बार बार हमारा मन भारतकी ओर आकर्षित होता है। जिसने भारतीयोंके प्रति अपने हृदयमें प्रेम रखकर भारत-यात्रा की है और उनके भीतरी जीवन-में गहराईसे प्रवेश करनेकी चेष्टा की है, उसके ध्यानमें यह बात आये बिना नहीं रह सकती कि भारतीय मनोवृत्तिमें सैकड़ों बरसोंसे कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और आज भी एक हिन्दू-हृदयकी सबसे बड़ी कामना यही होती है कि मैं ईश्वरके साथ एक हो जाऊँ और सत्यके अनुभवके द्वारा ब्रह्मानन्दमें समा जाऊँ।

श्रीमद्भगवद्गीता !

पिलाकर आत्माको अमरत्व,
किया धन्य भगवद्गीताने नरका अमर महत्व !
करके नष्ट मोह-भय संशय,
छिन्न भिन्न कर दिया मृत्यु भय ;
जीवन-रणमें दे निश्चय जय
बरसाया शुभ सत्व ;
पिलाकर आत्माको अमरत्व !

सियारामशरण गुप्त

प्रो० हाईनरिच ल्यूडर्स, संस्कृत-अध्यापक,
विश्वविद्यालय, बर्लिन।

Prof. Heinrich Lueders

डा० एल्जे ल्यूडर्स।
(प्रो० ल्यूडर्स की धर्मपत्नी)

Dr. [illegible] Lueders, [illegible]

प्रो० हेल्मूट फ़ान ग्लाजेनप्प,
संस्कृत-अध्यापक, विश्वविद्यालय, क्योनिग्सबर्ग।

H. Von Glasenapp, Koenigsberg

प्रो० एफ० ओ० श्राडर, विश्वविद्यालय, कील, जर्मनी।

Prof. Dr. F. O. Schrader, University, Kiel.

विलियम क्यू० जज, अमेरिका ।

डा० एन० डब्ल्यू० बी० मॉर्गन, एम० ए०, पी एच० डी० डी-लीट, एम० एल० सी०

श्रीहाल्डेन एडवार्ड सैम्पसन ।

श्रीमनसुखराम सूर्यराम त्रिपाठी ।

चरण-चुम्बन

(१)

रात्रिकालके रक्त-पातसे
मानो अभिसिञ्चित होकर ;
मुस्काती थी सुर-बाला-सी
अभिसारिका उषा सुन्दर।
छिपे जा रहे थे प्रकाशसे
होकर हीन क्षीण तारे ;
उसी समय प्रार्थना-पत्र ले
पहुंचा मैं तेरे द्वारे।

तू बैठा था न्याय कर रहा
उदयाचलके प्राङ्गणमें ;
तेरी दिव्य-सभाकी सुषमा
फैल रही थी कण-कणमें।
विलस रही थी हँसी मनोहर
तेरे सुन्दर अधरों पर-
जैसे चन्द्र-किरण हँसती हो
तरंगिणीकी लहरों पर !

मैंने कहा—'देव ! फैलादो
लूँ मैं चरण चूम सुकुमार !'
तूने हँसकर निर्दयतासे
आह ! दिया तत्क्षण दुतकार !

हाय ! यह कैसा कटु व्यापार !
हुए सारे प्रयत्न निस्सार !

(२)

था मध्याह्न-काल, द्रुत-गतिसे
बहता था धूसरित-समीर ;
कुहुक रही थी कोयल उरमें
प्रलय छिपाये परम अधीर।
तरु-छाया-तल नीरव-रोदन
करते थे पशु बेचारे !
उसी समय प्रार्थना-पत्र ले
पहुँचा मैं तेरे द्वारे !

तू बैठा था न्याय कर रहा
ताप-तप्त रवि-मण्डलमें।।
भरी हुई थी अग्नि-राशि
तेरे ललाम-लोचन-दलमें।
तू जब कभी क्रोध करता था
जल उठता था बड़वानल ;
चारोंओर गूँज जाता था
'त्राहि त्राहि' का कोलाहल !

खड़ा हो गया डरते-डरते
मैं तेरे सम्मुख जाकर ;
पर आँखोंके मिलते ही
कम्पित हो उठा हृदय थर-थर !

मिटीं सब आशाएँ सुख-मूल !
शेष रह गया एक बस शूल !!

(३)

बही जा रही थी तरंगिणी
मृदुगतिसे करती हर-हर !
मुहलाती थी पवन, गात
कलियोंके थपकी दे देकर !
सुखकी निद्रामें निमग्न थे
अविकल जगजीव सारे !
उसी समय प्रार्थना-पत्र ले
पहुँचा मैं तेरे द्वारे।

इठलाती थी मधुर-यामिनी
ज्योति-वसन पहने सुन्दर ;
तू बैठा था न्याय कर रहा
कनक-चन्द्र-सिंहासनपर।
विलस रही थी तेरे मुखपर
करुणाकी निर्मल छाया ;
बरस रही थी सुधा, न था
अज्ञान और मोहक-माया !

तूने मुझे बुलाया अपने
निकट शीघ्र ही इंगित कर !
मैं गिर पड़ा चरण पर तेरे
तू रो पड़ा हाय ! झर-झर !

सफल हो गया पतित-जीवन
चरणका तेरे कर चुम्बन !

—कविरत्न श्री 'प्रभात' विद्यालङ्कार

क्या भगवद्गीता सार्वभौम धर्म-ग्रन्थ बन सकता है?

(लेखक—डा० श्री एल० बी० खेडकर, एम.डी०, एफ.आर.सी.एस०,डी.पी.एच, वेदान्तभूषण आदि)

कदाचित् इस कारणसे कि मैंने वर्षों श्रीमद्भगवद्गीता तथा अन्य तुलनात्मक धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन किया है और भारत, यूरोप एवं अमेरिकाके अनेक धर्मवेत्ताओंके साथ उनका निरीक्षण किया है, कल्याण-सम्पादकने मुझसे 'गीताङ्क' के लिये कुछ लिखनेको कहा है। अतएव निम्नलिखित प्रश्नोत्तर-क्रमद्वारा मैं उपर्युक्त विषयपर अपने कुछ विचार प्रकट करता हूं—

'क्या धर्मकी कुछ भी आवश्यकता है ?'

(१) हां, अवश्य है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक एवं प्राणि-शास्त्रके सूक्ष्म निरूपण तथा अन्य वैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको निश्चय हो गया है कि प्रकृति तथा मानव-बुद्धिके परे एक ऐसी शक्ति अथवा सिद्धान्त है—चाहे उसे किसी भी नामसे पुकारा जाय जो इस जगत्का सञ्चालन करता है।

(२) वह ईश्वर सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है, और वह प्रत्येक जीव तथा प्रत्येक वस्तुमें आत्म-रूपसे स्थित है।

(३) जिस प्रकार जलके एक बिन्दुमें—चाहे वह मैले घड़े, तालाब, झील, नदी अथवा समुद्रमें कहीं भी हो—H_2O हर समय रहता है, इसी प्रकार आत्मा नामक एक ईश्वरीय अंश प्रत्येक जीवमें वर्तमान रहता है और जीवके सब प्रकारसे विशुद्ध हो जानेपर उसको इस ईश्वरीय सत्ताका ज्ञान हो जाता है।

(४) मन तथा बुद्धिकी शुद्धिका एकमात्र उपाय योगाभ्यास है, कर्मोंकी पद्धति नहीं।

(५) जिन्होंने इसका अभ्यास किया है उन्होंने अर्जुन, बुद्ध, ईसा, तुकाराम, चैतन्य तथा अन्य महात्माओंकी भांति ईश्वरको प्राप्त किया है।

(६) परमात्मा दृश्य पदार्थ नहीं है किन्तु प्रकृति निरन्तर शुभाशुभ, प्रकाश-अन्धकार आदि द्वन्द्वोंमें रहती है। जो इन सारे द्वन्द्वोंसे परे है, वह ब्रह्म है। वह नाम, रूप आदिसे परे है। अतः आत्म-प्राप्तिके समय जीवको अपने अन्दर उस ईश्वरीय अंशका ज्ञान हो जाता है। तब वह अनुभव करने लगता है कि वही अंश उसके अन्दर रहकर उसे प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त करता है।

(७) जब आत्मा पूर्णतः शुद्ध होकर परमात्मामें विलीन हो जाता है तो उसीको मोक्ष कहते हैं। उस समय द्वन्द्वोंका भेद, जिनका भास केवल मायाके कारण होता है,—सर्वथा चला जाता है। ईश्वरीय ज्ञानसे इस प्रापञ्चिक दृश्य और मानसिक द्वन्द्वका नाश हो जाता है।

'क्या किसीने आत्माको देखा है ?'

हां, कोई भी मनुष्य जिसमें अदृश्य पदार्थोंको देखनेकी शक्ति है, वह योगद्वारा आत्माको देख सकता है। मृत्युकालमें मनुष्य प्रायः किसी अज्ञात व्यक्तिको आता हुआ देखता है, जो अपनी शक्तिद्वारा उसे वहांसे उठा ले जानेको उद्यत होता है। उसे देखकर वह भयसे चिल्लाने लगता है—'इसे हटाओ, यह मुझे यहांसे ले जायगा।' भारत तथा विलायत दोनों ही जगह,—जहां मैंने डाक्टरी की है,—मरणासन्न रोगियोंको इस प्रकार सहायताके लिये पुकार मचाते बहुत बार सुना है। गीताके ये श्लोक स्वर्गदूतोंकी रहस्यमयी सत्ता तथा मृत्युके समय आत्माके प्रयाणादिके सम्बन्धमें बहुत ही शिक्षाप्रद हैं।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
(३ । ११)

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥
(१५ । ८)

'इस प्रकार सेवाद्वारा उन देवताओंको प्रसन्न करो, जिसके बदलेमें वे तुमको प्रसन्न करेंगे। यों एक दूसरेकी सहायता करते हुए तुम परम पदको प्राप्त होगे।'

'जिस प्रकार वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही जीवात्मा भी जब शरीरको त्यागता है तो उससे मन, इन्द्रियों तथा भावोंको ग्रहण करके दूसरे शरीरमें जाता है।'

आत्माका परमात्मासे क्या सम्बन्ध है ?

श्रुति कहती है 'बहुस्याम् प्रजायेयेति' मैंने अपनेको (जगत्की लीलाके लिये) बहुतसे रूपोंमें प्रकट किया है। अतः प्रत्येक जीवको चारों युगोंमें शान्ति तथा उन्नतिकी प्राप्तिके लिये प्रकृतिके नियमानुसार अपना अपना खेल खेलना पड़ता है। जो आलस्य, अज्ञान, स्वार्थपरता तथा कपटके कारण इसके विपरीत करते हैं, वह अपने कर्मोंका बुरा फल भोगते हैं। क्योंकि प्रकृतिका नियम 'क्रिया और प्रतिक्रिया' अटल है।

क्या परमात्मामें क्षमा नहीं है ?

ईश्वर परम न्यायकारी है। यद्यपि वहां किसी कर्मकी क्षमा नहीं है। पर वह भक्तको पतनसे बचाने तथा उसके दुःखोंको नष्ट करनेके लिये परिस्थितिमें परिवर्तन कर देता है।

तब परमात्माकी क्या दया है ?

परमात्मा स्वेच्छासे किसीके भाग्यका निर्माण नहीं करता (गीता ५। १४)। मनुष्यके अगणित पूर्व-जन्मोंके कुकर्म सुकर्म एकत्रित रहते हैं, किन्तु ऐसा नहीं होता कि वह पहले सब बुरे कर्मोंके फलको भोग कर तब अच्छे कर्मोंका फल भोगने लगे। अवस्थाके अनुसार भाग्यरचित क्रमसे अच्छे बुरे कर्मोंके फल भोगने पड़ते हैं। परन्तु परमात्मा अपने भक्तको सर्वनाशसे बचानेके लिये, उसके पूर्व सञ्चित सुकर्मके भोगको उसके आपत्तिकालमें उपस्थित कर सकता है। अतः धर्म अत्यन्त आवश्यक है पर विविध सांसारिक प्रलोभनों तथा धर्मके ठेकेदारोंके पापसे छुड़ा देनेके मिथ्या आश्वासनोंमें फँसे रहनेके कारण बहुत ही थोड़े मनुष्य अपने जीवनमें यथार्थ धर्मका उपयोग करते हैं।

यदि भक्तिकी आवश्यकता है तो किसकी भक्ति करनी चाहिये ?

परम प्रभु परमात्मा ही जगत्का प्रवर्तक तथा सञ्चालक है। वह उन सब स्थलोंसे,-जिनमें सूर्य और चन्द्रमाका प्रकाश होता है,-परे है। वह निराकार है और समानरूपसे हम लोगोंके बाहर भीतर व्याप्त है। भगवान् श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वतपर अपने उपदेशमें कहा है कि अन्य देवता जो छोटे क्षेत्रोंमें सञ्चालन-कार्य करते हैं, किसीके भाग्यमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। फिर भी लोग क्रियाडम्बर द्वारा पापोंसे मुक्त होनेके लिये धर्मध्वजियोंके धोखेमें आ जाते हैं। गीतामें कहा है कि अन्य देवताओंकी पूजा परोक्षरूपसे उसी परमात्माकी पूजा है (९। २३)। अतः भक्तके लिये अपने शरीर-मन्दिरको शुद्ध एवं पवित्र करके हृदय-स्थित (१८। ६१) परमात्माकी उपासना करना ही सर्वोत्तम है।

भक्तिका स्वरूप क्या होना चाहिये ?

यदि भक्तिका उद्देश्य पूर्णता प्राप्त करना तथा परमात्मामें विलीन हो जाना है तो सारे विचार और वृत्तियोंको छोड़ कर सारे रजोगुणी तथा तमोगुणी भावोंको चित्तवृत्तिसे दमन कर मन एवं पाँचों इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे एकाग्र करके अपने अन्दर प्रकाशस्वरूप परमात्माका ध्यान करना चाहिये।

फिर शिक्षित लोग विधिवादका अनुसरण क्यों करते हैं ?

प्रायः मनुष्योंके हृदयमें सत्यका अनुसरण करनेकी सच्ची आकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि वे शीघ्रसे शीघ्र द्रव्योपार्जन तथा जीवनके सारे उपभोगोंका आनन्द उठानेके लिये लालायित रहते हैं। अतः वे दार्शनिक निरीक्षण तथा त्यागादिके अभ्यासका प्रयत्न नहीं करते। वे अन्धेकी भाँति प्रचलित विधियोंद्वारा अपने पापों तथा कर्तव्योंकी अवहेलनाका प्रायश्चित्त हुआ मान लेते हैं। एक प्रकारसे वह उस समयतक परमात्माको शान्त रखनेका प्रयत्न करते हैं जबतक कि जीवनके अन्तिम समयमें उन्हें सच्ची भक्तिका अवकाश नहीं मिल जाता, किन्तु वस्तुतः वह समय उनको कभी भी प्राप्त नहीं होता। क्योंकि दुष्ट वृत्तियोंद्वारा उनके धनोपार्जनमें लगे हुए जीवनकी यात्रा अकालमेंही समाप्त हो जाती है। अतः उन विधियोंसे मनुष्य पापोंसे मुक्त तो नहीं होता, अपितु उसके कारण योगाभ्यासका सुवर्णमय अवसर उसके हाथसे अवश्य निकल जाता है। अतएव हमें इन बखेड़ोंसे निकल कर दार्शनिक धर्मका अनुसरण करना चाहिये।

गीता ही परमोत्तम दार्शनिक ग्रन्थ है

इस समय संसारके वर्तमान धर्मोंकी जिस प्रकार व्याख्या तथा अनुसरण किया जाता है उसपर विचार करनेसे यह पता लगता है कि उनमें दार्शनिकताका अंश बहुत ही कम है। केवल एक श्रीमद्भगवद्गीता ही ऐसा ग्रन्थ है,

जिसमें दर्शन तथा धर्म दोनोंका समावेश है और जो मोक्ष प्राप्त करानेमें पूर्ण समर्थ है। अतः यदि आप भारतकी शीघ्र उन्नति चाहते हैं तो श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मका विस्तृत और स्वतन्त्ररूपसे घर घरमें प्रचार कीजिये।

जबतक संसारके राजनीतिज्ञ अपने अपने संकीर्ण जातीय धर्मके ऊपर राष्ट्रीयताको अवस्थित करना चाहते हैं, तबतक श्रीभगवद्गीता-धर्म सार्वभौम धर्म नहीं हो सकता। परन्तु गीताके दार्शनिक विचार एवं उसकी युक्तियां इतनी हृदयग्राही एवं शिक्षाप्रद हैं कि यदि उसके सिद्धान्तों तथा उपदेशोंका प्रचार विस्तृतरूपसे किया जाय तो भारतके साथ समस्त जगत्‌की समस्त जातियोंमें शान्ति, सहानुभूति तथा एकताके भाव उत्पन्न हो सकते हैं। सबके हृदयमें गीताकी संस्कृतिका प्रसार होना चाहिये. उसीसे आधुनिक धर्मभावोंमें यथेष्ट परिवर्त्तन हो सकता है।

थियोसोफीकल-सोसाइटी, विवेकानन्द-सोसाइटी, स्वामी रामतीर्थ, श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा मेरेद्वारा पश्चिममें गीताके उपदेशोंके प्रचारसे वहांके बहुतसे लोगोंकी प्राचीन भारतीय सभ्यताके प्रति आश्चर्यजनक श्रद्धा और दर्शन-शास्त्रके प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया है। यहां तक कि कई पण्डितोंने वेदान्तदर्शनके ऊपर कई शिक्षाप्रद ग्रन्थ लिखे हैं। मेरे एक मित्रकी यह निम्नलिखित घटना अत्यन्त शिक्षाप्रद है।

सन् १९०० में विलायतके न्यूकैसिल-ऑन-टाइन (Newcastle-on-tyne) नगरमें मि० स्मिथ नामके एक इलेक्ट्रीकल इञ्जीनियरने 'धर्मोंकी तुलनात्मक विवेचना' पर मेरी एक वक्तृता सुनी और यह विश्वास हो जानेपर कि ईसाई-मत किसी यथार्थ दार्शनिक सिद्धान्तोंपर अवस्थित नहीं है, वे उदास हो गये। कुछ समय पश्चात् उन्होंने एकाग्र मनसे गीताका अध्ययन आरम्भ कर दिया और एक सालके अन्दर ही उन्होंने मेरे अधिष्ठातृत्वमें सर्वसाधारणके लिये गीताका एक क्लास खोल दिया। तीन सालके पश्चात् उन्हें अरजेन्टाइन (दक्षिणी अमेरिका)में एक अच्छी नौकरी मिल गयी। वहांसे उन्होंने मुझको पत्र लिखा कि गीताके अध्ययनके लिये यहां मैंने एक क्लास खोल दिया है, जो दिन दिन बढ़ता जाता है। मि० स्मिथ अब भी ईसाई हैं पर भगवद्गीताके सिद्धान्तोंके अनुसार उनके भाव बदल गये हैं। यदि इसी प्रकार अन्य लोग भी प्रयत्न करें तो ईसाई-संसारके भाव सर्वथा बदल जायंगे। प्रयाग-विश्वविद्यालयके एक अध्यापक मि० सय्यद हाफिज़ बी० ए० एल० टी० ने गीताका अध्ययन बड़े ध्यानसे किया है और यद्यपि वह अब भी मुसलमान ही हैं, पर उनका स्वभाव बिलकुल बदल गया है। उनका सर्वदा हिन्दू-मुसलमानोंमें मेल करानेका प्रयत्न रहता है। यह सिद्ध करनेके लिये अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि गीता किसी भी धर्मके मनुष्योंके हृदयपर अधिकार कर सकती है। अतएव वह संसारमें ऐक्य, शान्ति तथा मेलकी स्थापना करनेका महान् कार्य करनेमें समर्थ है। इतना होनेपर भी स्वार्थपरायण राजनीतिज्ञों तथा संकुचित धर्मयाजकोंकी व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय लाभेच्छाके कारण गीताधर्म सार्वभौम नहीं हो सकता।

क्या गीताधर्मका विज्ञान तथा कलापर प्रभाव पड़ सकता है ?

विज्ञान तथा कलापर इसका प्रभाव निश्चय ही पड़ सकता है। वेदान्ती सर जगदीशचन्द्र बोसने अपनी प्रयोग-क्रियाओं (Experimental Demonstrations) द्वारा संसारके सामने यह सिद्ध कर दिया है कि हरे पौधोंमें भी जीव रहनेके कारण उनमें हलचल तथा स्पर्श-बोध होता है। सुकरात, अफलातून, बर्कले, कान्ट, हेगल तथा अन्य पाश्चात्य दार्शनिकोंने दार्शनिक अन्वेषणाओंमें यद्यपि पर्याप्त प्रयत्न किया है पर योगाभ्यासके अभावके कारण वे आत्मसाक्षात्कारका आनन्द नहीं उठा सके। यदि आधुनिक दार्शनिक श्रीभगवद्गीताका अध्ययन और योगका अभ्यास करना आरम्भ कर दें तो वर्तमान दार्शनिक विज्ञान एवं धर्मयाजकोंमें एक अद्भुत परिवर्तन हो जायगा।

गीताके प्रचारार्थ क्या करना चाहिये ?

(१) प्रत्येक शिक्षित हिन्दूको स्वयं घरपर गीता पढ़ना चाहिये तथा घरवालों और पड़ोसियोंको भी पढ़ाना चाहिये।

(२) इसके अध्ययनके लिये रात्रि-कक्षाएं आरम्भ करनी चाहिये।

(३) गीताकी पुस्तकें एवं छोटी छोटी पुस्तिकाएँ जिनमें दार्शनिक विचार तथा धर्मकी संक्षिप्त विवेचना हो, बिना मूल्य ही जनतामें बांटनी चाहिये।

(४) गीता स्कूल तथा कालेजोंमें पाठ्य पुस्तक (Text book) के रूपमें पढ़ाना चाहिये।

(५) सारे मन्दिरोंमें प्रति सप्ताह व्याख्यान, कीर्तन, भजन तथा गीतासम्बन्धी प्रवचनोंका प्रबन्ध होना चाहिये।

(६) प्रत्येक नगर तथा गाँवमें गीता-जयन्ती मनायी जानी चाहिये।

(७) मन्दिरों तथा मन्दिर-सम्बन्धी अन्य स्थानोंमें रहनेवाले भक्तोंके लिये गीतामें बताये हुए योगका अभ्यास अनिवार्य कर देना चाहिये।

(८) सार्वजनिक वक्तृताओं तथा सामूहिक अध्ययनके अवसरोंपर धर्म एवं दर्शनोंके तुलनात्मक विवेचन-द्वारा गीताकी श्रेष्ठता दिखलानी चाहिये।

गीताकी विशेषताएँ क्या हैं ?

(१) यह योगाभ्यासद्वारा उपनिषद्के पूर्ण ज्ञानकी शिक्षा देती है। अतः इसमें ज्ञान-योग है।

(२) यह स्वभाव तथा विश्वासके परिवर्तनके लिये मनोविज्ञानकी आवश्यकता बताती है, अतः इसमें बुद्धि-योग है।

(३) यह विधिवाद-रहित धर्मका प्रतिपादन करती है, अतः इसमें भक्तियोग है।

(४) अपने कर्मयोग-द्वारा यह ईश्वरीय तथा मानव-सेवाका उपयुक्त मार्ग बतलाती है।

(५) यह पुनर्जन्मकी सत्यताको प्रकाशित करती है।

(६) यह राजयोग-द्वारा ईश्वर-प्राप्तिका विश्वास दिलाती है।

(७) यह इस सत्यको प्रकाशित करती है कि परमात्मा प्रेम-रूप है।

(८) यह स्वरूपसे कर्म-त्यागका विरोध करती है।

(९) यह जातिबन्धनकी परवा न करके सभी जातियोंके स्त्री-पुरुषोंकी समानताका प्रतिपादन करती है।

गीतापर सर्वोत्कृष्ट टीकाएँ कौनसी हैं ?

श्रीशंकराचार्य तथा ज्ञानदेवादि जैसे प्राचीन एवं पक्षपात-रहित टीकाकार ही गीताके दार्शनिक विचार तथा धर्मके सच्चे व्याख्याता हैं। किसी ऐसे व्यक्तिको जो अर्वाचीन तथा प्राचीन सभ्यताओंसे परिचित हो, गीताकी उन विशेषताओंको जो पश्चिमी तत्त्वज्ञानसे परे हैं,-जनसाधारणके सामने रखनेकी आवश्यकता है। गीता अनन्त रत्नोंका सागर है, कोई भी उसमें डुबकी लगाकर अपनी इच्छानुकूल रत्न प्राप्त कर सकता है।

भिन्न भिन्न टीकाकारोंने अपने अपने भावोंके अनुसार इसपर टीकाएं की हैं, परन्तु अब भी इसपर विशेषरूपसे गवेषणा करनेके लिये बहुत स्थान है।

गीता बिना ही मूल्यके मिलनेवाला महाप्रसाद है

गीता-धर्मरूपी यह ईश्वरीय प्रसाद बिना किसी मूल्यके प्राप्त हो सकता है, यह इसका गुण है। यदि संसारमें इसका प्रचार कर दिया जाय,-जो बिना किसी विशेष कष्ट अथवा धनव्ययादिके हो सकता है,-तो सब मनुष्योंके हृदय गीतामय बन जायँ, जिससे यह संसार अत्यन्त सुन्दर, शान्तिपूर्ण तथा सुखपूर्वक निवासयोग्य हो जाय।

प्रत्येक मनुष्यको इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत।

हे गीते !

सदा चित्तको शान्ति, मोद पहुँचाने वाली।
नये नये सद्भाव, हियमें लाने वाली॥
तूही है कल्याण, विश्वका करने वाली।
तूही ब्रह्म-स्वरूप, मोक्षकी देने वाली॥
साधन है हरि प्राप्तिका,
कलिमल अघकी नाशिनी।
तरणी है भव-सिन्धुकी,
तूही ज्ञान विकाशिनी॥

—मोतीलाल ओमरे "श्रीहरि"

गीता उत्कृष्ट दार्शनिक काव्य है

हिन्दू धर्मके सर्वजन-स्वीकृत सिद्धान्तोंके अनुकूल और आधुनिक उदार-शिक्षाके अभिलाषी हिन्दुओंके निमित्त साम्प्रदायिकतासे शून्य धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा देनेके लिये श्रीमद्भगवद्गीतासे बढ़कर कोई अन्य ग्रन्थ नहीं। श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें यह उक्ति सर्वथा सत्य है कि यह समस्त मानवी साहित्यमें एक उत्कृष्ट कोटिका दार्शनिक काव्य है। हिन्दू धर्ममें विश्वास करनेवाले सभीके लिये यह प्रसिद्ध प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ है। इसमें प्रतिपादित सारे नैतिक एवं धार्मिक आदेश परमात्माकी आज्ञा हैं।—प्रो० रङ्गाचार्य

भगवद्गीताके यज्ञचक्रकी व्याख्या

(ले०-श्रीयुत एफ० ऑटो श्राडर, पी एच० डी०, विद्यासागर, प्रोफ़ेसर कील युनिवरसिटी जर्मनी)

वर्षा एवं उससे उत्पन्न होनेवाले अन्न आदि- जो भौतिक पदार्थ हैं,-जिनके बिना संसारकी गति ही रुक जाती है, उन्हें देवताओंसे प्राप्त करनेके लिये जिस 'अपूर्व' की अपेक्षा होती है, (दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् । मनु० ३ । ७५) मीमांसा-शास्त्रमें उसे यज्ञ कहा गया है और भगवद्गीताके तीसरे अध्यायके ८ वेंसे लेकर १६ वें श्लोकतक इसी यज्ञकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया गया है । इस सम्बन्धमें जो प्राचीन सिद्धान्त है, उसके और भगवद्गीताके सिद्धान्तमें अन्तर इतना ही है कि भगवद्गीताके अनुसार यज्ञरूप कर्म स्वार्थ-बुद्धिसे नहीं अपितु केवल ईश्वरीय नियमके पालनके लिये करना चाहिये । यज्ञकी आवश्यकताको सिद्ध करनेके लिये इसे कार्य एवं कारणके एक ऐसे चक्रका अङ्ग बतलाया गया है, जिस चक्रका प्रत्येक अङ्ग अपने पूर्ववर्ती अङ्गका कार्य एवं परवर्ती अङ्गका कारण होता है, जिससे एक भी अङ्गकी न्यूनतासे सारा चक्र नष्ट हो जाता है । इस प्रतिपादनका अन्तिम वाक्य यह है:-'हे पृथापुत्र ! इस प्रकारसे चलाये हुए चक्रको चालू रखनेमें जो सहायता नहीं देता, उसका जीवन पापमय होता है और इन्द्रियोंके सुखको ही परम सुख मानता हुआ वह व्यर्थ ही जीता है ।'

यहां यह प्रश्न होता है कि इस सम्बन्धमें भगवद्गीतामें जिन जिन तत्त्वोंको गिनाया गया है, उनमेंसे कितने और कौन कौनसे तत्त्व इस यज्ञचक्रके अङ्ग हैं ।

यदि १५ वां श्लोक न होता तो सारी बातें बिल्कुल स्पष्ट थीं, क्योंकि १४ वें श्लोकमें जिस कारणमालाका उल्लेख किया गया है (यथा-कर्मसे यज्ञकी उत्पत्ति होती है, यज्ञसे पर्जन्य (वर्षा) की, पर्जन्यसे अन्नकी एवं अन्नसे भूतों (जीवों) की उत्पत्ति होती है) उसके सारे अङ्गोंको मिलानेसे एक पूरा चक्र बन जाता है, क्योंकि भूतोंका फिर कर्मके साथ कारणरूपसे सम्बन्ध हो जाता है । इसके अतिरिक्त और किसी अङ्गकी आवश्यकता नहीं मालूम होती ।

इसलिये चिरकालसे मेरी यह धारणा रही है कि १५वां श्लोक भगवद्गीताके मूल पुस्तकमें नहीं था, परन्तु किसी प्राचीन मतके आग्रही ब्राह्मण विद्वान्के द्वारा पीछेसे जोड़ दिया गया है, जो बहुत चतुराईके साथ नहीं जोड़ा जा सका है । मालूम होता है कि यह कार्य सम्भवतः इस भयसे किया गया कि कहीं लोग इस चक्रका अर्थ बौद्धोंके 'प्रतीत्यसमुत्पाद' (अथवा एक प्रकारके स्वभाववाद)के समान यह न समझ लें कि यह चक्र किसी जगत्कर्ता अथवा जगन्नियन्तारूप परमेश्वरके बिना ही अपने आप चलता रहता है ।

अब रही क्षेपकोंकी बात सो इस सम्बन्धमें हमें स्वर्गीय प्रोफेसर गर्बेके सदृश सन्देहयुक्त होनेकी आवश्यकता नहीं है । उन्होंने भगवद्गीताके अधिक नहीं, तो कमसे कम १७० श्लोकोंको(जिनमें तीसरे अध्यायके नवें श्लोकसे अठारहवें श्लोकतक सम्मिलित हैं) प्रक्षिप्त बतलाया है । किन्तु फिर भी जैसे भारतवर्षमें लोग प्रायः क्षेपकोंकी बातपर यह कह दिया करते हैं कि यह तो केवल कुछ बालकी खाल खेंचनेवाले लोगोंका वहम मात्र है, वैसे हमें इसकी दिल्लगी नहीं उड़ानी चाहिये । कमसे कम एक ऐसा श्लोक, (प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च इत्यादि) जिसे अर्जुनने कहा है, मुझे भी मालूम है जो कुछ हस्तलिखित पुस्तकों तथा संस्करणोंमें १३ वें अध्यायके प्रारम्भमें दिया हुआ है, किन्तु अधिकांश टीकाकारोंने इसकी टीका नहीं की है । जिससे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वह श्लोक प्रक्षिप्त है । किन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उदाहरणतः गीताकी दो सबसेपुरानी टीकाओंमें, जो काश्मीरमें मिलती हैं- दूसरे अध्यायके ६६ वें एवं ६७ वें श्लोकोंकी न तो व्याख्या ही मिलती है और न इन श्लोकोंका उसमें उल्लेख ही है । यही नहीं, अभिनव गुप्त जैसे महा विद्वान्ने चौदहवें अध्यायके १६, १७ एवं १८ वें श्लोकको भी कल्पित बतलाया है ।*

* इन सब बातोंपर तथा प्रचलित गीतामें जहां जहां शृङ्खलाविच्छेदता एवं अशुद्ध पाठ मालूम होता है उन उन स्थलोंके सम्बन्धमें, मेरे द्वारा संशोधित भगवद्गीताके एक प्राचीन काश्मीरी संस्करणकी, जो अब छपनेके लिये तैयार है, भूमिकामें विचार किया गया है ।

किन्तु १५ वां श्लोक क्षेपक है, यह मैं अभी नहीं कहना चाहता। केवल यह निर्देश कर देनेके पश्चात् कि यह प्रक्षिप्त हो सकता है और साथ ही यह मान कर कि यह श्लोक मूल गीतामें था, अब मैं उसकी व्याख्या करनेकी चेष्टा करूँगा। क्योंकि मेरा सदासे यह सिद्धान्त रहा है कि जबतक किसी उलझी हुई गांठको सुलझानेकी पूरी चेष्टा न कर ली जाय, तबतक उसे काटना नहीं चाहिये।

यज्ञचक्रकी कल्पना भगवद्गीतासे पहलेकी है। बृहदारण्यक (६।२।६–१३) एवं छान्दोग्य (५।४–६) इन दो सबसे प्राचीन उपनिषदोंमें कुछ प्रकारान्तरसे इस चक्रका आदर्श मिलता है। इनके अन्दर मृत देहके अग्निसंस्कारको और इस सिद्धान्तके अनुसार मृतके अनन्तर पुनर्जन्म पर्यन्त जीव जिस जिस अवस्थान्तरको प्राप्त होता है, उन सबको यज्ञ कहा गया है। इस सम्बन्धमें इन उपनिषदोंमें यह लिखा है कि शवदाहके समय परलोक (असौ लोकः) अग्निरूप होता है, जिसके अन्दर देवता लोग मृतात्माकी श्रद्धा (अर्थात् सम्भवतः उसके कर्म) को होम देते हैं, जिससे वह चान्द्रमस देहको (सोमो राजा) प्राप्त होता है। इसके अनन्तर वह वृष्टिका रूप धारण करता है, फिर अन्नका, फिर वीर्य (रेतस्) का और फिर गर्भका(छान्दो० उ०) और पुरुष (बृह० उ०) का रूप धारण करता है। यही 'पञ्चाग्निविद्या' है। मृत्युसे लेकर जन्म पर्यन्त मनुष्यको पांच अग्नियों (असौ लोकः इत्यादि) मेंसे होकर निकलना पड़ता है, इसीलिये इसे 'पञ्चाग्निविद्या' कहते हैं।

गीताकी कई टीकाओंमें मानव-धर्मशास्त्र (३।७६) का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया हुआ मिलता है:—

> 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
> आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

इस श्लोकमें यज्ञचक्रके जिस प्राचीन एवं सामान्य तत्वका निरूपण किया गया है, उपनिषदोंमें उसीको पल्लवित करके कहा गया है। ठीक इसीसे मिलता जुलता हुआ भाव याज्ञवल्क्य स्मृति (३।१२१–१२४) में मिलता है, जहां यह लिखा है कि यज्ञके सार (रस) से जब देवतागण तृप्त हो जाते हैं, तब वायु उसे चन्द्रमा (सोम) के पास पहुँचा देता है और वहांसे सूर्यरश्मियां उसे सूर्यके पास ले जाती हैं। तब सूर्य भगवान् उसे वृष्टि (अमृत) के रूपमें पृथ्वीपर वापिस भेज देते हैं। वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे सारे जीव (भूत) उत्पन्न होते हैं। उस अन्नसे फिर यज्ञ (होता है) फिर अन्न और फिर यज्ञ, इस भाँति यह चक्र अनादिकालसे अनन्तकालतक चलता रहता है।'

> तस्मादन्नात् पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः ।
> एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं सम्परिवर्तते ॥

इन सारे अवतरणोंमें चक्रके जो चार या पाँच अङ्ग बतलाये गये हैं, भगवद्गीताके तीसरे अध्यायके चौदहवें श्लोकमें वस्तुतः उन्हींका उल्लेख किया गया है, क्योंकि जहाँ 'यज्ञ' शब्दका प्रयोग किया गया है, उसे हम कर्मके अर्थमें ले सकते हैं और 'कर्म' को यज्ञके अर्थमें ले सकते हैं।

किन्तु जो चौदहवें श्लोकमें बात कही गयी है, वह वहीं समाप्त नहीं हो जाती। उसके 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः' इस अन्तिम चरणका अगले (१५ वें) श्लोकके साथ सम्बन्ध है, जो इस प्रकार है:—

> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
> तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

इस प्रकार चक्रमें 'ब्रह्म' और 'अक्षर' इन दो अङ्गोंको और जोड़ दिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

इस लिये गीताके भारतीय एवं पाश्चात्य टीकाकारों तथा व्याख्याताओंने इस प्रश्नको जिस जिस प्रकारसे हल करनेकी चेष्टा की है, उन सबकी समीक्षा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है।*

इस प्रश्नपर विचार करनेवालोंके तीन पक्ष ठहरते हैं, १–जो 'ब्रह्म' और 'अक्षर' इन दोनों तत्वोंको, जिनका १५ वें श्लोकमें उल्लेख किया गया है, चक्रके अन्तर्गत मानता है २–जो इनको चक्रके अन्तर्गत नहीं मानता और ३–जो ऐसा मानता है कि ये किसी अंशमें तो चक्रके अन्तर्गत हैं और किसी अंशमें नहीं हैं। इनमेंसे पहले पक्षमें आचार्य रामानुज, मध्वाचार्य और अद्वैतवादियोंमें

* मैं यह दावा नहीं करता कि मैं गीताकी सारी टीकाओंको जानता हूं, इस विवेचनके लिये मैं केवल उन्हीं टीकाओंका उपयोग कर सका हूं जो मेरे पास मौजूद थीं और उनमेंसे भी कुछ ऐसी टीकाओंको छोड़ गया हूं, जिनकी व्याख्याओंमें कुछ नवीनता नहीं है (उदाहरणतः जिन्होंने कर्मका अर्थ 'क्रियाशक्ति' किया है) अथवा (गीताके कालको देखते हुए) जिनमें कालसम्बन्धी कई भूलें हैं।

वेङ्कटनाथ आदि हैं; दूसरेमें शंकराचार्य और उनके अनुयायी हैं एवं तीसरेमें नीलकण्ठ हैं। अब हम इन भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण करेंगे, परन्तु सुविधाकी दृष्टिसे जिस १, २, ३ क्रमसे ऊपर उल्लेख किया गया है, वैसा न करके २, ३, १ के क्रमसे करेंगे और ऐसा करते समय हम १५ वें श्लोकके केवल पूर्वार्द्धको ही दृष्टिमें रक्खेंगे।

(२) शङ्कराचार्यने 'ब्रह्म' का अर्थ वेद लिया है और 'अक्षर' का अर्थ 'अक्षर ब्रह्म' अर्थात् परमात्मा माना है। इनमेंसे 'अक्षर' तो अवश्य ही चक्रसे बाहर है, क्योंकि वह भूतोंका कार्य तो हो ही नहीं सकता, अपितु यों कहना चाहिये कि उसकी कार्य अथवा फलरूपसे कल्पना भी नहीं हो सकती। वेद भी चक्रके बाहर है या नहीं, इस बातको श्रीशङ्कराचार्य स्पष्टरूपसे नहीं कहते, परन्तु मालूम होता है कि नित्यत्वके कारण उन्होंने वेदोंको भी चक्रके बाहर ही माना है। इसी प्रसङ्गमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'ब्रह्मोद्भवम्' इस पदमें 'उद्भव' शब्दको प्रमाणवाचक मानकर उसका 'वेदको प्रमाण मानकर किया हुआ' यह अर्थ किया है और अन्तमें यह संक्षेपक वाक्य लिखा है:-(सृष्टिके) आरम्भमें भगवान्‌के द्वारा सर्वार्थप्रकाशक नित्य एवं निर्भ्रान्त वेदकी अभिव्यक्ति होती है; वेदोंसे (कर्तव्य) कर्मोंका ज्ञान (होता है); उस ज्ञानसे कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा पुण्य होता है, पुण्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, अन्नसे भूत (अर्थात् भूतोंकी उत्पत्ति) और फिर ठीक उसी प्रकार भूतोंके द्वारा कर्मोंका अनुष्ठान, इस प्रकार यह चक्र चलता है।'

शङ्करानन्दने भी इसी प्रकारसे व्याख्या की है, यथा-'ईश्वरः श्रुतिमुखेन यज्ञसन्ततिं विधाय'''स्वयमेव चक्रं प्रवर्तितवान्।' चक्रको चलानेके लिये वेद भगवान्‌के उपकरण हैं और इसलिये वे वैसे ही चक्रके बाहर हैं, जैसे कुञ्जी घड़ीके बाहर होती है।

(३) नीलकण्ठ भी 'ब्रह्म' और 'अक्षर' का वही अर्थ लेते हैं, जो शङ्करने लिया है और साथ ही उनका यह दृढ़ सिद्धान्त है कि भूत किसी प्रकार भी वेदके कारण नहीं हो सकते, किन्तु फिर भी वे निम्नलिखित रीतिसे वेदको चक्रका एक अङ्ग मानते हैं:-'पहले भूतोंके द्वारा वेदोंका अध्ययन होता है, फिर उनके द्वारा (वेदविहित) कर्मोंका अनुष्ठान होता है, उससे देवताओंकी सन्तुष्टि होती है और देवताओंकी सन्तुष्टिसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति और उनके द्वारा वेदोंका अध्ययन होता है।'

१ (क) वेङ्कटनाथका यह निश्चित सिद्धान्त है कि 'ब्रह्म' और 'अक्षर' दोनों ही चक्रके अन्तर्गत हैं और इसलिये उसके अङ्गोंके अन्दर जो अन्योऽन्य कार्य-कारण भाव है वह इन दोनोंके अन्दर भी पूर्णरूपसे विद्यमान है। वे भी शङ्करकी तरह 'ब्रह्म' का अर्थ वेद लेते हैं; किन्तु 'अक्षर' का अर्थ जहां शङ्कराचार्यने 'अक्षर ब्रह्म' अथवा परमात्मा लिया है वहां इन्होंने उसका अर्थ प्रणव अथवा 'ओम्' माना है, जिसे भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायके तेइसवें श्लोकमें (ओं तत्सदिति निर्देशः—इत्यादि) वेदका कारण बतलाया गया है। परन्तु फिर भूतोंसे प्रणवकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तरमें वे यह कहते हैं कि भूतोंके उच्चारणसे ही प्रणवकी अभिव्यक्ति होती है और इस प्रकार हम उन्हें प्रणवका कारण कह सकते हैं।

१ (ख) मध्वाचार्य भी जो,-वेंकटनाथसे कई सौ वर्ष पूर्व हुए थे,-'अक्षर' का यही भाव लेते हैं, किन्तु वे 'ब्रह्म' का कुछ दूसरा ही भाव लेते हैं। उनका यह कहना है कि 'अक्षर' शब्दसे यहां उसका प्रसिद्ध अर्थ अर्थात् वर्ण-समाम्नाय (अक्षराशि) अथवा वेद (जिसमें प्रणव भी शामिल है) लेना चाहिये, इन अक्षरोंकी अभिव्यक्ति भूतोंके ही द्वारा होती है और 'इन (अक्षरों) के द्वारा परब्रह्मकी अभिव्यक्ति होती है' (अक्षराणि प्रसिद्धानि तेभ्यो अभिव्यज्यते परं ब्रह्म'''तानि चाक्षराणि भूताभिव्यङ्ग्यानीति चक्रम्) क्योंकि, मध्व कहते हैं कि 'उत्पत्तिवाचक शब्दोंका अर्थ अभिव्यञ्जन होता है' (उत्पत्तिवचनान्यभिव्यक्त्यर्थानि।

१ (ग) मध्वकी नाई आचार्य रामानुजकी व्याख्याका भी आधार यही है, उन्होंने चक्रके अङ्गोंका परस्पर जो कार्य कारण भाव है, (जिसे अभिव्यक्त करनेके लिये मूलमें 'भवति' 'भवन्ति' 'सम्भवः' 'समुद्भवः' इन शब्दोंका प्रयोग किया गया है) उसका औरोंकी भांति प्रचलित अर्थ न लेकर व्यापक अर्थ लिया है, क्योंकि उनके प्रधान वृत्तिकार (श्रीवेदान्तदेशिक) यह कहते हैं कि चक्रकी कल्पनाका उत्पत्तिके साथ कोई आवश्यक सम्बन्ध है, यह मानना भ्रान्तिमूलक है (न चवश्यमुत्पत्त्यपेक्षा चक्रत्वहेतुः) किन्तु रामानुजाचार्य मध्वाचार्यसे भी और आगे बढ़ जाते हैं। वे कहते हैं कि—

(क) ब्रह्मका अर्थ है मूल प्रकृति (उदाहरणतः भगवद्गीताके 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' इत्यादि श्लोक (१४, ३) में तथा मुण्डकोपनिषद् (१, १, ६) में इस शब्दका इस

अर्थमें प्रयोग किया गया है) और इस प्रकार इसका अर्थ प्रकृतिका एक विकार अर्थात् शरीर (प्रकृतिपरिणामरूप-शरीरम्) भी हो सकता है, जैसा इस श्लोकमें लिया गया है।

(ख) अक्षरका अर्थ जीवात्मा है, अन्यत्र (देखिये भगवद्गीताका 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इत्यादि और श्लोक १५। १६, श्वेताश्वतरोपनिषद् १, १०) भी इस शब्दका इसी अर्थमें प्रयोग किया गया है।

(ग) ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' का अर्थ (यह नहीं है कि शरीरकी उत्पत्ति आत्मासे होती है अपितु) यह है कि आत्माका (द्रष्टारूपसे) सम्बन्ध होनेपर ही शरीर कर्म-साधन बनता है।

(घ) न केवल शरीर ही अपितु सजीव शरीरकी स्थिति अन्नपर निर्भर होती है-अन्नाद्भवन्ति भूतानि (श्लो० १४)—और इस लिये—

(ङ) १५ वें श्लोकमें दो नूतन तत्त्वोंका समावेश नहीं किया गया है, किन्तु जिन भूतोंका १४ वें श्लोकमें उल्लेख किया गया है, उन्हींको एक बार फिर उनकी द्विरूपता (शरीर और जीवरूपसे) की दृष्टिसे दोहराया गया है।

अब १५ वें श्लोकके दूसरे चरणको लीजिये। यहां 'सर्वगतं ब्रह्म' और 'नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' इन दो वचनोंमें ही आकर अड़चन पड़ती है।

प्रायः सभी टीकाकारोंने 'सर्वगतं ब्रह्म' का सन्धान 'ब्रह्म' पदके साथ किया है, जिसका पहले श्लोकार्द्धमें दो जगह प्रयोग हुआ है। यह मत मीमांसाके इस नियमके (वेदो वा प्रायदर्शनात् मी० सू० ३, ३, २, जिसे धनपति-ने श्रीधरके मतका खण्डन करनेके लिये उद्धृत किया है) अनुकूल है कि किसी सन्दिग्धार्थ पदका अर्थ वही समझना चाहिये, जिस अर्थमें उसका अन्यत्र वैसे ही प्रसङ्गमें असन्दिग्ध रूपसे प्रयोग हुआ हो। वेद सर्वगत कैसे हो सकते हैं, इसका उत्तर यह है कि उन्हें सर्वार्थप्रकाशक कहा गया है और आचार्य रामानुजके लिये इस प्रसङ्गमें जो बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित होती है, उसे वे निर्भीकतापूर्वक यह कहकर दूर कर देते हैं कि १५ वें श्लोकके उत्तरार्द्धमें जो 'सर्वगतं ब्रह्म' शब्द हैं उनका अर्थ है प्रत्येक ऐसे पुरुषका शरीर जो (यज्ञका) अधिकारी हो (सर्वाधिकारि गतं शरीरम्)।

श्रीधर, (यद्यपि अन्यान्य बातोंमें, उनका मत शङ्कराचार्यके मतसे मिलता है) यह कहते हैं कि 'सर्वगतं ब्रह्म' इन शब्दोंका विशेष पूर्वार्द्धके 'अक्षर' के लिये हो सकता है अथवा जैसा श्रीशङ्कराचार्यने कहा है, ब्रह्म अर्थात् वेदके लिये हो सकता है।

काश्मीरके दार्शनिक रामकण्ठ, (जो ईस्वी सन्‌की दसवीं शताब्दीमें हुए हैं) कहते हैं कि पूर्वार्द्धमें प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है अपर ब्रह्म यानी शास्त्ररूप शब्द-ब्रह्म और 'अक्षर' एवं उत्तरार्द्धके 'सर्वगतं ब्रह्म' का अर्थ है परब्रह्म।

शङ्कराचार्य और उनके अनुयायियोंके मतके अनुसार 'नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' का अर्थ यह है कि इस (वेद) के अन्दर मुख्यरूपसे यज्ञोंका एवं उनके अनुष्ठानकी विधिका निरूपण है (यह तो एक ऐसी बात है जिसके विषयमें किसीको सन्देह ही नहीं हो सकता है, आचार्य रामानुजके अनुसार इसका अर्थ यह है कि इस (शरीर) की जड़ यज्ञ है (यज्ञमूलम्) अर्थात् यज्ञसे ही इसकी उत्पत्ति होती है। श्रीधर स्वामीके अनुसार इसका अर्थ यह है कि इस (परब्रह्म) की 'प्राप्ति' यज्ञके द्वारा होती है और मध्वने भी ठीक यही अर्थ लिया है कि 'यज्ञके ही द्वारा उसकी (हमें) अभिव्यक्ति होती है।'

पाश्चात्य विद्वानोंमेंसे प्रायः किसीने भी इस प्रश्नके हल करनेमें कोई सहायता नहीं दी है। जहां तक मैं जानता हूं, उनमेंसे किसीने भी चक्रकी व्याख्या करनेकी चेष्टा नहीं की। श्लीगल (Schlegel) ने 'ब्रह्म' और 'अक्षर' का अर्थ किया है व्यक्त एवं अव्यक्त ईश्वर और इस प्रकार उनकी व्याख्या रामकण्ठ और श्रीधरकी व्याख्यासे मिलती जुलती सी है। जेकोबी (Jacobi) और गर्बे (Garbe) ने रामानुजके भावका अनुसरण करते हुए 'ब्रह्म' का अर्थ 'महद् ब्रह्म' अथवा प्रकृति लिया है, जैसा भग० गी० १४, ३ में लिया गया है और डाइसन (Deussen) ने अन्यान्य बातोंकी तरह इस बातमें भी शङ्कराचार्यके मतका अनुसरण किया है।

अब हमें भारतवर्षके भिन्न भिन्न टीकाकारोंके मतोंकी, जिनके सम्बन्धमें हम जान गये हैं, समीक्षा करना है। प्रारम्भमें आचार्य रामानुजकी प्रशंसामें दो एक शब्द लिखना उचित प्रतीत होता है। भाष्यकारों तथा टीकाकारोंमें वे ही एक ऐसे हैं, जिन्होंने गीताके इन श्लोकोंकी गीता तथा जिन जिन उपनिषदोंका उसमें उल्लेख किया गया है, उनके अनुसार व्याख्या करनेकी चेष्टा की है। इसी आधार-

पर गीताके सम्बन्धमें खोज शुरू करनी चाहिये, ताकि यदि आवश्यक हो तो आगे चलकर महाभारत, धर्मशास्त्र एवं पुराणोंके अधिक विस्तृत ग्रन्थोंमें प्रवेश किया जा सके। परन्तु मेरी समझमें रामानुजके भाष्यमें यश नहीं बढ़ा था। 'ब्रह्म' और 'अक्षर' की जो व्याख्या उन्होंने की है वह एक ऐसा साहसपूर्ण कार्य था, जो युक्तियुक्त समालोचनाकी कसौटी-पर ठीक नहीं उतर सकता। मैं यह भी नहीं मानता कि मध्व और वेङ्कटनाथ इस बातको सिद्ध कर सके हैं कि १५ वां श्लोक वास्तवमें चक्रकी पूर्तिके लिये है अथवा यह कि नीलकण्ठका ब्रह्मको भी उसके अन्दर मानना ठीक है। यह बात माननेमें नहीं आती कि जिस चक्रका धर्मशास्त्रोंमें वर्णन है और जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, गीतामें उससे भिन्न चक्रका वर्णन हो। परन्तु मेरी बुद्धिके अनुसार तो शङ्कराचार्य सत्यके निकट पहुँचे हैं, मेरी समझमें रामकण्ठ और श्रीधरने (जिनमेंसे श्रीधर रामकण्ठकी अपेक्षा अर्वाचीन हैं) गीताके रचयिताके सिद्धान्तको ठीक तरहसे समझाया है। किन्तु यद्यपि मैं इस बातको भलीभांति जानता हूं कि वेदोंके, मनुके एवं पुराणोंके कुछ वाक्योंमें 'ब्रह्म' शब्दका वेदके अर्थमें प्रयोग हुआ है, मैं इस बातको माने बिना नहीं रह सकता कि प्रस्तुत श्लोकोंमें ब्रह्मका अर्थ केवल वेद नहीं किन्तु वेदोंको लिये हुए 'ब्रह्मदेव' हैं। पन्द्रहवें श्लोकके उद्देश्यके सम्बन्धमें मैं मधुसूदन सरस्वती प्रभृति विद्वानोंसे सहमत हूं, जिन्होंने यह माना है कि यज्ञचक्रके उदात्त मूलकी ओर एक बार फिरसे ध्यान दिलानेके लिये प्रसङ्गसे बाहर होनेपर भी इसका सन्निवेश किया गया है।

गीतामें उत्कृष्ट त्याग

त्याग मनुष्यका अनन्त कर्तव्य है। जिनके साथ हमारा रक्त-सम्बन्ध है, अब तक हम उन्हींके लिये त्याग करते आये हैं। किन्तु अब हमें इससे अधिक एवं उत्कृष्ट कोटिके त्यागकी आवश्यकता है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें जो कुछ उपदेश दिया है, यदि हम उसे अपना पथ-प्रदर्शक मानते तो ऐसा त्याग हो गया होता। श्रीमद्भगवद्-गीता वर्तमान समयमें शिक्षित भारतीय समुदायके लिये सर्वथा उपयुक्त ग्रन्थ है। फलकी कामनासे रहित होकर कर्तव्यका कर्तव्यकी दृष्टिसे पालन करना ही गीताकी शिक्षा है। —जस्टिस पी० आर० सुन्दरम् अय्यर

गीताका मनुष्य-समाजमें इतना आदर क्यों है?

[लेखक—श्रीऑटो श्रैस, प्रोफेसर, ब्रेसलाऊ युनिवरसिटी, जर्मनी]

भगवद्गीताके अतिरिक्त ऐसा कोई दूसरा भारतीय ग्रन्थ नहीं है जिसकी भारतवर्षमें एवं अन्यान्य देशोंमें दूर दूरतक इतनी प्रसिद्धि हुई हो और जिसको ईश्वरीय संगीत मान कर हिन्दुस्तानमें सभी लोग इतना प्रेम करते हों। उसकी इस अनुपम लोकप्रियताका कारण क्या है? संस्कृत भाषामें और भी अनेक काव्य ग्रन्थ हैं जो काव्यकी दृष्टिसे गीताकी अपेक्षा बढ़े हुए हैं, जो अलङ्कार-शास्त्रके अलङ्कारोंसे अधिक देदीप्यमान हैं, जो पढ़नेमें अधिक श्रुतिमनोहर जान पड़ते हैं और जिनमें छन्दोंकी अधिक विचित्रता है। यही बात गीताके अन्यान्य विषयोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। गीताके अतिरिक्त ऐसे अनेक धार्मिक ग्रन्थ हैं, जिनमें ईश्वरसम्बन्धी सिद्धान्तोंका अधिक विस्तारसे निदर्शन किया गया है। साङ्ख्य, योग और वेदान्तका प्रतिपादन करनेवाले अनेक अध्यात्मसम्बन्धी सिद्धान्त-ग्रन्थ हैं, जिनमें अपने अपने विषयका गीताकी अपेक्षा अच्छे ढंगसे एवं विस्तृतरूपसे विवेचन किया गया है। इस बातको तो सभी स्वीकार करेंगे कि एक क्षत्रियको अपने धर्मके सम्बन्धमें जो कुछ जानना चाहिये, वह अन्य पुस्तकोंमे गीताकी अपेक्षा और भी कहीं अच्छे ढंगसे जाना जा सकता है।

परन्तु ये प्रश्न देखनेमें ही जटिल जान पड़ते हैं, क्योंकि इनके सामने रखते ही हमने इनका समाधान भी सोच लिया है। उन सारी पुस्तकोंमें,—जिनका हमने ऊपर संकेत किया है,—वास्तवमें गीताके प्रतिपाद्य विषयोंका गीताकी अपेक्षा अधिक विस्तृतरूपसे विवेचन किया गया है, किन्तु उन सबका प्रतिपादन एकदेशीय है और गीताका प्रतिपादन सर्वदेशीय है। उसके सात सौ श्लोकोंमें बहुत बड़े विषयका समावेश हुआ है। यही नहीं, किन्तु उसके अन्दर कई ऐसे सिद्धान्तोंका समन्वय किया गया है, जो एक विशेषज्ञकी दृष्टिमें परस्पर विरोधी हैं। सामञ्जस्यकी ओर इस प्रकारका झुकाव,—चाहे बौद्धिक युक्तिके कारण हो या स्वाभाविक प्रवृत्तिके कारण हो, भारतीयोंका एक विशेष गुण जान पड़ता

स्व० प्रो० लेओपोल्ड फ़ान श्रेडर।

Prof. Leopold Von Schroeder

विल्हेल्म फ़ान हुम्बोल्ट।

Wilhelm Von Humboldt

प्रो० आटो स्ट्रौस, विश्वविद्यालय, ब्रेसलाऊ।

Prof. Otto Strauss.

प्रो० हेर्मन्न यकोबी, बान्न, जर्मनी।

Prof. Hermann Jacobi, University of Bonn.

श्रीएमरसन ।

Amerson.

स्व० प्रो० पौल डायसन, विश्वविद्यालय, कील, जर्मनी।

Prof. Paul Deussen, Kiel

प्रो० औगुस्ट विल्हेल्म फ़ान श्लेगल ।

Prof. August Wilhelm Von Schlegel.

स्व० प्रो० रिचार्ड फ़ान गार्बे ।

Prof. Richard Von Garbe

है। वेदान्तसूत्रमें भी,-जिसका निर्माण गीताके कुछ काल अनन्तर हुआ,-यही बात पायी जाती है। उसमें भी वेदान्तके उन भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंकी एकवाक्यता करनेकी चेष्टा की गयी है जिनका परस्पर विरोध होनेके कारण बौद्धों-की ओरसे उस समय हिन्दू-धर्मपर कौशल-पूर्ण आक्षेप हो रहे थे, जिनसे हिन्दू-धर्मकी एकतापर आघात पहुंचनेका भय था। भगवान् बादरायणने अपने सूत्रोंमें जो सन्दिग्ध भाषाका प्रयोग किया है,जिससे उन्हें गुरुमुखके बिना पढ़नेवाले-को बड़ी कठिनता होती है,इसका कमसे कम एक कारण तो यही प्रतीत होता है। श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, एवं अन्य आचार्योंके विद्वत्तापूर्ण भाष्योंके पढ़नेसे यह बात भली-भाँति प्रकट हो जाती है कि सूत्रोंकी रचना इस ढङ्गसे ही की गयी है जिससे उनके कई अर्थ किये जा सकें। गीता और वेदान्तसूत्रमें वैसे तो बहुत बड़ा पार्थक्य है, किन्तु सामञ्जस्यकी ओर इस प्रकारका झुकाव दोनोंमें समान है। आगे चलकर गीता,उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र ये तीनों ही वेदान्तियों द्वारा वेदान्तके प्रस्थानत्रय माने जाने लगे, इसका एक कारण गीता और ब्रह्मसूत्रकी यह समानता ही है। श्रीशङ्कराचार्यने भी अपने भाष्यमें व्यावहारिक एवं पारमार्थिक इस प्रकार द्विविध निरूपण करके मूलतः दो भिन्न सिद्धान्तोंका सामाञ्जस्य करनेकी चेष्टा ही नहीं की, अपितु वे उसमें सफल भी खूब हुए हैं।

गीतामें दो द्वन्द्वोंका सामञ्जस्य करनेकी चेष्टा की गयी है, एक द्वन्द्वमें तो मुक्तिके मार्गका निरूपण किया गया है और दूसरे द्वन्द्वमें दो कर्तव्योंके विरोधके सम्बन्धमें विचार किया गया है।

प्राचीन उपनिषदोंने ज्ञानमार्गका पता लगाया था, यह बात भलीभाँति विदित है। ब्रह्मका पता लग जानेपर एवं उसके स्वरूपके विषयमें सहज ज्ञान हो जाने पर उपनिषदोंके ऋषि ऐसे मार्गकी खोज करने लगे जिससे ब्राह्मण-ग्रन्थोंद्वारा प्रतिपादित कर्ममार्गकी अपेक्षा अधिक सुगमतापूर्वक ब्रह्मप्राप्ति हो सके। इसके लिये श्रवणजन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं होती, यद्यपि श्रवणसे उसके निकट पहुँचनेमें सहायता अवश्य मिलती है। अपेक्षा होती है, एक अनिर्वचनीय आध्यात्मिक तथ्यके आन्तरिक अनुभव की। प्रथम तो अवश्य ही बहुतसे लोगोंके लिये कठिन होता है। फिर इस प्रकारका अपरोक्ष ज्ञान तो और भी कठिन है। गीताके रचयिता यद्यपि इस प्राचीन एवं प्रशस्त मार्गको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं तब भी उन्हें हठात् एक दूसरा मार्ग बतलाना पड़ा, जिसे वे स्वयं ज्ञानमार्गकी अपेक्षा अधिक सुगम कहते हैं और जो बहुसंख्यक लोगों-की अल्प बुद्धिके अधिक अनुकूल है। वह मार्ग है भक्ति अर्थात् साकार ईश्वरके प्रति प्रेम। श्रीयुत रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकरकी गवेषणाओंसे हमें पता लगता है कि ईसामसीहसे दो सौ वर्ष पूर्व भारतके पश्चिमीय प्रदेशमें इस मार्गका प्रचार था। परन्तु भक्तिमार्गका जो नया स्वरूप गीतामें बतलाया गया है उसका उद्देश्य ज्ञानमार्ग-को नीचा बतलाना नहीं है। गीताकारका उद्देश्य तो मुक्ति-के इन दोनों मार्गोंका एकीकरण या समन्वय है।

इस प्रकार मुक्तिके पुराने और नये मार्गका सामञ्जस्य करनेके अतिरिक्त एक महान् नैतिक प्रश्नको भी हल करना था। ज्ञानमार्गका पता लगनेपर कर्ममार्गके प्रति लोगों-का आदर नहीं रहा, किन्तु इसके लिये केवल यज्ञ आदि कर्मकाण्डकी क्रियाओंका त्याग ही नहीं परन्तु क्रियामात्र-का त्याग आवश्यक समझा गया। सारे कर्म संसारसे बाँध देते हैं, इसलिये ज्ञानीको सब कर्मोंसे अलग रहना चाहिये। निवृत्तिका प्राचीन आदर्श यही है। परन्तु इस-पर धार्मिक लोगोंमें विवाद उपस्थित हो गया। प्रत्येक मुमुक्षु विशुद्ध ज्ञानमय तपस्वी-जीवनमें नहीं रह सकता। समाजका आग्रह था कि मनुष्य उस धर्मका पालन करे, जिसका पालन उसके माता-पिता करते आये हों और मनुष्यको स्वभावतः यह जाननेकी इच्छा हुई कि समाजमें रहकर हम अपने कर्तव्यका किस प्रकार पालन करें और ऐसा करनेपर भी हम अनादि संसारके बन्धनरूप दण्ड-के भागी न बनें। गीतामें दिव्य सारथिने पाण्डुपुत्र अर्जुन-को उपदेश देते हुए इस प्रश्नका इस प्रकार उत्तर दिया है।

'तुम्हें केवल कर्म करनेसे मतलब है, न कि फलसे। कर्मके फलको कर्मका हेतु न बनाओ। पर अकर्मण्यतामें आसक्ति न रक्खो।' (२। ४७)

इस प्रकार जो प्रवृत्ति फलासक्तिसे रहित होती है और जिसमें स्वधर्मकी ओर लक्ष्य एवं भक्तवत्सल भगवान्की ओर दृष्टि रहती है उसका दर्जा निवृत्तिके बराबर है, जो अकर्मण्यताका प्राचीन सिद्धान्त है।

यही गीताका सामञ्जस्य है। इसमें ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्ग, निवृत्ति और प्रवृत्तिको बराबरका दर्जा दिया गया है; वह ज्ञानी पुरुष जो केवल ज्ञानके ही लिये शरीर धारण करता है और वह मनुष्य जो संसारमें रहकर अपना धर्म

मिमाता है, दोनोंके ही लिये गीतामें स्थान है। ब्रह्मज्ञान और भगवद्भक्तिमें भी बराबरका सम्बन्ध है क्योंकि ईश्वर ही ब्रह्म है। उस परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें केवल प्रस्थानका भेद है।

इन दो महान् समन्वयोंके अतिरिक्त गीतामें कई और छोटे समन्वय भी दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणतः उसमें योगका स्वरूप अधिक व्यापक कर दिया गया है। योग केवल उस शास्त्रका ही नाम नहीं है, जिसमें समाधि और मुक्तिका उपदेश किया गया है। भक्तवत्सल भगवान्ने स्वधर्मरूपसे जो कर्म नियत कर दिये हैं, उनमें यत्नपूर्वक परायण होना भी योग है। साङ्ख्य केवल एक दर्शन-विशेषका नाम ही नहीं है, किन्तु जगत्के पदार्थोंके सामान्य विमर्शको भी सांख्य कहा गया है। इसी प्रकार सांख्य और वेदान्तका समन्वय भी किसी क्लिष्ट कल्पनाके द्वारा नहीं किया गया है, अपितु उस स्वाभाविक समानताके आधारपर किया गया है जो इन दोनों दर्शनोंके सिद्धान्तोंमें प्रारम्भसे अर्थात् प्राचीन उपनिषदोंके समयसे ही चली आयी है।

इस प्रकार हमें उस प्रश्नका उत्तर मिल जाता है जो हमने इस छोटेसे निबन्धके शीर्षकरूपमें रक्खा है। गीताका मानव-समाजमें इतना आदर इसीलिये है कि इसने महान् आध्यात्मिक विरोधोंका अथवा भारतीय दर्शनशास्त्र और कर्तव्यशास्त्रके विरोधी सिद्धान्तोंका सामञ्जस्य कर उन्हें एक ही महान् स्वरूपमें परिणत कर दिया है। यही नहीं, इसमें कर्मीको यह विश्वास दिलाया गया है कि उसे भी भगवत्-प्रेम और धर्म-पालनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है। इसके अतिरिक्त इसने सुबोध काव्यमयी भाषाका प्रयोग करके बुद्धिकी उपेक्षा न करते हुए हृदयको समझानेकी चेष्टा की है।

अपने प्रभुसे

मैं पतित हूँ, इसमें क्या सन्देह है,
पर, पतित-पावन तुम्हारा भी है नाम !
हूँ फँसा भवके भँवर में जरूर,
पर विधाता आपही इसके न क्या ?

सैकड़ों तुमने उतारे पार हैं,
क्या कहा 'वे भक्त थे, सत्पुत्र थे ?
शुल्क लेकर पार करनेमें प्रभो !
क्या न निज लघुता अहो ! तुम लख रहे ?

पापसे पूरित कलेवर है मेरा,
पर, पिता ! फिर भी तुम्हारा पुत्र हूँ।
'विश्वके मल्लाहका सुत डूबता'
क्या न यह सुन तुम लजाओगे ? कहो !

हे पिता ! निज भक्तिका प्याला पिला,
शीघ्र पद-रज माथ धरने दीजिये !
अब्धिमें मिलती हुई इस बूंदको,
अब्धिमय हो, नाद करने दीजिये !!

कन्हैयालाल मिश्र "प्रभाकर"

ऋद्धि-सिद्धि पायेंगे

गीताका प्रचार आप देशमें करेंगे यदि,
उन्नति-शिखर पै अवश्य चढ़ जायेंगे।
गीताकी सुशिक्षा यदि मानेंगे न आप तो,
स्वराज्यकी चलावे कौन भिक्षा भी न पायेंगे।

गीता हिन्दुओंकी संस्कृतिकी पूर्ण द्योतक है,
गीताको भुलायेंगे तो गीता आप खायेंगे।
गीताके सिवा कहीं न आपको मिलेगी शान्ति,
गीतासे ही "विष्णुकवि" ऋद्धि-सिद्धि पायेंगे।

—गंगाविष्णु पाण्डेय विद्याभूषण 'विष्णु'

गीता मार्गदर्शक है

भगवान् कृष्णके प्रसाद, श्रीमद्भगवद्गीताका प्रत्येक गृहमें रहना अत्यन्त आवश्यक है। सभी स्त्री-पुरुषोंको इसका अध्ययन कर इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंके अनुकूल कर्म करनेका प्रयास करना चाहिये। हमें अपने बच्चोंको प्रारम्भसे ही गीताका पाठ पढ़ाना चाहिये। अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिये गीताके अतिरिक्त किसी दूसरे शिक्षक या मार्गप्रदर्शककी आवश्यकता नहीं है।

—टी. सी. केशवालु पिले बी० ए०, बी० एल०

आसुरी सम्पत्तिके लक्षण

(अध्याय १६ श्लोक ७ से २१ तक)

(१) किस कामको करना चाहिये, किसको छोड़ना चाहिये, इस बातका विवेक न रहना
(२) बाहर और भीतरसे अपवित्र रहना।
(३) असदाचारी होना।
(४) असत्य भाषण करना।
(५) जगत्‌को आधाररहित, (स्वार्थके लिये) सर्वथा मिथ्या, ईश्वरहीन और स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न मानना।
(६) जगत् केवल विषय भोगनेके लिये ही है, ऐसा समझना।
(७) मिथ्याज्ञानसे आत्मभावको भूल जाना।
(८) बुद्धिका मन्द होना।
(९) सबका बुरा करना।
(१०) क्रूर कर्म करना।
(११) बगुला-भक्ति या दंभ करना।
(१२) अपनेको माननीय समझना।
(१३) घमण्डमें चूर रहना।
(१४) कामनाओंसे घिरे रहना।
(१५) अनीश्वरीय सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्ट आचरण करना।
(१६) मरण कालतक रहनेवाली अनन्त चिन्ताओंसे जलते रहना।
(१७) 'खाओ पीओ मौज करो' में ही आनन्द-की इतिश्री मानना।
(१८) सैकड़ों प्रकारकी भोग-आशाओंकी फांसियोंसे बँधे रहना।
(१९) काम-क्रोधको ही जीवनका सहारा समझना
(२०) मौज शौकके लिये अन्यायसे धन इकट्ठा करना।
(२१) सदा इसी विचारमें रहना कि आज यह पैदा किया है, बाकीकी इच्छाएं भविष्यमें पूरी करूंगा। इतना धन तो मेरे पास है ही, फिर और भी हो जायगा।
(२२) वैरभावसे प्रेरित होकर दूसरोंकी हिंसा करना और यह समझना कि अमुक शत्रुको तो मार ही डाला, शेषको भी मार डालूंगा।
(२३) अपनेको ही सबका स्वामी समझना।
(२४) अपनेको ही ऐश्वर्योंका भोग करनेवाला मानना।
(२५) अपनेमें ही सिद्धियोंका मानना।
(२६) शारीरिक बलसे ही अपनेको बलवान् मानना
(२७) सांसारिक भोगोंसे ही अपनेको सुखी समझना
(२८) अपनेको बड़ा धनी समझना।
(२९) बड़े कुटुम्बका घमण्ड करना।
(३०) अपने समान किसीको न समझना।
(३१) अभिमानसे यह कहना कि मैं यज्ञ करूंगा, दान दूगा, मेरी बड़ी कीर्ति होगी, जिसको सुनकर मैं बहुत खुशी होऊंगा।
(३२) चित्तका अत्यन्त चञ्चल रहना।
(३३) मोहजालसे बुद्धिका ढका रहना।
(३४) भोगोंमें अत्यन्त आसक्त रहना।
(३५) अपनेको ही सबसे श्रेष्ठ समझना।
(३६) मुंह फुलाये रखना।
(३७) धन और मानके नशेमें चूर रहना।
(३८) शास्त्रविधिको छोड़कर दम्भसे केवल नाम-मात्रके लिये यज्ञ करना।
(३९) 'मैं'पनका अहङ्कार, शारीरिक बल, धन, मान, पुत्र, जाति, वर्ण, रूप, यौवन, देश, विद्या आदिके घमण्ड, करना काम क्रोधको ही जीवनका अवलम्बन मानना।
(४०) दूसरोंकी निन्दा करना।
(४१) सबमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करना (इनमें मुख्य काम, क्रोध, लोभ हैं इस सम्पत्तिका फल बन्धन, बारम्बार नीच-योनि और परम नीच गतिको प्राप्त होना है)

दैवी सम्पत्तिके गुण

(अध्याय १६ श्लोक १ से ३ तक)

(१) किसी भी अवस्थामें किसी प्रकारका भय न होना।
(२) अन्तःकरणका भलीभांति शुद्ध हो जाना।
(३) परमात्माके स्वरूपज्ञान-रूप योगमें निरन्तर स्थित रहना।
(४) देश-काल-पात्र देखकर सात्त्विक दान करना
(५) इन्द्रियोंका दमन करना।
(६) यथाधिकार अनेक प्रकारके यज्ञ करना।
(७) ईश्वर और ऋषिप्रणीत आध्यात्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन और भगवन्नाम-गुणका कीर्तन करना।
(८) स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना।
(९) शरीर, मन और इन्द्रियोंका सरल रहना।
(१०) मन-वाणी-शरीरसे किसी प्रकार भी किसीकी हिंसा न करना।
(११) सत्य भाषण, जैसा समझा और जाना हो, वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कह देना।
(१२) अपना बुरा करनेवालेपर भी क्रोध न होना।
(१३) कर्तापनके अभिमानका त्याग करना।
(१४) चित्तकी चञ्चलताका मिट जाना।
(१५) किसीकी निन्दा या चुगली न करना।
(१६) सभी प्राणियोंमें अहैतुकी दया करना।
(१७) इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी विषयोंमें आसक्तिका न होना।
(१८) मन-वाणीका कोमल हो जाना।
(१९) ईश्वरको सर्वथा सामने समझकर उनकी इच्छाके विरुद्ध कार्य करनेमें लजाना।
(२०) मन-वाणी-शरीरसे व्यर्थ चेष्टाएँ न करना।
(२१) तेजस्विताका विकास होना।
(२२) अपना घोर अनिष्ट करनेवालेके लिये, उसका अपराध क्षमा करनेके निमित्त ईश्वरसे प्रार्थना करना।
(२३) किसी भी अवस्थामें धैर्य न छोड़ना।
(२४) बाहर भीतरसे शुद्ध रहना।
(२५) किसीके प्रति भी शत्रुभाव न रखना।
(२६) अपनेमें किसी तरहके बड़प्पनका अभिमान न होना।

(इनका फल मुक्ति या भगवत्-प्राप्ति है)

स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण

(अध्याय २ श्लोक ५५ से ७१ तक)

(१) जो मनमें रहनेवाली सभी कामनाओंका त्याग कर देता है।
(२) जो आत्मासे ही आत्मामें सन्तुष्ट है।
(३) जो दुःखोंसे घबराता नहीं।
(४) जो सुखोंकी इच्छा नहीं रखता।
(५) जो आसक्ति, भय और क्रोधसे मुक्त है;
(६) जो सर्वत्र ममतायुक्त स्नेहसे रहित है।
(७) जो शुभ वस्तुको पाकर हर्षसे फूल नहीं जाता
(८) जो अशुभ वस्तुकी प्राप्तिसे द्वेष नहीं करता।
(९) जो इन्द्रियोंको कछुएकी भांति सभी विषयोंसे हटाकर अन्तर्मुखी रखता है।
(१०) जो मन, इन्द्रियोंको वशमें रखकर भगवान्के परायण रहता है।
(११) जो मन, इन्द्रियोंको नियन्त्रित करके रागद्वेष-रहित हो इन्द्रियोंसे विषयोंका शास्त्रानुकूल आसक्तिरहित सेवन करता है।
(१२) जो निर्मल और प्रसन्नचित्त रहता है।
(१३) जो नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्दमें निरन्तर जाग्रत् रहता है और नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुखोंमें सोता रहता है। अर्थात् आत्मस्वरूपमें स्थित और भोगोंसे उदासीन रहता है।
(१४) जो भोगोंसे विचलित न होकर समुद्रकी तरह स्व-स्वरूपमें अचल स्थिर रहता है।
(१५) जो कामना, ममता, अहंकार और स्पृहाका त्याग कर देता है।

गीताका बुद्धिवाद

(लेखक—बाबू भगवानदासजी, एम०ए०, डी०लिट्, काशी)

परमात्माका प्रत्यक्ष रूप चेतन है। चेतनमें जड़ अन्तर्गत है, द्रष्टामें दृश्य और विषयीमें विषय। 'अचैतन्यं न विद्यते'। द्रष्टा-दृश्य, पुरुष-प्रकृति, सदा एक दूसरेसे मिले हैं। जहां दृश्यता अधिक है उसको वैशेष्यात् जड़ कहते हैं। जहां द्रष्टृत्व अधिक है उसको जीव। तो सभी जीव परमात्माके अंश अथवा अवतार कहे जा सकते हैं,—हैं ही। पर फिर भी वैशेष्यात् जिन जीवोंमें सात्त्विक शक्तियां असाधारण अलौकिक मात्रामें देख पड़ती हैं, उनको विशेषतः अवतार कहते हैं। पुराणोंसे यह भी जान पड़ता है कि अत्युत्कृष्ट शक्तिशाली 'मुक्त' जीव सूर्यलोकमें वास करते हैं, और वहांसे इस पृथ्वीपर तथा इस सौर सम्प्रदायके अन्य ग्रहों और स्थानोंपर, आवश्यकतानुसार, 'उतरा' करते हैं, अवतार लेते रहते हैं।

> यमस्य दूताश्च तथैव पार्षदा
>
> नारायणस्याथ गणाः शिवस्य।
>
> सूर्यस्य रश्मीनवलम्ब्य सर्वे
>
> जीवान् नियच्छन् (=न्त.) विचरंति सर्वदा॥ **इत्यादि।**

'सर्वप्रवह्लिकानामाश्रयः सूर्यः।' (**निरुक्त**)

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।' (**उपनिषद्**)

'आश्चर्याणामसंख्यानामाश्रयो भगवान् रविः।'

'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेस्तथा॥'

'सर्वेषामवताराणां निधानं बीजमव्ययम्॥' **इत्यादि**

भविष्यपुराणमें बहुतसे उदाहरण दिये हैं।

आवश्यकतानुसार कहा! आवश्यकता क्या? गीताका श्लोक प्रसिद्ध है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
>
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
>
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
>
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

दुर्गा सप्तशतीमें भी ऐसा ही श्लोक है—

> इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
>
> तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

दुष्टनिग्रह, शिष्टानुग्रह, सर्वसंग्रह, धर्मका पुनः पुनः संस्थापन—यही आवश्यकता है। पर यह तो राष्ट्रमात्र, राजामात्रका कर्तव्य है।

> निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च।

इत्यादि मनुने राजधर्माध्यायमें कहा है।

तो विशेष क्या? विशेष यह कि जब राजा स्वयं दुष्ट हो जाय,—जैसे रावण, दुर्योधन, कार्तवीर्य, हिरण्यकशिपु, अथवा दुर्बल, यत्किंचित्कर, ज्ञानहीन, जैसे बुद्धदेवके समयमें हुए, तब विशेष अवतारोंका प्रयोजन होता है।

अवतारोंकी कई काष्ठा होती है। आवेश, कलावतार, अंशावतार इत्यादि। पूर्णावतार शब्दका भी प्रयोग किया जाता है, पर यह भक्त्युद्रेकहीसे। अनन्त परमात्माका एक मुठीभर अति परिमित हाड़-मांसमें पूर्णावतार कैसे हो सकता है? अथवा एक अर्थयोजना यों की जाय। चित्तके, जीवके तीन मुख्य गुण वा धर्म—ज्ञान, इच्छा, क्रिया अथवा सत्त्व, तमस् रजस् हैं। तदनुसार ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग है। सबका यथोचितरूपसे चलना ही धर्म है; वैषम्यसे अस्वास्थ्य, अधर्म है। यदि ज्ञानके अङ्गमें विशेष त्रुटि हो तो ज्ञानशोधक ज्ञानप्रवर्त्तक अवतार होते हैं। यदि भक्तिमें, तो भक्तिवर्धक। और कर्ममें तो कर्मशोधक। श्रीकृष्णमें तीनों शक्तियोंका आविष्कार हुआ, इससे भी 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' ऐसा प्रवाद चल पड़ा। अन्यथा 'सितकृष्णकेशौ' इस पदसे बलराम और श्रीकृष्णका वर्णन भागवत महाभारत आदिमें किया है, अर्थात् आदित्यनारायण सूर्यभगवान् प्रत्यक्ष देवके दो बाल, दो किरण हैं एक सफेद एक काला। अंशके अंश।

एक और प्रकारसे भी श्रीकृष्णकी पूर्णावतारताका समाधान किया जा सकता है।

> सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
>
> वृक्षान्सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
>
> तैस्तैरतुष्टहृदयो मनुजं विधाय
>
> ब्रह्मावबोधधिषणं मुदमाप देवः॥

सृष्टिके क्रमिक विकासमें वृक्ष, सरीसृप, पशु, इत्यादिके शरीर परमात्माने अपने लिये, लाखों योनिमें बनाये। पर उनसे वह तुष्ट नहीं हुआ। अपनेको पहचानने योग्य धिषणा

अर्थात् बुद्धिवाले मनुष्य रूपको बना कर, अपने ऊपर ओढ़ कर देव परमात्मा तुष्ट हुआ। इसलिये, अर्थात् आत्मबोधयोग्य बुद्धि धारण करनेके लिये, नरशरीर उत्तम है, परमात्माका पूर्णावतार है। तत्रापि, श्रीकृष्णका शरीर जिसके लिये 'बिभ्रद्वपुः सकलसुंदरसन्निधानं' 'पुरुषसार' 'दिव्यविग्रह' 'त्रिभुवनकमनं' आदि शब्द कहे हैं और जिसमें आत्मज्ञान और आत्मोपदेशकी पराकाष्ठा देख पड़ती है। वह क्यों न पूर्णावतार कहा जाय? अस्तु।

अतिप्रवृद्ध, प्रजापीडक, भूभार-भूत, क्षत्रिय और राजारूपी दैत्योंका संहार, 'मिलिटरिज्म' का विनाश, आजन्म आमरण जो श्रीकृष्णने किया, यह भूभारावतारणरूपी अवतारकृत्य, कर्मशोधक, उनका प्रसिद्ध है। 'भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य" इत्यादि।

भक्तिका उद्बोधन भी प्रसिद्ध, किंवा अति प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण सब रसोंके आश्रय थे।

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः केशवः॥

इस भागवतके श्लोकपर श्रीधरकी टीका है—

रौद्रोद्भुतश्च शृंगारो हास्यो वीरं दया तथा।
भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः॥

सब रसोंके आश्रय थे। रौद्र, भयानक आदिके भी। फिर भक्त्युद्बोधन कैसा? तो परमात्मा, अथवा तत्स्थानी तज्ज्ञानी उत्कृष्ट ईश्वरभूत जीव, यदि क्रोध द्वेषादिका भी विषय हो। तब भी तारकही होता है। नारदने युधिष्ठिरसे कहा—

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद्वृष्णयो यूयं सख्याद्भक्त्या वयं विभो॥

श्रीकृष्णने स्वयं भी कहा है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥

किसी भी भावकी रस्सीसे अपने हृदयको ईश्वरसे बाँध दो। वह खींचकर ठिकाने पहुंचा देगा। इत्यादि। पर, हाँ, ईश्वरसे—उत्कृष्ट जीवसे बाँधो, अधमसे नहीं। ऊपर 'अति प्रसिद्ध' शब्द कहा, इसीलिये कि भक्तिके उत्तम भावकी हज़ारों वर्षसे बड़ी दुर्दशा की जा रही है। अन्धश्रद्धाका पोषण, और मूर्ख भक्तोंके वित्तका शोषण, भक्तिकी प्रशंसा करके, शठलोग बहुधा करते आये हैं।

बहवो गुरवो राजन् शिष्यवित्तापहारकाः।
विरला गुरवो राजन् शिष्यहृत्तापहारकाः॥

इसी अन्धश्रद्धाको हटानेके लिये और आत्मतन्त्र स्वतन्त्र बुद्धिको जगानेके लिये श्रीकृष्णने अपने जीवनका सर्वोत्कृष्ट कर्म गीताका उपदेश किया। नितरां, सुतरां, गीता बुद्धिवादका ग्रन्थ है। उसका मूलमन्त्र यही है।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ·········बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

बुद्धि क्या है? बुद्धि तो तामस भी है, राजस भी है, सात्त्विक भी है। सात्त्विक बुद्धिमें ही शरण लो। तामस, राजस बुद्धि तो दुर्बुद्धि, नष्टबुद्धि, नाशक बुद्धि हैं। सबके लक्षण गीतामें कहे हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

अर्थात् अध्यात्मशास्त्रको, वेद-वेदान्तको, और तदुपबृंहक इतिहास-पुराणको जाननेवाली, पूर्वापर-सम्बन्ध, कार्यकारण सम्बन्धको पहचाननेवाली बुद्धि। इसके विपरीत बुद्धियोंकी निन्दा भी गीतामें बहुशः की गयी है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

इत्यादि। इन श्लोकोंका व्याख्यान भागवतके एकादश स्कंधके पांचवें और इक्कीसवें आदि अध्यायोंमें किया गया है।

आदिसे अन्ततक गीतामें दो पदार्थोंपर ज़ोर दिया है। आत्मापर और बुद्धिपर। ये दो शब्द और इनके पर्याय शब्द एवं उनके सुबन्त रूप, यथा आत्मानं, आत्मना, आत्मनः, आत्मनि, अहं, माम्, मया, मत्, मम, मयि आदि, और धीः, प्रज्ञा, ज्ञानम्, आदि और इनसे समस्त अन्यपद, जितनी बार गीतामें आते हैं, उतनी बार और कोई शब्द नहीं आता है।

पर अति भक्ति, अतिश्रद्धा, अन्धश्रद्धा, श्रद्धाजड़ताकी यह दशा इस अभागे देशमें है कि गीताकी शिक्षाका तो अनुकरण होता नहीं, गीताकी पोथीको रेशमी बेठनमें लपेटकर उसीको माला फूल चन्दन रोली चावल चढ़ाये जाते हैं। जिन बुद्धदेवने यह सिखाया कि मूर्त्ति पूजनेसे आत्माको पूजना पहचानना अच्छा है, उन्हींकी इतनी करोड़ मूर्त्तियाँ बनाकर पूजी जाने लगीं कि ईरान, अरबसे हिन्दुस्तानपर चढ़ाई करनेवालोंने समझ लिया कि मूर्त्तिपदार्थका वाचक शब्द ही 'बुत' है। मैंने एक मौलवी दोस्तसे कोई चालीस वर्ष

हुए, सुना था, कि हिन्दुस्तानके एक सय्यद हज करके ख़ुश्कीके रास्ते इराक़ ईरान होते हुए अफ़गानिस्तान पहुंचे। एक उजड्ड गरोहके गांवमें पहुंचे, लोग घिर आये। पूछा आप कौन हैं, कहांसे आये हैं कहाँ जावंगे? इन्होंने बड़े शौक़ औक़से सारा हाल कहा। उन्होंने कहा बस, ऐसा पाक पवित्र आदमी कहां मिलता है, हम आपको यहीं गाड़कर आपके लिये बड़ा ख़ूबसूरत मक़बरा बना देंगे, और उस औलिया पीरकी तकियापर सब लोग चिराग़ जलायेंगे, चादर और माला चढ़ावेंगे। आप बहिश्तमें ख़ुदाके पास हम लोगोंकी सिफ़ारिश किया करना। सय्यद हाजी साहबने हरचन्द कहा कि मुझको अभी ख़ुदाके पास पहुंच कर गुनाहगारोंकी सिफ़ारिश करनेकी न ख़्वाहिश है न लियाक़त है। एक न सुनी गयी। बहुत इज़्ज़तसे उनका गला क़ुर्बानीके क़ायदोंके मुताबिक हलाल कर दिया गया, और मक़बरा बन गया। यही गति गीताकी हो रही है, सब शास्त्री लोगोंकी जिह्वापर गीताके एक श्लोकका आधा भाग नृत्य करता रहता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

पर शास्त्र किसको कहते हैं? तो संस्कृतकी जिस पोथीको मैं तुम्हारे आगे रख दूं उसीको। भला श्रीकृष्णने भी कहीं शास्त्रका अर्थ कहा है? इससे क्या मतलब?

पर जिनको मतलब है, उनको जानना समझना चाहिये कि शास्त्र शब्द गीतामें केवल चार बार आया है। तीन बार तो यहीं सोलहवें अध्यायके २३-२४ वें श्लोकोंमें और एक बार पन्द्रहवें अध्यायके २० वें श्लोकमें।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

शास्त्र क्या है? तो,

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।

अ०१७ श्लोक १ में भी शास्त्रविधि शब्द आता है, पर वह अर्जुनके प्रश्नमें है। उससे यहां अपनेको कोई विशेष उपयोग नहीं है। शास्त्र क्या है? यह जाननेके बाद भी तो शास्त्रके वचनका क्या अर्थ है, इस बातका निर्णय करनेको भी तो बुद्धि चाहिये।

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥'

निष्कर्ष यह है कि अध्यात्मशास्त्र ही गुह्यतम, श्रेष्ठशास्त्र है। उसीके आदेश उपदेशके अनुसार कर्तव्यका निर्णय करना और कार्य करना चाहिये। जिसका प्रत्यक्ष तात्कालिक उदाहरण भी स्वयं गीतारूपी अध्यात्म-शास्त्रका सार और तदनुसार अर्जुनके युद्धरूपी कृत्यका निर्णय और युद्ध है। 'मामनुस्मर युध्य च' माम्=आत्मानम्, अनुस्मर=बुद्धौ धारय, युध्य,=युध्यस्व, सर्वपापैः सह युद्धं कुरु। यही गीताका निष्कर्ष है।

अभिलाषा

जब मेरा नवजीवन हो प्रभु! एक विटप मैं बन जाऊँ,
जगकी सीमामें रहकर भी, एकाकी ही लहराऊँ।
नहीं चाहिये उपवन मुझको, जंगलमें ही बस जाऊँ,
असन वसनकी सारी चिन्ता अपनी विस्मृत हो जाऊँ।
एक प्राणसे, एक ध्यानसे, तुझको ही मैं नित ध्याऊँ,
सौ-सौ जिह्वासे पत्रोंकी, तेरे गीतोंको गाऊँ।
विजन-निवासी तापस-सा मैं कर्मयोगमें लग जाऊँ,
धूप, शीत, सब सहकर भी मैं जगको शीतल कर जाऊँ।
सभी सुमनके नव वसन्तमें जीवन सफल बना पाऊँ,
तो प्रभु! तेरी पूजामें मैं उसे समर्पित कर जाऊँ।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

गीतामें अवतारवाद

भगवद्गीता महाभारतका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश है।...यह एक नाट्य-पद्य-काव्य है और इसकी शैली कुछ कुछ प्लेटोके संवाद (Dialogue of Plato) से मिलती है। विष्णुके अवतार श्रीकृष्ण और महाभारतके चरित्रनायक वीर अर्जुनका संवाद इसका विषय है। भगवद्गीताका सर्वत्र ही महान् आदर है और हिन्दू-जातिके विचार तथा विज्ञानपर इसके सिद्धान्तोंका गहरा प्रभाव है। इन्हीं सिद्धान्तोंमें ईश्वरके अवतारका सिद्धान्त भी पाया जाता है, जिसपर हिन्दू-जातिका अटल विश्वास है।......

—रेवेरेण्ड ई, डी प्राइस।

गीता और विश्व-शान्ति

(लेखिका—सौ० देवी गजलक्ष्मी चन्द्रापुरी बी० ए०)

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ (गीता १२। ४)

पर्युक्त विषयपर लिखनेका मेरा यह पहला ही प्रयास है, तथापि मेरे गुरुदेवने बहुत दिनोंसे मेरे मनमें जिस विषयकी ओर रुचि उत्पन्न कर दी थी और वर्तमान समयमें तो एक तत्त्वज्ञ सत्पुरुषकी संगतिमें रखकर मुझपर इस कार्यको पूरा करनेका महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व ही सौंप दिया है। इसीलिये इस विषयपर कुछ लिखना चाहती हूँ। श्रीमद्भगवद्गीतापर अनेक अवसरोंपर मैंने अनेक महात्माओंके प्रवचन सुने, एवं अनेक प्राचीन अर्वाचीन टीकाएं भी मैंने पढ़ीं, पर मुझे यही दिखायी दिया कि उन सबमें विश्व-शान्तिके महत्त्वपूर्ण विषयकी उपेक्षा की गयी है। सम्भव है, मेरी समझ गलत हो पर जबतक इसके विरोधमें पर्याप्त कारण नहीं मिल जाते, तबतक मैं यही कहूँगी। 'सर्वभूतहिते रताः' इस पदका अर्थ जितना व्यापक किया जाय, उतना ही थोड़ा है। और 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इस चरणका भी अर्थ मेरे विचारसे बहुत गम्भीर है। भगवान् भूतभावन हैं, इसलिये केवल पत्र-पुष्पोंसे भगवान्‌का पूजन करके ही अपनेको कृतकृत्य समझनेवाले लोगोंकी अपेक्षा प्राणिमात्रके कल्याणके लिये तन मन धनसे सर्वस्व अर्पण करनेवाले भक्तोंपर ही उनका अधिक प्रेम होना स्वाभाविक है। 'प्राणीमात्रपर दया करना' तो सन्तोंका स्वभाव है एवं 'प्राणीमात्रमें भगवान्‌को देखकर उनकी सेवा करना' ही यथार्थ ज्ञान और भक्ति है। श्रीतुकाराम, श्रीज्ञानेश्वर, श्रीएकनाथ, श्रीसमर्थ रामदास आदि महापुरुषोंके सदुपदेशमें सर्वत्र इसी विश्व-शान्तिकी शिक्षा भरी है। पर दुःखसे लिखना पड़ता है कि उन सन्तोंके अनुयायियोंकी स्थिति आज शोचनीय है!

गीताकारने सर्व भूतोंके हितमें रत होनेकी बड़ी ही उत्तम शिक्षा दी है, परन्तु आज गीता-पाठकोंमें कितने उसका यथार्थ पालन करते हैं, इस बातको वे स्वयं ही अपनी छातीपर हाथ रखकर सोचें। कुछ दिन भक्ति-ज्ञानका अभ्यास करनेपर वृत्तिके किञ्चित विराम होनेसे, गीताके अध्ययन या गीताप्रवचनमें रुचि उत्पन्न होनेसे, अथवा प्रेमकी उमंगमें आँखोंसे दो चार आँसू बह जानेसे कभी कभी मनुष्य समझ बैठता है कि मुझे पूर्ण आत्मज्ञान हो गया! परन्तु वस्तुतः यह प्रकृत आत्मज्ञान नहीं, आत्मज्ञानकी एक झलक है। 'नष्ट कर्म न विरते' इस वचनपर भी आज जैसी खींचातानी हो रही है, जिसे देखकर दुःख होता है। अतएव हृदयके शुद्ध भावसे नम्रतापूर्वक प्रतिदिन सर्वभूत हितका चिन्तन और यथाशक्ति प्रत्यक्ष सेवा-कार्य करना चाहिये।

'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु'

गीता

जिस गीताके पूर्ण ज्ञानसे सभी मस्त हैं।
सुनकर जिसको मूर्ख लोग भी भक्त बने हैं॥
जिस गीताने सदा वीरको धीर बनाया।
मोहजालसे पूर्ण हृदयमें ज्ञान जगाया॥
भारत-गृहमें ईश अब गीताका प्रचार हो।
बढ़े सदा सद्धर्म अरु, प्रेम-भाव आगार हो॥

—'मदन'

गीताके अनुवाद बिना अंगरेजी साहित्य अपूर्ण रहेगा

इतने उच्च कोटिके विद्वानोंके पश्चात् जो मैं इस आश्चर्य-जनक काव्यके अनुवाद करनेका साहस कर रहा हूं, यह केवल इन विद्वानोंके परिश्रमसे उठाये हुए लाभकी स्मृतिमें है और इसका दूसरा कारण यह भी है कि भारतवर्षके इस सर्वप्रिय काव्यमय दार्शनिक ग्रन्थके बिना अंगरेजी साहित्य निश्चय ही अपूर्ण रहेगा।

—सर एडविन आरनाल्ड

वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण ।

गीता और भगवान् श्रीकृष्ण

(लेखक—एक प्रेमी सज्जन)

ब्रह्माण्डानि बहूनि पंकजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्,
गोपान्वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः ।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्,
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा ॥

कृपापात्रं यस्य त्रिपुररिपुरम्भोजवसतिः,
सुता जह्नोः पूता चरणनखनिर्णेजनजलम् ।
प्रदानं वा यस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि,
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः ॥

(शङ्कराचार्य)

सखि ! शृणु कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम् ।
गोधूलि-धूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥

शुद्ध सच्चिदानन्दघन नित्य निर्विकार अज अविनाशी घटघटवासी पूर्णब्रह्म परमात्मा लीलामय भगवान् श्रीश्रीकृष्णके चारु चरणारविन्दोंकी परमपावनी भव-भय-हारिणी ऋषि-मुनि-सेविता सुरासुर-दुर्लभ भक्तजन दिव्यनेत्राञ्जन-स्वरूपा चरण-धूलिको असंख्य नमस्कार है, जिसके एक कण-प्रसादसे अनादिकालीन त्रितापतप्त माया-मोहित जीव समस्त बन्धनोंसे अनायास मुक्त होकर लीलामयकी नित्य नूतन मधुर लीलामें सदैव सम्मिलित रहनेका प्रत्यक्ष अनुभव कर अपार आनन्दाम्बुधिमें सदाके लिये निमग्न हो जाता है । साथ ही पूर्ण ब्रह्मकी उस पूर्ण ज्ञानमयी वाङ्मयी मूर्ति श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति अनेक नमस्कार है, जिसके किञ्चित् अध्ययनमात्रसे ही मनुष्य सुदुर्लभ परमपदका अधिकारी हो जाता है । गीता भगवान्‌की दिव्य वाणी है, वेद तो भगवान्‌का निश्वासमात्र है, परन्तु गीता तो स्वयं आपके मुखारविन्दसे निकली हुई त्रिताप-हारिणी दिव्य सुधा-धारा है । गीता-गायक गीता-नायक भगवान् श्रीकृष्ण, गीताके श्रोता अधिकारी भक्त-शिरोमणि महात्मा अर्जुन और भगवती भागवती गीता तीनोंके प्रति पुनः पुनः नमस्कार है ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ॥

भगवान्‌का तत्त्व भक्तिसे जाना जाता है बुद्धिवादसे नहीं

विश्वके जीवोंका परम सौभाग्य है कि उन्हें श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन, श्रीकृष्ण-लीला-श्रवण और श्रीकृष्णोपदेश-अध्ययनका परम लाभ मिल रहा है । भगवान् श्रीकृष्ण जीवोंपर दया करके ही पूर्णरूपसे द्वापरके अन्तमें अवतीर्ण हुए थे । मनुष्य-बुद्धिका मिथ्या गर्व आजकल बहुत ही बढ़ गया है, इसीसे भगवान् श्रीकृष्णकी पूर्ण ईश्वरता और उनके पूर्ण अवतारपर लोग शङ्का कर रहे हैं, यह जीवोंका परम दुर्भाग्य समझना चाहिये कि आज स्वयं भगवान्‌के अवतार और उनकी लीलाओंपर मनमानी टीका टिप्पणियां करनेका दुःसाहस किया जाता है और इसीमें ज्ञानका विकास माना जाता है । कुछ लोग तो यहां तक मानते और कहते हैं कि भगवान्‌का अवतार कभी हो नहीं सकता । क्यों नहीं हो सकता ? इसीलिये कि हमारी बुद्धि भगवान्‌का मनुष्यरूपमें अवतार होना स्वीकार नहीं करती । वाहरी बुद्धि ! जो बुद्धि क्षण क्षणमें बदल सकती है, जिस बुद्धिका निश्चय तनिकसे भय या उद्वेगका कारण उपस्थित होते ही परिवर्तित हो जाता है, जो बुद्धि आज जिस वस्तुमें सुख मानती है, कल उसीमें दुःखका अनुभव करती है, जो बुद्धि भविष्य और भूतका यथार्थ निर्णय ही नहीं कर सकती और जो बुद्धि निरन्तर मायाभ्रममें पड़ी हुई है, वह बुद्धि प्रकृतिके प्रकृत स्वामी परमात्माके कर्तव्य, उनकी अपरिमित शक्ति-सामर्थ्यका निर्णय करे, और उनको अपने मनानुकूल नियमोंकी सीमामें आबद्ध रखना चाहे, इससे अधिक उपहासास्पद विचार और क्या हो सकता है ? अनादिकालसे जीव परमानन्दरूप परमात्माकी खोजमें लगा है, परमात्माकी प्राप्तिके लिये वह मनुष्यजीवन धारण करता है, परमात्माकी प्राप्ति परमात्माका जाननेसे होती है, इसके लिये और कोई भी साधन नहीं है— 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय ।' परन्तु उनका जानना अत्यन्त ही कठिन है । कारण, उनका स्वरूप अचिन्त्य है, मनुष्य अपने बुद्धिबलसे भगवान्‌को कभी नहीं जान सकता, वह अपने विद्या-बुद्धिके बलसे जड़ संसारके तत्त्वों-का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु परमात्माका ज्ञान बुद्धिके सहारे सर्वथा असम्भव है ।

'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो न विद्मो न विजानीमो', 'यन्मनसा न मनुते' (केन०) 'नैषा तर्केण मतिरापनेया नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (कठ०)

श्रुतियां इस प्रकार पुकार रही हैं, फिर क्षणजीवन-स्थायी अस्थिरमति मनुष्य अपने बुद्धिवादके भरोसे परमात्माके परम तत्त्वका पता लगाना चाहता है । 'किमाश्चर्यमतः परम् !'

भगवान्‌को जाननेके बाद फिर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, गीतामें भगवान्‌ने कहा है, 'मैं जैसा हूँ वैसा तत्त्वसे मुझे जानते ही मनुष्य मुझमें प्रवेश कर जाता है यानी मद्रूपताको प्राप्त हो जाता है। ('माम् तत्त्वतःअभिजानाति यः च यावान् अस्मि ततः माम् तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरम् विशते गीता १८।५५) परन्तु इस प्रकार जाननेका उपाय है केवल उनकी परम कृपा! भगवत्कृपा द्वारा ही भक्त उन्हें तत्त्वतः जान सकता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा ववृणुते तनूं स्वाम् (कठ)

भगवान् जिसपर कृपा करते हैं वही उन्हें पाता है, उसीके समीप वे अपना स्वरूप प्रकट करते हैं।

सो जाने जेहि देहु जनाई, जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।
तुम्हरी कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन, जानत भक्त भक्तउर-चन्दन॥

इस कृपाका अनुभव उनकी 'परा' (अनन्य) 'भक्तिसे' होता है, जिसके साधन भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे ये बतलाये हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गीता १८। ५१से ५४)

(१) जिसकी बुद्धि तर्कजालसे छूटकर, परम श्रद्धासे ईश्वर-प्रेमके समुद्रमें अवगाहन कर विशुद्ध हो जाती है।

(२) जिसकी धारणामें एक भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता।

(३) जो अन्तःकरणको वशमें कर लेता है।

(४) जो पांचों इन्द्रियोंके शब्दादि पांचों विषयोंमें आसक्त नहीं होता।

(५) जो रागद्वेषको नष्ट कर डालता है।

(६) जो ईश्वरीय साधनके लिये एकान्तवास करता है।

(७) जो केवल शरीर-रक्षणार्थ सादा अल्प भोजन करता है।

(८) जिसने मन-वाणी और शरीरको जीत लिया है।

(९) जिसको इस लोक और परलोकके सभी भोगोंसे नित्य अचल वैराग्य है।

(१०) जो सदा सर्वदा परमात्माके ध्यानमें मस्त रहता है।

(११) जिसने अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध-रूप दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग कर दिया है।

(१२) जो भोगके लिये आसक्तिवश किसीभी वस्तुका संग्रह नहीं करता।

(१३) जिसको सांसारिक वस्तुओंमें पृथक्‌रूपसे 'मेरा-पन' नहीं रह गया है।

(१४) जिसके अन्तःकरणकी चञ्चलता नष्ट हो गयी है।

(१५) जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें लीन होनेकी योग्यता प्राप्त कर चुका है।

(१६) जो ब्रह्मके अन्दर ही अपनेको अभिन्नरूपसे स्थित समझता है।

(१७) जो सदा प्रसन्न-हृदय रहता है।

(१८) जो किसी भी वस्तुके लिये शोक नहीं करता।

(१९) जिसके मनमें किसी भी पदार्थकी आकांक्षा नहीं है।

(२०) जो सब भूतोंमें समभावसे आत्मारूप परमात्मा-को देखता है।

इन लक्षणोंसे युक्त होनेपर साधक मेरी (भगवान्) की पराभक्तिको प्राप्त होता है, जिससे 'मद्भक्तिम् लभते पराम्' वह भगवान्‌का यथार्थ तत्त्व जान सकता है।

ईश्वरका अवतार

आजके हम क्षीणश्रद्धा, क्षीणबुद्धि, क्षीणबल, क्षीणपुण्य, साधनहीन, विषय-विलास-मोहित, रागद्वेष-विजड़ित, काम-क्रोध-मद-लोभ-परायण, अजितेन्द्रिय, मानसिक संकल्पोंके गुलाम, अनिश्चित मति, दुर्बलहृदय मनुष्य तर्कके बलसे ईश्वरको तत्त्वसे जाननेका दावा करते हैं और यह कहनेका दुस्साहस कर बैठते हैं कि बस, ईश्वर ऐसा ही है! यह अभि-मानपूर्ण दुराग्रहके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ईश्वर-की दिव्य क्रियाओं और उनकी अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्ध-में युक्तियां उपस्थित करके उन्हें सिद्ध या असिद्ध करते जाना नितान्त हास्यजनक बालकोचित कार्य है। और इसीलिये यह किया भी जाता है। परमात्माके वे बालक, जो अपनी ससीम बुद्धिकी सीमामें परम पिताकी असीम क्रियाशीलता और अपरमित सामर्थ्यको बाँधनेका ईश्वरकी दृष्टिमें एक

विनोदमय खेल करते हैं, इसी प्रकार मैं भी, जो अपने उन बड़े भाइयोंसे सब तरह छोटा हूं,-अपने उन भाइयोंके खेल-का प्रतिद्वन्द्वी बनकर परम पिताको और अपने बड़े भाइयों-को अपनी मूर्खतापर हंसाकर-प्रसन्न करनेके लिये कुछ खेल रहा हूं, अन्यथा न तो मैं ईश्वरावतारको सिद्ध करनेकी आवश्यकता समझता हूं, न उसे सिद्ध करनेका अपना अधिकार ही मानता हूं, न वैसी योग्यता समझता हूं, न साधक और सदाचारी होनेका ही दावा करता हूं और न सांसारिक विद्या-बुद्धि एवं तर्कशीलतामें ही अपनेको दूसरे पक्षके समकक्ष पाता हूं, ऐसी स्थितिमें मेरा यह प्रयत्न इसी लिये समझना चाहिये कि इसी बहाने भगवान्के कुछ नाम आजायंगे, उनकी दो चार लीलाओंका स्मरण होगा, जिनके प्रभावसे महापापी मनुष्य भी परमात्माके प्रेमका अधिकारी बन जाता है।

अवतारके विरोधियोंकी प्रधान दलीलें हैं-

(१) पूर्ण परब्रह्मका अवतार धारण करना सम्भव नहीं।

(२) यदि अखण्ड ब्रह्म अवतार धारण करता है तो उसकी अखण्डता नहीं रह सकती जो ईश्वरमें अवश्य रहनी चाहिये।

(३) ब्रह्मके एक ही निर्दिष्ट देश, काल, पात्रमें रहनेपर शेष सृष्टिका काम कैसे चलेगा?

(४) किसी देश, काल, पात्र-विशेषमें ही ईश्वरको माननेसे ईश्वरकी महानताको संकुचित किया जाता है।

(५) ईश्वर सर्वशक्तिमान् होनेके कारण बिना ही अवतार धारण किये दुष्ट-संहार, शिष्ट-पालन और धर्म-संस्थापनादि कार्य कर सकता है, फिर उसको अवतार धारण करनेकी क्या आवश्यकता है?

(६) ईश्वरके मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी कल्पना उसका अपमान करना है।

इसी प्रकार और भी कई दलीलें हैं, इन सबका एकमात्र उत्तर तो यह है और यही मेरी समझसे सबसे उपयुक्त है कि 'सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें सब कुछ सम्भव है, छोटे बड़े होनेमें उनका कोई संकोच-विस्तार नहीं होता, क्योंकि उनका रूप ही-'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' है, उनकी इच्छाका मूल उन्हींके ज्ञानमें है, अतः वे कब-क्यों-कैसे-क्या करते हैं? इन प्रश्नोंका उत्तर वेही दे सकते हैं। परन्तु उन भगवान्को हम जैसे अतपस्क, अभक्त, जिज्ञासाशून्य, ईश्वर-निन्दक जीवोंके सामने अपनी गोपनीय लीला प्रकाश करने-की गरज ही क्या है? अस्तु!

अतएव विनोदके भावसे ही उपर्युक्त दलीलोंका कुछ उत्तर दिया जाता है।

दलीलोंका उत्तर

(१) सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्मके लिये ऐसी कोई बात नहीं, जो सम्भव न हो। जब नाना प्रकार विचित्र सृष्टिकी रचना, उसका पालन, विधिवत् समस्त व्यवहारोंका सञ्चालन तथा चराचर छोटे बड़े समस्त भूतोंमें विकसित एवं अविक-सित आत्म-सत्तारूपमें निवास आदि अद्भुत कार्य सम्भव है, तब अपनी इच्छासे अवतार धारण करना उनके लिये असम्भव कैसे हो सकता है?

(२) अखण्ड ब्रह्मके अवतार धारण करनेसे उसकी अखण्डतामें कोई बाधा नहीं पहुँचती। परमात्माका स्वरूप जगत्के औपाधिक पदार्थोंकी तरह ससीम नहीं है, जगत्के पदार्थ एक समय दो जगह नहीं रह सकते, परन्तु परमात्माके लिये ऐसी बात नहीं कही जा सकती। क्या परमात्मा असंख्य जीवोंमें आत्मरूपसे वर्त्तमान नहीं है? यदि है तो क्या वह खण्ड खण्ड है? यदि उन्हें खण्ड मानते हैं तो अनेक ब्रह्म मानने पड़ते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है! वे एक जगह मनुष्य-शरीरमें अवतीर्ण होनेपर भी अनन्तरूपसे अपनी सत्तामें स्थिर रहते हैं। यह सारा संसार ब्रह्मसे उत्पन्न है, सभी जीवोंमें ब्रह्मकी आत्म-सत्ता है जो 'निरंश' भगवान्का सनातन अंश है। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। इतना होनेपर उनकी अखण्डतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता, वे सृष्टिके पूर्व जैसे थे, वैसे ही अब हैं, उनकी पूर्णता नित्य और अनन्त है। क्योंकि—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे ही पूर्णकी वृद्धि होती है, पूर्णके पूर्णको ले लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है।

आकाशमें लाखों नगर बस जानेपर भी आकाशकी अखण्डतामें कोई बाधा नहीं पड़ती, यद्यपि दीवारोंसे घिरे हुए अंश-विशेषमें छोटे बड़ेकी कल्पना होती है। आकाशका उदाहरण भी भगवान्की अखण्डताको बतलानेके लिये पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह अनन्त और असीम नहीं है, सान्त और ससीम है, परन्तु भगवान् तो नित्य अनन्त और असीम हैं।

यही भगवान्की महिमा है, इसीसे वेद उन्हें 'नेति नेति' कहते हैं। ऐसे महामहिम भगवान्के सगुण निर्गुण

दोनों ही रूपोंकी कल्पना की जाती है । भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको तो भगवान् ही जानते हैं । अतएव उनके अवतार लेनेपर भी वे अखण्ड ही रहते हैं ।

(३) जब भगवान् अपनी सत्तामें सदैव समानभावसे पूर्ण रहते हैं, तब उनके एक जगह अवतार धारण करनेपर उनके द्वारा शेष सृष्टिके कार्य सञ्चालन होनेमें कोई बाधा आ ही कैसे सकती है ?

(४) ईश्वरका सङ्कोच नहीं होता, वे 'आत्ममायया' अपनी लीलासे नरदेह धारण करते हैं । किसी निर्दिष्ट देश,काल, पात्रमें प्रकट होनेपर भी वे समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त रहते हैं और जिस सत्ताके द्वारा सृष्टि-क्रमका सञ्चालन किया जाता है, उसमें भी स्थित रहते हैं। यही उनकी अलौकिकता है । अवतारवादी लोग ईश्वरको केवल देहदृष्टिसे नहीं पूजते, वे उन्हें पूर्ण परात्पर भगवत्-भावसे ही पूजते हैं । इसलिये वे उनको छोटा नहीं बनाते, वरन् 'कृपावश अपनी महिमासे अपने नित्य स्वरूपमें पूर्णरूपसे स्थित रहते हुए ही हमारे उद्धारके लिये प्रकट हुए हैं' ऐसा समझकर वे उनकी महिमाको और भी बढ़ाते हैं । यहांपर यह कहा जा सकता है कि आत्मरूपसे तो सभी जीव ईश्वरके अवतार हैं,फिर किसी खास अवतारको ही भगवान् क्यों मानना चाहिये ? यद्यपि भगवान्‌की आत्मसत्ता सबमें व्याप्त होनेसे सभी ईश्वरके अवतार हैं परन्तु वे जीवभावको प्राप्त रहनेके कारण कर्मवश मनुष्यादि शरीरोंमें प्रकट हुए हैं, वे कर्मफल भोगनेमें परतन्त्र हैं, परन्तु भगवान् तो यह कहते हैं कि—

> अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
> प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

—मैं अविनाशी, अजन्मा और सर्वभूतोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको साथ लेकर लीलासे देह धारण करता हूँ,

इससे पता चलता है वे जीवोंका उद्धार करनेके लिये स्वतन्त्रतासे दिव्य देह धारण करते हैं । अतएव उनमें कोई सङ्कोच नहीं होता ।

(५) ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, वे संकल्पसे ही सम्भवको असम्भव और असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, इस स्थितिमें उनके लिये बिना ही अवतार धारण किये दुष्टोंका संहार, शिष्टोंका पालन और धर्म-संस्थापन करना सर्वथा सम्भव है, परन्तु तो भी सुना जाता है कि वे भक्तोंके प्रेमवश अवतार लेकर जगत्‌में एक महान् आदर्शकी स्थापना करते हैं। वे संसारमें न आवें तो जगत्‌के लोगोंको ऐसा महान् आदर्श कहांसे मिले ? लोकमें आदर्श स्थापन करनेके लिये ही वे अपने पार्षद और मुक्त भक्तोंको साथ लेकर धराधाममें अवतीर्ण होते हैं । उन्होंने स्वयं कहा है ।—

> न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
> नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
> यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
> मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
> उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
> (गीता ३ । २२ से २४ का पूर्वार्ध)

हे अर्जुन ! यद्यपि तीनों लोकोंमें न तो मुझे कुछ कर्तव्य है और न मुझे कोई वस्तु अप्राप्त ही है, (क्योंकि मैं ही सबका आत्मा, अधिष्ठान, सूत्रधार, सञ्चालक और भर्ता हूं) तथापि मैं कर्म करता हूं, यदि मैं सावधानीसे कर्म न करूं तो दूसरे लोग भी सब प्रकारसे मेरा ही अनुसरण करके आदर्श शुभकर्मोंका करना त्याग दें (क्योंकि कर्मोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग तो होता नहीं अतएव शुभकर्म ही त्यागे जाते हैं) अतएव मेरे कर्म करके आदर्श स्थापित न करनेसे लोक साधनमार्गसे भ्रष्ट हो जायं ।

इसके अतिरिक्त उनके अवतारके निगूढ़ रहस्यको वास्तवमें स्वयं वे ही जानते हैं, या वे महात्मा पुरुष यत्किञ्चित् अनुमान कर सकते हैं जो भगवान्‌की प्रकृतिसे उनकी कृपाके द्वारा किसी अंशमें परिचित हो चुके हैं। परन्तु जो अपनी बुद्धिके बलपर तर्क युक्तियोंकी सहायतासे तर्कातीत परमात्माकी प्रकृतिका निरूपण करना चाहते हैं, उन्हें तो औंधे मुंह गिरना ही पड़ता है। पर अवतारवादी तो यह कभी कहते भी नहीं कि बिना अवतारके दुष्ट-संहार, शिष्ट-पालन और धर्म-स्थापन कार्य कभी नहीं होता । न गीतामें ही कहीं भगवान्‌ने ऐसा कहा है । भगवान् किसी दूसरेको भेज कर या दूसरेको शक्ति प्रदान करके भी ये काम करवा सकते हैं इसीसे कला और अंश भेदसे अनेक अवतार हुए हैं। अधर्मके कितने परिमाणमें बढ़ जानेपर, और भक्तोंके प्रेमकी धारा कहां तक बढ़ जानेपर भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं इस बातका निश्चय हमारी बुद्धि नहीं कर सकती, क्योंकि वह अपने बलसे आध्यात्मिक पथपर बहुत दूर तक जा ही नहीं सकती ।

भगवान् दुष्टोंका विनाश करके भी उनका उद्धार ही करते आते हैं। महाभारत और श्रीमद्भागवतके इतिहाससे यह भलीभांति सिद्ध है। पर इस कार्यके लिये अवतार

धारण करनेकी यह आवश्यकता कब होती है, इस बातका पता भी उन्हींको है, जिनकी एक सत्ताके अधीन सब जीवोंके कर्मोंका यन्त्र है।

(६) उनके मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी कल्पना उनका अपमान नहीं है, अपितु उनकी शक्तिको सीमाबद्ध कर देना और यह मान लेना कि वे ऐसा नहीं कर सकते-यही उनका अपमान है। जो अनवकाशमें अवकाश और अवकाशमें अनवकाश कर सकते हैं, वे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण नहीं हो सकते, ऐसा निर्णय कर उनकी शक्तिका सीमानिर्देश करना कदापि उचित नहीं है।

श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म भगवान् हैं

उपर्युक्त विवेचनसे गीताके अनुसार यह सिद्ध है कि ईश्वर अपनी इच्छासे प्रकृतिको अपने अधीन कर जब चाहें तभी लीलासे अवतार धारण कर सकते हैं। संसारमें भगवान्के अनेक अवतार हो चुके हैं, अनेक रूपोंमें प्रकट होकर मेरे लीलामय नाथने अनेक लीलाएं की हैं,'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि।' कला और अंशावतारोंमें कई क्षीरसागर-शायी भगवान् विष्णुके होते हैं, कुछ भगवान् शिवके होते हैं, कुछ सच्चिदानन्दमयी योगशक्ति देवीके होते हैं, किसीमें कम अंश रहते हैं किसीमें अधिक, अर्थात् किसीमें भगवान्की शक्ति-सत्ता न्यून होती है, किसीमें अधिक। इसीलिये सूतजी महाराजने मुनियोंसे कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्।

(भागवत १।२८)

मीन कूर्मादि अवतार सब भगवान्के अंश हैं, कोई कला है, कोई आवेश है परन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं!

वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारसे पूर्ण हैं। उनमें सभी पूर्व और आगामी अवतारोंका पूर्ण समावेश है। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण बल, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त वैराग्यकी जीवन्त मूर्ति हैं। प्रारम्भसे लेकर लीलासंवरणपर्यन्त उनके सम्पूर्ण कार्य ही अलौकिक—चमत्कारपूर्ण हैं। बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जीने भगवान् श्रीकृष्णको भगवान्का अवतार माना है और लाला लाजपतराय आदि विद्वानोंने महान् योगेश्वर परन्तु इन महानुभावोंने भगवान् श्रीकृष्णको जगत्के सामने भगवान्की जगह पूर्ण-मानवके रूपमें रखना चाहा है। मानव कितना भी पूर्ण क्यों न हो, वह है मानव ही, पर भगवान भगवान् ही हैं; वे अचिन्त्य और अतर्क्य शक्ति हैं। महामना बंकिम बाबूने अपने भगवान् श्रीकृष्णको 'सर्वगुणान्वित, सर्वपाप-संस्पर्श-शून्य, आदर्श चरित्र' पूर्ण मानवके रूपमें विश्वके सामने उपस्थित करनेके अभिप्रायसे उनके अलौकिक, ऐश्वरिक, मानवातीत, मानव-कल्पनातीत, शास्त्रातीत और नित्य मधुर चरित्रोंको उपन्यास बतलाकर उड़ा देनेका प्रयास किया है, उन्होंने भगवान्के ऐश्वर्यभावके कुछ अंशको, जो उनके मनमें निर्दोष जँचा है, मानकर, शेष रस और ऐश्वर्य-भावको प्रायः छोड़ दिया है, इसका कारण यही है कि वे भगवान् श्रीकृष्णको पूर्ण मानव-आदर्शके नाते भगवान्का अवतार मानते थे, न कि भगवान्की हैसियतसे अलौकिक शक्तिके नाते। यह बात खेदके साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि विद्या-बुद्धिके अत्यधिक अभिमानने भगवान्को तर्ककी कसौटीपर कसनेमें प्रवृत्त कराकर आज मनुष्य-हृदयको श्रद्धाशून्य, शुष्क रसहीन बनाना आरम्भ कर दिया है। इसीलिये आज हम अपनेको भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंका माननेवाला कहते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् माननेमें और उनके शब्दोंका सीधा अर्थ करनेमें हमारी बुद्धि सकुचाती है और ऐसा करनेमें हमें आज अपनी तर्कशीलता और बुद्धिमत्तापर आघात लगता हुआ सा प्रतीत होता है। भगवान्का सारा जीवनही दिव्य लीलामय है, परन्तु उनकी लीलाओंका समझना आजके हम सरीखे अश्रद्धालु मनुष्योंके लिये बहुत कठिन है—इसीसे उनकी चमत्कारपूर्ण लीलाओंपर मनुष्यको शङ्का होती है, और इसीलिये आजकलके लोग उनके दिव्यरूपावतारसे पूतनावध, शकटासुर-अघासुरवध, अग्नि-पान, गोवर्धन-धारण, दधि-माखन-भक्षण, कालीय-दमन, चीरहरण, रासलीला, यशोदाको मुखमें विराट्रूप दिखलाने, सालभर तक बछड़े और बालकरूप बने रहने, पाञ्चालीका चीर बढ़ाने, अर्जुनको विराट् स्वरूप दिखलाने, और कौरवोंकी राजसभामें विलक्षण चमत्कार दिखलाने आदि लीलाओं पर सन्देह करते हैं, वे यह नहीं सोचते कि जिन परमात्माकी मायाने जगत्को मनुष्यकी बुद्धिसे अतीत नाना प्रकारके अद्भुत वैचित्र्यसे भर रक्खा है, उस मायापति भगवान्के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, बल्कि इन ईश्वरीय लीलाओंमें ही उनका ईश्वरत्व है, परन्तु यह लीला मनुष्यबुद्धिके अतर्क्य है, इन लीलाओं का रहस्य समझ लेना साधारण बात नहीं है। जो भगवान्के दिव्यजन्म और कर्मके रहस्यको तत्त्वतः समझ लेता है,वह तो उनके चरणोंमें सदाके लिये स्थान ही पा जाता है। भगवान्ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४।६)

'मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो तत्त्वसे जान लेता है वह शरीर छोड़कर पुनः जन्म नहीं लेता, वह तो मुझको ही प्राप्त होता है।' जिसने भगवान्‌के दिव्य अवतार और दिव्य लीला-कर्मोंका रहस्य जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। वह तो फिर भगवान्‌की लीलामें उनके हाथका एक यन्त्र बन जाता है। लोकमान्य लिखते हैं कि 'भगवत्प्राप्ति होनेके लिये (इसके सिवा) दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है, भगवत्‌की यही सच्ची उपासना है।' परन्तु तत्त्व जानना श्रद्धापूर्वक भगवद्भक्ति करनेसे ही सम्भव होता है। जिन महात्माओंने इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थ रूपसे जान लिया था, उन्हींमेंसे श्रीसूतजी महाराज थे, जो हजारों ऋषियोंके सामने यह घोषणा करते हैं कि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' और भगवान् वेदव्यासजी तथा ज्ञानीप्रवर शुकदेवजी महाराज इसी पदको ग्रन्थित कर और गान कर इस सिद्धान्तका सानन्द समर्थन करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णको नारायण ऋषिका अवतार कहा गया है, नर-नारायण ऋषियोंने धर्मके औरस और दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे उत्पन्न होकर महान् तप किया था, कामदेव अपनी सारी सेना समेत बड़ी चेष्टा करके भी इनके व्रतका भङ्ग नहीं कर सका (भागवत २।७।८) ये दोनों भगवान् श्रीविष्णुके अवतार थे। देवीभागवतमें इन दोनोंको हरिका अंश (हरेरंशौ) कहा है (दे०भा०४।२।१५) और भागवतमें कहा है कि भगवान् चौथी बार धर्मकी कलासे नर नारायणने ऋषिके रूपमें आविर्भूत होकर घोर तप किया था। भागवत और देवीभागवतमें इनकी कथाका विस्तार है। महाभारत और भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको कई जगह नर-नारायणका अवतार बतलाया गया है। (वनपर्व ४०।१-२; भीष्मपर्व ६६।११; उद्योगपर्व ४६।४६ आदि, श्रीमद्भागवत ११।७।१८, १०।८९।३२-३३ आदि।)

दूसरे प्रमाण मिलते हैं कि वे क्षीरसागरनिवासी भगवान् विष्णुके अवतार हैं। कारागारमें जब भगवान् प्रकट होते हैं तब शंख चक्र गदा पद्मधारी श्रीविष्णुरूपसे ही पहले प्रकट होते हैं तथा भागवतमें गोपियोंके प्रसंगमें तथा अन्य स्थलोंमें उन्हें लक्ष्मी-सेवित-चरण कहा गया है, जिससे श्रीविष्णुका बोध होता है। भीष्मपर्वमें ब्रह्माजीके वाक्य हैं-

हे देवतागणो! सारे जगत्‌का प्रभु मैं इनका ज्येष्ठ पुत्र हूं, अतएव--

वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः ॥
तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः ।
नावज्ञेयो महावीर्यः शंखचक्रगदाधरः ॥
(महा०भीष्म-६६।१३-१४)

'सर्वलोकके महेश्वर इन वासुदेवकी पूजा करनी चाहिये। हे श्रेष्ठ देवताओ! साधारण मनुष्य समझकर उनकी कभी अवज्ञा न करना। कारण, वे शंख चक्र गदाधारी महावीर्य (विष्णु) भगवान् हैं।' इस विजयकी कथासे भी उनका विष्णु अवतार होना सिद्ध है। इस विषयके और भी अनेक प्रमाण हैं।

तीसरे इस बातके भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परमब्रह्म पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दघन थे। भगवान्‌ने गीता और अनुगीतामें स्वयं स्पष्ट शब्दोंमें अनेक बार ऐसा कहा है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । १०।८

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७।७
... ... सर्वलोकमहेश्वरम् ॥५।१०

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् १०।४२

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १५।१९

ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ १४।२७

गीतामें ऐसे श्लोक बहुत हैं, उदाहरणार्थ थोड़ेसे लिखे हैं। इनके सिवा महाभारतमें पितामह भीष्म, सञ्जय, भगवान् व्यास, नारद, श्रीमद्भागवतमें नारद, ब्रह्मा, इन्द्र, गोपियों, ऋषिगण आदिके ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म सनातन परमात्मा थे। अग्रपूजाके समय भीष्मजी कहते हैं—

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यः तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ॥
(महा० सभा० ३८।२३-२४)

'श्रीकृष्ण ही लोकोंके अविनाशी उत्पत्ति-स्थान हैं, इस चराचर विश्वकी उत्पत्ति इन्हींसे हुई है। यही अव्यक्त प्रकृति और सनातन कर्ता हैं, यही अच्युत सर्वभूतोंसे श्रेष्ठतम और पूज्यतम हैं।' जो ईश्वरोंके ईश्वर होते हैं, वही महेश्वर या परमब्रह्म कहलाते हैं—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् (श्वेताश्वतर उ०)

मनुष्यरूप असुरोंके अत्याचारों और पापोंके भारसे घबराकर पृथ्वी देवी गौका रूप धारणकर ब्रह्माजीके साथ जगन्नाथ भगवान् विष्णुके समीप क्षीरसागरमें जाती हैं। (भगवान् विष्णु व्यष्टि पृथ्वीके अधीश्वर हैं, पालनकर्ता हैं। इसीसे पृथ्वी उन्हींके पास गयी) तब भगवान् कहते हैं 'मुझे पृथ्वीके दुःखोंका पता है, ईश्वरोंके ईश्वर काल-शक्तिको साथ लेकर पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये पृथ्वीपर विचरण करेंगे। देवगण उनके आविर्भावसे पहले ही वहां जाकर यदुवंशमें जन्म ग्रहण करें।

वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥

'साक्षात् परम पुरुष भगवान् वसुदेवके घरमें अवतीर्ण होंगे, अतः देवाङ्गनागण उनकी सेवाके लिये वहां जाकर जन्म ग्रहण करें।' फिर कहा कि 'वासुदेवके कलास्वरूप सहस्रमुख अनन्तदेव श्रीहरिके प्रियसाधनके लिये पहले जाकर अवतीर्ण होंगे और भगवती विश्वमोहिनी माया भी प्रभुकी आज्ञासे उनके कार्यके लिये अवतार धारण करेंगी।' इससे भी यह सिद्ध होता है, भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म थे। अब यह शङ्का होती है कि यदि वे पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे तो नरनारायण और श्रीविष्णुके अवतार कैसे हुए और भगवान् विष्णुके अवतार तथा नरनारायणऋषिके अवतार थे तो पूर्ण ब्रह्मके अवतार कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण वास्तवमें पूर्ण ब्रह्म ही हैं। वे साक्षात् स्वयं भगवान् हैं, उनमें सारे भूत भविष्यत् वर्तमानके अवतारोंका समावेश है। वे कभी विष्णुरूपसे लीला करते हैं, कभी नरनारायणरूपसे और कभी पूर्णब्रह्म सनातन ब्रह्मरूपसे थे। मतलब यह कि वे सब कुछ हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, वे सनातन ब्रह्म हैं, वे गोलोकविहारी महेश्वर हैं, वे क्षीरसागर-शायी परमात्मा हैं, वे वैकुण्ठनिवासी विष्णु हैं, वे सर्वव्यापी आत्मा हैं, वे बदरिकाश्रम-सेवी नरनारायण ऋषि हैं, वे प्रकृतिमें गर्भ स्थापन करनेवाले विश्वात्मा हैं और वे विश्वातीत भगवान् हैं। भूत भविष्यत् वर्तमानमें जो कुछ है, वे वह सब कुछ हैं और जो उनमें नहीं है, वह कभी कुछ भी कहीं नहीं था, न है और न होगा। बस, जो कुछ हैं सो वही हैं, इसके सिवा वे क्या हैं सो केवल वही जानते हैं, हमारा कर्तव्य तो उनकी चरणधूलिकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना मात्र है, इसके सिवा हमारा और किसी बातमें न तो अधिकार है और न इस परम साधनका परित्याग कर अन्य प्रपञ्चमें पड़नेसे लाभ ही है।

साधकोंका कर्तव्य

जो लोग विद्वान् हैं, बुद्धिमान् हैं, तर्कशील हैं वे अपनी इच्छानुसार भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी समालोचना करें, उन्हें महापुरुष मानें, योगेश्वर मानें, परम पुरुष मानें, पूर्ण मानव मानें, अपूर्ण मानें, राजनैतिक नेता मानें, कुटिल नीतिज्ञ मानें, संगीतविद्याविशारद मानें, या कवि-कल्पित पात्र मानें, जो कुछ मनमें आवे सो मानें। साधकोंके लिये— सांवरे मनमोहनके चरणकमल-चञ्चरीक दीन जनोंके लिये तो वे अन्धेकी लकड़ी हैं, कंगालके धन हैं, प्यासेके पानी हैं, भूखेकी रोटी हैं, निराश्रयके आश्रय हैं, निर्बलके बल हैं, प्राणोंके प्राण हैं, जीवनके जीवन हैं, देवोंके देव हैं, ईश्वरोंके ईश्वर हैं, ब्रह्मोंके ब्रह्म हैं, सर्वस्व वही हैं—बस,

मोहन बसि गयो मेरे मनमें।
लोकलाज कुलकानि छूटि गयी, याकी नेह लगनमें॥
जित देखों तितही वह दीखै, घर बाहर आँगनमें।
अंग अंग प्रति रोम रोममें छाइ रह्यो तन मनमें॥
कुण्डल झलक कपोलन सोहै बाजूबन्द भुजनमें।
कंकन कलित ललित बनमाला नूपुरधुनि चरननमें॥
चपल नैन भ्रकुटी बर बांकी, ठाढ़ो सघन लतनमें।
नारायन बिन मोल बिकी हों, याकी नेंक हंसनमें॥

अतएव साधकोंको बड़ी सावधानीसे अपने साधन-पथकी रक्षा करनी चाहिये। मार्गमें अनेक बाधाएं हैं, विद्या बुद्धि तप दान यज्ञ आदिके अभिमानकी बड़ी बड़ी घाटियाँ हैं, भोगोंकी अनेक मनहरण वाटिकाएं हैं, पद पद पर प्रलोभनकी सामग्रियां बिखरी हैं, कुतर्कका जाल तो सब ओर बिछा हुआ है, दम्भ-पाखण्डरूपी मार्गके ठग चारों ओर फैल रहे हैं, मान बड़ाईके दुर्गम पर्वतोंको लांघनेमें बड़ी वीरतासे काम लेना पड़ता है, परन्तु श्रद्धाका पाथेय, भक्तिका कवच और प्रेमका अङ्गरक्षक सरदार साथ होनेपर कोई भय नहीं है। उनको जानने पहचानने देखने और मिलनेके लिये इन्हींकी आवश्यकता है, कोरे सदाचारके साधनोंसे और

बुद्धिवादसे काम नहीं चलता। भगवान्के ये वचन स्मरण रखने चाहिये।

> नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
> शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'हे अर्जुन! हे परन्तप! जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकार वेदाध्ययन, तप, दान और यज्ञसे मैं नहीं देखा जा सकता। केवल अनन्य भक्तिसे ही मेरा देखा जाना, तत्त्वसे समझा जाना और मुझमें प्रवेश होना सम्भव है।'

गीताका सदुपयोग और दुरुपयोग

भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशामृत गीतासे हमें वही यथार्थ तत्त्व ग्रहण करना चाहिये, जिससे भगवत्-प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो। वास्तवमें भगवद्गीताका यही उद्देश्य समझना चाहिये और इसी काममें इसका प्रयोग करना गीताके उपदेशोंका सदुपयोग करना है। भगवान् श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीबलदेव आदि महान् आचार्योंसे लेकर आधुनिक कालके महान् आत्मा लोकमान्य तिलक महोदय तकने भिन्न भिन्न उपायोंका प्रतिपादन करते हुए भगवत्-प्राप्तिमें ही गीताका उपयोग करना बतलाया है। इन लोगोंमें भगवान् और भगवत्-प्राप्तिके स्वरूपमें पार्थक्य रहा है; परन्तु भगवत्-प्राप्तिरूप साध्यमें कोई अन्तर नहीं है। अवश्य ही आजकल गीताका प्रचार पहलेकी अपेक्षा अधिक है, परन्तु उससे जितना आध्यात्मिक लाभ होना चाहिये, उतना नहीं हो रहा है, इसका कारण यही है कि गीताका अध्ययन करनेके लिये जैसा अन्तःकरण चाहिये, वैसा आजकलके हम लोगोंका नहीं है। नहीं तो गीताके इतने प्रचारकालमें देश-देशान्तरोंमें पवित्र भगवद्भावोंकी बाढ़ आ जानी चाहिये थी। गीताके महान् सदुपदेशोंके साथ हमारे आजके आचरणोंकी तुलना की जाती है तो मालूम होता है कि हमारा आजका गीता-प्रचार केवल बाहरी शोभामात्र है। कई क्षेत्रोंमें तो गीता स्वार्थ-साधन या स्वमत-पोषणकी सामग्री बन गयी है, यही गीताका दुरुपयोग है। यहां इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) कुछ लोग, जिनकी इन्द्रियां वशमें नहीं हैं, नाना प्रकारसे पापाचरणोंमें प्रवृत्त हैं, चोरी व्यभिचार हिंसा आदि करते हैं, परन्तु अपनेको गीताके अनुसार चलनेवाला प्रसिद्ध करते हैं, वे पूछनेपर कह देते हैं कि यह सब तो प्रारब्ध-कर्म हैं। क्योंकि गीतामें कहा है—

> सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
> प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ गी० ३।३३

'सभी जीव अपने पूर्व जन्मके कर्मानुसार बनी हुई प्रकृतिके वश होते हैं, ज्ञानीको भी अपनी अच्छी बुरी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करनी पड़ती है, इसमें कोई क्या कर सकता है?' जब ज्ञानीको भी पाप करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है, तब हमारी तो बात ही क्या है? यों अर्थका अनर्थ कर अपने पापोंका समर्थन करनेवाले लोग इसीके अगले श्लोक-पर और आगे चलकर ३७वेंसे ४३वें श्लोकतकके विवेचन पर ध्यान नहीं देते, जिनमें स्पष्ट कहा गया है कि पाप आसक्ति-मूलक कामनासे होते हैं, जिसपर विजय प्राप्त करना यानी पापोंसे बचना मनुष्यके हाथमें है और उसे उनसे बचना चाहिये। परन्तु वे इन बातोंकी ओर क्यों ध्यान देने लगे? उन्हें तो गीताके श्लोकोंसे अपना मतलब सिद्ध करना है! यह गीताका दुरुपयोग है।

(२) कुछ पाखण्डी और पापाचारी लोग,—जो अपनेको ज्ञानी या अवतार बतलाया करते हैं, अपने पाखण्ड और पापके समर्थनमें गीताके ये श्लोक उपस्थित करते हैं कि—

> नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
> पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
> प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

'अपने राम तो अपने स्वरूपमें ही मस्त हैं, कुछ करते कराते नहीं; यह सुनना, स्पर्श करना, सूंघना, खाना, जाना, सोना, श्वास लेना, बोलना, त्यागना, ग्रहण करना, आंखें खोलना, बन्द करना आदि कार्य तो इन्द्रियोंका अपने अपने अर्थोंमें बरतना मात्र है। इन्द्रियां अपने अपने विषयोंमें वर्तती हैं, अपने राम तो आकाशवत् निर्लेप हैं।' कहाँ तो आत्मज्ञानीकी स्थिति और कहाँ उसके द्वारा पापीका पाप-समर्थन! यह गीताका दुरुपयोग है।

(३) कुछ लोग जो भक्तिका स्वांग धारण कर पाप बटोरने और इन्द्रियोंको अन्यायाचरणसे तृप्त करना चाहते हैं—यह श्लोक कहते हैं—

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

फल-पत्र-भोजी श्रीकृष्ण ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयतात्मनः ॥

'अपना तो भगवान्‌के जन्म या लीलाख्यानमें उनकी शरणमें पड़े रहना मात्र कर्तव्य है, उन्होंने स्पष्ट ही आज्ञा दे रक्खी है कि सब धर्मों (सत्कर्मों) को छोड़कर मेरी शरण हो जाओ। पाप करते हो, उनके लिये कोई परवाह नहीं, पापोंसे मैं आप ही छुड़ा दूंगा। तुम तो निश्चिन्त होकर मेरे दरवाजेपर चाहे जैसे भी पड़े रहो, इसलिये अपने तो वहां पड़े हैं, पाप छूटना तो हमारे हाथकी बात नहीं, और भगवान्‌के वचनानुसार छोड़नेकी ज़रूरत ही क्या है? दान पुण्य जप तपका बखेड़ा ज़रूर छोड़ दिया है। वह आप ही संभालेगा।'

यह अर्थका अनर्थ और गीताका महान् दुरुपयोग है।

(४) कुछ लोग जिनका हृदय रागद्वेषसे भरा है। अन्तःकरण विषमताकी आगसे जल रहा है पर अभक्ष्य भक्षण और व्यभिचार आदिके समर्थनके लिये सारे भेदोंको मिटाकर परस्पर प्रेमस्थापन करना अपना सिद्धान्त बतलाते हुए गीताका श्लोक कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५। १८)

'जो पण्डित या ज्ञानी होते हैं वे विद्या और विनयशील ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी कुत्तेमें कोई भेद नहीं समझते, सबसे एकसा व्यवहार करते हैं। भगवान्‌के कथनानुसार जब कुत्ते और ब्राह्मणमें भी भेद नहीं करना चाहिये तब मनुष्य मनुष्यमें भेद कैसा? परन्तु यह इस श्लोकके अर्थका सर्वथा विपरीतार्थ है। भगवान्‌ने इस श्लोकमें व्यावहारिक भेदको विशेषरूपसे मानकर ही आत्मरूपमें सबमें समता देखनेकी बात कही है। इसमें 'समान व्यवहार' की बात कहीं नहीं है, बात है 'समान दर्शन' की। हमें आत्मरूपसे सबमें परमात्माको देखकर किसीसे भी घृणा नहीं करनी चाहिये परन्तु सबके साथ एकसा व्यवहार होना असम्भव है। इसीसे भगवान्‌ने कुत्ते गौ और हाथीके दृष्टान्तसे पशुओंका और विद्याविनययुक्त ब्राह्मण तथा चाण्डालके दृष्टान्तसे मनुष्योंके व्यवहारका भेद सिद्ध किया है। राजा कुत्तेपर सवारी नहीं कर सकता। गौकी जगह कुतियाका दूध कोई काममें नहीं आता। परन्तु स्वार्थसे विपरीत अर्थ किया जाता है, यह गीताका दुरुपयोग है।

(५) कुछ लोग 'किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा' का प्रमाण देकर केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय जातिमें जन्म होनेके कारण ही अपनेको बड़ा और इतर वर्णोंको छोटा समझकर उनसे घृणा करते हैं, परन्तु वे यह नहीं सोचते कि भगवद्भक्तिमें सबका समान अधिकार है और भगवान्‌की प्राप्ति भी उसीको पहले होती है जो सच्चे मनसे भगवान्‌का अनन्य भक्त होता है, इसमें जाति-पांतिकी कोई विशेषता नहीं है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः॥
(भा० ७।९।१०)

पद्मपुराणका वाक्य है—

हरेरभक्तो विप्रोऽपि विज्ञेयः श्वपचाधिकः।
हरेर्भक्तः श्वपाकोऽपि विज्ञेयो ब्राह्मणाधिकः॥

ऐसी स्थितिमें केवल ऊंची जातिमें पैदा होनेमात्रसे ही अपनेको ऊंचा मान कर गीताके श्लोकके सहारे दूसरोंसे घृणा करना कराना गीताका दुरुपयोग करना है।

(६) कुछ लोग जो गेरुआ कपड़ा पहनकर आलस्य या प्रमादवश कोई भी अच्छा कार्य न करके कर्तव्यहीन होकर मानव-जीवन व्यर्थ खो देते हैं, पूछनेपर कहते हैं,—'हमारे लिये कोई कर्तव्य नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें साफ कह दिया है-'तस्य कार्यं न विद्यते।' इससे 'हमारे लिये कोई कर्तव्य नहीं रह गया है, जबतक कोई कर्तव्य रहता है तबतक मनुष्य मुक्त नहीं माना जाता। कर्तव्योंका त्याग ही मुक्ति है।' इस प्रकार जीवन्मुक्त त्यागी विरक्त महात्माके लिये प्रयुक्त गीताके शब्दोंका तामस कर्तव्यशून्यतामें प्रयोग करना अवश्य ही गीताका दुरुपयोग है।

(७) कुछ लोग जो आसक्ति और भोग-सुखोंकी कामनावश रात-दिन प्रापञ्चिक कार्योंमें लगे रहते हैं, कभी भूलकर भी भगवान्‌का भजन नहीं करते, परन्तु भगवदीय साधनके लिये गृहस्थ त्यागकर संन्यास ग्रहण करनेवाले सन्तोंकी निन्दा करते हुए कहते हैं—'भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोगो विशिष्यते' कहकर कर्म ही करनेकी आज्ञा है, ये संन्यासी सब ढोंगी हैं, हम तो दिन-रात कर्म करके भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते हैं।' इस प्रकार आसक्ति-वश पाप-पुण्यके विचारसे रहित सांसारिक कर्मोंका समर्थन करनेमें गीताका सहारा लेकर त्यागियोंकी निन्दा करना और अपने

विषयवासना युक्त कर्मोंको उचित बतलाना, गीताका दुरुपयोग है।

(८) कई लोग 'एवं प्रवर्तितं चक्रं' श्लोकसे चरखा और 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं' श्लोकसे शरीर-रचनाका अर्थ लगाकर मूल यथार्थ भावसे सम्बन्धमें जनताकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करते हैं। यह बुद्धिकी विलक्षणता और समयानुकूल अच्छे कार्यके लिये समर्थन होनेपर भी अर्थका अनर्थ करनेके कारण गीताका दुरुपयोग ही है।

गीता परमधामकी कुंजी है

और भी अनेक प्रकारसे गीताका दुरुपयोग हो रहा है। यहां थोड़ासा दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। सो भी साधकोंको सावधान करनेके लिये ही। भगवत्-प्राप्तिके साधकोंके लिये उपर्युक्त अर्थ कदापि माननीय नहीं है। उन्हें तो भगवान् शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्य और लोकमान्य तिलक आदिके बतलाये हुए अर्थके अनुसार अपने अधिकार और रुचिके अनुकूल मार्ग चुनकर भगवत्-प्राप्तिके लिये ही सतत प्रयत्न करना चाहिये। गीता वास्तवमें भगवान्‌के परम मन्दिरकी सिद्ध कुंजी है, इसका जो कोई उचित उपयोग करता है, वही अबाधित-रूपसे उस दरबारमें प्रवेश करनेका अधिकारी हो जाता है। किसी देश, वर्ण या जाति पाँतिके लिये वहां कोई रुकावट नहीं है—

> मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
>
> (९।३२)

साधकोंको एक बातसे और भी सावधान रहना चाहिये, आजकलके बुद्धिवादी लोगोंमें कुछ सज्जन श्रीकृष्णको ही नहीं मानते उनके विचारमें 'महाभारत रूपक ग्रन्थ है और भागवत कपोल-कल्पनामात्र है। महाभारत काव्यके अन्तर्गत व्यासरचित गीता एक उत्तम लोकोपकारी रचना है।' यह वास्तवमें गीताका अपमान है। भगवान् श्रीकृष्णको न मानकर गीताको मानना और उससे आध्यात्मिक लाभ उठानेकी आशा रखना प्राणहीन शरीरसे लाभ उठानेकी इच्छाके सदृश दुराशामात्र है। इस प्रकारके विचारोंसे साधकोंको सावधान रहना चाहिये। यह मानना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण गीताके हृदय हैं और भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके उपाय बतलाना ही गीताका उद्देश्य है। इसी उद्देश्यसे प्रेरित होकर जो लोग गीताका अध्ययन करते हैं, उन्हींको गीतासे यथार्थ लाभ पहुंचता है।

कुछ लोग गीताके श्रीकृष्णको निपुण तत्त्ववेत्ता, महा-योगेश्वर, निर्भय योद्धा और अतुलनीय राजनीतिविशारद मानते हैं, परन्तु भागवतके श्रीकृष्णको इसके विपरीत नचैया, भोगविलासपरायण, गानेबजानेवाला और खिलाड़ी समझते हैं, इसीसे वे भागवतके श्रीकृष्णको नीची दृष्टिसे देखते हैं या उनका अस्वीकार करते हैं और गीताके या महाभारतके श्रीकृष्णको ऊंचा या आदर्श मानते हैं। वास्तवमें यह बात ठीक नहीं है। श्रीकृष्ण जो भागवतके हैं, वही महाभारत या गीताके हैं, एक ही भगवान्‌की भिन्न भिन्न स्थलों और भिन्न भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न भिन्न लीलाएं हैं। भागवतके श्रीकृष्णको भोग-विलासपरायण और प्राकृत नचैया गवैया समझना भारी भ्रम है। अवश्य ही भागवतकी लीलामें पवित्र और महान् दिव्य प्रेमकी लीला अधिक थी, परन्तु वहां भी ऐश्वर्य-लीलाकी कमी नहीं थी। असुर-वध, गोवर्द्धन-धारण, अग्नि-पान, वत्स-बालरूप धारण आदि भगवान्‌की ईश्वरीय लीला ही तो हैं। नवनीत भक्षण, सखा-सह-विहार, गोपी-प्रेम आदि तो गोलोककी दिव्यलीला हैं, इसीसे कुछ भक्त भी वृन्दावनविहारी मुरलीधर रसराज प्रेममय भगवान् श्रीकृष्णकी ही उपासना करते हैं, उनकी मधुर भावनामें—

> कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः।
> वृन्दावनं परित्यज्य स कचिन्नैव गच्छति॥

—'यदुनन्दन श्रीकृष्ण दूसरे हैं और वृन्दावनविहारी पूर्ण श्रीकृष्ण दूसरे हैं। पूर्ण श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर कभी अन्यत्र गमन नहीं करते।' बात ठीक है—जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन देखी तैसी! इसी प्रकार कुछ भक्त गीताके 'तोत्रवेत्रैकपाणि' योगेश्वर श्रीकृष्णके ही उपासक हैं। रुचिके अनुसार उपास्यदेवके स्वरूप भेदमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु जो लोग भागवत या महाभारतके श्रीकृष्णको वास्तवमें भिन्न भिन्न मानते हैं या किसी एकका अस्वीकार करते हैं, उनकी बात कभी नहीं माननी चाहिये। महाभारत-में भागवतके और भागवतमें महाभारतके श्रीकृष्णके एक होनेके अनेक प्रमाण मिलते हैं। एक ही ग्रन्थकी एक बात मानना और दूसरीको मनके प्रतिकूल होनेके कारण न मानना वास्तवमें यथेच्छाचारके सिवा और कुछ भी नहीं है।

अतएव साधकोंको इन सारे बखेड़ोंसे अलग रहकर भगवान्‌को पहचानने और अपनेको 'सर्वभावेन' उनके चरणोंमें समर्पण कर-शरणागत होकर उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गीता और प्रेम-तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भगवान्‌की शरणागतिमें ही है। यही गीताका प्रेमतत्त्व है। गीताकी भगवच्छरणागतिका ही दूसरा नाम प्रेम है। प्रेममय भगवान् अपने प्रियतम सखा अर्जुनको प्रेमके वश होकर वह मार्ग बतलाते हैं, जिसमें उसके लिये एक प्रेमके सिवा और कुछ करना बाकी रह ही नहीं जाता।

कुछ लोगोंका कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेमका विषय नहीं है। परन्तु विचार कर देखनेपर मालूम होता है कि 'प्रेम' शब्दकी बाहरी पोशाक न रहनेपर भी गीताके अन्दर प्रेम ओतप्रोत है। गीता भगवत्-प्रेम-रसका समुद्र है। प्रेम वास्तवमें बाहरकी चीज होती भी नहीं, वह तो हृदयका गुप्त धन है जो हृदयके लिये हृदयसे हृदयको ही मिलता है और हृदयसे ही किया जाता है। जो बाहर आता है वह तो प्रेमका बाहरी ढांचा होता है, श्रीहनुमानजी महाराज भगवान् श्रीरामका सन्देश श्रीसीताजीको इस प्रकार सुनाते हैं।

तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं, जानेउ प्रीति रीति यहि माहीं॥

प्रेम हृदयकी वस्तु है, इसीलिये वह गोपनीय है। गीतामें भी प्रेम गुप्त है। वीरवर अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णका सख्य-प्रेम विश्व-विख्यात है। आहार-विहार, शय्या-क्रीडा, अन्तःपुर-दरबार, वन-प्रान्त-रणभूमि सभीमें दोनोंको हम एक साथ पाते हैं। जिस समय अग्निदेव अर्जुनके समीप खाण्डव-दाहके लिये अनुरोध करने आते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन जलविहार करनेके बाद प्रमुदित मनसे एक ही आसनपर बैठे हुए थे। जब सञ्जय भगवान् श्रीकृष्णके पास जाते हैं, तब उन्हें अर्जुनके साथ एक ही आसनपर अन्तःपुरमें द्रौपदी सत्यभामा सहित विराजित पाते हैं। अर्जुन—'विहारशय्यासनभोजनादिषु' कहकर स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं।

अधिक क्या खाण्डव वनका दाह कर चुकनेपर जब इन्द्र प्रसन्न होकर अर्जुनको दिव्यास्त्र प्रदान करनेका वचन देते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि 'देवराज! मुझे भी एक चीज दो, और वह यह कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे'—

'वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।'

अर्जुनके लिये भगवान् प्रेमकी भीख माँगते हैं! यही कारण था कि भगवान् अर्जुनका रथ हाँकने तकको तैयार हो गये। अर्जुनके प्रेमसे ही गीताशास्त्रकी अमृतधारा भगवान्‌के मुखसे बह निकली। अर्जुनरूपी चन्द्रको पाकर ही चन्द्रकान्तमणिरूप श्रीकृष्ण द्रवित होकर बह निकले, जो गीताके रूपमें आज त्रिभुवनको पावन कर रहे हैं। इतना होनेपर भी गीतामें प्रेम न मानना दुराग्रहमात्र है। प्रेमका स्वरूप है,—प्रेमीके साथ अभिन्नता हो जाना।' जो भगवान्‌में पूर्णरूपसे थी, इसीसे अर्जुनका प्रत्येक काम करनेके लिये भगवान् सदा तैयार थे। प्रेमका दूसरा स्वरूप है—'प्रेमीके सामने बिना संकोच अपना हृदय खोलकर रख देना।' वीरवर अर्जुन प्रेमके कारण ही निःसंकोच होकर भगवान्‌के सामने रो पड़े और स्पष्ट शब्दोंमें उन्होंने अपने हृदयकी बातें कह दीं। भगवान्‌की जगह दूसरा होता तो ऐसे शब्दोंमें, जिनमें वीरतापर धब्बा लग सकता था, अपने मनका भाव कभी नहीं प्रकट कर सकते। प्रेममें लल्लो-चप्पो नहीं होता, इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनके पाण्डित्यपूर्ण परन्तु मोह-जनित विवेचनके लिये उन्हें फटकार दिया और युद्धस्थलमें, दोनों ओरकी सेनाओंके युद्धारम्भकी तैयारीके समय वह अमर ज्ञान कह डाला जो लाखों करोड़ों वर्ष तपस्या करनेपर भी सुननेको नहीं मिलता। प्रेमके कारण ही भगवान् श्रीकृष्णने अपने महत्त्वकी बातें निःसंकोचरूपसे अर्जुनके सामने कह डालीं। प्रेमके कारण ही उन्हें विभूतियोग बतलाकर अपना विश्वरूप दिखला दिया। नवम अध्यायके 'राजविद्या राजगुह्य' की प्रस्तावनाके अनुसार अन्तके श्लोकमें अपना महत्त्व बतला देने, दशम और एकादशमें विभूति और विश्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान करा देने और पन्द्रहवें अध्यायमें 'मैं पुरुषोत्तम हूं' ऐसा स्पष्ट कह देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्‌की मायावश भलीभाँति नहीं समझे, तब प्रेमके कारण ही अपना परम गुह्य रहस्य जो नवम अध्यायके अन्तमें इशारेसे कहा था, भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें सुना देते हैं। भगवान् कहते हैं 'मेरे प्यारे! तू मेरा बड़ा प्यारा है, इसीसे भाई! मैं अपना हृदय खोलकर तेरे सामने रखता हूं, बड़े संकोचकी बात है, हरएकके सामने नहीं कही जा सकती,

सब प्रकारके गोपनीयोंमें भी परम गोपनीय (सर्वगुह्यतमं) विषय है, ये मेरे अत्यन्त गुप्त रहस्यमय शब्द (मे परमं वचः) हैं. एक बार पहले कुछ संकेत कर चुका हूं, अब फिर सुन (भूयः शृणु) बस, तेरे हितके लिये ही कहता हूं, (ते हितं वक्ष्यामि) क्योंकि इसीमें मेरा भी हित है, क्या कहूं ? अपने मुंह ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, इससे आदर्श बिगड़ता है, लोकसंग्रह बिगड़ता है, परन्तु भाई ! तू मेरा अत्यन्त प्रिय है (मे प्रियः असि) तुझे क्या आवश्यकता है इतने झगड़े बखेड़े की ? तू तो केवल प्रेम कर। प्रेमके अन्तर्गत मन लगाना, भक्ति करना, पूजा और नमस्कार करना आपसे आप आ जाता है, मैं भी यही कर रहा हूं, अतएव भाई ! तू भी मुझे अपना प्रेममय जीवनसखा मानकर मेरे ही मनवाला बन जा, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, मैं सत्य कहता हूं, अरे भाई ! शपथ खाता हूं, ऐसा करनेसे तू और मैं एक ही हो जायंगे, (गीता १८ । ६५) क्योंकि एकता ही प्रेमका फल है। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सिवा और कुछ भी नहीं जानता, किसीको नहीं पहचानता, उसका तो जीवन, प्राण, धर्म, कर्म, ईश्वर जो कुछ भी है सो सब प्रेमास्पद ही होता है, वह तो अपने आपको उसीपर न्योछावर कर देता है, तू सारी चिन्ता छोड़ दे (मा शुचः) धर्म कर्मकी परवा न कर (सर्वधर्मान् परित्यज्य) केवल एक मुझ प्रेमस्वरूपके प्रेमका ही आश्रय ले ले। (माम एकं शरणम् व्रज) प्रेमकी ज्वालामें तेरे सारे पाप-ताप भस्म हो जायंगे। तू मस्त हो जायगा। यह प्रेमकी तन-मन-लोक-परलोक-भुलावनी मस्ती ही तो प्रेमका स्वरूप है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चित् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।

(नारद-भक्तिसूत्र)

'जिसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृतत्वको पा जाता है, सब तरहसे तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर फिर वह न अप्राप्त वस्तुको चाहता है, न 'गतासून् अगतासून्' के लिये चिन्ता करता है न मनके विपरीत घटना या सिद्धान्तसे द्वेष करता है, न मनानुकूल विषयोंमें आसक्त होता है और न प्यारेकी सुख-सेवाके सिवा अन्य कार्यमें उसका उत्साह होता है। वह तो बस, प्रेममें सदा मतवाला बना रहता है, वह स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है।' इस सुखके सामने उसको ब्रह्मानन्द भी गोष्पदके समान तुच्छ प्रतीत होता है (सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्मण्यपि)।

इस स्थितिमें उसका जीवन केवल प्रेमास्पदको सुख पहुंचानेके निमित्त उसकी रुचिके अनुसार कार्य करनेके लिये ही होता है। हजार मनके प्रतिकूल काम हो, प्रेमास्पदकी उसमें रुचि है, ऐसा जानते ही सारी प्रतिकूलता तत्काल सुखमय अनुकूलताके रूपमें परिणत हो जाती है प्रेमास्पदकी रुचि ही उसके जीवनका स्वरूप बन जाता है। उसका जीवन व्रत ही होता है केवल 'प्रेमास्पदके सुखसे सुखी रहना'(तत्सुखसुखित्वम्।) वह इसलिये जीवन धारण करता है। मेरा अवतार धारण भी इन अपने प्रेमास्पदोंके लिये ही है, इसीलिये—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयःसच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलक स एवायं॥

—'तो मैं सर्वभूतोंका अन्तर्यामी प्रकृतिसे परे ज्ञानमय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म प्रेममय दिव्य देह धारण कर यदुकुलमें अवतीर्ण हुआ हूं।' भगवान्‌ने गीताके १८ वें अध्यायके ६४ वेंसे ६६वें तक तीन श्लोकोंमें जो कुछ कहा, उसीका उपर्युक्त तात्पर्यार्थ है। प्रेमका यह मूर्तिमान् स्वरूप प्रकट तो कर दिया, परन्तु फिर भगवान् अर्जुनको सावधान करते हैं कि 'यह गुह्य रहस्य तपरहित, भक्तिरहित, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले और मुझमें दोष देखनेवालेके सामने कभी न कहना।' (गीता १८।६७) इस कथनमें भी प्रेम भरा है, तभी तो अपना गुह्य रहस्य कहकर फिर उसकी गुह्यताका महत्त्व अपने ही मुखसे बढ़ाते हुए भगवान् अर्जुनके सामने संकोच छोड़कर ऐसा कह देते हैं। इस अधिकारी-निरूपणका एक अभिप्राय यह है कि इस परम तत्त्वको ग्रहण करनेवाले लोग संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े होते हैं। (मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्) जिनका मन तपश्चर्यासे शुद्ध हो गया हो, जिनका अन्तःकरण भक्तिरूपी सूर्यकिरणोंसे नित्य प्रकाशित हो, जिसको इस प्रेमतत्त्वके जाननेकी सच्चे मनसे तीव्र उत्कण्ठा हो एवं जो भगवान्‌की महिमामें भूलकर भी सन्देह नहीं करता हो, वही इसका अधिकारी है। भगवान्‌की मधुर-बाललीलामें भाग्यवती प्रातःस्मरणीया गोपियां इसकी अधिकारिणी थीं। इस रणलीलामें अर्जुन अधिकारी हैं। अनधिकारियोंके कारण ही आज गोपी-माधवकी पवित्र आध्यात्मिक प्रेमलीलाका आदर्श दूषित हो गया और उसका अनधिकार

अनुकरण कर मनुष्य कठिन पाप-पंकमें फंस गये ! गोपियोंका जीवन भी 'तत्सुख सुखित्वम्'के भावमें रँगा हुआ था और इस प्रेमरहस्यका उद्घाटन होते ही अर्जुन भी इसी रंगमें रँगकर अपनी सारी प्रतिकूलताओंको भूल गये, भूल ही नहीं गये, सारी प्रतिकूलताएं तुरन्त अनुकूलताके रूपमें परिवर्तित हो गयीं और वह आनन्दसे कह उठे—

करिष्ये वचनं तव

—'तुम जो कुछ चाहोगे, जो कुछ कहोगे, बस, मैं वही करूंगा, वही मेरे जीवनका व्रत होगा।' इसीको अर्जुनने जीवनभर निबाहा। यही प्रेमतत्त्व है, यही शरणागति है। भगवान्की इच्छामें अपनी सारी इच्छाओंको मिला देना, भगवान्के भावोंमें अपने सारे भावोंको भुला देना, भगवान्के अस्तित्वमें, अपने अस्तित्वको सर्वथा मिटा देना, यही 'मामेक शरणं' है, यही प्रेमतत्त्व है, यही गीताका रहस्य है। इसीसे गीताका पर्यवसान साकार भगवान्की शरणागतिमें समझा जाता है। इसी परम पावन परमानन्दमय लक्ष्यको सामने रखकर प्रेमपथपर अग्रसर होना गीताके साधककी साधना है। इसीसे कविके शब्दोंमें साधक पुकार कर कहता है—

पकै अभिलाख लाख लाख भांति लेखियत,
देखियत दूसरो न देव चराचरमें।
जासों मनु रांचै, तासों तनु मनु रांचै,
रुचि भरिकै उघरि जांचै,सांचै करि करमें॥
पाँचनके आगे आँच लगे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारेकी सती लौं बैठे सरमें।
प्रेम सों कहत कोऊ, ठाकुर, न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहरे, तो पैठो प्रेम घरमें॥१॥

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसे नरलोक परलोक बरलोकनिमें,
लीन्ही मैं अलीक, लोक-लीकनिते न्यारी हौं॥
तन जाउ, मन जाउ, देव गुरु-जन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन-वारी बनवारीकी मुकुट वारी,
पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं॥२॥

तौक पहिरावौ, पांव बेड़ी लै भरावौ,
गाढ़े बन्धन बंधावौ औ खिंचावौ काची खालसौं।
बिष लै पिलावौ, तापै मूठ भी चलावौ,
माँझधारमें डुबावौ बाँधि पत्थर'कमाल'सों॥
बिच्छू लै बिछावौ, तापै मोहि लै सुलावौ, फेरि,
आग भी लगावौ बाँधि कापड़ दुसालसौं।
गिरिते गिरावौ, काले नाग ते डसावौ,
हा! हा! प्रीति ना छुड़ावौ गिरिधारी नंदलालसौं॥३॥

भगवान् वासुदेव

[ले०—स्व० खेतड़ीनरेश राजा अजितसिंहजी बहादुर]

वासुदेवके ईशपनेमें तनिक न मन सन्देह रह्यो।

(१)

धन्य धन्य अर्जुन बड़भागी जाने नैनन दरस लह्यो।
जापे करुणा करि करुणानिधि गीताको उपदेश कह्यो,
वासुदेवके ईशपनेमें तनिक न मन सन्देह रह्यो।

(२)

मोह समँदमें डूबत लखिके अरजुनको करमाँहिं गह्यो,
'अजित' ताहि उपदेश सुनत ही भेद-भरमको शिखर ढह्यो।
वासुदेवके ईशपनेमें तनिक न मन सन्देह रह्यो।

गीताका दुरुपयोग

(लेखक—गोस्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी)

(१)

महन्त रामदासजी तीर्थ-यात्रा करनेको जाने वाले थे, उन्होंने अपने चेले माधवदासको अपने स्थानका सारा प्रबन्ध सौंप दिया, और एक भक्तसे गीताकी दो पुस्तकें माँग ली। उनमेंसे एक पुस्तक अपने झोलेमें रख ली और दूसरी पुस्तक माधवदासको देकर कहने लगे कि गीताका विचार बराबर करते रहना और सावधान रहना। इतना कह-कर यात्राको चले गये। माधवदासने वह गीताकी पुस्तक किसी दूसरेके हाथ एक रुपयेमें बेच दी, फिर दूसरी पुस्तक किसीसे माँग लाये। उसे भी किसीको बेच दिया। बस, फिर तो 'लाभाल्लोभः प्रवर्तते' के अनुसार गीता-विक्रयका व्यापार खूब ही चमका। एक बाबाजीको गीता जैसी पुस्तक देनेमें कौन नाहीं कर सकता है और बाबाजीको भी उसे बेचनेमें क्या कठिनाई हो सकती है? इस प्रकार गीता बेचकर इकट्ठे किये हुए द्रव्यसे भोग-विलासकी सामग्रियोंका खूब ही संग्रह किया गया। जब साधु रामदासजी तीर्थयात्रासे लौटे और निर्जन स्थानमें विरक्तिकी जगह भोगविलासकी सामग्रियों-को देखा तो कुपित होकर अपने चेले माधवदाससे बोले 'क्यों रे माधव! यह सब क्या गड़बड़ है?' माधवदासने कहा, 'गुरु महाराज! यह गीताकी विभूति है, गुरुजीने कहा, अरे मूर्ख! यह गीताकी विभूति नहीं, यह तो गीताका दुरुपयोग है!'

(२)

आजकल चरखेकी प्रामाणिकता और शास्त्रीयता सिद्ध करनेके लिये लोग गीताके इन श्लोकोंको समाचारपत्रोंमें प्रकाशित करते हैं :-

> 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
> देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
> इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
> तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
> यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
> भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
> अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
> यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
> तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

इनमें 'एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः' से चर्खा सिद्ध किया जाता है, यह भी एक प्रकारसे गीताका दुरुपयोग ही है।

(३)

कुछ लोग गीताका और भी अधिक दुरुपयोग करते हैं वे कहते हैं गीताके अनुसार मृतक-श्राद्ध नहीं होना चाहिये। क्योंकि गीतामें लिखा है:—

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्याग कर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्याग कर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है। इसलिये श्राद्ध नहीं करना चाहिये।' यह गीताका दुरुपयोग है। क्योंकि इसमें श्राद्धका निषेध कहीं नहीं होता। नई देहान्तरकी प्राप्ति तो मृतकश्राद्ध माननेवाले भी उसके विरोधी नहीं हैं। फिर उनके सामने इस प्रमाणको क्यों रक्खा जाता है? इस मर्त्य-देहको छोड़कर यातना-देह, नरक-देह स्वर्ग-देह आदिकी प्राप्तिको तो वे लोग भी मानते हैं साथ ही वह भी मानते हैं कि जीव चाहे जिस लोक और देहमें जाय, पुत्रादि-कृत श्राद्धकर्मसे सद्गतिकी प्राप्ति, असद्गतिका नाश, और सत्तत इसे सुखकी प्राप्ति होती है। (श्राद्धमीमांसा बहुत विस्तृत विषय है, इस छोटे लेखमें उसका समावेश नहीं हो सकता) इस तरहका खण्डन 'वासांसि जीर्णानि' में कहाँ है? प्रत्युत गीतामें तो स्पष्ट ही श्राद्धका विधान और श्राद्ध न करनेसे नरककी प्राप्ति निर्दिष्ट है। 'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः' जिनके पिण्ड(श्राद्ध) और उदक क्रिया (तर्पण) लुप्त हो जाते हैं, वे पितर नरकमें गिरते हैं। अर्जुनके इन शब्दोंका भगवान्‌ने मौन रहकर समर्थन ही किया है। जिस गीतामें इस प्रकार श्राद्धकी आवश्यकता बतलायी है, उस गीताके 'वासांसि जीर्णानि' वाक्यसे श्राद्धका खण्डन करना गीताका दुरुपयोग करना है।

(४)

कोई कोई महाशय और अधिक साहस करते हैं, वे कहते हैं 'गीताके अनुसार तो ब्राह्मण-चाण्डाल सभी समान हैं, फिर ब्राह्मणोंका यह सारा ढकोसला है' गीतामें लिखा है:-

> विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

'हाथी, गौ और कुत्ता, तथा ब्राह्मण और चाण्डाल इनको जो समान देखते हैं वे पण्डित हैं' ऐसा कहकर भोलेभाले लोगोंको बहकाया जाता है, कितना अनर्थ है ? इस वचनमें सबको समान समझनेकी आज्ञा कहाँ है ? इसमें तो यह कहा गया है कि इन बड़े भेदवालोंमें भी 'सम' देखनेवाले पण्डित हैं। 'सम' क्या है, इसका खुलासा आगेके श्लोकमें किया गया है। 'निर्दोषं हि 'समं' ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः' अर्थात् सबमें ब्रह्मको देखनेवाले पण्डित कहलाते हैं। यह ठीक ही है, ब्रह्म सभीमें है। पर उसका ज्ञान और मनन दर्शन नहीं है, उसीके लिये यह निर्देश है"।

एक बात और भी है, इससे पहला श्लोक है-

> तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
> गच्छन्त्य पुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

इसमें ब्रह्मनिष्ठोंका वर्णन है, उन ब्रह्मनिष्ठोंकी दृष्टिमें ब्रह्मके अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं, फिर उनके लिये विद्याविनय-सम्पन्न ब्राह्मण और श्वपाकका भेद भाव कहां बाकी रह जाता है ? पर इस परमार्थ-वाक्यको व्यवहारमें लगाना गीताका दुरुपयोग करना है। जो ब्राह्मण और चाण्डालको समान बतलाते हैं, वह क्या गौका काम कुतियासे और कुतियाका काम गौसे ले सकते हैं ? इसके अतिरिक्त गीतामें ब्राह्मणोंका महत्व तो स्पष्टरूपसे ही मिलता है।

> मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
> किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

इसमें स्त्री, वैश्य और शूद्रको एक श्रेणीमें रखकर ब्राह्मणोंको इनसे पृथक् बहुत ऊंची श्रेणीमें 'किं पुनः' कहकर रक्खा है और क्षत्रियोंको कुछ नीचे रक्खा है। जहां इस प्रकार ब्राह्मणोंका महत्त्व है, वहां अपना मनमाना अर्थ लगाकर ब्राह्मणों और चाण्डालोंको व्यवहारमें समान बताना कितना अन्याय है ? इससे सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणोंका महत्त्व सदासे चला आता है, और गीताके आचार्य जगन्नियन्ताको भी वह वैसा ही मान्य है।

गीता और भागवतके श्रीकृष्ण ।

दुरुपयोगके विषयमें कुछ सूचना करके अब एक अन्य विषयपर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करता हूं, जो बहुत ही आवश्यक है। कुछ सज्जन कहा करते हैं कि भागवतके श्रीकृष्ण और हैं तथा गीता या महाभारतके श्रीकृष्ण दूसरे हैं। इनके समझानेके लिये इतना ही लिखना यथेष्ट होगा कि गीतामें १८वें अध्यायका पहला श्लोक यह है—

> संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
> त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥१॥

इसमें जो 'केशिनिषूदन' शब्द है वह केवल भागवतके श्रीकृष्णके लिये ही उपयुक्त होता है। क्योंकि 'केशी'का संहार भागवतहीके श्रीकृष्णका कार्य है, अर्जुनको इनके इस चरित्रका ज्ञान है, इसीलिये वह ऐसा सम्बोधन करते हैं। इससे प्रबल एक बात और भी है, कौरवोंकी सभामें दुखी होकर द्रौपदीने जब श्रीकृष्णको स्मरण किया तब वह कहती है 'गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रियः।' यह 'गोपजनप्रिय' शब्द सारी शंकाओंपर पानी फेर देता है, और एक सिद्धान्तकी प्रबल पुष्टि हो जाती है। यथा—

(१) श्रीभागवत और श्रीमहाभारतके श्रीकृष्ण ही एक नहीं हैं, बल्कि इन दोनों बृहद्ग्रन्थोंके रचयिता भी एक ही हैं।

(२) जिस 'गोपीजनप्रिय' के कारण श्रीमद्भागवतपर जो लोग आक्षेप करते हैं, महाभारतके इस वचनसे उनका मुंह बन्द हो जाता है।

(३) जिस प्रकार आजकलके लोग इस गोपीप्रेमका उपहास किया करते हैं, यह बात उस समय नहीं थी, यदि ऐसा होता तो द्रौपदीजी कदापि 'गोपीजनप्रिय' कहकर भरी सभामें भगवान्‌को न पुकारती।

(४) भक्तजन भगवान्‌की भक्त-वत्सलता, निरभिमानता, सर्वजनप्रियता आदि विशेष गुणागरी लीलाको स्मरण कर गद्गद हो जाते हैं और विश्वास करते हैं- जिस प्रकार अशरण-शरण, दीनवत्सल, पतितपावन, भगवान्‌ने भक्तिमती गोपियों-पर कृपाकी थी, इसी प्रकार कभी हमपर भी अवश्य कृपा करेंगे' इसी भावको लेकर दुःखसागरमें डूबी हुई द्रौपदी 'गोपीजनप्रिय' को याद्कर पुकारने लगी।

आशा है कि विद्वज्जन इस विषयपर और भी अधिक प्रकाश डालेंगे।

आदर्श ब्राह्मण मुद्गल

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥(गीता १८।४२)

द्वापरयुगमें महात्मा मुद्गल नामक एक आदर्श ब्राह्मण सपरिवार कुरुक्षेत्रमें निवास करते थे। मुद्गल पूर्ण जितेन्द्रिय, सत्यवादी, वेदपारङ्गत, सहनशील, दयालु, उदार और धर्मात्मा थे। वे शिलोञ्छ-वृत्तिसे ही अपना जीवन निर्वाह करते। शिलोञ्छ वृत्तिका अन्न भी ३४ सेरसे अधिक कभी इकट्ठा नहीं करते। घरमें जो कुछ होता सो दीन दुःखी अतिथि अभ्यागतोंकी सेवामें खुले हाथों लगाते। जैसे ब्राह्मण धर्मात्मा थे, वैसे ही उनकी धर्मपत्नी और सन्तान थीं। मुद्गलजी सपरिवार महीनेमें केवल दो ही बार अमावस्या और पूर्णिमाके दिन भोजन किया करते, सो भी अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन करानेके बाद। मुद्गलकी कीर्ति सारे देशमें फैल रही थी। एकबार दुर्वासाजीके मनमें परीक्षा करनेकी आ गयी। दुर्वासा महाराज जहां तहां व्रतशील उत्तम पुरुषोंको व्रतमें पक्का करनेके लिये ही क्रोधित वेशमें घूमा करते थे। मुद्गलके घर आकर दुर्वासाजी अतिथि हुए। पूर्णिमाका दिन था। मुद्गलने आदर-सत्कारके साथ ऋषिकी अभ्यर्थना पूजा कर उन्हें भोजन करने बैठाया। तीन आचमन-में समुद्र सुखा देनेवाले दुर्वासाजीके लिये मुद्गलके घरका थोड़ासा अन्न उड़ा जाना कौन बड़ी बात थी? बातकी बातमें सब कुछ जीम गये, बचा खुचा शरीरपर चुपड़ लिया। मुद्गल सपरिवार भूखे रहे। दुर्वासाजी हर पन्द्रहवें दिन आने लगे, यों छः बार आये। पन्द्रह दिनमें एक बार भोजन करनेवाला तपस्वी-कुटुम्ब तीन महीनेसे भूखों मर रहा है, परन्तु किसीके भी मनमें कुछ भी दुःख, क्रोध, क्षोभ या अपमानका विकार नहीं है। दुर्वासाजीकी परीक्षामें ब्राह्मण उत्तीर्ण हो गये। दुर्वासाने प्रसन्न होकर कहा,—

त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् दाता मात्सर्यवर्जितः॥
क्षुद्धर्मसंज्ञां प्रणुदत्या दत्ते धैर्यमेव च।
रसानुसारिणी जिह्वा कर्षत्येव रसान् प्रति॥
आहारप्रभवाः प्राणा मनोर्दुर्निग्रहं चलम्।
मनसश्चेन्द्रियाणाञ्चाप्यैकाग्र्यं निश्चितं तपः॥
श्रमेणोपार्जितं त्यक्तुं दुःखं शुद्धेन चेतसा।
तत्सर्वं भवता साधो यथावदुपपादितम्॥
प्रीताः स्मोऽनुगृहीताश्च समेत्य भवता सह।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं संविभागो दमः शमः॥
दया सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जितास्ते कर्मभिर्लोकाः प्राप्तोऽसि परमां गतिम्॥

(महाभारत वनपर्व २६०। २३ से २८)

'इस लोकमें तुम्हारे समान मत्सरतारहित दाता और कोई नहीं है, भूख ऐसी चीज है कि वह चमकते हुए धर्म, ज्ञान और धैर्यका नाश कर डालती है। रसलम्पट जीभ मनुष्यको रसकी ओर खींच लेती है, तुमने भूख और रस दोनोंको जीत लिया। प्राण भोजनके अधीन हैं, आहारके अभावमें प्राण नष्ट हो जाते हैं, मन बड़ा दुर्निग्रह है, इस चञ्चल मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेका नाम ही तप है। फिर बड़े परिश्रमसे मिली हुई वस्तुका निष्काम भाव और प्रसन्न मनसे सत्कारपूर्वक दान कर देना बड़ा ही कठिन है। परन्तु हे साधो! तुमने सब कुछ सिद्ध कर लिया है। इन्द्रियोंका विजय, धैर्य, उदारता, दम, शम, दया, सत्य और धर्मादि सभी उत्तम गुणोंका तुम्हारे अन्दर पूर्ण विकास हो गया है, तुमने अपने कर्मसे तीनों लोकोंपर विजय तथा परम पदकी प्राप्ति कर ली है।'

दुर्वासा यों कह ही रहे थे कि देवदूत विमान लेकर मुद्गलके पास आया। देवदूतने कहा, 'देव! आप महान् पुण्यवान् हैं, सशरीर स्वर्ग पधारें।' तदनन्तर मुद्गलके पूछनेपर देवदूतने स्वर्गसे लेकर ब्रह्मलोकतकके गुण-दोषोंका वर्णन किया। जिसपर मुद्गलने कहा, 'हे देवदूत! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं, तुम लौट जाओ, मुझे ऐसे दुःखमय और पुनरावर्ती स्वर्ग या ब्रह्मलोककी आवश्यकता नहीं है।

यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चलन्ति वा।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम्॥

(म० भा० वनपर्व २६१। ४४)

'मैं तो उस विनाशरहित परमधामको प्राप्त करूंगा, जिसे प्राप्त कर लेनेपर शोक और दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।'

यों कहकर मुद्गलने देवदूतको लौटा दिया और स्तुति-निन्दा, तथा स्वर्ण-मिट्टीको एकता समझते हुए ज्ञान-वैराग्यके साधनसे अविनाशी निर्वाणपदको प्राप्त किया!

ब्राह्मण मुद्गलमुनि

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥

સ. સા. મુદ્રણાલય—અમદાવાદ.

क्षत्रिय-वीर भीष्म

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ स. सा. मुद्रणालय-अहमदाबाद.

आदर्श क्षत्रिय भीष्म

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम्॥ (गीता १८।४३)

पितामह भीष्ममें उपर्युक्त क्षत्रियोंके समस्त स्वाभाविक गुणोंका पूर्ण विकास था। भीष्मजी मानों इन गुणोंके मूर्तिमान् अवतार थे। पिताके हेतु जीवनभरके लिये कामिनी-काञ्चनका त्याग कर डाला। शूरताकी तो सीमा थे। जिस समय काशिराजकी कन्या अम्बाके लिये शस्त्र-गुरु परशुरामजी युद्धकी धमकी देकर अम्बाका स्वीकार करनेके निमित्त भीष्मसे आग्रह करते हैं, तब भीष्म बड़ी नम्रतासे गुरुका सम्मान करते हुए अपनी स्वाभाविक शूरता और तेजस्विताके कारण कहते हैं—

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम्॥
(म० भा० उद्योग प० १७८।३४)

'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं कभी क्षात्र-धर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा सदाका व्रत है।' परशुरामजीको बहुत कुछ समझानेपर भी जब वे नहीं माने और धमकीपर धमकी देने लगे, तब भीष्मने कहा, आप कहते हैं कि मैंने अकेले ही इस लोकके सारे क्षत्रियोंको जीत लिया था, उसका कारण यही है कि—

न तदा जातवान् भीष्मः क्षत्रियोवाऽपि मद्विधः।

—उस समय भीष्म या भीष्मके समान किसी क्षत्रियने पृथ्वीपर जन्म नहीं लिया था, पर अब मैं आपके अभिमान-को चूर्ण कर दूंगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम! न संशयः॥'

लगातार तेईस दिनों तक भयानक युद्ध होता रहा, परन्तु परशुरामजी भीष्मको परास्त नहीं कर सके। ऋषियों और देवताओंने आकर दोनोंको समझाया परन्तु भीष्मने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार शस्त्र नहीं छोड़े, उन्होंने कहा—

मम व्रतमिदं लोके नाऽहं युद्धात् कदाचन।
विमुखो विनिवर्त्तेयं पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः॥

नाऽहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नाऽर्थकारणात्।
त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः॥
(म० भा० उद्योगपर्व १८५)

'मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मैं युद्धमें पीठ दिखाकर पीछे-से प्रहार सहता हुआ कभी निवृत्त नहीं होऊँगा। लोभ, दीनता, भय और अर्थ आदि किसी प्रकारसे भी मैं अपना सनातनधर्म नहीं छोड़ सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।' अन्तमें परशुरामजीको हार माननी पड़ी। यह है क्षत्रियका धर्म!

धर्मराजके राजसूय-यज्ञमें परम निर्भयता और धीरता-से भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजाका समर्थन किया। रणाङ्गण-में भगवान्की प्रतिज्ञा तुड़वा कर उन्हें शस्त्र उठवा दिया। दस दिनों तक भयङ्कर युद्ध करनेके बाद जब शर-शय्यापर गिर पड़े, तब भीष्मजीका सिर नीचे लटकता था, उन्होंने तकिया मांगा, लोग दौड़कर नरम नरम तकिये लाये, भीष्मने अर्जुनसे कहा—'वत्स! मेरा सिर नीचे लटक रहा है, मेरे लिये उचित तकियेकी व्यवस्था करो।' अर्जुनने वीर-वर पितामहकी आज्ञा मानकर उनके मनोनुकूल तीन बाण मस्तकके नीचे तकियेकी जगह मार दिये. सिर बाणों-पर टिक गया क्षत्रियोचित तकिया मिला। भीष्मने प्रसन्न होकर कहा—

शयनास्यानुरूपं मे पाण्डवोपहितं त्वया।
यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा॥
एवमेव महाबाहो! धर्मेषु परितिष्ठिता।
स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाऽऽजौ शरतल्पगतेन वै॥
(म० भा० भीष्म प० १२०।४८-४९)

हे पुत्र अर्जुन! तुमने मेरे रण-शय्याके योग्य ही तकिया देकर मुझे प्रसन्न कर लिया, यदि तुम मेरी बात न समझकर दूसरा तकिया देते तो मैं नाराज होकर तुम्हें शाप दे देता। क्षत्रियोंको रणाङ्गणमें प्राण त्याग करनेके लिये इसी प्रकार-की सेजपर सोना चाहिये। धन्य धीरता और वीरता! *

---

* भीष्मजीका संक्षिप्त सुन्दर जीवनचरित्र 'कल्याण' के तृतीय वर्षकी प्रथम संख्या भक्तांकमें सचित्र प्रकाशित हो चुका है—सम्पादक।

गीता और प्रेमतत्त्व

एवं

श्रीगौराङ्ग

(ले०-आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

(१८ । ६५)

इसमें प्रेमतत्त्वकी व्याख्या है—

(प्रे) मुझमें अपना मन लगाओ ।
(म) मेरे भक्त बनो,
(त) मेरा यजन करो,
(त्व) मुझे नमस्कार करो,

तुम मेरे प्रिय हो, सत्य कहता हूं, तुम मुझे ही प्राप्त होओगे ।

गीताके अठारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णका यह अन्तिम उपदेश है । गीता सब शास्त्रोंका सार है । उसमें भी ६४, ६६ के दो श्लोक परम सार हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे पार्थने गुप्तसे गुप्त अनेक तत्त्वोंके उपदेश अच्छी तरह सुने, समझे, शंकाएं की, प्रश्न किये, किन्तु कहीं भी ऐसा प्रेममय मधुर उपदेश-हृदयमें छिपा हुआ प्रेमधन प्यारे सखाको नहीं मिला ! यहां तो प्राणोंके प्राण प्रियतम-श्रेष्ठ कहते हैं—

सर्वगुह्यतम भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

(१८ । ६४)

फिर मेरा सब गुह्योंसे भी गुह्यतम परम वचन सुन, तू मेरा अत्यन्त प्यारा है इसलिये तेरे हितकी कहूंगा ।

भगवान् श्रीकृष्णके यह तो वचन ही हैं कि 'गीता मे हृदयं पार्थ' और यह भी नियमकी बात है कि बाहरका सब धन व्यय हो जानेपर ही खजानेमें छिपा हुआ धन निकलता है । इसीसे गीतारूपी हृदयमें जो गुप्त प्रेम-धन (तत्त्व) था, वह अन्तमें धनञ्जयको ही मिला । तभी तो अर्जुनकी अन्तिम उक्ति तृप्तिपूर्ण है, वह कहते हैं—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(१८ । ७३)

हे अच्युत ! तुम्हारी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मैंने स्मृति पा ली, सन्देह दूर हुआ, (अब) स्थित हूं, आपके कथनानुसार करूंगा ।

यहींपर श्रीकृष्णार्जुन-संवादकी समाप्ति है । अच्युत शब्दके सम्बोधनसे यह भाव प्रकट होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने ब्रजमें सञ्चित प्रेम-धनको मथुरा, द्वारिका, इन्द्रप्रस्थमें खूब वितरण किया, पर वह घटा नहीं । उस प्रेम-धनके खजानेमें जो अमूल्य रत्न प्रेम-तत्त्व था वह कुरुक्षेत्रमें प्यारे कौन्तेयको दिया गया । ब्रजमें सञ्चित प्रेमका तत्त्व तो इसी एक उदाहरणसे ज्ञात होता है कि जिस समय श्रीकृष्णने प्रिय सहचर उद्धवको वृन्दावन भेजा, उस समय उसे प्रेम-प्रतिमा ब्रजबालाने सहज स्वभावसे यही तो कहा कि—

कौन ब्रह्मकी ज्योति, ज्ञान कासों कहे ऊधो ।
मेरे सुन्दर श्याम, प्रेमको मारग सूधो
सखा सुन श्यामके ॥

श्रीकृष्णने ६४ वें श्लोकके पूर्वार्द्धमें जो चार बातें कही हैं वे ठीक प्रेमको पुष्ट करती हुई उसके तत्त्वतक पहुंचानेवाली हैं । इतना हो जाने पर प्रेमी और प्रेम-पात्रमें भेद नहीं रहता । गीता-शास्त्रका उपसंहार भी इसी गुह्यतम तत्त्वपर हुआ है । जो तत्त्व आग्रह और प्रेमपूर्वक प्रिय सम्बोधनके साथ दोको एक करता है, वही प्रेमतत्त्व है ।

लेखके शीर्षकके अनुसार गीता और गौराङ्गका क्या सम्बन्ध है ? शिक्षित समाजको यह बात भलीभाँति विदित है कि द्वापर युगके शेषमें श्रीकृष्ण भगवान् अवतीर्ण हुए थे । भगवान्ने अधर्मका नाश कर धर्मका प्रकाश किया । महत्पुरुषोंका तो यह अनुभव है कि अनन्य भक्तोंकी चिर कालसे बढ़ी हुई प्रेम-पिपासाको शमन करनेके लिये ही भगवान् परिपूर्णरूपसे अवतीर्ण हुए थे । परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि, श्रीकृष्णने ही श्रीकृष्ण-चैतन्यरूपसे अवतार लेकर श्रीकृष्णावतारके शेष कार्यको श्रीचैतन्यावतारमें पूर्ण किया था । शास्त्र-मञ्जूषासे भी यही ज्ञात होता है, क्योंकि सतयुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ, द्वापरमें परिचर्या

और कलिमें नाम-संकीर्तन यही चारों युगोंके चार साधन हैं। जीवोंकी सांसारिक स्थिति युग युगमें पृथक् पृथक् होती है। अन्य युगोंमें मनुष्य धीशक्ति-सम्पन्न होते हैं, सदुपदेशों-को धारण कर धर्मका आचरण करते हैं। किन्तु कलियुगके जीवोंमें अन्तर है, श्रीभागवतमें लिखा है कि–

'मन्दा सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।'

(कलिके मनुष्य) मन्द-मति और मन्द-भाग्य होते हैं। इन धारणाशक्तिविहीन दुर्बल बुद्धिवालोंके लिये उपदेशसे काम नहीं चलता, आवश्यकता होती है स्वयं आचरण करके शिक्षा देनेकी। जिस समय यह आवश्यकता हुई उस समय गीताकी इस उक्तिके अनुसार–

'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्'

–परम दयालु श्रीकृष्णने, कलिके साधनकी स्वयं आचार-द्वारा शिक्षा देनेके लिये, श्रीकृष्णचैतन्यरूपसे अवतार ग्रहण किया।

श्रीगौराङ्गके प्रेमतत्त्व-प्रचारके विषयमें विस्तारभयसे अधिक न लिख कर इतना कथन पर्याप्त होगा कि आपको प्रेमावतार नामसे ही ग्रन्थोंमें सम्बोधन किया है।

प्रेमभक्ति-शिक्षार्थ, आपनि अवतार,
राधाभाव कान्ति दुई करी अङ्गीकार। (चै०च०)

श्रीकृष्णने गीतामें प्रेमतत्त्वका प्रकाश किया और श्रीचैतन्यने स्वयं आचरणद्वारा उक्त तत्त्वका प्रचार किया।

'सब तत्त्वोंका समावेश प्रेमतत्त्वमें है'

अनन्तके पथमें

फूलों-सी यह जीवन-तरणी,
ख़ुद ही खेवनहार;
चिर चिन्ताका गहन सरोवर,
नाव पड़ी बिच धार।

दूर किनारा नहीं सहारा,
नाविक निपट गँवार;
पार लगा दो, इसे बचा दो,
सुन लो, करुण पुकार।

भाव पुराने, भगत नया है,
मुँदे हृदयके द्वार;
निशा अँधेरी, नयन उनींदे,
कैसे पाऊं पार?

इस दुखियाकी विषम पहेली,
करो न आधिक अबार,
बाहोंमें बल, करमें दे दो,
साहसकी पतवार।

–कुंवर व्रजेन्द्रसिंह 'साहित्यालङ्कार'

गीताका काल और अन्य सम्बद्ध विषय

[लेखक रावबहादुर श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल बी०]

'कल्याण' के सम्पादकोंके अनुरोधसे मैं 'गीताके काल' तथा दो सम्बद्ध विषयोंके सम्बन्धमें अपने सिद्धान्तोंको 'कल्याण' के पाठकोंके सम्मुख बहुत संक्षेपमें रखना चाहता हूं। सम्पादकोंद्वारा प्रकाशित सूचीमें गीतासे सम्बन्ध रखनेवाले जो १०८ विषय चुनकर रक्खे गये हैं, उनके देखनेसे पता लगता है कि गीतासम्बन्धी जिज्ञासाका क्षेत्र कितना विशाल है और यह ग्रन्थ केवल हिन्दुओंके लिये ही नहीं अपितु संसारभरके आध्यात्मिक जिज्ञासुओंके लिये कितना अमूल्य है। इस अनुपम ग्रन्थकी रचना कब हुई, यह प्रश्न स्वभावतः प्रत्येक मनुष्यके चित्तमें उत्पन्न होता है। इस प्रश्नका जो उत्तर मैंने सोचा है उसे मैं जिज्ञासु पाठकोंके सम्मुख रखना चाहता हूं।

गीताके ही पढ़नेसे यह विदित होता है कि इसका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने महाभारत-युद्धके प्रधान योद्धा अर्जुनको रणाङ्गणमें युद्ध प्रारम्भ होनेके पूर्व उस समय दिया था जब कि सारे रणवीर एक दूसरेके सामने युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत खड़े थे। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय युद्धके प्रारम्भका दिन गीताके उपदेशका दिन है। इस युद्धके प्रारम्भकी तिथिके सम्बन्धमें मेरा यूरोपीय विद्वानों और उनके कतिपय भारतीय अनुयायियोंके साथ कुछ मतभेद है। मेरी धारणा है कि भारतके सारे प्राचीन लेखकोंने, विशेषकर गणितज्ञोंने, युद्धकी जो तिथि निश्चित की है यानी शालिवाहनसे ३१८० वर्ष पूर्व अथवा ईसासे ३१०२ वर्ष पहलेकी मार्गशीर्ष शुक्ल १३ के दिन युद्धारम्भ बताया है, सो ठीक है।

यहांपर मैं इस मतभेदका सविस्तर उल्लेख न कर उन हेतुओंका ही दिग्दर्शन मात्र कराना चाहता हूं, जिनके आधारपर मैंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है।

भारतीय युद्धके वीरोंका 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लेख मिलता है। भारतीय युद्धके इस ग्रन्थमें एक स्थानपर नक्षत्रोंके सम्बन्धमें लिखा है कि कृत्तिका नामक नक्षत्र-समूहका ठीक पूर्व दिशामें उदय होता है। इस वाक्यके आधारपर श्रीयुत शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितने, जिन्होंने आधुनिक कालमें भारतीय खगोलविद्याके सम्बन्धमें कई महत्त्वपूर्ण गवेषणाएं की हैं, यह निश्चित किया है कि इस ग्रन्थकी रचना ईसामसीहसे अनुमानतः ३००० वर्ष पूर्व हुई थी। पिछले दिनों जर्मनीके विद्वान् डा० विण्टरनिज़ने यह कहकर इस काल-मानको असिद्ध करना चाहा था कि शतपथमें जो यह लिखा है कि 'एता ह वै कृत्तिकाः प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते' इसका अर्थ यह नहीं है कि कृत्तिकाओंका पूर्व दिशामें उदय होता है। डाक्टर महोदयके मतमें इसका अर्थ केवल यही है कि कृत्तिकाएं पूर्व रेखापर आती हैं। किन्तु 'शतपथ' में इसके ठीक आगेका जो वाक्य है—'सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि च्यवन्ते' (अर्थात् कृत्तिकाको छोड़कर शेष सारे नक्षत्रोंका उदय पूर्व दिशासे हटकर होता है) उससे उनके इस अर्थका खण्डन हो जाता है, मैंने इस विषयपर कुछ दिन हुए 'भाण्डारकर गवेषणाशाला' (Bhandarkar Research Institute) के मुखपत्रमें प्रकाशित एक निबन्धमें सविस्तर विवेचन किया है। ऐसी दशामें जिन परीक्षितादि राजाओंका शतपथ ब्राह्मणमें अर्वाचीन राजा कहकर उल्लेख किया गया है, उन्हें यदि अर्जुनके पौत्र और प्रपौत्र ही समझा जाय तो सारे भारतीय ज्योतिर्विदोंने युद्धके प्रारम्भका जो काल माना है—अर्थात् कलियुगके प्रारम्भसे एक वर्ष पूर्व अथवा ईसासे ३१०२ वर्ष पूर्व युद्ध होना बतलाया है, उसका शतपथ ब्राह्मणके उपर्युक्त वाक्योंसे पूर्णतया समर्थन होता है। पुराणोंमें जरासन्धके पुत्र बृहद्रथसे लेकर नवनन्द पर्यन्त जो राजाओंकी पीढ़ियां मिलती हैं, उनके आधारपर यूरोपीय एवं कतिपय भारतीय विद्वानोंने भारतीय युद्धका काल ईसासे अनुमानतः १४०० वर्ष पूर्व माना है, किन्तु शतपथमें जो पुष्ट प्रमाण मिलते हैं उनके सामने पुराणोंके इन प्रमाणोंका कोई मूल्य नहीं है। वास्तवमें पुराणोंमें जो प्राचीन राजघरानोंकी वंशावलियां दी हुई हैं उनपर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता, विशेषकर जब कि उनका यूनानी यात्री मेगेस्थनीज़के वृत्तान्तके साथ जो ईसामसीहसे अनुमानतः ३२० वर्ष पूर्व लिखा गया था,—विरोध होता है, जैसा कि मैंने अपनी 'महाभारत-मीमांसा' नामक हिन्दीकी पुस्तकमें विस्तारपूर्वक बतलाया है। हम लोगोंके वैमत्यके इस संक्षिप्त विवरणसे पाठकोंको विदित हो गया होगा कि भारतीय युद्धका काल ईसामसीहसे ३१०२ वर्ष पूर्व ही मानना युक्तिसंगत है।

श्री नृसिंह चिन्तामणि केलकर ।

श्री जी० बी० केतकर ।

गीता वाचस्पति पं० सदाशिव शास्त्री भिडे ।

राव बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ।

श्रीनानामहाराज साखरे ।

पं० रामचन्द्र कृष्ण कामत ।

पं० आनन्दघनरामजी, सतारा ।

पं० दिगम्बरदासजी, गोधा ।

युद्ध कौनसी तिथिको प्रारम्भ हुआ इस सम्बन्धमें भी मेरा अपने मित्र श्रीयुत करन्दीकर आदिके साथ कुछ मत-भेद है, किन्तु हम लोगोंकी तिथियोंमें अन्तर केवल दो ही दिनका है। मेरी धारणा है कि मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशीको युद्ध प्रारम्भ हुआ और श्रीयुत करन्दीकरका मत है कि एका-दशीको प्रारम्भ हुआ। अतएव श्रीयुत करन्दीकर और उनके अनुयायियोंने गीताजयन्तीका दिवस मार्गशीर्ष शुक्ला ११को ही माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैष्णवोंमें एकादशी-का बड़ा माहात्म्य है, किन्तु महाभारतमें ही युद्धका जो वर्णन मिलता है और इस सम्बन्धमें जो बातें लिखी गयी हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि युद्धका प्रारम्भ शुक्ला १३को ही हुआ था। नीलकण्ठ आदि प्राचीन लेखकों एवं महाभारतके टीकाकारोंने भी यही तिथि मानी है। इससे यह विदित हो गया होगा कि मेरे इस मतकी प्राचीन प्रमाणोंसे भी पुष्टि होती है और मैं आशा करता हूं कि भविष्यमें गीता-जयन्ती प्रतिवर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला १३ को ही मनायी जायगी। श्रीयुत करन्दीकर और पूनाके गीता-धर्ममण्डलने भी नील-कण्ठादि प्राचीन लेखकोंके द्वारा स्वीकृत तिथिको इस अंश तक मान लिया है कि उन्होंने जयन्ती-महोत्सव तीन दिनतक अर्थात् एकादशीसे त्रयोदशीपर्यन्त मनाना स्वीकार किया है। अंगरेज़ी हिसाबसे महाभारतका युद्ध ईसामसीहसे ३१०२ वर्ष पूर्व दिसम्बर मासमें प्रारम्भ हुआ था और गीताका उपदेश उसी दिन पूर्वाह्नमें हुआ।

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके सिद्धान्तोंका जिस वर्ष और तिथिको उपदेश दिया था, उसके विषयमें अपना मन्तव्य पाठकोंके सम्मुख रख देनेके अनन्तर अब हम यह कहना चाहते हैं कि जिस रूपमें गीता आज हमारे सामने है, उसकी इस रूपमें रचना महाभारतके प्रारम्भके दिन नहीं हो सकती थी। क्योंकि यथार्थमें जो उपदेश दिया गया था, उसमें गीताका पहला अध्याय नहीं आ सकता। उपदेशका सारा वृत्तान्त पीछेसे किसीने कवितारूपमें सम्बद्ध कर दिया और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कार्य भगवान् व्यासजीने ही किया है जिस प्रकार ईसामसीहके उपदेशोंको सेण्ट जॉन इत्यादिने 'न्यू टेस्टामेण्ट' के कई भागोंमें सङ्कलित किया, इसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि श्रीव्यासजीने सर्वप्रथम इस दिव्य-सन्देशको पुस्तकाकारमें संग्रहीत किया, जिससे लोग उसका पाठ एवं अध्ययन कर सकें। सभी पाठक इस बातको स्वीकार करेंगे कि 'अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः' ये शब्द इस रूपमें वास्तवमें श्रीकृष्णके मुखसे निकले हुए नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उस समय उनके सामने कोई ग्रन्थ तो उपस्थित था ही नहीं, जिसका लोग पाठ अथवा अध्ययन (अध्येष्यते) करते। अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि इस रूपमें ये शब्द श्रीव्यासजीके हैं, जिन्होंने सबसे पहले भारतीय युद्धके विषयमें अपना बृहद् ग्रन्थ लिखा था। किन्तु यह ग्रन्थ कब लिखा गया, सो निश्चयरूपसे नहीं कहा जा सकता। हां, इतनी बात अवश्य है कि उन्होंने इस ग्रन्थको युद्धसे थोड़े ही दिनोंके अनन्तर लिखा होगा और इस आधारपर हम स्थूलरूपसे यह कह सकते हैं कि गीताके मूल ग्रन्थकी रचना ईसामसीहसे अनुमानतः ३१०० वर्ष पूर्व हो गयी होगी।

परन्तु यह बात भी स्पष्ट है कि जिस रूपमें यह ग्रन्थ हम लोगोंके सामने है, वह सर्वांशमें ज्योंका त्यों व्यास-जीका बनाया हुआ नहीं है। हम इस बातको निश्चितरूपसे जानते हैं कि व्यासजीका बनाया हुआ मूलग्रन्थ—जो जयके नामसे प्रसिद्ध था (ततो जयमुदीरयेत्, जयो नामेतिहासोऽयम् इत्यादि)—दो बार पुनर्ग्रथित अथवा परिवर्द्धित किया गया। एक बार तो यह कार्य महर्षि वैशम्पायनके द्वारा हुआ, जिन्होंने उसे सम्राट् जनमेजयको सुनाया, और दूसरी बार यह कार्य श्री सौति (सूतपुत्र) के द्वारा हुआ, जिन्होंने इसे शौनकादि ब्राह्मणोंको नैमिषारण्यमें पढ़कर सुनाया। क्योंकि व्यासजीके मूलग्रन्थमें जनमेजय और उनके सर्पसत्रकी कथा नहीं आ सकती थी और वैशम्पायनने इस यज्ञके अवकाशके समयमें भारतका आख्यान किस प्रकार सुनाया, इसका भी वृत्तान्त उस ग्रन्थमें नहीं आ सकता था। यही नहीं, वैशम्पायनकी रचनामें सौतिके द्वारा इस कथाके ऋषियोंको सुनाये जानेका उल्लेख भी नहीं हो सकता था। इस ग्रन्थ-की प्रसिद्धि भी क्रमशः तीन नामोंसे हुई। 'जय', 'भारत' और 'महाभारत'। वैशम्पायनके 'भारत' की श्लोकसंख्या २४००० दी गयी है, एवं महाभारतकी श्लोकसंख्या एक लाख है, यह प्रसिद्ध ही है। गीताका मूलग्रन्थ व्यासजीके 'जय' के अन्तर्गत था; किन्तु जिस रूपमें यह ग्रन्थ हमें इस समय प्राप्त है, वह वैशम्पायनके 'भारत' से उद्धृत है, न कि सौतिके 'महाभारतसे। यह हमारा निश्चित मत है। यह मत हमने जिन युक्तियोंके आधारपर स्थिर किया है उनका हमारे 'महाभारत-मीमांसा' ग्रन्थके अन्तिम प्रकरणमें विस्तारसे उल्लेख है। परन्तु साथ ही इस अवसरपर यह बात भी संक्षेपरूपसे कही जा सकती है कि 'महाभारत' में भी इस ग्रन्थका माहात्म्य इस प्रकार वर्णित है कि अर्जुनने

श्रीकृष्णसे उस उपदेशको फिरसे कहनेकी प्रार्थना की, जो उन्होंने युद्धभूमिमें कहा था। परन्तु श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि, जो बात मैंने तुम्हें उस समय योगयुक्त चित्तसे कही थी, उसे मैं दुबारा नहीं कह सकता। फिर भी मैं तुम्हें एक दूसरा प्रसङ्ग कहूंगा!' यह कहकर फिर महाभारतमें अनुगीता-का उपदेश दिया गया। प्रत्येक ग्रन्थकारका यही अनुभव होता है। जो लेख पहली बार चित्तमें स्फुरणा होते ही और ऐसे समय लिखा जाता है, जब चित्तमें प्रतिपाद्य विषय छा गया हो, वह दूसरी बार वैसाका वैसा नहीं लिखा जा सकता (यदि थोड़ी देरके लिये यह मान लिया जाय कि वह ग्रन्थ खो गया हो)। इसके अतिरिक्त गीताके श्लोकोंको 'महाभारत' में आदिसे अन्त तक कई स्थलोंमें कई बार दोहराया गया है, जैसे किसी प्रामाणिक ग्रन्थके श्लोकोंको उद्धृत किया जाता है। इससे यह निश्चय हो गया कि गीता सौतिके 'महाभारत' का अंश नहीं है, किन्तु वैशम्पायनके 'भारत' का एक टुकड़ा है। 'महाभारत' का रचना-काल ईसामसीहसे लगभग २५० वर्ष पूर्व माना जाता है, जैसा हमने अपनी 'महाभारत मीमांसा' के पहले प्रकरणमें विस्तारपूर्वक दिखलाया है, किन्तु वैशम्पायनके 'भारत' का काल असन्दिग्ध रूपसे स्थिर नहीं किया जा सकता। अतः जिस रूपमें आजकल हमें गीता प्राप्त है, उसके इस रूपका काल अनिश्चित है।

परन्तु कई प्रमाण ऐसे हैं जिनसे स्थूल रूपमें यह अनुमान होता है कि ईसामसीहसे लगभग १५०० वर्ष पूर्व इसका निर्माण हुआ था। पहली बात तो यह है कि गीताकी भाषा पढ़नेमें वह ऐसी मालूम होती है, जैसे उस समय वह बोली जाती रही हो। उसका स्वरूप उस प्रामाणिक संस्कृतका नहीं है जो जनताकी बोलचालकी भाषा न रहकर केवल पण्डितोंके ही द्वारा बोली जाने लगी थी। हमें यह मालूम है कि भगवान् बुद्धने अपने नवीन मतका जनताको पाली भाषामें उपदेश दिया था, जो प्राकृतका ही एक भेद है, इसलिये यह बात निश्चित हो जाती है कि उनके समयमें संस्कृत भाषा लुप्त हो चुकी थी और वह जनसाधारणके द्वारा नहीं बोली जाती थी, अतः गीताकी रचना भगवान् बुद्धसे पूर्व होनी चाहिये। भगवान् बुद्धका प्रादुर्भाव ईसासे ६०० वर्ष पूर्व हुआ था। दूसरे, गीतामें बौद्धधर्मका कहीं उल्लेख भी नहीं है। यद्यपि 'महाभारत' में उसके बहुतसे सिद्धान्तोंका उल्लेख किया गया है। कई लोगोंकी यह धारणा है कि गीताके १६ वें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिके वर्णनमें एक जगह बौद्ध सिद्धान्तोंकी ओर सङ्केत किया गया है। परन्तु वास्तवमें यह वर्णन अनीश्वरवादियों (Atheists) का है, क्योंकि बौद्ध धर्म तो संन्यासका पक्षपाती है, वह सांसारिक भोगोंका पक्ष नहीं करता 'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी। आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया' इस श्लोकमें जब भोगवादी (Materialist) की मनोवृत्तिका वर्णन है, न कि बौद्धोंकी मनोवृत्तिका। ये भोगवादी लोग दिखानेके लिये यज्ञादि कर्म, भी करते हैं।

इसके अतिरिक्त इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि गीताकी रचना उपनिषदोंके पीछे हुई है। संन्यासके सिद्धान्तका प्रतिपादन सबसे पहले बृहदारण्यकोपनिषद्में मिलता है और प्राचीन तेरहों उपनिषदोंमें इसका प्रभाव झलकता है। यह बात स्पष्ट है कि गीता स्वरूपसे कर्मत्याग-रूप संन्यासपरक नहीं है। असली बात तो यह है कि अर्जुनने संन्यासके भावोंसे प्रेरित होकर ही गीतामें पहला और दूसरा प्रश्न पूछा एवं श्रीकृष्णने अपने उपदेशको इस छोटेसे वाक्यमें गागरमें सागरकी तरह भर कर रख दिया।

> संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
> तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

जो लोग संन्यासका उपदेश ही गीताका उद्देश्य मानते हैं वे इस श्लोकका उल्टा ही अर्थ लगाते हैं। लोकमान्य तिलकने इसका यथार्थ भाव बतलाया है और वही इसका स्वाभाविक अर्थ है।

मैत्रायणी उपनिषद्में भी एक वाक्य नक्षत्रोंके सम्बन्धमें मिलता है, जिससे यह अनुमान होता है, (तिलक महोदयने बतलाया है) कि उसकी रचना ईसामसीहसे लगभग १९०० वर्ष पूर्व हुई होगी। अतः गीताकी रचना ईसासे पूर्व ११०० और ६०० वर्षके बीचमें कहीं हुई है ऐसा मानना चाहिये। यह कालमान बहुत लम्बा अवश्य है, किन्तु इसकी जो पूर्वापर सीमा निर्धारित की गयी है, वह निश्चयात्मक एवं अकाट्य है।

कुछ प्रमाण ऐसे और हैं, जिनसे गीताके रचना कालके विषयमें और भी पक्का एवं निकट अनुमान हो सकेगा। कई विद्वानोंने यह बतलाया है कि गीताकी रचना भगवान् बुद्धसेही पूर्व नहीं अपितु महर्षि पाणिनिसे भी पूर्व हुई है। यह बिल्कुल ठीक है। गीतामें कई अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं—जैसे 'युध्य' इत्यादि। इसी प्रकार 'द्वन्द्वः सामा-

सिकस्य च' इसमें व्याकरण-सम्बन्धी बात अवश्य कही गयी है, किन्तु इसमें पाणिनिके व्याकरणकी ओर कोई सङ्केत नहीं है। 'चतुर्युगसहस्रान्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः' यह वाक्य यास्कके निरुक्तमें उद्धृत किया गया है, यद्यपि इसका परिशिष्टमें उपन्यास किया गया है। 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' यह श्लोकचरण और भी रोचक है, क्योंकि हिन्दू-मासोंके मार्गशीर्षादि नाम पीछेके हैं। वैदिक कालके मधु-माधवादि नाम इनसे भिन्न थे। ये अर्वाचीन नाम ईसासे लगभग २००० वर्ष पूर्व प्रचलित हुए, ऐसा श्रीयुत शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितका अनुमान है। किन्तु वेदाङ्ग-ज्योतिषके अनुसार संवत्सरका पहला मास माघ है, इसलिये गीताकी रचना वेदाङ्ग-ज्योतिषके प्रचारसे भी पूर्व होनी चाहिये। आर्क बिशप प्रैटके हिसाबसे, जिन्होंने प्रो० मैक्समूलरके लिये यह प्रयास किया था,—वेदाङ्ग-ज्योतिषका प्रचार ईसामसीहसे अनुमानतः ११८० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। दीक्षितजीके मतके अनुसार वेदाङ्ग-ज्योतिषका प्रचार ईसासे अनुमानतः १४०० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। इसलिये गीताका रचना-काल बिना किसी अड़चनके ईसामसीहसे लगभग १४०० वर्ष पूर्व माना जा सकता है। गीतामें एक वाक्य और है जिससे उपर्युक्त अनुमानकी पुष्टि होती है। यह माना जा सकता है कि गीताकी रचनाके पूर्व ही श्रीकृष्ण एक दैवी पुरुष,—नहीं नहीं, परमेश्वरके अवतार माने जाने लगे थे, किन्तु अर्जुन कदाचित् उस समय तक देवरूप नहीं माने जाते थे। परन्तु जहाँ श्रीकृष्णने अपने मुखारविन्दसे यह कहा कि 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः' वहीं अर्जुनकी पूजाकी भी नींव पड़ गयी। 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' इस पाणिनिके सूत्रसे यह निश्चय होता है कि उनके समयमें भगवान् वासुदेव और अर्जुन दोनोंकी पूजा होती थी, अवश्यही आगे चल कर अर्जुनकी वह पूजा बन्द हो गयी। इसलिये गीताकी रचना महर्षि पाणिनिके समयसे पूर्व हुई, इसमें कोई सन्देह नहीं। अधिकांश भारतीय विद्वान् महर्षि पाणिनिका काल ईसामसीहसे ८०० वर्ष पूर्व मानते हैं, यद्यपि पाश्चात्य विद्वानोंने उनका काल ईसामसीहसे लगभग ३०० पूर्व माना है, हम यदि भारतीय विद्वानोंका मत ही ठीक मानें तो गीताका काल ईसासे लगभग १२०० अथवा कमसे कम १००० वर्ष पूर्व मान सकते हैं। परन्तु श्रीकृष्णने अपनेको मासोंमें मार्गशीर्ष बताया है (गी० १०। ३५) इससे यह स्पष्ट है कि गीताके समय सालके महीनोंके क्रममें मार्गशीर्ष सबसे पहिला मास गिना जाता था। वेदाङ्ग-ज्योतिषके चलने पर, जिसका आरम्भ गणित प्रमाणों द्वारा ईसासे १२०० वर्ष पूर्व सिद्ध हो चुका है, सालके महीनोंके क्रममें माघ सबसे पहिले गिना जाने लगा। अतः गीताका काल वेदाङ्ग-ज्योतिषके आरम्भसे पूर्व अर्थात् ईसासे १४०० वर्ष पूर्व माना जा सकता है। पर यह काल पक्का नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हो सकता है कि गीतामें मास गिननेका क्रम नया होते हुए भी पुराना ही उपयोगमें लाया गया हो, जैसा कि अब भी सिन्ध तथा पंजाबके कुछ पश्चिमीय भागोंमें लाया जाता है।

भगवान् बुद्धसे पूर्वके भारतवर्षकी जो राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति थी, उसके इतिहासका सविस्तर ज्ञान न होनेके कारण गीताका यथार्थ काल निश्चित करना कठिन है। गीतामें अहिंसाके सिद्धान्तका उपदेश दिया गया है, यह सत्य है, किन्तु यह सिद्धान्त भगवान् बुद्धका नहीं है। उपनिषदोंमें अहिंसाके सिद्धान्तका पहले ही प्रतिपादन हो चुका था ('अहिंसन् सर्वाणि भूतान्यत्र तीर्थेभ्यः') और गीताने उसीका अनुसरण किया है। गीतामें यज्ञार्थ हिंसाको छोड़कर अन्य सब प्रकारकी हिंसाका निषेध है। हिन्दुओंका विश्वास था और अब भी है कि यज्ञार्थ हिंसा, हिंसा नहीं है। इसके विपरीत भगवान् बुद्धने हिंसाका सर्वथा निषेध किया है। श्रीकृष्णने अहिंसाका उपदेश अवश्य दिया और उन्होंने उसे ज्ञानका आवश्यक अङ्ग भी समझा है (अहिंसा सत्यमक्रोधः इत्यादि)। किन्तु उन्होंने यज्ञार्थ हिंसाका निषेध नहीं किया, यद्यपि उपनिषदोंकी भांति उन्होंने भी इस प्रकारकी हिंसाको संन्यास अथवा कर्मयोगकी अपेक्षा नीचा कहा है। इतनाही नहीं, यह उपदेश देते समय, कि स्वर्गकी कामना न रखते हुए प्रत्येक मनुष्यको यज्ञ करना चाहिये,—वे उपनिषदोंसे भी आगे बढ़ गये हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णका उपदेश उपनिषदोंके पीछेका है और उन्होंने एक रीतिसे उपनिषदोंसे भी पहलेके यज्ञ सिद्धान्तका समर्थन किया है। किन्तु यज्ञप्रयुक्त हिंसा अथवा अहिंसाका प्रश्न उनके सामने नहीं था। गीताके उपदेशके मूलमें धार्मिक प्रश्न था ही नहीं, अर्जुनको जो प्रश्न हैरान कर रहा था वह निरा नैतिक प्रश्न था और यज्ञमें पशुबलिके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रश्न तो यह था कि युद्धमें,—चाहे वह बिल्कुल न्याय ही क्यों न हो,—मनुष्योंकी और विशेषकर बन्धुओंकी हिंसा, नैतिक दृष्टिसे उचित है या नहीं? इतिहासके प्रारम्भसे आजतक मनुष्य स्वभावसे लहूका प्यासा रहा है, क्योंकि इतिहासमें युद्ध—रक्तरंजित

युद्ध एवं विजेताओं अथवा विजेत्री जातियोंके द्वारा मुख्यतया भूमि-खण्डके लिये और दूसरी जातियों पर राजनैतिक प्रभुत्व जमानेके लिये समय समयपर जगत्में जो नरहिंसा हुई है, उसके वृतान्तके अतिरिक्त और है ही क्या ? क्या हमें न्यायके नामपर भी अपने सम्बन्धियोंके रक्तसे हाथ रंगना और उनका अनुसरण करनेवाले लाखों मनुष्योंकी हत्या करना उचित है ? यही प्रश्न अर्जुनके चित्तको व्यथित कर रहा था। वह सोच रहा था कि क्या लाखों मनुष्योंको पीड़ा पहुंचानेकी अपेक्षा स्वयं पीड़ा सहना अच्छा नहीं है ? (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके)। यूनानी दार्शनिकोंने इसका उत्तर 'हां' में दिया है और प्लेटोने तो स्पष्टरूपसे यह कह दिया है कि स्वयं कष्ट सहना ही अच्छा है। ईसामसीहने भी यही उत्तर दिया है। पिछले यूरोपीय समरमें, जिसे यूरोपका महाभारत कह सकते हैं,—मनुष्योंका जो भीषण संहार हुआ, उसके बादसे वहाँके दार्शनिक-राजनीतिज्ञोंका ध्यान इस प्रश्नकी ओर आकर्षित हुआ है कि युद्धका बहिष्कार किया जा सकता है या नहीं। किन्तु उनके चित्तकी स्थिति वैसी नहीं है जैसी अर्जुनकी थी, क्योंकि अर्जुन तो स्वयं कष्ट सहनेको तैयार था। अशोकके चित्तकी वृत्ति भी ऐसी नहीं थी। अशोक कलिङ्ग-विजयके अवसरपर लाखों मनुष्योंके कट जानेके अनन्तर यह समझ सके थे कि विजय पाप है और धर्मविजय ही सच्चा विजय है; किन्तु उन्होंने भी अपने लिये कष्ट एवं पराजय स्वीकार किया हो, यह बात नहीं जान पड़ती। बहुत सम्भव है, भारतीय दार्शनिकोंने इस प्रश्नपर विचार किया हो कि महाभारत युद्धमें जो मनुष्योंका घोर संहार हुआ, वह इस बातको देखते हुए, कि वह युद्ध एक तुच्छ राज्यकी पुनः प्राप्तिके लिये छिड़ा था,—क्या न्यायसंगत था ? महाभारत-युद्धसे पीछेके कई सौ वर्षोंमें जब प्राचीन भारतके छोटे-छोटे राष्ट्रोंके बीच आये दिन घातक युद्ध होने लगे, उस समय यह प्रश्न और भी गम्भीर हो गया होगा। उस समय मनुष्यत्व (दया) का भाव समुन्नत हो गया था और संन्यासके आध्यात्मिक भावके कारण, जिसका भारतवर्षमें सदासे ही प्राधान्य रहा है, ये युद्ध पापमय समझे जाने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि प्रश्न केवल नैतिक अथवा राजनैतिक ही था। किन्तु भारतवर्षमें सारे प्रश्न उस महान् प्रश्नके अन्तर्गत रहे हैं कि इस जीवनमें सांसारिक दृष्टिसे एवं मानव-जीवनके चरम लक्ष्यकी दृष्टिसे मनुष्यका क्या कर्तव्य है ? अतः यह आवश्यक था कि इस प्रश्नपर इन सब दृष्टियोंसे विचार किया जाता और भगवद्गीतामें इस प्रश्नपर सब दृष्टियोंसे एवं इतनी अच्छी तरह, ऐसे सरल किन्तु ओजस्वी ढंगसे तथा ऐसी गम्भीर एवं भाव-गर्भित भाषामें विचार किया गया है कि जिससे गीताका स्थान धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक ग्रन्थोंमें सदा अग्रगण्य रहेगा। गीताके मूलमें जो प्रधान प्रश्न है, उसके उत्तरमें श्रीकृष्णने बड़ी विलक्षण बात कही है। श्रीकृष्णने इस बातको कई पहलुओंसे अर्जुनके गले उतारनेका यत्न किया है कि कर्तव्य-मार्गसे मुँह मोड़ना और मनुष्यों एवं नातेदारोंकी भी हत्यासे ऐसी स्थितिमें पीछे पैर देना उचित न होगा, जब सत्य और न्यायकी दृष्टिसे इसकी आवश्यकता थी। क्योंकि मृत्यु केवल देह-परिवर्तनका नाम है, किन्तु सत्य और न्याय अमर हैं। जो कुछ भी हो इनका पालन करना आवश्यक है और वे काम जो निःस्वार्थ बुद्धिसे एवं लोभ तथा आसक्तिरहित होकर किये जाते हैं, हमें चरम लक्ष्य अथवा परमपद तक पहुँचा देते हैं, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता। गीतामें आदिसे अन्त तक इस सिद्धान्तको भिन्न भिन्न दार्शनिक विचारोंकी दृष्टिसे अर्जुनके गले उतारनेकी चेष्टा की गयी है और अन्तमें निम्नलिखित श्लोकके द्वारा इसका संक्षिप्तरूपमें उपसंहार किया गया है :—

"यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

अर्थात् जो अहङ्कारसे शून्य है और जिसकी बुद्धि निर्लेप अर्थात् आसक्तिरहित है वह यदि सारे संसारको भी मार डाले तो भी पापका भागी नहीं होता।

श्रीगीता-महत्त्व

जो नर निरन्तर ब्रह्मरूपी, पाठ गीताका करे,
अरु प्रेमसे श्रद्धा सहित नित, श्रवण जो इसका करे।
निश्चय तरे भव सिन्धुसे अघ पुंज नश जावें सभी,
हो लीन जावे ईशमें पुनरागमनसे रहित भी॥

—"श्रीहरि"

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ।
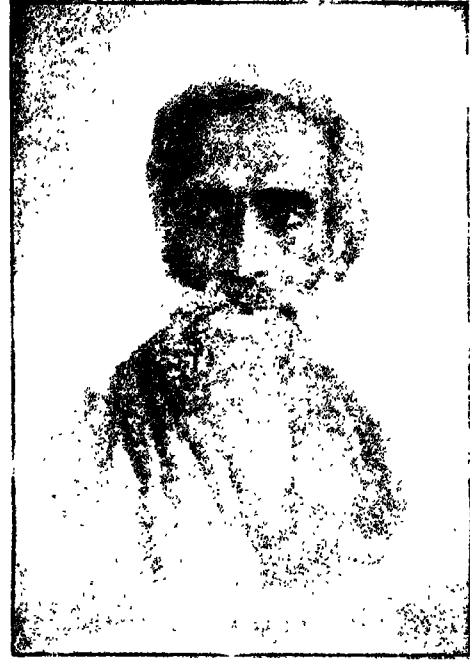
कवि सत्येन्द्रनाथ ठाकुर ।
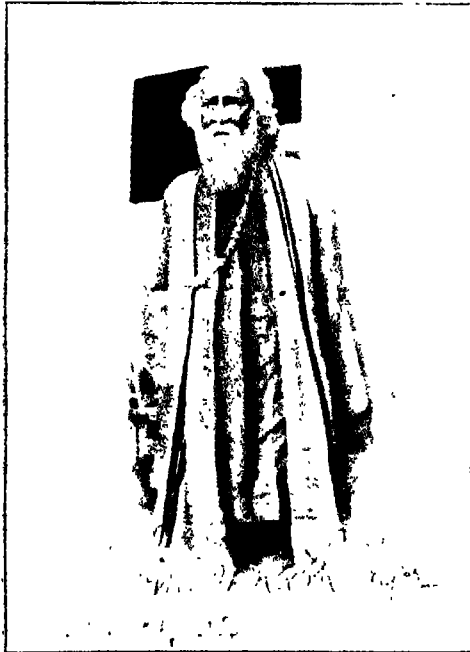
कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ।

आचार्य क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर ।

पं० सीतानाथ तत्त्वभूषण ।

लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ।

डा० ऐनीबेसेंट ।

डा० भगवानदासजी एम० ए० डी० लिट्, काशी ।

भक्ति ही राजविद्या और राजगुह्य है

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् । प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ (गी० ९।२)

यह भक्तिमार्ग 'सब विद्याओं और गुह्योंमें श्रेष्ठ (राज-विद्या और राज-गुह्य) है. यह उत्तम पवित्र, प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला, धर्मानुकूल, सुखसे आचरण करनेयोग्य और अक्षय है। (गीता ९।२) इस श्लोकमें राजविद्या और राजगुह्य दोनों सामासिक शब्द हैं. इनका विग्रह यह है 'विद्यानां राजा और गुह्यानां राजा' अर्थात् (विद्याओंका राजा और गुह्योंका राजा) और जब समास हुआ तब संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार 'राज' शब्दका उपयोग पहले किया गया, परन्तु इसके बदले कुछ लोग (राज्ञां विद्या) (राजाओंकी विद्या) ऐसा विग्रह करते हैं और कहते हैं कि योगवासिष्ठ (२-११-१६-१८) में जो वर्णन है, उसके अनुसार जब प्राचीन समयमें ऋषियोंने राजाओंको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया तबसे ब्रह्मविद्या या अध्यात्मज्ञान ही को राजविद्या और राजगुह्य कहने लगे हैं इसलिये गीतामें भी इन शब्दोंसे वही अर्थ यानी अध्यात्मज्ञान (भक्ति नहीं) लिया जाना चाहिये। गीता-प्रतिपादित मार्ग भी मनु इक्ष्वाकु प्रभृति राजपरम्परा ही से प्रवृत्त हुआ है (गी०४-१) इसलिये नहीं कहा जा सकता कि गीतामें 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' शब्द राजाओंकी विद्या और 'राजाओंका गुह्य' यानी राजमान्य विद्या और गुह्यके अर्थमें उपयुक्त न हुए हों। परन्तु इन अर्थोंको मान लेनेपर भी यह ध्यान देनेयोग्य बात है कि इस स्थानमें यह शब्द ज्ञानमार्गके लिये उपयुक्त नहीं हुए हैं। कारण यह है कि गीताके जिस अध्यायमें यह श्लोक आया है उसमें भक्ति-मार्गका ही विशेष प्रतिपादन किया गया है (गीता ९।२२-३१ देखो) और यद्यपि अन्तिम साध्य ब्रह्म एक ही है तथापि गीतामें ही अध्यात्मविद्याका साधनात्मक ज्ञानमार्ग केवल 'बुद्धिगम्य' अतएव 'अव्यक्त' और 'दुःखकारक' कहा गया है (गीता २:५) ऐसी अवस्थामें यह असम्भव जान पड़ता है कि भगवान् अब उसी ज्ञानमार्गको 'प्रत्यक्षावगमं' यानी व्यक्त और 'कर्तुं सुसुखं' यानी आचरण करनेमें सुख-कारक कहेंगे। अतएव प्रकरणकी साम्यताके कारण, और केवल भक्तिमार्गके लिये ही सर्वथा उपयुक्त होनेवाले 'प्रत्यक्षा-वगमं' तथा 'कर्तुं सुसुखं' पदोंकी सारस्यताके कारण अर्थात् इन दोनों कारणोंसे—यही सिद्ध होता है कि इस श्लोकमें 'राज-विद्या' शब्दसे भक्तिमार्ग ही विवक्षित है। 'विद्या' शब्द केवल ब्रह्मज्ञानसूचक नहीं है, किन्तु परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त कर लेनेके जो साधन या मार्ग है उन्हें भी उपनिषदोंमें 'विद्या' ही कहा है। उदाहरणार्थ शाण्डिल्यविद्या, प्राणविद्या, हार्द-विद्या इत्यादि। वेदान्तसूत्रके तीसरे अध्यायके तीसरे पादमें उपनिषदोंमें वर्णित ऐसी अनेक प्रकारकी विद्याओंका अर्थात् साधनोंका विचार किया गया है। उपनिषदोंसे यह भी विदित होता है कि प्राचीन समयमें ये सब विद्याएँ गुप्त रक्खी जाती थीं और केवल शिष्योंके अतिरिक्त अन्य किसी-को भी उनका उपदेश नहीं किया जाता था। अतएव कोई भी विद्या हो वह गुह्य अवश्य ही होगी। परन्तु ब्रह्मप्राप्तिके लिये साधनीभूत होनेवाली जो यह गुह्य विद्याएं या मार्ग हैं वे यद्यपि अनेक हों तथापि उन सबमें गीता-प्रतिपादित भक्तिमार्गरूपी विद्या-साधन श्रेष्ठ (गुह्यानां विद्यानां च राजा) है, क्योंकि हमारे मतानुसार उक्त श्लोकका भावार्थ यह है—कि वह (भक्तिमार्गरूपी साधन) ज्ञानमार्गकी विद्याके समान 'अव्यक्त नहीं है' किन्तु वह 'प्रत्यक्ष' आँखोंसे दिखायी देनेवाला है और इसीलिये उसका आचरण भी सुखसे किया जाता है। यदि गीतामें केवल बुद्धिगम्य ज्ञानमार्ग ही प्रतिपादित किया गया होता तो, वैदिक धर्मके सब सम्प्रदायों-में आज सैकड़ों वर्षसे इस ग्रन्थकी जैसी चाह होती चली आ रही है, वैसी हुई होती या नहीं इसमें सन्देह है। गीतामें जो मधुरता प्रेम या रस भरा है वह उसमें प्रतिपादित भक्ति-मार्ग ही का परिणाम है पहले तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने, जो परमेश्वरके प्रत्यक्ष अवतार हैं यह गीता कही है; और उसमें भी दूसरी बात यह है कि भगवान्ने अज्ञेय परब्रह्मका कोरा ज्ञान ही नहीं कहा है, किन्तु स्थान स्थानमें प्रथम पुरुषका प्रयोग करके अपने सगुण और व्यक्त स्वरूपको लक्ष्य कर कहा है कि 'मुझमें यह सब गुँथा हुआ है' (७।७) 'यह सब मेरी ही माया है' (७।१४) 'मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है' (७।७) 'मुझे शत्रु और मित्र दोनों बराबर हैं' (९-२९) 'मैंने इस जगत्को उत्पन्न किया है' (९।४) 'मैं ही ब्रह्मका और मोक्षका मूल हूं' (१४।२७) अथवा 'मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं!' (१५।१८) और अन्तमें अर्जुनको यह उपदेश किया है कि 'सब धर्मोंको छोड़ तू अकेले मेरी शरणमें आ, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा डर मत' (१८।६६) इससे श्रोताकी यह भावना हो जाती है कि मानो मैं साक्षात् ऐसे पुरुषोत्तमके सामने खड़ा हूं कि जो समदृष्टि, परमपूज्य और दयालु है, और तब आत्म-ज्ञानके विषयमें उसकी अत्यन्त निष्ठा भी बहुत दृढ़ हो जाती है।

—लोकमान्य तिलक महाराज

गीता और वर्तमान महा-भारत-युद्ध

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०)

गीता शाश्वतधर्मका उपदेश करती है। सच्चे सनातन धर्म्मका उसमें तत्त्व है—सार है। गीता सभी युगोंके लिये और सभी लोकोंके लिये शास्त्र है। सब देशोंमें और सब कालोंमें जब जब मानवजातिको उसकी प्रकृत आवश्यकता हुई, तब तब वह किसी न किसी रूपमें अवतीर्ण होगयी। महाभारतके समय उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। उस समय भगवान् वासुदेवने अर्जुनको उसका उपदेश किया। उस अवसरपर भी यही कहा—

> इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
> विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ ४ । १ ॥
> एवम्परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
> स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ ४ । २ ॥

इससे स्पष्ट है कि गीता शास्त्रका उपदेश भगवान्ने सूर्य्यको सृष्टिके आरम्भमें, सत्ययुगमें, किया। सूर्यवंशमें बहुतकाल तक यह ज्ञान रहा। राजा जनक, भगवान् रामचन्द्र स्वयं, एवं पीछेके अन्य राजाओंतक इसका प्रचार रहा। परन्तु द्वापरमें इसकी विशेष आवश्यकता न पड़ी। लुप्त हो गयी। द्वापरान्तमें या कलियुगारंभमें भगवान्ने अर्जुनको उसी पुरानी गीताका उपदेश किया।

क्या उस पुरानी गीतामें भी अर्जुनके मोहकी, और उसे भगवान् श्रीकृष्णद्वारा गीताके उपदेशकी तथा श्रीकृष्णार्जुन-संवादकी चर्चा थी? क्या ठीक यही श्लोक थे? नहीं। परन्तु गीतामें जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगका तात्त्विक निदर्शन है, वह अनादि अनन्त है, वही वास्तविक गीताशास्त्र है, जिसको भगवान्ने श्रीमुखसे परम्परा प्राप्त कहा है। यह भी बहुत सम्भव है कि आधेके लगभग श्लोक भी प्राचीन ही हों, जिनसे महाभारतकालका कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि नित्य और शाश्वत ज्ञान देश काल वस्तुसे अतीत है। गीताका उपदेश है कि संगरहित निष्काम कार्य-कर्म बराबर करते रहो। वह कर्म चाहे सृष्टि हो, चाहे युद्ध हो, चाहे तप हो, चाहे दान हो, चाहे होम हो, चाहे जप हो,—चाहे जो कर्म हो। अर्जुनके लिये युद्ध करना ही कर्म था। हमारे लिये उसी तरह चरखा कातना ही वर्त्तमान कालका कार्य-कर्म है।

जब यही गीता अनादिकालसे चली आयी है, तब निश्चय ही महाभारतकालमें उस गीताशास्त्रके शाश्वत और नित्य ज्ञानको भगवान्ने अवसरानुकूल अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे दोहराया है। यही बात है कि उस ज्ञानकी व्याख्या प्रसंगानुसार करके बारम्बार 'तस्मात् युद्धयस्व' 'तस्मात् युद्धयस्व' का आदेश किया है।

भगवान् भास्करको किस प्रसङ्गपर गीताशास्त्रका उपदेश हुआ, उन्होंने भी मनुको किस प्रसङ्गपर समझाया, मनुने कैसे अवसरपर इक्ष्वाकुसे कहा, यह विवरण तो आज हमें उपलब्ध नहीं है। हां, यह हम जानते हैं कि सृष्टिके आरम्भमें यह सभी प्रजापति धर्मपालन करनेके लिये हुए थे। परन्तु हरएक कभी न कभी सृष्टिके झंझटसे, प्रजावृद्धिके बखेड़ोंसे, उकताकर और वैराग्यसे प्रेरित होकर उसी मार्गका अनुसरण करनेको कमर कस लेता था, जिसपर प्रस्तुत गीताके प्रसङ्गमें अर्जुन हुआ था। ऐसे अवसरपर कर्ममें प्रवृत्त करानेवाले गीताके तत्त्वज्ञानके सिवा कोई चारा ही न था। हमारा अनुमान है कि जब जब लोग कर्मपथसे विरत हुए हैं, चाहे वह शुद्ध वैराग्यवाले सात्त्विक कारणसे हो, चाहे मुग्ध वैराग्यवाले राजसिक कारणसे हो, चाहे अवसाद, आलस्य, प्रमादादि तामसिक कारणोंसे हो, तब तब कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला एकमात्र गीताशास्त्र ही त्राण-कर्त्ता हुआ है।

तत्त्वज्ञान तो सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। परन्तु उसका प्रयोग जब देशविशेष या कालविशेषपर होता है तो अनेक सार्वकालिक और सार्वदेशिक शब्दों और परिभाषाओंको विशेष काल और विशेष देशकी रूढ़िके साँचेमें ढालना पड़ता है, अन्यथा, सर्वसाधारणके यह समझमें नहीं आता कि विशेष देश और विशेष कालमें गीताके तत्त्वज्ञानका किस तरह प्रयोग करें।

महाभारतकालके बादसे अबतक गीताके उपदेशोंका जन-समुदायमें बिल्कुल उल्टा ही तात्पर्य समझा जाता रहा है। लोग समझते रहे हैं कि गीता पढ़नेवाला घरबार छोड़कर वैरागी हो जाता है, यद्यपि स्वयं गीता इसप्रकारके आचरण-के सर्वतोमुख विरोधी है। यह भारी भ्रम भी गीताशास्त्रको समयानुकूल न समझ सकनेके कारण ही उत्पन्न हो गया है। देशकी वर्त्तमान परिस्थिति आज ऐसी हो गयी है कि न

केवल इस भारी भ्रमके उच्छेदनकी ही आवश्यकता है, वरन् व्यावहारिक जीवनमें गीताकी शिक्षाको ओतप्रोत भावसे व्यापक करा देनेकी अनिवार्यता है।

जैसे महाभारतके अवसरपर पांडवों और कौरवोंकी सेनाएं युद्धोन्मुख खड़ी थीं। भगवान् अर्जुनके सारथीके रूपमें उसे लड़नेको प्रोत्साहित कर रहे थे, वैसा ही अवसर आज भी आकर उपस्थित हुआ है। आज भाई भाईकी लड़ाई नहीं है, क्षत्री क्षत्रीकी लड़ाई नहीं है। आज देशी और विदेशीके बीच लड़ाई है। आज विदेशियोंने देशके सर्वस्वका अपहरण कर लिया है। आज विदेशी दुःशासनने ['कुरु-राज्य'का नहीं कुराज्य स्वयं] द्रुपद(दुःखी देश भारत) की कन्या (प्रजा) का संसारकी भरी सभामें बारम्बार अपमान किया है। उसका चीरहरण कर लिया है। उसके और उसके पतियोंको उनके अधिकाररूपी नगरसे निकाल बाहर किया है, प्रजाओंको और प्रजापतियोंको भूखे नङ्गे तिरस्कृत दुखित रहनेके सिवा और भी अगणित प्रकारके कष्ट झेलने पड़े हैं। आज स्वदेश और विदेशवालोंमें युद्ध छिड़ा हुआ है। यह बनियों और गाहकोंका युद्ध है। क्षत्रिय क्षत्रियका नहीं है। विदेशी बनियोंने हमारे हाथसे हमारे बाजार छीन लिये हैं। आजकल भी पहलेकी तरह राजस्वका एक प्रधान रूप बाजार है। परन्तु उस समय भाई भाईमें लड़ाई थी। आज बनिये और गाहककी लड़ाई है। ब्रिटेन बनियां है। भारत गाहक है। यह लड़ाई क्या तीर-तुफंगसे लड़ी जायगी? क्या तोप तलवारसे लड़ी जायगी? नहीं, होशियार बनियोंने क्षत्रियोंके इन हथियारोंको हमसे छीन कर अपने जमादारोंके हाथमें दे दिया है कि वह गाहकोंको सङ्गीनोंके बलसे काबूमें रक्खें। बनियोंके जमादारोंकी तनख्वाहें भी बनिये अपने घरसे कभी नहीं देनेके। वह गाहकोंसे ही लेते हैं। सेनाके प्रचण्ड व्ययको देखिये, कितना है। इस लड़ाईके वास्तविक तत्वको महात्मा गांधी [गांधी = बनिया] ने ही समझा। वैश्योंकी लड़ाई अहिंसात्मक होगी। गाहक और बनियेकी लड़ाईमें धरने दिये जायँगे। हड़तालें होंगी। लेनदेन रोका जायगा। गाहक खरीदनेसे इनकार करेगा। कष्ट उठावेगा और भरसक अपने घरकी उपजसे ही अपना काम चलावेगा।

बनियेके सौदेका बहिष्कार और अपनी जरूरतें आप पूरी कर लेनी, यह दो इस युद्धके प्रधान पहलू हैं जो एक दूसरेपर अवलम्बित हैं। इन दोनों पहलुओंमें भी अनेक दावपेच हैं जिनका प्रयोग अवसर अवसरपर हो सकता है।

इस लड़ाईमें हमारी ओर गाहकोंकी सेना है, उनकी ओर बनियोंकी सेनाके सिवा पुलीस, कानून, नौकरशाही, फौज, धूर्तता आदि और भी साधन हैं। पाण्डवोंकी तरह हमारा पक्ष भी कमजोर है। परन्तु महात्मा गाँधीजी (शस्त्रहीन) अहिंसाका व्रत धारण किये हमारे युद्धका रथ हांकनेके लिये मौजूद हैं, यह भारी बल है। इस युद्धमें अर्जुन किसी एक योद्धाका नाम नहीं है। भारतके एक एक बच्चेको स्वराज्य अर्जन करना है। इसलिये स्वराज्य-संग्रामका वह हर भारतवासी असहयोगी अर्जुन है, जिसने 'न दैन्यं न पलायनम्' व्रतके साथ साथ सत्य, अहिंसा, एकता और सदाचारके शस्त्रास्त्र भी धारण कर लिये हैं। इन अर्जुनोंमेंसे अनेकको मोह उत्पन्न हो गया है। क्या इतने बलवान् विदेशियोंको बिना हथियारके हम जीत सकेंगे? क्या चरखा काफी होगा? क्या चरखेसे हमारे सांसारिक अर्थ (धन), धर्म (लौकिक व्यवहारमें स्वतन्त्रता), काम (ऐहिक सौख्य) और मोक्ष (पराधीनताके बन्धनसे मुक्ति) सधेंगे? क्या चरखा चलाना हमारा कर्तव्य है? क्या विदेशी कपड़ेके बिना हम रह सकेंगे? इत्यादि इत्यादि प्रश्न हो रहे हैं और इन प्रश्नोंके उत्तर भी दिये जा रहे हैं। जब हमारे अर्जुनोंके प्रश्न अभी समाप्त नहीं हुए हैं, जब अनेक शंका समाधान अभी होते रहेंगे, क्योंकि अभी रणभेरी बजनेमें कई महीनोंकी देर है, तो आजकलके अनुसार गीताकी व्याख्याको समाप्त करना किसी लेखकके लिये भारी धृष्टता होगी। यहां हम दो एक चुने हुए प्रश्नोंपर ही गीताके श्लोक देकर उनकी व्याख्या करनेका उद्योग करेंगे। वर्तमान युगकी पूर्ण व्याख्या तो स्वराज्य-प्राप्तिके बाद ही सम्भव होगी।

(१) यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ १।४६॥

पांच हजार वर्ष पहलेवाली लड़ाई हथियारोंकी थी। हिंसात्मक थी। आजकी अहिंसात्मक है, शस्त्रास्त्रविहीन है। आजकी लड़ाईमें न केवल सारथी बल्कि महारथी जन-समुदाय-बल भी बिना हथियारके है। आजका युद्ध अहिंसात्मक है। परन्तु है धार्त्तराष्ट्रोंके अर्थात् नौकरशाहीके विरुद्ध। वह 'धार्त्तराष्ट्राः' इसलिये है कि 'राष्ट्र' को जिसने (धृत) अधिकृत कर लिया है उसी पक्षके लोग हैं। आज सारथी और योद्धा सभी यह कहते हैं कि 'हम पाशविक हथियारका जवाब पाशविक हथियारसे न देंगे। ऐसी दशामें यदि लड़ाईमें वह हमें हथियारसे मार भी डालें तब भी क्षेमतर

है, अधिक भला है।' इसकी अपेक्षा कि हम आध्यात्मिक छोड़कर पाशविक हथियार चलाकर प्रतिहिंसा करें। आज यह अर्जुनका शोकमय वचन नहीं है। आज जान बूझकर इस प्रतिज्ञाके साथ ही युद्ध है। 'अप्रतीकारम्' का अर्थ अबतक किया जाता था 'सामना न करनेवालेको।' अब उसका अर्थ है 'हथियार चलाकर जवाब न देनेवालेको।' 'अशस्त्रं' का विशेषण 'अप्रतीकार' शब्दके इस अर्थको व्यञ्जना शक्तिसे पुष्ट करता है। 'न सामना करनेवालेको' कमजोर भी कर देता है।

(२) न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ३।५॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ ३। १९॥

बिना कर्म किये कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता। प्रकृतिके गुणोंसे लाचार होकर सब कर्म करते ही रहते हैं। इसलिये कर्मोंके फलोंसे कोई लगाव न रखकर, कर्तव्य जान कर निरन्तर करनेके योग्य कर्म करते रहो। जो बे-लगाव होकर कर्म करता रहता है वह परम पुरुषको पा जाता है। सांसारिक स्वराज्य आदिकी तो क्या गिनती है? बेकारोंके लिये इससे बढ़कर शिक्षा नहीं हो सकती। पौने ग्यारह करोड़ हट्टे कट्टे काम करने लायक आदमी खेतोंमें अधिकसे अधिक नौ महीने काम करते हैं और कमसे कम तीन महीने बिल्कुल बेकार रहते हैं। कामके महीनोंमें जो रोज फालतू घड़ियां गप्पमें, हुक्केमें और सैर सपाटेमें खोते हैं उसकी गिनती नहीं। शहरोंमें तो लोग नित्य बहुतसा समय बरबाद करते रहते हैं. यह सब लोग बेकारीके समय भी कोई न कोई काम तो करते ही रहते हैं। परन्तु यदि कोई ऐसा काम करें जिससे उनका अपना और साथ ही देशका कल्याण भी हो तो कैसी अच्छी बात हो? चरखा कातनेको कहा जाता है तो नासमझ लोग रुपये आने पाई-वाला स्वार्थी हिसाब लगाने लगते हैं। बाजे कहते हैं कि हम तो घण्टे भरमें १०)-२०) का काम कर लेते हैं, चरखेसे तो एक पैसेका काम भी न होगा। यह नहीं सोचते कि ताश आदि खेलोंमें, गप्पाष्टकमें, हुक्के आदिमें जो समय बरबाद करते हैं, उसमें कितने पैसे, कमानेके बदले खोते हैं। इनसे कमाईका हिसाब न लगावें बल्कि एक पारमार्थिक कर्त्तव्य समझें। इसे 'करनेके योग्य कर्म' समझें और बिना लगावके (असक्त हो) नित्य थोड़ी देरके लिये करें। संग-रहित करनेके योग्य कर्म जो करता है वह परमात्माको पा जाता है, फिर स्वराज्यकी तो बात ही क्या है? इस चरखेके कामको थोड़ा भी करे तो भविष्यकी पराधीनताके महा भयसे छूट जाता है। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

देशके वह बेकार किसान जिनकी आमदनी सिर पीछे छः पैसेके लगभग है वह तो सालमें बेकारीके नब्बे दिन भरपूर दिनभर काता करें तो उनकी आमदनी तो छः पैसे रोजसे सहजही दो आने रोज हो जाय। उनके लिये तो स्वार्थ-परार्थ दोनों सधता है। चौथाई आमदनी बढ़नी थोड़ी बात नहीं है। जरा यह भी समझ लेना चाहिये कि चरखा चलाना क्यों जरूरी है। बात सीधीसी है। औसत साठ-पैंसठ करोड़ रुपयोंका कपड़ा हम हर साल विदेशियों-से खरीदते हैं। कपड़ेके सिवा सैकड़ों और चीजें भी हम खरीदते हैं। परन्तु अभी हम एक चीज, कपड़ेकी खरीद बन्द करते हैं। मगर फिर हम पहनेंगे क्या? उसी तरह जैसे डेढ़ सौ बरस पहले पहनते पहनाते थे। पहले वह गाहक थे, हम बनिये थे। उन्होंने कल-बलसे, कर-बलसे, धन-बलसे, कानून-बलसे और छल-बलसे मामला उलट दिया। वह बनिये बन गये, हम गाहक। अब हम उनसे कपड़ेका सम्बन्ध रखना ही नहीं चाहते। वह अपना बुना पहनें, हम अपना काता बुना पहनें। इसलिये अब हम कातेंगे बुनेंगे। हमारे देशमें बुननेवाले बहुत हैं। उनको सूत चाहिये। हम सालभर भी ऐसा करें कि अपना काता बुना पहन लें तो उनकी मिलें बन्द हो जायं। एक बार बन्द होकर फिर चलाना हँसी खेल नहीं है। साथ ही एक साल कात कर हम पहन लें तो कातना न तो हम भूल जायंगे, न तो हम छोड़ ही देंगे: क्योंकि हमें उसका भूला हुआ स्वाद मिल जायगा। कातना सहज है। बड़े आनन्द का काम है। अगर सब लोग अपने पहनने भरको कातें तो मिलें फिर किस लिये चलें? अपने पहनने भरको कातने के लिये एक तोला रोज छः महीने तक कातते रहनेकी जरूरत है। इसमें घंटाभर लगेगा परन्तु हमारे देशमें स्त्रियां, लड़कियां, लड़के, बेकार पुरुष इतने ज्यादा हैं कि वह लोग नित्य चार पांच घंटोंसे लेकर आठ दस घंटों तक कात सकते हैं। इस तरह एक एक आदमी चार पांचसे लेकर आठ दस आदमी तकका काम कर सकता है। यह सारे देशके छुटकारेके लिये लड़ाई है। रण-महायज्ञ है। इसमें हर एक भारतवासीको अपना भरपूर बल लगाना चाहिये। जो

जितनी आहुतियाँ देगा, वह उतने ही पुण्यका भागी होगा। स्वराज्य हर आदमीको चाहिये। तो हर आदमीको अपना बल भी लगाना चाहिये। हर आदमीको इस स्वराज्य-महायज्ञमें आहुति भी देनी चाहिये। जो जिससे बन पड़े। कोई सवा मन घीसे आहुति देता है, तो कोई चार अक्षत ही फेंक देता है। सुदामाके चार चावल भी बहुत हैं।* श्रद्धा चाहिये। आपके मनमें स्वराज्य प्राप्तिके लिये श्रद्धा है तो स्वराज्य मिलके ही रहेगा।† परन्तु अपना कर्तव्य तो कीजिये। कर्तव्यपालन ही सच्ची श्रद्धाकी पहचान है। अपना अपना कर्तव्य हर एक पालन करे तो सिद्धि तो हाथपर धरी है।‡ हम एक विशेष प्रकारके आपद्धर्ममें हैं रण-महा-यज्ञमें हैं. हमारा कर्तव्य उसमें सहायता देना है। हम और कुछ नहीं कर सकते तो अपने हाथका कता सौ गज सूतका दान तो कर सकते हैं। कुछ लोग सारे देशकी दशा देखकर निराश होते हैं। कहते हैं, 'प्रस्ताव तो अच्छा है, पर महामोहग्रस्त भारतीयोंका किया न होगा।' महाराज! आप सबकी चिन्ता न कीजिये। सबकी चिन्ता भगवान् कर लेंगे। आप तो अपने चार चावल लाइये। आपका किया आपके काम आवेगा, इसलिये आप मत चूकिये। देशको चूकने दीजिये।' हर आदमी अपने कर्तव्यकी फिकिर रक्खे, खुदाई फौजदार न बने, तो सारा संसार सुधर जाय। कठिनाई तो यह है कि हम देशके दर्पणमें अपनी ही सूरत देखते हैं और उस छायाको सुधारनेकी चिन्तामें दुबले हो जाते हैं। अपना रूप सुधार लें तो हमें देश सुधरा ही दीखे। व्यक्ति ही समष्टिके अंग हैं। समष्टि शरीर व्यक्तियोंके अपने अपने सुधारसे ही सुधर सकता है। व्यक्तिगत अवसाद और निराशा बाधक रोग है। इनसे बचना चाहिये। कर्मण्यताका पथ्य सेवन करना चाहिये।

(३) कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ ३।२०
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ ३।२१
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ ३।२२
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ३।२३
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ ३।२४
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ ३।२५
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ ३।२६

कुछ लोग ऐसे भी हैं कि हम कितना ही कहें, वह औरोंकी फिकसे बाज नहीं आ सकते। दुनियाकी चिन्ता चुड़ैल उन्हें छोड़ती ही नहीं। आखिर वह क्या करें? स्पीच दें? लेक्चर झाड़ें? महामहोपदेशक होकर पर्यटन करें? लीडर बनकर संगठन करते फिरें? नहीं, यह कुछ न करें। लीडर बनना ही मंजूर है, तो भी कुछ कर्त्तव कर दिखावें। कह सुनानेसे कुछ न होगा। जनक आदि तकने, जो वैरागियोंके लीडर समझे जाते थे, कर्मसे ही सिद्धि पायी है। लोक-संग्रहके लिये भी, लोगोंको अपना अनुयायी बनानेके लिये, लोगोंका संगठन करनेके लिये, लोगोंको उठानेके लिये, लोगोंको कर्तव्य पथमें लगानेके लिये भी, तुम्हें कर्म करना उचित है। क्योंकि तुम बड़े, श्रेष्ठ, लीडर होकर जैसा आचरण करोगे वैसा ही और लोग भी देखादेखी आचरण करेंगे, तुम जो प्रमाण बना दोगे उसीके अनुसार लोग बर्त्ताव करेंगे। भगवान् श्रीकृष्णको त्रिलोकमें कोई कर्तव्य न था, कोई बात अप्राप्त न थी, तब भी कर्ममें लगे रहते थे। महात्मा गांधीको भी सूत कात कर अपना इहलोक परलोक साधना नहीं है. परन्तु वह नित्य चरखा कातते ही हैं। अगर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कर्तव्य-कर्मोंमें लगे न रहते, तो सारा संसार उनकी देखादेखी कर्मत्यागी हो जाता और नष्ट हो जाता। इसीलिये भगवान् सरीखे लोकसंग्रहकारी और महात्मा गांधी सरीखे नेता, करनेकी जरूरत न होनेपर भी बे-लगाव होकर उसी तरह नित्य-नियमसे कर्तव्य पालन करते हैं, जिस तरह साधारण लोग किसी लाभकी दृष्टिसे करते हैं, उनका उद्देश्य यही है कि लोकसंग्रह हो। इसी लिये जो लोग नेता बननेको उत्सुक हैं या जो जगत्की भलाईके इच्छुक हैं, उन्हें बिना बुद्धि-भेद पैदा किये, लोक-कल्याणकारी काम करते रहना चाहिये और इस तरह अपने प्रमाण, अपने उदाहरणसे, सर्व साधारणको अपने अपने कर्तव्यमें लगाये रहना चाहिये।

---

* यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (१८।५)
† श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। (१७।३)
‡ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। (१८।४५)

यह तो हुई सदाकी बात । आज हमें इस वर्त्तमान समयमें सर्वसाधारणसे जो काम कराना है, वह काम नेताकी हैसियतसे जबतक हम खुद न करेंगे, जनसाधारणपर हमारे कहनेमात्रका रत्ती भर असर न पड़ेगा । इसीलिये जो लोग औरोंकी चिन्तासे पीड़ित हैं, उन्हें चाहिये कि पहले खुद दोनों काम करें, (१) विदेशी कपड़ोंका बहिष्कार और (२) खद्दरका प्रचार । विदेशी कपड़ोंके बहिष्कारमें भी दो बातें ज़रूरी हैं । (क) विदेशी कपड़ेका बेचना खरीदना बन्दकर देना और (ख) जो पास हों उन्हें जला डालना । खद्दरके प्रचारमें भी दो बातें ज़रूरी हैं । (क) खद्दर ही बर्त्तना और (ख) खद्दरकी तैयारीमें तन, मन, धनसे मदद देना । खद्दर बर्त्तनेमें खद्दरको पहिनना और व्यापारादि द्वारा खद्दर पहिनानेमें सहायक होना शामिल है । खद्दरकी तय्यारीमें तनसे मदद देना यह है कि कपासकी खेती करे, ओटे, धुने, काते, बुने । पांचों न हो सकें तो धुनकना कातना तो हर आदमी कर सकता है । व्रतकी तरह महायज्ञकी आहुतिकी भाँति, लोकसंग्रहके लिये, इस युद्धमें एक साधारण सैनिकका कर्त्तव्य पालन करनेके लिये, महाभारतके इस वर्त्तमान युद्धके नेता महात्मा गांधीकी आज्ञा पालनके लिये, आधा घण्टा रोज चर्खा कातना कठिन नहीं है । जो लोग अपने सब कर्म भगवान्‌को अर्पण करते हैं, कात कर नित्यका सूत अर्पण करते रहें, अथवा इकट्ठा करके खद्दर बुनवाकर मन्दिरोंमें ठाकुरजीको अर्पण कर दिया करें ।* यदि कोई कहे कि खानेतककी चर्चा तो गीतामें है परन्तु पहननेकी चर्चा तो नहीं है, तो ऐसे अरसिकको भी समझानेके लिये प्रमाण है । 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' बिना कर्म किये तेरी शरीरयात्रातक नहीं सध सकती । शरीरयात्रामें खाने पहननेसे लेकर छोटे बड़े वह सभी व्यापार आ गये जो शरीरयात्राके लिये अनिवार्य हैं । ठाकुरजीको लोग मिलोंका चर्बीसे चर्चित कपड़ा पहनाते हैं । पूछनेपर पुजारियोंने कहा कि लोग यही चढ़ाते हैं, उन्हें बजाज यही देते हैं । अतः जिस तरह मनुजीने हिंसाके आठ तरहके दोषी लिखे हैं उसी तरह ठाकुरजीको चर्बी-चर्चित कपड़े चढ़ानेके लिये पुजारी, यजमान, बजाज आदि सभी जीवहिंसारूपी पापके तो अवश्य भागी हुए ।

(४) द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।

'यज्ञ' शब्द अनेक अर्थोंमें बर्त्ता जाता है । दान पूजा, तप, योग, होम, जप, पाठ आदि जितने कर्म परमार्थके हैं सभी 'यज्ञ' कहलाते हैं । ब्रह्माके मुखसे वेदादि सच्छास्त्रोंमें इस तरह बहुत तरहके यज्ञोंका विस्तार किया गया है । हर एक 'यज्ञ' का मूल है कर्म । अर्थात् यज्ञ है परमार्थके लिये किये जाने योग्य कर्म'। जो लोग परमार्थके कार्य करके उसके प्रसादरूपी अमृतका उपभोग करते हैं, वह तो सनातन ब्रह्मको पहुंचते हैं, मुक्त हो जाते हैं, उन्हें स्वतन्त्रता मिल जाती है । जो परमार्थके कार्य नहीं करता उसको तो इसी संसारमें स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, परलोकमें मुक्ति पाना तो दूरकी बात है । आजकल इस वर्त्तमान महाभारतीय-युद्धमें वह परमार्थका कार्य कौनसा है, जिससे इस लोकमें स्वाधीनता मिले, अथवा जिससे भारतका खोया प्रभुत्व फिर वापस आ जाय और बच्चे बूढ़े जवान नरनारी सभी बिना रुकावट और बिना संकोचके कर सकें ? निश्चय ही वह है 'चरखा यज्ञ' जिसको अमीर गरीब सबल निर्बल सभी कर सकते हैं । सारे भारतको कपड़ेकी गुलामीसे छुड़ानेके लिये, इस परमार्थके लिये यह सूत कातनेका यज्ञ नित्य करना चाहिये । जो लोग शुद्ध परमार्थकी दृष्टिसे निष्काम हो कातेंगे और अपना काता सारा सूत देशको अर्पण कर देंगे (जैसा चर्खासंघके सदस्य करते हैं) वह इहलोक और परलोक दोनोंको साधते हैं, क्योंकि वह जो कुछ करते हैं, जनता-जनार्दनको, भारत-भगवान्‌को दरिद्र नारायणको अर्पण करते हैं ।* इस यज्ञके प्रसाद खद्दरको जो पहनते हैं, वह 'यज्ञ-शिष्टामृत' भोग करते हैं । जो आप कातते हैं और खद्दर पहनते हैं, वह यज्ञ करते हैं और प्रसाद लेते हैं । जो खद्दर खरीद कर पहनते हैं, वह स्वयं यज्ञ नहीं करते परन्तु प्रसाद पाते हैं अर्थात् यज्ञमें द्रव्य द्वारा सहायता पहुंचाते हैं । यज्ञमें उनका भी मुख्य भाग

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

नहीं तो गौण भाग अवश्य हुआ। परन्तु जो न चरखा कातता है, न खद्दर पहनता है, उसके लिये तो भारतका ही स्वराज्य दुर्लभ है, स्वाराज्य, परलोकके राज्यकी तो चर्चा ही क्या है।

(५) यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ३।९
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाचप्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥३।१०
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ३।११
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ ३।१२
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥३।१३
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ ३।१४
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३।१५
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥३।१६

जितने परमार्थ-कार्य हैं उनके सिवा और जितने कर्म इस संसारमें किये जाते हैं वह बन्धनके कारण होते हैं। इसलिये बे-लगाव होकर यज्ञ-भगवान्‌के लिये ही कर्म करना चाहिये जिससे स्वतन्त्रता प्राप्त हो। भारतकी स्वतन्त्रता-के साधक जितने ही काम हैं वह समस्त लोकोपकारी हैं। उन कामोंको ही बे-लगाव, निःस्वार्थ भावसे करना चाहिये, वह सभी 'यज्ञ' हैं। सृष्टिके आरम्भमें 'यज्ञों' के [परमार्थ कार्योंके] साथ साथ प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापति (प्रजासे) बोले कि इन्हीं 'यज्ञों' से तुम पैदा करो (सृष्टि बढ़ाते जाओ) और यही 'यज्ञ' तुम्हारे सब मनोरथोंको पूरा करेंगे। इन्हीं 'यज्ञों' के द्वारा तुम देवताओंको प्रसन्न करो, वह देवता भी तुम्हें प्रसन्न करेंगे। एक दूसरेको सन्तुष्ट करते हुए दोनों पक्षोंकी अधिकसे अधिक भलाई होगी। जो भोगसुख तुम लोग चाहोगे, देवता लोग यज्ञसे खुश होकर वह सब तुम्हें देंगे। उनसे जो कुछ मिले उसमेंसे बिना दिये जो उन सुखोंको भोग लेता है वह निश्चय ही चोर है। 'यज्ञ' या परमार्थ कार्यसे बचे हुए प्रसादको जो भले लोग ग्रहण करते हैं, वह सब पापोंसे छूट जाते हैं। जो केवल अपने लिये ही पकाते या बनाते हैं वह पापी लोग पापका उपभोग करते हैं।

[वर्तमान कालमें परमार्थ-कार्य वही है जिससे सारे भारतका इहलौकिक मोक्ष हो, स्वतन्त्रता या स्वराज्य प्राप्त हो। वह यज्ञ कर्म सबको करना चाहिये। परन्तु ऐसे काम बहुत कम हैं जो निरपवाद 'सभी' कर सकें। 'सबके करने लायक' व्यवहारसाध्य काम एक ही चरखायज्ञ है। इसके द्वारा मनुष्य पाप-भोग या यज्ञरहित रहनेके पापसे बच सकता है। परमात्माने मनुष्यके साथ ही 'कर्म' को रचा। इसी कर्मसे मनुष्य खाना कपड़ा जो शरीरयात्राके लिये अनिवार्य है, उपार्जन करता है। जो अन्न-वस्त्र उपजावे वह अकेले अपने ही लिये नहीं। उसमें सबका भाग है। सब-को देकर प्रसादरूपसे आप भी ले। जो अपने लिये ही कर्म करता है, वह चोर है। इसलिये जो करे, परार्थ और परमार्थ भावसे करे। किसान अकेले अपने लिये कपास और अनाज नहीं उपजाता। परन्तु आजकल वह कपड़ा बनानेका काम बहुत कम करता है। तो भी किसान-को छोड़ और लोग तो न खाना पैदा करते हैं न कपड़ा। मुख्य यज्ञमें भाग नहीं लेते। वह सब लोग और किसान भी नित्य चरखा कातें तो किसानोंका अन्न वस्त्र दोनोंका यज्ञ हो जाय और केवल चरखा कातनेवालोंका वस्त्र यज्ञ भी सम्पन्न हो। वस्त्र या अन्न खरीद कर खाना 'यज्ञ करना' नहीं है। 'यज्ञ' करना 'प्रजा' मात्रका कर्तव्य है। जो बिना दिये भोगता है, वह चोर है। यह बात याद रखने लायक है।]

भोगपदार्थोंको उपजानेवाले बादल यज्ञ वा परमार्थ कार्यके पुण्यसे ही होते हैं। बिना 'किये' यज्ञ होता नहीं। खरीदा नहीं जा सकता। यज्ञके लिये कातना ही पड़ेगा। यह 'कर्म' करते रहनेकी आज्ञा वेदोंसे मिली है और वेद अविनाशी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये जितने यज्ञ कर्म हैं, सबमें परमात्मा सदा प्रतिष्ठित है। परमार्थ कार्यमात्रसे परमात्माकी पूजा होती है।‡ इस प्रकार जो कर्म-चक्र चल रहा है, अर्थात् भगवान्‌से वेद, वेदसे कर्म, कर्मसे यज्ञ और यज्ञसे मोक्ष या स्वतन्त्रताकी या भगवान्‌की प्राप्ति, इस चक्रके अनुसार जो नहीं चलता, उसका जीवन पापमय है, वह इन्द्रियोंके विषयसुखमें लिप्त रह कर व्यर्थ जीता है।

‡ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः

चरखा भी चक्र है जो इस कर्म चक्रका स्थूल उदाहरण है। जो इसका अनुवर्तन नहीं करता अर्थात् चर्खा-यज्ञ नहीं करता, भारतकी स्वतन्त्रताके लिये यह थोड़ासा स्वार्थ-त्याग भी स्वीकार नहीं करता, उसका जीना व्यर्थ है। वह इन्द्रियविषयोंमें लिप्त पापमय जीवन बिताता है।

पुराने विचारोंके अरसिक और ज्ञान-विज्ञानको संकुचित भावसे देखनेवाले लोग उपर्युक्त व्याख्याओंको क्लिष्ट कल्पना या खींचातानी कह डालनेमें संकोच न करेंगे। कहें, परन्तु रसिक उदारचेताओंके लिये फिर भी निवेदन है कि गीताके नियम शाश्वत नियम हैं, सभी देश काल निमित्तके लिये हैं। हमने उन्हें वर्तमान देश काल निमित्त पर लगा कर व्याख्या की है।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण भगवान् और उनका अक्षय गीताज्ञान

(लेखक-पं० रामसेवकजी त्रिपाठी, मैनेजिङ्ग एडीटर 'माधुरी')

हर सुबह उठके तुझसे माँगू हूँ मैं तुझीको,
तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है।

'मीर'

संसारमें अवतार लेकर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी जीवनचर्याको पग-पग पर, आदर्श कर्मके साँचेमें ढाला। लोकहितके लिये अपनी चारु चरितावलीको कर्मके पवित्र चित्रपट पर उपकार और फलेच्छा-रहित भावनाओं द्वारा चित्रित किया। क्या बाल्यभाव, क्या युवावस्था और क्या वृद्धापा सबमें प्रारम्भसे लेकर अन्त तक एक ही छाप, एक ही उमंग, एक ही सी भावनाएं दिखलायी देती हैं। निस्स्वार्थ कर्मसे कभी पीछे पैर नहीं दिया। सच तो यह है कि—

तमाम उम्र कटी एक ही क़रीने पर

कंस जैसे दुष्ट और अत्याचारीको पछाड़ना, व्रज पर आयी हुई अनेकों आपत्तियोंमें व्रजवासियोंको सहायता देना, अनेक राक्षसोंका वध करना, गोधनकी रक्षा करना आदि बातें श्रीकृष्ण भगवान्‌की महानता, त्याग और उच्चादर्शका प्रतिपादन करती हैं। व्रज छोड़कर द्वारिका जानेके समय वे अकेले ही थे। किन्तु यादवोंका संगठन करके, अपने कर्मके बलपर द्वारिकाधीश बन बैठे। इसके पश्चात् महाभारतके युद्धके लिये उन्हें निमन्त्रण मिला। धर्मका पक्ष लेकर कुरुक्षेत्रके रणक्षेत्रमें पदार्पण किया। वहां श्रीकृष्ण भगवान्‌के सखा और सम्बन्धी गांडीवधारी अर्जुनको मोह उत्पन्न हो गया। उसीके मूलोच्छेदनके लिये अर्जुनको प्रस्तुत गीताका अनन्त ज्ञान श्रीकृष्णजीने सुनाया। साथ यह भी कहा कि सर्गके आदिकालमें मैंने यह ज्ञान सूर्यसे कहा था। सूर्यने अपने पुत्र मनुसे और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुसे कहा। तत्पश्चात् गुरु-शिष्यके संवाद द्वारा यह ज्ञान सब राजऋषियोंने जाना। धर्मकी न्यूनतासे यह कर्मयोग कुछ कालसे छिन्नभिन्न हो गया। किन्तु आज परिस्थिति और आवश्यकताने उसे पुनः ताजा करनेके लिये अवसर दिया। इसीलिये हे अर्जुन! तुझे बतला रहा हूं। उसे ध्यानसे सुन और उसपर अमल कर इसीसे तेरा कल्याण होगा।

गीताका विषय बड़ा ही गूढ़ और गहन है। हमारे जैसे साधारण बुद्धिके प्राणीके लिये उसका निरूपण करना असम्भव ही समझिये। परन्तु उसका सार और तत्त्व जहां तक मेरे समझमें आया है वह यही है कि फलाकांक्षा छोड़कर, निस्स्वार्थ होकर प्रतिक्षण कर्म करना ही ईश्वरकी सर्वोत्तम अर्चना है। यह भी विचार छोड़ देना आवश्यक है कि मैं किसी भी कर्मका करनेवाला हूं। ऐसी बुद्धि द्वारा कार्य करनेसे उसके फलाफलका असर लोप हो जाता है। अथवा पाप पुण्यका बन्धन मिट जाता है।

कर्मका सबसे प्रबल प्रमाण भगवान् श्रीकृष्णके ही शब्दोंमें लीजिये—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः

अर्थात् गुण और कर्मके विभागके कारण मैंने चार वर्ण वाली सृष्टि रची। सृष्टिके आदिकालका आजतक कोई पता नहीं चला और न चलेगा। वह अनन्त है, अपरिमेय है। किन्तु जब कभी भी सृष्टि रची गयी तो गुण-कर्मका लेखा भगवान्‌को पहले ही लगाना पड़ा। संसारकी प्रत्येक जातिमें चार वर्ण वाली सृष्टिकी रचनाका कौशल देखनेको मिलता है। वर्णका अर्थ आजकल जो लगाया जाता है वह अत्यन्त संकुचित और भ्रमपूर्ण है और इसीलिये विषमताका विषाक्त वायुमण्डल चतुर्दिक् दिखलायी पड़ता है। खैर, हमें वर्णका विश्लेषण अभी अभीष्ट नहीं है। हमें सृष्टि रचनाके साथ ही कर्मकी अभिन्न रेखा मिलती है। सृष्टिके

पूर्वमें भी थी। अन्तमें होगी और उसके पश्चात् भी किसी न किसी रूपमें रहेगी। एक बात और भी है, कर्मका सिद्धान्त न माननेसे ईश्वरपर विषमता अन्यायका दोषारोपण होता है। इसके विरुद्ध हजारों ऐसे प्रमाण हैं जिनमें ईश्वरकी न्यायपरायणताका पक्का सबूत मिलता है। संसारके व्यवहारोंमें भी देखिये, पग-पगपर कर्मका सिद्धान्त मिलेगा। तात्पर्य यह कि कर्म ही मुख्य वस्तु है। संसार कर्ममय है। कर्म स्वाभाविक है। स्वभाव नाम प्रकृतिका है। अनादिकालके संस्कारोंका है मायाका है और अविद्याका है। चेतनकी सत्ता पाकर वही जीवोंको व्यवहारमें प्रवृत्त करती है। परन्तु आत्मा और परमात्मा असंग निर्लेप है। इन दोनोंमें केवल उपाधिकृत भेद है। वास्तवमें एक ही हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण यह भी बतलाते हैं कि, ईश्वरका कर्म धर्मसंस्थापना और जगत्का पालन करना है। जिस कालमें वैदिक और लौकिक दोनों प्रकारके धार्मिक कार्योंकी हानि होती है और अनर्थकारी अधर्म-कर्म उन्नति करता है, तब ईश्वर अपनी आत्माको मायिक शरीर करके प्रकट करता है, और अपने कर्त्तव्यका पालन करता है। किन्तु, यह सब करते हुए भी ईश्वर अकर्ता क्यों है-इसका कारण श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको समझाते हैं-

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥

यानी देहका अहंकार निवृत्त होने, कर्मोंके फलसे निवृत्त होने पर सब करता हुआ भी अकर्ता है। कर्म सभीको करना चाहिये। ज्ञानी और मुमुक्षु किसीको भी कर्मसे सम्बन्ध नहीं छोड़ना चाहिये

योगेश्वर यह भी कहते हैं कि मैं इसी गीताज्ञानको धारण किये हुए तीनों लोकोंका पालन करता हूं, हे अर्जुन! तू भी इसे ग्रहण कर सर्व कर्मोंसे मुक्त होकर अन्तमें मुझीमें आ मिलेगा।

जनक महाराज संसारमें रहकर कर्मकी सबसे सुन्दर मिसाल पेश करते हैं। वे देह रखकर भी विदेह हैं। सब कुछ करते हुए भी बन्धनरहित हैं। इस सम्बन्धकी विशेष जानकारीके लिये अष्टावक्र गीता इच्छुक सज्जनोंको पढ़ना चाहिये।

कर्मयोगकी श्रेष्ठता दिखाते हुए, उसका तत्त्व बताते हुए, योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

अर्थात्-कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। हे पार्थ! फलासक्तिसे वर्जित ईश्वरार्पण कर्मका नामही कर्मयोग है। कर्मके बलपर सब कुछ किया जा सकता है। लोक-परलोक दोनों सुधारे जा सकते हैं। कर्मके आगे असम्भव शब्दको कहीं भी स्थान नहीं है। संसारके इतिहासपर दृष्टि दौड़ाइये, हजारों उदाहरण मिलेंगे।

संसारकी स्थिति क्या है-इसका निरूपण भी गीतामें बड़े सुन्दर ढंगसे किया गया है। शरीर, जीव, आत्मा, परमेश्वर और कर्त्तव्यके वास्तविक सम्बन्ध और स्वाभाविक गुणकर्मका भी विवेचन किया गया है। जन्म-मरणकी वास्तविकता दिखाते हुए योगेश्वर कहते हैं कि-'जीवसे नवीन देहके सम्बन्धका नाम जन्म और जीवसे उत्पन्न हुए देहके नाशका नाम मरण है। उसके आगे कहते हैं -'सब कर्मोंका हेतु अज्ञान है, उसके नाश होनेपर उसका कार्य भी नष्ट हो जाता है।'

चित्तकी शुद्धिके लिये निष्काम कर्मयोगकी बड़ी आवश्यकता है। चित्त या मनके पवित्र और दृढ़प्रतिज्ञ होनेसे काम, क्रोध नष्ट होजाते हैं। दृष्टिमें अद्वैतभावना आ बसती है। इसके बाद जीवन्मुक्तिका मार्ग मिल जाता है। जिस प्रकार गीतामें योगेश्वर श्रीकृष्णने कर्मके ऊपर ज़ोर दिया है वैसे ही चित्त-शुद्धिको भी अत्यन्त आवश्यक बताया है। बिना चित्तकी शुद्धि हुए कोई भी ईश्वर-सम्बन्धी कार्य पूरा होना असम्भव है। इसका उपाय बताते हुए कहते हैं कि-'यद्यपि मन बड़ा चंचल है, वायुसे भी अधिक तेज़ चालवाला है, तोभी—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'

यानी अभ्यास और वैराग्यद्वारा ठीक रास्ते पर लाया जा सकता है।' अभ्यासका अर्थ है-बाह्य विषयोंकी ओरसे मनको हटाकर बार-बार अन्तरात्माकी ओर लगाना और वैराग्यके माने हैं-दृष्टादृष्ट विषयोंमें दोषदर्शन। मन निग्रहके ये ही दो उपाय हैं। साथ ही अन्तःकरणकी शुद्धि वर्णाश्रम कर्मके द्वारा भी होती है। चित्त शुद्धिके बाद सात्विक बुद्धि उत्पन्न होती है और मन निवृत्ति मार्गकी ओर अग्रसर होता है। परमात्मासे आत्मा मिलकर अपरिमेय आनन्दका अनुभव करती है।

True life of fellowship with God is its own reward.

संसारके किसी कोनेमें जाकर देख लीजिये, किसी धर्म पुस्तकको उठा लीजिये, कर्मका सिद्धान्त ही सब जगह आपको मिलेगा। बाइबिल, कुरान और वेद सभी कर्मका प्रतिपादन करते हैं। अनीश्वरवादी भी कर्मसे विमुख नहीं होते।

कोई जीव क्षण भर भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। इसलिये कर्म करनेसे पहले मनुष्यको यह निपटारा कर लेना जरूरी है कि कौन-सा काम करना चाहिये और कौन-सा नहीं। इस निपटारेके लिये धार्मिक ग्रन्थोंकी सहायता लेनी पड़ेगी। परन्तु, अपनी आत्मा यदि पवित्र हो तो, वह सबसे बड़ी, सच्ची निर्णायक हो सकती है। एक छिपी हुई आवाज़ प्रत्येक कार्य करनेके पहले हमें सावधान करती रहती है। हम उसे ध्यानसे सुनें या न सुनें। उसकी आज्ञा मानें या न मानें। इससे भी बड़ी बात यह है कि निस्स्वार्थ स्वधर्मोचित कर्तव्य-पालन सारी बाधाओं और बन्धनोंसे परे है।

ईश्वरकी माया बड़ी प्रबल है। यह संसार मायामय है। यही मोहमयी माया अर्जुनको भी चक्करमें डाले हुए थी। यदि योगेश्वर जैसे गुरु न मिलते तो उस मायासे मुक्ति पाना असम्भव था। इसी मायाके लिये तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

नारद शिव विरंचि सनकादी, जे मुनिनायक आतमवादी।
मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही, को जग काम नचाव न जेही।
तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा, केहिके हृदय क्रोध नहि दाहा।

दो० ज्ञानी, तापस, शूर कवि, कोविद गुण आगार।
केहिके लोभ विडम्बना, कीन्ह न यहि संसार॥

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगनयनीके नयन शर, को अस लागु न जाहि॥

गुणकृत सन्निपात नहिं केही, को न मान-मद व्यापेउ जेही।
यौवन-ज्वर केहि नहिं बलकावा, ममता केहिकर यश न नशावा।
मत्सर काहि कलंक न लावा, काहि न शोक समीर डुलावा।
चिन्ता साँपिनि काहि न खाया, को जग जाहि न व्यापी माया।
कीट मनोरथ चारु शरीरा, जेहि न लाग घुन को अस धीरा।
सुत, बित, नारि एषणा तीनी, केहिकी मति इन कृत न मलीनी।
यह सब मायाकृत परिवारा, प्रबल अमित को बरणै पारा।
शिव, चतुरानन देखि डराहीं, अपर जीव केहि लेखे माहीं।

दो० व्यापि रह्यो संसार महँ, माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि भट, दम्भ, कपट, पाखण्ड॥

ऐसी प्रबल मायामें अर्जुनका पड़ जाना आश्चर्यजनक नहीं था। किन्तु, भगवान् श्रीकृष्ण जैसे कर्मयोगी अपने भक्तका अनिष्ट कैसे देख सकते थे। उन्होंने अर्जुनके सामनेसे मोह-का परदा हटाकर असली परिस्थिति दिखा दी। कापुरुषताके लिये बारबार धिक्कारा और कहा कि—

रगोंमें दौड़ने फिरनेके हम नहीं क़ायल,
जो आँखसे ही न टपका तो वो लहू क्या है। (ग़ालिब)

अनेकों शङ्काओंका समाधान करते हुए अर्जुनको कर्तव्य पालनके लिये तत्पर कर दिया। फलाकांक्षा-रहित कर्मप्रवृत्तिके द्वारा अर्जुनकी विजय हुई। संसारको कर्मयोगका सच्चा रास्ता देखनेको मिल गया। कर्म छोड़कर बैठ जानेसे कापुरुषताका जो वातावरण उपस्थित हो गया था, वह छिन्न-भिन्न हो गया। एक बार संसारमें फिर कर्मयोगकी दुन्दुभी बज उठी। कर्मयोगके विशेष जिज्ञासुओंको तिलक महाराजकृत 'गीतारहस्य' अवश्य देखना चाहिये। अपूर्व और अनुपमेय ग्रन्थ है। वास्तविक रहस्य वर्तमान समयमें तिलक महाराजने ही समझा और उसपर जीवन भर अमल किया। भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थान कारागारमें ही तिलक महाराजको भी गीताज्ञानकी अमूल्य ज्योति दिखायी पड़ी। तिलक महाराजका सारा जीवन कर्म-योगसे ओतप्रोत है। वे धीर थे, वीर थे, निष्काम कर्म करनेवाले महापुरुष थे, उनका सिद्धान्त था—

परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्।

लोक-सेवा ही ईश्वरकी सच्ची सेवा है—इसे वे कभी नहीं भूले। वे स्थिरचित्त और दृढ़प्रतिज्ञ थे, उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा ऐसी थी—

ये काम होके रहे, चाहे जाँ रहे या न रहे;
ज़मीं रहे न रहे, आसमां रहे न रहे। (चकबस्त)

गीतासे उनका घनिष्ट सम्बन्ध था, उसपर असीम भक्ति थी, इसीलिये बरबस इतनी लाइनें मैंने लिखदीं। अस्तु!

गीताके महान् विशद ज्ञानपर यह एक बिलकुल सरसरी तौरकी नज़रसानी है। उसके हजारों अङ्गोंमेंसे केवल एक कर्मके अङ्गका स्पर्शमात्र किया गया है। किन्तु, वह है सबसे उपादेय और गीताका प्राण। मनीषी साधुजन यदि 'कल्याण' के द्वारा, सरल और सरस भाषामें, इस गूढ़ तत्त्वको समझावें तो जनताका बड़ा उपकार हो। यह विषय गूढ़ और गहन है। इसे विद्या द्वारा रोचक और ज्ञान द्वारा सरल बनाकर जनताके सामने रखना चाहिये। पाण्डित्यपूर्ण लेखोंसे केवल पण्डित ही लाभ उठा सकते हैं। लाखों और करोड़ोंकी संख्यामें परिगणित होनेवाली

जनता उससे वञ्चित हो जाती है। तब तो 'हाली' की हमें यही शेर याद आती है कि—

वो इल्म जिससे कि औरोंको फायदा न हुआ ;
हमारे आगे बराबर है वो हुआ न हुआ।

क्या हम आशा करें कि हमारी इस विनीत प्रार्थनापर विद्वान् पण्डितजन ध्यान देकर हमें कृतार्थ करेंगे?

अन्तमें हमारी भगवान् श्रीकृष्णसे यही करबद्ध प्रार्थना है कि—'प्रभो! हम आपके आशीर्वादके प्रार्थी हैं। हम आपके हैं। आप दीनबन्धु हैं। हमें न भुलाइये। हमें आशीर्वाद दीजिये कि आपके गीताज्ञान (या कर्मयोग) को समझने और उसका परिपालन करनेके योग्य हो सकें। पाखण्डपूर्ण धर्मके कोरे ढकोसलोंका अन्त हो जाय। वर्णाश्रम-धर्म सच्चे अर्थमें परिचालित हो। उसके अनुयायी पद-पदपर, वास्तविकताका अनुसरण कर परम पदके अधिकारी बनें। पवित्राचरण-युक्त धर्म-कर्मका पवित्र, सौरभित वायु-मण्डल उत्पन्न होकर संसारमें पूर्ण शान्तिका साम्राज्य स्थापित कर दे। हमारे रग-रगमें कर्मकी सच्ची स्फूर्ति उत्पन्न हो। हम शुद्ध हृदयसे संसारकी कल्याण कामना-मार्गके कर्म-वीर पथिक बनें। हमारी स्वार्थपरताकी बेड़ियोंके बन्धन छूट जावें। हमारी ईर्षा-द्वेषकी दावाग्नि आपके अमृतमयी उपदेशोंकी वर्षासे ठण्ढी हो जावे। हम लोक-सेवा-द्वारा, आपकी सच्ची अर्चना करनेमें समर्थ हो सकें। हमारी अभिलाषा है कि—

निकले जो जनाज़ा तो मेरा कूचेसे निकले ;
ये दिलकी तमन्ना है ज़रा धूमसे निकले।

हम संसारमें रहकर भी, संसारका कार्य करते हुए भी, सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त रहें। हमें बल दीजिये कि हम आपके आशीर्वादक चरणोंका अनुसरण कर सकें। हममें उत्साह उत्पन्न कीजिये, ताकि हम अपने पूर्वजोंकी धवल कीर्तिकी रक्षा कर सकें। हमें बुद्धि दीजिये कि हम आपका निरन्तर ध्यान करते हुए अन्तमें आपके पादारविन्दोंमें आश्रय पा सकें। आप कृपाके सागर हैं। हम असहाय और कृपाके भिखारी हैं। हम आपसे अनन्त कृपाकी भिक्षा मांगते हैं। आपने हमें सदा सहायता दी है। हमारी पुकार कभी खाली नहीं गयी, प्रह्लादकी रक्षा करनेमें आपने क्षणभरकी भी देर नहीं की। रावणके नाश करनेमें आपने कभी आगा पीछा नहीं किया। अर्जुनको सत् उपदेश करनेसे आप कभी पीछे नहीं हटे। सूरदासजीकी 'अन्धेकी लकड़ी' बननेमें आपने गौरव समझा। तुलसीदासजीको आपने चन्दन घिस घिसकर दिया। मीराको मन्त्रमुग्ध करनेमें आपकी बांसुरीने कमाल किया। भगवन्! हम भी असहाय हैं, दीन हैं। हमारा भी उसी तरह उद्धार करो। अपनी प्रतिज्ञाकी ओर देखो, हमारे पातकोंकी ओर दृष्टिपात न करो। फिर एक बार वंशीकी वही मधुर ध्वनि सुननेकी बड़ी लालसा है। साम्यप्रेमकी पुनीत भागीरथीमें स्नान करनेकी तीव्र इच्छा है। अपरिमेय! एक बार फिर दर्शन देकर उसे पूर्ण कर दो।

आप तो दृढप्रतिज्ञ हैं! अपने 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' वाले फ़रमानको मत भूलिये। देखिये, द्रौपदीके अपमानित बिखरे हुए केशोंकी धुँधली छाया आज भी दिखायी देती है। यशोदानन्दन! जबतक आप नहीं आवेंगे तबतक इन बिखरे हुए बालोंकी वेणी नहीं बँध सकेगी। व्रजके वृक्ष आपकी राह देख रहे हैं। व्रजवासी कलप रहे हैं। वंशीकी ध्वनि अबतक इन कानोंसे नहीं निकल सकी। आपकी वह स्मृति-छाया कभी कभी स्वप्नमें दृष्टिगोचर हो जाती है।—मि० लारेंस होपकी कुछ पंक्तियोंके साथ अन्तमें फिर एक बार आपको याद करनेकी लालसा रोके नहीं रुकती।

KRISHNA AND HIS FLUTE

Be still, my heart, and listen,
For sweet and yet acute
I hear the wistful music
Of Krishna and his flute.

Across the cool, blue evenings,
Throughout the burning days,
Persuasive and beguiling,
He plays and plays and plays.

Ah, none may hear such music,
Resistant to its charms;
The household work grows weary,
And cold the husband's arms.

I must arise and follow,
To seek in vain pursuit,
The blueness and the distance,
The sweetness of that flute!

In linked and liquid sequence,
The plaintive notes dissolve
Divinely tender secrets,
That none but he can solve.

Oh, Krishna, I am coming,
I can no more delay.
'My heart has flown to join thee'
How shall my footsteps stay ?

Beloved, such thoughts have peril;
The wish is in my mind,
That I had fired the jungle
And left no leaf behind

Burnt all bamboos to ashes,
And made thier music mute
To save thee from the magic
Of Krishna and his flute.

(By Laurance Hope)

एक बार बोलो, वंशीवाले कर्मयोगी श्रीकृष्णकी जय !

आध्यात्मिक आदेश

(लेखक–स्वामी योगानन्द, सम्पादक ईस्ट-वेस्ट, न्यूयार्क, अमेरिका)

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ (गी० ६।१)

अर्थात् 'जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी एवं योगी है, केवल अग्नि तथा क्रियाओंको त्यागनेवाला संन्यासी अथवा योगी नहीं है।' अपने Song Celestial (दिव्यगीत) नामक ग्रन्थमें सर एडविन आर्नाल्डने इस श्लोकका अनुवाद इस प्रकार किया है –

'अतः जो पुरुष लाभकी इच्छा न रखकर करने-योग्य कर्म करता है वह योगी एवं संन्यासी दोनों है। किन्तु जो न तो यज्ञकी ही अग्नि प्रज्वलित करता है तथा न अन्य कर्म ही करता है, वह न योगी है, न संन्यासी'।

ये पंक्तियाँ उन दोनों सिरोंके मार्गोंके बीचका पथ प्रदर्शन करती हैं जिनमें मनुष्य अपनी आध्यात्मिक उन्नतिमें अधिक आकर्षित होता है। सांसारिक कर्मोंका सर्वतः संन्यास असाध्य है, क्योंकि यदि प्रत्येक मनुष्य संसारको त्याग कर जङ्गलमें रहने लगे, तब वहां भी नगर ही बनाने पड़ेंगे अन्यथा उचित भोजन तथा शुद्ध वायुके अभावसे लोग मर जायंगे। ईसाई, हिन्दू तथा बौद्धोंके आश्रमोंद्वारा कुछ लाभ अवश्य हुआ है, पर कई भारी दोषोंके कारण वे आदर्श नहीं हैं। वहां साधक बहुधा आलसी एवं अनुद्योगशील हो जाते हैं तथा सांसारिक प्रयासके अनुभवसे वञ्चित रहते हैं। इन आश्रमोंको अपने निर्वाहके लिये व्यापारी समाजपर निर्भर रहना पड़ता है अतः इनका आदर्श सर्वमान्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय-भोगोंका मानसिक त्याग हुए बिना केवल बाह्य त्यागसे एक प्रकारकी दाम्भिकता आ जाती है और सांसारिक भोगोंमें आसक्ति,–यद्यपि वह छिपी रहती है,–बढ़ जाती है। बाह्य संन्यास तभी लाभदायक हो सकता है जब कि इन्द्रिय-भोगोंकी आन्तरिक आकांक्षा परमात्मामें अधिक आनन्द प्राप्त हो जानेके कारण सर्वथा तृप्त हो जाती है। संन्यास स्वयं कोई उद्देश्य नहीं है और न यह तपका ही कोई साधन है। अधिक स्थायी आध्यात्मिक आनन्द-प्राप्तिमें यदि कोई कम महत्वकी वस्तुएं बाधा डालती हैं तो हमें उनका त्याग कर देना चाहिये। ईसाने स्थायी जीवनकी प्राप्तिके लिये अपना साधारण जीवन त्याग दिया था।

अतः इस श्लोकमें गीता संन्यासके लिये जोर देती है. संसारमें सांसारिक जीवनके संन्यासके लिये नहीं, वरन् स्वार्थी सांसारिक जीवनके संन्यासके लिये। जोर कर्तव्य कर्मोंके फल-त्याग पर है, न कि स्वरूपसे स्वयं कर्मोंके त्याग पर, जैसा कि प्रायः भ्रमसे लोग मान लेते हैं! कर्मके बिना तो जीवन गतिहीन हो जाता है। स्वयं भगवान् भी अनवरत कर्ममें लगे रहते हैं, वह गीतामें अर्जुनसे कहते हैं:—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(गी० ३ । २२–२४)

मनुष्यको अपनी क्रिया एवं आकांक्षाके फलसे अपने परिवार, देश तथा जगत्‌को लाभ पहुंचाना चाहिये। एक व्यापारी भी संन्यासी हो सकता है, यदि वह स्वयं अपनी सुविधाकी इच्छा न रखकर कुटुम्ब अथवा मानव-जातिके हितके हेतु धनोपार्जन करता है। जो मनुष्य अपने अभिमान तथा आरामके लिये अपने परिवारका पोषण करता है उसे संन्यासी नहीं कह सकते, पर एक स्वार्थी ढोंगी अविवाहित-से तो वह भी श्रेष्ठ है। जो मनुष्य अपने स्वार्थको जगत्‌के स्वार्थमें मिला देता है और मानव-जातिके हितार्थ उसी प्रकार कर्म करता है जिस प्रकार स्वयं अपने लिये। उसे विवाह करनेकी आवश्यकता नहीं किन्तु जो उत्तरदायित्वसे पीछा छुड़ानेके लिये विवाह नहीं करता, वह स्वार्थी है, उसमें अपनी उन्नतिके लिये आवश्यक प्रेरणा नहीं होती। वह व्यापारी संन्यासी है जो अपने उद्योग एवं धनका स्वयं अपने ही परिवारके हितार्थ उपयोग न कर दूसरोंकी सहायता करके अपनी आकांक्षाको पूर्ण धार्मिक बना लेता है। गीता कहती है कि संन्यासका अर्थ कर्मोंको कम कर देना अथवा उनसे भाग जाना नहीं है, वरन् जगत् तथा ईश्वरके लिये कर्मोंद्वारा सांसारिक जीवनको धार्मिक बना लेना है।

प्रत्येक प्राणीके साथ जीवनका आनन्द लेना चाहिये तथा उसको अपने परिवारमेंसे ही एक समझना चाहिये। केवल अपने सम्बन्धियोंके हितार्थ ही नहीं किन्तु अन्य दूसरे लोगोंकी सहायता तथा उनके सुखके हेतु भी धनोपार्जन करना चाहिये। अतः गीता स्वार्थके दुर्गुणोंसे बचने तथा त्यागके जीवनका लाभ उठानेकी शिक्षा देती है। जो प्राणी केवल अपने ही स्वार्थके हेतु कार्य करता है उसकी चेतना उसके शरीरमें ही मर्यादित रहती है, पर जो जगत्‌के लिये जीता है उसकी चेतना(आत्मा) सबकी चेतनाके साथ एकरूप होकर परमात्मामें मिल जाती है। अतएव गीता बतलाती है कि संन्यासका अर्थ स्वयं अपने किये हुए उद्यमके फलको केवल अपने ही उपयोगमें लानेकी इच्छाका त्याग है।

परन्तु अपनी सारी शक्तिको इन्द्रियोंकी आवश्यकताओंके पूरी करनेमें लगाकर सब समय उसीमें संलग्न रहना एवं व्यापारकी एक मशीन बन जाना दूसरी सीमा है, इससे भी बचना चाहिये। आवश्यकतासे अधिक एवं ऊटपटांग उद्यम, जिसका धार्मिक जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, आध्यात्मिक उन्नतिके लिये हानिकारक होता है। धार्मिक आदर्शोंको प्राप्त करनेके भावसे सब कर्मोंको करना ही अध्यात्म है।

बाह्य संन्याससे आलस्य, अकर्मण्यता तथा गतिहीनता आ जाती है और अत्यधिक उद्योगसे मनुष्य मशीनके रूपमें परिणत हो जाता है और उसका परमात्मासे जो सम्बन्ध है, उसे वह भूल जाता है। ईश्वरकी सहायता बिना माता-पिता, परिवार तथा देश किसीके भी प्रति अपना धर्म नहीं निभा सकता। अत्यधिक उद्योग मनुष्यको केवल संसारमें फँसाकर आत्मोन्नतिसे,-जिस उद्देशसे वह उद्यम करता है,- पृथक् कर देता है। जिस उद्योग द्वारा आनन्दकी हानि होती है, वह आध्यात्मिक अकर्मण्यताको उत्पन्न करता है अथवा आत्माको गतिहीन कर देता है।

ईसाने अपने श्रोताओंको उपदेश दिया कि 'पहले ईश्वरके राज्यको खोजो, अन्य पदार्थोंका जगत् तो उसका होनेके कारण फिर प्राप्त हो ही जायगा।' असाधारण पुरुषोंके लिये जो केवल ईश्वरका ही चिन्तन करते हैं,—तथा उन जातियोंके लिये जितनी अववादसे अरुचि हो गयी है, यह एक हितकारक उपदेश है।

परन्तु गीताकी शिक्षा साधारणसे साधारण जीवनके लिये भी विशेषरूपसे उपयोगी है कि फिर चाहे कोई व्यापारी हो, विद्याजीवी हो, घरमें रहनेवाली स्त्री हो या श्रमजीवी हो। गीता कहती है कि न तो सब कर्म उपयोगी हैं और न सब कर्म ईश्वर प्राप्ति ही करा सकते हैं। पहले योग्यायोग्य कर्मोंका विचार करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्यको ऐसे कर्म चुनने चाहिये जिनसे उसकी आर्थिक, शारीरिक, मानसिक तथा सबसे अधिक हार्दिक एवं आत्मिक उन्नति साथ साथ हो सके। सामान्य व्यवसाय अथवा उद्यम जो जगत्‌में हममेंसे अधिकतर मनुष्य करते हैं, हमारी ऐसी उन्नतिमें सहायक हो सकते हैं, यदि हम उसके अभिप्रायको जानने तथा उसको कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न करें। सारे शुद्ध कर्म ही योग्य कर्म हैं।—सब व्यवसाय जिनसे मानवजातिकी आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है, प्रेमसे किये जा सकते हैं। ऐसे ही कामोंसे हम सेवा तथा सहयोगकी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और जगत्‌में अपने जीवनको उपयोगी प्रमाणित कर सकते हैं।

सार्वजनिक उन्नतिके लिये योग्य एवं धार्मिक कर्म अनिवार्य हैं। गीता कहती है कि उन कर्मोंद्वारा अपनी उन्नति, स्वयं अपने ही लिये नहीं वरन् प्रत्येक प्राणीके हितार्थ करनी चाहिये। उपयुक्त भोजन करने तथा पवित्र जीवन व्यतीत करनेसे आत्म-मन्दिर शुद्ध हो जाता है। स्वस्थ, उत्साहित

एवं शुद्ध रहनेसे अन्य मनुष्यके लिये एक उदाहरण उपस्थित होता है। गीता कहती है कि ऐसे मनुष्य सार्वभौम उन्नतिके हेतु कर्म करते हैं। मानों वे भटके हुए प्राणियोंको भगवदानन्द-भवनमें प्रवेश करानेवाले द्वार हैं। वे ईश्वरमें युक्त हुए योगी हैं क्योंकि वे अपने सुखके लिये कर्म नहीं करते किन्तु सत्य, उन्नति एवं ईश्वरके लिये कर्म करते हैं। वे जानते हैं कि ईश्वरके बिना वे कुछ भी नहीं हैं। राज-भवनमें रहते हुए भी तथा करोड़ोंकी सम्पत्ति पास रहनेपर भी वे (जनककी भाँति) संन्यासी हैं, क्योंकि उनकी स्वयं अपने स्वार्थ तथा सुखके लिये कर्मोंमें आसक्ति नहीं है। वे केवल ईश्वरकी प्रसन्नता तथा परमार्थके लिये ही कर्म करते हैं।

गीता तो यह स्पष्ट कहती है कि जिसका जीवन त्यागरहित है अथवा निश्चेष्ट है वह योगी अथवा संन्यासी नहीं है। सब भूतप्राणियोंके हितकी आकांक्षा रखकर कुशलता, प्रेम, उत्साह एवं शान्तिसे योग्य कर्म करनेका नाम,- जिससे स्वयं अपनी तथा दूसरोंकी सार्वभौम उन्नति होती है,-योग अथवा संन्यास है। अकर्मण्यता तथा कुकर्म दोनोंसे ही बचना चाहिये, वे मनुष्यके आत्मविकासको रोक कर उसे अन्धकारमें रखते हैं।

परमात्माके साथ यथार्थ प्रेम वही करता है जो उचित कर्म करता है। फिर चाहे वह भारतके वनोंमें रहे अथवा आधुनिक सभ्यताके शहरोंमें। दोनों ही कठिनता तथा परीक्षाके स्थल हैं। पहलेमें जहां भयंकर हिंसक वनचर हैं, वहां दूसरेमें उससे भी अधिक घातक भ्रमात्मक सुख-जीवनकी चिन्ता, तृष्णा तथा आकांक्षाएं हैं। भयरहित आनन्दके पथपर चलनेके लिये मनुष्यको इन दोनोंको जीत कर इनसे मुक्त होना चाहिये। अखण्ड आनन्दके दिव्य राज्यको अपने अन्तस्तलमें खोज लेनेपर फिर चाहे वनकी नीरवता अथवा नगरोंके कोलाहलमें कहीं भी रहो, ईश्वर तुम्हारा निर्देशक रहेगा। कन्दराओंमें ध्यानावस्थित होनेपर तथा आधुनिक व्यापारके घने बाजारोंमें सभी जगह ईश्वरीय निर्देश अवश्य ही सुनायी पड़ना चाहिये।

गीताका प्रकाश अनन्त काल तक रहेगा

गीता वह तैलशून्य दीपक है जो अनन्त काल-तक हमारे ज्ञान-मन्दिरमें प्रकाश करता रहेगा। पाश्चात्य दार्शनिक ग्रन्थ भले ही खूब चमकें किन्तु हमारे इस लघु दीपकका प्रकाश उन सबसे अधिक चमककर उन्हें ग्रस लेगा। —महर्षि द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

दिव्य-सन्देशका इतिहास

गीता उस दिव्य-सन्देशका इतिहास है जो सदा सर्वदासे आर्यजातिका जीवनप्राण रहा है। इस ग्रन्थका निर्माण प्रधानतः आर्य जातिके ही लिये हुआ और सारे संसारकी भलाईके लिये भारतीय आर्योंने शताब्दियोंसे इसकी रक्षा की है।

—डा० सुब्रह्मण्य अय्यर के० सी० आई० ई०, एल-एल डी,

गीतास्तव

अविचल सुखराशी, ज्ञानकी सीख देनी।
कलिमल अघनाशी, पावनी ज्यों त्रिवेनी॥
विमल मन बनावै, शांतिकी देनहारी।
सुर नर मुनि गावैं, नित्य गाथा तिहारी॥

—गोविन्दराम अग्रवाल

स्मरणम्

यदा यदा हि कृष्णेति कृष्णेति च वदाम्यहम्।
तदा तदा हि त्वां द्रष्टुं कण्ठरुद्धो भवाम्यहम्।

—सोहनलाल द्विवेदी।
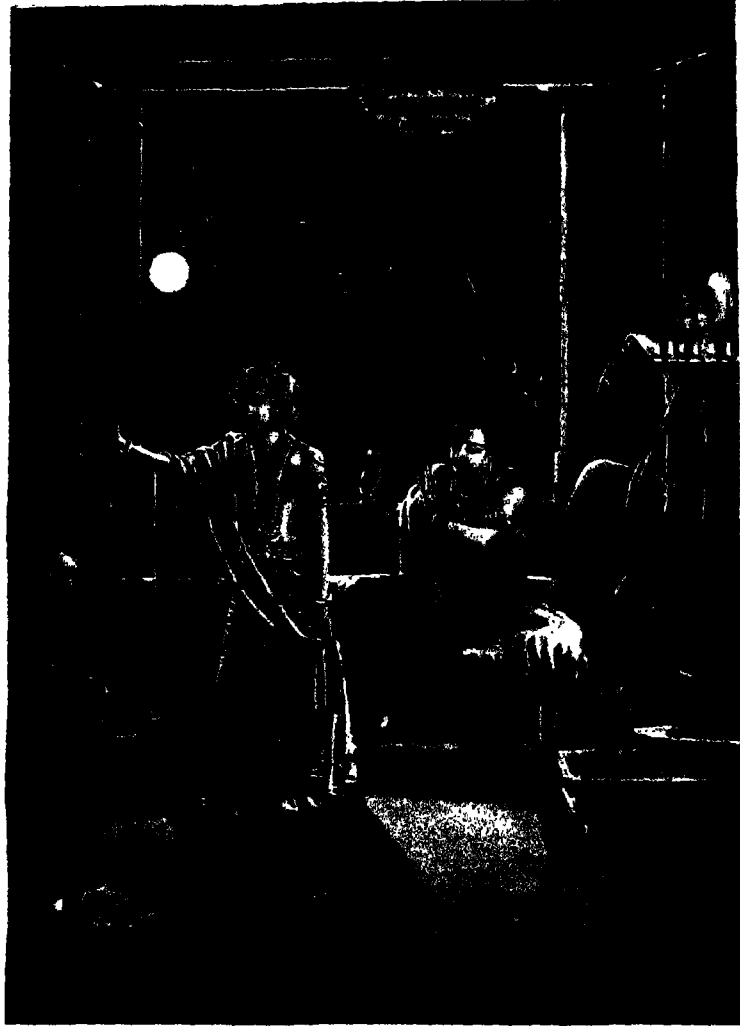
कामातुर हो उर्वशी, आयी अर्जुन पास ।
पार्थ जितेन्द्रियने उसे, 'माँ' कह करी निराश ॥

इन्द्रिय-विजयी अर्जुन।

(लेखक–पं० श्रीरमाशंकरजी मिश्र 'श्रीपति')

(१)

'लज्जित होजाते अरुणाम्बुज-
सज्जित-कल्पलताके कुञ्ज,
सस्मित होजाता नन्दन-वन,
विस्मित शरच्चन्द्र सुखपुञ्ज।

(२)

सन्मुख जिस छबिके पड़जाता-
फीका मन्मथका उपहार,
विश्वसार होता न्योछावर,
लगता लघु रतिका शृंगार।

(३)

वही उर्वशी आज पाण्डुसुत!
पाकर सुरपतिका आदेश,
प्रेम-रसास्वादन करनेको-
प्रस्तुत हुई अहो रसिकेश!

(४)

इस नितान्त एकान्त निशामें-
करके मुग्धाका सत्कार,
आशा है निज भ्रूविलाससे-
हर लोगे मानसका भार।'

(५)

लज्जित हो, अवनत मस्तक कर-
दर्शाते विनम्र व्यवहार,
किया उर्वशीका अर्जुनने-
निज जननी सा शिष्टाचार।

(६)

बोले, 'वन्दनीय तुम मुझसे,
कुन्ती, माद्री हो साकार,
पुरुवंशज पुरुरवा नृपतिकी-
आप भार्या थीं सुकुमार'।

(७)

तब क्यों निज बालकसे माता-
करती नर्कप्रद प्रस्ताव?
भरतवंशकी जननीको क्या-
उचित कभी यह कलुषित भाव?'

(८)

कहा उर्वशीने, 'यह तो है-
स्वर्गधामका सौख्य-विनोद,
जब जो भी आता तपबलसे-
करता सुखसे प्रेम-प्रमोद।'

(९)

देवि! 'सत्य यह पर अर्जुनसे-
पूर्ण न होगा तव अनुरोध।'
मर्माहत सी हुई उर्वशी,
उपजा उसके उरमें क्रोध।

(१०)

कहा, 'शाप देती मैं तुमको
रहो नपुंसक द्वादश मास,
दासी बनकर करो नृत्य तुम-
ललनाओंमें रासविलास।

(११)

धन्य जितेन्द्रिय वीर धनुर्धर!
धन्य तुम्हारा त्याग महान,
क्यों न तुम्हारेसे भक्तोंके-
बनें सारथी श्री भगवान॥

श्रीमद्भगवद्गीताका महत्व

(ले०-प्रो० श्रीगंगाधर चिन्तामणि भानु)

क्ति और राष्ट्रकी दृष्टिसे मनुष्यके इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस्की प्राप्तिके उपाय बतलानेवाले जितने धार्मिक और तात्त्विक ग्रन्थ हैं, श्रीमद्भगवद्गीता उन सबमें श्रेष्ठतम है । गीताके एकनिष्ठ भक्त ऐसा कहें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । आश्चर्य तो यह है कि हमारे भारतवर्षमें जितने पन्थ या सम्प्रदाय विद्यमान थे और हैं, उन सभीने एक स्वरसे यह स्वीकार किया है कि श्रीगीता परम पूज्यतम ग्रन्थ है । पाश्चात्य देशकी अनेक भाषाओं-में भी इसका अनुवाद हो गया है । इस ग्रन्थके माहात्म्य-को बतलानेवाला दूसरा प्रमाण यह है कि इसी ग्रन्थके ढंगपर गणेशगीता, देवीगीता, शिवगीता, राम-गीता, अवधूतगीता आदि बीसों गीताएं रची गयीं और आज वे प्रसारको प्राप्त होकर श्रीमद्भगवद्गीताके सिद्धान्तोंका ही न्यूनाधिकरूपमें प्रचार कर रही हैं । तीसरा प्रमाण यह है कि प्राचीन या अर्वाचीन कोई भी वक्ता या लेखक हों, सभी कोई अपने विचारोंकी पुष्टिके लिये गीताके अवतरण दिया करते हैं, वेदान्तसूत्रकार श्रीबादरायण व्यास, श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य प्रभृति आचार्यगण और उनके शिष्य प्रशिष्य जब कभी किसी पारमार्थिक विषयका विवेचन करते हैं, तब गीताका प्रमाण अवश्य देते हैं । मराठोंके शासनकालमें तो साधारण लेखक भी अपनी साधारण व्यावहारिक लिखापढ़ीमें भी गीता-वचनोंका उद्धरण करते थे । आजकल भी अनेक विद्वानोंको इसी प्रकार गीताका उल्लेख करते हुए देखते हैं । श्रीमद्भगवद्गीताके प्रारम्भमें उसकी वन्दनाके कुछ निश्चित श्लोक लिख देनेकी प्रथा है, जिनमें गीताको अद्वैत ज्ञानरूप अमृतकी वर्षा करनेवाली, भवसागरका द्वेष करनेवाली, ज्ञानके देदीप्यमान दीपकवाली और भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा उपनिषदोंका मन्थन करके उनमेंसे निकाले हुए अमृत-मय नवनीत-स्वरूप आदि विशेषणोंका प्रयोग किया गया है, इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीयोंकी दृष्टिमें गीताका अलौकिक महत्त्व था और है । स्वामी विवेकानन्द, श्रीमती बेसेन्ट, मैकडोनल, मैक्समूलर प्रभृति अर्वाचीन प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानोंने भी जनतापर गीताका अपूर्व महत्त्व प्रकट कर दिया है ।

इस महत्त्वके कुछ कारण

यह प्रश्न है कि इस छोटेसे ग्रन्थको इतना महत्व क्यों मिल गया ? प्रमाण-ग्रन्थोंमें इसका समावेश होनेके लिये कौनसे कारण हुए ? इस प्रश्न-का उत्तर संक्षेपमें यह है—

गीतासे मैं शोकमें भी मुसकराने लगता हूं

जब मुझे शंकाएं घेरती हैं, निराशाएं मेरा सामना करती हैं और मुझे आकाश-मण्डलपर कोई ज्योतिकी किरण दृष्टि-गोचर नहीं होती, उस समय मैं गीताकी ओर ध्यान देता हूं । उसमें कोई न कोई श्लोक मुझे शान्तिदायक अवश्य मिल जाता है और घोर शोकाकुल अवस्थामें मैं तुरन्त मुसकराने लगता हूं । मेरा जीवन बाह्य दुःखपूर्ण घटनाओंसे पूर्ण है और यदि उनके प्रत्यक्ष एवं अमिट कोई चिह्न मुझपर नहीं रह गये हैं तो इसका श्रेय भगवद्गीताके उपदेशोंको ही है ।

—महात्मा गाँधी

(१) श्रीगीताके अवतारका अवसर बड़ा चमत्कारिक है । कुरु-पाण्डवोंमें होनेवाला युद्ध, दुष्ट और साधुके मनो-विकारोंमें प्रतिक्षण होनेवाले द्वन्द्व-युद्धका ज्वलन्त चित्र है । कठोर कर्तव्यका अवसर प्राप्त होनेपर आलस्य, भय, दया आदि अनेक मनोविकार कहते हैं कि तुम यह कर्तव्य मत करो और लोकसंग्रह, धर्मनिष्ठा आदि मोक्ष-सदृश कल्याण-

मार्गके दृढ़ उपासक बने रहनेवाले दूसरे मनोविकार यह आग्रह करते हैं कि यह कर्तव्य अवश्य करो। दोनों प्रकारके मनोविकारोंमें घमासान युद्ध होता रहता है और ऐसे अवसरपर यदि भगवान् श्रीकृष्ण सदृश चतुर उपदेष्टा मिल जाते हैं, तो कर्तव्यनिष्ठाकी जय हो जाती है। ऐसा विचित्र, परन्तु प्रत्येक कर्तव्यके अवसरपर उपस्थित होनेवाला प्रसंग सभीके सामने आया करता है। भगवद्गीता ऐसी समस्याओं का बड़ी सुन्दर रीतिसे निराकरण करती है। यह जानकर ही प्रत्येक कर्तव्यशील गीताका अध्ययन और तदनुसार आचरण करते हैं। यह ग्रन्थ हमारे प्रतिदिनके कर्तव्याकर्तव्यके प्रश्नोंका निर्णय करनेमें उपयोगी हो गया है, इसीलिये बालक, वृद्ध सभीको इसके महत्त्वका अनुभव होता है और इसीलिये वे सब इसके भक्त बन जाते हैं। कर्तव्यका विषय ही महत्त्व पूर्ण है।

(२) भगवान् श्रीकृष्ण सदृश चतुर-चूड़ामणि जिसके उपदेशक हों, धनुर्धारी अर्जुन सदृश एकनिष्ठ भक्त जिसका श्रोता हो, उस ग्रन्थके न तो स्मृतित्व प्राप्त होनेमें कोई आश्चर्य है और न उसका इतना माहात्म्य होनेमें ही। क्योंकि दोनों ही महान् आत्माएं नर-नारायणरूप थीं। यह भी इसके सर्वमान्य होनेका कारण है।

(३) कर्तव्याकर्तव्यका विवेचन आरम्भ करते समय सबसे पहले श्रीकृष्ण जीवके अनन्त, सर्वव्यापी, अविनाशी, अक्षर, निर्विकार स्वरूपका निरूपण करते हैं, तदनन्तर बड़ी ही कुशलताके साथ मोक्षके सम्बन्धमें कहते हैं। मोक्ष कौन नहीं चाहता? सुख, ज्ञान और नित्यत्व नहीं चाहिये, यों कहनेवाला संसारमें कौन है? शराबी हो, पागल हो, भ्रममें पड़ा हुआ भ्रान्तियुक्त पुरुष हो, प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है। सुखकी कल्पना भिन्न भिन्न भले ही हो, पर सुख नहीं चाहिये ऐसा तो एक उन्मत्त भी नहीं कहेगा। तात्पर्य यह है कि जिसको सब चाहते हैं, जब वही वस्तु—वही सुखमय वस्तु इस गीता ग्रन्थमें मिलती है तब इस ग्रन्थको अभूतपूर्व महत्त्व प्राप्त होना उचित ही है। मोक्ष अर्थात् सच्चिदानन्द-स्वरूपकी प्राप्ति ही अखिल दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति है। इस स्वरूप-प्राप्ति और दुःख-निवृत्तिके प्रयत्नमें ही प्राणीमात्र निरन्तर संलग्न रहते हैं।

मोक्ष ही दुःख, अज्ञान और मरणशीलताको नष्ट करके दुःख-रहित आनन्द, अज्ञान-शून्य ज्ञान और मृत्यु-शून्य नित्य अस्तित्व प्रदान करता है। ऐसे मोक्षकी प्राप्ति करा देनेवाले ग्रन्थका शिष्टसम्मत और लोकप्रिय होना यथार्थ ही है। 'शाश्वतं पदमव्ययं०' (१८।५६) 'परां शान्तिम्' (१८।६२) प्रदान करनेके लिये प्रत्यक्ष प्रतिज्ञा करनेवाला ग्रन्थ सबको कल्प-वृक्ष सदृश प्रिय लगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

(४) मोक्ष और कर्तव्यकी दृष्टिसे इस सर्वोपकारक ग्रन्थमें यह कहा गया है कि सर्व जीव सम हैं (अ० ५।१८) ब्राह्मण-क्षत्रिय, सन्त-असन्त, विद्वान्-अविद्वान, छोटे-बड़े और स्त्री-पुरुषका कृत्रिम भेदाभेद इसमें नहीं है। अमुक देवताका ही पूजन करो, अमुक विधि ही मानो, अमुक ही पन्थका अनुसरण करो, ऐसे संकुचित विचार इसमें नहीं हैं। देहात्मवादीसे लेकर ब्रह्मवादी तक किसी भी मुमुक्षुके लिये यहां मना नहीं है। सबके लिये उन्मुक्त द्वार है। क्या कहें? जब वाल्मीकि जैसा नर-हिंसाकारी लुटेरा भी ईश्वर-प्रणीत कर्म-भक्ति-ज्ञानके द्वारा महर्षि-पदको प्राप्त करके मुक्त हो सकता है तो सन्मार्गी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियां आदिके शरीर मन-वाणीसे ज्ञान-योगका आश्रय लेकर तर जानेमें सन्देह ही क्या है? भगवान् श्रीकृष्णने ९ वें अध्यायके अन्तमें इसी बातका दिग्दर्शन कराया है। अठारहवें अध्यायके ६५।६६ वें श्लोकको पढ़नेसे भी यह बात बहुत ठीक समझमें आ जाती है कि अमृत वर्षा करके भवसागर-को सुखानेवाली यह गीता सभी ज्ञानी और श्रद्धायुक्त आश्रित जनोंको बिना भेदाभेदके सम भावसे मोक्ष प्रदान करती है। वेदोक्त कर्ममार्गमें ऐसा शुभ सन्देश सुनायी नहीं देता, न साम्प्रदायिक स्मृति-ग्रन्थोंमें ही ऐसा मिलता है, व्यवहारमें तो है ही नहीं। इसीलिये यह लोकोद्धारक ग्रन्थ इतना पूजनीय और वन्दनीय है।

(५) इस पवित्र ग्रन्थमें 'बाबावाक्यं प्रमाणं' की अन्ध-परम्परा नहीं है। जो शुद्ध अनुभवसे प्रमाणित होता है और जिसका त्रिकालमें कभी नाश नहीं होता, वही सत्य है। इस ग्रन्थमें उसी सत्यके प्रदान करनेवाली ऐकान्तिक कर्तव्य-निष्ठाकी व्याख्या की गयी है।

(क) शुद्ध अस्तित्व (सत्ता) कभी नष्ट नहीं होता, (न अभावो विद्यते सतः) और शुद्ध निर्विषयक अभावका (असत्का) कभी अस्तित्व नहीं है। इस सिद्धान्तके आधारपर गीताकी रचना है। जो सत् है वही चित् और वही आनन्द है। अविनाशी सत्तत्त्वके ऊपर यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। यही बात श्रीमच्छङ्कराचार्यने अपने उपनिषद्-भाष्य और सूत्र-भाष्योंमें कही है।

(ख) अपने लिये कर्तव्यशास्त्र-विहित कर्मोंके फलका बुद्धिपूर्वक त्याग करते रहनेसे मनुष्यका चित्त धीरे धीरे विषयहीन हो जाता है और कुटुम्ब, समाज तथा राष्ट्र आदिका योग-क्षेम भलीभाँति चलनेमें बड़ी सहायता मिलती है। अन्तमें इसी लोकसंग्रहकी उन्नति होते होते कुटुम्ब, समाज और राष्ट्रकी संस्कृति परम उच्चावस्थाको पहुँच जाती है। इतिहास भी इसी बातकी साक्षी देता है। श्रीमद्भगवद्गीताने इसी अनुभवके आधारपर कर्तव्य-शास्त्रकी इमारत खड़ी की है।

(ग) 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इस सिद्धान्तका अनुभव ज्ञानपूर्वक सत्श्रद्धा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त होता है। वैद्यकमें विशेषतः फ्रेञ्च वैद्यकमें और अमेरिकाके इमर्सन एडमंड सदृश विद्वान् सत्यान्वेषी और लोकसंग्राहक ग्रन्थकारोंके ग्रन्थों और पन्थोंमें भी स्पष्टरूपसे यही सिद्धान्त मिलता है।

(घ) इस परमेश्वर-निर्मित नैसर्गिक विश्वमें प्रतिक्षण और प्रत्येक स्थलमें पञ्चमहाभूत स्वार्थत्यागपूर्वक सहकारी रूप होकर कार्य करते हैं, जिससे विश्वका धारण पोषण होकर विश्वसंस्कृति मोक्षप्रवण हो जाती है, इसी सत्यको (अ० ३ श्लो० ११-१६) प्रकट करके सहकारिता करनेवाले सन्त स्वयं तो तर ही जाते हैं, वे दूसरोंको भी तरनेका मार्ग दिखा देते हैं। इस प्रकार लोकोपकारक सहकारिता न करनेवाला मनुष्य जन्म-मरणके चक्करमें फँस जाता है। यही प्रत्यक्ष अनुभवकी बात भी है।

(ङ) गीतामें जो कर्तव्य-शास्त्रके नियम बतलाये हैं वे धर्मविहित आचरण करनेमें सहज, निरपवाद और अनुभवसिद्ध है। (अ० ३ श्लो० २) प्रथम उपाय 'कर्मयोग' अथवा कर्मनिष्ठा या कर्तव्य-तत्परता है। अज्ञानी जीव स्वाभाविक ही उन कर्मोंको करता है जिनसे विषयभोगोंकी प्राप्ति होती है। वह फलाशासे करता है। परन्तु वे कर्म गीतोक्त कर्मयोग नहीं हैं, गीताका कर्मयोग तो वह है, जिसमें स्थित होकर मनुष्य फलकी आशा और कर्मके अभिमानको छोड़कर कर्म करता है, जिससे जीवका मन और उसकी भावनाएँ उन्नत होती हैं। यही कर्तव्य है। जो कर्म लोक-संग्रहके लिये होता है और जिससे मोक्ष-मार्गपर आरूढ होनेकी शक्ति प्राप्त होती है वही करना चाहिये। तीसरे अध्यायके छठे श्लोकमें इस विषयका बड़ा अच्छा विवेचन है। वहाँसे त्याग या निवृत्तिका गीतोक्त कर्मयोगमें ही आरम्भ हो जाता है।

दूसरा उपाय भक्ति है, छठे अध्यायमें बतलाये हुए योग-मार्गके द्वारा भगवान्‌की निष्काम भक्ति करनेसे चित्त निर्विषय अथवा स्थिर हो जाता है। परमेश्वरके गुणोंका गान, उसके नाम-संकीर्तन, ध्यान, भजनादिसे और उन गुणोंको यथाशक्ति स्वीकार कर तदनुसार आचरण करनेसे पूर्ण वैराग्यकी प्राप्ति होती है, और मैं तो समझता हूँ कि उसीके साथ साथ परमात्मस्वरूपके मार्गपर आरूढ होनेका अधिकार भी सुलभ हो जाता है।

तीसरा उपाय गुरुसन्निधिमें रहकर मोक्ष-शास्त्रोंका श्रवणादि करना है। यहां मननपूर्वक निदिध्यासनकी बड़ी आवश्यकता है। निदिध्यासन ही समाधि है। यहां निवृत्ति पूर्ण होती है। विषय निर्बन्धक हो जाते हैं और समाधि स्थिर होनेपर आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार चौथा और अन्तिम उपाय है। यहां मनुष्य निज रूपमें लीन होकर जन्म-मरणसे छुटकारा पा जाता है। इन उपायोंको काममें लाना चाहिये। निर्गुण परमेश्वरकी कल्पना न हो सकती हो तो सगुण परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये। वह भी न हो तो साकार श्रीराम-कृष्णादिकी भक्ति करनी चाहिये। यह भी न हो तो ग्राम्य देवताकी उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार सहज बुद्धिसे समझमें आनेवाले उपायोंसे भक्तिका आरम्भ करे, फिर क्रमशः ऊंची सीढ़ियोंपर पहुंचता जाय। यही क्रम है। यही क्रम ज्ञान और कर्ममें भी है। सर्वत्र निवृत्तिका, विषयत्यागका ज्ञानपूर्वक सेवन करके निर्विषय परमात्म-स्वरूपकी ओर जाना पड़ता है। (अ० २।४५) मनुष्य उसी ओर जाता भी है। (अ० ३।२३)

(च) मेरी समझसे यद्यपि यह गीता-ग्रन्थ केवल अद्वैतात्मक है और इसमें अद्वैतके उपयोगी कर्तव्योंका ही प्रतिपादन किया गया है तथापि इसमें द्वैत या अन्य किसी दर्शनसे द्वेष नहीं है। परन्तु केवल कर्ममें लग गये, ज्ञान-भक्तिको छोड़ दिया, या भक्ति की और ज्ञान कर्म त्याग दिये अथवा कर्म-भक्तिको छोड़कर कोरे ज्ञानका ही आश्रय ले लिया, ऐसा करनेसे विशेष लाभ नहीं होता। यह बात प्रत्येक उपायकी फल-श्रुतिका प्रतिपादन करते समय स्पष्टरूपसे बतला दी गयी है।

(छ) हम हिन्दुओंको चाहिये कि गीताके 'उद्धरेद् आत्मना आत्मानं' 'आत्मा हि एव आत्मनो बन्धु' इन बहुमूल्य शब्दोंको हृदयमें धारण करें। ये वचन परमार्थ और व्यवहार दोनोंके लिये ही बड़े उपयोगी हैं। परमात्मस्वरूपका परोक्ष ज्ञान प्राप्त करके उसके सहारे जीवात्माका उद्धार करें अर्थात्

'मैं ही परमात्म-स्वरूप हूँ' इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करना चाहिये।

मेरा विश्वास है कि संसारके प्राच्य, पाश्चात्य, औदिच्य, और दक्षिणात्य राष्ट्रोंके लोगोंके उद्धार करनेका महत्कार्य परमेश्वरने हम प्राच्य आर्योंको ही सौंपा है। इस ईश्वर-नियत कार्यका सम्पादन करनेके लिये ही आजतक राष्ट्र दृष्टिसे हम लोग जीवित हैं और आगे भी जीवित रहेंगे।

यहाँतकके गेरुआ कपड़े और गेरुआ शब्दसे सूचित होनेवाली निवृत्तिके शस्त्रको धारण करके हमें दसो दिशाओं-में प्रेमका सञ्चार कर सर्वत्र 'राम-राज्यकी शान्ति' स्थापित करनी होगी। इसी महान् कार्यके लिये हम जीवित हैं। (गीता १२। १३-२०)

ऐसा महत्त्व-पूर्ण सन्देश सुनानेवाली गीताको कौन 'महनीय' नहीं कहेगा? यह परम ऐहिक अभ्युदय करके जीवन्मुक्ति प्रदान करनेवाले पारमार्थिक ग्रन्थका प्रतिपादन हुआ। व्यावहारिक दृष्टिसे 'हम अपनी वैयक्तिक वा राष्ट्रीय उन्नति अपने ही प्रयत्नोंसे करनेमें समर्थ हों, गीताका यह उपदेश सभीको मान्य होगा। दैववाद छोड़ दीजिये। दूसरे विदेशी आकर हमारी सहायता करेंगे, तब हमारी उन्नति होगी, यह दुराशा भी त्याग दीजिये। स्वयं सात्त्विक मार्ग-का अवलम्बन करके अपनी आध्यात्मिक और आधिभौतिक योग्यता बढ़ाइये। यही गीताका सन्देश है।

जगत्के उद्धार-कार्यकी जिम्मेवारी लेनेवाले हम आर्य अब किसीकी भी व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रतापर आघात न पहुँचा कर और किसीसे भी मत्सर न कर जब इस कार्यको सम्पादन करेंगे, तभी हमारी विशेषता है और तभी हमारे सिद्धान्तोंका आदर होगा। इन सभी दृष्टियोंसे श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ परम उत्तम है।

श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त।

(लेखक—महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण, काशी)

र्तमान समयके अनुसार यह निश्चित सिद्धान्त है कि सनातन हिन्दू-धर्म-शास्त्रोंमें श्रीमद्भगवद्गीता सर्वो-त्तम अध्यात्म-ग्रन्थ है, क्योंकि गीता न तो किसी सम्प्रदाय-विशेषके मतका समर्थन करती है और न वह किसी सम्प्रदायसे विरोध ही करती है। यदि कोई राग-द्वेषके कालुष्यको हृदयसे हटा कर गीताका स्वरूप देखना चाहे तो उसे दिखायी देगा कि गीता सर्व-धर्म-समन्वयका अनुपम क्षेत्र है, शाक्त, शैव, गाणपत्य और वैष्णव आदि किसी भी मतके विरुद्ध गीतामें कोई बात नहीं है। कर्मी, ज्ञानी और भक्त तीनोंके ही सार सिद्धान्तोंका गीतामें बड़ी सरल रीतिसे वर्णन किया गया है। इसीसे शास्त्र कहता है—

'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥'

अब प्रश्न यह है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इन तीनोंमें गीता-शास्त्र सिद्धान्ततः किसका प्राधान्य बतलाता है। आपात दृष्टिसे यह प्रतीत हो सकता है कि गीता इन तीनोंका प्राधान्य तुल्यरूपसे सूचित करती है, क्योंकि गीतामें भिन्न भिन्न स्थलोंपर त्रिविध वचन दीख पड़ते हैं। यथा—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'
'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'
'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।' आदि

इन सब वचनोंसे कर्मयोगका प्राधान्य स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है। तथा—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'
'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते॥'
'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'
'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥'

इत्यादि वचनोंसे ज्ञानका प्राधान्य प्रकट होता है। और

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥'

'मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥'

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'

'य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥'

इत्यादि वचनोंसे समझा जाता है कि भक्तियोग ही सबसे प्रधान है । इसीमें गीताका मुख्य तात्पर्य है ।

इन सब वचनोंसे कर्म ज्ञान और भक्तिका तुल्य-प्राधान्य सूचित होनेपर भी वस्तुतः एक अधिकारीके लिये तीनोंका तुल्य-प्राधान्य सम्भव नहीं हो सकता । इसलिये कई व्याख्याताओंका मत है कि अधिकारभेद मानकर इनका समाधान करना आवश्यक है । कर्माधिकारीके लिये गीता कर्मयोगका प्राधान्य बतलाती है, ज्ञानाधिकारीके लिये गीता ज्ञानयोगका प्राधान्य सूचित करती है और भक्तके लिये गीता भक्तियोगको प्रधान कहती है । इस मतकी पुष्टिमें वे लोग श्रीमद्भागवतका निम्नलिखित वचन प्रमाण-रूपसे उद्धृत करते हैं :—

'निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धश्च यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥'

'जिन्होंने विरक्त होकर संन्यासाश्रम स्वीकार कर लिया है, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं, जो भोगानुकूल कर्मोंमें आसक्तचित्त हैं वे कर्मयोगके अधिकारी हैं और बिना किसी दृष्ट कारणसे मेरी (भगवान्‌की) कथा और सेवा आदिमें जिनकी श्रद्धा हो जाती है, जिनके हृदयमें न पूरा वैराग्य होता है और न प्राकृतिक विषयोंमें जिनकी अत्यासक्ति ही है, ऐसे पुरुषोंके लिये भक्तियोग सिद्धिका कारण होता है ।'

श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त वचनसे यह सूचित हो रहा है कि एक ही समयमें एक पुरुषके लिये युगपत् कर्म ज्ञान और भक्तियोग अवलम्बनीय नहीं है, जो जिस समय जिसका अधिकारी है, उसके लिये उस समय वही साधन अर्थात् कर्म ज्ञान या भक्तियोग प्रधानरूपसे अवलम्बन करना चाहिये । गीताशास्त्रमें यही सिद्धान्त स्थापित किया गया है ।

गीताशास्त्रका तात्पर्य वर्णन करनेवालोंमें कोई कोई पण्डित इसका विरोध करते हैं, इस विरोधका स्वरूप किसी आगामी संख्यामें प्रकट किया जायगा ।

सर्वोत्कृष्ट तत्त्व

मैं प्रतिदिन इसलिये गीता पढ़ता हूं कि संसारके सब धर्मोंमें यह सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है । मैं इसे इसलिये पढ़ता हूं कि यह गृहस्थधर्मके कर्त्तव्योंका एक पूर्ण शास्त्र है तथा मैं इसे इसलिये पढ़ता हूं कि यह सबसे बड़े अवतारकी वाणी और हमारे धार्मिक एवं सामाजिक जीवनका सर्वोत्तम सार है ।

टी० वी० शेषगिरि अय्यर

वध कर जरासन्ध खलका, हरि, भीमार्जुनको लीन्हें साथ।
बन्धन-मुक्त कर रहे क्षत्रिय, मस्तक पर रख निर्भय हाथ॥

बन्धनमुक्तिकारी भगवान् श्रीकृष्ण

(१)

खल-दल-दलित सकल भूतल पर-
एक समय छाया भय शोक ,
जरासन्धके प्रबल पराक्रम-
से कम्पित था सारा लोक ।

(२)

मचा महा संग्राम, प्रपीड़ित
हुई समस्त प्रजा असहाय ,
बीस सहस्र चार सौ भूपति-
बन्दी बने अन्त निरुपाय ।

(३)

अत्याचारी जरासन्धके-
ज्वलित रोषमें पड़कर सन्त-
संकट विषम सहन करते थे,
कष्टोंसे होजाता अन्त ।

(४)

दुःखित हुये भक्तवत्सल तब ,
चढ़े ससैन्य धनञ्जय भीम ,
बध करवाया जरासन्धका-
नष्ट हुई अरि-सैन्य असीम ।

(५)

'भवमोचन ! जब जब भक्तों पर-
होने लगता व्यर्थ अनर्थ ,
तब तब बध दुष्टोंका करके-
फिरसे करते उन्हें समर्थ' ।

(६)

सस्मित-वदन देवकीनन्दन-
आये तब बन्दी-गृह-द्वार ,
बन्धन-मुक्त हुये नरपति सब-
मचा मोद आनन्द अपार ।

(७)

'धन्य धन्य गोविन्द ! धन्य तुम,
धन्य तुम्हारी माया नाथ !
करते कभी अनाथ, नाथको,
फिर संकटमें देते साथ ।'

(८)

काटी गई बेड़ियां सबकी,
किया गया उनका शृङ्गार ,
हुये कृतार्थ जनार्दनको लख,
पाया सबने जीवनसार ।

(९)

'विश्ववन्द्य जय जय पुरुषोत्तम !
बार बार है तुम्हें प्रणाम,
जयति जयति जय जय जय माधव !
जय अविचिन्त्य निरीह अकाम ॥'

-रमाशंकर मिश्र 'श्रीपति')

गीताका प्रयोजन परम निःश्रेयस् है

(लेखक—पं० श्रीरामावतारजी शर्मा)

(श्रीशांकरभाष्य तथा मधुसूदनी टीकाके आधारपर)

जिस प्रकार आयुर्वेदका परम प्रयोजन आरोग्यलाभ होता है इसी प्रकार गीताशास्त्रका परम प्रयोजन परम निःश्रेयस् है अथवा इसे यों कहना चाहिये कि यदि गीताशास्त्रका केवल एक ही महावाक्य बनाया जाय तो आत्यन्तिक मुक्तिको प्राप्त करना ही उसका परम निष्कर्ष निकलता है । मुक्ति नामक इस परम पदके अतिरिक्त और जिस किसी भी पदार्थका निरूपण गीतामें किया गया है वह सब इसीके उपायरूपमें है। उन उपायोंमेंसे किसी एकको गीताका मुख्य प्रयोजन बताना अंगको ही अंगी मान लेनेके समान एक भ्रम ही होता है । वह मुक्ति दो प्रकारकी होती है । प्रथम तो उस सर्वातिशायी आनन्दका आविर्भाव हो जाना, जिसको प्राणोंकी ममता, मरनेके भय, सुख-दुःखकी अधीनता तथा प्रिय-अप्रियके अज्ञानने ढक दिया है मानों प्रदीप्त अग्निपर राखका गहरा पर्दा ही पड़ गया हो । दूसरे सम्पूर्ण अनर्थोंका सर्वात्मना नाश हो जाना जिससे कि वे अनर्थ फिर कभी उत्पन्न ही न हो पावें। जब किसीको वैसे आनन्दकी प्राप्ति होती है और सम्पूर्ण अनर्थ विलीन हो जाते हैं तो उस अधिकारीमें समता नामके उस ब्रह्म-गुणका आविर्भाव हो जाता है, जिसको इन क्षुद्रताओंने अभीतक आच्छादित किंवा अविभूत कर रक्खा था । उस समताका आविर्भाव होनेपर ही हमें यह ज्ञान होता है कि यह आत्मपद किसी भी देश-काल आदिकी मर्यादामें आनेवाला तत्त्व नहीं है । मुक्तिरूपी उस परमपदको किसी भी क्रियासे प्राप्त करना सर्वथा असम्भव होता है । यदि वह परमपद किसी क्रियासे प्राप्त होनेवाला हो तो वह परमपद ही क्या हुआ ? फिर तो उस क्रियाको ही उससे अधिक महत्त्व प्राप्त हो जायगा । वह परमपद प्राप्त भी कहांसे होगा ? जिस समय सब क्रियाएं बन्द हो जाती हैं, समताका अखण्ड तथा निष्कण्टक साम्राज्य सर्वत्र छा जाता है, उसी समय वह परमपद प्रकाशित हुआ करता है । दौड़ते रहनेसे जैसे अपने मस्तककी छाया किसीके हाथ नहीं आती, वैसे ही किसी भी क्रियासे वह परमपद किसीको प्राप्त नहीं होता । यज्ञादि कर्म करने, आंखें बन्द कर लेने, मनको रोकने किंवा किसी प्रसंगको टाल देनेसे यह परमपद किसीके हाथ लगता हो तो वह परमपद ही क्या हुआ ? जिस परमपदके एक चतुर्थांशमें करोड़ों ब्रह्माण्ड पड़े हुए हैं, जिसका तीन चतुर्थांश अभी भी परम शुद्ध अवस्थामें ही विराज रहा है, उस अनन्त परमपदको प्राप्त करनेके लिये अल्पदेशीय और क्षणकालिक ये क्षुद्र कर्म कैसे समर्थ हो सकते हैं ? उसी परमपदको प्राप्त करानेका सच्चा मार्ग दिखानेके लिये ही गीताशास्त्रकी रचना की गयी है ।

संसारके समस्त प्राणी इन 'आगमापायी' भौतिक तथा क्षणजीवी शरीरोंको ही मध्यबिन्दु मानकर इस संसारको मापना शुरू कर देते हैं और इसका नामकरण करने लगते हैं । जहां उनका शरीर होता है उस देशको समीपवर्ती देश कहते हैं, जिस समय उनका शरीर होता है उस कालको वर्तमान काल कहने लगते हैं और जिस स्थानपर उनका शरीर होता है उसीके आधारसे पूर्व आदि दिशाओंका नाम रख लेते हैं । यदि उनके शरीरको वहांसे कुछ पूर्व हटा दिया जाय तो फिर उसी स्थानको पश्चिम कहने लगते हैं । यदि किसी युक्तिसे उनके इस शरीरको ही इस ब्रह्माण्डसे पृथक् कर दिया जाय और फिर उनसे पूछा जाय कि बताओ वह समीपवर्ती देश कहां गया ? वह वर्तमान काल क्या हुआ तथा वे पूर्व आदि दिशाएं कहां गयीं ? तो कुछ भी सन्तोषप्रद उत्तर उनके पास न रहेगा । इसी प्रकार संसारके अबोध प्राणी इस शरीरको मध्यबिन्दु मानकर ही स्त्री, पुत्र, धनैश्वर्य आदि पदार्थोंको मेरा कहते हैं क्योंकि उनसे इस शरीरको पोषण किंवा सुख प्राप्त होता रहता है । यदि किसी अधिकारीको इस बातका ज्ञान हो जाय कि यह शरीर इस ब्रह्माण्डकी वस्तुओंको मापने किंवा उनका नाम रखनेका कोई भी पुष्ट आधार नहीं है तो तुरन्त ही उसका मेरा तेरा व्यवहार बालक्रीडाके समान होकर एक अतीत गाथा ही बन जाता है । उपर्युक्त दृष्टान्तके अनुसार ही जब हम स्वरूपाज्ञानके फन्देमें फंस जाते हैं तो जिन जिन शरीर इन्द्रिय आदि पदार्थोंसे हमारे अज्ञानको पुष्टि प्राप्त हुआ करती है, हमारे अज्ञानका संवर्धन किंवा लालन-पालन होता रहता है, उसी अज्ञानको मध्यबिन्दु मान कर उन

शरीरादिको भी मेरा समझने लगते हैं। जब किसी अधिकारीको इस मेरे तेरे व्यवहारका गुप्त भेद प्रतीत हो जाता है तो उसका इस शरीरके साथ मेरेपनका व्यवहार ही रुक जाता है, फिर तो जब वृक्ष जिस प्रकार ऋतु आनेपर फलते हैं, नदियां जिस प्रकार जलोंको समुद्रतक बहाये ले जा रही हैं, मेघ जिस प्रकार इस भूमिको वृष्टिधारासे शस्यसम्पन्न कर रहे हैं, परन्तु इन सबको इन क्रियाओंमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं रहता कि अमुक क्रियाएं हमने की हैं, इसी प्रकार धनुषसे छोड़े हुए तीरके समान केवल प्रारब्ध-कर्मोंकी प्रबलतासे चलते हुए इस अधिकारी देहके द्वारा जो भी इष्ट अनिष्ट क्रियाएं सिद्ध होती रहती हैं उनमें इस जीवन्मुक्त महात्माको अभिमान नहीं रहता कि अमुक क्रियाएं मेरे द्वारा सम्पन्न हुई हैं। जिस प्रकार सेना-सञ्चालककी इच्छासे वीरोंका देह क्रिया किया करता है, इसी प्रकार इस ब्रह्माण्डके अभिमानी विराट् आदिके संकेतसे उनका यह शरीर क्रिया करने लगता है। ऐसी उच्च स्थितिका निरूपण और उसके प्राप्त करनेकी विधिको जाननेकी यदि किसीको अभिलाषा हो तो उसे गीताशास्त्रका मनन करना चाहिये।

जिस प्रकार ज्ञानी लोग आत्म-स्वरूप पर आये हुए तीनों शरीरोंके वेष्टनको अपने ज्ञानकी महिमासे उतार फेंकते हैं और शुद्ध, निर्लेप आत्मस्थितिमें पहुँच जाते हैं, इसी प्रकार अपनी ज्ञानरूपी चलनीसे इस ब्रह्माण्डरूपी अवकर (कूड़े) को छानकर आत्ममात्रको शेष रख लेते हैं। यों उनके अन्दर और बाहर दोनों प्रकारके अज्ञानका समूल नाश हो जाता है। अनन्त ज्ञान किंवा अखण्ड आत्मचैतन्यको स्वल्प परिच्छिन्न किंवा खण्डित करनेवाले शरीर इन्द्रिय मन देश काल दिशा तथा ब्रह्माण्ड पर्यन्त पदार्थोंको ज्ञानाग्निसे भस्मसात् करके किस प्रकार विलीन कर डाला जाय तथा शुद्ध आत्मस्थितिका महालाभ क्योंकर प्राप्त हो, ऐसी ज्ञानोत्सुकता यदि किसीके मनमें जाग उठी हो तो उसे गीताशास्त्रका स्वाध्याय करना चाहिये।

प्राणोंकी ममता, मृत्युका भय, सुख-दुःखकी परवशता और श्रेय-प्रेयके अज्ञानने प्राणियोंके हृदयमें डेरा जमा रक्खा है। इसी अज्ञानके कारण इन शरीरादि संघात तथा इन संघातोंमें उत्पन्न हुई क्षुद्र इच्छाओंको पूरा करनेके साधन स्त्री-पुत्रादिको भी मेरा कहने लगते हैं तथा इस समस्त ब्रह्माण्ड-को अपने तुच्छ दृष्टिकोणसे माप कर अनन्त संसारके अनन्त दुःखोंको ही निमन्त्रण दे देते हैं। संसाररूपी कपट-नाटकके मूल संचालक उस अज्ञानको किस प्रकार नष्ट किया जाय तथा अज्ञानरूपी उपनेत्र लगानेपर ही दीखनेवाले इस संसार-भ्रमको किस प्रकार विलीन किया जाय, केवल इसी परम निःश्रेयस् नामका प्रयोजनको लेकर गीताशास्त्रकी रचना की गयी है। उससे ज्ञात होता है कि मरण-विच्छेद और दुःख कुछ भी नहीं है, आत्मतत्त्व अमर और सनातन है, वह योंही मिट्टीके खिलौनोंमें छिप कर शत्रु और मित्र आदि कलहकी सामग्री इकट्ठा करके युद्ध-शान्ति, कलह -प्रेमका आस्वाद ले लेकर जीवन और मरणका नाटक खेल रहा है।

तीनों वेदोंने विष्णुके इसी पूर्ण तथा सच्चिदानन्द-नामक परमपद पर अधिकार जमानेके लिये बड़ी तत्परतासे श्रुति-सेनाको एकत्रित किया है। अज्ञान तथा उससे उत्पन्न हुए संसाररूपी शत्रुको परास्त करनेके लिये कर्म, उपासना (भक्ति) तथा ज्ञान नामक तीन सुदृढ दुर्गोंका उन्होंने निर्माण किया है। योग्यताके अनुसार ही इन तीनों दुर्गों-पर अपनी श्रुति-सेनाके भटोंको तैनात कर दिया है। इसीसे वेदोंके कर्म, उपासना तथा ज्ञान ये तीन काण्ड बन गये हैं। अज्ञात शत्रुको परास्त करनेके लिये की गयी वेदोंकी इस व्यूह-रचनाको गीताने भी पसन्द किया है। उसने भी अपने अठारह अध्यायोंमेंसे छः छः अध्यायोंके क्रमशः कर्म, उपासना तथा ज्ञान नामक तीन काण्ड बनाकर इस रचना-का अपने शरीरमें समावेश कर लिया है। पहले छः अध्यायों-में कर्मकाण्ड किंवा कर्मयोगका सोपपत्तिक वर्णन आया है, सबसे अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगका प्रतिपादन किया गया है। प्रकाश तथा अन्धकारके समान परस्परके विरोधी होनेसे कभी भी समुचित न होनेवाले इन दोनों काण्डोंको देखकर इनके मध्यमें संयोजकरूपसे भक्तिकाण्डका निरूपण कर दिया है। इस भगवद्भक्तिका जब कर्म तथा ज्ञानसे सम्पर्क हो जाता है तो सकल विघ्नराशियां एकही साथ पलायन कर जाती हैं। इसके प्रतापसे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी-के मार्गमें अन्तरायोंका आना रुक जाता है। वह भक्ति जब दोनों मार्गोंमें अनुगत होती है तो क्रमशः कर्ममिश्रित शुद्ध तथा ज्ञानमिश्रित भेदसे तीन प्रकारकी बन जाती है। भक्तिकी इस विशेषताका प्रतिपादन करनेसे गीताशास्त्रमें अपूर्वता आ गयी है। भक्तिके प्रतापसे धर्म, अर्थ काम मोक्ष, ज्ञान, वैराग्य तथा अन्तःकरणकी शुद्धि सभी कुछ सिद्ध हो सकता है। जिसको वेदान्तोंमें अपरोक्षानुभूति किंवा साक्षात्कार कहा है—वह भी परिपक्व भक्तिका ही रूपान्तर है। दीर्घकालतक श्रद्धापूर्वक भजन करते रहनेसे जब वह

भजन प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है तब उसको ज्ञान शब्दसे कहने लगते हैं। अथवा यों समझना चाहिये कि भगवद्भजन ही कालान्तरमें भगवत्प्रेम बनकर भगवज्ज्ञान हो जाता है। भक्त 'दासोहं' की भावना करते करते अन्तमें 'दा' को भूलकर सोहं सोहं करने लगते हैं, यही कारण है कि भक्त तीन प्रकारके पाये जाते हैं। प्रथमावस्थाके भक्त समझते हैं कि 'मैं भगवान्‌का हूं।' दूसरे भक्तोंका विचार होता है कि 'वह भगवान् मेरा ही है।' परन्तु भक्तिका परिपाक होते होते तीसरे भक्तोंको तो यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'वह परम तत्त्व मैं ही हूं।'

सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्रोंकी यदि एकवाक्यता की जाय अथवा किसी एक वाक्यमें उनका सारांश निकाला जाय तो उनमेंसे 'वह तुम ही हो'—'मैं ब्रह्म हूं' 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि तीन प्रकारके ही महावाक्य निकलते हैं। ये ही सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्रके निष्कर्ष कहलाते हैं। इनको महावाक्य कहनेका तात्पर्य यह होता है कि जब हम कोई लौकिक वाक्य बोलते हैं तो वे किसी विशेष देश, किसी विशेष काल तथा किसी विशेष वस्तुका प्रतिपादन करके कृतार्थ होकर हतवीर्य हो जाते हैं। उन खण्ड वाक्योंके प्रतिपादनसे और भी बहुतसा देश, बहुतसा काल तथा बहुतसी वस्तुएं बच रहती हैं। कोई भी ऐसा संसारी वाक्य नहीं बोला जा सकता जो कि सकल संसारको व्याप्त कर ले, अथवा जिसके अनन्तर कुछ भी वक्तव्य शेष न रहता हो। परन्तु जब हम इन महावाक्योंको बोलते हैं तो इन वाक्योंके प्रतिपाद्य अर्थको किसी देश, किसी काल तथा किसी वस्तुकी मर्यादामें आना नहीं पड़ता। इन वाक्योंको सुनते ही अधिकारी पुरुषोंका मनोनाश हो जाता है। क्योंकि जब हम अनन्त देश, अनन्त काल तथा सम्पूर्ण वस्तुरूप ही हो रहे हैं तो फिर किस वस्तुको, किस देश तथा किस कालमें चाहें? हम अनन्त आत्मा, चाहना जैसी क्षुद्र क्रिया ही क्यों और कैसे करें? क्रियाएं तो सदा ही सान्त तथा परिच्छिन्न पदार्थोंमें हुआ करती हैं। अध्यात्मशास्त्रके इन महावाक्योंमें 'तत् त्वं' तथा इनकी एकताका ही समावेश रहता है। इस गीताशास्त्रके प्रथम काण्डमें स्ववर्णाश्रमविहित कर्म तथा उनके त्याग मार्गोंका अवलम्बन करके 'त्वं' पदके लक्ष्यार्थ आत्मचैतन्यका युक्तिपूर्वक निरूपण किया गया है। उसके मनन करनेसे ज्ञात होता है कि ये हमारे शरीर इन्हीं दृश्यमान भौतिक जगत्‌के ही एक क्षुद्र भाग हैं, ये इसी जगत्‌मेंसे आदान विसर्ग करते रहते हैं, इन्हीं मेंसे उत्पन्न होते और इन्हींमें विलय हो जायंगे। ये शरीर इसी विराट् देहमेंसे अन्नको लाकर मलके रूपमें निकाल देते हैं। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, तथा आकाश नामक बाह्य जगत्‌के बिना क्षणभर भी इन देहोंका निर्वाह नहीं होता, हमारी हजार इच्छा होने पर भी हम इन देहोंमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं कर सकते। क्योंकि इस सकल जगत् तथा इन समस्त प्राणिदेहोंपर अहंभाव रखनेवाले विराट्‌का सङ्कल्प बड़ा ही सत्य है। ऐसी अवस्थामें विराट् देहके एक अत्यन्त तुच्छ भाग इस शरीरपर किसी समझदारको 'मैं'पनेका आरोप क्यों करना चाहिये? तथा क्यों अपने आपको ऐसी परवशतामें फांस देना चाहिये? हमको तो अपने शुद्ध निरुपाधि रूपको ही सदा चिन्तन करते रहना चाहिये, तभी हमारा कल्याण हो सकता है। भक्ति नामक द्वितीय काण्डमें भगवद्भक्तिके वर्णनका मिस लेकर 'तत्'पदके लक्ष्यार्थ परमानन्दरूप भगवान्‌के स्वरूपका निरूपण किया गया है, जिसके मनन करनेसे ज्ञात होता है कि अपने सत्यसङ्कल्पकी सहायतासे इस संसार-चक्रको अनादि कालसे लेकर अनिश तथा अविश्रान्तरूपसे चलानेवाला कोई दूसरा ही प्रबन्ध इस संसारमें चल रहा है। उसीके दृष्टिकोणसे हमें इस संसारका विचार करना चाहिये। अपने तुच्छ दृष्टिबिन्दुसे संसारका विचार करनेपर हमसे बड़े बड़े अज्ञानापराध हो जाते हैं। हम लोग उसी भगवान्‌के घुमाये हुए संसार-चक्रपर दृढ़तासे बांधे हुए यन्त्रारूढ लोग हैं। हमें अपने लिये स्वतन्त्र सोचने किंवा चिन्ता करनेका कोई भी उचित कारण नहीं है। सम्पूर्ण सेनामें अहंभाव रखनेवाला सेना-सञ्चालक ही जिस प्रकार सेनाके खान-पान, गतिविधि आदिका आकलन किया करता है, इसी प्रकार हमारे लिये सभी कुछ उसने पूर्वसे ही नियत कर रक्खा है। हमें तो केवल उसके निर्दिष्ट वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करते हुए इस संसार-यात्राको समाप्त करना है। ज्ञानकाण्ड नामक तीसरे काण्डमें 'तत्' तथा 'त्व'की दोनों भेदक उपाधियोंको हटाकर उन दोनोंकी एकतारूपी महावाक्यार्थका निरूपण किया गया है। यह सब कुछ जाननेकी यदि किसीको कामना हो तो उसे गीताशास्त्रका स्वाध्याय करना चाहिये।

कामना अशुद्धताका कारण होता है। निष्काम लोग ही परम शुद्ध रह सकते हैं। कामनासे राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं। राग-द्वेषके वशीभूत पुरुषमें विषयासक्ति आ ही जाती है। उसका फल बन्धन होता है। आसक्तिका वह बन्धन सामान्य बन्धन नहीं होता। विषयासक्त पुरुष अभ्यासदोषके कारण

अपने दुःखके कारणोंका भी त्याग करनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाता है। इससे यही शिक्षा मिलती है कि कामना ही सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल कारण है। अधिकारीको उचित है कि कामनापूर्वक किये गये पुत्रेष्टि आदि काम्य कर्मों तथा अनृत भाषणादि निषिद्ध कर्मोंको छोड़कर वर्णाश्रम-विहित नित्य-नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्तात्मक कर्मोंका निष्काम भावसे अनुष्ठान किया करे। इन निष्काम धर्मोंकी अपेक्षासे भी जप तथा भगवत्स्तुतिकी महिमा अधिक मानी गयी है, क्योंकि ये निष्कामधर्म भी भगवदाश्रयसे ही फलदायक होते हैं। यद्यपि निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान ही मोक्षका मूल माना गया है, परन्तु अनादि कालके कुसंस्कारोंसे उत्पन्न हुए शोक-मोहादि किसीको निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान करने नहीं देते, वे तो किसी न किसी सकाम कर्ममें ही अपने प्राणीको फंसाये रखते हैं। इन कामनाओंके कारण ही संसारके प्राणी स्वधर्मके पालनसे चूकते, निषिद्ध कर्म करनेपर उतारू हो जाते, किन्हीं फलोंको ध्यानमें रख कर कुछ कर्म करना प्रारम्भ कर देते तथा बड़े अहंकारमें आकर अपने आपको उन क्रियाओंका कर्ता मान बैठते हैं। वे समझते हैं कि ये क्रियाएं हमारे ही द्वारा हुई हैं। संसारके बड़े प्रबन्धकका उन्हें ज्ञान ही नहीं रहता। जब कोई अबोध प्राणी इन शोक-मोहादिकी गति-विधिका निरीक्षण नहीं करता और अन्धा होकर इस संसार-सागरकी यात्रा करने लगता है तो ये शोक-मोहादि उसे परम पुरुषार्थका लाभ नहीं करने देते और बीचमें ही संसार-समुद्रमें डुबा देते हैं। फिर तो सुखके बदले दुःखोंके ढेर ही उनके पल्ले पड़ते हैं। इस जन्म-मरणरूपी संसार-नगरीमें,-जिसमें कि बड़ी मोह-ममता-को लेकर वे सकामी लोग प्रवेश करते हैं—सुखरूपी सौदा कैसे मिल सकता है? परन्तु सौभाग्य इतना ही है कि सभी जीव स्वभावतः सुखसे प्रेम करते तथा दुःखसे द्वेष करते हैं। दुःखके साधनोंको भी देखकर वहांसे बच कर निकलते हैं। ऐसी अवस्थामें जिन शोक-मोहादिसे हमें सदा ही दुःख मिला करता है, उन शोक-मोहादि तथा उनके साधनोंको ही क्यों न छोड़ दिया जाय? ये शोक-मोहादि अनादिकालसे चले आ रहे हैं और अपने भक्त प्राणियोंको दुःख दे रहे हैं; उनको हम किस प्रकार छोड़ दें? तथा सुखके चिरस्थायी दर्शन क्योंकर प्राप्त करें? ऐसी चाह यदि किसीके जीमें आग उठी हो तो उसे गीताशास्त्रका अध्ययन करना चाहिये।

निष्काम धर्मोंके प्रभावसे जब चित्तके पाप क्षीण होने लगते हैं तो वह चित्त विवेकरूपी निधिको रखनेका एक योग्य पात्र बन जाता है। इस अवस्थाके प्राप्त होने पर उस अधिकारीको नित्यानित्य पदार्थोंका दृढ़ विवेक होने लगता है। इसी क्रमसे इस लोकके देखे हुए तथा परलोकके सुने हुए भोग्य पदार्थोंमें पूर्ण वैराग्य होकर मनोराज्यकी समाप्ति होती, बाह्य इन्द्रियोंके व्यापार रुकते, द्वन्द्वोंका स्वभावसे ही सहन होने लगता, मन वाणी तथा इन्द्रियोंको उपराम मिलता, तथा गुरु-वेदान्त-वाक्योंमें अचूक श्रद्धा हो जाती है। अन्तमें तो संन्यासमें पूर्णता ही आजाती है। धीरे धीरे सर्व परित्याग हो जानेपर मुमुक्षाका भी परिपाक हो जाता है। इस मुमुक्षुताका परिपाक होते ही, जब कि उसे संसारकी असार स्थितिका सम्पूर्ण ज्ञान होजाता है,तो वह विधिपूर्वक अन्तेवासी धर्मको स्वीकार करके, विनयके चिह्न समिधाओंको हाथमें लेकर, आत्मदर्शी गुरुके समीप जाकर, आत्मज्ञानमें दीक्षित हो जाता है। दीक्षित हो जानेपर मनन करते करते जब कोई सन्देह होता है तब वह वेदान्तोंका श्रवणादि करने लगता है। उसके सन्देहोंको हटानेके अतिरिक्त और कोई भी प्रयोजन उत्तर-मीमांसा-शास्त्रका नहीं है। श्रवण और मनन जब सुदृढ़ हो जाते हैं तो स्वभावसे ही निदिध्यासनमें स्थिति मिल जाती है; वह निदिध्यासन कभी भी खण्डित न हो, इसकी विधियां बता कर ही योगशास्त्र समाप्त हो जाता है। निदिध्यासनके पकते पकते जब चित्तके सूक्ष्म वासना-दोष भी नष्ट होने लगते हैं तो गुरुके उपदिष्ट वाक्योंकी सहायता से ही तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। परन्तु वैसा निर्विकल्प साक्षात्कार गुरुके द्वारा हो जानेपर भी अविद्याकी सम्पूर्ण निवृत्ति तो तभी होती है जब कि निदिध्यासन निष्ठाके प्रतापसे तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है। तत्त्वज्ञानके उदय होते ही आवरणके क्षीण हो जानेपर भ्रम और संशय भी स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। उस समय उस तत्त्वज्ञानीके सम्पूर्ण अनारब्ध कर्म सरकण्डेकी रूईकी तरह ज्ञानाग्निसे क्षण-मात्रमें भस्मीभूत हो जाते हैं। तत्त्वज्ञानके प्रभावसे उस दिव्यावस्थाके आनेपर अगले कर्मोंका लेप भी कमलपत्रमें जलके लेपकी तरह फिर उसमें नहीं होता। परन्तु फेंके हुए ढोंकेके समान प्रारब्ध कर्मोंकी प्रबलतासे तत्त्वज्ञानीकी वासनाएं सर्वथा नष्ट नहीं हो पातीं। जब बलवान् संयम किया जाता है तो वे वासनाएं भी शनैः शनैः नष्ट होने लगती हैं। संयमका अभिप्राय धारणा, ध्यान तथा समाधिसे है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पांचों भी इन्हीं तीनोंके सहायक हो जाते हैं। यदि केवल ईश्वर-प्रणिधान ही चलता रहे तो भी समाधिकी सिद्धि शीघ्र ही

हो जाती है। समाधिके सिद्ध हो जानेपर ही मनका नाश तथा वासनाओंका क्षय हुआ करता है। जब कोई अधिकारी (१) तत्त्वज्ञान (२) मनोनाश तथा (३) वासनाक्षय इन तीनोंका एक साथ ही अभ्यास करने लगता है तभी उसकी जीवन्मुक्ति दृढ़ हो जाती है। इस जीवन्मुक्तिको दृढ़ करनेके लिये ही श्रुतियोंमें विद्वत्संन्यासको स्वीकार किया गया है। विद्वत्संन्यास कर लेनेके पश्चात् इन तीनोंमें जिस भागमें कमी हो, उसी भागको पूर्ण करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जब सविकल्प समाधिके द्वारा किसीका चित्त निरोध नामक परिणामको प्राप्त होने लगता है तो उसे निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति हो जाती है। यह निर्विकल्प समाधि तीन प्रकारकी पायी जाती है। पहली निर्विकल्प समाधिमें पहुंचनेवाले ज्ञानी लोगोंका वहांसे कभी कभी स्वतः ही व्युत्थान भी हो जाता है; दूसरी निर्विकल्प समाधिमें गये हुए लोगोंका समाधिभंग स्वतः कभी नहीं होता, किन्तु वे लोग दूसरे लोगोंसे उठाये जानेपर समाधिसे जगा करते हैं। परन्तु जब निर्विकल्प समाधिका पूर्ण यौवन अथवा तीसरी अवस्था आती है तो फिर वे ज्ञानी लोग कभी भी समाधिसे व्युत्थित नहीं होते, उनका शरीराध्यास एक अतीत प्रसङ्ग बन जाता है, वे सदा ही तन्मय रहने लगते हैं, उनके विषयमें कुछ लिखते हुए लेखनी भय मानती है, हाथ सिकुड़ता है, मनका अवसाद हो जाता है। ऐसे तल्लीन महापुरुषोंको ही 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' 'गुणातीत' 'स्थितप्रज्ञ' तथा 'भगवद्भक्त' आदि सम्भ्रान्त नामोंसे स्मरण करनेका साहस गीताशास्त्रने किया है। उसको वर्णों और आश्रमोंकी मर्यादासे बाहर गया हुआ, जीवित ही मुक्त तथा केवल आत्मरति देखकर उसकी कृतकृत्यताका निश्चय करके शास्त्ररूपी नापित भी वहांसे अपनी अपनी मशालको बुझाकर भाग आते हैं। परन्तु ये सब आश्चर्यकारी प्रसंग उसी बड़भागीके भागमें लिखे होते हैं, जिसकी भगवान्‌में बड़ी भक्ति हो तथा भगवान्‌के समान ही अपने गुरुदेवपर अतुल श्रद्धा हो। भगवद्भक्तिके आवेशमें आकर जब किसीकी जिह्वा हरिकीर्तन करने लगे, चित्त भी भगवान्‌का भजन करनेमें लीन हो जाय, दोनों हाथ भी भगवान्‌को प्रणाम करनेके लिये सहसा ही जुड़ जायं, मानों प्रबल वायुने किन्हीं किवाड़ोंको ही बन्द कर दिया हो, जब किसीके कान भी हरिकीर्तन सुननेमें व्यग्र हो जायं, आंखें भी भगवान्‌के दर्शनको उतावली हो उठें, पैर भी भगवद्भक्तिके लिये शरीरको कीर्तन स्थान तक उठा ले चलें, तात्पर्य यह कि जब भक्तिका ऐसा स्वाभाविक उल्लास होने लगे, मानों भक्तिने ही कोई शरीर धारण कर लिया हो अथवा वह सम्पूर्ण शरीर भक्ति ही बनना चाहती हो तो ऐसी भक्ति, अधिकारी पुरुषको उत्तर भूमिकाओंमें आरोहण करानेमें बड़ी सहायता देती है। यदि भगवान्‌में भक्ति न हो तो विघ्नोंकी अधिकतासे कार्यसिद्धिमें रुकावट पड़ जाती है। परन्तु जिन लोगोंके मार्गमें इस प्रकारकी बाधाएं आ जाती हैं वे लोग फिर जन्मान्तरमें उस पूर्वाभ्यासका स्मरण आते ही परवश उसी मार्गमें बलात् खींच लिये जाते हैं। यों अनेक जन्मतक सतत प्रयत्न करते करते अन्तमें पूर्ण सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं। यदि पूर्व जन्मोंके सञ्चित कोटि पुण्योंके प्रतापसे आकाशसे फल गिरनेके समान कोई महापुरुष अचानक ही कृतकृत्य हो जाय तो उस प्रातिभ ज्ञानीके ऊपरसे सम्पूर्ण शास्त्र एकमत होकर अपने विधि-निषेधका शासन उठा लेते हैं। ऐसे पुरुषोंके लिये तो शास्त्ररूपी अंकुशोंकी रचना ही नहीं की जाती। ऐसे महापुरुष संसारमें थोड़े होते हैं, परन्तु ऐसे लोग पूर्व-जन्मोंके साधनाभ्याससे भगवत्कृपाको उपार्जन करके ही अवतीर्ण हुआ करते हैं। उस कृपाके रहस्यको हम लोग बड़ी कठिनतासे केवल फलोंसे ही अनुमान कर सकते हैं। इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पूर्व भूमिकाको सिद्ध कर लेनेपर उत्तर भूमिकाको प्राप्त करनेके लिये भगवद्भक्तिकी बड़ी ही आवश्यकता है। उसके बिना कोई भी भूमिका किसीको प्राप्त नहीं होती। जब किसी महात्माको जीवन्मुक्तिका दुर्लभ पद प्राप्त हो जाता है, उस समय उसके लिये यद्यपि भक्तिका कुछ भी प्रयोजन शेष नहीं रहता परन्तु जिस प्रकार किसीसे रागादि न रखना जीवन्मुक्तका स्वभाव हो जाता है इसी प्रकार हरिभक्ति करना भी उसके स्वभावमें प्रविष्ट हो जाता है। भगवान्‌में ऐसे अनन्त गुण भरे पड़े हैं कि केवल आत्मामें ही रमण करनेवाले निरीह मुनि लोग भी उसकी निष्काम भक्ति करके प्रसन्न होते रहते हैं। ऐसे ज्ञानी भक्तोंको ही गीतामें मुख्य कहा गया है, ये ही सब अद्भुत वार्ताएं गीताशास्त्रमें जहां तहां प्रतिपादन की गयी हैं। इन सब बातोंको जाननेके लिये किस समझदारको उत्सुकता न होती होगी?

गीतामें प्रदर्शित उस परमपदको प्राप्त करनेके लिये तो केवल ग्रन्थिमोक्षकी ही आवश्यकता होती है। देहादिको आत्मा समझना, इस दृश्य जगत्‌में आत्माका भास न होना, भेदवासनाका दृढ़ हो जाना आदि ग्रन्थियाँ कहाती हैं। इस

प्रकार यह आत्म-स्वरूपका अज्ञान ही अनादिकालसे उलझ उलझकर ग्रन्थिरूप हो गया है। जब किसी अधिकारीकी यह ग्रन्थियाँ खुल जाती है तो वह अपने प्राप्त पदको ही दुबारा प्राप्त कर लेता है। तब उसे ज्ञात होता है कि, ओहो! यह परमपद तो मुझे सदा से ही प्राप्त था, मैं व्यर्थ ही इधर उधर विषयारण्य भूमियोंमें अपने इस परमपदको ढूँढ़ता हुआ जन्म-मरणके चक्कर पर चढ़कर घूम रहा था। इसी अभिप्रायको लेकर भगवान् श्रीकृष्णने अनुगीतामें 'स हि धर्मः स पर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदनम्' कहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मके निःश्रेयस नामक परमपदका लाभ करा देनेमें ज्ञाननिष्ठा रूपी धर्म ही समर्थ हो सकता है, आत्मज्ञानका अङ्ग बनाकर ही कर्मनिष्ठाका प्रतिपादन इस शास्त्रमें किया गया है। आत्मज्ञाननिष्ठा ही इस शास्त्रका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इस उत्तम पदको प्राप्त करनेके लिये कर्मोंका सर्वथा त्याग करना परमावश्यक हो जाता है। जैसा कि अनुगीतामें कहा है ,–

> नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी,
> यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् ।

जिसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानके प्रतापसे धर्माधर्मके बखेड़ेको छोड़कर शुभाशुभके विचारोंको भी तिलाञ्जलि देकर जब तुम अपने बाह्येन्द्रियोंके व्यापारोंको सर्वात्मना रोक दोगे, मनोव्यापारको भी बन्द कर दोगे अद्वितीय ब्रह्ममें अधिकाधिक स्थित होते होते अन्तमें उसीमें लीन हो जाओगे, उसीमें अपने आपको समाप्त कर दोगे, असम्प्रज्ञात समाधिमें डूबते डूबते अपने नामरूपको खोकर, अनन्तमें अनन्तके मिलनेका महोत्सव देख चुकोगे, तो समझा जायगा कि मुक्तिके परमपदको प्राप्त करानेवाले ज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है। इस परमपदको प्राप्त करानेमें कर्मोंका लेशमात्र भी उपयोग नहीं है। यही बात गीतामें कही गयी है—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अपने वर्ण-धर्मों, आश्रमधर्मों तथा सभी सामान्य धर्मोंको छोड़कर सब धर्मोंके अधिष्ठाता सब धर्मोंका फल देनेवाले मेरी ही शरणमें आजाओ। धर्म हो या न हो इसकी कुछ भी परवा तुम मत करो। क्योंकि वे धर्म भी तो मेरे सहारेसे ही फलदायक हुआ करते हैं। किसी भी बाह्य सहायताके विना केवल भगवान्‌का अनुग्रह हो जानेपर ही मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा, ऐसे दृढ़निश्चयको ही अपना पाथेय बना कर अपनी दृढ़ भावनासे परमानन्दस्वरूप मुझ अनन्तका प्रतिक्षण भजन करते चलो। तात्पर्य यह कि अपने हृदयपटलपर प्रेमकी अधिकताका सम्पुट देकर दृढ़ विचाररूपी पक्की स्याहीसे यह लिख दो कि 'भगवान्‌से अधिक कोई भी तत्त्व इस संसारमें नहीं है।' इसके पश्चात् सम्पूर्ण अनात्म चिन्ताओंके भारी बोझको सदाके लिये अपने कन्धोंसे उतार फेंको और चिर-शान्तिका सुखद दर्शन कर लो। अपनी मनोवृत्तिको भगवदाकार करके इस प्रकार निरन्तर बहने दो, मानो कोई तैलकी धारा ही निरन्तर बह रही है। यही सब रहस्य चमत्कारी, शान्त तथा गम्भीर भाषामें देखना हो तो अभ्यासी लोगोंकी सहायतासे गीताशास्त्रका मनन करो। गीताशास्त्रके अध्ययनसे चिन्ताशील मन ज्ञानी बन सकते हैं। संशयालु लोगोंके संशयोंका मूलोच्छेद हो जाता है। भयभीत लोग निर्भय बन जाते हैं। कर्तव्यमूढ़ोंको कर्तव्यका ज्ञान हो जाता है। मार्गभ्रष्ट अपना मार्ग पा जाता है, अपूर्ण आत्माओंको पूर्णताका लाभ हो जाता है। ईश्वर द्वेषियोंमें भक्तिका सञ्चार होने लगता है। जो लोग गीतासमुद्रमें आचूड़ स्नान करते हैं या जो ऊपर ही तैरते हैं, दोनों ही अपने अनुरूप ज्ञान प्राप्त करके प्रसन्न हो जाते हैं। गीता जैसे सर्वाङ्ग-पूर्ण ग्रन्थको देखकर किस विद्वान्‌की लेखनीको लिखनेका आवेश न आता होगा?

गीताका सन्देश

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके विचार भरे हैं, यह ग्रन्थ इतना अमूल्य और आध्यात्मिक भावोंसे पूर्ण है कि मैं समय समय पर परमात्मासे सर्वदा यह प्रार्थना करता आया हूं कि वे मुझ पर इतनी कृपा करें और शक्ति प्रदान करें जिससे मैं मृत्युकाल पर्यन्त इस सन्देशको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुंचा सकूं!

—साधु टी० एल० वस्वानी

गीता और अध्यात्मरामायण

(ले०—श्रीगोवर्धनदासजी अग्रवाल)

हिन्दू-धर्मके साहित्यमें वेदोंको छोड़कर बहुत थोड़े ग्रन्थ ऐसे होंगे, जिनपर श्रीमद्भगवद्गीताके भावोंकी झलक न हो। पुराणोंको तो गीताका भाष्य कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं है। हिन्दू-धर्मका मूल प्रामाणिक ग्रन्थ वेद है, उपनिषद् वेदका अन्तिम भाग है, गीता इन उपनिषदोंका सार तत्त्व है, इसीसे गीताको दूसरा प्रस्थान मानते हैं। ब्रह्मसूत्रमें गीताके कई प्रमाण होनेसे वह तीसरा और गीता तथा ब्रह्मसूत्रोंका बृहत् भाष्यसा होनेके कारण श्रीमद्भागवत ग्रन्थ वैष्णवोंके मतमें चौथा प्रस्थान है।

अठारह पुराणोंमें ब्रह्माण्ड-पुराणके उत्तर भागमें अध्यात्म-रामायण है। दक्षिण भारतमें अध्यात्म-रामायणका बड़ा आदर है। महाराष्ट्र-जनताकी दृष्टिमें अध्यात्म-रामायण भी गीताकी भांति पूजनीय और नित्य पठनीय है। इस ग्रन्थकी कविता बहुत ही प्रासादिक है, तथा इसमें ज्ञान और भक्तिके तत्त्व भरे हुए हैं। भागवतमें और इसमें बहुत जगह भावों और शब्दोंमें समानता है। गोसाईं तुलसीदासजीके मानसमें तो इसका बहुत कुछ आधार है। गीताके भाव इस रामायणमें भी बहुत मिलते हैं, उदाहरणके लिये कुछ प्रसंग और श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

गीता अध्याय १३

(१) इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अध्यात्मरामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ४

देहस्तु स्थूलभूतानां पंचतन्मात्रपंचकम्।
अहंकारश्च बुद्धिश्च इन्द्रियाणि तथा दश ॥ २८ ॥
चिदाभासो मनश्चैव मूलप्रकृतिरेव च
एतत्क्षेत्रमिति ज्ञेयं देह इत्यभिधीयते ॥ २९ ॥

गीताकी अपेक्षा यहां और अधिक संक्षेपमें वर्णन है।

गीता अध्याय ९। १७

(२) पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

अध्यात्मरामायण युद्धकाण्ड सर्ग ३।२६

त्वं पिता सर्वलोकानां माता धाता त्वमेव हि।

यहां 'माताधाता' का क्रम ध्यान देने योग्य है।

गीता अध्याय ९ श्लोक २९

(३) समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ९। ६५

अहं सर्वत्र समदृग् द्वेष्यो वा प्रिय एव वा।
नास्ति मे कल्पकस्येव भजतोऽनुभजाम्यहम् ॥

गीता अध्याय २ श्लोक २०

(४) न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ७। १०५

आत्मा न म्रियते जातु जायते न च वर्धते।
षड्भावरहितोऽनन्तः सत्यप्रज्ञानविग्रहः ॥

गीता अध्याय २ श्लोक २२

(५) वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ७। १०४

यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णाति नूतनम्।
तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम् ॥

गीता अध्याय ११ श्लोक ५३।५४

(६) नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

अध्यात्मरामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ३।५२-५३

न च यज्ञतपोभिर्वा न दानाध्ययनादिभिः ।
शक्यते भगवान् द्रष्टुं उपायैरितरैरपि ॥
तद्भक्तैस्तद्गतप्राणैः तच्चित्तैर्धूतकल्मषैः ।
शक्यते भगवान् विष्णुः वेदान्तामलदृष्टिभिः ॥

ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं। परन्तु एक जगह तो कुछ ऐसे श्लोक हैं, जिनका गीतासे सर्वथा समान अर्थ होता है—यह प्रसङ्ग आरण्यकाण्डके चौथे सर्गका है, इसमें १३ वें अध्यायके गीतोक्त ज्ञानके बीसों साधनोंका क्रम सर्वथा मिल जाता है—

भगवद्गीता	अध्यात्म-रामायण
(१) अमानित्वं, ...	... (१) मानाभावः,
(२) अदम्भित्वं, ...	... (२) तथादम्भ-
(३) अहिंसा, ...	... (३) हिंसादिपरिवर्जनम् ॥ ३१ ॥
(४) क्षान्तिः, ...	... (४) पराक्षेपादिसहनं,
(५) आर्जवम्, ...	... (५) सर्वत्रावक्रता तथा ।
(६) आचार्योपासनं ...	... (६) मनोवाक्काय सद्भक्त्या सद्गुरोः परिसेवनम् ॥ ३२ ॥
(७) शौचं, ...	... (७) बाह्याभ्यन्तरसंशुद्धिः,
(८) स्थैर्यं, ...	... (८) स्थिरता सत्क्रियादिषु ।
(९) आत्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥ ...	... (९) मनोवाक्कायदण्डश्च,
(१०) इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्, ...	... (१०) विषयेषु निरीहता ॥ ३३ ॥
(११) अनहंकार एव च । ...	... (११) निरहंकारता,
(१२) जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥	... (१२) जन्म-जराद्यालोचनं तथा ।
(१३) असक्तिः, ...	... (१३) असक्तिः,
(१४) अनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।	... (१४) स्नेहशून्यत्वं पुत्रदारधनादिषु ॥ ३४ ॥
(१५) नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु	... (१५) इष्टानिष्टागमे नित्यं चित्तस्य समता तथा ।
(१६) मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।	... (१६) मयि सर्वात्मगे रामे ह्यनन्यविषया मतिः ॥ ३५ ॥
(१७) विविक्तदेशसेवित्वं, ...	... (१७) जनसंबाधरहितशुद्धदेशनिषेवणम् ।
(१८) अरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥ ...	... (१८) प्राकृतैर्जनसंघैश्च ह्यरतिः सर्वदा भवेत् ॥ ३६ ॥
(१९) अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, ...	... (१९) आत्मज्ञाने सदोद्योगो,
(२०) तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । ...	... (२०) वेदान्तार्थावलोकनम् ।
(२१) एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥	(२१) उक्तैरेतैर्भवेज्ज्ञानं विपरीतैः विपर्ययः ॥ ३७ ॥

यह गीताके पांच श्लोकोंकी साढ़े छः श्लोकोंमें एक क्रमबद्ध व्याख्या है।

गीता भारतीय साहित्यका सर्वोत्कृष्ट रत्न है

आधुनिक कालमें सज्जनगण तत्परताके साथ भारतीय साहित्यके सर्वोत्कृष्ट रत्न गीताका प्रचार कर रहे हैं। यदि यह प्रगति इसी प्रकारकी रही तो आगामी सन्तान वेदान्तके सिद्धान्तोंके प्रति अधिक रुचि प्रकट कर उनका पालन करेगी।

—जस्टिस सर जान उडरफ

विश्वकल्याण अथवा गीताकी अध्याय-संगति

(लेखक-स्वामी मायानन्द चैतन्यजी)

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

नन्तकोटि ब्रह्माण्ड-युक्त, कल्याणमय, विश्वरूप पुरुषोत्तमभाव-स्थित, उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, और जरायुज इन चार योनियोंके अन्दर श्रेष्ठ जरायुज योनिमें श्रेष्ठभाव-रूप अश्वत्थ वृक्ष है। वैदिक समयसे लेकर आजतकका इतिहास देखा जाय तो सत्-कल्याणकी दिशा ठहरानेके निमित्त तीन गुणोंके लिये तीन प्रयत्न मुख्य माने गये हैं। तमोगुण (मल) हटानेके लिये कर्म, रजोगुण (विक्षेप) हटानेके लिये उपासना और सतोगुण (आवरण) हटानेके लिये ज्ञान। तदनन्तर विज्ञानकी प्राप्ति होती है यही सिद्धान्त है। जबतक तीनोंका रहस्य एकताको प्राप्त नहीं होता, तबतक स्वधर्मकी ग्लानि मिटकर विज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष सत्-स्वरूपके दर्शनका नाम विज्ञान है। यह प्रत्यक्ष दर्शन सार्वत्रिक भावसे जबतक रहता है तबतक सत्ययुग संज्ञा है। युगके स्वरूपका वर्णन श्रीकृष्णजीने इस प्रकार किया है—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

महाभारत, द्वापरयुगके अन्तमें होनेके कारण प्रकृतिके नियमानुसार गुणोंकी व्यवस्था रजोगुण $\frac{2}{4}$ तमोगुण $\frac{1}{4}$ सतोगुण $\frac{1}{4}$ इस हिसाबसे हो चुकी थी। वैदिक कालमें विश्वसेवार्थ वर्णधर्मकी जो रचना श्रीविवस्वान् नारायणके द्वारा हुई थी, वह कुलसंघका अभिमान बढ़नेसे नष्ट होकर जात्याभिमानमें जा फंसी। जात्याभिमानमें तमप्रधान रजभाव रहनेसे अर्जुन भी उसी संगतिमें फंसकर वैदिक स्वकर्म भूल गया। कुल-जाति-सम्प्रदायादि अभिमानके स्वधर्ममें बाधक होनेका नाम ही धर्म-ग्लानि है, धर्मग्लानिसे वर्णसंकर पैदा होनेसे समाज प्रजा-प्रेमरहित अवस्थाके फलस्वरूप स्वेदज योनिकी प्राप्तिमें जा फंसता है, मनुष्य देहमें पुरुष शरीरको प्राप्त होकर यदि इस परिणामका विचार न होगा, तो मेरा मित्र अर्जुन नाशको प्राप्त हो जायगा, यही सोच कर श्रीकृष्णजीने विश्वकल्याण-कारी सत्य ईश्वरीयधर्म अर्थात् सबका कल्याण-कारी दृश्य, जिसके साधनसे ईश्वररूपमें मिलन होता है, उसे बतलाया। इस स्वाभाविक धर्मके पालन करनेसे कर्म, उपासना, ज्ञान, विज्ञान, भक्ति इत्यादि सर्व कर्मका फल क्रमशः सबमें प्राप्त हो जाता है। इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। इस वैदिक धर्मका सच्चा रहस्य स्वधर्म-पालन करनेवाले किसी भी जातिके स्त्री पुरुषोंको प्राप्त हो सकता है। परन्तु इसका रहस्य परम्परा-प्राप्त शार्कराक्ष मुनिमण्डली बिना अन्य कोई मनुष्य नहीं समझ सकता। इसी कारण सिद्धान्तके स्थानमें भिन्न भिन्न विचार करनेवाली अनेक साम्प्रदायिक टीकाएं बन गयीं। जनतामें दिव्यचक्षु-रहित अवस्थाके विचार फैलनेसे लोगोंका ध्यान गीतोक्त सत्यार्थकी ओर नहीं जाता। जबतक कोई निश्चय एक सिद्धान्त मनके सामने नहीं आता, तबतक उसकी संकल्प-विकल्पावस्था नहीं मिट सकती। यही सोचकर श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थकी अध्याय सङ्गति पद्यमें लिखी जाती है। सज्जनगण इसका विचार करें।

श्रीमद्भगवद्गीता-हृदय

शार्दूलविक्रीडित छन्द

पूछा है धृतराष्ट्र 'युद्धस्थलकी वार्ता कहो ? संजय ,
बोला सञ्जय, 'जो यथार्थ रणमें देखा, सुनो निर्भय ;
भूला पार्थ स्व-धर्म, मोहवश हो, श्रीकृष्णजीसे कहे ,
'मेरा निश्चय है, स्वजाति-कुलका आचार ही धर्म है' ॥ १ ॥

'देखा अर्जुनको स्वधर्म तजते, श्रीकृष्णजीने वहां ,
गाया ज्ञान सु-सांख्य-योग श्रुतिका, जो सौख्यदायी यहां;
'जानो अक्षर एक है, अमर है, मारे नहीं वह मरे ,
मैं कर्ता तजके स्वकर्म करना, सद्धर्म त्यागी करे' ॥ २ ॥

बोला अर्जुन कृष्णसे, 'अब प्रभो! शङ्का सुनो ध्यानसे ,
है स्थायी हित कौनसे, यह कहो, सत्कर्म या ज्ञानसे?' ;
शङ्का यह सुनके, सुहास्य मुखसे श्रीकृष्णजी यों कहे — ,
'दोनों अन्तिम लाभमें सम. यहाँ सत्कर्म ही को गहे ॥ ३ ॥

मेरा अव्यय योग यह प्रथम ही गाया विवस्वानने ,
इक्ष्वाकू तक सो चला; फिर मिटा मैं दे रहा जानने ;
जो जो भाव स्व-बुद्धिमें स्थित करे, सो इस देखे वही ,
लेना तू इससे स्वकर्म अपना. है लाभमें ब्रह्म ही' ॥ ४ ॥

बोला अर्जुन, 'कर्मत्याग करना कल्याणदायी कहा ,
गाते हो अब धर्म-कर्म करना है लाभदाता यहाँ ;
दोनोंमें सम एक जो, वह कहो' श्रीकृष्णजी यों कहें– ,
'मैं कर्त्ता निज कर्मका यह तजै, सो सत्य 'संन्यास' है ॥ ५ ॥

सेवे जो निज-कर्म विश्व-हितके, इच्छा फलों की गयी !
है 'संन्यास' सु सत्य ये प्रिय मुझे, सत्कर्म-त्यागी नहीं ;
कर्मी-तापस-ज्ञानिसे यह बड़ा है योग, मैंने कहा ?
मैं ही हूं इस ध्यानसे स्थिर करें, सो भक्त मेरा महा ॥६॥

होवे भक्त अनन्य जानकर जो, सद्रूप मेरा, उसे ,
गाता हूं अपरोक्ष-भाव युत मैं, देखो गहो प्रेमसे ;
दीखे सो 'अधिभूत' भाव अपरा है; 'दैव' साक्षीपरा ,
दोनों भाव जहां रहें स्थित, वही मैं 'यज्ञ' हूं तीसरा" ॥७॥

'क्या है भूत सुदैव-यज्ञ किसको योगी-जनोंने गहा ?
पूछा अर्जुनने सु-भेद इसका; श्रीकृष्णजीने कहा ;
'जाने 'अक्षर' दैव, भूत 'क्षर' है, मैं 'यज्ञ' हूं एकही ,
वेदोंका तप-दान-यज्ञ-सबका सो इष्ट पावे वही' ॥८॥

मेरा अक्षर आत्मभाव हि करे 'हैं भूत' यह भावना ,
जो जो भाव सु-इष्ट मान करके ध्यावे, वही सो बना ;
सारी नश्वर लाभदायक क्रिया, भोगार्थ ही है कहीं ,
जाने सर्व मुझे, न अन्य, हियसे; सो भक्त मैं दो नहीं ॥९॥

'मेरे सत्य स्वरूपकी सुरचना ब्रह्मादि जाने नहीं ,
जो स्थायी यह योग धारण करे, जाने मुझे विश्व ही' ;
पूँछे अर्जुन 'ध्यान-हेतु उसको देखूं कहां मैं, कहो' ,
बोले कृष्ण, 'विभूति सर्व मुझमें जानो, मुझे ही गहो' ॥१०॥

चाहे अर्जुन आत्मरूप लखने, श्रीकृष्णजी यों कहें ,
'देता हूँ निज 'दिव्य चक्षु' लख तू, ये ईश्वरी योग है' ;
बोला संजय, पार्थ देखन लगा, सद्रूप है विश्व ही ,
देखे एक अनन्य-भक्ति इसको, यज्ञादिकोंसे नहीं' ॥११॥

'सेवे व्यष्टि-समष्टि भाव जन जो सद्रूपको मानके ,
दोनोंमें प्रिय श्रेष्ठ भक्ति किसकी ? मैं सो गहूँ जानके ;
पूछे अर्जुन, कृष्णजी यह कहें, 'जो भावना ही तजे ,
मेरा सो प्रिय भक्त है, फल बिना सत्कर्म द्वारा भजे' ॥१२॥

जानें देह विकारवान, क्षर सो अज्ञानका मूल है,' ,
बोले श्रीभगवान्, 'अक्षर वही, जो ज्ञानहीको गहे ;
मैं सर्वत्र अनन्त दुःख-सुखका, सत्-तत्त्वसे एक ही ,
ज्ञाता, ज्ञान, न ज्ञेय भाव मुझमें विज्ञानने है कही' ॥१३॥

बोले कृष्ण, 'यथार्थ ज्ञान सुन ले ! कल्याणकारी यही ,
मेरा गर्भ परा, सु योनि अपरा, जानो महत्-ब्रह्म ही ;
लीला है उसके स्वभाव-गुणकी सारी, कहा पार्थने ,
'देखूं किस विधि ! कृष्णजी यह कहें, छोड़ो अहंता बने' ॥१४॥

'दीखे है क्षर विश्व वृक्ष मुझमें, अश्वत्थ ये नाम है ,
शाखा हैं गुण भेद, तत्त्व रचना, पत्ते क्रियाएं कहे ;
छोड़े अक्षर जानके, फिर लखे मैं सर्व हूँ तीसरा ,
जो जानें यह गुह्य, मुक्त स्थित-धी, सो भक्त योगी खरा' ॥१५॥

माने हैं श्रुति दैव-आसुर यही दो सर्ग जानों यहां ,
भूतोंमें सत्-प्रेम, भाव मुझमें, 'दैवी' उसे है कहा ;
मेरा प्रेम नहीं स्वभाव वश जो, सेवे असत् कर्म ही ,
सो है आसुर, सम्पदा तमभरी, छोड़ो, गहो धर्म ही ॥१६॥

जो त्यागें निज वर्ण-कर्म, हियसे पूजें यजें गा रहें ,
निष्ठा है वह कौनसी ? सत्, रजो वा तामसी ? ये कहें' ;
बोला अर्जुन, कृष्णजी तब कहें, 'हैं तीन श्रद्धा कहीं, ,
दोनोंका फल हीन है, सत् गहो, त्यागो असत् कर्म ही ! ॥१७॥

पूछा अर्जुनने, सु तत्त्व लखने क्या त्याग-संन्यासमें ! ,
बोले कृष्ण, 'यथार्थ ज्ञान इसका है तीन ही भासमें ;
त्यागी कर्म करे, चहे न फलको, संन्यास-त्यागी वही ,
सर्वारम्भ तजे स्वकर्म-रतिमें, सो सत्य है मैं वही' ॥१८॥

इसप्रकार गीताके सब अध्यायोंकी एक निशानी स्थिर करनेवाली संगति है।

जातिधर्म तथा कुलधर्म मिट जानेकी चिन्ता न कर प्रत्यक्ष दीखनेवाला मेरा ही विश्वरूप है, यह समझते हुए स्वधर्मद्वारा (स्ववर्ण-कर्मद्वारा) मुझ विश्वरूपकी उपासना, भक्ति और प्रेम करना ही मेरी शरण है।

हार-जीत

(लेखक-राय श्रीकृष्णदासजी)

सुनहली साड़ी सुन्दर धार
पहिन चामीकर भूषण हार
किये कुंकुमसे रञ्जित भाल
लिये करमें गुलालका थाल

सुदिनकी करनेको मनुहार
उषाने खोला प्राची-द्वार
उसीका पा कर दिव्य प्रकाश
कमल-वदनोंने किया विकाश

समीरण चला बाँटता गन्ध
भ्रमर-कुल था परागसे अन्ध
यही मैं देख रही थी मग्न
ध्यान था होता तनिक न भग्न

कहाँसे कब आया तू प्राण !
किसे कर दिया हृदय कब दान
और फिर खड़ा खड़ा चुपचाप
बना निज भाव-मूर्त्ति सा आप

लौट कब गया किये मन म्लान
न था इस सबका मुझको ज्ञान
किन्तु जब हुई विरति मुझको
हो उठी तेरी स्मृति मुझको

हृदयमें बजी व्यथा मेरी
रो उठी यह तेरी चेरी
चली मैं दौड़, कण्टकित राह
किन्तु निकली न तनिक भी आह

मुझे था जरा न उसका भान
एक था प्यारे तेरा ध्यान
पहुँच कर पाया तुझको रुष्ट
दैव ! क्यों हुआ भला यों दुष्ट

विनय अनुनयने दिया न काम
करूं अब क्या मैं मेरे राम !
हृदयको हुआ बहुतही क्लेश
कृपाका पाया किन्तु न लेश

देखकर यों अपना अपमान
मुझे आ चला कहींसे मान
खीझकर मैंने मुँह फेरा
हृदयमें पड़ा कोप डेरा

कनखियोंसे तब मुझे निहार
जताई तूने पहिली हार
इसी क्षण पिकी कहींसे कूक
कर उठी दूनी मेरी हूक

" आह क्यों की आनेकी चूक "
हुई मैं स्तब्ध मूर्ति ज्यों मूक
चली अन्तरमें भीषण लूक
सालने लगे अयुत शत शूक

हो रही थी पर ज्यों ज्यों क्षुब्ध
हुआ जाता था त्यों तू लुब्ध
ताप जो मुझे जलाता था
वही क्या तुझे गलाता था

सका तू झेल न वह सन्ताप
अन्ततः लगा मनाने आप
जीत कर हारी पर मैं नाथ !
बिक गई यों ही तेरे हाथ

श्रीगीताका समत्व और आजका साम्यवाद

(लेखक—श्रीयुत राघवेन्द्र)

भारतीय समत्व या साम्यवाद

(१) इस साम्यवादके प्रवर्तक भगवान् श्रीकृष्ण और उपनिषदोंके ऋषि महर्षि हैं ।

(२) इसका मुख्य ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता है ।

(३) यह साम्यवाद सर्वव्यापी सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वरके आधारपर स्थित है ।

(४) इस साम्यवादका आचरण करनेके लिये मनुष्यको अपनी बुद्धि शुद्ध करनी पड़ती है ।

(५) इस साम्यवादका आचरण अर्जुन, युधिष्ठिर, विदुर, व्यास, नारद आदि महापुरुषोंने प्राचीन समयमें और अर्वाचीन समयमें गोस्वामी तुलसीदास, श्रीचैतन्य महाप्रभु, गुरु नानक, कबीर, मीराबाई, सन्त तुकाराम, समर्थ रामदास, रैदास, ज्ञानेश्वर, तिरुवल्लुवर, नरसी मेहता आदि सन्तोंने किया ।

(६) इस साम्यवादकी प्राप्ति करनेके लिये भगवद्भक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता समझी जाती है ।

(७) इस साम्यवादमें ईश्वरभक्तिकी प्राप्तिके लिये निर्गुण-सगुणकी पूजा, निष्काम कर्म, ज्ञान आदि साधन माने गये हैं ।

(८) इस साम्यवादमें 'आत्मौपम्य' अपने ही जैसा व्यवहार दूसरोंके साथ करनेकी बुद्धि न केवल मनुष्यों तक ही परिमित रहती है, पर मनुष्येतर अन्य प्राणियोंके प्रति भी आत्मवत् या ईश्वरभावसे समदृष्टि रखना कर्तव्य समझा जाता है ।

रूसका वर्तमान साम्यवाद

(१) इस साम्यवादके प्रवर्तक हैं जर्मननिवासी महामना कार्ल मार्क्स ।

(२) इसका मुख्य ग्रन्थ कैपिटल् Capital है ।

(३) यह साम्यवाद आर्थिक समानताके आधारपर स्थित है ।

(४) इस साम्यवादका आचरण शासनके भयसे कराया जाता है ।

(५) इस साम्यवादको कार्यमें परिणत करनेका कार्य लेनिन स्टेलिन, ट्राटस्की आदि महानुभावोंने किया और कर रहे हैं ।

(६) इस साम्यवादमें ईश्वर-भक्तिका ही घोर खण्डन नहीं, पर ईश्वरवाद तकको संसारसे मिटानेके लिये भी घोर आन्दोलन किया जा रहा है । पर इससे कोई यह न समझे कि वह सिद्धान्तसे किसीपर श्रद्धा नहीं करता, रूसमें आज महानुभाव लेनिन और मार्क्सकी सैकड़ों मूर्तियां बनाकर स्थान स्थानपर रक्खी गयी हैं, जहां साम्यवादी ताजीम दिया करते हैं। जिससे उनमें श्रद्धाका होना सिद्ध होता है ।

(७) इसमें भी मूर्तिपूजा खूब है, इसीलिये श्रीलेनिन और श्रीमार्क्सकी मूर्तियां स्थापित हो रही हैं और उन्हें ताजीम दी जाती है । परन्तु उनमें ईश्वरभाव नहीं है ।

(८) इस साम्यवादकी समता मनुष्योंमें ही सीमाबद्ध है और वह भी परिश्रमी की पुरुषों तक ही । अधिकांशमें आर्थिक समता बनी रहे, इसी दृष्टिसे ।

(९) इस साम्यवादमें माता, पिता, गुरु, अतिथि आदि-को बहुत बड़ा उच्च पद प्राप्त है ।

(९) इस साम्यवादमें कौटुम्बिक जीवन न होनेसे माता कौन है, इस बातका जानना भी बच्चोंके लिये कठिन हो रहा है । इससे रूसमें आज हजारों बालक-बालिकाएं अनाथ होकर मारे मारे फिर रहे हैं और इन अनाथों-का प्रश्न वर्तमान रूस सरकारके लिये चिन्ताका विषय हो गया है ।

(१०) इस साम्यवादमें शत्रु और मित्रमें समभाव रहता है । समयपर आवश्यकतानुसार समाजको विध्वंस करनेवाले पुरुषोंका वध किया जाता है, पर वह बदला लेनेकी दृष्टिसे नहीं । इसमें अन्यायीके अन्याय-कार्यके प्रति घृणा है । उस व्यक्तिके प्रति नहीं ।

(१०) इस साम्यवादमें शत्रुको केवल मार डालना ही कर्तव्य नहीं समझा जाता बल्कि वह उसके साथ घृणा भी करता है । क्योंकि इसमें बुद्धिकी अपेक्षा बाहरी परिस्थितिको ही सब प्रकारसे अधिक महत्त्व दिया जाता है ।

(११) इस साम्यवादके हृदयमें स्थित हो जानेपर किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह सीखनेके लिये किसी दूसरेकी आवश्यकता नहीं पड़ती । स्वयं ही हृदय-में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती रहती है जिससे मनुष्य स्वभावसे ही दूसरोंके साथ समता, न्याय तथा प्रेम-पूर्वक व्यवहार करता है ।

(११) इस साम्यवादमें आर्थिक समता ही साम्यवादकी मूल भित्ति होनेसे साम्यवादी अधिकतर अपनी इच्छा-के विरुद्ध आत्मापर जोर देकर ऐसा अव्यवहारिक आचरण करता है । इसलिये यह साम्यवाद कब प्रत्यक्ष विषमवाद हो जायगा इसका निश्चय आज स्वयं साम्यवादीको भी नहीं है, जैसे आजके साम्यवादी स्टेलिन एक दूसरे नामी साम्यवादी ट्राटस्कीको ज़रासे मतभेदके कारण निर्वासनका भयंकर दण्ड देकर उन्हें सता रहे हैं ।

(१२) इस साम्यवादमें मनुष्यके आत्म-विकासका आरम्भ कुटुम्ब-जीवनसे होता है और वह आगे बढ़ते बढ़ते सम्पूर्ण विश्वको अपना कुटुम्ब मानने लगता है, इसी लिये इसकी अन्तिम श्रेणी है ।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'
या 'वसुधैव कुटुम्बकम्'

(१२) इस साम्यवादमें कुटुम्ब-जीवनके लिये कहीं स्थान नहीं है, एकदम राष्ट्र है, वह राष्ट्र भी केवल परिश्रमी स्त्री पुरुषोंमें ही मर्यादित है, उसके बाहर नहीं । इसका विचार मानवजाति तक ही बढ़नेका है पर वह आगे क्या करेगा सो कोई निश्चय नहीं है ।

(१३) इस साम्यवादके प्रवर्तक भगवान् श्रीगोपाल अपने अनुयायी परिश्रमशील किसानोंके (गोप-गोपिकाओंके) प्रेममें तल्लीन रहे थे ।

(१३) इस साम्यवादके प्रवर्तक महाशय मार्क्स आदि भी परिश्रम करनेवाले स्त्री-पुरुषोंमें मस्त हैं ।

(१४) इस साम्यवादमें शारीरिक, बौद्धिक परिश्रम करने-वालोंको स्थान है, पर आध्यात्मिक परिश्रम करनेवालों-की भी अच्छी पूछ है ।

(१४) इस साम्यवादमें केवल शारीरिक, बौद्धिक परिश्रमी लोगों को ही स्थान है । आध्यात्मिक पुरुषोंको बिलकुल नहीं । उनका सर्वथा तिरस्कार है ।

(१५) यह साम्यवाद गरीब दीन हीन अवस्थामें पड़े हुए लोगोंकी पूजा भक्ति करनेको कहता है ।

(१५) यह साम्यवाद भी गरीब दीन हीन अवस्थामें पड़े हुए लोगोंका भक्त है, भावमें भेद अवश्य है ।
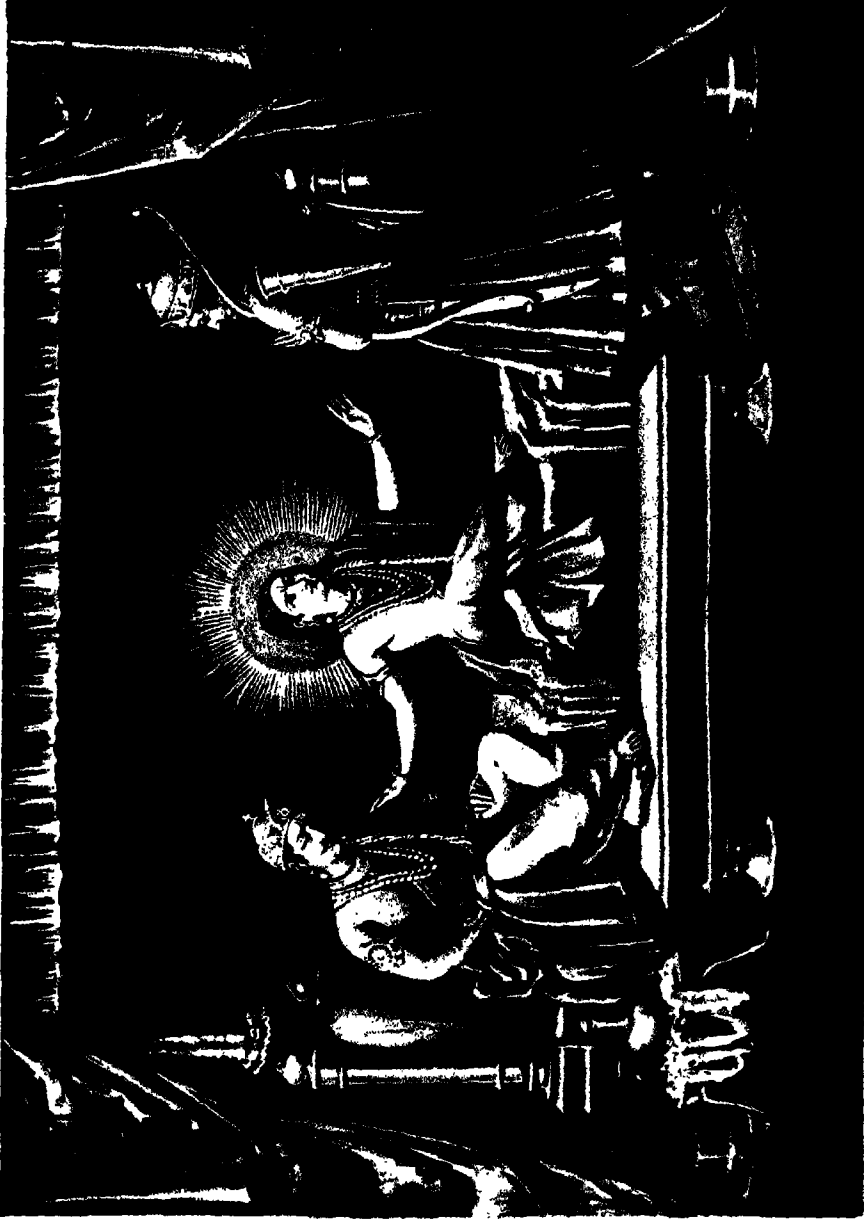
विनयी पार्थ, सुयोधन अभिमानी, दोनोंको श्रीभगवान ।
देते हैं समभाव-युक्त, उत्तर हरि, अद्भुत एक समान ॥

(१६) इस साम्यवादके अनुयायी समाजको सुप्रतिष्ठित करनेके लिये परिश्रम, सहिष्णुता, परस्पर सहयोग आदि गुणोंसे युक्त व्यवहार करना आवश्यक समझते हैं एवं आर्थिक समता सुदृढ़ रखनेके लिये इसमें चार आश्रमोंकी व्यवस्था है। दुर्भाग्यसे इस समय यह प्रथा नष्टप्राय हो रही है। इन आश्रमोंमें धनके त्यागको पहला स्थान होनेके कारण, समाजमें धनसे उत्पन्न होनेवाला वैषम्य स्वयमेव मिट जाता है।

(१६) इस साम्यवादमें परिश्रम, परस्पर सहयोगयुक्त व्यवहार करना आवश्यक समझा जाता है, पर यह बाल्यावस्थामें होनेके कारण इसमें समाजको स्थिर रखनेवाले नियम अभी नहीं बने हैं, जो बने हैं वह भी प्रयोगावस्थामें होनेके कारण अल्पकालमें ही बदले जा रहे हैं। जैसे कुछ दिन पूर्व विवाह-प्रथा नियम-विहीन सी थी, पर हालमें उसके लिये बारह नियम बने हैं।

(१७) इस साम्यवादका ध्येय आजसे सहस्रों वर्ष पूर्वसे ही निश्चित है और वह है शान्ति, परमशान्ति, आत्माकी परम प्रसन्नता, या आत्माकी परमात्मामें स्थिति। इस ध्येयकी प्राप्ति होनेसे मनुष्य न केवल स्वराज्य ही प्राप्त कर लेगा, अपितु उसके चरणोंमें जगत्की सारी शक्तियां दासी बनकर रहेंगी और वह संसारका सर्व-प्रिय होगा। स्वामी रामतीर्थके शब्दोंमें वह तीनों लोकोंका बादशाह हो जायगा।

(१७) इस साम्यवादका अन्तिम ध्येय क्या है यह निश्चित नहीं है। इस समय तो उसका ध्येय साम्राज्यवादको मिटाना है और यही कारण है कि समाज और शासकोंके अत्याचारसे पीड़ित भिन्न भिन्न देशोंके तथा भारतके नवयुवकोंके मन इस साम्राज्य-विघातक साम्यवादकी ओर स्वाभाविक ही आकर्षित हो रहे हैं, जो किसी अंशमें न्यायसंगत भी है।

(१८) यह साम्यवाद इस समय असंगठित और छिन्नभिन्न है, इसलिये इसमें अनन्त शक्ति होते हुए भी यह दुर्बल सा है।

(१८) यह साम्यवाद नवीन, सुसंगठित और नियन्त्रित है। इसलिये इसकी परिमित शक्ति भी विशेष जान पड़ती है।

(१९) इस साम्यवादको प्राचीन ऋषियोंके शब्दोंमें दैवी सम्पत्तिका साम्यवाद कहना चाहिये।

(१९) यह साम्यवाद प्राचीन ऋषियोंके शब्दोंमें आसुरी सम्पत्तिका साम्यवाद कहलाना चाहिये।

(२०) यह साम्यवाद 'अध्यात्मवादी साम्यवाद' कहलायगा।

(२०) यह साम्यवाद 'जड़वादी साम्यवाद' कहलायगा।

(२१) श्रीमद्भगवद्गीताके इस साम्यवाद (समत्वबुद्धि) के संस्कार भारतीयोंके रग रगमें भरे हैं, क्योंकि उनका यह आदर्श हजारों वर्षोंका है। इसलिये भिन्न देशीय आदर्श उसके लिये कहां तक कल्याणप्रद होगा, इस बातपर वह स्वयं विचार करे।

(२१) यह साम्यवाद रूसकी प्रजाके सम्मुख अभी अभी रक्खा गया है, कितने दिन तक स्थिर रहेगा, यह भविष्यके गर्भमें है। कदाचित् वह उसको भलीभांति न अपना सकेगा तो बौद्ध-धर्मके सदृश कुछ दिनोंके उपरान्त उसमें भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होकर वह अध्यात्मवाद (अप्रत्यक्षरूपसे सही) स्वीकार कर लेगा।

रहस्यपूर्ण ग्रन्थ है

………हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि यह रहस्यपूर्ण (गीता) ग्रन्थ एक महान् आत्माकी कृति है और अन्य सम्पूर्ण योगियोंके उपदेशोंके साथ इसकी समानता करनेमें हमें कोई हिचक नहीं है।………

—रॉबर्ट फ्रेडरिक हाल

भगवद्गीता और हिन्दू-साम्यवाद

(लेखक—भाई परमानन्दजी)

एक बड़ा प्रश्न यह होता है कि हिन्दू कौन है? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न महानुभावोंने भिन्न भिन्न रूपसे दिया है। पर मैं इसका एक सीधा उत्तर यह देना चाहता हूं कि हिन्दू वह है जो अपने आपको हिन्दू मानता है। जिस प्रकार एक अंग्रेज अंग्रेज है, जिस कारण एक अमेरिकन अमेरिकन है, इसी प्रकार एक हिन्दू भी हिन्दू है। हम लोगोंने जन्मका आधार लेकर अग्रवाल, कायस्थ, भूमिहार आदि सहस्रों भिन्न भिन्न उपजातियां बना ली हैं। ये सब इसीलिये एक दूसरेसे अलग हैं कि भिन्न उपजातियोंमें इनका जन्म हुआ है।

मुझे जन्मके साथ उपजातियोंका कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी देता, परन्तु इतना अवश्य प्रतीत होता है कि हमारे हिन्दुत्वका सम्बन्ध हमारे जन्मके साथ है। हम हिन्दू हैं, उसका कारण यह है कि हिन्दुओंके घरमें हमारा जन्म हुआ है। इस उत्तर पर एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि हम अपनेको जन्मसे हिन्दू मान लें तो दूसरोंको शुद्ध करके हिन्दू बनानेकी व्यवस्थाका सर्वथा निषेध हो जाता है। पर सच यह है कि हमारी शुद्धि दूसरे मतोंके समान नहीं है। हम किसीके विश्वासमें कोई परिवर्तन करके उसे हिन्दू नहीं बनाते, हमारी शुद्धिका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इस देशमें निवास करनेवाले सब लोग वस्तुतः हिन्दू ही हैं। वे हिन्दू वीर्य और रक्तसे उत्पन्न हुए हैं। परन्तु उनमेंसे कई लोगोंने दूसरे मतोंके फन्देमें फँसकर अपने व्यवहार, आचार और संस्कारोंको भ्रष्ट कर उसे अपनी जातिके प्रतिकूल कर लिया है, उनके इन व्यवहारादिको सुधार कर उन्हें अपने अन्दर ले लेना ही हमारी शुद्धि है।

शुद्धिके साथ जिस दूसरी बातकी हमें इस समय बड़ी आवश्यकता है, वह है 'हिन्दू जातिका संगठन'। यह मैं पहले ही कह चुका हूं कि हम हिन्दू इसलिये हैं कि हमारा जन्म हिन्दू जातिमें हुआ है। परन्तु जहाँ मैं मनुष्योंके अन्तर्गत भिन्न भिन्न जातियोंका होना समझ सकता हूं, वहां मुझे एक जातिके अन्दर जन्ममूलक उपजातियोंका होना समझमें नहीं आता। हिन्दू जातिके अन्दर इस समय लगभग ८००० छोटी छोटी उपजातियां हैं, जिन्होंने हिन्दुओंको टुकड़े टुकड़े कर रक्खा है और यही उपजातियां महान् हिन्दू जातिके संगठित होनेमें प्रतिबन्धक हो रही हैं। गीता हिन्दुओंका सर्वमान्य शास्त्र है। अब देखना यह है कि गीता इस विषयपर हमें क्या शिक्षा देती है। सबसे पहले हमें गीताका वह श्लोक दृष्टिगोचर होता है जिसमें कहा है 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'

अर्थात् गुण, कर्मके आधारपर मैंने चारों वर्णोंका विभाग किया है। परन्तु इस श्लोकमें जन्म शब्दका अभाव इस बातको स्पष्ट प्रकट करता है कि वर्णोंका सम्बन्ध केवल मनुष्यके गुण और कर्मसे है न कि जन्मसे। जन्मसे सारी हिन्दू जाति एक तथा समान है। श्रीकृष्ण भगवान्ने इस श्लोकमें इस सत्यताका खुले शब्दोंमें उपदेश किया है।

गीताकी शरण

गीताका अध्ययन हमें न तो एक विद्यार्थीकी भांति इसके विचारोंकी जांच करने तथा आत्मविद्या-सम्बन्धी दर्शन ग्रन्थोंके इतिहासमें इसे स्थान देनेकी दृष्टिसे करना है और न हमें भाषा विश्लेषककी भांति इसकी भाषाकी ही आलोचना करनी है। हम तो अपनी सहायता और प्रकाशके लिये इसकी शरण लेते हैं, हमारा कर्तव्य इसके वास्तविक और सजीव सन्देशको पहचानना है, जिससे मनुष्यमात्र अपनी पूर्णता तथा सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक उन्नतिको प्राप्त कर सकता है।

—श्रीअरविन्द घोष।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९।३२)

हे पार्थ! मेरे पास आकर वैश्य, शूद्र और पापयोनि (चाण्डालादि) भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं। इससे बढ़ कर और कैसे स्पष्ट किया जा सकता है? चाहे कोई गुण और कर्मसे शूद्र हो या चाण्डाल हो परन्तु जब वह मेरी तरफ झुकता है तो उसे परम गति मिल जाती है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा है कि मेरी दृष्टिमें स्त्री, शूद्र, चाण्डाल और ब्राह्मण एक ही समान हैं। इसी भावको गुसाइँ तुलसीदासजीने भी प्रकट किया है—

चतुराई चूल्हे पड़ो, भट्ठ पड़ो आचार।
तुलसी हरिकी भक्ति बिनु, चारों वर्ण चमार॥

इसी विषयपर गीताका एक श्लोक है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात् ज्ञानवान्‌की दृष्टिमें विद्वान्, हाथी गाय, चाण्डाल कुत्ता सब एक ही समान हैं। जो भेदभाव हमने अपने समाजमें पैदा कर लिया है वह सब अज्ञान और जड़ताका परिणाम है। यही बात इस अत्युत्तम श्लोकमें कही गयी है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

अर्थात् 'जो पुरुष मुझको सबके अन्दर देखता है, और सबको मेरे अन्दर देखता है, न वह मुझे कभी भूलता है और न मैं उसे भूलता हूं।'

अर्जुनके गीतोक्त नाम और उनके अर्थ

[लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी]

(१) अनघ-(अन्=नहीं+अघ=पाप) निष्पाप।

(२) अनसूय-(अन्=रहित+असूय=ईर्ष्या या दोषदृष्टि) ईर्ष्या या दोषदृष्टि रहित।

(३) अर्जुन-शुद्ध अन्तःकरण युक्त।

(४) कपिध्वज-(कपि=वानर+ध्वज=ध्वजा) जिसके रथकी ध्वजामें हनुमानजी हैं।

(५) किरीटी—मुकुटधारी।

(६) कुरुनन्दन-(कुरु=कुरुकुल+नन्दन=प्रसन्न-करनेवाला या सन्तान) कुरु-कुलको आनन्द देनेवाला या कुरुकुलमें उत्पन्न होनेवाला।

(७) कुरुप्रवीर-(कुरु=कुलवंश+प्रवीर=अतिशूर-वीर) कुलवंशमें अतिश्रेष्ठ वीर।

(८) कुरुश्रेष्ठ-कुरुकुलमें श्रेष्ठ।

(९) कुरुसत्तम-(कुरु=कुरुकुल + सत्तम = अति उत्तम) कुरुकुलमें अत्यन्त उत्तम पुरुष।

(१०) कौन्तेय-कुन्तीका पुत्र।

(११) गुडाकेश-(गुडाका=निद्रा+ईश = स्वामी अथवा गुडा=घन+केश=बाल) निद्राका स्वामी यानी निद्राजयी अथवा घने केशोंवाला।

(१२) तात-प्रिय।

(१३) देहभृतांवर-(देहभृताम्=देहधारियोंमें+वर=श्रेष्ठ) देहधारियोंमें श्रेष्ठ।

(१४) धनञ्जय-(धनं=धन+जय=जीतनेवाला) राजाओंके धन या बलको जीतनेवाला।

(१५) परन्तप-(परं=शत्रु+तप=तपानेवाला) शत्रुको तपानेवाला अथवा (परं=श्रेष्ठ+तप=तप) श्रेष्ठ-तपस्वी।

(१६) पाण्डव-पाण्डु पुत्र।

(१७) पार्थ-पृथा यानी कुन्तीका पुत्र। (कुन्तीका दूसरा नाम पृथा था)।

(१८) पुरुषर्षभ-(पुरुष=पुरुष+ऋषभ=श्रेष्ठ)पुरुषों-में श्रेष्ठ

(१९) पुरुषव्याघ्र-(पुरुष=पुरुष+व्याघ्र= सिंह, वीर) पुरुषोंमें सिंह सदृश तेजस्वी वीर।

(२०) भरतर्षभ-(भरत=भरतकुलमें+ऋषभ=श्रेष्ठ) भरतकुलमें श्रेष्ठ।

(२१) भरतश्रेष्ठ-भरतवंशमें श्रेष्ठ।

(२२) भरतसत्तम-भरतवंशमें अति उत्तम पुरुष।

(२३) भारत-भरतवंशमें उत्पन्न।

(२४) महाबाहु-बड़ी भुजाओंवाला, आजानबाहु, पराक्रमी।

(२५) सव्यसाची-(सव्य= बायां+ साची = तीर चलानेवाला) बायें हाथसे भी बाण चलानेमें निपुण।

आत्म-जागृति

[ले०—रचयिता-श्रीबालकृष्णजी बलदुआ]

१—आवाहन

भेज रहाहूँ कोमल राग पास तक तेरे ,
इस अनन्त सागरका जो मधुमय आवाहन ।
जाग, जाग तू चिरनिद्रित गहरी सुषुप्तिसे ;
छोड़ असीम कालिमा-गह्वर उठ, उठ मुझतक ।
अरे ! तोड़ संसारी बन्धन जिनसे जकड़ी ,
और छोड़ यह क्षणिक-क्षुद्र दुनियां निज पीछे ।

चक्कर भरती शक्ति अन्धड़ोंकी मैं ही हूँ ।
कोमल शशिकी शान्तिपूर्ण रश्मियाँ मुझीमें ।
गगन-झरोखेसे तारक-नयनोंसे झाकूँ ।
पृथ्वीपर सुगन्धि फूलोंकी मैं होती हूँ ।
नील-निलयकी अस्थिर चादरको निर्मित कर
मैं ही ने हलके रंगकी कूचियाँ चलाई ।

अरे ! मैं वही, जिसने मृदुल समीर-लहरियाँ
निर्मित कीं, खेलती सलोने वृक्षोंसे जो ।
चक्कर खाते पावक-कन्दुकके प्रकाशका
और रात्रिमें भरी लुनाईका निर्माता ।
अद्‌भुत अश्रुपूर्ण मेघोंका मैं निर्माणक ,
यह सब होते हुए प्रेमका तेरे प्यासा ।

कुछ सुख, कुछ दुख और स्नेह कुछ तुझतक भेजा ,
जिससे पृथ्वी पर न भूल तू मुझको जाये ,
सभी वस्तुमें स्वयम् मैं रहा जगमग करता ;
और आज,-अब, स्वर्ण-पंखसे तुझे सजाता ।
उठ तू मुझतक, मैं अनन्त विश्राम तुझे दूँ ,
और स्नेहपूरित, मृदु वक्षस्थलमें कस लूँ ।

(Indian Review के December 1928 के अंकमें प्रकाशित The Awakening of soul नामक सुन्दर कविताका अनुवाद ।)

२—आत्म-ज्ञान

भयद, कालिमामय सागरसे सुनती मैं कैसी ध्वनि आती?
किस पावककी अद्‌भुत चिनगी
निकट आरही, निकट आरही ?
कोमल स्वर्ण-रागकी तानें मेरे कानोंमें लहराती,
करुण गीतमें आवाहन है ;
कौन रोकता ? कौन रोकता ?
मधुर, असीम भावना बहती उसी गीतमें मुझतक आती ।
मृतक, अचेतन हृदय उमड़ता ;
जाने तो दे, जाने तो दे ।
तेरे अमर राज्यकी रागिनि जीवन-मरण साथही लाती ।
एक नशा मुझपर चढ़ जाता ;
कौन बुलाता ? कौन बुलाता ?
सुन तेरा आवाहन मालिक ! चढ़नेका प्रयास मैं करती ।
किस प्रकार तुझतक आ पाऊँ ?
बँधी दुःखसे, बँधी दुःखसे ।
सागरमें सुन्दरता तेरी, तारोंमें मैं चमक देखती ।
जलती सूर्य्य-चितासे भी तू ,
मुझे बुलाता, मुझे बुलाता ।
इस अशान्तिमें खून बहाता, नुचा हृदय ले तुझे बुलाती ।
तेरा प्रेम न कभी सुस्त था ;
आहें भरती, आहें भरती ।
पर मालिक ! न तुझे देखूँगी, यदपि वेदनासे भर जाती ।
पापभरी, पथ भ्रमित रातमें ;
मैं न विमल अब, मैं न विमल अब ।
नहीं, भूलती; तू तो मालिक; कष्ट रही नित जो मैं सहती ,
तेरा प्रेम साथमें लेकर मुझको उसने
विमल बनाया, विमल बनाया ।
अब मैं इस छोटी दुनियाँके क्षुद्र-कष्ट-मनव्यथा छोड़ती,
और तोड़ती माया-बन्धन,
जिनसे जकड़ी, जिनसे जकड़ी ।
संसारी कर्त्तव्य कर चुकी, अद्‌भुत राग भरी मैं चढ़ती ।
अमर, विमल, बनकर स्वतन्त्र मैं
प्यारे ! आती, प्यारे ! आती ।

गीता और श्रीभगवन्नाम

वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नामस्वरूपद्वयं ।
पूर्वोस्मात्परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे ।
यस्तस्मिन्विहितापराधनिवहः प्राणी समन्ता भवेत्,
आस्येनेदमुपास्यसोऽपि हि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति ॥

हे श्रीहरिनाम! तुम्हारे दो स्वरूप हैं एक वाच्य और दूसरा वाचक, तुम वाचक हो और श्रीहरि तुम्हारे वाच्य हैं। श्रीहरि और श्रीहरिनाम दोनों ही अभिन्न चिन्मय वस्तु होनेसे एक तत्त्व है, परन्तु वाच्य श्रीहरिसे उनका वाचक श्रीहरिनाम अधिक दयालु है। जो जीव भगवान्‌के अनेक अपराध किये हुए होते हैं, वे भी केवल मुखसे श्रीहरिनाम-की उपासना (नाम-कीर्तन) द्वारा निरपराध होकर भगवान्‌के आनन्द-समुद्रस्वरूपमें निमग्न हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताने भी इस हरिनामकी बड़ी महिमा गायी है। भगवान् कहते हैं कि मूर्ख लोग, जो राक्षसी, आसुरी और मोहिनी* प्रकृतिका आश्रय लिये हुए होते हैं,—मनुष्यरूपमें लीला करते हुए मुझ महेश्वरको साधारण मनुष्य मान लेते हैं, उन अज्ञानियोंकी सारी आशाएँ, उनके सारे कर्म और उनका सारा ज्ञान व्यर्थ होता है। परन्तु दैवी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए महात्मागण तो सर्व भूतोंके सनातन कारण और नाशरहित मुझ भगवान्‌को अनन्य मनसे निरन्तर भजते हैं (गीता ९।११-१३) ऐसे दृढ़निश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं:—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।

इस कीर्तनसे नाम-गुण-कीर्तनका ही लक्ष्य है। प्रसिद्ध टीकाकार गोस्वामी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती अपनी 'सारार्थ-वर्षिणी' टीकामें लिखते हैं—'सततं सदेति नात्र कर्मयोग इव कालदेशपात्रशुद्धाद्यपेक्षा कर्तव्येत्यर्थः।'

भगवान्‌का नाम-कीर्तन सदैव ही किया जा सकता है, इसमें कर्मयोगकी भाँति शुद्ध देश, काल, पात्रकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि—

न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्निलुब्धके।

श्रीहरिनाम-प्रेमीके लिये देश-काल या अन्य किसी प्रकारका निषेध नहीं है। भगवन्नाम सभी अवस्थामें लिया जा सकता है। श्रीधर स्वामी इस श्लोककी टीकामें लिखते हैं—'सर्वदा स्तोत्रमन्त्रादिभिः कीर्तयन्तः' यहाँ मन्त्रसे श्री-भगवन्नाम ही अभिप्रेत है, क्योंकि वही मन्त्रराज है। श्री-बलदेव विद्याभूषण अपने गीताभाष्यमें लिखते हैं। 'सततं सर्वदा देशकालादिविशुद्धिनैरपेक्षेण मां कीर्तयन्तः सुधामधुराणि मम कल्याणगुणकर्मानुबन्धीनि गोविन्दगोवर्द्धनोद्धरणादीनि नामान्युच्चैरुच्चारयन्तो मामुपासते।' देशकालादिके शुद्ध होनेकी कोई अपेक्षा न करके सदा सर्वदा भगवान्‌के गुण-कर्मानुसार विविध अमृतमय मधुर कल्याणकारी नामोंका उच्चस्वरसे उच्चारण करके उनकी उपासना करनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त और भी स्पष्ट शब्दोंमें भगवान्‌ने कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ (गीता ८।१३)

जो मनुष्य 'ओं' इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ नामीका मनमें चिन्तन करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है वह परम गतिको प्राप्त होता है।

'ओम्' परमात्माका नाम यह प्रसिद्ध ही है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यत् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि। ॐ इति एतत्।' इस श्रुति और 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस योगसूत्रके अनुसार 'ओम्' परमात्माका नाम है। आगे चलकर भगवान्‌ने जप-यज्ञको तो 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' कह कर अपना स्वरूप ही बतला दिया है। जपमें उसी परमात्माके परम पावन नाम-मन्त्रका ही जप समझना चाहिये, क्योंकि नाम और नामीमें सदा ही अभेद हुआ करता है। अतएव सबको सभी समय भगवन्नामका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। कलियुगमें तो जीवोंके उद्धारके लिये नामके समान दूसरा कोई साधन ही नहीं है।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥ (श्रीमद्भागवत)

दोषपूर्ण कलियुगमें यह एक महान् गुण है कि, केवल श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्तनसे ही जीव आसक्तिसे छूटकर परम पद-को प्राप्त कर सकता है।

नयनं गलदश्रुधारया, वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा, तव नाम ग्रहणे भविष्यति॥

'हे श्रीकृष्ण! वह सुअवसर कब होगा जब तुम्हारा नाम लेते ही नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बह निकलेगी और वाणी गद्गद तथा समस्त शरीर रोमाञ्चित हो जायगा।

—×—

* ये तीनों आसुरी सम्पत्तिके ही भेद हैं, आसुरी सम्पत्तिके प्रधान अवगुण काम क्रोध लोभ है (१६।२१) इनमेंसे प्रधानतासे काम-परायण मनुष्य मोहिनीके, क्रोध परायण राक्षसीके और लोभ परायण आसुरी सम्पत्तिके आश्रित जाते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्णके गीतोक्त नाम और उनके अर्थ

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया)

(१) अच्युत—(अ=न+च्युत=फिसला हुआ, गिरा हुआ, नाश हुआ, बदला हुआ या हटा हुआ) अर्थात् जो अपने सिद्धान्त, स्वरूप, और महत्त्वसे अस्खलित, अपरिणामी, अविनाशी और अविकारी हैं। 'स्वस्वरूपात्, स्वसामर्थ्यात्, स्वपदात् न च्यवते, इति अच्युतः, षड्विकाररहितत्वात् अच्युतः।'

(२) अनन्त—(अ=न+अन्त=सीमा) अर्थात् जिनकी कोई सीमा नहीं है, जो देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सर्वव्यापी, नित्य और सर्वात्मरूप है ('सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति) 'व्यापित्वात्, नित्यत्वात्, सर्वात्मत्वात्, देशतः कालतः वस्तुतः अपरिच्छिन्नत्वात् अनन्त।'

(३) अप्रतिम-प्रभाव—(अ=नहीं+प्रतिम=तुल्य+प्र=प्रकर्षेण+भाव=सत्ता) जिनकी सत्ता या महिमा अद्वितीय है अर्थात् जिनके समान महामहिम दूसरा कोई भी नहीं है।

(४) अरिसूदन—(अरि=शत्रु+सूदन=मारनेवाला) शत्रुओंका संहार करनेवाले। 'शत्रूणाम् सूदयति इति अरिसूदनः।'

(५) आद्य—जो सबके आदि कारण हैं या जो किसीके द्वारा निर्मित अथवा उत्पादित नहीं हैं। 'आदौ भवं कारणं, अथवा न तु केनचित् निर्मितम् अथवा सर्वकारणम्।'

(६) कमलपत्राक्ष—(कमल=कमल+पत्र=पत्ता+अक्ष=नेत्र) (क) जिनके नेत्र कमलपत्रके समान हैं; (ख) जिनके नेत्र कमलपत्रसदृश दीर्घ, लालिमायुक्त और परम मनोहर हैं; (ग) जिनके नेत्र कमलपत्रकी भांति सुप्रसन्न और विशाल हैं; (घ) जो अज्ञानरूपसे गिरते हुएको बचाकर ब्रह्मसुखकी प्राप्ति करानेवाले हैं। यथा—(क) 'कमलस्य पत्रं कमलपत्रं तद्वदक्षिणी यस्य सः' (ख) 'कमलस्य पत्रे इव दीर्घे रक्तकान्ते परम मनोरमे अक्षिणी यस्य' (ग) 'कमलपत्रे इव सुप्रसन्ने विशाले अक्षिणी यस्य सः' (घ) 'कम् ब्रह्मसुखं स्वरूपानन्दस्तमलति प्रकाशयतीति कमलं आत्मज्ञानं यत्तदेव पतनात् त्रायते इति पत्रं कमलं च तत् पत्रं' च कमलपत्रं तेनाऽक्षते प्राप्यते इति कमलपत्राक्ष

(७) कृष्ण—'कृष्' धातु सत्ता वाचक है और 'ण' प्रत्यय आनन्दका वाचक है। उस सत्ता और आनन्दके एकस्वरूप परमब्रह्म कृष्ण हैं—'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्चनिर्वृत्ति वाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।' अथवा (क) जो श्याम वर्ण हैं: (ख) प्रलय कालमें सब जीवोंको जो अपनेमें लीन करते हैं, उनका नाम कृष्ण है; (ग) जो जीवोंके पापादि दोषोंका निवारण करते हैं वह कृष्ण हैं; (घ) जो भक्तोंको दुर्लभ पुरुषार्थोंकी भी सहजहीमें प्राप्ति करवा देते हैं, वह कृष्ण हैं। यथा (क) 'श्यामवर्णः (ख) 'कर्षयति सर्वान् स्वकुक्षौ प्रलयकाले इति कृष्णः।' (ग) 'दोषान् कृषति निवारयति इति कृष्णः।' (घ) 'पुरुषार्थान् आकर्षयति प्रापयति इति कृष्णः।'

(८) केशव—(क) जिनके सुन्दर केश हैं; (ख) ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनों देवता जिनके वशमें रहकर वर्तते हैं, वह केशव हैं; (ग) जो केशिनामक राक्षसका संहार करनेवाले हैं; (घ) जो ब्रह्मा, विष्णु शिवको (ब्रह्मविष्णुशिवाख्याः शक्तयः केशसंज्ञिताः) अनुग्रहपूर्वक प्राप्त हों, वह केशव हैं। यथा (क) अभिरूपाःकेशा यस्य स केशवः' (ख) 'कश्च अश्च ईशश्च

केशाश्चिमूर्तयस्ते यद्वशेन वर्तन्ते स वा केशवः।' (ग) 'केशिवधाद्वा केशवः–यस्मात्त्वयैव दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन। तस्मात् केशवनाम्नात्वं लोकेज्ञेयो भविष्यसि। इति विष्णुपुराणे।' (घ) केशौ वाति अनुकम्पतया गच्छतीति केशव।'

(९) केशिनिषूदन—(केशि = केशिनामक दैत्य + निषूदन = मारनेवाले) केशि दैत्यको मारनेवाले। 'केशिनामान असुरं निषूदितवान् इति केशिनिषूदन।'

(१०) गोविन्द—(क) (गो = इन्द्रिय + विन्द = प्राप्त) जो इन्द्रियोंको अधिष्ठानरूपसे प्राप्त हैं अर्थात् जो अन्तर्यामी हैं। (ख) (गो = वेदान्तवाक्यसे + विन्द = प्राप्त है) जो वेदान्तवाक्यसे जाननेमें आनेवाले सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं। (ग) (गो = वैदिक वाणी + विन्द = प्राप्त हुए) जो वेदवेत्ता हैं। (घ) जो गौ जातिका पालन करनेवाले हैं।

(११) जगत्पति—(जगत् = संसार + पति = स्वामी) जो समस्त संसारके स्वामी हैं, या जो समस्त जगत्‌की अन्न-जलादिद्वारा अथवा शासकरूपसे रक्षा करते हैं। 'जगत्सर्वं अन्नोदकादिरूपेण नियन्तृरूपेण च पातीति रक्षति इति जगत्पति।'

(१२) जगन्निवास—(जगत् = जगत् + निवास = आश्रय) जो समस्त जगत्‌के आश्रय हैं अर्थात् सारा जगत् जिनके अन्दर निवास करता है या जो समस्त जगत्‌में कार्य-कारणरूपसे स्थित हैं। 'जगतां निवासः वा जगत्सु निवसति इति जगन्निवास।'

(१३) जनार्दन—(जन = मनुष्य, भक्त + अर्दन = सताना, प्रार्थना करना, प्राप्त) (क) जो मनुष्योंको दण्ड देते हैं अथवा पापियोंको नरकादिकी प्राप्ति कराते हैं; (ख) भक्तगण जिनसे उन्नति और कल्याणके लिये याचना करते हैं वह जनार्दन हैं; (ग) जगत्‌में जो कुछ उत्पन्न द्रव्य वर्ग हैं, जो उन सबके बाहर भीतर परिपूर्ण व्याप्त हैं यानी जो सर्वव्यापी हैं, (घ) जो मनुष्योंको उनके कर्मानुरूप गति प्रदान करते हैं, (ङ) अपने मनोवाञ्छित फलोंकी सिद्धिके लिये सब लोग जिनसे याचना करते हैं, (च) जो जन्म और जन्मके कारण अज्ञानको अपने साक्षात्कारसे नाश कर देते हैं, (छ) जो मायाका पीड़न करनेवाले हैं अथवा संसारको ब्रह्मरूपसे प्रकट करनेवाले या भक्तोंको पुरुषार्थ और मुक्ति देनेवाले हैं। यथा (क) 'जनान् अर्दयति हिनस्ति नरकादीन् गमयति इति वा (ख) जनैः पुरुषार्थम् अभ्युदय निःश्रेयसलक्षणं याच्यत इति जनार्दनः।' (ग) 'जायत इति जनो दृश्यवर्गस्तं अन्तर्बहिश्च सर्वतोऽर्दति व्याप्नोति इति जनार्दनः।' (घ) 'जनान् अर्दते गतिकर्मणोनुरूपम्।' (ङ) 'सर्वजनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषित सिद्धये इति जनार्दनः।' (च) 'जनं जननं तत्कारणं अज्ञानं च स्वसाक्षात्कारेण अर्दयति हिनस्ति इति जनार्दनः।' (छ) ('जनमाया अर्दन = पीड़नकारी)

(१४) देव—प्रकाशमान होने, स्वर्गादि द्वारा प्रकाशमान क्रीड़ायुक्त होने, असुरोंको जीतने और सबके अन्दर आत्मरूपसे स्थित होनेके कारण 'देव' कहे जाते हैं। यथा 'यतो दीव्यति क्रीडति सर्गादिभिर्विजिगीषते असुरादीन् व्यवहरति सर्वभूतेषु आत्मतया स्तूयते स्तुत्यैः सर्वगच्छतीति देवः।'

(१५) देवदेव—देवताओंके भी देव या समस्त देवताओंके जो स्वामी हैं।

(१६) देववर—जो देवताओंमें सबसे श्रेष्ठ हैं।

(१७) देवेश—(देव = देवता + ईश = प्रभु) जो देवताओंके प्रभु–ईश्वर हैं।

(१८) परमेश्वर—(परम = श्रेष्ठ, बृहत् + ईश्वर = शासनकर्ता, ऐश्वर्यवान्, स्वामी,

व्यापक) जो सर्वोपरि शासक, परम ऐश्वर्यवान्, सर्वोपरि स्वामी या सर्वव्यापी हैं।

(१९) पुरुषोत्तम—(पुरुष = उत्तम) जो सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ या सर्व पुरियों यानी शरीरोंमें शयन — निवास करनेवाले और सर्वश्रेष्ठ हैं 'पुरुषाणाम् उत्तमः या पुरुषश्चासावुत्तमश्च ।'

(२०) प्रभु—(क) जो सभी कुछ करनेमें अत्यन्त समर्थ हैं, (ख) जिनकी सत्ता सर्वश्रेष्ठ है, (ग) जो स्वप्रकाशक, सबके प्रकाशक, सब रूपोंसे स्वयं ही भासनेवाले हैं या अनन्त प्रभाव, सामर्थ्यवाले स्वामी हैं। यथा (क) 'सर्वासु क्रियासु सामर्थ्यातिशयात् प्रभुः ।' (ख) 'प्रकर्षेण भवनात् प्रभुः ।' (ग) 'प्रकर्षेण स्वयमेव सर्वत्र भाति, सर्वभासयतीति वा सर्वात्मना स्वयमेव भाति इति ।'

(२१) भगवान्—(क) जिनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष पूर्ण और नित्य रूपसे स्थित हों, (ख) जो समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, नाश, गमनागमन, तथा विद्या और अविद्याको जाननेवाले सर्वज्ञ परम पुरुष हैं। यथा (क) 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। वैराग्यस्य च मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गिनास्य यस्य अस्ति इति भगवान्' (ख) 'उत्पत्तिप्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ।'

(२२) भूतभावन—जो समस्त भूतों (जीवों) को अथवा आकाशादि महाभूतोंको धारण करते, प्रकट करते और बढ़ाते हैं। 'भूतानि भावयति जनयति वर्धयति इति ।'

(२३) भूतेश—(भूत = समस्त भूत प्राणी या पञ्चभूत + ईश = स्वामी, प्रभु) (क) जो समस्त जीवों या पञ्च महाभूतोंके स्वामी हैं, (ख) भूतोंके नियन्त्रणकर्ता हैं, (ग) अन्तर्यामी रूपसे स्वयं भूतोंके प्रवर्तक हैं। यथा—'भूतानां ईश इति भूतेशः ।' (ख) 'सर्वभूतनियन्ता ।' (ग) 'भूतान् ईष्टे स्वयं अन्तर्यामीरूपेण प्रवर्तयति इति भूतेशः ।'

(२४) मधुसूदन—(मधु = मधु नामक दैत्य + सूदन = मारनेवाले) (क) जो मधु दैत्यको मारनेवाले हैं, (ख) जो मधुके समान मधुर लगनेवाले मानव देहोंके अहङ्कारको आत्मज्ञानके प्रकाशसे नष्ट कर देते हैं। यथा—(क) 'मधुनामानं दैत्यं सूदितवान् इति मधुसूदनः ।' (ख) सर्वेषां देहे मधुवदिष्टत्वान्मधुरहंकारस्तम् आत्मप्रकाशेन सूदयति इति मधुसूदनः ।'

(२५) महात्मा—(क) जो महान् आत्मावाले (ख) परम उदार हृदय, (ग) सर्वोत्कृष्ट विशाल-स्वभाव (घ) समस्त ब्रह्माण्ड ही जिनका आत्मस्वरूप है। यथा—(क) महांश्च असौ आत्मा इति महात्मा' (ख) 'परमोदारचित्त' (ग) 'अक्षुद्र स्वभाव' (घ) 'महान् महत्तरो विश्वमय आत्मा देहो यस्य स महात्मा ।'

(२६) महाबाहु—(महा = विशाल, लम्बी + बाहु = भुजा) विशाल भुजा—आजान बाहुवाले या महान् पराक्रमी।

(२७) माधव—(मा = लक्ष्मी + धव = पति) (क) लक्ष्मीपति (ख) मधु-विद्याके जाननेवाले, (ग) माया-विद्याके स्वामी (घ) मधुकुल यदुकुलमें अवतार लेनेवाले। यथा—(क) 'मायाःश्रियो धवः पतिर्माधवः ।' (ख) 'मधुविद्यावबोध्यत्वाद्वा माधवः ।' (ग) 'माया विद्यायाः पतिर्माधवः' मा विद्या च हरेः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान्। तस्मान्माधवनामासि धवस्वामीति शब्दितः ।' (घ) 'मधुकुल जातत्वान्माधवः ।'

(२८) यादव—**यदुवंशमें अवतार लेनेवाले ।**

(२९) योगी—**(क) सिद्ध योगी या जिनकी कृपासे योग ज्ञान आना जाय; (ख) जिनकी कृपासे योगरूप समाधिद्वारा अपनेको अपनेमें समाधिस्थ किया जा सकता है ; (ग) मायिक ऐश्वर्य जिनके अधीन है ; (घ) जिनमें निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्ति है ; (ङ) जो अघटित घटना घटा सकते हैं । यथा (क)** 'सः योगो ज्ञानं तेन एव गम्यत्वात् योगी ।' (ख) 'योगः समाधिः स हि स्वात्मनि सर्वदा समाधत्ते स्वमात्मानं तेन वा योगी ।' (ग) 'मायायोगजं ऐश्वर्यं योग इत्युच्यते सोऽस्यास्तीति योगी ।' (घ) 'निरतिशयैश्वर्यादिशक्तिर्योऽस्यास्तीति ।' (ङ) 'अघटितघटनयोगस्तद्वान् ।'

(३०) योगेश्वर -(योग+ईश्वर) **(क) योगके स्वामी, योगियोंके स्वामी, योगियोंका जो योग है उसके स्वामी ; (ख) समस्त अणिमा गरिमादि सिद्धिरूप योग तथा योगियोंके ईश्वर, योगनामक तेज, बल, पौरुष, विद्या और धनादि उन्नतिकारक साधनोंके ईश्वर; (ग) चित्तनिरोधका नाम योग है और उस योगके फलस्वरूप इस लोक या परलोकके सुखोंको एवं कर्मसाध्य या उपासनासाध्य फलोंके देनेमें सम्पूर्ण-तया समर्थ ; (घ) और ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोगकी फलसिद्धि जिनके अधीन हो वे योगेश्वर ।**

यथा-(क)'योगिनो योगस्तेषां ईश्वरः ।' (ख) 'सर्वेषामणिमादिसिद्धिशालिनां योगानां योगीनामीश्वरः ।' (ग) 'योगस्तेजो बल-पौरुषविद्याधनादि अभ्युदयानां घटनास्तेषामीश्वरः (यथा—विद्याविषे ईशते यस्य सोन्यः) युज्यते आभ्यामिति योगौ विद्याविधे ईशितुं शीलमस्यास्तीति योगेश्वरः (ग) यद्वा युज्यते समाधीयते चित्तम् एतेषु इति योगाः ऐहिकामुष्मिक सुखविशेषाः कर्मसाध्या, उपास्तिसाध्याश्च तेषां प्रदाने शक्त ईश्वरो योगेश्वर । (घ) 'यद्वा ज्ञानयोगो कर्मयोगो भक्तियोगो तेषां फलसिद्धेरीश्वराधीनत्वात् योगेश्वर ।'

(३१) वार्ष्णेय—**(क) वृष्णिकुलमें अवतार लेनेवाले; (ख) ब्रह्मानन्दरूप अमृतको बरसानेवालेका नाम वृष्णि है, वही सम्यक् ज्ञान है और उस ज्ञानसे जो जाननेमें आते हैं उनका नाम वार्ष्णेय है । यथा—(क)** 'वृष्णि कुलप्रसूत' (ख)'ब्रह्मविदां' ब्रह्मानन्दामृतं वर्षतीति वृष्णिः सम्यग्बोधस्तेनावगम्यत इति वार्ष्णेयः ।'

(३२) वासुदेव—**(क) वसुदेवजीके पुत्र (ख) 'वासु' शब्दका अर्थ है-स्वयम् बसना, बसाना और आच्छादन करना तथा 'देव' शब्दका अर्थ है,-स्वर्गमें निवास, क्रीडा, विजय, व्यवहार, प्रकाश, स्तुति और गमन । इस प्रकारकी दोनों शक्तियाँ जिनमें हों, उनका नाम वासुदेव है । (ग) जो सूर्यरूपसे समस्त जगत्को अपनी किरणोंद्वारा आच्छादन करनेवाले, (घ) सब भूतोंके निवासस्थान या सब भूतोंके अन्दर बसनेवाले हैं ।** यथा-(क) 'वसुदेवस्य अपत्यम् वासुदेवः ।' (ख) 'वसति वासयतीति आच्छादयति वा स्वयमिति वासुः । दीव्यति क्रीडते विजिगीषते व्यवहरति द्योतते स्तूयते गच्छतीति वा देवः वासुश्चासौ देवश्च वासुदेवः ।' (ग) 'छादयामि जगत् सर्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः । सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततः स्मृतः ।' (घ) 'वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वादेवयोनितः । वासुदेवास्तनो ज्ञेयो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।'

(३३) विश्वमूर्ति—**विश्व जिनकी मूर्ति है या जो विश्वरूप हैं ।** 'विश्वमूर्त्ति यस्य अथवा विश्वं ब्रह्म' तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

(३४) विश्वेश्वर—**(विश्व=जगत्+ईश्वर=स्वामी) जगत्के स्वामी, विश्वका शासन करनेवाले या ईशन करनेवाले ।**

(३५) विश्वरूप—विश्व जिनका रूप है या जो परमात्मा विश्वरूपमें भासते हैं।

(३६) विष्णु—यह समस्त विश्व उन महान् देवकी शक्तिके आश्रयसे स्थित है, इसीलिये उनको विष्णु कहते हैं क्योंकि 'विश' धातुका अर्थ सबमें प्रविष्ट,—ओतप्रोत या व्याप्त रहना है। यथा—'व्यपनशील यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः। तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात्।'

(३७) सर्व—(क) सर्वरूप अर्थात् सत् असत् सबकी उत्पत्ति तथा लय जिनसे होते हों; (ख) जो सबको जानते और देखते हों। यथा (क) 'असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात्।' (ख) सर्वस्य सर्वदा ज्ञानात् सर्वमेनं प्रचक्षते।

(३८) सहस्रबाहु—(सहस्र = हजार + बाहु = भुजाएं) हजार भुजाओंवाले या अनन्त भुजाओंवाले।

(३९) हरिः—(क) भक्तोंके समस्त क्लेश हरण करनेवाले; (ख) सब पाप हरनेवाले; (ग) अपने साक्षात्कारसे जगत्‌रूप कार्यसहित कारणरूप अविद्याका हरण करनेवाले। (घ) यज्ञोंका भाग हरण करनेवाले। यथा–(क) 'भक्तानां सर्वक्लेशापहारी' (ख) 'हरिर्हरति पापानि' (ग) स्वसाक्षात्कारवतामविद्यां सकार्यां हरतीति हरिः' (घ) 'सर्वयज्ञभागहारित्वात्'

(४०) हृषीकेश—(हृषीक – इन्द्रियां + ईश = स्वामी) (क) इन्द्रियोंके स्वामी अथवा समस्त इन्द्रियां जिनकी अधीनतामें कार्य करती हैं। (ख) जिनके केश बहुत सुन्दर हैं। यथा–(क) हृषीकाना इन्द्रियाणां ईशो हृषीकेशः।' 'अथवा यदेन्द्रियाणि यस्य वशे वर्तन्ते स परमात्मा।'

जय गीते !

(लेखक—श्रीवियोगीहरिजी)

जयति मोह-मातङ्ग-मर्दिनी शक्ति-सिंहिनी;
प्रकृति-त्रिगुण-तम-तोम-तरणि-कर-तेज-वाहिनी;
जयति ब्रह्म-रस-स्रोतिनि, संसृति-सरित-तारिणी;
परमहंस मानसी-मरालिनि वर विहारिणी;

जय भगवत-श्रीमुख-निस्सृता,
पार्थ-व्याज जग-बोधिनी।
श्रीभगवत-गीता-देवि ! जय,
कर्मयोग-परिशोधिनी ॥ १ ॥

ज्ञान-उपासन-कर्म-समन्वय मत-प्रकाशिनी;
अनासक्ति-बल योग-सांख्य-कृत भेद-नाशिनी;
शुद्ध श्रेय सत-सार 'लोक-संग्रह'-प्रचारिणी;
रहित राग फल-त्याग सिद्ध सिद्धान्त-धारिणी;

जय भगवत-श्रीमुख निस्सृता,
पार्थ व्याज जग-बोधिनी।
श्रीभगवत-गीता-देवि ! जय,
कर्मयोग-परिशोधिनी ॥ २ ॥

क्षात्र-धर्म-उद्धरणि, कर्म-कौशल-विधायिनी;
पराधीनता-हरणि, राष्ट्र-नव-शक्ति-दायिनी;
ईश-विराट-विभूति-व्याप्त अग-जग-विकासिनी;
'मामेकं भज शरणं' निर्भय पद-प्रकाशिनी;

जय भगवत-श्रीमुख-निस्सृता,
पार्थ-व्याज जग-बोधिनी।
श्रीभगवत-गीता देवि ! जय,
कर्मयोग-परिशोधिनी ॥ ३ ॥

गीता क्या है?

गीता—मनुष्यके नाशवान् शरीरको जीवात्माके वस्त्रके समान और जन्ममृत्युको पुराना वस्त्र बदलकर नया वस्त्र धारण करनेके समान समझा कर उसमें निवास करनेवाले जीवात्माको, नित्य, शस्त्रसे न कटनेवाला, अग्निसे न जलनेवाला, जलसे न भींगनेवाला, वायुसे न सूखनेवाला और मृत्युसे भी न मरनेवाला है, ऐसा विश्वास करा देनेवाला अभयशास्त्र है।

गीता—अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार गुण-स्वभावके अनुकूल शुभ कर्मोंको, लाभालाभ या जय पराजयकी फलाकांक्षा न रखते हुए केवल कर्तव्यकी दृष्टिसे करना ही यथार्थ मानवधर्म है, यह सिखला कर स्त्री शूद्र एवं मनुष्य मात्रके लिये मोक्ष मार्गके अधिकारकी घोषणा करनेवाला और प्रत्येक तीव्र इच्छुकको सत्य अटल स्वराज्यका निरंकुश अधिकार प्रदान करनेवाला ईश्वरीय ढिंढोरा है।

गीता—मनुष्य-जीवनकी नौकाको इस उछलते हुए भवसागरकी प्रचण्ड तरङ्गोंसे बचाकर कुशल क्षेमके साथ सदा सर्वोत्तम सुखरूप स्वदेशमें पहुंचा देनेवाला दृढ़ जहाज है।

गीता—जीवन रथके व्यवहार परमार्थरूप पहियोंको बुरीसे बुरी ऊंची नीची जमीनपर भी गति और उत्साह प्रदान करनेवाली अखण्ड-दैवी शक्ति है।

गीता—वेदरूपी विशाल पर्वतोंके उच्चाति उच्च आध्यात्मिक शिखरोंपर पूर्ण स्वतन्त्रतासे विचरण कर ज्ञानके दिव्य-गर्जन द्वारा जगत्‌को मोहनिद्रासे जगानेमें तत्पर-अनुपम बिजली है।

गीता—उपनिषद्‌रूपी गौ माताओंका भगवान् श्रीकृष्ण-सदृश अद्भुत गोपालके द्वारा दुहा हुआ और व्यास सदृश सर्वश्रेष्ठ महर्षिद्वारा महाभारतरूपी पात्रमें संग्रह किया हुआ-सारामृत है।

गीता—लोगोंके तीन और पण्डितोंके छः तापोंको निवृत्त कर व्यवहार-परमार्थके मार्गको सहज और शीतल बना देनेवाली-अमृत वर्षा है।

गीता—पाखण्डी प्रपञ्चियों द्वारा फैलाये हुए भ्रमजालसे छुड़ाकर सत्यके आकाशमें विहार करानेवाला-विमान है।

गीता—वहम और बाहरी आचार विचारोंकी गली कूंचलियोंसे हटाकर सत्य धामकी-सीधी सड़क बता देनेवाला मार्गदर्शक है।

गीता—दूरसे ही सत्य, सुन्दर और सुखप्रद दिखायी देनेवाले मिथ्या पदार्थोंकी ओर अनेक जन्मोंसे जीवको दौड़ानेवाली प्रपञ्चमयी अविद्याको उड़ा कर मोक्ष-द्वारकी सरल कुंजियां सीधे जिज्ञासुके हाथमें ही सौंप देनेवाली-भोली-भाली ब्रह्मविद्या है। —भिक्षु अखण्डानन्द

गीता—बस, गीता गीता ही है

गीता और आर्यसमाज

यद्यपि आर्य समाजकी दृष्टिमें गीताकी प्रतिष्ठा वेदोंके समान नहीं है, तथापि श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव आर्य विद्वानोंपर कम नहीं है। स्वामी दयानन्दजीने सत्यार्थप्रकाश भूमिकामें तथा अन्य भी कई जगह गीताके प्रमाण दिये हैं। उनके बाद भाई परमानन्दजी, पं० राजारामजी शास्त्री, श्रीआर्यमुनिजी पं० तुलसीरामजी, स्वामी सत्यानन्दजी, पं० नरदेवजी शास्त्री आदि अनेक आर्य विद्वानोंने गीतापर टीकाएँ लिखी हैं और गीताको अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ माना है— —रामदास

श्रीमद्भगवद्गीता और राजनैतिक उत्थान

(लेखक—बाबा राघवदासजी)
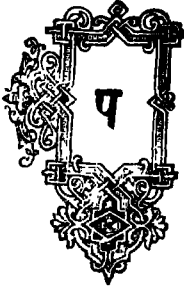
परम आदरणीय अध्यात्म-शास्त्र होनेपर भी गीताका राजनीतिसे बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। हिन्दू-संस्कृतिमें राजनीति धर्मसे पृथक् वस्तु नहीं है। गीतामें क्षत्रियका धर्म बतलाते हुए यह बात अच्छी तरह स्पष्ट कर दी गयी है। गीताका प्रादुर्भाव रणाङ्गणमें हुआ है। जिस समय एक पक्ष अन्यायपूर्वक दूसरे पक्षका न्याय्य स्वत्व छीन कर मदोन्मत्त हो गया है, सुलहकी हज़ार चेष्टा करनेपर जब वह टससे मस नहीं होता, नम्रतासे पाँच गाँव माँगनेपर भी जब दुत्कार बताता हुआ रणका स्मरण दिलाता है, तब कर्तव्यवश दूसरे पक्षको भी रणसज्जामें सज्जित होना पड़ता है, प्रथम अन्यायी पक्षका संचालक और आधार घमण्डी दुर्योधन है जो दुःशासन शकुनि प्रभृति दुष्ट विचारोंके बलवान् पुरुषों द्वारा संरक्षित और उत्साहित है, दूसरे पक्षका प्रधान धर्मराज युधिष्ठिर है जो वीरश्रेष्ठ भीमसेन और अर्जुन द्वारा संरक्षित है एवं भगवान् श्रीकृष्णकी रागद्वेषरहित प्रेरणासे कर्म कर रहा है। दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी हुई, धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें अठारह अक्षौहिणी सेना जमा होगयी। युद्ध आरम्भ होनेवाला ही था कि स्वजनोंको युद्धके लिये सन्नद्ध देखकर अर्जुनको मोह हो गया और वे शस्त्र छोड़कर 'न योत्स्य' युद्ध नहीं करूंगा, ऐसा कहकर चुप हो रहे। रणभूमिमें अर्जुनकी इस किंकर्तव्य विमूढ़ताको देखकर भगवान् श्रीकृष्णने जो अमर उपदेश किया, वही गीता-शास्त्र है। गीताका उपदेश सुनते ही अर्जुन मोहमुक्त होकर शत्रुओंसे भिड़ गये और उनका संहार करके अपना न्याय्य स्वत्व पुनः प्राप्त कर लिया। यद्यपि ज्ञानीश्रेष्ठ पार्थने भगवान्‌के उपदेशसे जय-पराजय और लाभ-हानिमें समबुद्धि रखकर स्वधर्म-रक्षाके लिये ही भगवान्‌की आज्ञाका पालन किया, तथापि इससे जगत्‌में एक बड़ा भारी राजनैतिक परिवर्तन हो गया। अन्यायी दुर्योधनके शासनसे छूटकर प्रजा धर्ममूर्ति प्रजावत्सल धर्मराजकी छत्रछायामें आकर सर्वथा सुखी हो गयी। अधर्मपूर्ण शासनका नाश धर्मराज्यकी स्थापना गीता शास्त्रका सबसे पहला स्थूल कार्य जगत्‌में हुआ, भगवान्‌के अवतारका भी यही उद्देश्य होता है। 'विनाशाय च दुष्कृताम्' 'धर्मसंस्थापनार्थाय' भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायमें आत्माकी अमरता बतलानेके बाद ३१ से ३८ के श्लोक तक जो उत्साह और वीरतापूर्ण वाक्य कहे हैं, वे मुर्देमें भी जीवन ला सकते हैं!

गीताके प्रादुर्भावका यह इतिहास जैसे राजनैतिक उत्थानमें सम्बन्ध रखता है, वैसे ही अब भी वही बात सिद्ध हो रही है। गीता मनुष्यको कर्तव्यकी जीवन्त मूर्ति बना देती है और उसके अन्दर ऐसा आत्मबल भर देती है कि जिससे वह किसी भी विघ्नबाधाकी रत्ती भर भी परवाह न करके नित्य नये उत्साहसे कर्तव्य-पथपर आगे बढ़ता है। कर्तव्यके लिये जीवन लगा देना, सिद्धान्तकी वेदीपर मर जाना उसके लिये मामूली बात होती है, सम्मुख रणमें प्राण त्याग कर देनेवालेके लिये तो गीता स्वर्गराज्यका द्वार सदा खुला हुआ बतलाती है—'स्वर्गद्वारमपावृतम्।' इसीसे देशभक्तोंने गीताको अपने जीवनकी चिरसंगिनी बनाया है। गीताने भारतके राजनैतिक उत्थानमें जो सहायता पहुँचायी और पहुंचा रही है, वह अकथनीय है। भविष्यमें भी यही आशा है कि यदि कभी सच्चा उत्थान होगा तो वह गीताके उपदेशोंके अनुसार चलनेसे ही होगा। गीता कर्तव्यके लिये दृढ़ रहना सिखलाती है, गीता स्वार्थत्यागका पाठ पढ़ाती है, गीता सिद्धान्तके लिये—स्वधर्मके लिये मरना सिखलाती है। गीता घोषणा करती है कि 'मनुष्यो! कर्तव्यपर प्राण दे दो। मृत्युसे भय न करो, मृत्यु तो साक्षात् भगवान्‌का रूप है। मृत्युकी ओर दौड़ो, उससे आलिङ्गन करो, उसे गले लगा लो। भगवान् कहते हैं, 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'। सारे हरण करनेवालोंमें 'मृत्यु' मैं हूं। फिर भय किस बातका है?

गीता कहती है—किसीसे वैर न करो; किसी दूसरेके धर्मका अनादर मत करो; देश, वर्ण, जातिके हिसाबसे किसीको नीचा मत समझो, सबसे प्रेम करो परन्तु स्वधर्ममें डटे रहो और स्वधर्मकी रक्षाके लिये हँसते हँसते प्राण उत्सर्ग कर दो। इसीसे हिंसामय क्रान्तिकारी मरणोन्मत्त देशप्रेमी युवकोंसे लेकर अहिंसाके महान् पोषक महात्मा गांधी तक सबके जीवन और कार्यमें गीताका सहारा रहता है। प्रत्येक राजनैतिक क्षेत्रमें गीता है।

शास्त्रोंके विलक्षण पण्डित, भारतीय राजनैतिक गगन-के सूर्य लोकमान्य तिलक ५४ वर्षकी अवस्थामें ६ सालके लिये कारागारमें जाते हैं, मधुमेहका रोग है। परन्तु उनके हृदयमें गीता है। गीताके प्रसादसे उनके अन्तःकरणमें अद्भुत बल है। कारागारमें भी वे गीताके अगाध ज्ञान-समुद्रमें ही गोता लगाते रहते हैं, फलस्वरूप उसमेंसे कर्म-योगशास्त्र या गीतारहस्य नामक एक अमूल्य रत्न निकलता है।

बंगालके राजनैतिक नेता त्यागमूर्ति श्रीअरविन्द षड्यन्त्र-में पकड़े जाते हैं, लोग समझते हैं, इनको फांसी होगी, अलग छोटीसी कोठरीमें रहते हैं, परन्तु भगवती गीताके प्रसादसे वहीं उनका तप बढ़ जाता है और वहीं उन्हें भगवान्‌के दर्शनतक हो जाते हैं, और आज वे पाण्डिचेरीके योगीश्रेष्ठ हैं, जहां सनातनधर्मके पुनरुद्धारके लिये महान् साधना हो रही है।

अफ्रिकाके कठिन सत्याग्रह संग्राममें एक दुबले पतले, सब प्रकारसे सुखमें पले हुए बैरिष्टर जेलखाने जाते हैं और हंसते हंसते अत्यन्त घृणित समझा जानेवाला भंगीका काम हर्षोत्फुल्ल वदनसे करते हैं। सहारा उसी गीता देवीका है। आज वे उसी गीताके प्रतापसे संसारके सबसे बड़े आदमी माने जाते हैं और महात्मा गांधीके नामसे विख्यात हैं। सम्पूर्ण संसार जिनके प्रत्येक कार्यकी ओर ध्यानसे टकटकी लगाये देखा करता है।

पञ्जाबके एक प्रोफेसरको फांसीकी सजा होती है, वे फांसीकी कोठरीमें बन्द किये जाते हैं, सारी रात मृत्युके भयसे कांपते बीतती है। प्रातःकाल उनके हृदयमें अमर बना देनेवाली माता गीताकी स्मृति होती है, दूसरे दिन वे मिलनेको आयी हुई अपनी धर्मपत्नीसे कहकर गीता मंगवाते हैं। चीफकोर्टसे फांसीकी जगह कालेपानीका हुक्म होता है। कालेपानीसे छूट कर आनेपर वे सबसे पहले उस शान्तिदायिनी गीताके उपदेशक भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-भूमि वृन्दावनकी ओर दौड़ते हैं और वहां पहुँचकर वहाँकी धूलिको—पवित्र व्रज-रजको मस्तकपर चढ़ाकर अपनेको कृतार्थ मानते हैं। आज भारतभरमें वे देवतास्वरूप भाई परमानन्दके नामसे प्रसिद्ध हैं।

लाला लाजपतराय गीतासे अपना मार्ग निश्चित करते हैं। शान्तमूर्ति महामना मालवीयजी गीताको अपनी पथ-प्रदर्शिका समझते हैं।

भारतीय जेलके अन्दर तो राजनैतिक कैदियोंके लिये गीता एक आधार वस्तु होती है। स्वामी सहजानन्द जेलमें गीता पढ़ाते हैं। मुसलमान अबुल कमाल आज़ाद गीतासे आज़ादीकी शिक्षा पाते हैं, डा० अब्दुल करीम जेलमें गीता-पर टीका रचते हैं।

बंगालके मुक्तिमन्त्रमें दीक्षित मृत्युप्रेमी क्रान्तिकारी युवक, काकोरी केसके शहीद श्रीरामप्रसाद और रोशनसिंह आदि गीताको हाथमें लेकर हँसते हुए फांसीकी तख्ती पर चढ़ जाते हैं।

सारांश यह कि भारतके सभी राजनैतिक क्षेत्रोंमें गीताका समानभावसे प्रवेश है। गीता माताके ज्ञानमय चरणोंमें हमारी विनीत प्रार्थना है कि वे शासक-शासित, देशी-विदेशी, अंगरेज-भारतवासी, हिन्दू-मुसलमान, क्रान्तिकारी-शान्तिकारी, गरम-नरम, स्वराजिष्ट-लिबरल, धनी-मजदूर सबके हृदयमें विश्वप्रेमकी नवीन आध्यात्मिक जीवन-ज्योति उत्पन्न कर सबको सन्मार्गपर लावें और सबको सहोदर भाईकी भांति एक दूसरेके गले लगा कर सदाके लिये प्रेमके दृढ़ बन्धनमें बांध दें, जिससे सारे विश्वमें रागद्वेष रहित पवित्र क्रियाशील शान्ति और सुखका प्रवाह बह चले।

गीतोपदेशक भगवान्‌की भक्ति कर्तव्य है

जिन भगवान्‌ने गीताका उपदेश दिया था, हमें भारतकी मुक्तिके लिये उनकी अर्चना भक्ति-मय सुमनों तथा सुन्दर कर्मरूपी आरतीसे करनी चाहिये।

—श्रीमती सरोजनी नायडू

गीताके अनुसार हिन्दू-संगठन

(ले०—पं० श्रीबद्रीदासजी पुरोहित वेदान्तभूषण)

किसी समय असाधारण बल, ऐश्वर्य और सुखका उपभोग करनेवाले हिन्दुओंकी दशा आज हिन्दुस्तानमें ही छिन्नभिन्न है। वे आज बहुसंख्यक होनेपर भी निर्बल निरुत्साह और निस्सहाय हैं। उनके पुनर्संगठनमें गीतासे बड़ी सहायता मिल सकती है और उनकी रगरगमें गीता-शास्त्रके आदर्श सदुपदेशोंका सञ्चार होनेसे ही हिन्दू-संगठन सफल हो सकता है। गीतोपदेशक भगवान् श्रीकृष्ण हिन्दू समाजके श्रद्धेय इष्टदेव हैं। उन्होंने समस्त हिन्दुओंको अर्जुनके बहाने यह आदेश किया है कि— विषमस्थलमें जो अज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह श्रेष्ठ पुरुषोंके अयोग्य, नरकमें ले जानेवाला और अखण्ड अकीर्ति उत्पन्न करनेवाला है' अतएव जो पुरुष अपने कर्तव्य पालन करनेके समय अर्थात् जब अपने देश, समाज और धर्म पर शत्रुओंका आक्रमण हो अथवा अपनी परिस्थिति ऐसी हो गयी हो कि अपने ही गुरु, दादा, मित्र, भाई, बन्धु और कुटुम्बवाले अपने ऊपर चढ़ाई कर सनातनसे प्रचलित धर्म, स्वराज्य और सर्वस्वका अपहरण करनेको प्रस्तुत हों। ऐसी दशामें कभी नपुंसकताका ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि शत्रुको सामने खड़े देखकर कायरता दिखलाना त्यागी हिन्दुओंका काम नहीं है। ऐसा करना तो क्षुद्र-हृदयकी दुर्बलता है। अतः हिन्दुओंको विषम समयमें हृदयकी दुर्बलता छोड़ कर कर्तव्य पालन करनेके लिये सन्नद्ध हो जाना चाहिये। हिन्दू होकर हिन्दुओंका संगठन करना स्वधर्म है। स्वधर्म पालनमें गीताका स्पष्ट उपदेश है कि—

> श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
>
> (गीता ३। ३५)

जब हिन्दू-संगठन हिन्दू मात्रका स्वधर्म है और स्वधर्मकी सेवा करते करते मर जाने पर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है तो कौन ऐसा हिन्दू होगा जो ऐसे परम साधनसे मुंह मोड़ेगा? पर धर्मप्राण हिन्दुओंको अपना संगठन (जो उनका स्वधर्म है) करना होगा अवश्य धर्मके अनुसार ही!

आजकल हिन्दुओंमें सनातनी, जैन, सिक्ख, आर्यसमाजी आदि कितने ही मत उत्पन्न हो गये हैं। धर्मकी इस अवनत दशाको हटाना हमारा कर्तव्य है। यह निर्विवाद है कि भिन्नभिन्न मतोंके अभिमानी हिन्दुओंमें सबसे अधिक संख्या सनातनी हिन्दुओंकी ही है। अतः सब हिन्दुओंका विशेषतः सनातनी हिन्दुओंका धर्मानुसार संगठन होना या करना इस समय परमावश्यक है। इस विषयमें तो किसीका मतभेद नहीं होना चाहिये। किसी विषय पर मतभेद हो सकता है तो वह संगठनकी प्रणाली है। परन्तु जब हम गीताके आधार पर हिन्दू-संगठन करनेका प्रस्ताव करेंगे तो हमें आशा है कि इसमें किसीका मतभेद नहीं होगा कारण गीता एक ऐसा अलौकिक उपदेश है जिसकी उच्चाशयता केवल हिन्दू ही नहीं अपितु सारे संसारके मनुष्य एक स्वरसे स्वीकार करते हैं। अब यह विचारणीय है कि गीताके अनुसार हिन्दू-संगठन कैसे करना चाहिये? भगवान् श्रीकृष्णने इसके लिये क्या आज्ञा दी है? इस छोटेसे लेखमें इसी पर विचार करना है।

लोग साधारणतः यह प्रश्न कर सकते हैं कि गीताका उपदेश तो अर्जुनके मोह दूर करनेके लिये था, इसमें हिन्दू या मनुष्य मात्रके लिये उपदेशकी बात कहां है? इसके उत्तरमें गीता अध्याय ४ के श्लोक १, २ और ३को पढ़ना चाहिये, भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि 'हे अर्जुन! तुम अपने मनमें यह न सोचो कि मैं यह कर्मयोग तुम्हें ही युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये कह रहा हूँ, मैंने इस अखण्ड-कर्मयोगको पहले सूर्यके प्रति कहा था, सूर्यने अपने पुत्र मनुसे तथा मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा था।' इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस कर्मयोगको पहले राजर्षियोंने जाना था, परन्तु वह कर्मयोग बहुत कालसे इस पृथ्वीमें प्रायः लुप्तसा हो गया था। वही यह पुरातन कर्मयोग आज मैं तुमसे फिर कहता हूं क्योंकि तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो। लोकसंग्रहके इस अत्यन्त उत्तम रहस्यको मैंने पुनः संसारमें लोक कल्याणार्थ प्रकट किया है।' इससे पता लगता है कि अर्जुनको ही गीताका उपदेश देना भगवान् श्रीकृष्णका ध्येय नहीं था। वे तो अपने लुप्तप्राय कर्मयोगको पुनः संसारमें प्रचलित करनेके लिये अर्जुनको निमित्त बनाकर गीतोपदेश दे रहे थे। अतः

भगवान् श्रीकृष्णने हम सबके लिये परम दया कर गीताका उपदेश दिया है। उसे गुरु-मुखसे भलीभांति समझ कर हमें अपना कल्याण करना चाहिये।

लोक-कल्याणार्थ गीताका उपदेश तो सिद्ध हो चुका, परन्तु गीतामें हिन्दू-संगठन कहां है ? और किस प्रकार उसके आचरण करनेका आदेश हमें दिया गया है ?

गीतामें हिन्दू-संगठन खोजनेके पूर्व थोड़ेसेमें हमें शब्द-की परिभाषा समझ लेनी चाहिये। 'हिन्दू उस समाजका नाम है जो गुण और कर्मके अनुसार चारों वर्णों एवं आश्रमों-को मानता है।' जो युक्ति या कार्य करनेकी शैली इन चारों वर्णाश्रमी हिन्दुओंको एक सूत्रमें गूंथ रक्खे, उसीका नाम हिन्दू-संगठन है। वही प्रत्येक हिन्दूका स्वधर्म है, अतः खोज देखिये कि चातुर्वर्ण्य अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका गीतामें कहां और किस प्रकार वर्णन आया है, उसी सम्बन्धमें फिर श्रीभगवान्ने उसके लिये संगठित होनेकी युक्ति बतलायी है। इस बातका खूब मनन करना चाहिये, क्योंकि वही युक्ति आज हम हिन्दुओंको संगठित कर हमारा कल्याण कर सकती है। सर्वज्ञ जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णने चातुर्वर्ण्यके विषयमें यह उपदेश दिया है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। (४।१३)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंकी रचना गुण और कर्मके भेदसे मैंने की है। अतएव इस विषयमें किञ्चित् भी परिवर्तन करना मेरे अतिरिक्त और किसीके अधिकारमें नहीं है। जिस वर्ण-व्यवस्थाका विधान मुझ जगदीश्वरके द्वारा हुआ है, वह जबतक यह जगत् रहेगा और लोग मुझे जगदीश्वर जानते रहेंगे, तबतक वह अखण्डनीय रहेगा। कारण, इसकी रचना संसारमें रहते हुए ही जीवोंको परस्पर संगठित कर उन्हें सुखी, सम्पन्न, स्वतन्त्र और अन्तमें मुक्त बनानेके लिये की गयी है।

भगवान् सबके जनक—पिता हैं, अतः उन जगदीश्वर-की बनायी हुई चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था किन किन गुणों और कर्मोंके अनुसार कब स्थिर हुई अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन वर्णोंकी किन गुणों और कर्मोंके अनुसार उत्पत्ति हुई, इसपर विचार करना है। ऐसा वर्णन मिलता है कि पहले सत्ययुगमें मनुष्योंमें ब्राह्मणादि चार वर्ण नहीं थे, केवल हंस नाम एक ही वर्ण था। उस समय जन्मसे ही ईश्वरकी उपासनामें तत्पर रहनेके कारण लोग कृतकृत्य होते थे। इसीसे सत्ययुगको कृतयुग भी कहते हैं। उस समय ॐ ही एकमात्र वेद था और सत्य, तप आदि चार चरणोंवाला वृषभरूपधारी ईश्वर ही धर्म था, उस समयके तपमें लगे हुए पापशून्य मनुष्य मन सहित इन्द्रियोंको रोक-कर विशुद्ध हंसरूप परमात्माकी उपासना करते थे। त्रेताके आरम्भमें ईश्वरके हृदयसे प्राणद्वारा वेदत्रयीरूप विद्यासे होता, अध्वर्यु और उद्गातारूप यज्ञपुरुष ईश्वर विराट्रूप धारण करके प्रकट हुए। उन विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, बाहुओंसे क्षत्रिय, जंघाओंसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। अपने पृथक् पृथक् नियत स्वकर्मोंका पालन ही इन चारों वर्णोंके लक्षण हैं। इसी स्वकर्मका भगवान् श्री-कृष्ण गीताके अठारहवें अध्यायके श्लोक ४१, ४२, ४३ और ४४ में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

'हे अर्जुन ! पूर्वजन्मके संस्कारोंसे उत्पन्न हुए सात्त्विक आदि गुणों और शम दमादि कर्मोंद्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म भिन्न भिन्न हैं। उनमें सत्त्वगुण-प्रधान ब्राह्मण, सत्त्वगुण गौण और रजोगुणप्रधान क्षत्रिय, तमोगुण गौण और रजोगुणप्रधान वैश्य, एवं रजोगुण गौण तथा तमोगुणप्रधान जीव शूद्र होते हैं। अर्थात् ब्राह्मण-स्वभावका कारण सत्त्वगुण है, क्षत्रिय स्वभाव-का कारण वह रजोगुण हैं, जिसमें सत्त्वगुणका कुछ अंश मिला हुआ है। जिसमें कुछ तमोगुण मिला हुआ है; ऐसा रजोगुण वैश्य स्वभावका कारण है और किञ्चिन्मात्र रजोगुण मिला हुआ तमोगुण शूद्र स्वभावका कारण है। क्योंकि शान्ति, ऐश्वर्य, उद्योग और विवेककी न्यूनता ये चार लक्षण क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें स्वाभाविकरूपसे दिखायी पड़ते हैं। यहां 'स्वभाव प्रभव' का अर्थ यह है कि प्रकृति ही जिसका कारण है ऐसे सत, रज और तम इन गुणोंके योगसे जो जो स्वकार्यानुरूप कर्म हैं, वे भिन्न भिन्न हैं। जैसे—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

मनकी शान्ति, इन्द्रियोंका दमन, बाहर भीतरकी शुद्धि, शारीरिक त्रिविध तप, क्षमाभाव, सरलता, शास्त्रविषयक ज्ञान, अनुभव और आस्तिकता ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

पराक्रम, तेज, धैर्य, कुशलता, युद्धमें पीठ नहीं दिखाना, उदारता और नियममें रखनेकी शक्ति ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। और—

> कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
> परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

खेती, गौरक्षा और व्यापार ये वैश्यके तथा तीनों वर्णों-की सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।

यहां यह शंका होती है कि उपर्युक्त वर्ण-व्यवस्थासे तो संगठनके बदले विघटन होता है? कारण, ब्राह्मणादि-के भिन्न भिन्न कर्म ही अनेकताके द्योतक हैं। हमें तो हिन्दू-संगठनसे सबकी एकता कर उनकी समुन्नति करना है। उपर्युक्त चातुर्वर्ण्य तो उसका मूलोच्छेद कर देती है। गीताके अनुसार ऐसी युक्ति होनी चाहिये जिससे हिन्दुओंका भलीभांति संगठन हो सके। इसका उत्तर यह है कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थासे कभी विघटन नहीं होता, वास्तवमें यह व्यवस्था ही हिन्दू संगठनका मूल मन्त्र है और यही हिन्दुओं-को पूर्ण स्वतन्त्र, सुखी एवं सम्पन्न बनानेकी सबल युक्ति है। जब किसी दलका भलीभांति सङ्गठन करना होता है, तब पहले उसके कुछ विभाग करने पड़ते हैं, ऐसा किये बिना एक ही साथ उसे सुसङ्गठित कभी नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ हिन्दू-महासभाको ही लीजिये। जो हिन्दू वार्षिक शुल्क देगा, वह महासभाका सदस्य हो सकेगा। पर जब तक हम प्रबन्ध-परिषद्, अधिकारी-मण्डल, प्रतिनिधि-सभा और स्वागत-समिति आदिका विभाग नहीं कर लेते, तबतक महासभाका सङ्गठन भलीभांति नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है। क्या हिन्दू-महासभाके भिन्न भिन्न विभागोंके कारण हिन्दू-सङ्गठनमें किसी तरहकी अड़चन उपस्थित होती है? यदि नहीं तो, फिर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थासे सङ्गठनके बदले विघटन कैसे हो सकता है? हिन्दू-महासभा आदिके चुनाव-के नियम तो दो चार वर्षों तक ही रहकर अन्तमें बदल जानेवाले हैं, क्योंकि उन सबके कर्ता स्वयं ही मरणशील हैं परन्तु चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके नियम जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त अखण्डरूपसे पाले जाते हैं। उनका दो चार वर्ष या युगोंमें परिवर्तन नहीं होता। वह अखण्डरूपसे हिन्दुओंका सङ्गठन करते हैं और हजारों विघ्नबाधाओंके आने एवं असंख्य प्रहारोंके होनेपर भी हिन्दुओंका अस्तित्व स्थिर रखते हैं।

ब्राह्मण आदिके भिन्न भिन्न कर्म अनेकताके द्योतक नहीं हैं, बल्कि उनके द्वारा सङ्गठनमें अधिक सुविधा हो सकती है। जिस प्रकार शासन, न्याय, सेना, पुलिस तथा अर्थादि भिन्न भिन्न विभागोंसे किसी राज्यकी व्यवस्था सुचारुरूपसे सञ्चालित होती है, उसी प्रकार आदर्श सङ्गठन एवं ऐक्य स्थापित करनेके लिये ही ईश्वरने चातुर्वर्ण्यकी रचना की है।

अतः प्रेमके साथ इस व्यवस्थाका नियमित आचरण करनेसे अवश्य ही हिन्दुओंका श्रेय है, क्योंकि इसीसे हिन्दू-सङ्गठनकी जड़ मजबूत होकर हिन्दू-जाति अपना नष्टप्राय गौरव और आदर्श पुनः प्राप्त कर सकेगी। भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट उपदेश देते हैं।

> स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। (१८।४५)

अपने अपने स्वभावजन्य गुणोंके अनुसार प्राप्त होने-वाले कर्मोंमें नित्य रत रहनेवाला पुरुष उसीसे परम सिद्धि मोक्षको पाता है। बस, यही सर्वोत्तम एवं सर्वप्रिय युक्ति है। जिनका जिस वर्णमें जन्म हो वे उसी वर्णके स्वाभा-विक कर्मोंका आचरण करें, इससे चारों वर्ण सुखी, सम्पन्न और स्वतन्त्र हो सकते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। परन्तु जब हम अपना कर्तव्य पालन न करेंगे और केवल दूसरोंको उपदेश देंगे, तो हमारा सङ्गठन कैसे होगा, अतएव गीतामें बतलाये हुए स्वकर्मका हिन्दूमात्रको पालन करना चाहिये। हिन्दू नेतागण उसीके अनुसार सनातनी, जैन, सिक्ख और आर्यसमाजी आदि विभागोंसे सच्चे हृदयसे कार्य करानेकी प्रतिज्ञा करें तो हिन्दू-सङ्गठन होनेमें विलम्ब नहीं होगा।

अतएव यह मानना हिन्दुओंका धर्म है कि गीता उन्हें चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाको सुदृढ़ रख कर अपने अपने स्वभाव-सिद्ध कर्मोंको करते हुए सुखी, सम्पन्न और स्वतन्त्र रहनेका सदुपदेश देती है। सब हिन्दुओंको इस उपदेशका अहर्निश स्मरण कर तदनुसार आचरण करते हुए अपना और अपने समाजका कल्याण करना चाहिये। हमारी समझके अनुसार यही 'गीताके अनुसार हिन्दू-सङ्गठन' है।

आदर्श-वैश्य नन्दजी ।

'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्' ।

गीता और वैराग्य

स(म्प्र)ति कुछ लोग कहने लगे हैं कि 'श्रीमद्भगवद्गीतामें वैराग्यका उपदेश नहीं है। भगवद्गीता तो केवल कर्म ही करनेका उपदेश देती है। वैराग्यकी इसमें आवश्यकता नहीं। इस वैराग्यके भावने देशकी उन्नतिमें बड़ी बाधा डाल रक्खी है। संसारसे वैराग्य हो जानेके कारण मनुष्य सांसारिक उन्नति-अवनतिकी कोई परवा नहीं करता, वैराग्य संसारसे उपराम बनाकर मनुष्यको निकम्मा और आलसी बना देता है। हमें तो जीवनभर कर्म करते रहकर ही परमात्माको प्राप्त करना है। यही गीताकी शिक्षा है।' परन्तु वास्तवमें न तो गीताकी शिक्षा ही ऐसी है और न यथार्थ वैराग्य मनुष्यको निकम्मा और आलसी ही बनाता है। अवश्य ही वैराग्यवान् पुरुष संसारके भोगोंमें अनासक्त होनेके कारण सभी कर्तव्यकर्म धीर गम्भीर और शान्त भावसे करता है, जिससे उसकी स्थितिको न समझनेवाले लोगोंकी दृष्टिमें वह उत्साह-शून्यसा प्रतीत होता है, परन्तु सच पूछा जाय तो सत्कर्म करनेका सच्चा उत्साह वैराग्यवान् पुरुषके हृदयमें ही होता है। सांसारिक भोग-सुखोंकी आसक्तिमें नहीं फंसे हुए पुरुष ही देशकी या विश्वकी यथार्थ सेवा कर सकते हैं। जिनका मन भोगोंकी लालसामें लगा है, जो पद पद पर भोग-सुखोंका अनुसन्धान करते हैं, वे स्वार्थी मनुष्य कभी यथार्थ भावसे कर्तव्य-पालन नहीं कर सकते। देशकी उन्नति सच्चे त्यागी व्यक्तिगत स्वार्थशून्य पुरुषोंके द्वारा होती है, ऐसे पुरुष वैराग्यकी भावनाके बिना बन ही नहीं सकते। सच्ची बात तो यह है कि वैराग्यवान् पुरुषोंके अभावसे ही देशकी दुर्दशा हो रही है।

गीतामें तो स्पष्ट शब्दोंमें वैराग्यका उपदेश है। गीताके प्रधान साधन तीन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन तीनोंमें ही वैराग्य पहले आवश्यक है। जब तक मनमें इस लोक या परलोकके भोगोंकी कामना बनी रहती है तबतक कर्मोंमें निष्कामता नहीं आ सकती। जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसके पूर्ण होने या न होनेमें अथवा उसके अनुकूल या प्रतिकूल फलमें, समभाव रहनेका नाम 'समत्व' है। इस समत्वभावरूप योगमें स्थित होकर कर्म करना ही निष्काम कर्मयोग है, क्योंकि यह समत्वबुद्धिरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है, इस प्रकारकी समत्वबुद्धिसे निष्काम कर्म करनेवाले पुरुष जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय परम पदको प्राप्त होते हैं (गीता २ । ४८ से ५१) परन्तु बुद्धिकी यह समता वैराग्य बिना नहीं होती, अतएव निष्काम कर्मीके लिये सबसे पहले वैराग्यकी परम आवश्यकता है। भगवान् कहते हैं—

> यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
> तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
> श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
> समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

'हे अर्जुन ! जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़से सर्वथा निकल जायगी, तब तुझे सुने हुए और सुननेके विषयोंमें वैराग्य होगा। एवं वैराग्यके द्वारा जब वह अनेक प्रकारकी बातोंके सुननेसे विचलित हुई बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें निश्चल होकर ठहर जायगी तब तुझे 'समत्वरूप योग'की प्राप्ति होगी।'

धन-कीर्त्ति, मान-बड़ाई, पद-गौरवकी सैकड़ों प्रकारकी आशा-आकांक्षाकी फांसियोंमें बंधे हुए विषयासक्त मनुष्य नश्वर जगत्के प्रापञ्चिक कार्योंमें संलग्न रहकर गीतासे इसका समर्थन करते हुए गीताको वैराग्यकी शिक्षासे शून्य बतलाते हैं, यही आश्चर्य है !

इसी प्रकार ज्ञानके साधनमें भी गीता वैराग्यकी आवश्यकता बतलाती है। 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' (१३ । ८) और 'वैराग्यं समुपाश्रितः' (१८ । ५२) से यह सिद्ध है। अवश्य ही गीता किसी आश्रमविशेष पर जोर नहीं देती। सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही वैराग्यकी सिद्धि होती है, गीता ऐसा नहीं कहती। परन्तु वैराग्य हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इस बातको गीता डङ्केकी चोट कहती है। छठे अध्यायमें गीता कहती है कि—जिनका मन वशमें नहीं है, उनके लिये योगकी प्राप्ति यानी परमात्माका मिलन अत्यन्त कठिन है। और वह मन वशमें होता है अभ्यास तथा वैराग्यसे। अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते। इस लोक और परलोकके भोगोंमें वैराग्य हुए बिना उनसे हट कर निश्चलरूपसे मन परमात्मामें नहीं लगेगा और परमात्मामें लगे बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

भक्तिके साधनमें तो भोगोंका त्याग सबसे पहले आवश्यक है, वहां तो सब ओरसे मन हटा कर सबकी आशा

छोड़कर 'मामेकं शरणं व्रज' के अवलम्बपर चलना है, अपना सारा मन प्रियतमके प्रति अर्पण कर देना है, समूचा हृदय-मन्दिर प्यारेके लिये खाली करके उसमें उसकी प्रतिष्ठा करनी है, और वह भी ऐसी कि रोम रोममें उसे रमा लेना है। गोपियां कहती हैं—

नाहिंन रह्यो मनमहं ठौर ।
नन्दनन्दन अछत उर बिच आनिये कत और ॥

'कहीं जगह नहीं रही, सब ओर मनमोहन समा रहा है।' जब ज्ञान-विज्ञानको ही स्थान नहीं है, तब भोगोंकी तो बात ही कौनसी है?—प्रेमी भक्त तो प्यारेके लिये सिर हाथमें लिये फिरता है—

जो सिर साटे हरि मिलैं, तो तेहि लीजे दौर ।

भोगोंकी तो यहां स्मृति ही नहीं है—

रमा-विलास राम अनुरागी, तजत वमन इव नर बड़भागी ।

इसीसे गीतामें भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ (१२।१७)

'जो भोगोंकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता, उनके नाशसे द्वेष नहीं करता, नाश हो जानेपर शोक नहीं करता और पुनः प्राप्तिके लिये कामना नहीं करता एवं जो शुभाशुभ किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे बड़ा प्यारा है।' क्यों न हो? यह तो वैराग्यका मूर्तिमान् स्वरूप है। 'सब तज हरि भज' का ज्वलन्त उदाहरण है। अतएव गीता वैराग्यकी शिक्षासे पूर्ण है। जो लोग वैराग्यकी आवश्यकता नहीं समझते, बिना ही वैराग्यके गीताका सार अर्थ समझना चाहते हैं और भोगोंमें पूरी आसक्ति बनायी रखनेकी इच्छा रखते हुए भी भगवान्में प्रेम होना चाहते हैं, वे न तो गीताका अर्थ ही समझ सकते हैं और न उन्हें भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति ही होती है, क्योंकि भोग और भगवान् दोनोंका प्रेम एक साथ नहीं रह सकता, हाँ, भोग उनकी पूजाकी सामग्रीके रूपमें उन्हें अर्पित होकर रह सकते हैं।

जहां राम तहां काम नहिं, जहां काम, नहिं राम ।
तुलसि कबहुं कि रहि सकै, रवि रजनी इक ठाम ॥

गीता और प्रसिद्ध सत्याग्रही थॉरो

(ले० श्री 'अनन्ताननय')

आज 'सत्याग्रह' शब्दसे सब परिचित हैं, परन्तु इस बातको बहुत कम लोग जानते होंगे कि वर्तमान युगमें सत्याग्रहका सर्व प्रथम प्रवर्त्तक कौन है। वह हैं महात्मा थारो। महात्मा गांधीने यह स्वीकार किया है कि उनके हृदयमें सत्याग्रहके भाव उत्पन्न होनेमें प्रधान कारण और आदर्श थारो ही हैं। थारो अमेरिकानिवासी थे और श्रीमद्भगवद्गीताके परम भक्त थे। इनके सम्बन्धमें यह कथा प्रसिद्ध है कि जब ये एकान्तसेवनके लिये अलग जङ्गलमें रहा करते थे, तब इनके प्रमुख शिष्य, अमेरिकाके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता एमरसन इनसे गीता आदिके अध्यात्म उपदेश ग्रहण करने जाया करते थे। एक दिन एमरसन इनकी कुटियाके पास पहुँचकर देखते हैं कि थारो एक चारपाई पर लेट रहे हैं और चारपाईके नीचे दो-तीन सांप और बिच्छू पड़े हैं। एमरसनको पास जानेकी हिम्मत न पड़ी। थोड़ी देर बाद जब सांप बिच्छू वहांसे हट गये और थारो जागे, तब एमरसनने उनके पास जाकर अभिवन्दनादि करनेके पश्चात् बड़े संकोचसे कहा कि 'भगवन्! आज्ञा हो तो एक बात कहूं' थारो बोले, खुशीसे कहो, संकोचकी कौन सी बात है? एमरसनने कहा, 'अभी जब आप चारपाई पर लेट रहे थे तब मैंने देखा कि कई जहरीले जानवर चारपाईके नीचे थे, मुझे यह भय हो रहा है कि उनसे कहीं आपको कोई कष्ट न पहुँच जाय। अतएव आज्ञा हो तो चारपाई दूसरी जगह बिछा दूं।'

इसपर महात्मा थारोने बड़े जोरसे हँसकर कहा कि 'एमरसन! भयकी कौन सी बात है? जब श्रीगीता माता मेरी रक्षा करनेवाली मौजूद है तब मुझे कोई भय नहीं है।' यह प्रसिद्ध है कि महात्मा थारो प्रतिदिन गीताका पाठ किया करते थे।

कृष्णद्वैपायन भगवान व्यासदेव ।

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः ।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान बादरायणः ॥

भगवान् व्यासदेव

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरोहरिः ।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ।।
नमस्ते भगवान् व्यास सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां मूर्तै सत्यवतीसुतः ।।
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे ।
नमो वै ब्रह्मविधये वाशिष्ठाय नमोनमः ।।

भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीकी महिमा कौन गा सकता है, सारे संसारका ज्ञान आज उन्हींके ज्ञानसे प्रकाशित है। वेदव्यासजी ज्ञानके असीम और अगाध समुद्र थे, विद्वत्ताकी पराकाष्ठा थे, कवित्वकी सीमा थे। संसारके सारे पदार्थ मानों व्यासकी कल्पनाके अंश हैं। जो कुछ त्रैलोक्यमें देखने सुनने और समझनेको मिलता है, वह सब व्यासके हृदयमें था। इससे परे जो कुछ है, वह भी व्यासके अन्तःस्तलमें था, व्यासके हृदय और वाणीका विकास ही समस्त जगत्‌का और उसके ज्ञानका प्रकाश और अवलम्बन है। व्यास सदृश अद्भुत महापुरुष जगत्‌के उपलब्ध इतिहासमें दूसरा कोई नहीं मिलता। जगत्‌की संस्कृतिने अबतक भगवान् व्यासकी समकक्षताका व्यक्ति उत्पन्न नहीं किया। व्यास व्यास ही थे। व्यासजीका जन्म द्वीपमें हुआ, इससे आपका नाम द्वैपायन है, शरीरका वर्ण श्याम था, इससे कृष्णद्वैपायन हो गये। वेदोंका विभाग किया, इससे वेदव्यास कहलाये। ब्रह्मसूत्र-की रचना भगवान् व्यासने ही की। महाभारत सदृश अलौकिक ग्रन्थका प्रणयन भगवान् व्यासने किया। अठारह पुराण और अनेक उपपुराण भगवान् व्यासने बनाये। भारतका इतिहास इस बातका साक्षी है। सम्भव है कि पुराणोंमें पीछेसे कुछ परिवर्तन हुआ हो, परन्तु उनकी मूल रचना बहुत ही पुरानी है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें पुराणोंका उल्लेख मिलता है जो ईसामसीहसे चारसौ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्तके समसामयिक थे। इससे पुराने ग्रन्थोंमें भी पुराणोंके प्रमाण मिलते हैं। आज सारा संसार व्यासके ज्ञान-प्रसादसे अपने अपने कर्तव्यका मार्ग खोज रहा है।

श्रीकृष्णके अवतार पर अविश्वास करनेवाले एक अंगरेज विद्वान् श्रीयुत जे० एन० फार्कुहर भगवान् व्यास पर मुग्ध होकर लिखते हैं—

"इसके रचयिता निःसन्देह ही एक उच्च एवं विस्तृत संस्कृतिके पुरुष थे। उन्हें अपने देशके धर्मशास्त्रका पूर्ण ज्ञान था। उनके विशाल हृदयमें भेद अथवा छिद्रान्वेषणके लिये स्थान न था। विकीर्ण तन्तुओंके भेदसे व्यस्त न हो-कर उनको व्यवस्थित करनेमें ही उनकी अधिक प्रवृत्ति रहती थी। प्रत्येक दार्शनिक पद्धतिने उनके सहानुभूति-पूर्ण हृदयमें स्थान पाया था तथा उनके भेद एवं भिन्नताकी अपेक्षा उनके महत्वने उनको अधिक आकर्षित किया। पर वे कोरे विद्वान् ही न थे, अत्यन्त श्रद्धालु भी थे। श्रीकृष्णो-पासनामें भी उनकी उतनी ही अचल श्रद्धा थी, जितनी आत्मज्ञानमें। वास्तवमें इन सब गुणोंके अद्भुत मिश्रणके कारण ही वे आधुनिक हिन्दू-धर्मकी इतनी उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट व्याख्या कर सके। क्योंकि प्रमुख प्रमुख सम्प्रदायोंके सिद्धान्त तथा प्राचीन ऋषियोंके विचारोंका मेल ही हिन्दू धर्म है। पर उनके बुद्धिकौशल बिना यह चमत्कार सर्वथा असम्भव था। काव्यशैलीकी शक्ति, सौन्दर्य एवं सूक्ष्मता तथा उसके विचारोंका गौरव जो किसी किसी स्थान पर तो अत्यन्त ही भव्य है, उनकी अनुपम विद्वत्ताका केवल एकदर्शी चित्र है। अन्तमें उनकी कल्पनाको व्यक्त करनेकी अतुल शक्ति, जिसके बिना कोई भी पूर्ण कवि नहीं हो सकता, बाह्य (Dramatic) न होकर आन्तरिक थी। जब युद्धस्थलमें सेनाएँ संघर्षणके लिये सन्नद्ध हों, उस समय एक वीर सैनिक आध्यात्मिक वादानुवाद आरम्भ करे, ऐसे विचित्र चित्रणका साधारण कविको स्वप्नमें भी भास नहीं हो सकता। फिर श्रीकृष्णके चित्रणमें तो इन्होंने अत्यन्त विलक्षण दक्षता दिखलायी है! एक अवतारको अपने विचार किस प्रकार प्रकट करने चाहिये इसकी इतनी सफलता-पूर्ण कल्पना करनेकी अन्य किसमें सामर्थ्य थी?"

गीता गीता गाय, जनम सो बीत्यो जाय है।
रीतो मत रह जाय, फिर दुख पावेगो 'राजिया' ।।

गीता और श्रीमद्भागवत

(ले०—सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार)

यह दोनों ही ग्रन्थ मुमुक्षुजनोंके लिये मोक्ष-मार्गके पथ-प्रदर्शक हैं। गीताजीमें जो रहस्य अपने एकान्त भक्त अर्जुनको, उस अर्जुनको जो कौरवोंके साथ युद्ध करना घोर पाप-कर्म समझकर उससे पराङ्मुख और खिन्नचित्त हो रहा था, संक्षिप्ततया समझाया गया है, उसी रहस्यको श्रीमद्भागवतमें अधिक विस्तारके साथ भिन्न भिन्न प्रसङ्गोंमें कई बार स्पष्ट किया गया है। गीताजीके महत्त्वके विषयमें —

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥'

यह कहा गया है। श्रीमद्भागवतके विषयमें भी—

'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥'

—यही कहा गया है। अर्थात् दोनों ही ग्रन्थ उपनिषदोंके सारभूत हैं। गीताजीका मुख्य उद्देश्य निष्काम कर्म, संसारके प्रपञ्चोंसे विरक्ति एवं भगवान्‌की अनन्य भक्तिका प्रतिपादन है। यही उद्देश्य श्रीमद्भागवतका भी है। गीताजीमें कहींसे भी किसी प्रकरणको उठा कर देखिये, फिर उसी विषयका विवेचन श्रीमद्भागवतमें देखिये, वही सिद्धान्त उपलब्ध होगा। यह बात इन दोनों ग्रन्थोंका सर्वदा मनन करनेवाले महात्माजनोंको अनुभवसिद्ध है। इसको स्पष्ट करनेके लिये दोनों ग्रन्थोंके एक दो नहीं, अत्यधिक अवतरण दिये जा सकते हैं। 'कल्याण'के भावुक पाठकोंके समक्ष हम इच्छा रहते हुए भी स्थान-सङ्कोचके कारण अधिक अवतरण देनेमें असक्त हैं। एक दो प्रकरणके अवतरणोंका दिक्-दर्शन-मात्र करा देते हैं।

श्रीभगवद्गीता और श्रीमद्भागवत दोनों ही वस्तुतः भक्तिप्रधान ग्रन्थ हैं। भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूप दर्शन कराके गीताके ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें जब मुमुक्षु-जनोंके अनुष्ठेय गीताशास्त्रके सारभूत सिद्धान्तका यह उपदेश दिया कि—

'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥'

'हे पाण्डव! जो पुरुष मेरी प्रीतिके लिये वेदविहित कर्म करता है अर्थात् परमेश्वरार्पण बुद्धिसे सारे विधिसंगत कर्म करता है, मुझे ही परम प्राप्तव्य निश्चित करता है अर्थात् स्वर्गादि नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा न करके मुझे ही सर्वस्व समझता है, अतएव मेरी प्राप्तिकी इच्छासे सर्व प्रकारसे मेरे भजनमें तत्पर रहता है, धन, पुत्र, कलत्रादिसे सङ्गरहित होकर प्राणीमात्रसे द्वेषभाव छोड़ देता है, वह मुझमें मिल जाता है।'

भगवान्‌के इस वाक्यमें अर्जुनके मनमें यह सन्देह हुआ कि, इसमें भगवान्‌ने 'मत्' शब्दका प्रयोग निर्गुण ब्रह्मके लिये किया है या सगुण ब्रह्मके लिये। क्योंकि गीताजीमें भगवान्‌ने निर्गुण और सगुण दोनोंके लिये ही 'अस्मत्' शब्दका प्रयोग किया है, जैसे—

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥'

इत्यादिमें 'मां' का प्रयोग निर्गुण ब्रह्मके लिये है और—

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥'

इत्यादिमें 'अहं' और 'मां' शब्दका प्रयोग सगुण स्वरूपके लिये किया है। अतएव अर्जुनने अपने इस सन्देहको मिटानेके लिये भगवान्‌से जिज्ञासा की कि—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥'

(गीता १२।१)

'भगवन्! इस प्रकार सर्वदा युक्त—निरन्तर एकाग्रचित्त होकर जो भक्तजन आपकी सगुणोपासना करते हैं, और जो विरक्तजन सर्व कर्मोंको त्यागकर अक्षर-सर्वोपाधिरहित निर्गुण, अतएव अव्यक्त सर्वेन्द्रियोंसे अगोचर, निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमें श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन है?' अर्जुनका अभिप्राय यह है कि मुझ मुमुक्षुको निर्गुण और सगुण ब्रह्ममें किसकी उपासना कर्तव्य है? अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने आज्ञा की है कि—

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥'(गीता १२-२)

'हे अर्जुन! मुझ वासुदेव परमेश्वर सर्वकल्याणगुण-निलय सगुण ब्रह्मकी एकाग्रचित्त होकर परम श्रद्धापूर्वक जो उपासना करते हैं, अर्थात् अन्य विषयोंसे पराङ्मुख होकर श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति द्वारा जो मेरी सेवा करते हैं, वे सबसे उत्तम योगी हैं। उन अपने भक्तोंको मैं सर्वोत्तम मानता हूँ।' और—

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता अ० १२। ३। ४। ५)

जो शम-दमादि साधनोंद्वारा सब इन्द्रियोंको अपने वशीभूत करके—अपने अपने विषयोंसे स्वकारणमें लीन करके, सर्वत्र समबुद्धि होकर—हर्ष-विषाद, राग-द्वेष-रहित और जीवमात्रके हितमें तत्पर रहते हुए अर्थात् 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' इस मन्त्रसे सर्वप्राणीमात्रको अभयदान देनेवाले-संन्यासको ग्रहण करनेवाले स्वयं ब्रह्मभूत होकर अनिर्देश्य (वाणीसे कथन न किये जानेवाले), अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य एवं कूटस्थ (सबमें अधिष्ठानरूपसे रहनेवाले), अचल और नित्य अक्षर—निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे भी प्राप्त तो मुझे ही होते हैं, किन्तु अव्यक्त अर्थात् निर्गुण ब्रह्मके ध्यानमें आसक्त रहनेवालों-को—सगुणोपासक भक्तोंकी अपेक्षा—अत्यन्त क्लेश होता है, क्योंकि देहधारी मनुष्योंको निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका मार्ग बड़ा कष्ट-साध्य है। निष्कर्ष यह है कि दोनों उपास-नाओंका यद्यपि भगवत्-प्राप्तिरूप फल एक ही है, तथापि निर्गुण उपासनामें प्रथम तो आत्मदर्शी गुरुकी शरणागति, फिर कर्म-संन्यास और वेदान्त-वाक्योंके निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा भ्रम-निराकरण आदि महान् कष्ट प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, किन्तु भक्तिमार्गके पथिकको इस प्रकारके किसी कष्टसाध्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं, केवल अनन्य भावसे भगवान्‌की शरण होना ही पर्याप्त है। भक्तिमार्गकी सुलभता दिखलाते हुए भगवान् आज्ञा करते हैं कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गी० १२। ६, ७)

हे पृथानन्दन! जो सब कर्मोंको मुझ सगुण ब्रह्म वासुदेवमें अर्पण करके मत्परायण होकर—मुझको ही अत्यन्त प्रेमास्पद जान कर, अनन्य योगसे अर्थात् मुझसे अन्य कुछ भी आलम्बन न मान कर केवल मदाश्रय होकर एकान्त-भक्ति-योगसे मुझ सकल-सौन्दर्य-निधान, आनन्द-घन-विग्रह मुरलीमनोहर श्रीनन्दनन्दन या धनुर्धर श्रीरघुनन्दन आदि सगुण रूपका अविच्छिन्न—धाराप्रवाह-रूपसे ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, उन अपने अनन्य भक्तोंका मैं इस मृत्युयुक्त दुस्तर संसाररूपी समुद्रसे बिना विलम्ब उद्धार कर देता हूँ। इसीलिये निर्गुणोपासकोंकी अपेक्षा सगुणोपासक भक्त श्रेष्ठ हैं।

गीताजीके उपर्युक्त सिद्धान्तको श्रीमद्भागवतमें भिन्न भिन्न प्रसङ्गोंमें विशदरूपसे समझाया गया है। तृतीय स्कन्धमें देवगणों द्वारा भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति की गयी है—

'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥'
तथापरे चात्मसमाधियोगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥

(अध्याय ५ श्लोक ४५-४६)

'हे देव! भक्ति-उद्रेकपूर्वक शुद्धान्तःकरणयुक्त जो आपके भक्त हैं, वे आपके कथामृत-पानसे वैराग्यके सारभूत ज्ञानको प्राप्त होकर जिस प्रकार अनायास—अनेक प्रकारके कष्टसाध्य साधनोंके बिना ही वैकुण्ठलोकको प्राप्त होते हैं, तथैव अन्य-निर्गुणोपासक आत्मज्ञानी महात्माजन भी समाधि लगा कर योगबल द्वारा बलवती मायाको जीत कर आपको ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन निर्गुणोपासक ब्रह्म ज्ञानियोंको जब उसके प्रयास—अनेक प्रकारके महान् कष्टसाध्य साधन निर्विघ्न सम्पन्न होते हैं, तब कहीं आपकी प्राप्ति होती है, परन्तु आपकी श्रवणादि भक्ति करनेवाले भक्त तादृश परिश्रमके बिना अनायास ही मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं।

फिर देखिये, महाराज पृथुको सनकादिके उपदेशमें भी यही सिद्धान्त कहा गया है—

'यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।

तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥'
(स्कं० ४ अ० २२ श्लो० ३९)

हे राजन् ! जिन भगवान्‌के चरणकमलदलकी कान्तिकी भक्ति अर्थात् शरणद्वारा तदीय भक्तजन जिस प्रकार अहङ्काररूप हृदयग्रन्थिको छुड़ाते हैं, उस प्रकार इन्द्रियोंको रोककर—समाधिस्थ होकर आत्मज्ञानी हृदय-ग्रन्थिको नहीं छुड़ा सकते, क्यों ? इसलिये कि वे रिक्तमति हैं—निर्विषयमति हैं, अतएव तू उन्हीं शरणागत-वत्सल भगवान् वासुदेवका भजन कर ।

फिर दशम स्कन्धमें ब्रह्मादि द्वारा की हुई गर्भगत भगवान् वसुदेवनन्दनकी स्तुतिमें भी इसी सिद्धान्तको कहा गया है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥
(अ० २ श्लो० ३२-३३)

'हे कमलनयन ! आपके चरणारविन्दोंकी भक्ति न करके जो अपरिपक्व निर्गुणोपासक अपनेको विमुक्त या आत्मज्ञानी माननेवाले हैं, वे अत्यन्त कष्ट पाकर, उच्च पदको प्राप्त होकर भी वहांसे गिर जाते हैं, क्योंकि उनका प्रेम आपके चरणारविन्दोंमें नहीं है । किन्तु हे माधव ! इस निर्गुणोपासकोंकी तरह आपके आपमें दृढ़ भक्ति करनेवाले भक्तजन कदापि पथ-भ्रष्ट नहीं होते, क्योंकि अपने भक्तोंकी आप स्वयं रक्षा करनेवाले हैं, अतएव वे निर्भय होकर किसीसे भी भय न मानकर विघ्नोंके मस्तकपर चरण रख कर विचरण करते हैं ।

अब श्रीमद्भागवतके अन्य प्रसङ्गोंके अधिक अवतरण न दिखाकर हम पाठकोंके सेवामें यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि श्रीमद्भागवतकी रचनाका मूल कारण ही गीताजीके इसी सिद्धान्तपर निर्भर है । श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें ही खिन्नचित्त वेदव्यासजीको नारदजीने गीताजीके इसी सिद्धान्तका उपदेश दिया है । गीताजीमें बोधव्य-श्रोता अर्जुन हैं, वही महारथी अर्जुन,—देवाधिदेव शूलपाणि भगवान् शङ्करको युद्धमें प्रसन्न करनेवाले अर्जुन—जो युद्धके लिये सुसज्जित अठारह अक्षौहिणी सेनाके ठीक युद्धके समय पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य और अत्यन्त निकट बन्धु एवं स्वजनोंके साथ युद्ध करनेसे विमुख होकर अशान्तचित्त हो रहे थे । देवर्षि नारदजीके उपदेशके बोधव्य हैं, भगवान् वेदव्यास,—वह वेदव्यास जिनका चित्त सत्तरह पुराण और महाभारत जैसे धर्मग्रन्थोंकी रचना करनेपर भी अशान्त हो रहा था । नारदजीने व्यासजीके प्रति भगवत्-चरित्रके वर्णन करनेका उपदेश देते हुए कहा है कि—

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥
(स्कं० १ अ० ५ श्लो० १२)

भगवन् ! काम्यकर्मोंकी तो बात ही क्या है, जो साधन और फलकालमें सर्वदा दुःखरूप हैं, किन्तु नैष्कर्म्य निरञ्जन ज्ञान अर्थात् निर्गुण ब्रह्मकी उपासना भी भगवान्‌की भक्ति बिना अत्यन्त शोभित नहीं होती है । इस प्रकार भक्तिकी महिमा वर्णन करके नारदजी वैसा ही कारण बताते हैं, जैसा कि गीताजीमें भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकोंमें व्याख्या किया है ।—

'विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभोरनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मनस्ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभो ॥
(स्कं० १ अ० ५ श्लो० १६)

अर्थात् निवृत्तिमार्गद्वारा अनन्तपार—निर्गुणब्रह्मसुखको कोई विरले ही विलक्षण अर्थात् समग्र साधन-सम्पन्न आत्मदर्शी महापुरुष प्राप्त कर सकते हैं । क्योंकि निर्गुणोपासनामें बड़ी भारी कठिनता है । किन्तु—

'त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥'
न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः ॥'
(स्कं० १ अ० ५ श्लो० १७-१९)

नित्य नैमित्तिक स्वधर्मानुष्ठानका अनादर करनेपर भी श्रीहरिके चरणारविन्दोंकी भक्ति करता हुआ भगवद्भक्त यदि परिपाकके प्रथम ही पथभ्रष्ट हो जाय या मर जाय तो जहां कहीं भी—नीच योनिमें भी प्राप्त हो जानेपर क्या उसका अकल्याण हो सकता है ? कदापि नहीं, और भगवद्भक्ति न करनेवाले केवल स्वधर्मनिष्ठोंको क्या कुछ प्राप्त हो सकता है, कुछ भी नहीं । हरिभक्तजन औरोंकी तरह कदाचित् कभी संसारचक्रमें नहीं पड़ सकता । भक्तिरसका रसिक हो जानेसे फिर—जन्मान्तरमें भी वह भगवान्‌के भजनको नहीं छोड़ता ।

समर शत्रु रथोत्थित धूल में दशदिशा परिपूरित होगई ।
रणकथा कुरुभू-धृतराष्ट्र से कह रहे अति सञ्जय शान्ति से ॥

फिर देखिये, इसी सिद्धान्तको एकादशमें वसुदेवनारद-संवादमें और भी स्पष्ट कर दिया है—

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान्हि तान्॥
यानास्थाय नरो राजन् प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥

(अ० २ श्लो० ३३-३४-३५)

इस संसारमें असत् देहादिमें आत्माभिमान माननेवाले उद्विग्न-भयभीत-बुद्धि मनुष्योंके लिये अच्युत भगवान्‌के पदारविन्दोंकी उपासना करना ही हम आत्यन्तिक क्षेम अर्थात् मुक्ति मानते हैं, जहां सब प्रकारके भयोंकी निवृत्ति है। जो उपाय भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये स्वयं गीताजीमें उपर्युक्त 'मत्कर्मकृन्मत्परमो' इत्यादि और श्रीमद्भागवतमें 'श्रद्धा मत्कथायान्तु शश्वद् मदनुकीर्तनात्' इत्यादि आज्ञा किये हैं, वे ही भागवत-धर्म हैं, जिनके अनुष्ठानसे अविद्वान् पुरुष भी सुखपूर्वक भगवत् प्राप्ति कर सकता है। भागवत-धर्मका अनुष्ठान करता हुआ पुरुष कभी प्रमादको प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् उपायान्तरनिष्ठोंकी तरह भागवत-धर्मनिष्ठ पुरुषोंका प्रमादसे कार्य प्रतिहत नहीं होता। अन्य उपायोंमें किञ्चित् चुकनेपर भी पतन है, किन्तु भगवद्भजनके मार्गमें आंख बन्द करके चलनेपर भी पतन नहीं है तथा किसी प्रकारके क्लेशसाध्य श्रुति-स्मृति-विहित कर्मानुष्ठानका बन्धन नहीं है।

इस छोटेसे लेखमें श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत-में प्रतिपादित केवल भक्ति और ज्ञान मार्गका दिक्-दर्शन मात्र कराया गया है। इससे स्पष्ट ज्ञात हो सकता है कि गीता और श्रीभागवतका सिद्धान्त इस विषयमें समान है। किन्तु इसके द्वारा यह न समझना चाहिये कि इन दोनों ग्रन्थोंमें केवल भक्ति और ज्ञानविषयक सिद्धान्तोंमें ही एकता है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रत्येक विषयमें इन दोनोंके सिद्धान्तोंमें समानता मिलती है। कहीं कहीं तो विभूतियोगकी भांति सारेका सारे प्रकरण और 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' की भांति श्लोक तक भी एकसे हैं, यदि हो सका तो अन्य विषयोंपर फिर कभी कुछ प्रकाश डाला जायगा।

धृतराष्ट्र

धृतराष्ट्र पाण्डुके बड़े भाई थे, परन्तु जन्मान्ध होनेके कारण राज्यका अधिकार पाण्डुको प्राप्त हुआ था। पाण्डुके मरनेपर धृतराष्ट्र-पुत्रोंने धीरे धीरे छल-कौशलसे पाण्डवोंको राहका भिखारी बनाकर राज्यपर अपना अधिकार जमा लिया। पाण्डवोंने अपना न्याय-स्वत्व पानेके लिये बहुत चेष्टा की, परन्तु दुर्योधनकी कुटिल नीतिके और पुत्रस्नेह-जन्य धृतराष्ट्रकी दुर्बलताके कारण पाण्डवोंकी सारी चेष्टाएँ विफल हुईं, यद्यपि धृतराष्ट्र बहुश्रुत और बुद्धिमान् थे। वे अपने राज्यकार्यमें भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर और सञ्जय जैसे सत्पुरुषोंकी सलाह लिया करते। श्रीकृष्णके प्रति भी उनका विश्वास कम नहीं था। सतीशिरोमणि, न्यायपरायणा गान्धारी देवी, जो पतिके अन्ध होनेके कारण आंखोंपर पट्टी बांधे रहती थी, अपने स्वामी धृतराष्ट्रको बहुत समझाया करती, इससे कभी कभी पाण्डवोंके अनुकूल होकर वह न्यायकी चेष्टा भी करते, परन्तु पुत्रस्नेहके प्रवाहमें सारा न्यायान्याय विवेक बह जाता था। दुर्योधनकी उदास-वाणी सुनकर धृतराष्ट्र तुरन्त मोहित हो जाते, यही कारण है कि इतना अनर्थ हो गया। यदि सत्पुरुषों और सती-साध्वी गान्धारीकी बात मानकर पहलेहीसे दुर्योधनके अन्यायपथमें धृतराष्ट्र बाधा देते तो महाभारतका इतिहास सम्भवतः दूसरी प्रकारसे लिखा जाता परन्तु होना यही था। कुछ लोगोंका कहना है धृतराष्ट्रके हृदयमें कुटिलता थी और उनके अन्तःकरणमें राज्यलोभ छिपा था, इसीसे वे अन्याय-का समर्थन करते या उसे नहीं रोकते थे परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं दीखती। मूलमें अन्दर कुटिलता नहीं थी, परन्तु पुत्रस्नेहके कारण उनकी बुद्धि मारी जाती थी।

कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान होनेपर भी धृतराष्ट्रका चित्त अत्यन्त अव्यवस्थित रहता था। विदुर और सञ्जयको धृतराष्ट्र प्रायः अपने पास रक्खा करते थे, विदुरके बिना तो इनका मन ही नहीं लगता, विदुरका बहुत सम्मान करते, परन्तु कभी कभी पुत्रस्नेहके कारण उनको भी नाराज कर दिया करते।

शारीरिक बल तो बड़ा भारी था, दुर्योधनकी मृत्युसे धृतराष्ट्रको बड़ा दुःख हुआ, शोकके कारण पुत्रहन्ता भीमके प्रति प्रतिहिंसा जाग उठी, अतएव भीमको मारनेके लिये अपने पास बुलाया। पाण्डवोंके आधार चतुर-चूडामणि श्रीकृष्णको धृतराष्ट्रके मनका भाव समझते देर नहीं लगी, धृतराष्ट्र भीमके लिये भुजा पसारे हुए थे, श्रीकृष्णने भीमकी लोहेकी विशाल मूर्ति मंगवाकर धृतराष्ट्रकी भुजाओंमें दे दी। धृतराष्ट्रने उसी क्षण दबाकर उसका चूर्ण कर दिया!

गीता और हिन्दू-संगठन

(ले०—पं० भीमसेनरामजी शर्मा बी० ए०, मंत्री पंजाब हिन्दू सभा)

साधारणतया गीता प्राणीमात्रकी सम्पत्ति है, हिन्दुओं-की तो वह सर्वस्व ही है। चार वेद छः शास्त्र, अठारह पुराणोंके होते हुए भी हिन्दूसमाज भिन्न भिन्न मालाके मणियोंकी नाई है। सांख्यवादी प्रकृति और पुरुषको अनादि और नाना मानते हैं। न्याय-वैशेषिकवादी परमाणुओं परही दृष्टि रखते हुए मोक्षकी इच्छा करते हैं। मीमांसक कर्मको ही मुक्तिका साधन मानते हैं। वेदान्त जीव-ब्रह्मकी एकतासे ही मुक्ति मिलनेका प्रतिपादन करता है। द्वैतवादी मुक्तिको स्वर्गवत् समझते हैं और अद्वैतवादी पुनरावर्तनके सिद्धान्तको नहीं मानते।

इस प्रकार हिन्दुओंके अनेक मत-मतान्तर हैं जो एक दूसरेके विरोधी हैं। शैव वैष्णवोंको अच्छा नहीं समझते, देवीके पुजारी भैरवके विरोधी हैं, चार्वाक बौद्धोंपर कटाक्ष करते हैं और बौद्ध वैदिक धर्मावलम्बियोंका उपहास करते हैं आधुनिक समयमें कई समाजोंकी स्थापना हुई है जो परस्पर द्वेषभाव रखती हैं। आर्यसमाजको देवसमाजके साथ विरोध है, सनातनधर्मके साथ देवसमाज एवं आर्यसमाज दोनोंका मतभेद है। इस प्रकार हिन्दुओंकी शृंखला टूट गयी है। हमारे मुसलमान भाई अपने अन्दर भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, किन्तु हम हिन्दू अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं। मुसलमान मसजिदोंमें पांच वार नमाजके बहाने मिलते हैं, ईसाई गिरजोंमें एक दूसरेके साथ मिलते हैं, किन्तु हिन्दू सदैव पृथक् पृथक् रहते हैं, सम्मिलित कार्यमें कोई भाग नहीं लेते।

वर्तमानमें यदि कोई एक ऐसी वस्तु है जिसे सभी लोग स्वीकार कर सकते हैं तो वह केवल गीताशास्त्र है। व्यास-मुनिने गीता-शास्त्रकी इस रूपमें रचनाकर हिन्दुओंको एक तन्तुमें बाँध दिया है। यदि हम वास्तवमें गीताकी ओर ध्यान दें तो आजसे ही संसारसे सारा वैर-विरोध लुप्त हो जाय।

आजकल केवल हिन्दुओंमें ही नहीं अपितु हिन्दू मुस-लमानोंमें भी परस्पर कलह विरोध बढ़ रहा है। भगवान् श्रीकृष्णने तो इसका प्रतिकार इस तरह बताया है,—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ (गी० ४।११)

यह श्लोक सुवर्णमय अक्षरोंमें लिखे जानेके योग्य है। भगवान्‌ने यहां तक बता दिया है कि 'जितने मार्ग दिखायी देते हैं सब मेरे ही हैं। जिस रास्तेसे लोग मुझसे मिलें मैं उनको उसी रास्तेसे ही मिलता हूँ।' मैं समझता हूँ कि इससे बढ़कर सहिष्णुता और किसी धर्ममें भी नहीं मिल सकती। वस्तुतः गीता द्वारा प्रतिपादित संगठनका यही आदर्श है। गीतामृत सम्पूर्ण प्राणीमात्रके लिये सुखका साधन है। आगे चलकर भगवान् श्रीकृष्ण नवें अध्यायके ३२ वें श्लोकमें बतलाते हैं कि—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्॥

हे भारत! मेरी शरणमें आये हुए स्त्री, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल आदि भी परमगतिको पा जाते हैं।

हिन्दुओंपर अबलाओं और नीचोंके साथ जो अत्याचार करनेका कटाक्ष किया जाता है, इसका इस श्लोकसे भली प्रकार परिहार हो जाता है। हिन्दू धर्मका द्वार प्राणी मात्रके लिये खुला है, जो चाहे बिना रोक टोक उसमें प्रविष्ट हो सकता है। यह भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश है। चतुर्थ अध्यायके १३ वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने बतलाया है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

गुण और कर्मोंके अनुसार मैंने चार जातियोंका संगठन किया है। तात्पर्य यह है कि हिन्दू समाजका संगठन केवल चार जातियों द्वारा ही किया गया है। यदि हमलोग गीताके उपदेशानुसार इसपर आचरण करें तो हिन्दू समाज चट्टानके सदृश दृढ़ हो सकता है। किन्तु आज इसका परि-णाम विपरीत देखते हैं। थोथी कट्टरता और झूठे ढकोसलोंके वशीभूत हुए लोग समाजके उज्ज्वल शरीरको कलंकित कर रहे हैं। हमारे लिये गीतामें संगठनकी पर्याप्त सामग्री है। हमारा धर्म है कि इसका यथोचित उपयोग करें। गीता शास्त्रने छठे अध्यायके २९ वें श्लोकमें यह स्पष्ट रूपसे उप-देश किया है कि—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

वही समदर्शी है जो सबको अपने अन्दर और अपने आपको सबमें व्यापक देखता है। यही संगठनकी पराकाष्ठा है। हिन्दू अपनी तू तू मैं मैं के कारण दूसरी जातियोंके उपहासमात्र हो रहे हैं। संगठनके प्रति उनकी उपेक्षा न केवल हिन्दू-संगठन प्रत्युत संसारभरके संगठनके मार्गमें प्रतिबन्धक स्वरूप है। यदि हम चाहते हैं कि हिन्दू सभ्यता दुनियामें फले फूले, यदि हम चाहते हैं कि हिन्दूधर्म फिरसे उच्च शिखरपर पहुँच जाय, यदि हम चाहते हैं कि हिन्दू-संगठनकी शंखध्वनि गगनमण्डलको निनादित करे और वास्तवमें हम यह चाहते हैं कि जातीय भेदोंसे रहित होकर हम भाई भाई बनजाँय तो हमारा यह धर्म है कि गीता शास्त्रका न केवल पाठही करें किन्तु उसका पूर्णतया श्रवण एवं मनन भी करें।

जिस प्रकार ईसाइयोंके लिये इंजील, मुसलमानोंके लिये कुरान तथा पारसियोंके लिये जिन्दावस्था माननीय है, उससे भी बढ़कर श्रीमद्भगवद्गीता प्रत्येक हिन्दूके लिये शिरोधार्य है। इसमें वेद-शास्त्रोंका सत निचोड़ कर रख दिया गया है या यों कहिये कि महान् सागरको एक छोटेसे गागरमें भर दिया है। सुनिये—

> सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
> पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, दुहनेवाले भगवान् नन्द-नन्दन श्यामसुन्दर हैं, एवं श्रेष्ठ बुद्धिवाला अर्जुन है उस गीतामृतरूपी दुग्धका पान करनेवाला उत्तम वत्स।

इसलिये हमारा भी यह धर्म है कि अर्जुनकी भांति अधिकारी बनकर गीतामृतरूपी दुग्धका पान करें। संशय विपर्ययको छोड़ कर, द्वैतका नाश कर, ऊँचनीच परित्याग कर तथा जातिके भेदसे रहित होकर एक स्थानपर हिलमिल कर बैठें एवं हिन्दू सभ्यता और हिन्दू जातिका गौरव बढ़ावें। हम हिन्दू कहलानेके योग्य तभी हो सकते हैं जब कि अपने अन्दर ईर्षा द्वेषको हटा कर उनके स्थानपर समता और तुष्टिका भाव स्थापित करेंगे।

महात्मा अर्जुन

—नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्

भगवान् नारायण और वागीश्वरी शारदाके साथ ही नरोत्तम नर अर्जुनको प्रणाम करके भगवान् व्यास ग्रन्थारम्भ करते हैं, इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि भक्तश्रेष्ठ वीरवर अर्जुन किस श्रेणीके महापुरुष थे। कौरवोंको समझाते हुए पितामह भीष्म कहते हैं—

> एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
> नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥
> (म० उद्यो० ४९।२०)

श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर हैं, एक ही सत्त्व दो रूपमें प्रकट हुए हैं। इसी प्रकार सञ्जयके वचन हैं—

> अर्जुनो वासुदेवश्च धन्विनौ परमार्चितौ।
> कामादन्यत्र संभूतौ सर्वभावाय संमितौ॥
> (म० उद्यो० ६८।१)

धनुर्धारी और परम पूज्य अर्जुन तथा वासुदेव दोनों ही ब्रह्मरूपसे समान हैं। साक्षात् ब्रह्मरूप हैं, वे दोनों अपनी इच्छा से ही प्रकट हुए हैं। अधिक क्या, गीतामें भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे 'पाण्डवानां धनञ्जयः' कहकर अर्जुनको अपना स्वरूप घोषित किया है। अतएव अर्जुनकी महिमा क्या कही जाय। यह सब प्रसंग देखनेपर यही मालूम होता है कि अर्जुनको रणक्षेत्रमें यथार्थमें कोई मोह नहीं हुआ था। भगवान्ने मायासे अपने ही एक अङ्ग अर्जुनको निमित्त बनाकर उनके बहाने जगत्को महान् अमर सन्देश सुनाया। भगवान्की विश्वलीलामें चुने हुए परम पात्र भगवान्के अपने ही खास अङ्ग होनेसे अर्जुन भगवान् व्यास से लेकर सारे जगत्के वन्दनीय हैं। आज अर्जुनरूपी वत्सके प्रतापसे ही गीतारूपी दुग्धामृत सुधी जनोंको प्राप्त हो रहा है। यह तो उनके आध्यात्मिक भगवत्स्वरूपकी बात हुई। इसके अतिरिक्त अर्जुनके दो स्वरूप और हैं एक महान् श्रद्धालु अनन्यशरण भगवद्भक्त और दूसरा सत्य-न्याय-परायण, सदाचारी वीरश्रेष्ठ। दोनों ही बातोंमें अर्जुन बहुत आगे बढ़े हुए थे। भक्तिका तो इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि जिस महान् गीताशास्त्रके अध्ययन और उपदेशसे असंख्य प्राणी भवसागरको गोष्पदवत् लांघ गये, जिस गीताशास्त्रके एक एक शब्दपर सारा विश्व चकित दृष्टि और विस्मित हृदयसे विचार कर आनन्दाम्बुधिमें डूबा आ रहा है, जो गीताशास्त्र संसार-त्यागी विरक्त संन्यासीसे लेकर

राज्यप्रपञ्चमें लगे हुए कर्मी और घर परिवारके पालनमें फँसे हुए संसारी जीवों तक सबके लिये समान पथप्रदर्शक और मुक्तिदाता है, उस गीताशास्त्रका सर्वप्रथम अवतार अर्जुनके लिये ही हुआ। इसके अतिरिक्त स्वयं चक्रपाणिका चाबुक और लगाम हाथमें लेकर 'तोत्रवेत्रैकपाणि' होना, जयद्रथको मारनेके समय, द्वारिकामें ब्राह्मणके बालककी रक्षाके समय, सुधन्वाके सामने, वीरश्रेष्ठ द्रोण और कर्णके घातक अस्त्रप्रहारके समय भगवान्‌का अर्जुनको बचाना, गाण्डीव-निन्दापर धर्मराजकी हत्यासे बचाना, और छोटे बड़े सभी संकटोंके अवसरोंमें छायाकी तरह भगवान्‌का उनके साथ रहना उनकी अनन्य भक्ति और शरणागतिको प्रकट करता है, जिससे भगवानको अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार ऐसा करना पड़ा। स्थानाभावसे विशेष उदाहरण नहीं दिये जा सकते, परन्तु भगवान् अपनी अलौकिक शक्तिसे अर्जुनकी किस तरह रक्षा करते थे इस बातपर एक ही उदाहरण दिया जाता है। युद्ध समाप्त होनेके बाद जब विजयी पाण्डव शिविरमें आकर अपने अपने रथोंसे उतरे उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा, 'हे अर्जुन! तुम अपने गाण्डीव धनुष और दोनों अक्षय तूणीरोंको लेकर पहले रथसे उतर जाओ, मैं पीछे उतरूंगा। मेरे कथनानुसार करनेमें ही तुम्हारा कल्याण है।' अर्जुन भगवान्‌को मामूली सारथि तो मानते ही नहीं थे, जो पहले उतरनेमें अपमान समझते, उनकी दृष्टिमें तो भगवान् परम गुरु थे। अर्जुन उतर पड़े, तदनन्तर सर्वभूतेश्वर भगवान् उतरे, उनके उतरते ही ध्वजापर बैठा हुआ दिव्य वानर अन्तर्धान हो गया और घोड़ों समेत दिव्य रथसे अग्निकी लाल लपटें निकलने लगीं तथा देखते ही देखते सारा रथ जलकर भस्म हो गया। अर्जुनके आश्चर्य और विनीत भावसे इसका कारण पूछनेपर भगवान्‌ने कहा 'भाई! यह रथ द्रोण कर्णादिके दिव्यास्त्रोंसे पहले ही जल गया था. परन्तु मेरे बैठे रहनेके कारण यह काम दे रहा था। आज इस रथका कार्य पूरा होते ही मैं उतर पड़ा और मेरे उतरते ही रथ खाक हो गया। तुम पहले न उतरते तो तुम्हारी भी यही दशा होती।

जाको राखै साइयां मारि सकै ना कोय।
बाल न बांको करि सकै जो जग बैरी होय॥

सत्य, सदाचार, प्रजापालन और वीरतामें अर्जुन एक ही थे। स्वर्गमें उर्वशीका शाप सह लिया, परन्तु मनको तनिक भी डिगने नहीं दिया। गृहस्थमें रहकर भी अर्जुन इन्द्रियोंपर विजयी होनेके कारण शास्त्रीय रीतिसे ब्रह्मचारी ही थे। ब्रह्मचर्य, सत्य और सदाचारके कारण ही इनमें ब्रह्मास्त्र लौटानेकी शक्ति थी। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रको व्यर्थ करनेके लिये अर्जुनके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोग होनेपर जब दोनों अस्त्रोंके बीचमें भिड़ जानेसे जगत्‌में प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया तब दिव्य ऋषियोंने प्रकट होकर अर्जुनसे ब्रह्मास्त्र लौटानेके लिये अनुरोध किया। अर्जुनने अपने नाशकी कुछ भी परवा न करके जगत्‌की हितकामनासे तुरन्त ब्रह्मास्त्र लौटा लिया। अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र नहीं लौटा सके, जो उत्तराके गर्भमें परीक्षितको मारनेके लिये गया, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे परीक्षितकी रक्षा हो गयी। ब्रह्मास्त्र लौटा लेनेपर अर्जुनके लिये महर्षि वेदव्यासने कहा कि, 'तीनों लोकोंमें एक भी ऐसा पुरुष नहीं है जो इस अस्त्रका उपसंहार कर सके, स्वयं इन्द्र भी नहीं कर सकते। चरित्रहीन पुरुष तो इस अस्त्रका प्रयोग ही नहीं कर सकते। ब्रह्मचारी भी उपसंहार नहीं कर सकते। अर्जुन ब्रह्मचारी, सत्यव्रती, शूरवीर और गुरुकी आज्ञाका पालन करनेवाला है, इसीसे यह ऐसा कर सका है।'

गोरक्षाके लिये घरका नियम तोड़कर गायोंको छुड़ाना और नियम तोड़नेके अपराधमें सत्यकी रक्षाके लिये मांगकर बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार करना अर्जुनका ही काम था। रणभूमिमें तो शिवजी तकको अर्जुनने छका दिया, विराट्‌के यहां अकेले वीरने समस्त कौरव वीरोंको व्याकुल करके जीत लिया।

इन्हीं सब गुणोंसे अर्जुन मूर्तिमान धर्मके स्वरूप थे। जहां धर्म है, वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहां श्रीकृष्ण हैं वहीं जय है।

यतो धर्मस्ततो कृष्णः यतो कृष्णस्ततो जयः।

अथवा जो श्रीकृष्णके आश्रित हैं, वहीं श्रीकृष्ण हैं, श्रीकृष्ण ही समस्त धर्मोंके आश्रय हैं, अतएव वहीं विजय है।

यतो कृष्णस्ततो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।

अर्जुनके समान आश्रित कौन होगा, जो घोषणा करते हैं।*

शिष्यस्तेहं
त्वां प्रपन्नम्
करिष्ये वचनं तव

* अर्जुनकी सचित्र संक्षिप्त सुन्दर जीवनी कल्याणके तीसरे वर्षके प्रथमांक भक्तांकमें प्रकाशित हो चुकी है।

श्रीसिंह श्यामा, ढाका।

श्रीशंकराचार्यजी (डा० कुर्तकोटि)।

श्रीगोविन्द रामचन्द्र मोघे।

श्रीविष्णु बुवा जोग।

गोस्वामी तुलसीदासजी ।
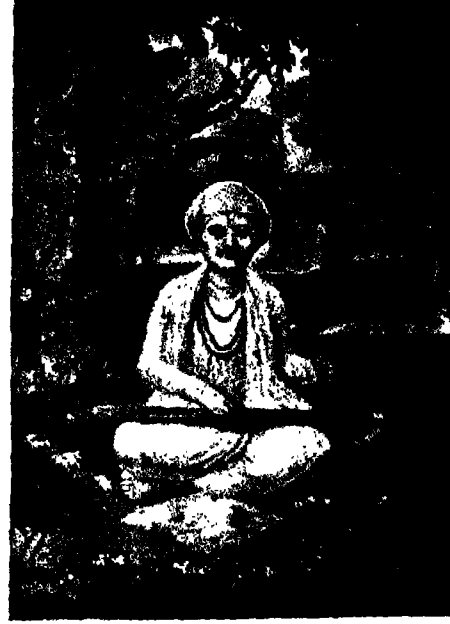
साधु तुकारामजी ।

श्रीकृष्णप्रेमजी वैरागी ।

पं० रामचन्द्रजी भट्ट चक्रवर्ती ।

गीता और अवतारवाद

(लेखक-भक्तवर श्रीकृष्णप्रेमजी वैरागी)

श्रीमद्भगवद्गीता न तो कोरे तत्त्वज्ञानका ग्रन्थ है और न उसमें किसी खास ऋषि अथवा सम्प्रदायकी शिक्षाओंका ही प्रतिपादन है। यह तो स्वयं परमेश्वर, नित्य अजन्मा नारायणका गुह्य उपदेश है जो उन्होंने द्वापर तथा कलियुगके सन्धि-कालमें भक्तोंको प्रेमका प्रतिदान करने तथा पृथ्वीको आसुरी राजाओंके भारसे मुक्त करनेके लिये पूर्ण अवतार धारण करनेपर अपने निर्वाचित परम सखा (अर्जुन) के प्रति दिया था। अतः इस गीताका उपयुक्त बोध श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध जोड़े बिना नहीं हो सकता, जिन्होंने कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें इसका उपदेश किया था, तथापि आजकल यह कौतूहल देखनेमें आता है कि कुछ लोग श्रीकृष्णको न मानकर गीतामें विश्वास रखनेका दावा करते हैं। पर यह दृष्टिकोण सर्वथा असङ्गत है क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ही गीताके हृदय तथा उसमें प्रतिपादित योगके लक्ष्य हैं। अतएव यदि गीताको उचित रूपसे ग्रहण करना है तो यह परम आवश्यक है कि उनके (श्रीकृष्ण) यथार्थ स्वरूपको पहले जान लिया जाय।

संसारके इतिहासमें ईश्वरके समय समय पर मानव-शरीरमें प्रकट होनेकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं पर उनके सम्बन्धमें सन्देह करना तथा अवतारवादके सिद्धान्तको हिन्दूधर्मका अन्धविश्वास मानना-जिससे हिन्दूधर्मको मुक्त होना चाहिये- आधुनिक उच्च शिक्षा तथा शीलका एक प्रधान लक्ष्य हो गया है। इस मनोवृत्तिका प्रधान कारण ईसाई पादरियोंका अनवरत प्रचार प्रतीत होता है, जिन्होंने इस सिद्धान्तकी सर्वदा खिल्ली उड़ाई है। ईश्वर कभी मानव-शरीर धारण करें, यह बात उनकी बुद्धिमें सर्वथा असंगत प्रतीत होती है। वे प्रसन्नतापूर्वक ऐसे विचार रख सकते हैं परन्तु यदि वे ईसामसीहकी अवतारके रूपमें उपासना करना बन्द करदें तो कदाचित् उनकी दलीलें अधिक विश्वास योग्य हो-सकती हैं।

ईसाई पादरियों तथा उनके शिष्योंके अतिरिक्त कुछ और भी आधुनिक सम्प्रदाय हैं जो अवतारोंको श्रुतिविरुद्ध मानते हैं और कुछ असंगत रूपसे वेदोंके प्रति श्रद्धा प्रकट करनेके हेतु पुराणोंको घृणाकी दृष्टिसे देखना आवश्यक

गीता अमरफल है

सारे संसारके साहित्यमें गीताके समान कोई ग्रन्थ नहीं है,'''गीता हमारे ग्रन्थोंमें एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है''''''दुखी आत्माको शान्ति पहुँचानेवाला, आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी पहचान करा देनेवाला और संक्षेपमें चराचर जगत्के गूढ़ तत्त्वोंको समझा देनेवाला गीताके समान कोई भी ग्रन्थ सम्पूर्ण विश्वकी किसी भी भाषामें नहीं है।'

वर्ण, आश्रम, जाति, देश, स्त्री या शूद्रादिका कोई भी भेद न रखकर सबके लिये एकसी सद्गतिका बोध करानेवाला, दूसरे धर्म-ग्रन्थोंके प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करनेवाला यह ज्ञान भक्ति और कर्मयुक्त गीता-ग्रन्थ सनातन वैदिकधर्मरूपी विशाल वृक्षका एक अत्यन्त मधुर और अमृतपदकी प्राप्ति करा देनेवाला अमर फल है।

हिन्दू-धर्म और नीतिशास्त्रके मूल तत्त्व जिन्हें जानने हों, उन्हें इस अपूर्व ग्रन्थका अवश्य और सबसे पहले अध्ययन करना चाहिये। कारण योग, सांख्य, न्याय, मीमांसा, उपनिषद्, और वेदान्त आदिके रूपमें क्षराक्षर सृष्टि तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानपर विचार करनेवाले प्राचीन शास्त्रोंके यथासाध्य पूर्णावस्थाको पहुँच चुकनेके बाद वैदिक धर्मका जिस ज्ञानमूलक, भक्तिप्रधान और कर्मयोगपरायण स्वरूप बना और जो स्वरूप वर्तमान प्रचलित वैदिक धर्मका मूलरूप है, उसी स्वरूपका इस भगवद्गीतामें प्रतिपादन किया गया है। इसीलिये यह कहा जा सकता है कि हिन्दूधर्मके सारे तत्त्वोंको संक्षेपमें और निःसन्दिग्धरूपसे समझानेवाला गीता सदृश दूसरा कोई भी ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मयमें नहीं है। —लोकमान्य तिलक

समझते हैं। उनका अवतारोंके प्रति मुख्य विरोध यह जान पड़ता है कि श्रुतिके अनुसार ईश्वर अजन्मा है और इस लिये यह सर्वथा असम्भव है कि उसने मथुरा अथवा अयोध्यामें जन्म लिया हो। इस दलीलके विरोधमें न तो मैं कोई लम्बी तथा गहन तर्क उपस्थित करना चाहता हूँ और न बहुतसे शास्त्रोंके ही प्रमाण देनेका विचार करता हूं। प्रथम तो यह दलील इतनी बालोचित है कि इसके प्रतिरोधकी कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती; दूसरे शास्त्रोंके प्रमाण कदाचित् ही उन लोगोंके हृदयमें विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं जिनको पहलेसे ही विश्वास नहीं है क्योंकि ढूंढ़ने पर शास्त्रोंके प्रमाण किसी भी बातकी पुष्टि करनेके लिये मिल सकते हैं। अतः मैं केवल एक साधारणसी दलील दूंगा जो सर्वथा पर्याप्त होगी। यह सर्वथा सत्य है कि श्रुति ईश्वरको अजन्मा मानती है किन्तु वह उसी प्रकारसे आत्माको भी तो अजन्मा मानती है।

'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।'

'यह अजन्मा नित्य शाश्वत और पुरातन आत्मा है, जो शरीरके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता।'

इस प्रकार कठोपनिषद्में आत्माको अजन्मा कहा है (गीतामें भी यही कहा है) और वस्तुतः अपने असली रूपमें वह अजन्मा है भी। तो भी यह ध्रुव सत्य है, इसमें किसीको भी सन्देह नहीं हो सकता कि आत्मा हमारे शरीरोंके अन्दर जन्म ग्रहण करता हुआ सा प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वरको भी अजन्मा कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि समय समय पर उसका शरीर धारण करना न माना जाय। यदि अद्वैतवादके उत्कट अनुयायी हद हैं तब तो उनको किसी भी सम्बन्धमें कुछ भी नहीं बोलना चाहिये क्योंकि पूर्ण ब्रह्मज्ञानकी दृष्टिसे तो अन्तमें कोई भी कथन सत्य नहीं है।

स एष नेति नेत्यात्मा

शेषमें तो आत्माके सम्बन्धमें केवल 'नेति, नेति' ही रह जाता है, पर जबतक हम स्वयं अपने जन्म-मरणका अनुभव करते हैं तबतक हमारा अवतारोंकी सम्भावनाके विरुद्ध श्रुतिका प्रमाण देना नितान्त बालोचित तथा हास्यास्पद कार्य है।

कुछ ऐसे भी प्राणी हैं जो इससे भी आगे बढ़ते हैं, वे कहते हैं कि 'श्रुति कुछ भी कहे अथवा न कहे पर यह सम्भव नहीं कि ईश्वरने कभी मानवशरीर धारण किया हो। वे पूछते हैं कि सर्वव्यापक और चेतन परमात्माके लिये यह कैसे सम्भव है कि वह एक जड़ शरीरमें सीमाबद्ध हो जाय?' यह सत्य है कि हम इतने अनभिज्ञ हैं कि इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकते पर जगत्में ऐसी बहुत सी बातें हैं जो निश्चय ही होती हैं किन्तु हम उनकी व्याख्या नहीं कर सकते। वास्तवमें एक सम्पूर्णतः जड़वादी ही इस कठिनाईको अवतारोंकी सम्भावनाके विरुद्ध दलीलरूपमें पेश कर सकता है क्योंकि अपनी आत्मा और शरीरका सम्बन्ध बतानेमें भी तो यही अड़चन उपस्थित होती है। जीव चेतन है तथा शरीर जड़ है तब यह कैसे सम्भव है कि आत्माका शरीरसे कोई सम्बन्ध हो सकता है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका बड़ेसे बड़े पाश्चात्य तत्त्वज्ञ भी कोई सर्वथा सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सके हैं किन्तु तब भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि, पूर्ण ब्रह्मज्ञानकी स्थितिको छोड़कर, हमारी आत्माएँ शरीरके साथ सम्बन्ध रखती हैं। इन विषयोंके सम्बन्धमें सम्भव असम्भवका विवाद करना सर्वथा हानिकारक है। हो सकता है कि हमारी दलीलें बहुत मजबूत एवं युक्तियुक्त हों, पर यह हम निश्चितरूपसे कभी नहीं जान सकते कि जिन प्रतिज्ञाओं (Premises)को लेकर हम तर्क आरम्भ करते हैं, वे सर्वथा निर्दोष हैं। प्रतिज्ञाओं (Premises) का कोई भी दोष सारे विवादक्रमको दूषित कर सकता है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, अतः यह मानना कि वह मनुष्य शरीरमें अवतरित नहीं हो सकते, उनकी शक्तिको सीमाबद्ध करना है तथा उन्हींके अपने विश्वमें उनका प्रवेश रोकना है।

वस्तुतः अवतारोंकी सम्भावनाके विपक्षमें ऐसी कोई भी दलील नहीं हो सकती जिसका प्रयोग उसीरूपमें आत्माके जन्म लेनेकी सम्भावनाके विरोधमें न किया जा सके।

'इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

'आरम्भमें केवल एक ब्रह्म ही था'

'तदैक्षत बहु स्याम्'

तत्पश्चात् अपनी ही मायासे अपनेको सीमित करके वह अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ जिससे यह जगत् उत्पन्न हो गया। (माया भगवान्की सीमित करनेवाली शक्तिका नाम है:— मीयते अनया माया) अतएव यह स्पष्ट है कि प्रत्येक जीव परमात्माका एक अंश होनेके कारण, एक तरहसे हम सभी अवतार हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ (गी० १५।७)

'इस जीवलोकमें मेरा ही सनातन अंश जीवात्मा बन कर प्रकृतिमें स्थित हुई मनसहित पांचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है।'

श्रीमद्भागवतमें तो श्रीगंगाजीके रेणु-कणोंके समान अवतारोंको अनन्त कहा है। आत्माका सम्बन्ध हमारे शरीरसे स्वयं उसीकी (परमात्मा) इच्छासे हुआ है एवं उसीकी इच्छासे बना रहता है। इस दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक पशु, घासकी प्रत्येक पत्ती, तथा प्रत्येक पत्थर एक एक अवतार है क्योंकि सब उसी नित्य नारायणसे उत्पन्न हुए हैं अथवा उसीके स्वरूप हैं। जहां कहीं हम देखते हैं तथा जिस किसीसे हम मिलते हैं, चाहे वह राजा हो या रंक, सन्त हो या पापी सभी उस एक परमात्माके भिन्न भिन्न रूप हैं। और वही अनन्त वेषोंमें अपनी लीलाका आनन्द ले रहा है।

फिर भी कमसे कम मानव-दृष्टिसे जीव और अवतारमें एक महान् अन्तर है। भेदका अभाव तो साक्षात्कार हो जाने पर ही होना है। हम अद्वैत सम्बन्धी चाहे जितनी लम्बी चौड़ी बातें करें, पर आचरणमें हम सभी निश्चय ही द्वैत हैं। जबतक हम अपने आपको खाता हुआ, सोता हुआ, चलता हुआ, तथा बात करता हुआ मानते हैं तबतक हम अवश्य ही द्वैत हैं और हमारा यह कर्तव्य ही नहीं किन्तु विशेषाधिकार है, कि हम श्रीकृष्णकी उपासना करें।

अतएव उन सामान्य रूपोंमें जो प्रतिदिन देखनेमें आते हैं तथा उन दिव्य स्वरूपोंमें—जो स्वाभाविक ही अवतार माने जाते हैं और पूजे जाते हैं—जो अन्तर है उसके महत्व-को कम करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। उनमें जो भेद है, वह इतना वास्तविक है कि जितना जगत्‌की कोई भी दूसरी वस्तुमें होता है। वह भेद केवल उस सिद्धके लिये नहीं रहता, जिसकी चेतना उस परमात्माकी चेतनामें विलीन हो जाती है। वह अन्तर यह है कि जीव तो मायाके वशमें है, पर अवतार मायाको वशमें रखता है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ गी० ४।६)

'मैं अजन्मा और अपरिणामी तथा सब प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे अपनी विचित्र मायाशक्तिके द्वारा प्रकट होता हूं।'

जीव मायाके नियन्त्रणमें रहता है।

भूतग्राममिमं कृत्स्नं अवशं प्रकृतेर्वशात् (गी० ९।८)

'इस परतन्त्र हुए सम्पूर्ण भूत-समुदायको मैं प्रकृति-द्वारा रचता हूं।'

परन्तु अवतार इस प्रकार अधीन नहीं है। प्रकृति उनकी प्रकृति है और माया उनकी माया है। वह दोनोंके ऊपर नियन्त्रण करते हैं। यही कारण है कि वह, जब उनकी इच्छा होती है, प्रकृतिके साधारण नियमोंको ताकमें रख सकते हैं, और ऐसा चमत्कार कर सकते हैं जो साधारण जीवकी शक्तिके परे है। बिना नायकका समूह कुछ भी नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें लोगोंके विचार भिन्न भिन्न होनेसे आपस-में संघर्षण होने लगता है। पर नायकके आते ही जादूकी तरह सारा झुण्ड एक सेनाके रूपमें परिणत हो जाता है। उसकी बिखरी हुई शक्तियां एकत्रित हो जाती हैं और जो कार्य पहले उसके लिये सर्वथा असम्भव था उसीमें वह सफल हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृति भी अपने स्वामी-को पहचानती है और अविलम्ब उसकी आज्ञा पालन करती है। प्रकृतिकी शक्तियां आपसमें संघर्षण करना छोड़-कर समन्वयके एक सूत्रमें ग्रन्थित होकर कार्य करने लगती हैं जिससे भगवान्‌के लिये असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

कभी कभी ऐसा भी कहा जाता है कि एक मनुष्य जिसने अपनी चेतनाको ईश्वरकी चेतनामें मिला दिया है और इस तरहसे जिसे अपने आत्माका ज्ञान हो गया है अर्थात् जिसे साक्षात्कार हो गया है, वही अवतार है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। (७।१९)

अनेक जन्मोंकी चेष्टा तथा साधनाके अनन्तर मनुष्य ईश्वरके साथ एकता प्राप्त करता है। कुछ लोगोंका कहना है कि अवतारवादका वास्तविक अर्थ यही है, ईश्वरके साथ एकता हो जानेके कारण उस मनुष्य और ईश्वरमें कोई भेद नहीं रहता। वह जगत्‌में केवल लोकसंग्रहके लिये ही रहता है। वह मायाको जीतकर अपने वास्तविक स्वरूपको जान चुका है, जिसकी परमात्माके साथ अभिन्नता है। पर मेरे मनमें यद्यपि भेद बहुत सूक्ष्म रह जाता है तो भी उसकी स्थिति सर्वथा अवतारकी स्थिति जैसी नहीं होती। एक मनुष्यत्वसे ईश्वरत्व प्राप्त करता है, दूसरा ईश्वरत्वसे 'लोकदृष्टिमें' मनुष्यत्व धारण करता है। जीवन्मुक्तके पीछे जन्मोंकी एक लम्बी श्रृंखला रहती है जिनमें वह मायाके वशमें रह चुका है तथा जिनमें उसने शनैः शनैः उन्नति करके अपनी वर्तमान स्थिति प्राप्त की है, यद्यपि अवतारके भी बहुतसे पिछले जन्म होते हैं।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ (४।५)

'हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुतसे जन्म हो चुके हैं। हे परन्तप ! उन सबको तू नहीं जानता है, पर मैं जानता हूं।' पर ईश्वरके जन्म वैसे नहीं होते, जैसे जीवन्मुक्तके पिछले जन्म होते हैं। अवतारके पिछले जन्म भी वर्तमान जन्मके समान जगत्के कल्याणार्थ ही धारण किये गये थे।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (गीता४-८)

'साधु पुरुषोंके उद्धार दुष्टोंके संहार और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग युगमें प्रकट होता हूं।' उन जन्मोंमें भी वह (अवतार) मायाका अभिज्ञ स्वामी था। उनके पिछले जन्मोंका यही अन्तर अवतार तथा जीवन्मुक्तमें प्रधान भेद है। अतः यह ज्ञात होगया कि जीवन्मुक्त यद्यपि देखनेमें अवतारके समान ही जान पड़ता है तथा मानव दृष्टिसे उनमें कोई भिन्नता भी नहीं प्रतीत होती तथापि उनमें भेद है और जबतक हमारे मनमें अन्य किसी प्रकारका भी भेदभाव रहता है, तबतक हमें उस भेदको कदापि न भूलना चाहिये। यह सत्य है कि जीवन्मुक्त तथा अवतारकी आत्मामें कोई अन्तर नहीं है, परन्तु इस तरह तो घृणितसे घृणित पापीके आत्माका भी अवतारके आत्मासे कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि आत्मा तो सबके अन्दर एक ही है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (गी० १०।२०)

'हे गुडाकेश मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूं' आत्मा अपने नित्य आनन्दमें सर्वदा मग्न रहता है और जैसे घड़े अथवा वर्तनके सीमित होनेके कारण आकाश सीमाबद्ध नहीं होता उसी प्रकार उपाधिकी भिन्नता आत्मामें कोई बाधा नहीं पहुंचा सकती। जीवोंमें भेद केवल शरीर का ही होता है (शरीरका अर्थ निश्चयही अन्तःकरण, इन्द्रियों तथा स्थूल शरीरसे बनी हुई सारी उपाधिका है)। अतएव यदि हम अवतार तथा जीवन्मुक्तके भेदको पूर्णतया समझना चाहें तो हमको उपाधिपर ही पूर्ण ध्यान देना चाहिये।

जीवन्मुक्तकी उपाधि उसके पूर्वकर्मोंका फल है तथा अविद्या या मायाका अंश है। परन्तु अवतारकी उपाधि उसकी तरह पूर्व कर्मोंका फल नहीं है और वह स्वयं भगवान्के स्वतन्त्र नियन्त्रणमें है। कभी कभी कुछ कालतक अवतार अपने ईश्वरत्वसे अनभिज्ञ जान पड़ते हैं, जैसा भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा भगवान् श्रीबुद्धकी बाल्यावस्थासे प्रकट होता है। कदाचित् ऐसाही होता भी हो क्योंकि पूर्णावतार श्रीकृष्णही एक ऐसे हुए हैं जिन्हें आरम्भसे ही अपनी दिव्यता (ईश्वरत्व) का प्रत्यक्ष ज्ञान था। फिर भी यह कृत्रिम अनभिज्ञता साधारण जीवकी अनभिज्ञताके सदृश नहीं होती; यद्यपि अवतार अपनी पूर्ण दिव्यतासे अभिज्ञ भले ही न जान पड़े पर उसके कर्म सर्वथा दिव्य, मोहरहित तथा सर्वथा लोकहितार्थ होते हैं। यही कारण है कि अवतारके अल्पसे अल्प कार्यमें भी, जो देखनेमें अत्यन्त लघु जान पड़ता है, इतना अलौकिक सौन्दर्य होता है और उसमें हमको सांसारिक मायासे मुक्त करनेकी इतनी शक्ति होती है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (गी० ४।९)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंको तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।' भगवान्के दिव्य कर्मोंके चिन्तनसे हम त्रिगुणमयी मायासे निकल जाते हैं और शनैः शनैः हमारी प्रकृतिका कायापलट हो जाता है अन्तमें हम अनुभव करने लगते हैं कि हमारे शरीर और मन यन्त्रमात्र हैं जो भगवान्की इच्छानुसार उनकी लीलामें अपने स्वांगके अनुसार खेल खेल रहे हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥(गी०१८।६१)

'हे अर्जुन ! (शरीररूप) यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको उनके हृदयमें स्थित हुआ परमेश्वर अपनी अद्भुत मायाशक्तिसे घुमा रहा है।' यही ज्ञान है।

भगवान् अवतार धारण करके जो दिव्य तथा स्वार्थ-रहित कर्म करते हैं, उनका चिन्तन ही इसकी प्राप्तिका सबसे सरल उपाय है। शनैः शनैः किन्तु निश्चयही मनुष्य वैसाही होजाता है जिसका वह चिन्तन करता है, अन्तमें भक्तिके उस कोमल कुसुमावृत-मार्गको प्राप्त कर लेता है जिसको प्राप्त करनेमें राजयोगीको कठिन तथा दीर्घ प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार वह भगवान्के अन्तिम भव्य वाक्योंके मर्मको जान जाता है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः (१८-६६)

'सब धर्मोंको त्यागकर केवल एक मेरीही शरण ग्रहण कर, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर'*

* श्रीकृष्णभक्त अंगरेज महानुभाव श्रीरोनाल्ड निक्सनका ही वर्तमान नाम श्रीकृष्णप्रेम वैरागी है, जो हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रोफेसरीको छोड़कर इस समय श्रीकृष्ण-भजन कर रहे हैं। स०

गीतोक्त चौदह यज्ञ

यज्ञोंके वर्ग	प्रकार	यज्ञोंके नाम और अनुक्रमाङ्क	अध्याय और श्लोक	स्पष्टीकरण
१–जड़वस्तुसम्बन्धी यज्ञ ।	२	१–द्रव्ययज्ञ ···	४।२८	धन-धान्य वस्त्रादि सम्पत्तिको ईश्वरप्रीत्यर्थ दान, धर्म और परोपकारी कार्योंमें खर्च करना ।
	···	२–देवयज्ञ ···	४।२५	देवताओंके लिये जड़-द्रव्योंका हवन करना।
२–शरीरसम्बन्धी यज्ञ ।	२	३–ज्ञानेन्द्रिययज्ञ	४।२६	ज्ञानेन्द्रियोंके संयमका अभ्यास यानी इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ।
	···	४–विषययज्ञ ···	४।२६	इन्द्रियोंके द्वारा उन्हीं विषयोंका सेवन करना जो यज्ञावशिष्ट हों ।
३–वाणी सम्बन्धी यज्ञ ।	१	५–स्वाध्यायज्ञान-यज्ञ ।	४।२८	अर्थज्ञानसहित धर्म-ग्रन्थोंके पढ़नेका अभ्यास (वेदाध्ययन स्तोत्रपारायण आदि) (नाम-जप) ।
४–प्राणसम्बन्धी यज्ञ ।	४	६–प्राणयज्ञ ···	४।२९	अपान, व्यान, उदान और समान इन चारोंका प्राणवायुमें हवन करना यानी पूरक प्राणायाम करना ।
	··	७–अपानयज्ञ ···	४।२९	प्राण, व्यान, उदान और समान इन चारोंका अपान वायुमें हवन करना यानी रेचक प्राणायाम करना ।
	··	८–प्राणापानयज्ञ	४।२९	शरीरमें दोषरहित हुई शुद्ध प्राणवायुको स्थिर, स्वस्थ और शान्त करना, सम प्रमाणमें रोककर 'अभ्यन्तर' या 'बाह्य' 'कुम्भक' प्राणायाम करना ।
	···	९–अन्तरप्राणयज्ञ	४।३०	इन्द्रियोंको चेतन करनेवाली प्राणशक्तिको आहारके संयमसे वशमें करना ।
५ बुद्धिसम्बन्धी यज्ञ ।	१	१० योगयज्ञ ···	४।२८	बुद्धियोग यानी कुशलतासे निष्काम कर्म करना । अथवा अष्टांग योगका साधन करना ।
६–मिश्रितप्रकार-यज्ञ ।	३	११–तपोयज्ञ ···	४।२८	व्रतोपवास या अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंद्वारा शरीर मनको शुद्ध और पवित्र बनाना या स्वधर्म पालनरूप तप करना ।
	···	१२–जपयज्ञ ···	१०।२५	वाचिक, उपांसु, मानसिक, ध्यान या अनन्य जप करना।
	···	१३–इन्द्रियप्राण-कर्मयज्ञ ।	४।२७	इन्द्रियोंकी चेष्टाओं और प्राणोंके व्यापारको रोककर मनको आत्मामें एकाग्र करना या इन्द्रियोंकी चेष्टा और मनके व्यापारको ज्ञानसे प्रकाशित परमात्मामें स्थितिरूप योगमें लगाना ।
७–परमात्म-सम्बन्धी यज्ञ ।	१	१४–ज्ञानयज्ञ या ब्रह्मयज्ञ ।	४।२५ ४।२४	सब कुछ ब्रह्मरूप समझकर सर्वदा सर्वत्र समस्त क्रियाओंमें सर्वथा ब्रह्मका अनुभव करना*

* (मराठी चमत्कारी टीकाकी श्रीयुत आनन्दघनरामजी लिखित भूमिकाके आधारपर।)

दिव्य-दृष्टि भक्त सञ्जय

श्रीमद्भगवद्गीतामें सञ्जय प्रधान व्यक्ति हैं। सञ्जयके मुखसे ही श्रीमद्भगवद्गीता धृतराष्ट्रने सुनी थी। सञ्जय विद्वान् गावल्गण-नामक सूतके पुत्र थे। ये बड़े शान्त, शिष्ट, ज्ञानविज्ञान सम्पन्न, सदाचारी, निर्भय, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, स्पष्टभाषी और श्रीकृष्णके परम भक्त तथा उनको तत्त्वसे जाननेवाले थे। अर्जुनके साथ सञ्जयकी लड़कपनसे मित्रता थी, इसीसे अर्जुनके अन्तःपुरमें सञ्जयको चाहे जब प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त था। जिस समय सञ्जय कौरवोंकी ओरसे पाण्डवोंके यहां गये, उस समय अर्जुन अन्तःपुरमें थे, वहीं भगवान् श्रीकृष्ण और देवी द्रौपदी तथा सत्यभामा थीं। सञ्जयने वापस लौटकर वहांका बड़ा सुन्दर स्पष्ट वर्णन किया है। (महा० उद्योग प० अ० ५६)

महाभारत-युद्ध आरम्भ होनेसे पूर्व त्रिकालदर्शी भगवान् व्यासने धृतराष्ट्रके पास जाकर युद्धका अवश्यम्भावी होना बतलाते हुए यह कहा कि 'यदि तुम युद्ध देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूं' परन्तु धृतराष्ट्रने अपने कुलका नाश देखनेकी अनिच्छा प्रकट की। पर श्रीवेदव्यासजी जानते थे कि इससे युद्धकी बातें जाने सुने बिना रहा नहीं जायगा। अतएव वे सञ्जयको दिव्य-दृष्टि देकर कहने लगे कि 'युद्धकी सब घटनाएँ सञ्जयको मालूम होती रहेंगी वह दिव्य-दृष्टिसे सर्वज्ञ हो जायगा और प्रत्यक्ष परोक्ष या दिन रातमें जहां जो कोई घटना होगी, यहां तक कि मनमें चिन्तन की हुई भी सारी बातें सञ्जय जान सकेगा' (महा० भीष्म० अ० २) इसके बाद जब कौरवोंके प्रथम सेनापति भीष्मपितामह दस दिनों तक घमासान युद्ध कर एक लाख महारथियोंका अपार सेना सहित वध करनेके उपरान्त शिखण्डीके द्वारा शरशय्या पर पड़ गये तब सञ्जयने आकर यह समाचार धृतराष्ट्रको सुनाया, तब भीष्मके लिये शोक करते हुए धृतराष्ट्रने सञ्जयसे युद्धका सारा हाल पूछा (महा० भीष्म० अ० १४) तदनुसार सञ्जयने पहले दोनों ओर की सेनाओंका वर्णन करके फिर गीता सुनाना आरम्भ किया। गीता भीष्मपर्वके २५ वें से ४२ वें अध्याय तक है।

महर्षि व्यास, सञ्जय, विदुर और भीष्म आदि कुछ ही ऐसे महानुभाव थे, जो भगवान् श्रीकृष्णके यथार्थ स्वरूपको पहचानते थे। धृतराष्ट्रके पूछनेपर सञ्जयने कहा था कि 'मैं स्त्रीपुत्रादिके मोहमें पड़कर अविद्याका सेवन नहीं करता, मैं भगवान्के अर्पण किये बिना (वृथा) धर्मका आचरण नहीं करता, मैं शुद्ध भाव और भक्तियोगके द्वारा ही जनार्दन श्रीकृष्णके स्वरूपको यथार्थ जानता हूं।' भगवान्का स्वरूप और पराक्रम बतलाते हुए सञ्जयने कहा—'उदारहृदय श्रीवासुदेवके चक्रका मध्यभाग पाँच हाथ विस्तारवाला है, परन्तु भगवान्की इच्छानुकूल वह चाहे जितना बड़ा हो सकता है। वह तेजपुञ्जसे प्रकाशित चक्र सबके सारासार बलकी थाह लेनेके लिये बना है। वह कौरवोंका संहारक है और पाण्डवोंका प्रियतम है। महाबलवान् श्रीकृष्णने लीलासे ही भयानक राक्षस नरकासुर, शंबरासुर और अभिमानी कंस शिशुपालका वध कर दिया था, परम ऐश्वर्यवान सुन्दर-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण मनके सङ्कल्पसे ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गको अपने वशमें कर सकते हैं।…एक ओर सारा जगत् हो और दूसरी ओर अकेले श्रीकृष्ण हों तो साररूपमें वही उस सबसे अधिक ठहरेंगे। वे अपनी इच्छामात्रसे ही जगत्को भस्म कर सकते हैं, परन्तु उनको भस्म करनेमें सारा विश्व भी समर्थ नहीं है।—

> यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
> ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

'जहां सत्य, धर्म, ईश्वरविरोधी कार्यमें लज्जा और हृदयकी सरलता होती है, वहीं श्रीकृष्ण रहते हैं, और जहां श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं निस्सन्देह विजय है।' सर्वभूतात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण लीलासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गका सञ्चालन किया करते हैं, वे श्रीकृष्ण सब लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंका बहाना करके तुम्हारे अधर्मी मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रभावसे काल-चक्र, जगत्-चक्र और युग-चक्रको सदा घुमाया (बदला) करते हैं। मैं यह सत्य कहता हूं कि भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु और स्थावर-जङ्गमरूप जगत्के एक मात्र अधीश्वर हैं। जैसे किसान अपने ही बोये हुए खेतको (पक जानेपर) काट लेता है इसी प्रकार महायोगेश्वर श्रीकृष्ण समस्त जगत्के पालनकर्ता होनेपर भी स्वयं उसके संहारके लिये कर्म करते हैं। वे अपनी महामायाके प्रभावसे सबको मोहित करते हैं परन्तु जो उनकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे मायासे कभी मोहको प्राप्त नहीं होते।

'ये त्वमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः।'

इसके बाद धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णके नाम और उनके अर्थ पूछे तब परम भागवत सञ्जयने कहा। 'भगवान् श्रीकृष्णके नाम गुण अपार हैं मैं जो कुछ सुना समझा हूं वही कहता हूं। श्रीकृष्ण मायासे आवरण करते हैं और सारा जगत् उनमें निवास करता है तथा वे प्रकाशमान हैं इससे उनको 'वासुदेव' कहते हैं। अथवा सब देवता उनमें निवास करते हैं, इसलिये उनका नाम 'वासुदेव' है। सर्व-व्यापक होनेके कारण उनका नाम 'विष्णु' है। 'मा' यानी आत्माकी उपाधिरूप बुद्धिवृत्तिको मौन, ध्यान या योगसे दूर कर देते हैं, इससे श्रीकृष्णका नाम 'माधव' है। मधु अर्थात् पृथ्वी आदि तत्त्वोंके संहारकर्ता होनेसे या—वे सब तत्त्व इनमें लयको प्राप्त होते हैं, इससे भगवान्‌को 'मधुहा' कहते हैं। मधु नामक दैत्यका वध करनेवाले होनेके कारण श्रीकृष्ण का नाम 'मधुसूदन' है। कृषि शब्द सत्तावाचक है और ण सुखवाचक है, इन दोनों धातुओंके अर्थरूप सत्ता और आनन्दके सम्बन्धसे भगवान्‌का नाम 'कृष्ण' हो गया है। अक्षय और अविनाशी परम स्थानका या हृदयकमलका नाम है पुण्डरीक, भगवान् वासुदेव उसमें विराजित रहते हैं और कभी उसका क्षय नहीं होता, इससे भगवान्‌को 'पुण्डरीकाक्ष' कहते हैं। दस्युओंका दलन करते हैं, इससे भगवान्‌का नाम 'जनार्दन' है। वे सत्त्वसे कभी च्युत नहीं होते और सत्त्व उनसे कभी अलग नहीं होता, इससे उनको 'सात्वत' कहते हैं। वृषभका अर्थ वेद है और ईक्षणका अर्थ है ज्ञापक अर्थात् वेदके द्वारा भगवान् जाने जाते हैं, इसलिये उनका नाम 'वृषभेक्षण' है। वे किसीके गर्भसे जन्म ग्रहण नहीं करते, इससे उनको 'अज' कहते हैं। इन्द्रियोंमें स्वप्रकाश हैं, तथा इन्द्रियोंका अत्यन्त दमन किये हुए हैं, इसलिये भगवान्‌का नाम 'दामोदर' है। हर्ष, स्वरूप-सुख और ऐश्वर्य तीनों ही भगवान् श्रीकृष्णमें हैं, इसीसे उनको 'हृषीकेश' कहते हैं। अपनी दोनों विशाल भुजाओंसे उन्हों-ने स्वर्ग और पृथ्वीको धारण कर रक्खा है इसलिये वे 'महाबाहु' कहलाते हैं। वे कभी अधःप्रदेशमें क्षय नहीं होते यानी संसारमें लिप्त नहीं होते, इसलिये उनका नाम 'अधोक्षज' है। नरोंके आश्रय होनेके कारण उनको 'नारायण' कहते हैं। वे सब भूतोंके पूर्ण कर्ता हैं और सभी भूत उन्हीं-में लयको प्राप्त होते हैं, इसलिये उनका नाम 'पुरुषोत्तम' है। वे सब कार्य और कारणोंकी उत्पत्ति तथा प्रलयके स्थान हैं और सर्वज्ञ हैं, इसलिये उनको 'सर्व' कहा जाता है। श्रीकृष्ण सत्यमें हैं और सत्य उनमें है तथा वे गोविन्द व्यावहारिक सत्यकी अपेक्षा भी परम सत्यरूप हैं, इससे उनका नाम 'सत्य' है। चरणोंद्वारा विश्वको व्याप्त करनेवाले होनेसे विष्णु और सबपर विजय प्राप्त करनेके कारण भगवान्‌को 'जिष्णु' कहते हैं। शाश्वत और अनन्त होनेसे उनका नाम 'अनन्त' है और गो यानी इन्द्रियोंके प्रकाशक होनेसे 'गोविन्द' कहे जाते हैं। वास्तवमें तत्त्वहीन (असत्य) जगत्‌को भगवान् अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे तत्त्व (सत्य) सा बनाकर सबको मोहित करते हैं।,

यह सञ्जयके श्रीकृष्ण-तत्त्व-ज्ञानका एक उदाहरण है। सञ्जयने भी युद्धके विरुद्ध शान्ति-स्थापनके लिये बहुत चेष्टा की थी, परन्तु दैवके आगे उनकी कुछ भी नहीं चली।

गीताके विद्वानोंसे निवेदन

मेरी समझसे श्रीमद्भगवद्गीताके निम्नलिखित दो पदोंमें पाठमें कुछ फेर होना चाहिये। सम्भव है कि प्राचीन प्रतियोंमें जैसा मैं समझता हूँ वैसा ही पाठ रहा हो, पीछे लेखकोंके भ्रमसे बदल गया हो। पण्डितलोग इसपर विचार करें।

(१) गीता अध्याय १५ मन्त्र ४ में वर्तमान पाठ है—

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये।' इस पाठसे संगति नहीं बैठती, इससे ऐसा होना चाहिये—

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्य।' ऐसा होनेसे मन्त्र २।३।४ एक साथ लग जायंगे।

(२) गीता अध्याय १५ मन्त्र ७ में वर्त्तमान पाठ है—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' इसमें 'जीवभूत' की जगह 'बीजभूतः' पाठ अच्छा जान पड़ता है।

—बाबूराम शुक्ल कवि।

गुणोंका स्वरूप और उनका फल आदि

विषय	सतोगुण	रजोगुण	तमोगुण
गुणोंका स्वरूप	अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता, बोधशक्तिका उत्पन्न होना। (१४।११)	लोभ, सांसारिक कर्मोंमें प्रवृत्ति, कर्मोंका स्वार्थबुद्धिसे आरम्भ, मनकी चंचलता और भोगोंकी लालसा। (१४।१२)	अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्यकर्ममें प्रवृत्त न होना, प्रमाद, (न करने योग्य कार्यमें प्रवृत्ति), मोह। (१४।१३)
गुणोंके द्वारा लगाया जाना।	सुखमें लगाता है ... (१४।९)	कर्ममें लगाता है। ... (१४।९)	ज्ञानको ढककर प्रमादमें लगाता है। (१४।९)
गुणोंके द्वारा जीवका बन्धन।	प्रकाशमय निर्विकार सतोगुण निर्मल होनेके कारण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानके अभिमानसे बांधता है। (१४।६)	कामना और आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाला रागरूप रजोगुण कर्म और उनके फलकी आसक्तिसे बांधता है। (१४।७)	सब देहाभिमानियोंको मोहनेवाला अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुण प्रमाद, आलस्य और नींदसे बांधता है। (१४।८)
गुणोंसे उत्पन्न भाव।	ज्ञान। (१४।१७)	लोभ। (१४।१७)	प्रमाद और मोह। (१४।१७)
गुणोंके फल ...	निर्मल सुख-ज्ञान-वैराग्यादि (१४।१६)	दुःख। (१४।१६)	अज्ञान। (१४।१६)
किस गुणकी वृद्धिमें मरनेवाला किस लोक या योनिमें जाता है।	उत्तम कर्म करनेवालोंके मलरहित दिव्य देवलोकमें देव योनिको प्राप्त होता है। (१४।१४)	कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्य लोकमें मनुष्य योनिको प्राप्त होता है। (१४।१५)	ऊंट, भैंसा, सूअर आदि मूढ़योनियोंमें जन्म होता है। (१४।१५)
किस गुणमें स्थित पुरुष किस लोक या योनिमें जाते हैं।	उच्च गतिको प्राप्त होते हैं सिद्ध या साधकोंके भगवदासुखी श्रेष्ठ-कुलमें जन्म लेते हैं अथवा देवता बनते हैं। (१४।१८)	बीचकी गतिको प्राप्त होते हैं, कर्मासक्त मनुष्य बनते हैं। (१४।१८)	नीचेकी पशु आदि योनियोंमें, नारकी योनिमें या भूतप्रेतादि पाप योनिमें आते हैं। (१४।१८)

स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती ।

स्वामी प्रणवानन्दजी, काशी ।

स्वामी हंसस्वरूपजी, अलवर ।

स्वामी नारायण, लखनऊ ।

पं० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ ।

पं० गङ्गारामजी ।

स्वामी तुलसीरामजी, मेरठ ।
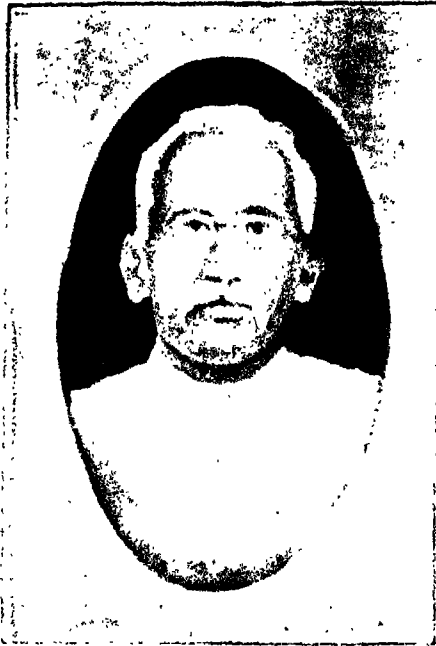
स्वामी सत्यानन्दजी ।

गीताका सैन्यप्रदर्शनाध्याय

(ले०-पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)

स-मग्र गीताको केवल तीन शब्दोंमें कहना हो तो 'ॐ-तत्-सत्' इतना कह सकते हैं। गीताके अठारहों अध्यायोंमें इन्हीं तीनोंकी सोपपत्तिक विवेचना है। इसका अभिप्राय यह है कि उसी ईश्वर-की शरण गहो, सब कुछ उसीके अर्पण करो और जो कर्म करो सो निष्कामभावसे करो। ऐसा करनेसे संसारमें रहते हुए भी सांसारिक द्वन्द्वोंसे अलिप्त रहोगे और संसार सा .कर भी मोक्षको साध सकोगे। गीतामार्ग प्रवृत्तिनिवृत्ति-मार्गका मध्यबिन्दु है।

(२)-आज हम 'गीताङ्क' में केवल प्रथमाध्यायपर दृष्टि डालेंगे, क्योंकि गीतोपदेशका बीज इसीमें विद्यमान है, जो कि आगेके सतरहों अध्यायोंमें महान् वृक्षके रूपमें परिणत हो गया है। आजतक हम यही पढ़ते चले आ रहे थे कि प्रथम अध्याय 'अर्जुनविषादयोग' का अध्याय है किन्तु मथुरा जिलेके एक ब्राह्मणके घरमें तीन सौ वर्षकी प्राचीन हस्तलिखित 'गीता' में प्रथम अध्यायकी समाप्ति पर 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे कृष्णार्जुनसंवादे सैन्यप्रदर्शनं नाम प्रथमोऽध्यायः' लिखा है। 'सैन्यप्रदर्शन' शब्दको पढ़कर मेरे मनमें बड़ा ही उल्लास आया-वस्तुतः इस प्रथमाध्यायका नाम सैन्यप्रदर्शनाध्याय ही होना उपयुक्त है—

> ' सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥
> यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
> कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥
> योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
> धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥'

(अध्याय १ । २१, २२, २३)

अर्जुनने ही हृषीकेशसे कहा, 'हे अच्युत! जरा रथको आगे बढ़ाओ। देखूं तो सही, मुझे किन किनके साथ संग्राम करना है, दुर्बुद्धि दुर्योधनकी प्रिय कामनासे कौन कौन रणक्षेत्रमें उतरे हैं-।' श्रीकृष्णने कहा, 'अच्छी बात है! लो मैं रथको बीचमें खड़ा करता हूं, कौरवोंके जमघटको अच्छी तरह देख लो।' अर्जुनने क्या देखा?—

> 'तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
> आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
> श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
> तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥
> कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।।'

(गीता १ । २६, २७, २८)

पिता, पितामह, आचार्य, मातुल, बन्धुगण, पुत्र, पौत्र, साथी, श्वशुर, मित्र, सम्बन्धी इत्यादिको देखकर उसकी बुद्धि चकरा गयी। इन सबको देखकर उसके मनको मोहने घेर लिया, 'ओहो! क्या इनसे लड़ना पड़ेगा? क्या इनको मारना पड़ेगा? इन सबको मार डालूंगा तो फिर जीवित रहकर ही कौनसा सुख मिलेगा? और यह मार-धाड़ भी किसलिये? केवल राज्यके लोभसे न? मैं तो भिक्षावृत्तिसे जीवन व्यतीत करूंगा, किन्तु ऐसा संहार नहीं करूंगा।'—इत्यादि।

(३)-अर्जुनने स्वयं ही रथ आगे बढ़ानेके लिये कहा था, जब रथ बीचमें खड़ा किया गया तो उसने एक दृष्टि कौरवोंके जमघटपर और पीछे गर्दन मोड़कर दूसरी अपने पक्षके जमघटपर डाली और युद्धके भयङ्कर परिणामपर दृष्टि डालनेसे उसके मनको मोहने घेर लिया। यह सब कार्य सैन्यप्रदर्शनके पश्चात् ही हुआ, इसलिये प्रथमाध्यायका सहेतुक, सार्थक नाम 'सैन्यप्रदर्शनं नाम प्रथमोऽध्यायः' यही होना उपयुक्त है।

(४)-आगे चलकर उसने युद्धके परिणामपर भी विचार किया है—

> ' कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
> धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥
> अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
> स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥
> संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
> पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
> दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
> उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥
> उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
> नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥
> अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।'

(गीता १।४०-४५)

युद्धसे कुलक्षय, कुलक्षयसे कुलधर्मनाश, कुलधर्मनाशसे अधर्मकी प्रबलता, अधर्मसे कुल-स्त्रियोंका दूषित होना, उससे वर्णसंकरता, वर्णसंकरतासे नरक, पिण्डोदक क्रियाका लोप, जातिधर्म, कुलधर्म आदिका नाश जिससे मनुष्योंका सदैवके लिये नरकवास इत्यादि इत्यादि युद्धके दुष्परिणामोंपर विचार किया है।

(५)-यह सैन्यप्रदर्शन आगे भी द्वितीयाध्यायमें चला है-

'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥'

'हे अरिसूदन! क्या कहते हो? पूजाके योग्य भीष्म और द्रोणको मार डालूं? इन्हें मारकर रक्तसे सने हुए या भरे हुए भोगोंको भोगूँ? यह क्या कह रहे हो श्रीकृष्ण! यदि मैं जी कड़ा करके शस्त्र उठाऊँ तो भी यह पता नहीं चलता कि—

'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥'
(गीता २।६)

'कुरुकुलका जमघट बड़ा है कि हमारा? वे जीतेंगे कि हम? जिनको मारकर हम जीवित नहीं रहना चाहते वे ही दुर्योधनादि सम्मुख खड़े हैं। मैं इस समय स्वधर्मको भूला हुआ हूं, कार्पण्यदोषसे आक्रान्त हूं, कर्तव्याकर्तव्यको भूल रहा हूं। मैं आपका शिष्य हूं, कृपया मुझे समझाइये, आज्ञा कीजिये कि मेरा क्या कर्तव्य है।'

(६)-सच बात तो यह है कि जबतक अर्जुनका विषाद नहीं उतरा, तबतक उसको विषादयोग ही समझिये। यह जो प्रत्येक अध्यायके अन्तमें विषयोपन्यास दिया गया है उसकी भी कई परम्पराएँ प्रतीत होती हैं। यह विषयोपन्यास उस अध्यायके मुख्य प्रतिपाद्य विषयकी ओर ध्यान देकर दिया गया प्रतीत होता है। गीता-विद्या-विशारदोंकी एक सभा पूर्ण विचारके पश्चात् यह निर्णय करे कि क्या इस परम्पराको यों ही चलने दिया जाय अथवा यह विषयोपन्यास अधिक सयुक्तिक बनाया जाय?

(७)-इस बातका निर्णय करनेके लिये संसारभरकी गीताओं (मुद्रित तथा हस्तलिखित)का संग्रह करके निर्णय करना होगा। सहेतुक विषयोपन्याससे अनेक सुभीते होंगे। आशा है विद्वन्मण्डली इस ओर अवश्य ध्यान देगी। लेखककी पक्की धारणा हो गयी है कि गीताके प्रथमाध्यायका नाम 'सैन्यप्रदर्शन' होना चाहिये। इसी प्रकार अन्य विद्वान् अन्य अध्यायोंपर अपने विचार प्रकट कर सकते हैं।

गीताका माहात्म्य

(ले०—श्रीअम्बिकादत्तजी उपाध्याय एम० ए०, शास्त्री)

मद्भगवद्गीताका सम्पूर्ण माहात्म्य जान लेना असम्भव है। केवल श्रीकृष्ण भगवान् इसके माहात्म्यको पूर्णरूपसे जानते हैं। युधिष्ठिर, व्यास, याज्ञवल्क्य आदि भी कुछ कुछ जानते हैं। वत्सरूपी अर्जुनकी उपस्थितिमें उपनिषद्रूपी गौसे इस गीतामृतको गोपालनन्दन श्रीकृष्णने दुहकर भवबाधा-बाधित भक्तोंके उद्धार करनेके लिये संसारमें इसका प्रचार किया। इसके उपदेशसे सांसारिकोंकी निराशा तथा अकर्मण्यता दूर हो जाती है। इस घोर संसारके पार करनेका अभिलाषी गीतारूपी नावके सहारे बिना प्रयास ही इसे पार कर सकता है। गीताके सम्यक् ज्ञान बिना जो मोक्षकी इच्छा करता है उसका प्रयत्न हास्यास्पद है। गीताके प्रतिदिन पढ़ने और सुननेवाले मनुष्य नहीं, देवता हैं। इसके अठारह अध्यायरूपी सीढ़ियोंपर चढ़कर मनुष्य परब्रह्म पदको पा सकते हैं।

जलसे यदि प्रतिदिन स्नान किया जाय तो बाह्य मलकी शुद्धि होती है, परन्तु गीतारूपी जलमें केवल एक बार स्नान करनेसे सदाके लिये आभ्यन्तर मलकी शुद्धि हो जाती है। गीताके पठन-पाठनसे वञ्चित नर पतित पशुके समान है। गीता न जाननेवाले मनुष्यके मानव-शरीरको धिक्कार है और उसके कुल-शीलको धिक्कार है। उस मनुष्यसे अधिक कोई अधम जीव नहीं। उसका शील, सम्पत्ति, पूज्यता, मान, महत्त्व आदि सभी निष्फल हैं। गीतामें प्रेम न रखनेवाले नरके ज्ञान, व्रत, आचार, निष्ठा, तप, यश आदि सभी व्यर्थ हैं। जिसे गीताका रहस्य नहीं मालूम, वह नराधम

है। गीतामें उपदिष्ट विषयोंके अतिरिक्त विषयको तामसिक समझना चाहिये, वह व्यर्थ है, धर्मविरुद्ध है, वेदवेदान्तसे गर्हित है। सभी शास्त्रोंके सिद्धान्त तथा धर्मका पूर्ण रहस्य इसमें अच्छी तरह कह दिया गया है, इसलिये गीता सब शास्त्रोंमें श्रेष्ठ है।

उठते बैठते, चलते फिरते, खाते पीते, सोते जागते गीताके मनन करनेवालेको शाश्वत पद मिलता है। शालग्राम-के समीप, देव-मन्दिरमें, तीर्थमें, नदीमें गीतापाठ करनेसे भगवान् श्रीकृष्ण तुष्ट होते हैं और उसे वैकुण्ठ देते हैं। श्रद्धा और भक्तिके साथ गीताके अध्ययनसे जितना पुण्य प्राप्त होता है उतना वेदपाठ, दान, यज्ञ, तीर्थ, व्रत आदि किसी-से भी प्राप्त नहीं होता। वेद, पुराण, शास्त्र आदि इसी एक ही शास्त्रमें गतार्थ हो जाते हैं। किसी योगीके आश्रममें, सिद्धपीठमें, सज्जनोंकी सभामें अथवा किसी विष्णु भक्तके सामने इसका पाठ करनेसे परम गति मिलती है। प्रतिदिन गीताके पाठ करनेसे अश्वमेधादि यज्ञ करनेका पुण्य प्राप्त होता है। गीताके सुननेसे, सुनानेसे तथा पाठ करनेसे मोक्ष मिलता है।

जिस भूमिमें गीताकी पूजा होती है उसे यज्ञभूमि समझना चाहिये; उसे तीर्थ समझना चाहिये। भूत, प्रेत, पिशाच आदिका उस स्थानमें प्रवेश भी नहीं हो सकता। वहां दूसरोंसे किये गये अतिचारका कुछ भी असर नहीं हो सकता। उस स्थानमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधि-दैविक दुःख नहीं फटकने पाते। न वहां शापका प्रभाव पड़ता है, न पाप अपना फल दिखा सकता है। न दुर्गति होती है और न नरक ही का भय रहता है। उस स्थानमें निवास करनेवालोंको काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर बाधा नहीं पहुँचाते और वहां भगवान्में अटल भक्ति उत्पन्न होती है।

गीता-पाठ करनेवाला प्रारब्ध-कर्म भोगते हुए भी मुक्त है और किसी प्रकारका कर्म-बन्धन उसे नहीं होता। जिस प्रकार कमलके पत्तेपर जलका कुछ असर नहीं होता, उसी तरह गीतापाठ करनेवालेको बड़ेसे बड़ा पाप छू तक नहीं सकता। अनाचारजनित, अभक्ष्यभक्षणजनित, अस्पृश्य-स्पर्शजनित, इन्द्रियजनित, ज्ञानाज्ञान कृत सभी प्रकारके पापोंका शमन गीतापाठ करते ही हो जाता है। नीचसे नीचके अन्न खानेका, खराबसे खराब प्रतिग्रह लेनेका भी पाप गीतापाठ करनेवालेको नहीं लगता। समूची पृथ्वीका दान ले लेनेपर भी गीताके केवल एक पाठसे मनुष्य शुद्ध स्फटिकके समान शुद्ध हो जाता है। जिस व्यक्तिका गीतामें अनुराग है उसे क्रियावान्, धनवान्, ज्ञानवान्, पण्डित, याज्ञिक, जपशील, अग्निहोत्री आदि सभी कुछ समझ सकते हैं। जिस जगह गीताका पाठ होता है वहां तीर्थराज आदि सभी तीर्थ निवास करते हैं। जहां गीताका अध्ययन होता है वहां सभी देवता, ऋषि, योगी, पन्नग, नारद, ध्रुव, पार्षद, यहां तक कि स्वयं श्रीकृष्ण सहायक बने रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि जहां गीताका पठन-पाठन होता है और जहां उसका परिशीलन होता है वहां मैं सदा निवास करता हूं। गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा तत्त्व है, गीता मेरी परम गोपनीय वस्तु है, गीता मेरा उग्र एवं अविनाशी ज्ञान है। गीता ही मेरा गुरु है। गीता मेरा निवासस्थान है और मैं गीताके आश्रयमें रहता हूं, गीता ही मेरा गुरु है। गीताके सहारे ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूं। गीता ही मेरी ब्रह्मविद्या है। गीताके ब्रह्मविद्या, ब्रह्मवल्ली आदि अनेक नाम हैं जिनके जपनेसे ही सिद्धि होती है।

यदि सम्पूर्ण गीताके पाठ करनेका अवकाश न मिले तो आधीका ही पाठ करे, उससे गो-दानका फल मिलता है। छः अध्यायोंके पाठसे सोमयागका फल प्राप्त होता है। तीन अध्यायोंके पाठसे गङ्गा-स्नानका पुण्य मिलता है। यदि प्रतिदिन दो दो अध्यायोंका पाठ किया जाय तो उससे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है। एक अध्यायका नित्य पाठ करने-से चिरकाल तक रुद्रलोकमें निवास करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है। आधे अध्याय अथवा चौथाई अध्यायके पाठ करने-से सूर्यलोक मिलता है। दो चार श्लोकोंका भी यदि नियमसे पाठ किया जाय तो चन्द्रलोक मिलता है।

प्राणोत्क्रमणके समय यदि मुखसे एक श्लोक भी निकल जाय तो उसकी अवश्यमेव मुक्ति होती है। जीवनभर असंख्य घोर पाप करनेवालेके भी कानोंमें यदि अन्त समय एक दो भी गीताके श्लोक पड़ जायं तो उसके मोक्षमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। मरणकालमें जिसके पास गीताकी पुस्तक हो, उसे वैकुण्ठ-धाम मिलता है। गीताका उच्चारण करता हुआ यदि कोई मर जाय तो उसे अवश्य परम गति प्राप्त हो।

किसी भी देवयज्ञ या पितृयज्ञके समय यदि गीताका पाठ किया जाय तो वह सर्वाङ्ग परिपूर्ण तथा निर्दोष हो जाता है। श्राद्धके समय गीताके पाठ करनेसे पितर लोग सन्तुष्ट हो जाते हैं और यदि नरकमें पड़े हों तो वे आशी-

थांद देते हुए स्वर्ग चले आते हैं। गीताके जाननेवालेको गीता देनेसे मनुष्य कृतार्थ हो जाता है और गो-दानका फल पाता है। विद्वान् ब्राह्मणको सुवर्णसहित गीता-दान करनेसे फिर संसारमें लौटकर नहीं आना पड़ता। जो मनुष्य गीताकी सौ पुस्तकोंका दान करता है वह ब्रह्ममें लीन हो जाता है। गीता-दानके प्रभावसे सात कल्पतक विष्णु-लोकमें विष्णुके साथ आनन्द करता है। जो गीताके तत्त्व-को अच्छी तरह समझकर ब्राह्मणको दान देता है उससे भगवान् परम प्रसन्न होते हैं। भगवान्की दयासे उसके अभीष्टकी सिद्धि होती है।

इस पवित्र मानवशरीरको पाकर जो इस गीताका पठन या श्रवण नहीं करता वह हाथमें आये हुए अमृतको न पीकर विषका पान करता है। संसारके तापसे पीड़ित होकर जिन मनुष्योंने गीताका ज्ञान पा लिया है उन्हें समझना चाहिये कि अमृत-पद पाकर वे विष्णुलोक पहुंच गये। गीताके सहारे ही जनक आदि अनेक राजर्षि कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर परम पदको पहुंच गये। गीतासे डाह रखनेवाले और गीताकी निन्दा करनेवालेको घोर नरक भोगना पड़ता है। अहंकारसे जो गीताका सम्मान नहीं करता वह कल्पभर कुम्भीपाकमें पचता है। समीपमें होती हुई गीताकी कथाको जो नहीं सुनता, उसे बड़ी कुत्सित और दुःखद योनि मिलती है। गीताके उपदेश सुनकर जो आनन्दसे पुलकित नहीं होता, उसके सभी पुण्य-कर्म विफल हो जाते हैं और उसका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है।

अतः गीताका प्रतिदिन श्रद्धासे पाठ करना, उसके अर्थ-का मनन करना और उसके उपदेशके अनुसार आचरण करना परम श्रेयस्कर है। भक्तिपूर्वक श्रीमद्भगवद्गीताका नित्य अध्ययन करना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है, इससे चित्तको शान्ति मिलती है। इस शास्त्रसे बढ़कर और कोई शास्त्र नहीं है।

अरबी-फारसीमें गीता

(लेखक—श्रीयुक्त महेशप्रसादजी मौलवी आलिम फाज़िल)

जब मुसलमानोंका बोल बाला हुआ तो उन्होंने अरबी भाषाकी उन्नतिके निमित्त अनेक भाषाओंकी पुस्तकोंका अनुवाद अरबीमें किया अथवा कराया। अतः जब कि भारतमें मुसलमानोंका राज्य स्थापित ही नहीं हुआ था, उससे बहुत पहलेकी बात है कि बग़दादमें अनेक संस्कृत ग्रन्थोंने अरबीका वस्त्र धारण किया था। परन्तु गीताके विषयमें अरबीमें जो कुछ थोड़ासा पता लगता है वह जगद्विख्यात मुसलमान यात्री अलबेरूनीकी पुस्तक 'किताबुल हिन्द' के दूसरे परिच्छेदमें मिलता है। इसमें गीताके दूसरे तीसरे अध्यायोंकी कुछ बातें हैं। इसके सिवा अभीतक मुझे कोई अन्य लेख नहीं मिला, जिससे अरबीमें सम्पूर्ण गीता अथवा किसी अंशका पता लग सके।

अनेक इतिहासोंसे पता चलता है कि भारतमें जब मुसलमानोंका राज्य स्थापित हुआ तो उस समय अनेक संस्कृत पुस्तकोंका अनुवाद या सार फारसीमें हुआ क्योंकि यही उनके समयकी प्रधान भाषा थी। इस सम्बन्धमें दिल्लीके बादशाह फ़ीरोज़शाह तुग़लक़ तथा राजकुमार दाराशिकोहके नाम उल्लेखनीय हैं पर सबसे अधिक यश जिसको प्राप्त है वह सम्राट अकबर हैं, क्योंकि उनके कारण बहुतसे संस्कृत ग्रन्थोंका फारसीमें अनुवाद हुआ है। निदान गीताकी दो फारसी प्रतियां इसी प्रतापी बादशाहके समयकी उपलब्ध होती हैं। विद्वद्वर फ़ैज़ी अकबरी दरबारका एक रत्न था, उसने फ़ारसी पद्योंमें गीताका रूपान्तर किया था। नमूनेके रूपमें आरम्भका कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है:-

नागरी लिपिमें*

तगाज़न्दये दास्ताने कुहन बदींसां बयफ़्गन्द तरहे सख़ुन
कि पुरसीद धृतराष्ट[1] अज़ संजय ई कि कुरखेत[2] रश्के बहिश्ते बरीं
बुवद मज़रये आख़िरत दर जहां दर आंजा रसीदन्द चू कौरवां
दिगर पांडवाँ अज़ पये कारज़ार चसां अस्त ई क़िस्सा ऐ होशियार
जवाबश चुनीं गुफ़्त कै बादशाह बबस्तन्द अज़ हर दो सू सफ़सिपाह
चू फ़राज़िन्द तू फ़ौज दुश्मन बदीद बनिज़्दे द्रोनाअचाज[3] रसीद
बगुफ़्तश बरीं लश्करे पांडवाँ नज़रकुन कि तरतीब दारद चसां
दिरिश्टदुम्न[4] हस्त सालार फ़ौज जिगरदारियश रौनक़े कार फ़ौज

---

* संस्कृत गीताके नाम आदि फारसी लिपिमें जिस प्रकार लिखे हुए हैं और जिस रूपमें उनका उच्चारण हो सकता है उसी रूपमें उन्हें यहाँ लिखा गया है। —लेखक

१ धृतराष्ट्र। २ कुरुक्षेत्र। ३ द्रोणाचार्य। ४ धृष्टद्युम्न

फ़ैज़ी बड़ा भारी कवि था। इसी कारण कविताके विचारसे भी फ़ैज़ीकी गीता बड़ी अच्छी है। बहुत दिन हुए यह गीता इलाहाबादके 'आयनी प्रेस' में छपी थी परन्तु इस प्रेसकी प्रतियाँ अब नहीं मिलतीं। लाहोरसे एक दूसरा संस्करण अवश्य मिलता है जिसका मूल्य केवल ।≈) है।

गीताका दूसरा फारसी अनुवाद जो मेरी दृष्टिमें आया है, वह शेख अबुल फ़ज़लका किया हुआ है। यह भी अकबरी दरबारका एक अमूल्य रत्न था। फ़ारसी साहित्य क्षेत्रमें इस विद्वान्‌का नाम कुछ कम नहीं है। इसके अनुवादके भी, आरम्भका ही कुछ अंश नीचे दिया जाता है, जिससे अनुवादके नमूनेका परिचय मिल सकता है:—

नागरी लिपिमें

धितराष्ट[1] पुरसीद कि ऐ संजय! मरदुम मा व
जमाअत पांदवां[2] दर वक्त रूबरू शुदन औवल
बचि कार मश्गूल शुदन्द। संजय गुफ्त
कि जरजोधन[3] फ़ौजहाय पांदवां ईस्तादः दीद
निज़्द दरोनाचार्ज[4] आमद गुफ्त ऐ उस्ताद!
ईं लश्कर अज़ीम कि पांदवा पिसर पांडू[5] आरास्तः
अन्द अन्दः ईं सिपाह भीम व अर्जुन अन्द।

अबुल फज़ल लिखित फ़ारसी गीता गद्यमें है इस विद्वान्‌के समस्त ग्रन्थ क्लिष्ट फ़ारसीमें हैं। अतः गीताकी भाषा भी कुछ कम क्लिष्ट नहीं है।

अबुल फ़ज़लकी गीताकी छपी हुई प्रति तो मैंने कोई नहीं देखी और मैं समझता हूँ कि इसके छपनेकी नौबत ही नहीं आयी। बनारसमें चौकके पास ही 'मालतीसदन' नामक एक पुस्तकालय है। उसीमें मैंने एक हस्तलिखित प्रति देखी है। मिर्ज़ा जहांदार शाह बहादुरके पुत्र मिर्ज़ा शगुफ़्तः बख़्त बहादुर थे। उन्हींके यहां कोई ला० कुंवरसिंहजी थे। इन्हीं लालाजीके हाथकी लिखी हुई प्रति 'मालतीसदन'में है। इस प्रतिके लिखे जानेका समय अन्तमें संवत् १,५५५ विक्रमी लिखा हुआ है। यह प्रति बड़े आकारके २९ पृष्ठोंमें है। प्रत्येक पृष्ठ सुन्दर अक्षरोंमें लिखा हुआ है। इसमें गीताके ७४५ श्लोकोंका अनुवाद है जिसका विवरण यह है:—

श्रीकृष्णजीके	...	...	६०५
अर्जुनके	...	...	५७
सञ्जयके	...	...	६७
धृतराष्ट्रके	...	...	१६

इस गीताके आरम्भमें अबुल फ़ज़लने पहले गीताकी प्रशंसा थोड़ेसे शब्दोंमें की है। उसके पश्चात् यह लिखा है कि मैंने संस्कृतसे इसका अनुवाद सम्राट् अकबरकी आज्ञासे किया है।

तीसरा अनुवाद डेरा गाज़ीखां निवासी राय मूलचन्द-जीका है। यह सरल फ़ारसी गद्यमें है। यह अनुवाद कब किया गया था, इस विषयमें मैं कुछ नहीं कह सकता और न अनुवादकका परिचय ही विशेषरूपसे दे सकता हूँ। उक्त अनुवाद सन् १८६४ ई० में लाहोरके कोहनूर प्रेसमें छपा था। अतः उसीकी एक प्रति मैंने देखी है। यह ९६ पृष्ठोंमें है। इसके प्रारम्भका एक अंश यह है:—

नागरी लिपिमें

धितराष्ट[1] पुरसीद। ऐ संजय मरदुम मन व जमाअत पांडवां दर ज़मीन धर्मखेत्र[2] कुरखेत्र[3] बक़सद जंग जमाशुदः चि करदंद। संजय गुफ्त कि दरजोधन[4] फ़ौजहा पांडवां रा इस्तादः दीदः निज़द द्रोनाचारज[5] आमद व गुफ्त ऐ उस्ताद! ईं लश्कर अज़ीम पांडवा रा दिरिष्टदुमन[6] द्रुपद कि शागिर्दे ख़िरद्मन्द तुस्त बसफ़ूफ़ आरास्तः नेक मुलाहज़ः कुन।'

सम्भव है इन अनुवादोंके सिवा और भी अनुवाद फारसीमें हुए हों, किन्तु न तो मेरी दृष्टिमें आये हैं और न उनकी बाबत मैंने किसी ग्रन्थमें कुछ पढ़ा ही है। यदि किसी महाशयको उक्त अनुवादोंके सिवा किसी अन्य फ़ारसी अनु-वादकी बाबत कुछ पता हो, तो कृपया वह मुझे अवश्य सूचित करें मैं उनका बड़ा आभारी हूंगा।

अब मैं अन्तमें यह कह देना भी उचित समझता हूँ कि 'मालतीसदन' पुस्तकालय बनारसमें जो हस्त-लिखित प्रति है वह बहुत खराब दशामें है। गीताप्रेमी सज्जनोंको चाहिये कि बढ़िया कागज़पर उसको उतरवा कर उसकी प्रति किसी अच्छे पुस्तकालयमें रखवा दें अथवा थोड़ासा अधिक धन व्यय करके उसे छपवा दें। ऐसा होनेसे उस प्रतिसे बहुतसे लोग लाभ उठा सकेंगे और उसका अस्तित्व भी भलीभांति रह जायगा।

१ धृतराष्ट्र। २ पाण्डवां। ३ दुर्योधन। ४ द्रोणाचार्य। ५ पाण्डु।

१ धृतराष्ट्र। २ धर्मक्षेत्र। ३ कुरुक्षेत्र। ४ दुर्योधन। ५ द्रोणाचार्य। ६ धृष्टद्युम्न।

गुणोंके अनुसार आहार-यज्ञादिके लक्षण

विषय	सात्त्विक	राजस	तामस
उपासना ...	देवताओंका पूजन (१७ । ४)	यक्ष-राक्षसोंका पूजन (१७ । ४)	भूत-प्रेतादिका पूजन (१७ । ४)
आहार ...	जो पदार्थ आयु, बुद्धि, बल, नीरोगता, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले तथा रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर रहनेवाले और रुचिके अनुकूल हों । गेहूँ, चावल, मूंग, गव्य-पदार्थ, फल, शाकादि (१७ । ८)	बहुत कड़ुवे, बहुत खट्टे, बहुत गरम, बहुत तीखे, रूखे, दाहकारी दुःख शोक, और रोग उत्पन्न करनेवाले पदार्थ । अफीम, इमली, लालमिर्च, भूंजे राई आदि । (१७ । ९)	अधपके, रसरहित, दुर्गन्धियुक्त, बासी, जूंठे, अपवित्र पदार्थ । मांस, जूंठन, प्याज, आचार, आसव आदि । (१७ । १०)
यज्ञ ...	जो विधिसंगत हो तथा कर्तव्य और निष्काम बुद्धिसे किया जाय (१७ । ११)	जो विधिसंगत हो पर फलकी इच्छासे या दम्भसे किया जाय । (१७ । १२)	जो विधिहीन, अन्नदानरहित, मन्त्रहीन, दक्षिणारहित और श्रद्धारहित हो । (१७ । १३)
तप ...	श्रद्धा और निष्काम भावसे किये जानेवाले त्रिविध * तप । (१७ । १७)	सत्कार, मान या पूजा पानेके लिये दम्भसे किये जानेवाले अनिश्चित और क्षणिक फलवाले त्रिविध तप । (१७ । १८)	मूर्खताके दुराग्रहसे, शरीर, मन-वाणीको सताकर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये किये जानेवाले त्रिविध तप । (१७ । १९)
दान ...	जिसको, जिस समय, जिस वस्तुकी यथार्थतः धर्मयुक्त आवश्यकता हो, उसको उस समय वह वस्तु कर्तव्यबुद्धिसे बदला पानेकी इच्छा न रखकर देना । (१७ । २०)	बदला पानेके लिये, किसी लौकिक पारलौकिक फलकी आशासे (नाम बड़ाई उपाधि, व्यापार वृद्धि, सम्मान स्वर्ग आदिके लिये) और मनमें कष्ट पाकर देना । (१७ । २१)	दान लेनेवालेको इस समय इस वस्तुकी धर्मयुक्त यथार्थ आवश्यकता है या नहीं, इस बातका कुछ भी विचार किये बिना मनमाने तौरपर अथवा आदर न करके और अपमान करके देना । (१७ । २२)
त्याग ...	नियत कर्मको कर्तव्य-बुद्धिसे करना और उसमें आसक्ति तथा फलेच्छा-का त्याग कर देना । (१८ । ९)	कर्मको दुःखरूप (झंझट) समझ कर शारीरिक क्लेशके भयसे उसे स्वरूपसे त्याग देना । (१८ । ८)	नियत कर्मका मोहसे त्याग कर देना । (१८ । ७)

* शरीरका, वाणीका और मनका इस तरह तीन प्रकारके तप होते हैं ।

शरीरका तप—देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और ज्ञानी जनोंकी सेवा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, यह मुख्यतः शारीरिक तप है । (१७ । १४)

वाणीका तप—ऐसे वचन बोलने चाहिये जिनसे किसीको उद्वेग न हो, जो सुननेमें प्यारे लगें, जिनका उद्देश्य हितकर हो और जो सच्चे हों । ऐसे वचन बोलनेके प्रसंगके अतिरिक्त अन्य समय ऋषि-मुनि-प्रणीत सद्ग्रन्थोंका अध्ययन और परमात्माका नाम-गुण-कीर्तन करना चाहिये, यह मुख्यतः वाङ्मय तप है । (१७ । १५)

मनका तप-मनको प्रसन्न रखना , शान्त रखना, भगवच्चिन्तनके सिवा व्यर्थ संकल्प-विकल्प न करना, मनको नियन्त्रणमें रखना और उसे पवित्र रखना मुख्यतः मानसिक तप है । (१७ । १६)

विषय	सात्त्विक	राजस	तामस
ज्ञान ...	समस्त भूत-प्राणियोंमें पृथक् पृथक् दीखनेवाले एक ही अविनाशी परमात्म-भावको सबमें विभागरहित समभावसे स्थित देखना। (१८।२०)	समस्त भूत-प्राणियोंमें भिन्न भिन्न अनेक भावोंको अलग अलग देखना। (१८।२१)	शरीरको ही आत्मा समझनेवाला बिना ही युक्तिका तत्त्वार्थरहित, तुच्छ सीमाबद्ध ज्ञान। (१८।२२)
कर्म ...	जो नियतकर्म कर्तापनके अभिमानसे रहित फल न चाहनेवाले पुरुष द्वारा रागद्वेष छोड़ कर किये जाते हैं। (१८।२३)	जो विशेष परिश्रमसाध्य कर्म फल चाहनेवाले, कर्तापनके अहंकारसे युक्त पुरुषके द्वारा किये जाते हैं। (१८।२४)	जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और अपनी शक्तिका कुछ भी विचार किये बिना मूर्खतासे जोशमें आकर किये जाते हैं। (१८।२५)
कर्ता ...	जो सिद्धि असिद्धिमें हर्ष-शोकको प्राप्त न होकर आसक्ति और अहंकाररहित होकर धीरज और उत्साहसे कर्तव्य-कर्म करता है। (१८।२६)	जो लोभसे, आसक्तियुक्त, हिंसात्मक, अपवित्र, कर्मफलकी इच्छासे कर्म करता है और सिद्धि असिद्धिमें हर्ष शोकमें डूब जाता है। (१८।२७)	जो अव्यवस्थितचित्त, मूर्ख, घमण्डी, धूर्त, शोकग्रस्त, आलसी, दीर्घसूत्री और दूसरेकी आजीविकाको नष्ट करनेवाला है। (१८।२८)
बुद्धि ...	जो प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्गको कर्तव्य-अकर्तव्यको, भय-अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थरूपसे पहचानती है। (१८।३०)	जो धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय नहीं कर सकती। (१८।३१)	जो धर्मको अधर्म मानती है और सभी बातोंमें उलटा(विपरीत) निर्णय करती है। (१८।३२)
धृति (धारणा)	जो सब विषयोंको छोड़कर केवल भगवान्में ही लगकर मन, प्राण और इन्द्रियोंकी सारी क्रियाओंको भगवत्-सन्निधिके योगद्वारा भगवदर्थ ही करवाती है। (१८।३३)	जो फल चाहनेवाले मनुष्यको अत्यन्त आसक्तिसे धर्म अर्थ और कामरूप विषयोंमें लगाती है। (१८।३४)	जिससे दुष्टबुद्धि मनुष्य केवल सोये रहने, डरने, शोक करने, उदास रहने और मतवाला बने रहनेमें ही अपना तन, मन, धन लगा देता है। (१८।३५)
सुख ...	जिससे सत्कर्मोंका अभ्यास होता है, जो अन्तमें दुःखको नष्ट कर डालता है, जो आरम्भमें (पाठशालामें आनेवाले बालकको पाठशालाकी भांति) जहरसा दीखता है परन्तु भगवत्-विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेके कारण परिणाममें अमर कर देता है, मोक्षकी प्राप्ति करवा देता है। (१८।३६, ३७)	जो विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर आरम्भमें (भोग कालमें दादकी खुजलाहटके समान) अमृतसा सुहावना लगता है परन्तु परिणाममें लोक परलोकका नाश करनेवाला होनेके कारण विषके सदृश है। (१८।३८)	जो आरम्भ और अन्त दोनोंमें ही आत्माको मोहमें डालता है और जो निद्रा आलस्य तथा प्रमादसे प्राप्त होनेवाला है। (१८।३९)

श्रीगोविन्दकी गीता और कल्याणी गौ

(लेखक—पं० श्रीगंगाप्रसादजी अग्निहोत्री)

'धेनूनामस्मि कामधुक्।' (गीता १०—२८)

हम वर्तमान भारतवासी प्राचीन आर्य विद्वानोंकी अपेक्षा अपने आपको अधिक विद्वान् अधिक धनवान् और अधिक भारतभक्त भले ही माना करें, पर वास्तवमें हम लोग उनके पसंगेमें भी नहीं हैं। उन लोगोंने हम लोगोंके कल्याणके लिये जो जो आवश्यक अनुसन्धान किये थे, और उनसे अपना हित सम्पन्न करनेके हमें जो जो उपाय बतलाये थे, उन अद्भुत अनुसन्धानोंसे अपने व्यापक और घनिष्ठ हितोंका पहचानना तक हम लोग भूल गये हैं। ऐसी परिस्थितिमें उनके बतलाये हुए उपायोंका भूल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है।

प्राचीन भारतके बड़े बड़े महर्षि, राजर्षि, वेदवेदांग-पारगामी और चक्रवर्ती राजासे लेकर अपचतक अपने जीवनको बनाये रखनेके लिये विश्वमाता गौके जिस प्रकार ऋणी थे, उसी प्रकार आजकलके भारतीय राजा महाराजा, हाईकोर्टके चीफ जस्टिस, बैरिष्टर, वकील, सेठ-साहूकार, जमींदार और किसानादि सबके सब गो-वंशके ऋणी हैं। पर अत्यन्त खेद-की बात है कि उनमें एक भी माईका लाल ऐसा नहीं है जो गो-कुलके अनन्त उपकारोंको मानकर, उसके वर्त्तमान कुलक्षयके सङ्कटको दूर करनेकी उचित चेष्टा करता हो। अंगरेजी विद्याके धुरंधर पण्डित भारतीय तो यदा कदा ही गोविन्द श्रीकृष्णकी गीताको इस दृष्टिसे देखते होंगे, पर जो सनातन-धर्मके प्रेमी और पक्षपाती आचार्यगण, गोस्वामी-गण और उनके सेवक करोड़पति तथा लखपति महाजन गीताको सदा हृदयसे लगाये रखते हैं तथा अहोरात्र उसका पाठ करते रहते हैं, बेशक गोपरिपालन-विदग्ध (गोविन्दो वेदनाद्गवाम्) श्रीकृष्णके (धेनूनामस्मिकामधुक्) इस उपदेश-का यथार्थ मर्म समझनेकी चिन्ता और चेष्टा नहीं करते। इस उपदेशमें विश्वमाता गौके एकान्त उपासक श्रीकृष्ण बहुत स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि संसारी प्राणियोंके ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याणोंके उत्पन्न करनेवाली दुधार गौ मैं ही हूं। भगवान् श्रीकृष्णके इस कथनका स्पष्टार्थ यही है कि जबतक भारतमें दुधार गौओंका कुल बना हुआ है तभी तक भारतवासी सुखादिसे सम्पन्न रहकर अपने परम कल्याणको प्राप्त कर सकते हैं। कल्याणी गौके कुलकी उपेक्षा कर न तो वे इस संसारमें ही सुखी हो सकते हैं और न पारलौकिक कल्याणको ही प्राप्त कर सकते हैं। भाव यह है कि आत्मकल्याण-इच्छुकोंके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे श्रीकृष्णकी पूज्या देवी (गावोऽस्मद्दैवतं) गौको सदा कामधेनु—दुधार—बनाये रखनेकी चेष्टा करते रहा करें। क्योंकि भगवान् कहते हैं कि इस संसारमें मैं दुधार गौका रूप धारण करके ही अपने भक्तोंका कल्याण करता रहता हूं। जो मेरी भक्तिसे लाभ उठाना चाहते हैं उन्हें उचित है कि वे गौको सदा कामधेनु—दुधार—बनाये रखनेकी चेष्टा करते रहा करें। शास्त्रविहित गोपरिपालनसे ही गौ दुधार हो सकती है।

कहां तो भगवान्का उक्त उपदेश और कहां उन गीता-भक्तोंकी कृति, जो मिल-मालिक बनकर गो-कुलके चमड़े और चर्बीके खरीदनेमें प्रतिवर्ष लाखों रुपये खर्च करते रहते हैं। समझमें नहीं आता कि जो धनवान् एक ओर गोविन्दभवनकी स्थापनाकर उसमें सत्संगकी मात्रा बढ़ानेकी चेष्टा करते हैं और दूसरी ओर अपने मिल आदि कल कारखानोंमें गो-वंशके चमड़े और चर्बीके खरीदनेमें लाखों रुपये खर्च करते हैं, उनकी गीता-भक्तिसे गीता-गायक गोविन्द क्योंकर सन्तुष्ट होकर उन्हें कल्याणपद प्रदान करेंगे ?

इस समय गोविन्द द्वारा गायी हुई गीताके जो अनन्य पुजारी और प्रचारक हैं, उनका यह परम पुनीत कर्त्तव्य एवं धर्म है कि वे लोग गीताके प्रचारके साथ साथ गौओंको कामधेनु—प्रचुर दुग्धवाली बनानेकी भी चेष्टा तन, मन और धनसे किया करें। गौओंको कामधेनु बनानेका सबसे सहज, सरल और सर्वप्रिय उपाय यही है कि किसानों और ग्वालों तथा गोदान लेनेवाले ब्राह्मणोंमें शास्त्रविहित गोपरिपालनकी शिक्षाका प्रचार आरम्भ कर दिया जाय। आरम्भिक गो-परिपालनकी शिक्षा देनेवाला सच्चा गो-साहित्य है। उसका उक्त लोगोंमें अत्यधिक प्रचार कर गीताके अनन्य भक्त दुधार गौओंके रूपमें कल्याणदाता गोपाल श्रीकृष्णके दर्शन बहुत सहजमें ही कर सकते हैं।

जिन लोगोंने पिंजरापोल और गोशालाएं खोलकर गोरक्षाका प्रबन्ध किया है, उनका वह प्रबन्ध तब हितकर था जब गोवधने व्यापारका रूप धारण नहीं किया था। आजकल उनका वह प्रबन्ध गूलरके भीतर रहनेवाले प्राणियोंकी समझकी भांति गोरक्षाका बहुत ही संकुचित क्षेत्र है। इस संकुचित क्षेत्रके बाहर गोपरिपालनका प्रबन्ध किये बिना समूचे प्रान्तके गोधनकी रक्षा नहीं की जा सकती। समस्त भारतकी गोरक्षा करना उन संस्थाओंके लिये एकदम असम्भव है।

जो लोग कलकत्ता, कानपुर, करांची और बम्बई आदि बड़े बड़े नगरोंमें बसकर कपास, सूत, कपड़ा और धान्योंका व्यापार कर लखपती और करोड़पती बन गीता-प्रचारका अथवा भारतोद्धारका प्रयत्न करते हैं, वे लोग थोड़ा सा ही विचार करें तो उन्हें ज्ञात हो सकता है कि उन्हें उनके व्यापारकी जो सामग्री कलकत्ते आदि नगरोंसे मिला करती है, वह उन उन स्थानोंके गो-कुलके प्रसादसे ही मिला करती है जहां वे चीजें कृषिद्वारा पैदा की जाती हैं या कलाद्वारा बनायी जाती हैं। ऐसी परिस्थितिमें केवल कलकत्ता आदि नगरोंमें पिंजरापोल वा गोशाला खोलकर थोड़ेसे विकलांग गोवंशज प्राणियोंकी प्राणरक्षा करना कैसे पूर्ण लाभदायक हो सकता है? उससे वह ठोस हित नहीं हो सकता, जिसे दुधार गौके रूपमें सम्पन्न करनेका वचन गोपाल श्रीकृष्णने गीताके दशवें अध्यायके अट्ठाईसवें मन्त्रके उक्त अंशमें दिया है। गोपाल श्रीकृष्णके उक्त उपदेशसे गीताके प्रेमी तभी लाभ उठा सकते हैं, जब वे भारतके ग्रामोंमें बसनेवाले किसानोंमें गोपरिपालनकी शिक्षाद्वारा गौओंको कामधेनु बनानेकी भावनाको उनमें जागृत कर देंगे।

आशा है कि गीता, गोविन्द और बाबा भोलानाथजीके अनन्य भक्त इस लेखको पढ़कर यों ही चुप नहीं रह जायंगे किन्तु विश्वमाता गोके कुलका सुधार और उत्कर्ष करनेमें उसी प्रेमसे जुट जायंगे, जिस प्रेमसे महात्मा गांधीके भक्त उन्हें चर्खा और खद्दरके प्रचारार्थ मुक्तहस्त होकर धन दिया करते हैं। गीताके धनी भक्त थोड़ा सा ही विचार करें तो उन्हें तत्क्षण ज्ञात हो सकता है कि चर्खे और खद्दरकी जननी कल्याणी गौ ही है। उसकी उपेक्षा कर चर्खे और खद्दरसे तादृश लाभ नहीं हो सकता। अतः गौ सर्वप्रथम रक्षणीय और संवर्द्धनीय है।*

* गीताके गायक भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तप्रवर अर्जुनकी जीवनलीलाओंसे गौका बड़ा सम्बन्ध है। भगवान्‌का सारा बाल्य-जीवन गोसेवामें बीता। गीताके श्रोता अर्जुनने गौको लुटेरोंके हाथसे छुड़ानेके लिये कुटुम्बके नियमको तोड़कर बारह सालके लिये निर्वासनका दण्ड इच्छापूर्वक स्वीकार किया। विराट् नगरमें गोधनकी रक्षाके लिये अकेले अर्जुनने भीष्म-कर्णादि महारथियोंसे लोहा लिया।

गीतामें यज्ञकी बड़ी प्रशंसा है, परन्तु यज्ञमें गोरसकी प्रधान आवश्यकता है, सात्त्विक आहारमें गोरस मुख्य है। सात्त्विक दानमें गोदानकी प्रधानता समझी जाती है। महाभारतमें गौके अन्दर साक्षात् लक्ष्मीका निवास बतलाया है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे गीताके अनुसार गोरक्षाकी ओर ध्यान देना भी एक प्रधान कर्त्तव्य समझा जाना चाहिये। —सम्पादक

गीता सत्यका निर्णय करती है

'सत्यकी कोई निर्दोष कसौटी निर्धारित करना कितना कठिन है, यह मैं भलीभांति जानता हूँ। सत्-विश्वास, सत्-संकल्प, सत्यभाषणादि आठ प्रकारके श्रेष्ठ कर्तव्योंमें सत् क्या है इसका निर्णय कौन करे? इस प्रश्नका उत्तर एक प्रकारसे बौद्धधर्ममें मिलता है परन्तु भगवद्गीतामें इसका विवेचन बहुत सुन्दर ढंगसे किया गया है। उसमें यह निश्चितरूपसे बतलाया गया है कि मनुष्य स्वयं कर्मोंको त्याग कर ही उनके बन्धनसे मुक्त नहीं होता और न केवल संन्याससे ही वह परमपदको प्राप्त कर सकता है। (परमपदको वह पाता है) जिसके कर्म आकांक्षारहित होते हैं, जिसने कर्मोंके फलकी आसक्तिको त्याग दिया है, जिसको किसी वस्तुकी इच्छा अथवा लोभ नहीं है, जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है और जो निरीह होकर शरीरमात्रसे ही कर्म करता है..............।'

—लार्ड रोनाल्डशे।

अध्यायानुक्रमसे गीतान्तर्गत व्यक्तियों-द्वारा कथित श्लोक-संख्या

अध्याय	धृतराष्ट्र	सञ्जय	अर्जुन	श्रीभगवान्	पूर्ण संख्या
१	१	२५	२१	०	४७
२	०	३	६	६३	७२
३	०	०	३	४०	४३
४	०	०	१	४१	४२
५	०	०	१	२८	२९
६	०	०	५	४२	४७
७	०	०	०	३०	३०
८	०	०	२	२६	२८
९	०	०	०	३४	३४
१०	०	०	७	३५	४२
११	०	८	३३	१४	५५
१२	०	०	१	१९	२०
१३	०	०	०	३४	३४
१४	०	०	१	२६	२७
१५	०	०	०	२०	२०
१६	०	०	०	२४	२४
१७	०	०	१	२७	२८
१८	०	५	२	७१	७८
	१	४१	८४	५७४	७००

गीताके श्लोकोंका छन्द-विवरण

गीताके सातसौ श्लोक अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति और विपरीतपूर्वा इन पांच छन्दोंमें रचे गये हैं। इनमेंसे ६४५ श्लोक तो अनुष्टुप् छन्दमें हैं, अवशेष ५५ श्लोकोंका विवरण निम्न-लिखित है।

छन्दका नाम	अध्याय	श्लोकोंकी संख्या	कु० सं०
इन्द्रवज्रा श्लोक १०	२	७,२९	२
...	८	२८	१
...	९	२०	१
...	११	२०,२२,२७,३०	४
...	१५	५,१५	२
उपेन्द्रवज्रा श्लोक ४	११	१८,२८,२९,४५	४
उपजाति श्लोक ३७	२	५,६,८,२०,२२,७०	६
...	८	९,१०,११	३
...	९	२१	१
...	११	१५,१६,१७,१९,२१, २३,२४,२५,२६,३१, ३२,३३,३४,३६,३८, ४०,४१,४२,४३,४६, ४७,४८,४९,५०	२४
...	१५	२,३,४	३
विपरीतपूर्वा श्लोक ४	११	३५,३७,३९,४४	४

गीता सुरम्य मन्दिर है

गीता एक सुविशाल सुदृढ़ सुरम्य मन्दिर है। इसकी सुन्दर भव्य आकृति और रचना-प्रणालीको देखकर कहना पड़ता है कि इसका निर्माणकर्ता एक ही कारीगर है। पाटें, खम्भे, दीवारें, कोने आदि जो कुछ भी देखिये सब एक ही मसालेका काम दीख रहा है।—'मैं नहीं लड़ूंगा ऐसा कहकर अर्जुन चुप हो गया' यह गीता-भवनकी नींव है। विश्वरूप दर्शन उसका मध्य भाग है और 'मैं तुम्हारे वचनानुसार कार्य करूंगा' यह उस भवनकी चोटी है। सांख्य, योग, वेदान्त, भक्ति ये इस भवनके चार कोनोंके चार 'मीनार' हैं, चारों ओर सुन्दर दिवारोंपर सुन्दर अक्षरोंमें 'तत्त्वज्ञान' लिखा हुआ है और इस भवनकी चारदीवारीके अन्दर 'परब्रह्म' विराजित है।

—रावबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य

गीताके अनुसार दान

(ले० श्रीमान् महाराजकुमार श्रीउम्मेदसिंहजी, शाहपुरा स्टेट)
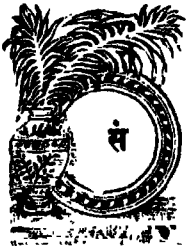
संसारमें जितने भी धर्म प्रचलित हैं, सबमें 'दान' धर्मका एक आवश्यक अंग माना गया है। प्रत्येक धर्म-ग्रन्थमें न्यूनाधिक रूपसे इसका प्रतिपादन है, परन्तु हिन्दू-धर्ममें दानका अत्यधिक महत्व है। यों तो हिन्दू-धर्मके सभी छोटे मोटे ग्रन्थोंमें इसका विधान है और प्रत्येक हिन्दू किसी न किसी रूपमें दान करता भी रहता है, परन्तु इस लेख द्वारा यह दिखाने-का यत्न किया जायगा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें दानको क्या स्थान दिया गया है, और उसकी विधि क्या है ?

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८-५) में भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट विधान करते हैं कि यज्ञ, दान और तप मनीषियों (विचारशीलों, ब्राह्मणों) को भी पवित्र करनेवाले कर्म हैं। वर्णधर्मकी मीमांसा करते हुए 'दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्' (१८।४३) में दिखलाया है कि दान आस्तिकता ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं, परन्तु इससे कहीं यह सन्देह न हो जाय, कि केवल वर्ण-धर्ममें स्थित लोगोंके ही लिये दान आवश्यक है, त्याग-वृत्ति स्वीकार कर लेने पर, संन्यासी हो जाने पर इसकी आवश्यकता नहीं। इसलिये त्यागकी मीमांसा करते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि 'यज्ञदानतपः-कर्म न त्याज्यमिति चापरे' (१८-३,) अर्थात् यज्ञ, दान और तप इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिये, इस प्रकार ब्राह्मण-से लेकर शूद्र पर्यन्त सभी वर्णों और ब्रह्मचारीसे लेकर संन्यासी पर्यन्त सभी आश्रमोंके लिये अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार दान आवश्यक कर्तव्य बतलाया गया है।

यज्ञके सम्बन्धमें तो और भी बड़ी आज्ञा है।

> यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
>
> भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (३-१३)

अर्थात् 'यज्ञावशेष भोजन करनेवालोंके सब पाप दूर हो जाते हैं, इसके विपरीत जो अपने ही भोजनके लिये बनाते हैं वे पाप भोजन करते हैं।' यज्ञ शब्दकी उत्पत्ति यज् धातु से है जिसपर महामुनि पतंजलि की व्यवस्था है कि, 'यज् देवपूजा संगतिकरणदानेषु' अर्थात् यज्ञका भी दान एक अंग है। अतएव विदित है कि जो व्यक्ति अपनी कमाईका सभी भाग केवल अपने उपभोगमें ही लगाते हैं, दान नहीं करते वे मानो अपने सिर पर पापकी गठरी बांधते हैं। इस प्रकार गीताके अनुसार दान एक आवश्यक कर्तव्य है। अब विचारणीय यह है कि जिस कर्तव्यको इतना आवश्यक बतलाया है, उसके लिये भगवान्ने नियम क्या रक्खा है ?

गीताके सतरहवें अध्यायमें भगवान्ने तीन प्रकारके दान बतलाये हैं—सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। दूसरे शब्दोंमें उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। भगवान् कहते हैं—

> दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे,
>
> देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्।
>
> यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः,
>
> दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।
>
> अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते,
>
> असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।
>
> (२०, २१, २२)

अर्थात् जो किसी प्रकारके प्रत्युपकारकी इच्छा न करते हुए देश काल और पात्रका विचार करके दान दिया जाता वह सतोगुणी अथवा उत्तम है। जो प्रत्युपकार अथवा निश्चित फल, लोकमें बड़ाई आदिकी इच्छासे दिया जाता है वह रजोगुणी अथवा मध्यम है, परन्तु जो देश काल तथा पात्रका विचार किये बिना ही दिया जाता है वह तमोगुणी अर्थात् कनिष्ट अधम दान है, उसका फल राखमें होम करनेकी भाँति कुछ नहीं है सो ही नहीं प्रत्युत दानकी धरोहरको नष्ट करनेका दायित्व, प्रमाद एवं दुरुपयोगका अपराध भी है।

हिन्दू-जाति* दानशीलतामें प्रसिद्ध है, इसके समान दान संसारमें किसी भी जातिमें नहीं है, देशमें करोड़ों रुपयोंके दान हुए और हो रहे हैं, परन्तु देखना यह है कि आज जो दान हो रहा है वह भगवान्के बतलाये हुए दान-की कौनसी श्रेणीमें रक्खा जा सकता है ?

साधारणतया लोगोंने देशका तात्पर्य प्रयाग, काशी आदि तीर्थस्थान; कालसे मकर-संक्रान्ति, कुम्भकी संक्रान्ति-

* सनातनी, आर्य्यसमाजी, जैन, बौद्ध, सिक्ख, ब्राह्म, आदि सभी हिन्दूजातिके अन्तर्गत आजाते हैं, यहां भी उसी आशयमें लिखा गया है।

ब्राह्मण आदि और पात्रसे साधु वेशधारी तथा तीर्थोंके पंडे पुजारी आदि समझ रक्खा है और इसीके अनुसार वे दान करते हैं। यद्यपि वे देखते हैं कि उनके दान किये धनसे उन वेशधारियोंमें अधिकांश गाँजा, सुलफा, भङ्ग, चरस आदिमें और पंडोंमें से अधिकांश नाच रङ्ग, तमाशेमें लगा कर दुरुपयोग करते हैं। कितनी ही जगह चढ़ावेका एक निश्चित भाग वहांके अधिपतियोंके उपभोगमें लगता है। फिर भी श्रद्धाके वशीभूत होकर बिना पात्रापात्र विचारके दान करते हैं, उसे भगवान् श्रीकृष्णके बतलायी हुई तीसरी श्रेणीमें ही रक्खा जा सकता है।

कितने ही वस्तुतः साधना करनेवाले सच्चे साधु भूखे रह जाते हैं और पाखण्डी माँगनेवाले रुपया दो रुपया प्रतिदिन भिक्षा करके कमा लेते हैं। इसी प्रवृत्तिके कारण देशमें लाखों मँगते पैदा होकर देशकी आर्थिक दशाको गिरा रहे हैं और सार्वजनिक उपयोगी संस्थाएं धनाभावसे निर्बल होती जा रही हैं।

कितने लोग केवल नामके लिये दान करते हैं, वे आवश्यकता, अनावश्यकतापर विचार नहीं करते। इस प्रकारके दान रजोगुणी होते हुए भी व्यर्थ हैं। वस्तुतः चाहे नामके ही लिये क्यों न हो—यदि देश, धर्म, जातिकी आवश्यकताको पूर्ण करनेवाला दान हो तो वह रजोगुणी होते हुए भी लाभकारी है। जैसे दुष्कालमें सहायतार्थ, विधवा-कष्टनिवारणार्थ, अनाथोंके रक्षार्थ, बालक-बालिकाओंके शिक्षार्थ जो द्रव्य दान किया जाता है, वह नामके लिये भी किया जाय तो भी, मध्यम कोटिका होनेपर भी वह फलदायक व उपयोगी होनेमें श्रेष्ठ है।

एक तरफ देखा जाता है कि इङ्गलैण्ड, अमेरिकाके ईसाइयोंका धन भारतवर्षमें ईसाई-धर्म-प्रचारार्थ पानीकी भाँति बहाया जाता है, दूसरी तरफ भारतवासी हिन्दुओंके दानसे, जो संसारमें सबसे अधिक दानी कहलाते हैं, देशमें ही धर्मकी अवस्था गिरी जाती है। अनाथ बच्चे, दुष्काल-पीड़ित भाई, विधवाएं विधर्मियोंकी शरणमें जा रहे हैं। हिन्दू देखते हैं, उत्साही कार्यकर्ता जोर मारते हैं, परन्तु धनाभावसे उत्साहहीन हो जाते हैं। क्यों? ईसाई, भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार व्यवस्थितरूपमें दान करते हैं इसलिये उनका थोड़ा दान भी अच्छी भूमिमें पड़े हुए बीजकी भाँति अधिक फल लाता है, इधर अव्यवस्थित रूपसे अन्ध-श्रद्धाके वशीभूत अविचारयुक्त हिन्दुओंका दान ऊसर भूमिमें पड़े हुए बीजकी भाँति अंकुरित ही नहीं होता।

ऐसे दानके लिये भगवान्ने कहा है:—

> अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
> असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

अर्थात् ऐसा दान न इस लोकमें सुखकारक है न परलोकमें पुण्यका देनेवाला है।❀

❀ गीताके अनुसार दान बड़े महत्त्वकी वस्तु है। दान करनेका अधिकार अमीर गरीब सभीको है। दानमें प्रधान तत्त्व त्याग है, धनकी संख्या नहीं। अयोग्य देश, काल, पात्रमें एवं असत्कार और अपमानपूर्वक दिये हुए लाखों करोड़ोंके दानकी अपेक्षा नाम बड़ाई प्रत्युपकारके लिये लोकहितकर धार्मिक कार्योंमें किया हुआ हजारों सैकड़ोंका दान श्रेष्ठ है, और उससे भी श्रेष्ठ वह है जो योग्य देश, काल, पात्रमें फलकी इच्छा छोड़कर कर्तव्यबुद्धिसे किया जाता है, जो परिमाणमें अल्प होनेपर भी त्यागके आधारपर स्थित है। एक करोड़पति नामके लिये लाख रुपयेका दान करता है, दूसरी ओर एक गरीब अपने पेटका एक टुकड़ा अर्थात् [illegible] प्रेमके साथ भूखेको अर्पण करता है, इनमें दूसरा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसने वास्तविक त्याग किया है। इसीलिये महाभारतमें युधिष्ठिरके अन्नद्रव्यके प्रचुर दानयुक्त अश्वमेध यज्ञमें एक नकुलने प्रकट होकर युधिष्ठिरके धनराशिके दानकी अपेक्षा दरिद्र ब्राह्मणके सत्तूके दानको ऊंचा सिद्ध कर दिया था (महा० अश्वमेध पर्व अ० ९०)

पवित्र तीर्थ-स्थान, पर्व-काल और श्रुतिस्मृतिसम्पन्न वेदपरायण सदाचारी ब्राह्मणके प्रति तो दान करना सर्वथा कर्तव्य ही है। परन्तु देश काल पात्रसे यह नहीं समझना चाहिये कि तीर्थ, पर्व या ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य किसीमें दान नहीं करना चाहिये। जिस कालमें, जहां, जिसको जिस वस्तुकी यथार्थमें आवश्यकता है, उसको वहां वह वस्तु फलकी इच्छा किये बिना प्रेम और सत्कारपूर्वक त्यागबुद्धिसे ईश्वरार्थ प्रदान कर देना ही गीतोक्त सात्त्विक दान है।—सम्पादक

गीता और ईसाई धर्म

[लेखक–डाक्टर एच० डब्ल्यू० बी० मोरेनो, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रेसिडेण्ट ऐंग्लो इण्डियन लीग]

अब तक कई लोगोंकी यह धारणा है कि संसारके जितने भी धर्म हैं वे सब एक दूसरेसे इतने भिन्न हैं कि उनका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं है, मुसलमानोंका धर्म हिन्दुओंके मतसे पृथक् है और ईसाइयोंके मतका हिन्दुओं और मुसलमानों दोनोंके मतसे मेल नहीं खाता। ऐसी धारणाको कुसंस्कारके अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता और इन कुसंस्कारोंका मूल धर्मके ठेकेदारों द्वारा किया हुआ प्रचार-कार्य है। संसारके धर्मोंमें जो कुछ भी भेद है वह मनुष्यका बनाया हुआ है। प्रत्येक धर्मके अन्तर्गत कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो मनुष्योंके अन्दर एकता स्थापित करनेवाले हैं। वे ही तत्त्व ईश्वरीय हैं। पृथ्वीपर जितने भी धर्म हैं उनके मुख्य तत्त्वोंकी ही यदि समीक्षाकी जाय तो हम यह देखकर अपने दाँतो तले उंगली दबाने लगेंगे कि कितनी बातोंमें हमारा एक दूसरेके साथ मतभेद है और कितनी बातें ऐसी हैं जो हम सब लोगोंको मान्य हैं। उदाहरणतः हम सब लोग ईश्वरको मानते हैं, और मनुष्य मात्र उस एक ईश्वरकी सन्तान होनेके कारण आपसमें भाई हैं, इस सिद्धान्तको भी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार हम लोग पापको भी मानते हैं और साथ ही उसके त्याग तथा शुभ कर्म करनेकी चेष्टामें विश्वास करते हैं। यह बात अलग है कि पापका त्याग करने और अच्छे कर्म करनेके मार्ग भिन्न भिन्न धर्मोंके अनुसार भिन्न भिन्न हों। श्रीकृष्णने स्वयं कहा है–'मैं आनन्दका समुद्र हूँ, अनेक नदियां आकर मुझमें समाती हैं; उनमेंसे कुछ तो इधर उधर न घूमकर सीधी मेरे पास चली आती हैं और कुछ टेढ़े मेढ़े रास्तोंसे होती हुई मेरे पास पहुँचती हैं; किन्तु आती सब मेरे पास हैं, क्योंकि मैं तो आनन्दका समुद्र ही ठहरा।' दूसरा उदाहरण हमें भगवद्गीताके ही अनुशीलनसे मिलता है। हम सब इस बातको जानते हैं कि श्रीकृष्णका,–जिनका उपदेश इस पवित्र ग्रन्थमें संगृहीत है,–जीवन यीशु ख्रीष्टके जीवनसे बिल्कुल मिलता है। बचपनमें दोनोंको ही अनेक कष्ट दिये गये थे और उनके माता पिताको भी अनेक सन्ताप सहने पड़े थे। दोनोंके उपदेशोंमें भी एकता है क्योंकि दोनों ही ने पापका नाश करने और पुण्यकी जय होनेकी बात कही है। भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने कहा है–'जब जब संसारमें पाप बहुत बढ़ जाता है, तब तब मैं उसका नाश करने और धर्मको फिरसे स्थापित करनेके लिये संसारमें जन्म ग्रहण करता हूँ।' (गी० ४।७ ८) ईसामसीहने भी ठीक इसी प्रकार अपने शिष्योंसे कहा-'मैं एक बार और इस लोकमें आकर मनुष्योंमें अपना अर्थात् धर्मका राज्य स्थापित करूंगा।' श्रीकृष्णने कहा है कि 'भलाई भलाईके ही निमित्त करनी चाहिये, और किसी उद्देश्यसे नहीं।' ईसामसीहने भी इसी बातको प्रकारान्तरसे इन शब्दोंमें दुहराया है 'हम लोगोंको चाहिये कि हम पापका बदला पापियोंके साथ भलाई करके लें।' श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना विराट् रूप दिखलाया था और ईसामसीहने भी सिनाई पर्वतपर पीटर और जान नामक दो शिष्योंको अपना तेजस्वीरूप दिखलाया था। ऐसा करनेमें दोनोंका उद्देश्य इस बातको बतलाना था कि यद्यपि हम जनसाधारणको मनुष्यरूपमें दिखायी देते हैं, किन्तु वास्तवमें हम ईश्वरके अवतार हैं। श्रीकृष्णने धर्मकी वेदीपर अपना पाञ्चभौतिक शरीर होम दिया, जब द्वारकामें उन्हें अचानक बाण लगा, और ईसाने धर्मके लिये सूली (Cross) पर अपने प्राण त्याग दिये; और तो क्या कहें इन दोनों अवतारी महापुरुषोंके नाम तक एक दूसरे (कृष्ण और क्राइस्ट) से मिलते हैं। उनके जीवन और उपदेशोंमें भी साम्य है। ईसामसीहका जो धर्म है, वही भगवद्गीताका धर्म है, केवल नाम अलग अलग हैं। भारतवर्षमें तो जहाँ ईसाइयोंका हिन्दुओंके साथ प्रतिदिनका सम्बन्ध है, दोनोंके बीचमें एकता स्थापित करनेकी बड़ी भारी गुञ्जाइश है, परन्तु शोककी बात है कि उनमें अब भी कितना भेदभाव है। नहीं तो इन दो महान् धर्मोंके सिद्धान्तोंका विचारपूर्वक अनुशीलन करनेसे, जो बात इस लेखमें बहुत संक्षेप रूपसे कही गयी है अर्थात् इन धर्मोंके अन्दर जितना मतभेद है, उसकी अपेक्षा ऐकमत्य कहीं अधिक मात्रामें है, वह अधिक स्पष्ट होजानी चाहिये।

अन्तमें केवल इतना ही कहना है कि आत्मोत्सर्ग, अथवा अहं-बुद्धिका त्यागही गीताका एकमात्र उपदेश है। ईसाका भी भाव यही था, जब उन्होंने कहा–'यदि कोई मनुष्य मेरा अनुयायी बनना चाहता है तो उसे चाहिये कि वह अहं भावका सर्वथा त्याग करदे और कष्ट सहनेके लिये तैयार होकर मेरे साथ हो ले।'

ग्रहण आदि
पुजारी

.र्यवसान साकार ईश्वरकी शरणागतिमें है

(लेखक—श्री 'कृष्णशरण')

गीता भगवान् सच्चिदानन्दकी वाणी है, इसका यथार्थ अर्थ भगवान् ही जानते हैं, हम लोग अपनी अपनी भावना और दृष्टिकोणके अनुसार गीताका अर्थ निकालते हैं, यही स्वाभाविक भी है। परन्तु स्वयं भगवान्‌की वाणी होनेसे गीता ऐसा आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है कि किसी तरह भी इसकी शरण ग्रहण करनेसे शेषमें परमात्म-प्रेमका पथ मिल ही जाता है। गीतापर अब तक अनेक टीकाएँ बनी हैं और भिन्न भिन्न महानुभावोंने गीताका प्रतिपाद्य विषय भी भिन्न भिन्न बतलाया है, उन विद्वानों और पूज्य पुरुषोंके चरणोंमें ससम्मान नमस्कार करता हुआ, उनके विचारोंका कुछ भी खण्डन करनेकी तनिकसी भी इच्छा न रखता हुआ, मैं पाठकोंके सामने अपने मनकी बात रखना चाहता हूं। शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञानयोग, ध्यानयोग, समाधियोग, कर्मयोग आदि सर्वथा उपादेय हैं और प्रसंगवश गीतामें इनका उल्लेख भी पूर्णरूपसे है परन्तु मेरी समझसे गीताका पर्यवसान 'साकार भगवान्‌की शरणागति' में है और यही गीताका प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। गीताके प्रधान श्रोता अर्जुनके जीवनसे यही सिद्ध होता है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके बड़े प्रेमी सखा थे, उनके चुने हुए मित्र थे, आहार-विहार-भोजन-शयन सभीमें साथ रहते थे, अर्जुनने भगवान्‌को अपने जीवनका आधार बना लिया था, इसीलिये उनके ऐश्वर्यकी तनिकसी भी परवा न कर मधुररूप प्रियतम उन्हींको अपना एक मात्र सहायक और संगी बनाकर अपने रथकी या जीवनकी बागडोर उन्हींके हाथमें सौंप दी थी। दुर्योधन उनकी करोड़ों सेनाको ले गया परन्तु इस बातका अर्जुनके मनमें कुछ भी असन्तोष नहीं था। उसके हृदयमें सेनाबल-जनबलकी अपेक्षा प्यारे श्रीकृष्णके प्रेम-बल पर कहीं अधिक विश्वास था। इसीलिये भगवान्‌की आज्ञासे अर्जुन युद्धमें प्रवृत्त हुए थे। परन्तु युद्धाङ्गनमें पहुँचते ही वे इस भगवत्-निर्भरताको भूल गये। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे युद्धमें प्रवृत्त होनेपर उन्हें बीचमें अपनी बुद्धि लगाकर युद्धको बुरा बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु बड़े समझदार अर्जुनके मनमें यहां अपनी समझदारीका अभिमान जागृत हो उठा, और इसीसे वे लीलामय प्रियतम भगवान्‌की प्रेरणाके विरुद्ध 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' कहकर चुप हो बैठे। यही अर्जुनका मोह था। एक ओर निर्भरता छूटनेसे चित्त अनाधार होकर अस्थिर हो रहा था, जिससे चेहरेपर विषादकी रेखाएं स्पष्टरूपसे प्रस्फुटित हो उठी थीं, परन्तु दूसरी ओर ज्ञानाभिमान जोर दे रहा था, इसीपर भगवान्‌ने अर्जुनको प्रज्ञावादियोंकीसी बातें कहनेवाला कहकर चेतावनी दी। उनको स्मरण दिलाया कि, 'तुझे इस ज्ञान—विवेकसे क्या मतलब है, तू तो मेरी लीलाका यन्त्र है, मेरी इच्छानुसार लीलाक्षेत्रमें खेलका साधन बना रह।' परन्तु अपने ज्ञानके अभिमानमें मोहित अर्जुनको इस तत्त्वकी स्मृति नहीं हुई, इसीलिये भगवान्‌ने आत्मज्ञान, कर्म, ध्यान, समाधि, भक्ति आदि अनेक विषयोंका उपदेश दिया, बीच बीचमें कई तरहसे सावधान करनेका प्रयत्न भी जारी रखा; अपना प्रभाव, ऐश्वर्य, सत्ता, व्यापकता, विभुत्व, आदि स्पष्टरूपसे दिखलानेके साथ ही लीलाका संकेत भी किया, बीच बीचमें झिड़कियां दीं, भय दिखलाया, अर्जुन उनके ऐश्वर्यमय कालरूपको देखकर कांपने लगे, स्तुति की, परन्तु उन्हें वास्तविक लीला-कार्यकी पूर्व-स्मृति नहीं हुई। इससे अन्तमें परम प्रेमी भगवान्‌ने १८वें अध्यायके ६४वें श्लोकमें अपने पूर्वकृत उपदेशकी गौणता बतलाते हुए अगले उपदेशको 'सर्वगुह्यतम' कहकर अपना हृदय खोलकर रख दिया। यहांका प्रसंग भगवान्‌की दयालुता और उनके प्रेमानन्द-समुद्रका बड़ा सुन्दर उदाहरण है। अपना प्रिय सखा, अपनी लीलाका यन्त्र, निज ज्ञानके व्यामोहमें लीलाकार्यको विस्मृत हो गया, अतएव उससे कहने लगे 'प्रियवर! मेरे परम प्यारे! इन पूर्वोक्त उपदेशोंसे तुझे कोई मतलब नहीं है, तू अपने स्वरूपको पहचान, तू मेरा प्यारा है—अपना है, इस बातका स्मरण कर, इसीमें तेरा हित है, मेरे ही कार्यके लिये मेरे अंशसे तेरा अवतार है। अतएव तू मुझीमें मन लगा ले, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, मैं शपथपूर्वक कहता हूं, तू मेरा प्यारा अंश है, मुझीको प्राप्त होगा, चूँकि सारे कर्मोंका आश्रय था उनमें अपना कर्तव्यभाव छोड़कर केवल मेरी लीलाका यन्त्र बना रह, एक मेरी ही शरणमें पड़ा रह, तुझे पाप-पुण्यसे क्या मतलब,

धर्मतत्त्वज्ञ श्रीकृष्ण ।

गाण्डीव निन्दा सुन धनुर्धर, बन्धु पर असि खींचते ।
संक्षुब्ध मन, धर्मज्ञ केशव, नीति जलसे सींचते ॥

तुझे चिन्ता भी कैसी, मैं आप ही सब सम्हालूंगा। मेरा काम मैं आप करूंगा, तूं तो अपने स्वरूपको स्मरण कर, अपने अवतारके हेतुको सिद्ध कर, मुझ लीलामयकी विश्वलीलामें लीलाका साधन बना रह।'

बस, इस उपदेशसे अर्जुनकी आँखें खुल गयीं, उन्हें अपने स्वरूपकी स्मृति हो गयी। 'मैं लीलाका साधन हूं, भगवान्‌के हाथका खिलौना हूं, इनके शरणमें पड़ा हुआ किंकर हूं' यह बात स्मरण हो आयी, तुरन्त मोह नष्ट हो गया और तत्काल अर्जुन लीलामें सम्मिलित हो गये, लीला आरम्भ हो गयी।

अर्जुनने भगवान्‌के उपर्युक्त गीतोक्त अन्तिम वचनोंको सुनते ही पिछले ज्ञानोपदेशसे मन हटा लिया। अपने आपको भगवान्‌की लीलामें समर्पित करके अर्जुन निश्चिन्त हो गये और लीलामयकी इच्छा तथा संकेतानुसार प्रत्येक कार्य करते रहे।

महाभारतकी संहारलीला समाप्त हुई, अश्वमेधलीला हुई, अब अर्जुनको शान्तिके समय भगवान्‌की ज्ञानलीलामें सम्मिलित होनेकी आवश्यकता जान पड़ी, परन्तु गीतोक्त ज्ञानकी तो उन्होंने कोई परवाह ही नहीं की थी। उन्हें कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि वे तो 'सर्वोत्तम सर्वगुह्यतम' शरणागतिका परम मन्त्र ग्रहणकर भगवान्‌के यन्त्र बन चुके थे'। भगवान् दूसरी लीलाके लिये द्वारका जानेकी तैयारी करने लगे। अर्जुनको इधर ज्ञानलीलाके प्रसारमें साधन बनना था, इससे एक दिन उन्होंने एकान्तमें भगवान्‌से पूछा कि 'हे प्रियतम! हे लीलामय! संग्रामके समय मैं आपके 'माहात्म्यं' और 'रूपमैश्वरम्'को जान चुका हूँ, उस समय आपने मुझे जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसे मैं भूल गया हूं, आप शीघ्र द्वारका जाते हैं, मुझे वह ज्ञान एकबार फिर सुना दीजिये। मेरे मनमें उसे फिरसे सुननेके लिये बार बार कौतूहल होता है।' भगवान्‌ने अर्जुनको उलाहना देते हुए कहा कि 'तैंने बड़ी भूल की, जो ध्यान देकर उस ज्ञानको याद नहीं रक्खा, उस समय मैंने योगमें स्थित होकर ही तुझे 'गुह्य' सनातन ज्ञान सुनाया था, (श्रावितस्त्वं मया 'गुह्यं' ज्ञापितश्च सनातनम्। महा० अ० १६।९) अब मैं उसी रूपमें दुबारा नहीं सुना सकता, तथापि तुझे दूसरी तरहसे वह ज्ञान सुनाता हूँ। (इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान् वह ज्ञान पुनः सुनानेमें असमर्थ थे, अचिन्त्य-शक्ति सच्चिदानन्दके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है) भगवान्‌का उलाहना देना युक्तियुक्त ही है, क्योंकि शरणागतिके 'सर्वगुह्यतम' भावमें स्थित होनेपर भी सब तरहकी लीलाविस्तारमें सम्मिलित होनेके लिये ज्ञान-योगादिके भी स्मरण रखनेकी आवश्यकता थी, लीला-कार्यमें पूर्ण योग देनेके लिये इसका प्रयोजन था, इसीलिये भगवान्‌ने फटकार बतायी, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अर्जुन भगवत्-शरणागतिरूप गीताके प्रतिपाद्यको भूल गये थे। श्रीकृष्ण-शरणागतिमें तो उनका जीवन रंगा हुआ था, दूसरे शब्दोंमें श्रीकृष्ण-शरणागतिके तो वे मूर्तिमान जीते जागते स्वरूप थे। प्रेम और निर्भरताके अतिरिक्त ज्ञानकी वे विशेष बातें जो जगत्‌के लोगोंके लिये आवश्यक थीं, अर्जुन भूल गये थे, जो भगवान्‌ने 'अनु-गीता'के स्वरूपमें प्रकारान्तरसे उन्हें फिर समझा दीं। अनुगीताके आरम्भमें भगवान्‌के द्वारा कथित 'गुह्य' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने उसी ज्ञानके भूल जानेके कारण अर्जुनको फटकारा है, जो 'गुह्य' था।' न कि 'सर्वगुह्यतम।' अनुगीताके प्रसंगसे अर्जुनको ज्ञानभ्रष्ट समझना, गीतोक्त उपदेशको विस्मृत हो जानेवाला जानना और भगवान्‌की वक्तृत्व और स्मृतिशक्तिमें मर्यादितपन मानना हमारी भूलके सिवा और कुछ नहीं है। गीताके प्राण, गीताका हृदय, गीताका उद्देश्य, गीताका ज्ञान, गीताकी गति, गीताका उपक्रम-उपसंहार और गीताका तात्पर्यार्थ 'साकार भगवान्‌की शरणागति' है, उसके सम्बन्धमें अर्जुनको कभी व्यामोह नहीं हुआ। इस लोकमें तो क्या, इससे पहले और पीछेके सभी लोकों और अवस्थाओंमें वह इसी शरणागत-सेवककी स्थितिमें रहे। इसीलिये महाभारतकारने अर्जुनकी सायुज्य मुक्ति नहीं बतलायी, जो सत्य तत्त्व है। क्योंकि लीलामयकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले परम ज्ञानी नित्यमुक्त अनुचर निज-जनोंके लिये मुक्ति अनावश्यक है।

भगवान् श्रीकृष्ण भक्त उद्धवसे कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं, न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

'जिन भक्तोंने मेरे प्रति अपना आत्म-समर्पण कर दिया है वे मुझे छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पातालका साम्राज्य, योगकी सिद्धियां यहां तक कि अपुनरावर्ती (सायुज्य मोक्ष) भी नहीं चाहते।' वास्तवमें भगवान्‌की लीलामें लगे हुए शरणागत भक्तको मुक्तिकी परवाह ही क्यों होने लगी? सच्ची बात तो यह है कि जबतक-(भुक्तिमुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।) भोग-मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा हृदयमें रहती है, तबतक लीलामें सम्मिलित होनेका भावही

नहीं उत्पन्न होता, या तो वह जगत्‌के भोगोंमें रहना चाहता है, या जगत्‌से भागकर छूटना चाहता है। लीलामें योग देना नहीं चाहता। अर्जुन तो लीलामें सम्मिलित थे, बीचमें अपने ज्ञानाभिमानका मोह हुआ, भगवान्‌की ओरसे सौंपे हुए पार्टको छोड़कर दूसरा मनमाना पार्ट खेलनेकी इच्छा हुई, यह मोह भगवान्‌ने गीतोक्त 'सर्वगुह्यतम' उपदेशसे नष्ट कर दिया, अर्जुन स्व-स्थ हो गये। इसीलिये इस लोककी लीलाके बाद परमधाममें भी अर्जुन भगवान्‌की सेवामें ही संलग्न देखे जाते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर दिव्य देह धारण कर देवताओं, महर्षियों और मरुद्गणोंसे स्तुति किये हुए उन स्थानोंमें गये, जहां कुरुकुलके उत्तम पुरुष पहुंचे थे। इसके बाद वे परम धाममें भगवान् गोविन्द श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं—

> ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम्।
> ×　　×　　×
> दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम्।
> चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः॥
> उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा।
> तथा स्वरूपं कौन्तेयो ददर्श मधुसूदनम्॥
> (महा० स्वर्गा० ४।२ से ४)

'धर्मराजने वहां अपने ब्राह्म शरीरसे युक्त गोविन्द श्रीकृष्णको देखा, वे अपने शरीरसे देदीप्यमान थे। उनके पास चक्र आदि दिव्य और घोर अस्त्र पुरुषका शरीर धारण किये हुए उनकी सेवा कर रहे थे। महान् तेजस्वी वीर अर्जुन (फाल्गुन) उनकी सेवा कर रहे थे। ऐसे स्वरूपमें युधिष्ठिरने भगवान् मधुसूदनको देखा।' इस विवेचनसे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि गीताका पर्यवसान या प्रतिपाद्य विषय 'साकार ईश्वरकी शरणागति' है, यही परम गुह्यतम तत्त्व भगवान्‌ने अर्जुनको समझाया, यही उन्होंने समझा और उनके इस लोक तथा दिव्य भागवत्-धामका दिव्य जीवन इसीका ज्वलन्त प्रमाण है। इससे कोई यह न समझे कि भगवान् और अर्जुन दिव्य परमधाममें साकार रूपमें रहनेके कारण उसीमें सीमाबद्ध हैं, वे लीलासे दिव्य साकार विग्रहमें रहनेपर भी अनन्त और असीम हैं।

गीता और श्राद्ध-तर्पण

(लेखक—पं० श्रीआशारामजी शास्त्री, साहित्यभूषण व्याकरणाचार्य वेदान्तपथिक)

भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा और प्रेरणासे गीता और श्राद्ध-तर्पण निबन्धमें गीताके कुछ संक्षिप्त प्रमाण देकर श्राद्धतर्पणकी अवश्य कर्तव्यतापर गीताप्रेमियोंका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। पहिले भूमिकारूप प्रथम अध्यायके ४२ श्लोकको ही लीजिये।

> संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च
> पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्त पिण्डोदकक्रियाः।

अर्थात् द्रोण भीष्म आदि सम्बन्धियोंके वधसे कुलक्षय उससे कुलधर्मका नाश, अधर्माभिभव, स्त्रियोंका दूषित होना, वर्णसङ्करताकी उत्पत्ति, उससे कुलघ्न तथा कुलका नरकपात यह परम्परा है। इतना ही नहीं कुलघ्नोंके पितृगणोंकी पिण्डोदक क्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं और उनका भी नरकपात होता है। यहां पिण्डोदक शब्दसे अर्जुनकी स्पष्ट ही श्राद्धतर्पण-में परम श्रद्धा प्रतिपादित है। पितृगणोंके लिये उद्दिष्ट अन्न-दानमें 'स्वधा' शब्द प्रसिद्ध है 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहम-हमौषधम्' इस प्रकार (गीता अ० ९ श्लो० १६)में स्वस्वरूपत्वेन ही 'स्वधा' का प्रतिपादन किया है। पितृगणोंकी उपासना करनेवालोंके लिये पितृलोककी प्राप्ति बतलायी है, 'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः' (गीता अ० ९ श्लो० २५)पितृगणोंके अधिष्ठाता अर्यमा देव हैं 'पितॄणामर्यमा चास्मि-यमः संयमतामहम्।' (गी० अ० १० श्लो० २९)। बहुतसे महानुभावोंको सन्देह है कि पितृलोक ही कहां है। उनको गीताके विश्वरूप-दर्शन नामक गी० अ० ११ के २२ वें श्लोक के अर्थका मनन करना चाहिये।

> रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
> विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
> गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
> वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥

यहांपर 'ऊष्मपा' शब्दका अर्थ इस प्रकार है 'ऊष्माणं पिबन्तीत्युष्मणः पितरः ऊष्मभागा हि पितरः' (इति श्रुतेः) स्मृति भी कहती है।

> यावदुष्णं भवेदन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः।
> पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः॥

अर्थ स्पष्ट है। भगवान्‌ने विश्वरूप-दर्शनके समय सम्पूर्ण लोकोंका दर्शन कराया था- इससे पितृलोककी सत्तामें कोई आशङ्का नहीं रह जाती। लेखका शीर्षक 'गीता और श्राद्ध-तर्पण है' इसलिये श्रुति स्मृतियोंके प्रमाण न देकर इतने ही में संक्षेपकर विराम करते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि गीताको श्राद्ध-तर्पण सर्वथा मान्य है। आशा है गीता-श्रद्धालुओंको इतना ही पर्याप्त एवं सन्तोषजनक होगा और इस विषयमें सबकी श्रद्धा वृद्धि होगी।

महामहोपाध्याय पं० पञ्चाननजी तर्करत्न ।

महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मणजी शास्त्री ।

पण्डितवर नत्थूरामजी शर्मा, गुजरात ।

पं० नरहरिजी शास्त्री, गोंडसे ।

जगद्गुरु स्वामी अनन्ताचार्यजी प्रतिवादीभयङ्कर।

श्रीमन्मध्वाचार्य गो० श्रीदामोदरजी शास्त्री, काशी।

व्या० वा० पं० दीनदयालुजी शर्मा।

विद्या मार्तण्ड पं० सीतारामजी शास्त्री।

भगवद्गीताका प्रधान प्रतिपाद्य शरणागतियोग है

(लेखक—जगद्गुरु स्वामी श्रीअनन्ताचार्यजी महाराज, प्रतिवादी भयङ्कर, श्रीकांची)
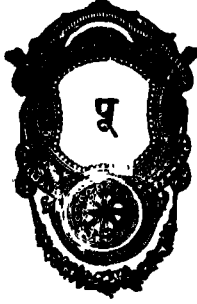
पूर्व और उत्तर भागके भेदसे भिन्न वेद-शास्त्र कर्म और तत्त्वपर है। कर्मकाण्ड नामक पूर्व भाग मुख्यतया कर्म-प्रतिपादक है। उत्तर भाग जिसका नाम ब्रह्मकाण्ड भी है, मुख्यतः तत्त्व-प्रतिपादक है। हमारे वैदिक सिद्धान्तमें मुख्य तत्त्व ब्रह्म ही है। तत्त्व-प्रतिपादक वेदके उत्तर भागका नाम उपनिषत् है, उपनिषत् शब्दकी व्युत्पत्ति उप निषीदतीत्युपनिषत् इस प्रकार की जाती है। ब्रह्मके समीप पहुँचनेवाला होनेके कारण उत्तरकाण्डका नाम उपनिषत् पड़ा। भगवद्गीता भी उपनिषत् कहलाती है, अतएव यह भी तत्त्व-प्रतिपादक शास्त्र है। तत्त्व-संख्याओंमें मतभेद होनेपर भी मुख्य तत्त्व ब्रह्म ही है, इस विषयमें ईश्वरको माननेवाले तत्त्ववादियोंका मतभेद नहीं है। तत्त्व-प्रतिपादक शास्त्र केवल तत्त्वके स्वरूपमात्रका ही प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु उस प्रधान तत्त्वकी प्राप्तिके उपायोंका भी वर्णन किया करते हैं। उपनिषदोंमें परब्रह्मके प्रतिपादनके साथ साथ उसकी प्राप्तिके उपाय भी बताये गये हैं। भगवद्गीताशास्त्र भी उसी प्रकार प्रधान ब्रह्मतत्त्व और उसकी प्राप्तिके उपाय दोनोंका ही प्रतिपादन करता है।

जैसे समस्त वेदोंका प्रथम प्रवर्तक परमेश्वर है, वैसे ही भगवद्गीताका भी प्रवर्तक परमेश्वर है। कुछ लोग भारतके अन्तर्गत होनेके कारण भगवद्गीताको व्यासप्रणीत समझते हैं, परन्तु प्राचीन माननीय महान् पुरुषोंका यही मत है कि भगवद्गीताके कुछ श्लोकोंको छोड़कर बाकी सभी श्लोक साक्षात् भगवन्मुखोद्गत हैं।

> 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
> या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥'

यह प्राचीन श्लोक इसी बातको कह रहा है। सञ्जयकी उक्ति, व्यास भगवान्‌के कुछ संयोजक श्लोक, धृतराष्ट्रका प्रश्न, अर्जुनके प्रश्न इनको छोड़कर बाकी सभी श्लोक भगवन्मुखोद्गत हैं।

भगवद्गीताके प्रारम्भिक भागको देखकर कुछ लोग यह कह सकते हैं कि बन्धु-व्यामोहके कारण युद्धसे विमुख अर्जुनको क्षत्रियधर्म युद्धमें प्रवृत्त करानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीता-शास्त्रका उपदेश किया है, अतएव यह शास्त्र कर्मपर है। परन्तु अर्जुनके व्यामोहकी निवृत्तिके लिये इतना भारी शास्त्र उपदेश करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। आत्मानात्म-विवेकज्ञानके अभावसे अर्जुनको व्यामोह हुआ था, उसकी निवृत्ति तो केवल आत्मतत्त्वोपदेश मात्रसे ही सम्पादित हो जाती है। द्वितीयाध्यायमें ही यह कार्य तो सम्पन्न हो चुका। आगे जो कर्म ज्ञान और भक्ति आदिके सम्बन्धमें उपदेश है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। यह सब विषय प्रसक्तानुप्रसक्त रूपमें उपदिष्ट हुए हैं। अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान्‌ने समस्त वेदान्तशास्त्रोंके सारको लोकानुग्रहके निमित्त प्रकट किया है। यह बात निम्नलिखित प्राचीन श्लोकसे स्पष्ट हो जाती है।

> 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
> पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥'

समस्त उपनिषत् गायें हैं। दुहनेवाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं, पार्थ—अर्जुन बछड़ा है, तत्त्वबुभुत्सु-सम्यक् ज्ञानवान् भोक्ता हैं, महान् गीतारूपी अमृत दुग्ध है अर्थात् दुहा गया है। यहांपर पार्थको बछड़ा बनाया गया है। बछड़ा गायके स्तनोंमें मुँह लगाता है, गाय दूध देने लगती है, तदनन्तर बछड़ा अलग बांध दिया जाता है, दुहनेवाला पात्रमें दूध दुह लेता है, उसको भाग्यशाली पुरुष पीते हैं, बछड़ा तो गौके स्तनोंसे दूध निकालनेका निमित्तमात्र है, वह पूरा दूध पीने नहीं पाता, बहुत ही थोड़ासा भाग प्रारम्भमें वह पीता है, पीछे निकलनेवाला सारा दूध दूसरोंको मिलता है। वास्तवमें देखा जाय तो दुहनेवाला बछड़ेको दूध पिलानेकी इच्छासे दुहने नहीं जाता, किन्तु दूसरोंको पिलानेके लिये ही दुहता है। दार्ष्टान्तिकमें भी श्रीकृष्णने केवल अर्जुनको लाभ पहुंचानेके उद्देश्यसे ही गीताका उपदेश नहीं किया, किन्तु तत्त्वबुभुत्सु भगवदभिमुख सम्यक्ज्ञानी पुरुषोंको लाभ पहुंचानेके उद्देश्यसे ही किया है। दार्ष्टान्तिकमें गौ भी एक नहीं, अनेक हैं, 'सर्वोपनिषदो गावः' कहा गया है, दोनों जगह बहुवचन है। दूध भी थोड़ा नहीं है। 'गीतामृतं महत्' है फिर वह सारा दूध अकेला अर्जुन ही कैसे पी लेगा? जैसे बछड़ेको प्रारम्भमें कुछ दूध मिलता है, वैसे

ही गीताके प्रारम्भमें कुछ ज्ञान उसको मिला, वही उसके लिये तो फलदायी हो गया। अस्तु।

अष्टादशाध्यायात्मक भगवद्गीता-शास्त्र तीन भागोंमें बांटा जाता है। प्रथम षट्क, मध्यम षट्क और अन्तिम षट्क। इस प्रकार अठारह अध्यायोंके तीन षट्क बनाये जाते हैं। कर्म-ज्ञान साध्य-भक्तिमात्रलभ्य परब्रह्म परमात्मा श्रीमन्नारायण गीताशास्त्रका प्रतिपाद्य है, प्रथम षट्कमें कर्म-योग और ज्ञानयोग प्रतिपादित हुए हैं, मध्यम षट्कमें ज्ञान-कर्म-साध्य भक्तियोगका वर्णन है। अन्तिम षट्कमें पूर्वषट्कद्वय शेषभूत अर्थोंके वर्णनके साथ कर्म-ज्ञान-भक्ति-योगोंके अनुष्ठान प्रकार आदि बताये गये हैं। कर्म और ज्ञानसे भक्ति साधित होती है, भक्तिसे परमात्मा प्राप्त होते हैं। प्रकृति-पुरुष-विलक्षण पुरुषोत्तम परमात्मा कर्म-ज्ञान साध्य-भक्ति वशीकृत होकर भक्तोंको स्वात्मदानसे तुष्ट करते हैं, यही भगवद्गीता-शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है। सामान्य रूपसे देखनेपर तो यही बात मालूम होती है। परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म रीतिसे निरीक्षण करने पर भगवद्गीता-शास्त्रका प्रधान प्रतिपाद्य कुछ और ही सिद्ध होता है, इसका स्पष्ट विवेचन हम आगे करेंगे।

प्रथम अध्याय शास्त्रावतरणिका मात्र है। परब्रह्म परमात्मा समस्त कल्याणगुणाकर परम दयालु श्रीमन्नारायण, ब्रह्मादि स्थावरान्त समस्त जगत्‌की सृष्टि कर तदन्तर्यामी हो तद्रूपापन्न होकर रहते हुए भी स्वयं अपार करुणा, वात्सल्य, औदार्यादि गुणवान् होनेके कारण निज असाधारण अप्राकृत दिव्य शरीरको ही, निज स्वभावको न छोड़ते हुए देव मनुष्यादि शरीरके समान बना कर उन उन लोकोंमें अवतीर्ण हो, वहांके लोगोंसे आराधित होकर उनके अभीष्ट धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थोंको देते हैं। इसी क्रममें भूभार-हरण व्याजसे मनुष्यमात्रके सुख-समाश्रयणीय होनेके लिये श्रीकृष्णरूपसे भूमण्डलमें अवतीर्ण हो, समस्त मनुष्योंके नयनगोचर बन, निज सौन्दर्य, शौर्य, वीर्य, अलौकिक कार्य आदिसे मनुष्योंको वशीभूत कर, अक्रूर आदिको परम भागवत बना, अवतार कार्य—साधुपरित्राण करते हुए, कुरु-पाण्डव रणमें अर्जुनको युद्धमें प्रोत्साहित करनेके व्याजसे समस्त मोक्षशास्त्र-सारभूत परमात्म-प्राप्तिके साधनभूत कर्म-ज्ञान-साध्य भक्तियोगरूपी मोक्षोपायको परमात्माने प्रकाशित किया।

द्वितीयाध्यायमें, सततपरिणामी नश्वर प्रकृति प्राकृत पदार्थोंसे अत्यन्त विलक्षण अविनाशी सततैकरूप ज्ञानानन्द स्वरूपी जीवात्माका स्वरूप आत्मनित्यत्व ज्ञानपूर्वक कर्तव्य असङ्ग कर्मानुष्ठानरूप कर्मयोग और उस कर्म-योगसे साधनीय जीवात्मस्वरूप चिन्तनरूप ज्ञानयोगका वर्णन किया गया है। तृतीयाध्यायमें स्वर्गादि फल-संग त्यागपूर्वक लोक-संग्रहके अर्थ प्रकृतिके सत्त्व रजस्तमोरूपी गुणोंके संसर्गसे प्राप्त कर्तृत्वको सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वरमें आरोपित कर कर्मों की कर्तव्यता बतायी गयी है। चतुर्थाध्यायमें भगवदवतार-याथात्म्य कर्मकी ज्ञानाकारता, कर्मयोगके अनेक भेद और ज्ञानयोगका माहात्म्य आदि विषय कहे गये हैं। पांचवें अध्यायमें कर्मयोगकी सुकरता, शीघ्रफलप्रदत्व उसके कुछ अङ्ग और आत्म-समदर्शनके प्रकार कहे गये हैं। षष्ठाध्यायमें योगाभ्यासविधि, योगसाधनके चार प्रकार, योगसिद्धि और भगवद्भक्ति योगका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

सप्तमाध्यायमें भगवत्स्वरूप-याथात्म्य प्रकृतिसे उसका तिरोधान, उसकी निवृत्तिके लिये भगवच्छरणागति, उपासकोंके भेद और भगवत्प्राप्ति-कामी प्रबुद्ध भक्तका श्रेष्ठत्व बतलाया गया है। अष्टमाध्यायमें ऐश्वर्यकाम, आत्मप्राप्ति काम और भगवत्प्राप्ति कामोंके ध्येयवस्तु और उपादेय पदार्थोंके भेद बताये गये हैं। नवमाध्यायमें, उपास्य परम पुरुषका महत्त्व, ज्ञानियोंका महत्त्व बताकर भक्तिरूप उपासनाका स्वरूप बताया गया है। दशमाध्यायमें पूर्वाध्यायोक्त निरतिशय प्रेमरूप भगवद्भक्ति उत्पन्न होने और उसकी अभिवृद्धिके लिये ईश्वरके सर्वात्मकत्व और इतर समस्त चिदचिदात्मक प्रपञ्चका तदायत्त स्वरूप स्थिति प्रवृत्तिकत्व बताये गये हैं। एकादशाध्यायमें अर्जुनको भगवान्‌ने स्वकीय विश्वरूपका दर्शन कराकर महदैश्वर्य बताया, भगवत्ज्ञान-भगवद्दर्शन और भगवत्प्राप्तिका भक्तिमात्र-लभ्यत्व बताया गया है। द्वादशाध्यायमें—आत्मोपासनाकी अपेक्षा भगवद्भक्तिका श्रेष्ठत्व, भगवदुपासनाका उपाय भगवान्‌में चित्तको स्थिर न कर सकनेवालोंके लिये भगवद्गुणाभ्यास, उसमें भी असमर्थोंके लिये भगवदसाधारण कर्मानुष्ठान, उसमें भी असमर्थोंके लिये आत्मनिष्ठा, इस प्रकार कर्मयोग आदिके अनुष्ठान करनेवालोंके लिये आवश्यक अद्वेष आदि गुण, भक्तके विषयमें ईश्वरकी अत्यन्त प्रीति आदि बताये गये हैं।

त्रयोदशाध्यायमें देह और आत्माका स्वरूप, देहवियुक्त शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिका उपाय, शुद्धात्मस्वरूपका शोधन, परिशुद्ध आत्माको देह-सम्बन्ध होनेका कारण, उस आत्माके परिशुद्ध स्वरूपके अनुसन्धानका प्रकार आदि बताये गये हैं। चतुर्दशाध्यायमें सत्त्वादि गुणोंसे होनेवाले आत्माके

बन्धनके प्रकार, गुणोंको दूर करनेका उपाय गुणोंका कर्तृत्व गुणाकृत कर्तृत्वको दूर करनेका प्रकार, तीन प्रकारकी गतियोंका भगवन्मूलकत्व आदि कहे गये हैं। पञ्चदशाध्याय-में प्रकृतिमिश्रित जीवात्मा और शुद्ध जीवात्मासे विलक्षण सर्वव्यापी सर्वभर्ता सर्वस्वामी पुरुषोत्तमका स्वरूप वर्णित हुआ है। षोडशाध्यायमें मुमुक्षुओंके प्राप्यभूत तत्त्वका ज्ञान और उसकी प्राप्तिके उपायका ज्ञान केवल शास्त्रमूलक है- इस बातको सिद्ध करनेके लिये देवासुरसर्ग-विभाग बताया गया है। सप्तदशाध्यायमें-अशास्त्रविहित कार्योंका आसुर होनेके कारण निष्फलत्व, शास्त्रविहित कार्योंके गुणभेदसे तीन प्रकार, शास्त्रसिद्ध पदार्थका लक्षण आदि, बताये गये हैं। अष्टादशाध्यायके ६३ वें श्लोक तकके भागमें-मोक्ष साधन तथा कथित त्याग और संन्यासकी एकता, त्यागके स्वरूप, सर्वेश्वरमें समस्तकर्म-कर्तृत्वानुसन्धान, सत्त्वरजस्तमो-गुण कार्योंके वर्णनपूर्वक सत्त्वगुणकी उपादेयता भगवदारा-धनरूप स्ववर्णाश्रमोचित कर्मोंसे भगवत्प्राप्ति होनेका प्रकार और समस्त गीताशास्त्र प्रतिपाद्य सारभूत भक्तियोगका प्रतिपादन किया गया है।

६३ वां श्लोक यह है

> इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
> विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

भगवान् कहते हैं-हे अर्जुन! हमने तुमको इस प्रकार समस्त गुह्य ज्ञानोंसे श्रेष्ठ गुह्यतर मुमुक्षुओंको ज्ञातव्य कर्मयोग-विषयक ज्ञानयोग-विषयक और भक्तियोग-विषयक ज्ञान बता दिया है, इन सब ज्ञानोंका अच्छी तरहसे विचार कर अपने अधिकारके अनुरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अपनी इच्छाके अनुसार स्वीकार कर अनुष्ठान करो।

भगवान्ने स्वोपदिष्ट ज्ञानको 'गुह्याद्गुह्यतर' बताया है। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र आदिसे उत्पन्न होनेवाले लौकिक पुरुषार्थ-विषयक ज्ञानकी अपेक्षा वेदरूपी शास्त्रसे उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय पारलौकिक स्वर्ग आदि पुरुषार्थ और उसके उपायोंका ज्ञान 'गुह्य' है। तदपेक्षया वेदान्तशास्त्रजन्य परम तत्त्व-विषयक ज्ञान और तत्प्राप्ति रूप मोक्षोपाय-ज्ञान 'गुह्यतर' है। इस श्लोकके पूर्व जिन जिन ज्ञानोंका भगवान्ने उपदेश दिया वह सब गुह्यतर ज्ञानोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगविषयक ज्ञान ही गुह्यतर ज्ञानरूपसे भगवान्को विवक्षित है।

इसके अनन्तर भगवान् कहते हैं—

> 'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
> इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'

पूर्वश्लोकमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग-विषयक ज्ञानोंको गुह्यतर बताया था। इन तीनों योगोंमेंसे कौनसा योग अन्य दो योगोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, यह बतलाना बाकी था, वह बात 'सर्वगुह्यतमम्' कहकर बतायी जाती है। पहले ही 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे' इत्यादि श्लोकोंमें भक्तियोगको गुह्यतम वस्तु बतलाया जा चुका है, अतएव इस श्लोक 'भूयः' शब्दका प्रयोग हुआ है।

'हे अर्जुन! तुम मुझको अत्यन्त प्रिय हो, अतएव तुम्हारे लिये जो हित है वही कहता हूँ, पूर्वोक्त तीनों योगों-मेंसे जो (सर्व) गुह्यतम है उसी सम्बन्धमें मेरा परम वचन तुम फिरसे सुनो' (६४); (मद्भक्तो) मेरे विषयमें अत्यन्त प्रीतिमान होकर, (मन्मना भव) मद्विषयक अविच्छिन्न ध्यानरूप भक्ति करो। अत्यन्त प्रीतिके साथ मेरा आराधन करो, अत्यन्त प्रेमके साथ मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार मेरी भक्ति करते हुए तुम मुझको ही प्राप्त हो जाओगे, मैं तुमसे सत्य ही इस बातकी प्रतिज्ञा करता हूँ। यह बात तुम्हें फुसलानेके लिये नहीं कह रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो। तुम प्रेमपूर्वक मेरा भजन करोगे तो मैं तुम्हारे वियोगको न सह सकनेके कारण ऐसा उपाय करूंगा, जिससे कि तुम मेरे ही पास पहुंच जाओगे (६५) कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगरूप धर्मोंको मेरे आराधनके रूपमें अपने अधिकारके अनुसार करते हुए भी, पूर्वोक्त रीतिसे फलत्याग, अभिमानत्याग और कर्तृत्वत्याग करनेके कारण सर्वधर्म-त्यागी होकर एक मुझीको शरण--उपाय--फलदाता (व्रज) समझो, इस प्रकार मुझको ही उपाय समझनेवाले तुमको, मेरी प्राप्तिके विरोधी अनादि कालसे सञ्चित अनन्त अकृत्य-करण कृत्याकरणरूपी समस्त पापोंसे मैं छुड़ा दूंगा, तुम शोक न करो (६६)

'सर्वगुह्यतम भूयः शृणु मे' इस श्लोकमें पूर्वोक्त कर्म, ज्ञान, भक्तियोगरूप तीन गुह्यतर वस्तुओंमेंसे एक गुह्यतम वस्तुके कहनेकी प्रतिज्ञा कर, 'मन्मना भव' इस श्लोकमें सर्व-

गुह्यतम भक्तियोगके लिये आज्ञा दे, भक्तियोग करनेवालेके लिये भगवत्प्राप्ति अवश्यम्भावी है, यह बतलाया है। 'सर्वधर्मान्' श्लोकमें कर्मयोगादि तीन योगोंमेंसे यथाधिकार किसीको भी सात्त्विक त्यागपूर्वक करते हुए ईश्वरको ही फलदाता मानकर दृढ़ताके साथ लगे रहनेवालेको भगवान् अनादिकाल संचित भगवत्प्राप्ति-विरोधी समस्त पापोंसे छुड़ा देते हैं-शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है यह बात बतायी गयी है। इस प्रकार तीनों श्लोकोंकी व्याख्या हो चुकी।

परन्तु 'सर्वधर्मान्' इत्यादि तीसरे श्लोककी व्याख्याके विषयमें यह शंका उत्पन्न होती है कि जब कि 'मन्मना भव' श्लोकमें भक्तियोगको ही सर्वगुह्यतम बताकर उसीको करनेके लिये आज्ञा दी जा चुकी, तब फिर 'सर्वधर्मान्' श्लोकमें तीनों योगोंके अनुष्ठानका उपदेश कैसे सङ्गत होगा? अतएव 'सर्वधर्मान्' श्लोक की पूर्वकृत व्याख्या ठीक नहीं हो सकती, इस श्लोकमें भी केवल भक्तियोगानुष्ठानके लिये उपयुक्त विषय ही होना चाहिये। अतएव इस श्लोककी दूसरे प्रकारसे व्याख्या करनी होगी।

'मन्मना भव' इत्यादि श्लोकमें भक्तियोगको तीनों योगोंमें श्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने अर्जुनको उसके करनेकी आज्ञा दी, परन्तु भक्तियोगका अनुष्ठान प्रत्येक आदमीसे नहीं हो सकता।

'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥'

इत्यादि प्रमाणोंसे यह बात मालूम होती है कि सर्वपापविनिर्मुक्त अत्यन्त भगवत्प्रिय पुरुषके लिये ही भक्तियोग साध्य है, 'विघ्नायुतेन गोविन्दे नृणां भक्तिर्निवार्यते' इत्यादि प्रमाणोंसे मालूम होता है कि भगवद्भक्तियोगकी सिद्धि होना कठिन है। अनादि कालसे क्रियमाण पापोंसे छूटनेके लिये प्रायश्चित्तानुष्ठान अल्प काल और अल्प परिश्रमसे साध्य नहीं है, इन सब बातोंपर विचार करनेपर अर्जुनने समझा कि मैं तो भक्तियोगके योग्य नहीं हूँ, अतएव जब वह अपनी अयोग्यताका विचारकर अत्यन्त दुःखी हुआ, तब भगवान्‌ने उसके शोकको दूर करनेके लिये कहा-'हे अर्जुन! भक्तियोगारम्भके विरोधी अनादि कालसे सञ्चित नानाविध अनन्त पापोंके अनुगुण शास्त्रोक्त कृच्छ्र-चान्द्रायणादि नानाविध अनन्त, अल्प कालमें न हो सकनेवाले समस्त प्रायश्चित्तरूप धर्मोंको छोड़कर भक्तियोगारम्भकी सिद्धिके लिये, परम दयालु, समस्त लोकशरण्य, आश्रितवत्सल मुझ ही को शरण्य-उपाय समझकर दृढ़ अध्यवसायके साथ स्थित रहो, मैं पूर्वोक्त भक्तिके आरम्भके विरोधी समस्त पापोंसे तुम्हें छुड़ा दूंगा, तुम शोक न करो।'

भगवद्गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका पूर्ण उपदेश है, पूर्वोक्त रीतिसे भक्तियोगके उपदेशरूपमें ही शास्त्रकी समाप्ति हुई है। कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तियोगके साधक हैं। 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इस श्लोकमें कर्मयोग का ज्ञानमें पर्यवसान बताया गया है। ज्ञानयोग भक्तियोग-प्रापक है। 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।' इस श्लोकमें ज्ञानका भक्त्युपयोगित्व बताया गया है। अतएव समग्र गीताशास्त्रमें भक्तियोग प्रधान है। भक्तियोग ही इस शास्त्रका प्रतिपाद्य है। कर्मज्ञानाङ्गक भक्तिमात्र-लभ्य परमात्मा श्रीमन्नारायण ही प्रधान प्रतिपाद्य हैं। इसप्रकार भगवद्गीता-शास्त्र भक्तियोग-प्रधान बताया गया है।

परन्तु इस उपर्युक्त व्याख्या और योजनामें कुछ अस्वारस्य मालूम होता है। भगवान् श्रीकृष्णने 'यथेच्छसि तथा कुरु' कहकर अपना वक्तव्य समाप्त कर दिया था। 'कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोग इन तीनोंमें जो तुम्हारे अधिकारके अनुरूप शक्य हो, उसीको तुम करो' भगवान् ऐसा कह चुके थे। इसपर अर्जुनने कोई प्रश्न नहीं किया। ऐसा होने पर भी भगवान्‌ने 'सर्वगुह्यतमं भूयः' इत्यादि तीन श्लोकोंमें अर्जुनको जो उपदेश किया उसकी क्या आवश्यकता थी? ऊपरके दो श्लोकोंमें भी यदि भक्तियोगका ही उपदेश है तो इसका उत्थान ही नहीं होता। 'सर्वगुह्यतमं' श्लोकमें 'गुह्यतमम्' 'भूयः' 'परमम्' 'इष्टोऽसि दृढः' 'हितम्' ये जो पद पड़े हुए हैं इनपर सूक्ष्म विचार करनेसे यह मालूम होता है कि इनके पूर्व भगवान्‌ने जो बात नहीं कही थी, वैसी कोई बात इन श्लोकोंमें कही है। पहले कहे हुए तीन गुह्यतरोंमेंसे एक यह उत्तम गुह्य ही नहीं है, किन्तु 'सर्वगुह्यतमं' है,-उक्तानुक्त समस्त गुह्योंमें अत्युत्तम है, यह परम है-इससे ऊपर कोई नहीं है। भूयः है-पूर्वकथितकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, भूय शब्द श्रेष्ठवाची है। दृढ इष्टसे यह कहा जारहा है कि पहले जो बात कही गयी हैं, वह नहीं, पर अब जो कही जायगी वह हित है।

'सर्वधर्मान्' श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको 'मा शुचः' कहा है, इससे मालूम होता है कि उस समय अर्जुनको शोक था। विचारना यह है कि यह शोक अर्जुनको

किस कारणसे हुआ ? और वह किस प्रकारका था ? मालूम होता है 'यथेच्छसि तथा कुरु' सुननेके पश्चात् अर्जुनको शोक हुआ था, उसका शोक उसके मुखवैवर्ण्य आदिसे जानकर ही भगवान्‌ने उसे दूर करनेके लिये 'सर्वगुह्यतमम्' से लेकर तीन श्लोकोंमें यह उपदेश किया। इन श्लोकोंमें भगवान्‌ने जो बात कही है वह ऐसी होनी चाहिये जो पहले नहीं कही गयी हो। भक्तियोगका तो पूर्णोपदेश पहले ही हो चुका है। अब यह विशेषरूपसे विचारनेकी बात है कि अर्जुनको शोक क्यों हुआ ?

इसके पूर्व अठारह अध्यायोंमें भगवान्‌ने मुख्यतया कर्मयोग ज्ञानयोग और भक्तियोगका उपदेश किया था। इन तीनों योगोंका स्वरूप संक्षेपमें यह है—कर्मयोग ज्ञान-प्राप्तिके लिये क्रियमाण यज्ञदानादिको कहते हैं; कर्मयोगसे परिशुद्ध और निर्जित-चित्तवाले पुरुष परिशुद्ध होकर जो आत्मभावना करते हैं वह ज्ञानयोग है; ज्ञानयोगसे लब्धाधिकार पुरुष, तैलधारावत्-अविच्छिन्न जो प्रीतिरूपता-को प्राप्त भगवत्स्मरण करते हैं वह दर्शन समानाकारताको प्राप्त होनेपर भक्तियोग कहलाता है। ये तीनों योग अत्यन्त दुष्कर हैं, विलम्बसे फल देनेवाले हैं, अन्तिम स्मृति-सापेक्ष हैं। कर्मयोग यज्ञ-दान-तपस्यादिरूप महान् शारीरिक परिश्रम-से साध्य है, अनेक विघ्न-बहुल है, सात्त्विक त्यागपूर्वक कर्तव्य होनेके कारण विशेष बुद्धि श्रम-साध्य है, दीर्घकाल साध्य है। ज्ञानयोग बाह्याभ्यन्तर समस्त इन्द्रियोंके जयसे साध्य होता है, वह अत्यन्त कठिन है। भक्तियोग भी इन्द्रियजय-साध्य है, यावज्जीवन कर्तव्य है, दीर्घकाल-साध्य है, अन्तिम स्मृति-सापेक्ष है। जीवात्मा परमात्माके प्रति वैसा ही परतन्त्र है, जैसा कि स्त्री पतिके प्रति। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' शास्त्रानुसार जैसे स्त्रीको स्वतन्त्रता नहीं है, वैसे ही जीवात्मा को भी स्वातन्त्र्य नहीं है। 'पिता रक्षति कौमारे' इत्यादि शास्त्रानुसार जैसे स्त्रीको स्वरक्षण-प्रयत्न अयुक्त है, वैसे ही जीवात्माको भी स्वरक्षण-प्रयत्न अयुक्त है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा 'कि जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो।' इससे तो स्पष्टतया स्वतन्त्रताका भास हो रहा है। स्वतन्त्रता जीवको है नहीं और स्वतन्त्र भावना करना अनिष्टकर भी है। जीवात्माके लिये स्वरक्षणके निमित्त प्रयत्न करना भी अयोग्य है, किन्तु कर्म-ज्ञान-भक्तियोग स्वयत्न-साध्य हैं। 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' कहने पर भी भगवान् एक निश्चित श्रेयस्कर मार्ग न बता, तीन उपाय बताकर उनमेंसे अपने अधिकारके अनुसार किसी एक सम्भव उपायके चुन लेनेको कह रहे हैं। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहनेपर भी भगवान् जब 'यथेच्छसि तथा कुरु' कह रहे हैं, एक निश्चित आज्ञा नहीं कर रहे हैं। फिर जो उपाय भगवान्‌ने बताये हैं वह भी दुष्कर हैं। अपनी वस्तुस्थितिको अर्जुन जान चुका है और कर्मयोग ज्ञानयोग तथा भक्तियोगका उपदेश करते हुए प्रत्येक स्थानपर 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्' 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' इत्यादि वाक्योंसे भगवान् यह बतला चुके हैं कि भगवत्प्रसादके बिना वे उपाय फलदान करनेमें असमर्थ हैं। इन सब बातोंपर विचारकर अर्जुन कर्तव्यज्ञान-शून्य हो गया, वह अपने आपको भगवत्कृपाका अपात्र समझने लगा, और समझने लगा कि भगवान्‌ने मुझे स्वतन्त्र बनाकर अपनी कृपासे वञ्चित कर दिया। अब मैं स्वतन्त्र बन स्वस्वरूप नाश करनेपर भी किसी प्रकार भी अपना उद्धार नहीं कर सकता, मुझे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार अर्जुन अब अत्यन्त दुःखित हुआ, अपने आपको धिक्कारने लगा, अपनेको अकिञ्चन अनन्यगति समझने लगा, भयभीत हो कांपने लगा, विषादकी छाया उसके सर्व शरीरमें व्याप्त हो गयी, वह शून्य होकर बैठा रहा, तब भगवान्‌ने अर्जुनको परम गुह्यतम वस्तुके सुननेके योग्य अधिकारी जानकर शरणागति-रूपी 'सर्वगुह्यतम' उपायका उपदेश दिया। इसके पूर्व जो उपदेश दिये गये ये वह सब अर्जुनके अधिकारकी परीक्षा-के लिये ही थे। शरणागति अकिञ्चन अनन्य-गत्यधिकार है। स्वतन्त्रताकी भावना रखनेवालोंको इसमें अधिकार नहीं है। स्व-रक्षण योग्य समझनेवालोंको इसमें अधिकार नहीं है। अपनेको सर्वथा अयोग्य अकिञ्चन अनन्यगति समझनेवाले ही इसके योग्य अधिकारी हैं।

'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

हे अर्जुन! अब तुम मेरे दृढ-इष्ट-परमप्रिय हो। ('ज्ञानी-त्वात्मैव मे मतम्' पहले कह चुके हैं, वह ज्ञानी वही है जो 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' श्लोकमें बताया गया है। 'वासुदेवः सर्वम्'–प्राप्य, प्रापक माता पिता भ्राता, निवासः शरण सुहृत् गति, सब कुछ वासुदेव ही हैं। अर्जुन अभी अभी ज्ञानी हुआ है। इसके पूर्व तो प्रश्नोंपर प्रश्न करते जाता था, अब चुप हो गया है, अब वह अपनेको किसी भी कार्यके लिये सर्वथा अयोग्य समझ गया है।) ततो वक्ष्यामि ते हितम्–यही कारण है कि अब मैं तुम्हारे हितकी बात कहूंगा। इसके पहले जो कुछ कहा गया था

वह सब तुम्हारे प्रश्नोंके उत्तर थे। हितकी बात नहीं थी। हितकी बात तो मैं अब कहूंगा। अब जो कहने जा रहा हूं, वह सर्वगुह्यतम है, यही कारण है अबतक वह तुमको भी नहीं बताया गया था, वह भूयः है, श्रेष्ठ है, परम है, अब इससे श्रेष्ठ कोई नहीं है। मे—मदर्थम् मेरे लाभकी बात है, अबतक जो कहा गया था, वह तुम्हारे लाभकी दृष्टिसे कहा गया था; अब जो मैं कहने जा रहा हूं, वह मेरे लाभका है, क्योंकि इसीसे तो तुम्हारे समान जीव संसारसे छूट कर मेरे पास पहुँचते हैं, तुम्हारे समान जीव मुझे मिलेंगे—इसीलिये तो मैं इस संसारमें आया हूं। मे वचः शृणु—मेरी बात अब तुम सावधान होकर सुनो।

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इन दोनों श्लोकोंसे भगवान् अङ्ग-न्यासयोग अर्थात् शरणागति-योगका उपदेश करते हैं। शरणागतियोगके 'न्यास' 'निक्षेप' 'प्रपत्ति' इत्यादि कई नाम शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। आनुकूल्य-सङ्कल्प, प्रातिकूल्य-वर्जन, रक्षाविश्वास, गोप्तृत्व-वरण, कार्पण्य, और आत्मनिक्षेप यह छः अङ्ग शरणागति-का क्रम है। इनमेंसे आत्मनिक्षेप मुख्य है, गोप्तृत्ववरण अङ्गीका समीपवर्त्ती अङ्ग है। गोप्तृत्ववरण और आत्मनिक्षेप दोनोंको समान महत्त्व देनेवाले भी हैं। अष्टाङ्गयोगमें जैसे समाधि ही प्रधान है, बाकी सातों उसके अङ्ग हैं। वैसे ही षडङ्ग शरणागतियोगमें आत्मनिक्षेप प्रधान है, बाकी पांच उसके अङ्ग हैं। पञ्चाङ्गसहित आत्मनिक्षेपरूप न्यासयोगका विधान यहांपर किया गया है। 'मन्मना भव मद्भक्तो' यह श्लोक नवमाध्यायमें भक्तियोगके प्रकरणमें भी आया है। परन्तु इस श्लोकका उत्तरार्ध उस श्लोकसे भिन्न है। वहांका उत्तरार्ध 'मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः' है। मद्भक्तः मद्याजी मन्मना भव मां नमस्कुरु। यह पूर्वार्धका अन्वय है। मद्भक्तः—मय्येव निरतिशय प्रेमवान् अर्थात् मेरे ही विषयमें निरतिशय-प्रेम करनेवाले तुम, मद्याजी मत्-मेरा ही अनन्य यजन करने-का सङ्कल्प करते हुए मन्मना भव-मुझपर पूर्ण दृढ विश्वास करनेवाले बनो, अर्थात् मुझपर ही दृढ विश्वास करो। यहांपर प्रेमरूपा भक्ति मद्भक्त शब्दसे विवक्षित है, उसमें भी प्रेममात्र-में ही तात्पर्य है। यजन नाम आराधनाका है। 'यज देव-पूजायाम्' धातुसे मद्याजी बनता है। देवपूजार्थक धातु है। पूजन और आराधन एक ही वस्तु है। 'मनः' शब्दसे विश्वास विवक्षित है, कामस्सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा-धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इस श्रुतिके अनुसार मनोवृत्तिरूप विश्वास मन शब्दसे बोधित होता है। मां नमस्कुरु—मेरे प्रति आत्मसमर्पण करो। षडङ्ग आत्म-समर्पणरूप न्यासयोगमें नमः शब्दसे आत्मसमर्पण विवक्षित है। नमः शब्दका शरणागति वाचक होना प्राचीन प्रयोगोंसे सिद्ध है। यथा—महाभारत वनपर्व मार्कण्डेय-समस्या-पर्वमें, मार्कण्डेयके—

> 'सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः।
> गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥'

—कहनेपर, पाण्डवोंने श्रीकृष्णके प्रति शरणागति की थी, वहांपर यह श्लोक है—

> 'एवमुक्तास्ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ।
> द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्॥'

इस श्लोकमें शरणागतिके पर्यायमें 'नमश्चक्रुः' शब्द प्रयुक्त हुआ है। मार्कण्डेयने 'शरणं गच्छध्वम्' कहा। पाण्डवोंने 'नमश्चक्रुः' किया। इससे स्पष्ट है कि 'नमः' शब्द शरणागतिका पर्याय है।

उत्तरार्धमें आत्मनिक्षेपका फल कहा गया है। भगवान् कहते हैं—'हे कौन्तेय त्वं मामेवैष्यसि-हे कौन्तेय! तुम मेरे पास पहुँच जाओगे। भगवत्प्राप्ति ही आत्मनिक्षेपरूप न्यास-योगका फल है। आगे भगवान् विश्वास दिलाते हैं—'सत्यम्'—यह बात सत्य है। ते प्रतिजाने—तुम्हारे सामने मैं प्रतिज्ञा करता हूं। तुम्हारे प्रति असत्य वचन कहकर वञ्चना नहीं कर सकता, क्योंकि, प्रियोऽसि मे—तुम मुझे प्रिय हो।

सर्वधर्मान्—इससे पूर्व अठारह अध्यायोंमें वर्णित कर्म-ज्ञान-भक्तियोगरूप समस्त मोक्षसाधन तथा शास्त्रविहित साङ्गोपाङ्ग उपायोंको। परित्यज्य—सवासन अपुनरावर्तन त्याग करके माम्—सर्वज्ञ सर्वशक्ति समस्तकल्याणगुणाकर आश्रितवत्सल मेरे प्रति। एकम्—केवल एक मेरे प्रति। शरणं व्रज— उपायत्व बुद्धि—निश्चयात्मक-अध्यवसायरूप बुद्धि करो। अर्थात् मैं ही इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्तिरूप कार्य करनेवाला उपाय हूं—इस प्रकार दृढ निश्चय कर लो। अहम्—सर्वशक्ति आश्रितवत्सल आश्रितकार्यको भी अपना समझने-वाला तुम्हारी प्राप्तिके लिये उत्सुक मैं त्वा—अल्पज्ञ अल्पशक्ति स्वरक्षणकी योग्यता न रखनेवाले तुमको सर्वपापेभ्यः—

अर्थार्थी-भक्त ध्रुव।
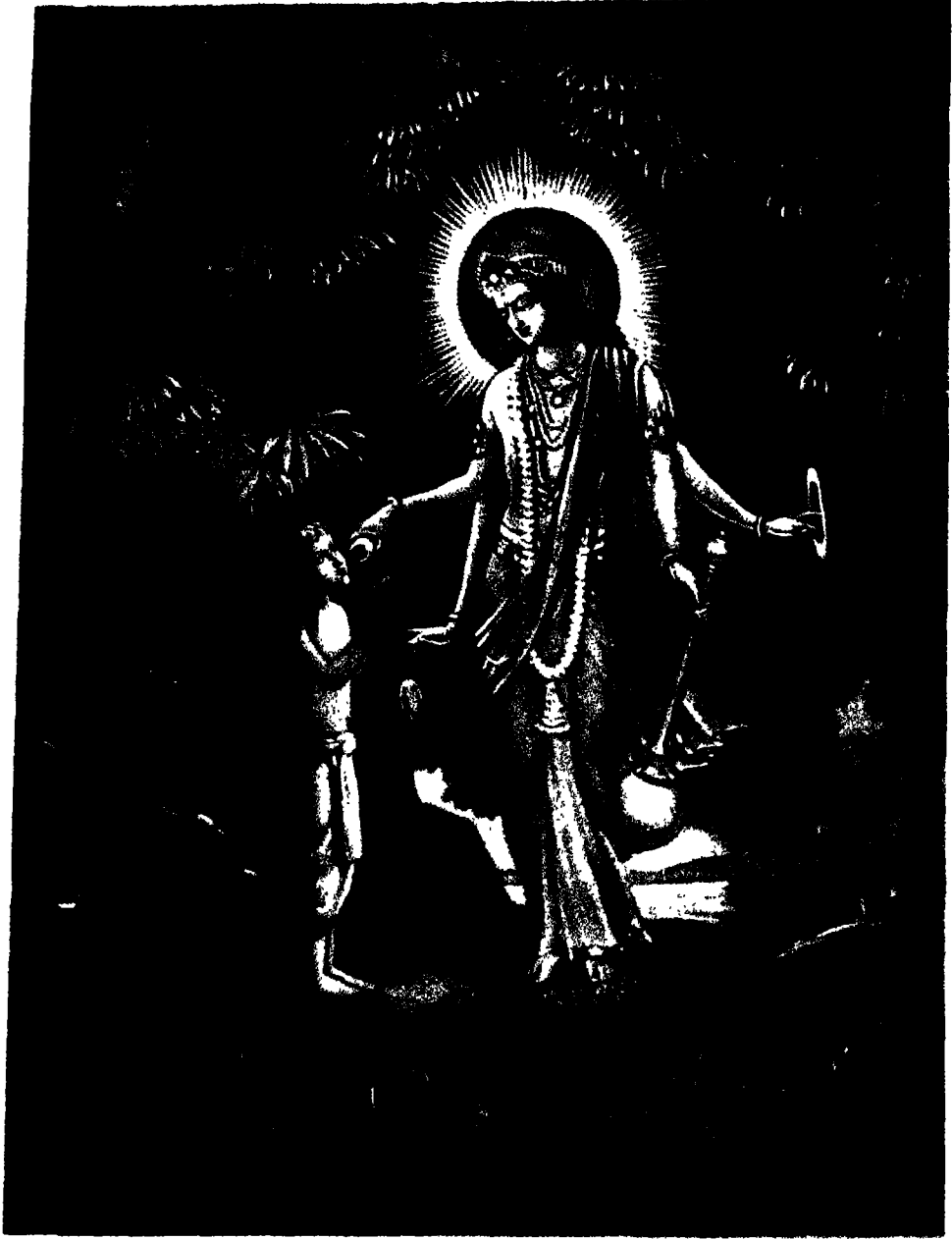
ध्रुव की तीव्र तपस्यासे, आये हैं हरि उसके पास।
शङ्ख-स्पर्शसे ज्ञान प्रकटकर, भरदेते उरमें उल्लास॥

समस्त मोक्षविरोधी सञ्चित प्रारब्धादिरूपी प्रतिबन्धक पुण्य-पापोंसे मोक्षयिष्यामि—छुड़ा दूँगा। मा शुचः—'अब कि तुमको अपने लिये कुछ करना नहीं है, तुम्हारा समस्त भार मैंने अपने ऊपर ले लिया है, तब शोकका कोई कारण न होनेके कारण तुम शोक मत करो।' पूर्वार्धमें मुमुक्षु अधिकारीका कर्तव्य बताया गया है। उत्तरार्धमें उपायभूत ईश्वरका कर्तव्य बताया गया है। पूर्व श्लोकमें नमस्कुरु-शब्दसे आत्मनिक्षेपका विधान है। उसका फल भगवत्प्राप्ति भी उसी श्लोकके उत्तरार्धमें वर्णित है। इस श्लोकमें गोप्तृत्व-वरणका शरणं व्रज शब्दसे विधान है। उसका फल प्रतिबन्धककी निवृत्ति है। वह उत्तरार्धमें वर्णित है। प्रतिबन्धक पुण्य-पापोंकी निवृत्ति और ईश्वरकी प्राप्ति दोनों ही मिलकर मोक्षरूप पुरुषार्थ है। आत्मनिक्षेप और शरण-वरणरूप शरणागतिके दो मुख्य भागोंसे वह सम्पन्न होता है।

'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेताश्वतरोपनिषत्) इत्यादि वैदिक प्रमाणोंसे भगवच्छरणागति मोक्ष साधनतया सिद्ध है। 'तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः' (तैत्तिरीयोपनिषत्) इत्यादि शास्त्रोंमें न्यास नामक शरणागतिका सर्वातिशायी महत्त्व वर्णित है। 'ओमित्यात्मानं युञ्जीतैतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम्' (तैत्ति-उ०) इत्यादि शास्त्रोंमें देवगुह्यन्यासयोगका स्वरूप वर्णित है। यही अन्तिम मोक्षसाधन है। भगवद्गीतामें भी 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥' इस श्लोकमें न्यास-योगका स्वरूप संक्षेपमें वर्णित है। परमात्मरूपी अग्निमें आत्मरूपी हविस्का होम करना इस श्लोकमें वर्णित है। यही आत्मयज्ञ है, इसी यज्ञका विस्तृत वर्णन तैत्तिरीय उपनिषत्में 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः' इत्यादि ग्रन्थसे किया गया है। इसी आत्म-समर्पणरूपी न्यासयोगका विधान भगवद्गीताके अन्तिम दो श्लोकोंमें किया गया है। इस न्यासयोगके उपदेशके लिये अधिकार-सम्पादनार्थ अठारह अध्यायोंका उपदेश हुआ है। वास्तवमें वह सब भूमिका मात्र है, उत्थापनिकारूप है।

शरणागतियोगनिष्ठ पुरुष 'उपायाऽपायनिर्मुक्तो मध्यमां स्थितिमास्थितः' इत्यादि शास्त्रानुसार मध्यम स्थितिका होता है। उसको भगवदाराधनरूपसे समस्त नित्य नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करना पड़ता है। 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥' 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥' इत्यादि प्रमाणानुसार भगवन्न्यस्तपरायण पुरुषको भगवद्यनन्ययाजी होना पड़ता है। मोक्षसाधनभूत कर्मज्ञान, भक्तियोग, न्यासयोगनिष्ठ पुरुषको वर्णाश्रम धर्म अवश्य कर्तव्य है। वर्णाश्रम धर्म कर्तव्यत्वाकर्तव्यत्व सन्देहकी निवृत्ति हो जानेपर अर्जुनने—

'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।'

—कहा, और क्षात्रधर्मभूत धर्मयुद्धका अनुष्ठान किया। अन्तिम न्यासयोगका उपदेश करते हुए भी भगवान्ने मद्याजी शब्दसे भगवदाराधनरूप स्ववर्णाश्रम धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता बता दी है। अतएव वर्णाश्रम धर्म, कर्तव्यत्वा-कर्तव्यत्व सन्देहका निरास अन्तमें भी हो गया है। अतएव 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः' कहना युक्तियुक्त है।

इस प्रकार पूर्ण सूक्ष्म विचार करने पर मालूम होता कि है भगवद्गीताका प्रधान प्रतिपाद्य शरणागतियोग अथवा शरणागतिमात्र सुलभ परमपुरुष है। बाकी सब तच्छेषभूत है। शरणागतियोगका पूर्ण वर्णन इस छोटेसे लेखमें हो नहीं सकता। अतएव उसका संक्षिप्त स्वरूपमात्र ऊपर बताया गया है।

भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामुने।
प्राप्योऽहं नान्यथा प्राप्यो वर्षलक्षशतैरपि॥

इत्यादि शास्त्रोंसे भक्ति और प्रपत्ति दोनों ही भगवत्प्राप्ति साधन मालूम होनेपर भी भक्तिकी कठिनताको देखते हुए वर्तमानकालके मनुष्योंको शरणागतियोगके सिवा दूसरी गति नहीं है। यह कहना अयुक्त नहीं हो सकता। इत्यलम्

महाभारतमें सब वेदोंका अर्थ भरा है और समस्त भारतवंशका इतिहास है। गीता सारे महाभारतका सार है। इससे गीता समस्त शास्त्रमयी है।

—नीलकण्ठ

गीता और नारी जाति।

(लेखिका–सौ० कमलाबाई किबे)

जकलकी विकट परिस्थिति देखकर इसमें कैसे निर्वाह होगा, यह प्रत्येक समझदार मनुष्य सोचता है। निकृष्ट दशामें पहुँचा हुआ समाज, अज्ञानी जनता, धार्मिक बलका अभाव, एक दो नहीं अनेक प्रकारके प्रतिबन्धक प्रतिदिन घर घर दिखायी देते हैं। चिन्ताके मारे चित्त अधीर हो रहे हैं। दारिद्र्यके भयसे लोग प्राणोंका निकल जाना अच्छा समझते हैं। अशक्त बालक और रोगी तरुणोंके द्वारा हमें सुख कैसे प्राप्त होगा? अपने इस निराशा, असहायता, और संकटापन्न सांसारिक जीवनको देखकर मन खिन्न होजाता है। संसारका सच्चा अर्थ यही है कि मनुष्य यथाशक्य पुरुषार्थ करे, परन्तु सम्प्रति अपने सामने संसारका जो चित्र है वह बहुत बिगड़ा हुआ है। कर्त्तव्यताका रंग मानों उस परसे सारा उड़ गया है। भयानक निराशाका वातावरण ही चारों ओर दिखायी देता है। ऐसी दशामें किस मार्गसे जाना, किस आशापर कौनसा उद्देश्य अपने सामने रखना, यह एक विकट समस्या समाजके सम्मुख उपस्थित है। यों तो यह समस्या सभीके सामने है परन्तु स्त्रियोंके लिये तो इसका विचार अत्यन्त आवश्यक है। इन दिनों सामाजिक परिवर्तनका ज्ञान प्रत्यक्षरूपसे चाहे स्त्रियोंको न भी हो तोभी अपने घर-गृहस्थीके व्यवहारमें बहुत कुछ अन्तर आगया है; यह तो उनको पगपग पर दीख पड़ता है। फिर भी इस आपत्तिसे छूटनेके मार्गका पता वे नहीं लगातीं। कारण यह है कि प्रथम तो उनमें शिक्षा नहीं है, दूसरे पुरुषोंसे उन्हें जैसी *सहायता मिलनी चाहिये वैसी आजकल प्रायः नहीं मिलती।* घरके बाहर जाकर अपने अनुकूल परिस्थिति बना लेनेकी सामर्थ्य उनमें नहीं है; यह शक्ति उत्पन्न करनेका काम घरके कर्ता-धर्ता पुरुषोंका है। बात यह है कि घरके भीतरकी परिस्थिति देखकर डर लगता है, पेटभर रूखासूखा अन्न और तन ढाकनेको मोटा वस्त्र भी जहां नहीं मिलता, वहां संसारका सुन्दर चित्र कैसे खींचा जाय? जहां छोटे बच्चोंको पेटभर गौका दूध नहीं मिलता वहां 'बालप्रदर्शनी' से भी कोई लाभ हो सकता है? पहले साधन उपस्थित करना और फिर आशा चलाना, इसका भेद केवल भारतवर्षकी जनताहीमें देख पड़ता है। सच तो यह है कि किसी भी स्वतंत्र देशमें यह बात क्षण मात्र भी नहीं चल सकती। संकटपर संकट, अपमानपर अपमान, निराशाकी पराकाष्ठा ऐसी बातोंसे हमारा संसार परिपूर्ण है। ऐसी अवस्थामें यदि कोई व्यक्ति संसार शब्दकी यह व्याख्या करे कि, गृहस्थीके समुचित निर्वाह, मनुष्यजातिके सुख, प्राणीमात्रके कल्याण और कर्मण्यताके उत्कृष्ट क्षेत्रको ही मानवी संसार कहते हैं तो इसमें कोई भूल नहीं जान पड़ती। बहुत सी स्त्रियोंकी दृष्टिमें केवल व्यक्तिगत सुख, सम्पत्ति और संतान ही संसारी-साधन दीख पड़ते हैं। इसके आगे दृष्टि दौड़ानेसे समाज और देश भी कभी उनके संसारके अन्तर्गत हो सकेंगे या नहीं, यह एक टेढ़ा प्रश्न शेष रह जाता है। इसे हल करनेके लिये त्याग, धर्म, और सेवाका दिनरात ध्यान रहना चाहिये, क्योंकि यदि ये बातें मनमें उदित हुई तो कभी न कभी समाजमें भी देख पड़ेंगी और समाजमें देख पड़ीं तो समय पाकर देशमें आ ही जायंगी। अच्छे कामोंमें अड़चनें आना सृष्टिका क्रम ही है पर उन अड़चनोंसे निकल जानेमें ही मनुष्यकी बड़ाई है। कोई भी प्रसंग क्यों न हो, उसका धैर्य और नीतिसे निर्वाह करनेमें ही मनुष्यको यश मिलता है। घबराकर हाथपर हाथ धरकर बैठ रहना दुर्बलताका सूचक है। इस दौर्बल्यमें पड़े हुए लोगोंके लिये नित्य *पाठ करने योग्य ग्रन्थ योगेश्वर श्रीकृष्ण-प्रणीत गीता है।* गीता पाठ करना स्त्रियोंके लिये कठिन है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान पड़ता है और यदि यह सच है तो उनको गीताका भाषानुवाद ही पढ़ना चाहिये। यदि वे ऐसा करेंगी तो उनको सहज ही में मालूम हो जायगा कि गीताके प्रणेतामें कितना अधिक धार्मिक बल था। दूसरोंके लिये सुखके साधन उपस्थित करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान्‌का हृदय कितना विस्तीर्ण था और उनमें मनुष्योंका कल्याण करनेकी ओर कितनी प्रवृत्ति थी, एवं स्वयं उनकी कैसी कृति थी? *गीता पढ़नेसे यह सारी* बातें हमारी बहनोंके मनमें पूर्णरूपसे बैठ जायंगी। धर्मक्षेत्रमें कृष्णा (द्रौपदी) के बन्धु, यदुराज, योगमार्गके प्रदर्शक, योगपरायण, परमात्मा एक दो नहीं अनेक प्रसंगों पर अनेक रूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रके उज्ज्वल तत्त्व गीता पढ़नेवालोंको स्थान स्थानपर दृष्टिगोचर होंगे। उन दीनबन्धु गिरिधारीके द्वारा समय समयपर किये

हुए कार्मोंपर विचार करनेसे यह बात आप ही मुंहसे निकल जाती है कि वे अपने समयके एक सच्चे राजनीतिज्ञ थे। यदुकुलको उज्ज्वल करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका नाम सुनते ही सबको परमानन्द होता है। धर्मपरायण लोगोंको महाभारत पढ़नेसे यही प्रतीत होने लगता है कि कठिनाइयों और प्रपञ्चमें पड़कर भी शुद्ध कर्ममय कालयापन करना सांसारिक जीवनका परमोद्देश्य है और इसका फल यह होता है कि आलसी, परावलम्बी और सुख-चैनके जीवनसे उनको हार्दिक घृणा हो जाती है। युद्धक्षेत्रमें अपने कर्तव्यसे अर्जुनको पराङ्मुख होते हुए देखकर जो उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने वहां उन्हें दिया, उसीका नाम गीता है। युद्ध प्रारम्भ होनेके पहिले दोनों ओरकी सेनाएं लड़नेको उद्यत खड़ी थीं। ऐसे समयमें अर्जुन झूठी मोहमायामें पड़गये और उसी समय कर्त्तव्य-परायणताका यह बहुमूल्य उपदेश श्रीकृष्णके मुखसे भारत-वर्षके स्त्री-पुरुषोंको सन्मार्ग दिखानेमें परम उपयोगी हुआ। हताश मनुष्योंको गीता अवश्य पढ़नी चाहिये। बोध, मार्ग-दर्शकत्व और प्रखर कर्तव्य-जागृति प्राप्त करनेके लिये गीताका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। इसके लिये स्त्री-पुरुषका भेद नहीं, जातपांतका विचार नहीं और छोटे बड़ेका भी प्रश्न नहीं है। गीताका एक मात्र ध्येय यही है कि सन्मार्गको दिखावे। उसके पढ़नेसे मनको शांति प्राप्ति होती है और अनियमित अपार तृष्णासे पीड़ित चित्तको शान्त करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। शत्रुसे पराजित होनेपर भी चित्तमें उद्वेग न होने पावे और आगेको फिर भी प्रयत्न करनेकी निश्चल बुद्धि बनी रहे, यह बात गीता पढ़नेसे प्राप्त होती है। सांसारिक झंझटोंसे थके हुए जीवको गीताद्वारा ही सच्चा विश्राम मिलता है। सच तो यह है कि सब प्रकारके सुखोंका मूलमन्त्र और सब घरोंमें शान्तिकी एक मात्र देवी गीताही है। राष्ट्रकी दैवीसम्पत्ति प्राप्त करनेका यही एक मात्र साधन है। निराशामें भी आशामय जीवन गीताहीके द्वारा प्राप्त होता है। दुःखमें सुखका अनुभव, कर्तव्यपरायण होकर भी फलका त्याग, ऐसे उज्ज्वल उदाहरण थोड़ेहीमें गीतामें पूर्णरूपेण देख पड़ते हैं। यदि और कुछ न हो तो इसी हेतुसे स्त्रियोंको बारंबार गीताका पाठ करते रहना चाहिये। सांसारिक अवनतिके समयमें बचनेका एकमात्र साधन धर्मबलकी वृद्धिही है, इससे स्त्रियोंको उचित है कि अन्य कार्योंके साथ साथ अपना जीवन धर्ममय बनानेका भी निश्चितरूपसे प्रयत्न करती रहें। संसारमें बहुतसी बातोंके करनेकी मनुष्यको इच्छा और हर बातमें यश प्राप्त होनेकी मनोकामना होती है परन्तु बहुधा फल इसके विपरीतही होता है और अपयश मिलनेसे चित्त खिन्न होजाता है, उत्साह भंग हो जाता है। ऐसाही कुछ निराश मनका परिणाम है। यदि गीताका पाठ निरन्तर करते रहें तो इसके विपरीत निराशाके स्थानमें मन शान्तिके गंभीर तत्त्वसे पूर्ण होजाता है और दुःखीसे दुःखी चित्तमें भी आशा उत्पन्न होने लगती है। प्रत्येक बहिनको उचित है कि ऐसे गीताग्रन्थको ध्यानपूर्वक पाठ कर अपने धार्मिक विचारोंको प्रत्यक्षरूपसे पुष्ट करती रहें। संपूर्ण उन्नत वस्तुओंका मुख्य आधार धर्मही है। उस धर्मको भूल जानेके कारणही हम सब आजकलकी इस दुःखमय स्थितिको पहुंचे हैं, इस स्थितिको सम्पूर्णतया दूर करना स्त्रियोंहीके हाथ है। अपने इस कर्तव्यपालन करनेमें बड़ोंका आशीर्वाद और धार्मिक बल प्राप्त करना चाहिये। इसमें आलस्य किंवा शंका करनेका काम नहीं है। हम लोगोंको उचित है कि धर्मके मार्गमें लगें, सहायता करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् सब प्रकारसे समर्थ हैं, ऐसा विश्वास अपने मनमें रखें, क्योंकि विचारोंको स्थिर करनेमें चित्तकी चंचलता बाधक होती है; संयमके योगसेही मन स्थिर हो सकता है तथा धर्मसेही इष्टप्राप्तिमें सहायता मिलती है। यह बात कभी भूलनेकी नहीं है।

प्रभो !!

भारत-मातु पुकारि कहै लखु श्याम ! इतै यह औगति है !
धर्म गयो धँसि कै धरनी अँसुवानन 'प्रेम' विमोचति है !!
गीतहिं ज्ञान सुन्यों जबतें तबतें मनमें निज सोचति है !*
आपुको आवनो जान प्रभो ! अबला अबलौं अवलोकति है !!

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

* यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत—इत्यादि।

अर्जुनके सात प्रश्न

(लेखक–राजा बहादुर श्रीलक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव, विद्यावाचस्पति पुरातत्त्वविशारद एम०आर०ए०एस०, राजा साहिब टेकाली)

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम। अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन। प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥

र्जुनने कहा–हे पुरुषोत्तम। (१) ब्रह्म क्या है, (२) अध्यात्म क्या है, (३) कर्म क्या है, (४) अधिभूत किसे कहा है, (५) अधिदैव किसे कहते हैं, (६) अधियज्ञ कौन है और वह इस शरीरमें कैसे है एवं (७) युक्तचित्त पुरुष अन्तसमयमें आपको किस तरह जान सकते हैं?'

भगवान् श्रीकृष्णके अष्टकके उपदेशसे सर्वशास्त्र-पारङ्गत वीरवर पार्थने अपने मनमें सोचा कि जगत्में मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य उपासना ही है। उपासना किये बिना लौकिक या पारमार्थिक किसी भी कार्यका सिद्ध होना संभव नहीं है। साधारण मनुष्य जब किसी भी कार्यका आरम्भ करता है तब उसके मनमें कोई न कोई फलाशा अवश्य रहती है। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।' इस कथनके अनुसार केवल मनुष्य ही नहीं अपितु पशु-पक्षी और कीट-पतङ्गादि जीव भी तभी किसी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, जब उनके हृदयमें किसी वस्तुके लिये आकांक्षा अंकुरित होती है। यहां विवेकबुद्धिसम्पन्न मनुष्य और अन्यान्य जीवोंमें थोड़ासा ही भेद रह रह जाता है। मनुष्य अपने विवेक-बलसे हानि लाभका विचार कर सकता है 'उपायं चिन्तयन् प्राज्ञस्तथापायं च चिन्तयेत्' परन्तु विवेकहीन पशु पक्षी ऐसा नहीं कर सकते। वे लोग परवश होकर अपने जीवनको बिना समझे बूझे कष्टमें डाल देते हैं। इस विवेकके कारण ही जीव-सृष्टिमें मानव-प्राणी सबसे उच्चतर है। मनुष्य अपने विवेक-बलसे विकट वनमें रहनेवाले महापराक्रमी पशुओंको, आकाश-विहारी विहङ्गमोंको और जलके अन्तःस्तलमें रहनेवाले प्राणियोंको भी वशमें कर लेता है। इस मनुष्य-सृष्टिमें भी बुद्धिहीन या स्वल्पबुद्धि मनुष्यकी अपेक्षा बुद्धिमान श्रेष्ठ समझे जाते हैं। स्वल्पबुद्धि मनुष्य जहां बुद्धिके अभाव में बारम्बार विपत्तिग्रस्त होता है, वहां विवेकसम्पन्न मनुष्य अपनी सूक्ष्मबुद्धिसे क्षुद्र-महान्, दूर-निकट और भूत-भविष्यत्का विचारकर अपने लिये सुरक्षित कर्तव्यपथ स्थिर कर सकता है। ऐसे मनुष्यका निर्धारित सिद्धान्त सर्वथा और सर्वथा निर्भ्रान्त न होनेपर भी प्रायः ठीक ही होता है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्यके साथ मनुष्यके व्यवहारमें अन्तर रहना आवश्यक नहीं था। ऐसा श्रेष्ठ सूक्ष्मबुद्धि पुरुष भी इस कर्ममय संसारमें कर्म किये बिना क्षण भर नहीं रह सकता। भगवान्के इस कथनसे कि,–'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।' यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने जीवनकालमें कर्मका स्वरूपसे सर्वथा परित्याग कभी नहीं कर सकता। यहां कर्मत्यागकी असंभवतासे कुछ लोग संन्यास-धर्मका निषेध समझते हैं, परन्तु बात यह नहीं है। संन्यास अवस्थामें भी कर्मशून्य रहना कभी संभव नहीं है। गीतामें जहां कर्म-त्याग या कर्म-संन्यासकी बात कही है, वहां कर्म शब्दसे गीताको केवल सकाम कर्म ही अभिप्रेत है यानी संन्यास अथवा कर्मोंके त्यागकी स्थितिमें सकाम कर्मोंका निषेध किया गया है, न कि निष्काम कर्मका। निष्काम कर्मका अनुष्ठान तो प्रत्युत कर्तव्य बतलाया गया है,

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।
नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

इत्यादि, कर्ममात्रका त्याग करके मनुष्य निष्कर्म नहीं हो सकता, और कर्मोंका त्याग होता भी नहीं। मनुष्य या तो सत्कर्म करता है या दुष्कर्ममें लग जाता है, यदि दोनोंको छोड़कर कुछ कालके लिये 'मौन धारण करता है, तब भी वह 'मौनधारण रूपी' कर्मका कर्ता होता है, तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने जीवन-कालमें कर्मशून्य होकर कभी नहीं रह सकता। अतएव स्वरूपसे कर्मका त्याग नहीं किया जा सकता। तब संन्यासीको कर्म किसप्रकार करना चाहिये? इसीके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि 'मनुष्यको सात्त्विकी बुद्धिसे आसक्ति और फलकी आशा छोड़कर सदा सर्वदा कर्म करना चाहिये।' लोक-व्यवहारसे भी यह स्पष्ट सिद्ध है कि उपासनाविशेष ही ऐसा कर्म है। कोई भी मनुष्य किसी भी कर्ममें प्रवृत्त हो, 'जबतक उसमें अनन्यचित्तता, श्रद्धा, भक्ति और विश्वास नहीं होता, तब तक उसके लिये

सिद्धि प्राप्त करना दुर्लभ रहता है। इसके विपरीत एकाग्रता श्रद्धा, भक्ति और विश्वासके सहयोगसे अनायास ही उसे कार्यमें सिद्धि मिल जाती है। इस न्यायसे कर्मको उपासना कहना बिल्कुल समीचीन है। उपासनाका नाम लेते ही मनुष्य एकतानता, श्रद्धा और भक्तिके सहयोगसे सम्पन्न किया जानेवाला कर्म समझ सकते हैं, अतएव वह उपासना क्या वस्तु है? इसका भलीभांति जानना मनुष्यके लिये परम आवश्यक है। महाज्ञानी अर्जुन जब भगवान्‌के गीतोक्त निर्देशमें उपासनाकी प्रधानता समझ गये, तब उन्होंने उपर्युक्त सात प्रश्न पूछे। उपासनाकी विधि जाननेसे पूर्व उपास्य वस्तुका ज्ञान लेना आवश्यक है, इसीसे अर्जुनके इन सात प्रश्नोंमें प्रथम प्रश्न उपास्य विषयक और शेष छः प्रश्न उपासक एवं उपासना विषयक हैं।

संसारमें उपासनाकी आवश्यकता है, उपासनाके प्रथम उपास्य ज्ञानका प्रयोजन है, उसके बिना उपासना हो नहीं सकती। इसलिये 'उपास्य क्या है' यही प्रश्न सबसे पहले उठाना चाहिये था परन्तु अर्जुनने ऐसा न करके 'ब्रह्म क्या है' क्यों पूछा? अर्जुनके हृदयमें ज्ञान था, उस ज्ञानकी योग्यता दिखलानेके लिये ही प्रश्नमें 'उपास्य' नहीं रखकर 'ब्रह्म' शब्द रक्खा। कोई भी शिष्य ज्ञानके अधिकार बिना अपने गुरुसे कठिन प्रश्न कभी नहीं पूछ सकता। अर्जुनके प्रश्नका भगवान् श्रीकृष्ण निम्नलिखित उत्तर देते हैं 'अक्षरं परमं ब्रह्म'- अक्षर वस्तुको ब्रह्म कहते हैं। यह सभी समझते हैं कि अक्षर वर्णको कहते हैं, पर वह वर्ण कौनसा है? 'ओमित्येतदक्षरं' इत्यादि श्रुति तथा 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि स्मृतिके प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि ॐकार वर्ण ही ब्रह्म वस्तु है; इसीका नामान्तर प्रणव है। परन्तु पूर्वोक्त रीतिसे विचार करनेपर गीताके अनुसार 'प्रणव' रूप ब्रह्म परब्रह्म पदमें अभिहित नहीं होता। कारण गीतामें कहा है—

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

अर्थात् 'ओंकार ब्रह्म' उच्चारणपूर्वक मुझे स्मरण करके जो देह त्याग करता है वह परमपदको प्राप्त करता है। इसमें ओंकार ब्रह्मका उच्चारण और भगवान्‌का स्मरण, यह दोनों परमपद-प्राप्तिके कारण माने गये हैं। उच्चारणसे चिन्तनका महत्त्व कहीं अधिक है, अतः 'अक्षर ब्रह्म' से प्रणव नहीं, परन्तु केवल भगवान् ही अभिप्रेत हैं; इससे यहाँ अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌का यही कथन समझना चाहिये कि 'वह अविनाशी परमात्म ब्रह्म मैं हूं। मैं परमात्मा ही इस जगत्‌में उपास्य हूँ।' इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि···' इत्यादि।

इसप्रकार उपास्यका निर्णय होनेके बाद उपासकका स्वरूप जाननेकी आवश्यकता समझकर विज्ञ अर्जुनने भगवान्‌से दूसरा प्रश्न किया है। क्योंकि उपासकके बिना उपास्य अकेला अपने आनन्दकी उपलब्धि नहीं कर सकता। जैसे शौर्य, वीर्यादि गुण-सम्पन्न कोई भी व्यक्ति राज्य प्राप्त करनेपर अपने आनन्द-सुखके लिये प्रजाका संग्रह करता है; राजा अपनी प्रजासे सुसेवित होकर ही उसपर अपने प्रभुत्वका विस्तार कर परमानन्द प्राप्त करता है। इसीप्रकार भगवान् ब्रह्माण्डस्वरूप राज्यकी सृष्टि करनेके उपरान्त परमानन्दकी अनुभूतिके लिये उपासकरूप प्रजाको उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार राजा अपने स्वजातीय तथा अपनेसे न्यून गुणवाले पुरुषोंको प्रजा बनाते हैं, इसीप्रकार भगवान् भी अपने स्वजातीय पर हीनगुणवाले असम्पूर्ण गुणसम्पन्न जीवात्माकी सृष्टि करते हैं। अतएव 'उपास्य' निरूपणके पश्चात् 'उपासक' की आवश्यकता प्रतीत कर अर्जुन भगवान्‌से पूछते हैं कि 'अध्यात्म क्या है?' भगवान् कहते हैं 'स्वभाव यानी जीवात्मा अध्यात्म है।' ब्रह्म-वस्तुका अंश जब शरीर धारण करता है, तो उसे 'अध्यात्म' कहते हैं। महाभाष्यमें इसका प्रमाण है 'तस्यैव पदस्य प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभावः स्वो भावः' इस सिद्धान्तसे समस्त जीवगण भगवान्‌के उपासक होते हैं। स्पष्ट शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि जीवोंके अन्दर जो श्रेष्ठतम जीव या ज्ञानी मनुष्य हैं वे ही यथार्थ उपासक हैं। वे उपासक श्रद्धा, विश्वास, भक्ति आदि अनेक उपायोंद्वारा अनन्य भावसे भगवान्‌की उपासना करते हुए आनन्द-उपलब्धिकी अभिलाषा करते हैं। ऐसा करनेमें उपास्यकी तृप्तिको छोड़कर उनके मनमें और कोई फलाकांक्षा बिल्कुल नहीं रहती।

उपासक निर्णयके उपरान्त उपासनाका तत्त्व जाननेकी आवश्यकता समझकर अर्जुनने भगवान्‌से तीसरा प्रश्न किया, क्योंकि उपासना बिना उपास्य और उपासककी सिद्धि नहीं होती। भगवान्‌ने उत्तर दिया कि 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।' देवताओंको लक्ष्य करके जो द्रव्य त्याग किया जाता है, जिसे 'यज्ञ' कहते हैं वही उपासनाका कर्म है। पर वह होना चाहिये 'भूतभावोद्भवकरः' भगवान्‌ने इस विशेषणको विशेष्यके साथ नित्यरूपसे मिलाकर उत्तर दिया

है। भूत=प्राणीवर्ग, भाव=उन प्राणियोंके सात्विकादि-भाव, यह भूत भाव है और उद्भवका अर्थ है प्राणीवर्गकी उत्पत्ति। इन दोनोंके साथ 'कर' जोड़नेसे कारणरूपी विसर्ग होता है वही कर्मके नामसे कहा गया है। 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' के अनुसार कर्मद्वारा बुद्धिका परिचालन होता है, सात्विकादि भावत्रयको बुद्धि और उनके कारणको कर्म कहते हैं। जो प्राणी जैसा कर्म करेगा, उसे वैसे ही गुणकी प्राप्ति होगी। जो सात्विक कर्म करता है उसमें सात्विक गुण उत्पन्न होते हैं, जो राजसी और तामसी कर्म करता है, उसमें राजसी और तामसी गुणोंकी उत्पत्ति होती है। प्राणीवर्गकी उत्पत्तिके लिये कर्म ही मुख्य कारण है, 'अग्नौ दत्ताहुतिः सम्यगादित्य-मुपतिष्ठते आदित्याज्जायते वृष्टि वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' अर्थात् अग्निमें जो आहुति दीजाती है वह सूर्यको प्राप्त होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे विविध प्रकारके अन्न उत्पन्न होते हैं, इन अन्नोंसे ही जीव पैदा होते हैं। अतः परम्परा-क्रमसे जीवोत्पत्तिके लिये यज्ञ करना सिद्ध है। देवताओंके उद्देश्यसे मन्त्रादि पाठपूर्वक अग्निमें समिधायुक्त आहुति-दान रूप जो यज्ञ किया जाता है वही विसर्ग या त्यागरूप कर्म है। वस्तु परसे अपना स्वत्व हटाकर उसपर दूसरेका स्वत्व उत्पन्न करा देनेका नाम त्याग है, इसीको दान कहते हैं, दूसरेको अपनी वस्तुका दान ही विसर्ग या उत्सर्ग है। होम, यज्ञ या दान नामक यह कर्म ही प्राणियोंकी और प्राणियोंके सात्विक गुणोंकी उत्पत्तिका कारण है। यही उपासना है।

उपास्य, उपासक और उपासनाका रहस्य जान लेनेपर कर्मफलका जानना आवश्यक समझकर अर्जुनने चौथा प्रश्न किया था। जगत्में ऐसा कोई जीव नहीं जो फलानुसन्धान बिना कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होता हो। फलशून्य कर्मको तो लोग भूसा कूटने या जल उछालनेके समान व्यर्थ समझते हैं। यद्यपि व्यर्थ कर्म भी लोग करते हैं पर वह बुद्धिहीन ज्ञानशून्य मनुष्य ही करते हैं। निष्कामकर्मी भी फलानुसन्धान छोड़कर कर्म करते हैं, परन्तु वे भी पारलौकिक फलानुसन्धान और सर्व साधारणके ऐहिक हितके लिये कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, उनको अपने लिये कोई इहलौकिक आकांक्षा नहीं होती, इसीसे उनके कर्म निष्काम कहलाते हैं। ऐसे निष्काम कर्मका फल परहित-साधन करके अपूर्व अदृष्ट या धर्मोत्पत्ति होता है। इस फलाशाके हुए बिना निष्कामकर्मी भी वैसा कर्म नहीं कर सकता। इसीसे अर्जुनने चौथे प्रश्नमें कर्म-फलकी जिज्ञासा की है। भगवान्‌के उत्तरसे भी यही सिद्ध होता है। भगवान् कहते हैं,—'अधिभूतं क्षरो भावः' क्षरभावको अधिभूत कहते हैं। क्षर यानी विनाशशील देहादि पदार्थ अधिभूत हैं। क्षरके कई अर्थ हैं जैसे विनाशधर्मविशिष्ट प्राणी या जिस जिस पदार्थकी ओर मनुष्यका चित्त लोभाकृष्ट हो, वह क्षर है। अथवा लोभाकृष्ट चित्तसे कर्म करके मनुष्य जो फल उपार्जन करता है उसका नाम क्षर भाव है। प्राणीवर्गको आश्रय करके उक्त कर्मफल उत्पन्न होता है। इसके प्रमाणमें भाष्यकार कहते हैं—अधिभूतं प्राणिजातमधिकृत्य भवतीति। इत्यादि।

उपास्य, उपासक, उपासना और कर्मफलका ज्ञान होनेपर जीवकी उन्नति कैसे होती है, इस सम्बन्धमें अर्जुनने भगवान्‌से पंचम प्रश्न यह किया था कि 'अधिदैव कौन है?' भगवान्‌ने उत्तरमें कहा 'पुरुषश्चाधिदैवतम्' जिनके एक अंशमें समस्त देवगण सृष्ट हुए हैं, जो स्वांशभूत देवताओंके अधिपति हैं, सबके अधिष्ठात्री देवता हैं, वह अधिदैव हैं। 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते, आदिकर्ता सभूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' श्रुति ऐसा कहती है। यानी वही सबका शरीरी है, वही जगत्में पुरुष कहलाता है, वही सब प्राणियोंका सृष्टिकर्ता है, उसीको हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा कहते हैं, वह अपने एक एक अंशमें सूर्यादि विविध मूर्तियोंको धारण करके उनके अधिष्ठात्री देवरूपसे स्थित है। देवता हमें चक्षु आदि इन्द्रियोंमें प्रकाशकता आदि शक्ति देकर बलवान करते हैं। जैसे कोई राजा अपने किसी सेवकके द्वारा सेवित होकर अपने किसी मुख्य अधिकारीके द्वारा उसको पुरस्कार प्रदान करता है, उसी तरह उपास्य भगवान्‌के आदेशानुसार उपासक पुरुष हिरण्यगर्भके द्वारा उन्नतिके सोपान पर चढ़ाया जाता है।

अब पारलौकिक शुभाशुभके निर्णयार्थ शेष दो प्रश्नोंमें अर्जुनका पहला प्रश्न है कि 'पारलौकिक शुभाशुभ गति प्रदान करनेवाले कौन हैं और वह कहां रहते हैं?' अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदनः। अधियज्ञका अर्थ होता है, समस्त यज्ञोंका अधिष्ठान, सब यज्ञोंका फलदाता, स्वयं यज्ञाभिमानी यज्ञरूपधारी भगवान् विष्णु। 'यज्ञो वै विष्णुः' (श्रुति) इसीसे भगवान् उत्तरमें कहते हैं 'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर।' मैं ही अधियज्ञ हूं, इस मनुष्यशरीरमें मैं ही यज्ञरूप विष्णु हूं, क्योंकि इस देहके सहयोगसे ही मनुष्य यज्ञ-विधिका सम्पादन करता है। 'पुरुषो वै यज्ञः पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तेन तनुते।' अतएव भगवान् कहते हैं कि 'वह अन्तर्यामी मैं हूं' इस जगत्में पारलौकिक गतिदाता मुझसे भिन्न और कोई नहीं है।'

आदर्श शूद्र माता-पिता-सेवक व्याध ।

यह तो मालूम हो गया कि गति-मुक्तिदाता ईश्वर इस देहमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, परन्तु अन्त समयमें उनके साक्षात्कारकी योग्यता जीवको कैसे प्राप्त हो। इसीसे अर्जुन-ने सातवाँ प्रश्न पूछा। उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

> अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
> यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

'जो मुझ भगवान् वासुदेव (अधियज्ञ या अन्तर्यामी) को स्मरण करके शरीर त्याग करते हैं वह मेरे परम पदको प्राप्त होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।' जीवनके अभ्यासकी दृढ़तासे प्रबल संस्कारोंके कारण जीव मृत्युसमयकी अस्थिरता और विकलतामें भी अनायास मेरा स्मरण कर सकता है और अन्तकालमें जो जिस भावको स्मरण करके शरीर छोड़ता है वह उसी भावको प्राप्त होता है इसलिये सदा सर्वदा मेरा ही स्मरण करना चाहिये।'

सार शिक्षा

ईश्वरकी इस सृष्टिमें मनुष्यको अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिये। कर्तव्यपथसे भ्रष्ट होनेपर मनुष्य अपने बलको खो देता है। अतः मानव-शक्तिकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये, इसीसे ईश्वर-प्रेमकी प्राप्ति होती है। कर्तव्य भगवान्‌का आदेश है, जो वेदादि शास्त्रोंमें बताया गया है। उसी कर्तव्य ईश्वरादेशका, वेदशास्त्रोंके वचनका पालन कर मनुष्य परमात्माका प्रीतिभाजन होकर सहज ही में ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति कर सकता है। बुद्धिमान् पुरुष ऐहिक उन्नतिको तिलाञ्जलि दे सकता है, पर पारलौकिक उन्नतिके लिये प्राण अर्पण कर देता है। जन्मान्तर तथा इस लोकमें उपार्जन किये हुए धर्मप्राबल्यसे मनुष्य परम आनन्दका उपभोग करता है। इसीलिये गीतामें उपास्यादि ज्ञानविषयक सात प्रश्नोंकी मीमांसा की गयी है। मनुष्यको अपने कर्तव्यमें अवश्य ही संलग्न होना चाहिये। फिर अपनेसे बड़े श्रेष्ठ पुरुषोंकी अधीनता भी अवश्य स्वीकार करनी चाहिये; आत्मोन्नतिका यह एक बड़ा साधन है। पुनः गुरुके आदेशों-का सर्वदा पालन करना चाहिये; बिना गुरुके आत्मविकास, आत्मोत्थान स्वप्नमें भी नहीं हो सकता। फिर परोक्षभावका भी अनुसन्धान कर अपना चरित्र समुज्ज्वल बनाये रखना चाहिये। इसकी शिक्षा वाल्मीकीय रामायणसे भलीभाँति मिलती है जिसमें लिखा है कि भगवान् श्रीराजा रामचन्द्र-जीने परोक्षभावका आदर करने अर्थात् प्रजारञ्जनके हेतु अपनी महारानी श्रीजानकीजी तकको भी त्याग दिया था।

गीता-प्रचार कैसे हो ?

[१]

(ले०—श्रीयुत रामेश्वरलालजी बजाज, लन्दन)

गीता ऐसी साधारण वस्तु नहीं है, जिसका वितरण हम पात्र अथवा समयकी उपेक्षा कर कर सकते हैं अपितु गीता वह महान् ग्रन्थ है, जिसका प्रचार उसके माहात्म्यकी ओर दृष्टि रखकर करना पड़ेगा। गीताका एक दो दिन, अथवा कुछ महीनोंमें प्रचार नहीं हो सकता। गीताका प्रचार गीताके ज्ञान एवं सच्चे कार्य-कर्ताओंसे हो सकता है। इस सम्बन्धमें मैं अपने कुछ विचार प्रकट करता हूँ।

सब भाषाओंमें गीताका इतना सरल अनुवाद किया जाय जिसे बिना लिखापढ़ा एक छोटा लड़का भी उसे समझ सके। हर एक स्कूल और कालेजमें गीताको पाठ्य पुस्तकोंकी तरह पढ़ाये जानेका प्रबन्ध हो। उसका सरलसे सरल अनुवाद कर मिडल (Middle) या उससे पहले अर्थात् छठें दर्जेसे ही पढ़ानेका प्रबन्ध हो और ज्यों ज्यों विद्यार्थी ऊँची श्रेणीमें पहुँचता जाय, त्यों त्यों उसको उतनी गम्भीर भाषा और भावोंमें गीताका ज्ञान कराया जाय जिससे प्रथम दर्जेमें जाने तक उसे गीताका पूरा ज्ञान हो जाय। गीताके पढ़ने पढ़ाने अथवा प्रचारमें किसी वर्ण-भेदका विचार न हो। जिन्हें हम शूद्र मानते हैं, मेरी रायमें उन्हें यदि गीता समझायी जाय तो वे शीघ्र समझेंगे। उन-पर जितना प्रभाव होगा उतना दूसरोंपर नहीं होगा, जैसे ईसाई पादरी हमारे मूर्ख अनपढ़ गरीबोंपर जितना प्रभाव डालते हैं, उतना वे दूसरोंपर नहीं डाल पाते।

गीतासम्बन्धी ग्रामोफोनके रेकार्ड बनाना और समय समयपर उनके द्वारा घर घरमें सरल भाषामें उपदेश देना।

गीता-प्रचारके लिये भारतके प्रत्येक प्रान्तमें एक एक केन्द्र हो तथा उनकी शाखा प्रशाखाएँ प्रत्येक जिले और गाँव-में हों। सप्ताहमें एक दिन गीता पर खुले स्थानमें स्त्री-पुरुष सभीके हितार्थ योग्य विद्वान् व्यक्तियों द्वारा भाषण हो।

गीताकी एक अथवा दो अध्यायोंकी अलग अलग प्रतियाँ खूब सरल भाषामें छपवाकर दो दो चार चार

पैसेमें बेची जायं। समय समयपर भाषणके समय लोगोंमें ये प्रतियां मुफ्त बांटी जायं।

गीताके प्रचार-कर्त्ताओंको स्वयं अपने घरसे ही प्रचार प्रारम्भ करना आवश्यक है। गीताके प्रचारकोंके ऊपर विशेष ध्यान रखनेकी आवश्यकता है। जो लोग घरमें अश्लील पुस्तकोंको पढ़ें एवं भगवान् श्रीकृष्ण बनकर स्त्रियोंके संग गोपियोंका स्वांग रचनेका पापपूर्ण ढोंग करें, वे गीताके प्रचारक कभी नहीं हो सकते।

गीताके प्रचारके लिये जितने धनकी जरूरत है, उतने ही सच्चे कार्यकर्त्ताओंकी भी है। इन दोनों बातोंके हुए बिना गीताका प्रचार असम्भव है। मेरी सम्मतिमें तो यह और भी अच्छा हो यदि सर्वप्रथम सैकड़ों शिक्षित युवकोंको किसी स्कूलमें गीता-प्रचारके विषयमें शिक्षा दी जाय। वहां देशके अच्छेसे अच्छे गीताके ज्ञाता आकर उन युवकोंको शिक्षा दें और उन्हें प्रचार-कार्य करनेके योग्य बनावें।

गीताजयन्ती और गीतापरीक्षा तो वर्षमें एक ही बार होती है। अतः प्रत्येक जिलेमें प्रचारसमितिका कार्य हो और प्रतिसप्ताह अन्यान्य जिलोंमें गीताके लेखोंपर पारितोषिक देनेका प्रबन्ध रहे। चाहे कुल पांच या दश रुपये ही दिये जायं किन्तु उत्साह बढ़ानेके लिये प्रतिसप्ताह कमसे कम पांच पारितोषिक अवश्य वितरण करने चाहिये। इसका फल यह होगा कि स्कूलोंमें पढ़नेवाले लड़के तथा लड़कियां पारितोषिककी अभिलाषासे प्रेरित होकर गीताका निबन्ध लिखेंगी। इस प्रकार उत्साह-वृद्धिसे गीताका और भी शीघ्र प्रचार होगा।

(विदेशोंमें गीताका प्रचार)

मैं ऊपर लिख चुका हूं कि गीताके प्रचारमें जितने धनकी आवश्यकता है, उतने ही कार्यकर्त्ताओं की भी है। यह कठिनाई विदेशोंमें भारतसे भी अधिक होगी। विदेशोंमें गीता-प्रचारका भार चुन चुनकर लोगोंके ऊपर सौंपा जाय और यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि जबतक भारतमें गीताका पूर्ण प्रचार न हो जाय, तबतक यहां पचहत्तर और विदेशोंमें पचीस प्रति सैकड़ेके हिसाबसे खर्च किया जाय। विदेशोंमें पहले पहल समस्त देशोंका भार न उठाकर इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी और जापान इन चारों अथवा इनमेंसे भी एक दो देशोंमें ही कार्य प्रारम्भ किया जाय। इन देशोंमें भारतके तरीकेसे प्रचार न होगा। वहांके लिये गीताके अच्छे अच्छे अनुवादोंको चुन लेना होगा। वहां प्रचार केवल व्याख्यान और गीताकी पुस्तकें बिना मूल्य वितरण करनेसे होगा। विदेशोंमें गीताके प्रचारमें भारतसे अधिक द्रव्य व्यय होगा। वहां जिनपर प्रभाव पड़ेगा वे लिखे पढ़े ही मिलेंगे और वे उसी समय गीताकी शिक्षाको अपनावेंगे।

यहां मैं अपने एक अनुभवकी बात लिखता हूं। हालमें ता० १५ अप्रैलको लीड्स (Leeds) में श्रीब्रह्मानन्दजीका श्रीमती ऐनी बेसेन्टकी सोसाइटीके भवनमें गीतापर व्याख्यान हुआ। मन्त्रीजीने उन्हें केवल पैंतीस मिनटका ही समय बोलनेके लिये दिया था। किन्तु श्रोतागण इतने मुग्ध हुए कि वक्ताको एक घण्टे बीस मिनट तक हटने नहीं दिया। भीड़ भी खासी अच्छी थी। श्रोताओंपर खूब प्रभाव पड़ा, अतः यह अनुभूत बात है कि यहां निःस्वार्थ और थोड़े कार्यकर्ताओंद्वारा गीताका प्रचार-कार्य हो सकता है।

हिन्दी जिस प्रकार भारतकी राष्ट्रभाषा है, उसी प्रकार गीता भी भारतकी राष्ट्रनीति और ज्ञान है। गीता हमें भक्ति और त्याग ही नहीं सिखाती अपितु वह हमें सच्चा राजनीतिज्ञ भी बनाती है। आधुनिक समयमें हम गीताकी शिक्षा ग्रहण कर केवल मुक्ति ही नहीं चाहते। यदि हम किसी एकान्त जङ्गलमें त्यागी बनकर बैठ रहें और विदेशी हमारा देश लूटा करें तो इससे कोई लाभ नहीं है।

गीतासे हमें पूर्ण राजनीतिकी भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। स्कूल और कालिजोंके विद्यार्थियोंमें गीताका प्रचार इसी दृष्टिसे करना चाहिये, जिससे उनके हृदयमें देश-सेवाके भाव कूट कूटकर भर जायं।

[२]

(ले०—पं० गंगासहायजी पाराशरी 'कमल' सम्पादक, 'कमल')

आधुनिक समयमें जितना अधिक गो० तुलसीदासजीकी रामायणका प्रचार है उतना और किसी पुस्तकका नहीं। गीताके पढ़नेवाले रामायण पढ़नेवालोंसे कम हैं, उसका कारण यह नहीं है कि गीता कठिनतासे मिलती है वरन् यह कि उस ओर लोगोंका ध्यान पूरा आकर्षित नहीं किया गया और न गीताका कोई ऐसा आकर्षक संस्करण निकला, जिसे लोग देखनेको तैयार हों।

गीताका रामायणसे कहीं अधिक महत्व है, वह इसलिये कि गीता भगवान् योगिराज श्रीकृष्णचन्द्र-वृन्दावन-बिहारीकी स्वयं कही हुई शिक्षाओंका संग्रह है। रामायणमें

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी कथाओंका वर्णन है जो किसी दूसरे ऋषियोंद्वारा किया गया है। गीता पहले केवल संस्कृतमें थी। अब उसका अनुवाद हिन्दीमें हुआ, तब भी उसका प्रचार इसलिये अधिक न हो सका कि लोगोंका उस ओर ध्यान आकर्षित नहीं किया गया। पर अब यह बहुत सन्तोषकी बात है कि कुछ दिनोंसे गीता प्रचारके लिये विशेष उद्योग किया जा रहा है और यही कारण है कि इधर कुछ दिनोंसे लोगोंमें गीतापाठकी अभिरुचि दिन दिन बढ़ती जा रही है।

गीताके प्रचारके लिये निम्न बातोंकी आवश्यकता है—

(१) गीताके सचित्र सुन्दर और सस्ते संस्करण निकाले जायं।

(२) सच्चरित्र उपदेशकगण घूम घूम कर आकर्षक भाषामें लोगोंको उसका महत्व समझावें और गीताको उनके हाथ बेचकर उसमेंसे उदाहरण लेकर उनका अर्थ समझावें।

(३) प्रत्येक ऐसे मन्दिरमें,-जहां लोग पर्याप्त संख्यामें भगवान्के दर्शनोंको आते हों,- दोनों समय गीताका मधुर स्वरमें पुजारी पाठ किया करें और लोगोंको सुनावें भी।

(४) सामाजिक संस्थाओंमें, पुस्तकालयोंमें, सार्वजनिक विद्यालयोंमें जैसे भी हो, गीताकी पुस्तकें रक्खी जायं।

(५) स्कूलोंके लिये सरकारसे गीताको विद्यार्थियोंके पढ़नेके लिये स्वीकृत कराना चाहिये।

(६) गीता प्रचारक सभाएँ प्रत्येक नगरमें खोलकर उनके द्वारा गीताका प्रचार होना चाहिये।

(७) विद्यार्थियोंको प्रोत्साहन देना चाहिये, जिसमें कि वे जहां उचित समझें, रेलमें, पाठशालामें, या अन्य स्थानोंपर उसका प्रचार करें।

[३]

(ले०—पं० घासीरामजी शर्मा, सम्पादक—'पारीक प्रकाश,')

यदि किसी वस्तुका जनतामें विशेष प्रचार करना हो तो उसको सरल सुन्दर और सुलभ करना चाहिये। जो वस्तु जैसी हो उसके प्रचारके लिये वैसा ही प्रबन्ध करना चाहिये।

इस समय श्रीमद्भगवद्गीताके प्रचारमें पहलेसे अधिक उद्योग हो रहा है। भक्तलोग विष्णुसहस्रनामादि स्तोत्रोंकी भांति पाठ कर लेनेके अतिरिक्त अब इसकी परीक्षा भी कराते हैं। परीक्षामें उत्तीर्ण होनेवालोंको पुरस्कार भी मिलते हैं। गीताके अनेक प्रकारके सस्ते संस्करण भी निकलने लगे हैं किन्तु ये कार्य तुरन्त अधिक प्रचार नहीं कर सकते।

हमारी समझसे निम्नप्रकारके प्रबन्ध करनेसे गीताका विशेष और शीघ्र प्रचार हो सकता है:—

(१) गीतामें अनेक शास्त्र और सिद्धान्तोंका वर्णन है, इसलिये इसे केवल वेदान्तका ही ग्रन्थ न मानकर संस्कृतकी प्रथमा परीक्षाकी (कुछ अध्यायोंको छोड़कर) पाठ्यपुस्तकोंमें सभी स्थानोंकी परीक्षा लेनेवाली संस्थाओंमें सम्मिलित करवा देना चाहिये, क्योंकि वेदान्तकी परीक्षामें बहुत ही कम लोग बैठते हैं और संस्कृतकी प्रथमा परीक्षामें सबसे अधिक बैठते हैं।

(२) इसके सस्ते, सुन्दर और सरल विविध प्रकारके संस्करण देशी और विदेशी अनेक भाषाओंमें निकाले जावें, जिनमें कोई दूसरा विज्ञापन न रक्खा जाय।

(३) मन्दिर, स्कूल, पुस्तकालय और घरोंमें विद्वान् श्रीगीताजीकी प्रति सप्ताह कथा बांचा करें।

(४) गीताकी कथा बांचने और गीताकी टीका बनानेकी भाषा सरल, सरस और संक्षिप्त होनी चाहिये।

(५) गीताकी परीक्षा लेनेके लिये सब प्रान्तोंमें परीक्षा-केन्द्र नियत किये जायं, जहां संस्कृत और उस ओरकी प्रचलित भाषाओंमें पृथक् पृथक् परीक्षा हुआ करें।

(६) अनेक प्रकारके दानोंकी भांति धनी सज्जन बहुतसी गीताकी प्रतियां खरीदकर दानमें दिया करें। गीता-प्रचारमें सहायता पहुँचानेवाली संस्थाओंको भी धन द्वारा सहायता पहुँचानी चाहिये। संस्कृत और भाषाके विद्वानोंका भी कर्तव्य है कि वे भी गीता परीक्षा लेनेके लिये अपनी अपनी सेवाएँ मुफ्त भेट करें। गीताके अच्छे टीकाकारोंको चाहिये कि वे अपनी टीकाएँ उन प्रकाशकोंको मुफ्त दें, जो गीता-प्रचारमें निःस्वार्थ सेवा कर रहे हैं।

(७) ऐसे बहुतसे गीता-मन्दिर और गीता-पुस्तकालय बनवाये जायं, जहाँ अनेक प्रकारकी सटीक गीताएं रखी रहा करें और वहाँ गीताका पाठ विद्वान् लोग मुफ्त पढ़ाया करें।

(८) श्रीगीता-जयन्तीका महोत्सव भिन्न भिन्न स्थानोंमें गानवाद्य और भजनके साथ प्रत्येक वर्ष हुआ करे।

(४) गीता-प्रचारका सारा प्रबन्ध उसकी अपनी एक संस्थाके सुपुर्द हो। जहाँ गीतापाठशाला और गीता पुस्तकालय होनेके अतिरिक्त वहीं गीता-उपदेशक भी तैयार कराये जायँ जो जगह जगह जाकर गीताका उपदेश दें। उसकी रिपोर्ट सब पत्रों और परोपकारी विद्वानोंकी सेवामें मुफ्त भेजी जाय।

[इस समय पहलेकी अपेक्षा गीताके साहित्यका प्रचार बहुत बढ़ गया है और वह दिनों दिन बढ़ ही रहा है। परन्तु गीताके सिद्धान्तानुसार-असली गीताज्ञान लोगोंमें बहुत कम देखा जाता है। अतएव मेरी समझसे गीताके प्रचारके लिये एक सर्वोत्तम उपाय यह है कि सच्चे लोग गीताके अनुसार अपना जीवन बनावें। अपने जीवनको गीताज्ञानके साँचेमें ढालकर गीतामय बना दें। जितना लाभ गीता साहित्यके प्रचारसे होगा, उससे कहीं अधिक ऐसे गीताके साँचेमें ढले हुए सच्चे साधक पुरुषोंसे होगा।

—सम्पादक]

गीताका एक श्लोक

(ले०-पं० श्रीकालीप्रसादजी शास्त्री)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता अ० ९ श्लोक २२)

अर्थात्-जो मनुष्य अनन्य होकर, निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मुझमें नित्य लगे हुए उन लोगोंका 'योग' (अप्राप्त पदार्थकी प्राप्ति) और 'क्षेम' (प्राप्त पदार्थकी रक्षा) मैं वहन करता हूँ, अर्थात् उन लोगोंके लिये यह दोनों पदार्थ मैं लादे घूमता हूँ।

स्वामी रामतीर्थका कथन है कि इसी एक श्लोकके कहनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने इतनी बड़ी गीता कही। वे कहते हैं कि इस श्लोकके पहलेका भाग इसकी भूमिका है और पीछेका अंश उपोद्घात है। कुछ लोगोंने गिनकर बताया है कि यह श्लोक गीताके बीचोंबीचका है। अस्तु,

इन दोनों बातोंके विचारका भार, सत्यासत्यका निर्णय पाठकोंपर ही छोड़कर इतना तो मैं भी कहूँगा कि वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्णने बात तो बहुत बड़ी कह डाली। अब यदि मानवसमुदाय 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की प्रतिज्ञापर भी विश्वास नहीं करता तो, वह दुर्भग है और घोर नास्तिक है।

माधव कहते हैं 'योग' यानी जो तुम अपनी शक्तिसे नहीं पा सकते और 'क्षेम' जिस बड़ी चीज़को मेरे देनेपर भी तुम अयोग्य होनेके कारण रख नहीं सकते, उन दोनोंको तुम्हारे हितके लिये मैं जहाँ चाहो, लादे घूमता हूँ, पर अनन्य होकर चिन्तन तो मेरा करो।

अब अनन्य हुए बिना यदि कोई कहता है कि मुझे भगवान् कुछ नहीं देते तो वह भयङ्कर भूल और निष्प्रयोजन अविश्वास प्रकट करता है।

इसी विषयकी एक कहानी सुनिये—'एक ब्राह्मण बड़े विद्वान् थे। उन्होंने विचारा कि भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोकमें 'वहाम्यहम्' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है कि लादे घूमता हूँ। यह ठीक नहीं, अनन्त भक्तोंके पीछे वे स्वयं कहाँ कहाँ घूमेंगे? बड़े हैं, उनके सेवक बहुत हैं, इसलिये प्रत्येक भक्तके पीछे एक एक सेवक योगक्षेम लेकर लगा देते होंगे। यदि ऐसा करते हैं तो स्वयं वहन नहीं करते, सेवकोंद्वारा देते हैं, इसलिये 'वहाम्यहम्' (वहन करता हूँ) के स्थानपर 'ददाम्यहम्' (देता हूँ) पाठ ठीक जँचता है, यह सोचकर ब्राह्मणदेवने श्लोकमें 'वहाम्यहम्' को काटकर 'ददाम्यहम्' कर दिया।

भगवान्‌ने भक्तको शिक्षा देनेके लिये भिखारी बना दिया। एक दिन गृहिणीने कहा, 'कई दिनसे खानेको कुछ नहीं मिला, कुछ बाहरसे माँग लाओ, बड़ी भूख लगी है। घरसे कुछ ही दूर ब्राह्मण गया होगा कि पानी बरसने लगा और बराबर बरसता ही रहा। भिखारी कुछ न माँग सका, वह एक घने वृक्षके नीचे बैठ गया। ब्राह्मणी भूखी थी, तड़प रही थी, इतने ही में एक आठ वर्षका कुमार पक्वान्नोंका खाँचा लादे, ब्राह्मणीके पास पहुँचा। उतारनेके बाद बतलाया कि ब्राह्मणदेवताने भेजा है, वे अभी आते हैं और मेरे माथेमें एक ऐसा डंडा मारा है जिससे खून निकल रहा है। ब्राह्मणीने देखा, श्यामसुन्दर मनमोहन सुकुमार बालकके माथेमें वास्तवमें खून बह रहा है। वह ब्राह्मणके व्यवहारपर दुखी हुई। बालक चला गया। ब्राह्मणने आकर बोला, आओ मेरी माँ बुला रही है। ब्राह्मण घर पहुँचे। सोचा, बालक कौन था? ब्राह्मणीसे क्या कहूँ? इतने ही में ब्राह्मणीने सारी बात कही। तब उन्हें पता लगा कि गीताके काले वर्णोंपर मैंने लाल स्याही नहीं दी, माधवके मस्तकपर डंडा मारा है। उन्होंने झट श्लोक ठीक कर दिया। थोड़े ही दिनमें वह पुनः सद्बुद्धि और भक्तिसे सम्पन्न हो गया।

आशा है, अनन्य होकर मानवकुल इस कथाके अन्तिम परिणामको प्राप्त करेगा।

श्रीकृष्ण-द्रौपदी ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (गी० अ० ९।२२)

Lakshmibilas Press, Calcutta.

गीताभाष्य-विमर्श

(लेखक—श्रीयुत दीक्षित श्रीनिवास शठकोपाचार्य व्याकरणोपाध्याय)

पाठकोंको यह विदित ही होगा कि आचार्य हंसयोगीद्वारा प्रणीत भाष्य एवं उपोद्घातसहित भगवद्गीता जो अभी हालहीमें उपलब्ध हुई थी और चिरकालसे अन्धकारमें विलीन थी, छप गयी है। इसके प्रत्येक अध्यायमें चौबीस अक्षरके गायत्री मन्त्रकी तरह चौबीस चौबीस श्लोक हैं और इसके साथ चौबीस अन्य गीताएँ भी शामिल कर दी गयी हैं। इसके सिद्धान्त 'शुद्धधर्म' सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे मिलते हैं और इसमें विशेषकर शरणागतिका माहात्म्य भलीभांति वर्णित है। इधर श्रीशङ्कर, रामानुज और मध्व इन तीन आचार्योंके सुप्रसिद्ध भाष्यों एवं अन्य भाष्योंके सहित अठारह अध्यायकी प्रचलित गीता तो छपी है ही, इसे तो पाठक जानते ही होंगे।

अभी कुछ दिन हुए हिन्दीके सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'कल्याण' के सम्पादकोंने हमें गीताके सम्बन्धमें एक निबन्ध लिखनेका अनुरोध किया था। अतः हम आचार्य हंसयोगीके भाष्यके सम्बन्धमें कुछ लिखना चाहते हैं। भाषा एवं भाव दोनोंहीकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ बड़ी उच्च कोटिका है और उसे पढ़कर सहृदय विद्वानोंको अवश्य प्रसन्नता होगी, ऐसी मेरी धारणा है।

परम दयालु भगवान् कमलापति नारायणने सकल चराचर जगत्के उद्धारार्थ एवं संसारमें सनातनधर्मके स्थापनार्थ अवनीतलमें अवतीर्ण होकर शरणागति-मार्गका अनेक बार प्रचार किया और साथ ही दुष्ट-दल-दलनके लिये युद्धमार्गका भी प्रचार किया, यह सब लोगोंको भलीभांति विदित ही है। इस युद्धसरणिका धनुर्वेदमें सम्यक् प्रकारसे वर्णन है और जो लोग इस सम्प्रदायसे अभिज्ञ हैं उनका यह मत है कि इस सरणिमें निम्नलिखित विषयोंका यथाक्रम समावेश होता है। विषय ये हैं कि अवतारके अनन्तर नारायणके द्वारा प्रथम तो स्त्री-वध होता है, फिर नर एवं नारायण दोनोंमेंसे किसी एकको युद्ध द्वारा विजय प्राप्त करनेकी इच्छासे स्वयंवरमें विशेष पौरुष प्रदर्शनरूप मूल्य देना पड़ता है, फिर इनमेंसे किसीको राज्यभ्रंशपूर्वक वनवास होता है, कहीं कहीं छिपकर शरणागतकी रक्षाके लिये उसके शत्रुका वध करना पड़ता है, वन नगर इत्यादिका दाह होता है, शरणागतकी विशेषकर शत्रुपक्षके लोगोंकी रक्षा की जाती है, बीचमें कभी कभी रात्रिमें युद्ध होता है और नर एवं नारायण इन दोनोंमेंसे एक युद्धमें जीतनेके लिये दूसरेसे किसी मन्त्रकी दीक्षा लेते हैं।

आदिकवि महर्षि वाल्मीकिने रामायणमें उपर्युक्त समर-पद्धतिके विषयोंका निम्नलिखित रीतिसे विवरण किया है:—भगवान् नारायणने रघुकुलमें जन्म लेकर अवतारके थोड़े ही दिन पश्चात् ताड़कावध किया, फिर सीता-स्वयंवरके लिये धनुर्भङ्गरूप मूल्य दिया, फिर राज्यसे च्युत होकर उन्हें वनवास भोगना पड़ा, सुग्रीवकी रक्षाके लिये उन्होंने छिपकर वालिका वध किया, उनके दूतने लङ्कापुरीको जलाया, शरणमें आये हुए विभीषणादि शत्रुपक्षके लोगोंकी उन्होंने रक्षा की, मेघनाद आदिके साथ उनका रात्रि-युद्ध हुआ और युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌ने अपने ही अंश नररूप महर्षि अगस्त्यसे सूर्यदीक्षा-विधिसे आदित्यहृदय मन्त्रका उपदेश लिया। इसी प्रकार भगवान् वेदव्यासजीने भी महाभारतमें, जो पञ्चमवेदके नामसे प्रसिद्ध है, सनातन धर्मके अनुकूल युद्धपद्धतिके विषयोंका इस भांति विवरण किया है। जैसे—भगवान् नारायणने श्रीकृष्णावतारके अनन्तर पहले पूतनाका वध किया, फिर नररूप अर्जुनने द्रौपदीके स्वयंवरके लिये लक्ष्यवेधरूप मूल्य दिया, फिर उन्हें राज्यभ्रंशपूर्वक वनवास भोगना पड़ा, एवं द्वैतवनमें 'परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम्' (अर्थात् दूसरोंके द्वारा परिभव होते समय हम पांच और सौ मिलकर एक सौ पांच भाई हैं) यह उद्घोषित करके शरणमें आये हुए दुर्योधनादिकी चित्ररथ गन्धर्वसे रक्षा की, खाण्डव वनका दाह किया, गौओंके पकड़े जानेके समय अज्ञातवासमें होनेके कारण बृहन्नलाका रूप धारण करके अपने आश्रित विराटादिकी रक्षाके लिये उनके शत्रु सुशर्मादिको भगाया, द्रोणाचार्यके साथ रात्रिके समय युद्ध किया और नारायणरूप भगवान् श्रीकृष्णसे योग-दीक्षाके द्वारा युद्धमें विजय प्राप्त करनेकी अभिलाषासे योगदेवी-स्तोत्रके मन्त्रका उपदेश

लिया । इसीलिये रामायणके युद्धकाण्डमें जिस प्रकार आदित्यहृदयका मन्त्रभाग निविष्ट कर दिया गया, उसी प्रकार महाभारतमें गीतापर्वके पूर्व जो योगदेवी-स्तोत्र है उसके भागोंको भगवद्गीतामें सन्निविष्ट करके गीतावतरणाध्याय एवं फलाध्याय इन दो अध्यायोंको मिलाकर वेदव्यासने छब्बीस अध्यायकी गीता बनायी । मेरी समझसे यही गीता प्रामाणिक है ; क्योंकि व्यासजीने पहले जो 'भारत' नाम ग्रन्थ बनाया था वह अपूर्ण था एवं जम्बुकादि ब्राह्मणोंने उसे परिवर्तित कर उसके क्रमको भी छिन्न भिन्न कर दिया था; अतः उन्होंने उससे विलक्षण एक लाख श्लोकका जो शुद्ध महाभारत पहले रचा था उसे भगवदनुग्रहके बलसे एवं नारदादि योगिवरोंकी सहायतासे फिरसे रचकर उसमेंसे इस भगवद्गीताको जिस बृहद्रूपमें यह मुद्रित हुई है, उसी रूपमें ग्रथित किया । इसके अतिरिक्त भारतमें भगवद्गीताकी श्लोकसङ्ख्या इस प्रकार दी हुई है:—'षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः । अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं च सञ्जयः ॥ धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ।'—अर्थात् ६२० श्लोक तो भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे कहे गये हैं, ५७ अर्जुनके मुखसे, ६७ सञ्जयके द्वारा और १ श्लोक धृतराष्ट्रके द्वारा कहा गया है । इस श्लोकसंख्यासे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि यही गीता प्रामाणिक है । यह सम्प्रदायशैली शुद्धधर्मदर्शनप्रवर्तक हंसयोगी, बोधायन, टङ्काचार्य प्रभृति आचार्यों एवं सनत्कुमार, गोभिल, नारद आदि महर्षियोंद्वारा अनुवर्तित है । इस समय यही गीता शाङ्कर-भाष्यसहित भी मौजूद है पर इस बातका हम प्रमाणपूर्वक समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि यद्यपि हमने इस पुस्तकको अपनी आंखोंसे देखा है, पर वह अभी तक मुद्रित नहीं हो पायी है । हमारे पास जो प्रति थी वह इस समय एक योगीके पास है, जो आजकल बदरिकाश्रममें रहते हैं । अब प्रश्न यह होता है कि शङ्कर, रामानुज एवं मध्व इन तीन आचार्योंने इसी गीतापर भाष्य आदि क्यों नहीं लिखे ? जब यह इतनी प्राचीन एवं सुन्दर है और इसके बदले इस क्रमविहीन एवं अपूर्ण अठारह अध्यायवाली गीताकी व्याख्या क्यों की ? इस शङ्काका हम युक्ति एवं प्रमाणोंके द्वारा समाधान करेंगे । गीतावतारके अनन्तर युद्धके समाप्त हो जानेपर जब बहुतसा समय बीत गया, तब कालकी विचित्र गतिसे जम्बुकादि द्विजोंसे दूषित होनेके कारण महाभारत क्रमहीन खण्डित एवं अपूर्ण हो गया । कालक्रमसे वेदके पोषक इतिहास-पुराणादि जितने भी शास्त्र हैं, उन सबको कीड़े खा गये । ऐसी स्थितिमें युद्धकी समाप्तिसे लेकर भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके प्रादुर्भावके समय तक कालगतिके फेरसे दुर्दशापन्न होकर गीता खण्डित, भग्नक्रम एवं अपूर्ण हो गयी थी और जिस दशामें उस समय वह उन्हें मिली उसीके आधारपर चार्वाक आदि मतोंके खण्डनके लिये, जो उस समय प्रचलित थे, एवं अपने अद्वैतमतके स्थापनार्थ आचार्यपादने गीताभाष्यकी रचना की । यद्यपि वे कई वर्षतक बदरिकाश्रममें भी रहे, तो भी कालगतिके कारण कहीं निलीन होनेसे यह गीता उन्हें नहीं मिली । अथवा यह कह सकते हैं कि इस गीतामें 'शुद्धधर्म' सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन होनेसे और मुख्यतया श्रीवैष्णवमतके अनुसार केवल अष्टाक्षर सम्पुटित गायत्री मन्त्र एवं शरणागतिकी महिमाका विस्तार होनेसे एवं उनके अभिमत ब्रह्म जीवके तादात्म्यका प्रतिपादन न होनेसे उन्होंने इसका आदर न किया हो । वास्तवमें तो बदरिकाश्रममें रहते हुए उन्होंने इसी गीताको सम्पादित करके उसपर अपनी व्याख्या लिखी थी, जिसकी एक प्रति हमें मिली है, यह हम ऊपर ही कह आये हैं । इन दोनों प्रकारके समाधानोंसे अद्वैतमतानुसार जो शाङ्करभाष्य आजकल उपलब्ध है, उसकी प्रामाणिकतामें कोई बाधा नहीं आती । केरल देशके कुछ लोग यह कहते हैं कि भगवान् शङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव केरल देशके अन्तर्गत कालटी नामक सुप्रसिद्ध स्थानमें कलियुगके ३९२९ वें वर्षके दूसरे मासकी २७ वीं तिथिको अर्थात् सन् ८२८ खीष्टाब्दमें हुआ । 'सिद्धान्तदीपिका' एवं 'केरलाचार्यसंग्रह' इन दो ग्रन्थोंमें 'आचार्य वागभेद्या' यह पद मिलता है, उसीके आधारपर इन लोगोंने आचार्यपादके कालका अनुमान किया है । कुछ लोग शंकरका जन्मकाल श्रृंगेरी मठके सम्प्रदायके अनुसार 'निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे मासि माधवे । शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शङ्करार्योदयः स्मृतः' इस श्लोकके आधारपर यह मानते हैं कि कलियुगके ३८७१ वें संवत्सरमें अथवा सन् ७७८ खीष्टाब्दमें (अर्थात् ईसाकी ८ वीं शताब्दीमें) भगवान् शङ्कराचार्यका जन्म हुआ । ये दोनों ही मत कुछ कुछ अंशमें युक्त जचते हैं । कुछ केरल देशवासी ऐसे भी हैं जो 'आचार्य-वागभेद्या' के स्थानमें 'आचार्य वागखण्ड्या' ऐसा पाठभेद करके आचार्यका जन्म कलि संवत्सर ३३८२ के तीसरे मासकी सप्तमीको अथवा २८० खीष्टाब्दमें (अर्थात् ईसाकी तीसरी शताब्दीमें) हुआ यह मानते हैं । किन्तु यह बात असङ्गत-सी प्रतीत होती है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो

शालङ्ग आदि कवियोंका, जिनके विषयमें प्रमाणान्तरसे यह सिद्ध हो चुका है कि वे ईसाकी पांचवीं अथवा छठी शताब्दीमें विद्यमान थे, आचार्यके ग्रन्थोंमें उल्लेख नहीं हो सकता था। इसलिये यह अन्तिम मत उपादेय नहीं मालूम होता। आचार्य रामानुजने गीताके केवल उन अंशोंको लेकर जिनकी भगवान् शङ्कराचार्यने अद्वैतपरक व्याख्या की थी, श्रीशङ्कराचार्यके मतका खण्डन करते हुए उनकी विशिष्टाद्वैत-परक व्याख्या की, क्योंकि दूसरोंके मतका खण्डन करते हुए अपने सिद्धान्तको स्थापित करनेके लिये ही उनका जन्म हुआ था। जो जो अंश उस समय अनुपलब्ध थे, अथवा जिनकी भगवान् शङ्कराचार्यने अद्वैतपरक व्याख्या नहीं की, उनके विषयमें आचार्य रामानुजने यह विचार ही नहीं किया कि वे भाग भगवद्गीताके अन्तर्गत हैं या नहीं। कई लोग विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तके अनुयायी होते हुए भी 'शुद्धधर्म' सम्प्रदायानुसारिणी इस गीताका अनुमोदन इसलिये नहीं करते कि इसके अन्तर्गत जो योगदेवी-स्तोत्र है, उसमें काली चण्डी प्रभृति देवताओंके नाम आते हैं, जिनमे उन्हें यह भय होना है कि कहीं अपने सम्प्रदायके विरुद्ध इन देवताओं-को ही लोग कहीं परमाराध्य न मानने लग जायं, जिससे भगवान् विष्णुकी एकान्त एवं अनन्य भक्तिमें विरोध आने लगे, यद्यपि इसमें उन्हींके मतके अनुकूल प्रधानतया शरणा-गतिकी महिमा एवं अष्टाक्षरसम्पुटित गायत्रीके ही प्रभावका वर्णन किया गया है। इतना ही नहीं, वे यहां तक कहते हैं कि रामायणके युद्धकाण्डमें जिस प्रकार 'आदित्यहृदय, जिसे अन्य सभी मत मानते हैं, प्रक्षिप्त है, उसी प्रकार इस गीताका योगदेवीस्तोत्र भी प्रक्षिप्त है। इस मतकी पुष्टिमें वे यह कहते हैं कि केवल इस गीतामें ही नहीं, अपितु वेदों, उपनिषदों एवं भारतादि ग्रन्थोंमें भी कलियुगके दोषसे एवं कालकी गतिसे वैष्णव-धर्मके पोषक बहुतसे श्लोक लोप किये गये हैं और अपने अपने मतके अनुसार लोगोंने पाठभेद कर दिये हैं, यह सभी सहृदय विद्वान् जानते हैं। नारदादि योगिवरोंकी सहायतासे एवं भगवत्-कृपाके बलसे भगवान् कृष्णद्वैपायनने इसको फिरसे ग्रंथित किया और आचार्य हंसयोगीने अपने उपोद्घातके अन्तमें 'शुद्धविद्यावनीतले' इस श्लोकचरणमें जो 'वनीतल' इस पदका प्रयोग किया है उससे 'शुद्धधर्म' सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको माननेवाले लोग यह अनुमान करते हैं कि कलि संवत्सर ३६०४ अथवा खीष्टाब्द ५०२ (अर्थात् ईसाकी छठी शताब्दीमें) बदरिकाश्रममें योगिवरोंके अनुग्रह-बलसे एवं पूर्वजन्मके उत्कट पुण्योंसे हंसयोगी प्रभृति आचार्योंको यह पुस्तक जो कालगतिजन्य दुर्गतिके भयसे कहीं छिपी हुई पड़ी थी, मिली और उन्होंने इसकी व्याख्या की। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तके प्रवर्तक सार्वभौम वेदान्त-देशिकको, जिन्होंने काञ्चीनगरमें रहते हुए अपने 'वरद-राजपञ्चाशत' नामक पचास श्लोकोंके स्तोत्रमें देवाधिराज, भक्तभयभञ्जन वरदराज महाराजकी स्तुति इस प्रकार की है—

> ब्रह्मेति शंकर इतीन्द्र इति स्वराडि—
> त्यात्मेतिसर्वमिति सर्वचराचरात्मन्।
> हस्तीश सर्ववचसामवसानसीमां
> त्वां सर्वकारणमुशन्त्यनपायवाचः

यदि शुद्धधर्म-दर्शन उपलब्ध हुआ होता तो जिस प्रकार उन्होंने 'तत्सन्निकृष्टमपि वा मतमाश्रयध्वम्' कहकर मध्वा-चार्यके मतका अनुमोदन किया है, उसी प्रकार मायावाद-रूपके माननेवालोंको गीताके पठन-पाठनका अधिकार नहीं है, इस बातको सिद्ध करनेवाले और अपने मतसे बहुत कुछ मिलते हुए शुद्धधर्ममण्डल-दर्शनको भी अनुमोदन-पूर्वक स्वीकार करते। अब रही यह बात कि इस गीताके अन्तर्गत योगदेवी स्तोत्रमें जो 'काली' 'चण्डी' आदि पद आये हैं उनका विशिष्टाद्वैत मतके आचार्य लोग लक्ष्मीपरक अर्थ कर सकते थे, जिस प्रकार पराशरभट्टारक द्वारा प्रणीत विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रके भाष्यमें रुद्रादि पदोंकी विष्णु-परक व्याख्या की गयी है, हम यह निःशङ्क होकर कह सकते हैं। आचार्य हंसयोगीके भाष्यकी अन्यान्य भाष्योंके साथ तुलना करते हुए युक्तिपूर्वक एवं विस्तारसहित उसकी श्रेष्ठता एवं मधुरताको हम फिर कभी सिद्ध करेंगे।

संसार-सागरमें डूबे हुए अपने भक्तोंको पार उतारनेके लिये उनपर कृपाकर भगवान् श्रीहरिने गीतारूपी नाव बनायी है। —केशव काश्मीरी

क्या पुनः गीताका सन्देश न सुनाओगे ?

(लेखक—राजकुमार श्रीरघुबीरसिंहजी बी० ए०, सीतामऊ स्टेट)

बहुत बरस बीते, कई शताब्दियाँ हो गयीं, जब भारत जगद्गुरु था, समस्त संसारका मार्गदर्शक था। तब यहाँ इसी भारतभूमिपर धर्म तथा अधर्मका भीषण संग्राम मचा था। इस संग्रामका अन्तिम दृश्य कुरुक्षेत्रके मैदानपर हुआ था। उस समय नाथ! धर्मकी विजय करवाने, उसे सहायता देनेके लिये तुम्हें पार्थके सारथीका कार्य करना पड़ा था, और अधर्मको सर्वदाके लिये नष्ट करनेको अपने कार्यकर्ता अर्जुनको कर्तव्यका पाठ पढ़ाना पड़ा था। अधर्मकी ओर अपने साथियों, पूज्यों-तकको सहायता देते देखकर जब अर्जुन युद्ध करनेसे हटने लगा, तब तुमने ही नाथ! उसे कर्तव्यसे च्युत नहीं होने दिया था। अपनी सुदूरदर्शी दृष्टिसे तुमने यह जानकर कि, शायद भविष्यमें फिर वैसा ही दशा आजाय तो, अपने साथियोंको धीरज बंधवानेके लिये उन्हें अपने कर्तव्यपर डटे रखनेके लिये तुमने वादा किया था—

'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

भगवन्! उस बातको बहुत दिन बीते। हजारों वर्ष बीते। नहीं मालूम ये हजारों वर्ष उस वादेको तुम्हारी स्मृतिसे मिटा सके या नहीं। कमसे कम हम तो उस बातको नहीं भूले हैं।

उस समय तुमने कुरुक्षेत्रके मैदानपर गीताका पाठ अर्जुनको कर्तव्य सुझानेके लिये तथा संसारको निष्काम कर्मकी महत्ता बतानेके लिये सुनाया था किन्तु उस समय-के बाद हमारी दशा बहुत बदल गयी। हम अपना सारा प्राचीन गौरव, महत्ता खो चुके हैं। एक बार जो गिरे सो गिरते ही गये, पर नाथ! तुम्हारे उस सन्देशके आधारसे बहुत कुछ बच सके हैं। नहीं मालूम, यह आशा न होती, भविष्यका आशापूर्ण दृश्य हमारे सम्मुख न होता तो आज क्या दशा होती? किन्तु हमें तुम्हारे वादेपर भरोसा है इसी-पर किसी तरह हिन्दूधर्म तथा हिन्दू जाति स्थिर है।

किन्तु उस पतनका ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा है, उससे हमारी बुद्धि ऐसी पथरा गयी है, अपने कर्तव्य-अकर्तव्यके जाननेकी बुद्धि इतनी विगत-चेतन होगयी है कि हम तुम्हारे सन्देशको भी समझ नहीं पाते हैं। उसे अकर्मण्यताका सन्देश समझे बैठे हैं। वह सन्देश जो रणभूमिसे विमुख होते हुए क्षत्रियको युद्धकी ओर लौटानेके लिये सुनाया गया था, वही आज न मालूम कितने भारतीय युवकोंको अपने कर्तव्यसे भी विमुख कर रहा है। कितना भीषण काया-पलट होगया है, मनुष्यकी बुद्धि कितनी परिवर्तित हो गयी है। न मालूम कितने युवक आज उसी गीतासे वैराग्य-का पाठ पढ़कर संसार परित्याग कर देते हैं। अपने सांसारिक जीवनरूपी रणक्षेत्रसे भाग खड़े होते हैं। भगवन्! आज हमारी यह दशा हो गयी है! आज आपके सन्देशका ही सहारा लेकर हम संसारके जीवनसंग्रामसे विमुख हो जाते हैं।

यही नहीं, आज हमारी बुद्धि ही विगत-चेतन नहीं हुई है, किन्तु हम पथभ्रष्ट भी हो गये हैं। अपने नैतिक पतनके फल-स्वरूप आज हम इस संसारके जीवनको भ्रष्ट ही नहीं कर चुके हैं किन्तु धर्म-च्युत भी हो गये हैं। आधुनिक भौतिक सभ्यताने हमें अपने आध्यात्मिक पथसे भ्रष्ट कर दिया है। थोथी भौतिक सभ्यता अपने बाह्य आडम्बर तथा ऊपरी चमक-भड़कसे मनुष्योंको अपनी ओर आकर्षित कर रही है। वह उसको पथच्युत करनेका प्रयत्न कर रही है। उसके धोखेमें आकर कई अपना जीवन नष्ट कर चुके हैं।

किन्तु नाथ! अगर यह सब यहां ही आकर समाप्त हो जाता तो भी कुछ सन्तोष होता किन्तु क्या करें, आज हिन्दू-धर्मको पुनः जीवन-प्रदान करने, उसके मृतप्राय शरीर-में पुनः जीवन संचार करनेके लिये जो प्रयत्न किये गये हैं, उनसे हिन्दू-धर्म-संसारमें विद्रोह उठ खड़ा हुआ है। भिन्न भिन्न मतानुयायी आज एक दूसरेका विरोध कर रहे हैं। समस्त हिन्दू-संसारमें अराजकताका एकछत्र साम्राज्य हो रहा है।

ऐसी दशामें पुनः अकर्मण्य जातिमें जीवनका सञ्चार करनेको, अराजकताको नष्ट करके पुनः हिन्दूधर्मका सुधार

कर उसे सर्वथा उपयुक्त बनानेको, तथा मनुष्योंको उनका कर्तव्यपथ सुझानेको तुम्हारे अतिरिक्त नाथ ! कौन समर्थ है ?

मृतप्राय जातिमें जीवनका संचार करना होगा । उसकी मूढ़ताको नष्ट करके उसे नवीन कार्यकी ओर अग्रसर करवाना होगा । इस जातिके मुखसे पुनः ये शब्द कहलाने होंगे—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।

आधुनिक विद्रोहियोंके सब भिन्न भिन्न मतोंको वृथा कर तथा प्राचीन धर्ममें सुधार करके पुनः धर्म-प्रचार करना होगा । यही नहीं हमें पुनः अपना कर्तव्य बताना तथा अपनी अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेका पथ सुझाना होगा ।

नाथ ! यह महान् कार्य है । आज हम मृतप्राय हो गये हैं । समस्त जातिमें अकर्मण्यताका नशा छाया हुआ है । अब तुम्हारे बिना इस जातिका कोई सहारा नहीं दीखता । फिर हमें वह तुम्हारा पुराना वादा भी याद आता है । यह सच है कि हम पतित हो गये हैं, तुम्हारे सन्देशका सच्चा अर्थ नहीं समझ पाते हैं, फिर भी आज तुम्हारा सन्देश पढ़ते अवश्य हैं । अतः जब जब तुम्हारी वह आज्ञा कि—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

—पढ़ते हैं तब तब यह विचार आता है कि इस नष्टोन्मुखी जातिको बचानेके लिये तुम्हें आवाहन करना होगा और तुम्हें इसे बचानेके लिये इस संसारमें आना होगा । किन्तु हृदयमें शंका आती है कि शायद न आओ । हमारी प्रार्थनाकी ओर ध्यान न दो, तब तुम्हारा वादा याद करनेसे यह शंका नष्ट हो जाती है और अब तुम्हें आह्वान करनेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता है ।

सो नाथ ! कबतक हम तुम्हारी बाट देखें ? कबतक तुम्हें बुलानेके लिये प्रार्थना करें ?

आओ ! नाथ ! बहुत दिनसे उस दिनकी बाट देख रहे हैं, कब पुनः वृन्दावनमें सुमधुर वंशीकी वह मधुरध्वनि सुनायी देगी, कब पुनः हमें कर्तव्यकी ओर बढ़ानेके लिये वीरतापूर्ण गीता-सन्देश सुनाओगे । हम आशा लगाये हैं कि तुम पुनः आओगे, पुनः हमें गीताका सन्देश सुनाओगे पुनः हमें जीवन-संग्राममें सफल होनेका सन्मार्ग बताओगे !

बहुत दिनोंसे आकांक्षा लगी है । क्या हमें पुनः गीताका सन्देश नहीं सुनाओगे ?

श्रीकृष्णकी गीता-वाणीमें १६ आश्चर्य

(लेखक—कविसम्राट् पं० श्रीबाबूरामजी शुक्ल)

प्रन्थोंमें जितना प्रतिष्ठा-सौभाग्य श्रीभगवद्गीताको प्राप्त हुआ, उससे अधिक या उतना कदाचित् ही किसीने पाया हो, श्रीशङ्कराचार्य आदि जगद्विजयी विद्वानोंसे लेकर अल्पज्ञ पर्यन्त सभी उसको बड़ा मान देते हैं, पाठ करते हैं, पूजते हैं, अन्त समयमें सुनाते हैं, छोटीसी पुस्तक पाकेटमें रखते हैं, अवकाश पाते ही निकालकर पढ़ने लगते हैं, यहां तक सुना गया है कि फांसीकी तख्तीपर कई फांसी लटकनेवालोंके गलोंमें गीता लटकी है, टीका-भाष्योंकी संख्यामें योगिराज, सिद्ध, पण्डित, मायावी, यवन, अंग्रेज, पुरुष, स्त्री, सभीके भाष्य सुने गये हैं, कुछ देखे भी गये हैं। चमत्कार यह है कि प्रत्येक जन गीतासे यथेष्ट मत निकाल लेता है; बहुतसे तिलक तो ऐसे हैं कि, जिनको लोग उनका बनानेवाला सुन रहे हैं, वह संस्कृतका नाम भी नहीं जानते, केवल भाषाके आधारपर काम हुआ, जो किया सो बेचारे दरिद्र पुराने पण्डितोंने किया, अस्तु ।

ऐसी बहुत सी बातें गीताके विषयमें सुन और देखकर मेरी भी बहुत दिनोंसे उसके तत्त्वको जाननेकी तीव्र इच्छा होती थी, और जब कभी अवकाश मिलता था, तो मैं विचार भी करता था; पर निज पूर्वपक्षोंका सन्तोषजनक

उत्तर नहीं पाता था । मैंने* भगवद्गीतासुधाकरमें २७ पूर्वपक्ष किये हैं, जिनमें एक यह है—

> यथैक्यतं महाभेदो ज्ञातयोः शिशुवृद्धयोः ।
> तथाऽधिकतरो वा किं न स्याद् वाचोरीशजीवयोः ॥

अर्थ-बाल वृद्ध तथा मूर्ख और पण्डित दोनों मनुष्य ही होते हैं पर अवस्था और गुणके भेदसे दोनोंकी वाणीमें महान् अन्तर होता है । बिना पढ़ा मनुष्य विद्वान्‌के सदृश भाषण कदापि नहीं कर सकता, इसी भांति छोटा बालक वृद्धके तुल्य नहीं कर सकता ।' ऐसा है तब तो श्रीकृष्ण (ईश्वर) और पण्डित (जीव) की उक्तिमें बड़ा ही अन्तर होना चाहिये, जो मनुष्य श्रीकृष्णको योगिराजमात्र मानते हैं, वे भी यह कहते हैं कि महाराज श्रीकृष्ण करोड़ों पुरुषोंसे अधिक शक्तिमान् थे, उनके मतमें इतना ही भेद श्रीकृष्ण और मनुष्यकी वाणीके बीच भी होना चाहिये, यद्यपि प्रायः गीता-वचनोंकी प्रशंसा लोग ऐसी ही करते हैं, पर प्रमाण बिना प्रशंसामात्रसे संतोष कैसे हो ? इत्यादि । निदान सं० १९८० के भाद्रपदमें मैंने इस बातका तीव्र प्रयत्न किया कि, 'किसी भांति गीताके अन्दर कोई अलौकिक शक्ति दीख पड़े जिससे दृढ़ विश्वास हो जाय कि संसारमें इसकी जैसी प्रतिष्ठा है, वैसा ही यह ग्रन्थ है, ईश्वर-वचन है, अनुपम है, इसके तुल्य दूसरा ग्रन्थ दुर्लभ है ।' जब कोई बात न जान पड़ी, तब मैं सनियम रहकर गीता-विचार करने लगा; पर सफलता नहीं हुई । मुझे इतना विश्वास था कि 'यदि कोई चमत्कार जान पड़ेगा तो श्रीकृष्ण-वाक्यमें ही, अर्जुन-वाक्यमें नहीं; इसलिये प्रथमाध्यायको छोड़ द्वितीयके प्रत्येक मन्त्रपर ध्यान देने लगा 'नासतो विद्यते' (२।१६) इसपर कई दिन विचार किया । इतनेमें मुझे एक रामानुज-सम्प्रदायके पण्डित मिले । उन्होंने 'सर्वधर्मान्' (गी० १८।६६) मन्त्रकी अधिक प्रशंसा की, उसी समय राव बहादुर सरदार राजा दुर्जनसिंह जी, भूतपूर्व प्रधान मन्त्री अलवरकी भेजी हुई 'गीता-सिद्धान्त' पुस्तक मुझे डाकसे मिली, उसमें चार बार ग्रन्थके आदि मध्य और अन्तमें 'सर्वधर्मान्' गीतामन्त्र लिखा था; इन दोनों बातोंसे मेरा मन उक्त मन्त्रकी ओर विशेष गया, तदनन्तर दोनोंकी महिमा पर विचार किया तो 'सर्वधर्मान्' मन्त्रमें मुझे १६ आश्चर्य जान पड़े, वे ये हैं—

अथ गीतामन्त्रस्य षोडशाश्चर्याणि ।

> अत्र प्रथममाश्चर्यमर्थानन्त्यं विदुर्बुधाः ।
> सर्वनामक्रियासंज्ञाऽव्ययाधिक्यं द्वितीयकम् ॥ १ ॥
> यन्त्रोद्धारस्तृतीयं च चतुर्थं रूपकोटयः ।
> पञ्चमं धातुमात्राप्तिः षष्ठं लक्षामितः स्मृतम् ॥ २ ॥
> सप्तमं विमर्नायस्य मनुष्यस्यापि मे गतिः ।
> श्रीमत्सरस्वतीत्यादिनामोद्धारोऽष्टमं खलु ॥ ३ ॥
> वागर्थेषु चमत्कारा अधिका नवमं मतम् ।
> वर्णादावीदृशैः पद्यैः साम्यं दशममीरितम् ॥ ४ ॥
> सर्वस्यैकादशं शब्दशास्त्रस्य चरितार्थता ।
> द्वादशं सर्वशास्त्रज्ञसम्प्रदायसुसम्मतिः ॥ ५ ॥
> त्रयोदशं त्रिदां काश्यां मानितामादरः परः ।
> मच्छ्लोकगायुताद्धाब्दमप्रासिद्धिश्चतुर्दशम् ॥ ६ ॥
> स्मृतं पञ्चदशं दूरं साक्षराणां दुरात्मनाम् ।
> षोडशं सर्ववर्गाग्य प्रयत्नाक्षरसंस्थितिः ॥ ७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त 'सर्वधर्मान्' मन्त्रमें १६ बातें आश्चर्यमयी ऐसी पायी गयीं, जिनमेंसे एककी प्राप्ति भी मनुष्य-काव्यमें दुर्लभ है । प्रथम आश्चर्य १—अर्थोंकी अनन्तता; २—संज्ञा क्रिया सर्वनाम और अव्ययोंकी अधिकता; ३—यन्त्रोद्धार,-मन्त्रसे यन्त्र और यन्त्रसे मन्त्र बनानेकी रीति है, उसीसे प्रस्तुत मन्त्रका यन्त्र बनाया तो ३४ का यन्त्र बना । बनानेकी विधि तो पुनः अवसर पाऊंगा तो बताऊंगा, पर रूप बतलाता हूं, इन दोनोंमें प्रथम गीताके चरम मन्त्रसे बना है. दूसरा यन्त्रागम के अनुसार लिखा है, यहां इसकी बहुत महिमा और फल लिखा है;

१ सर्वधर्मान्‌म-न्त्रका यन्त्र

७	२	११	१४
१२	१३	८	१
६	३	१०	१५
९	१६	५	४

२ यन्त्रागमोक्तप्रसिद्ध यन्त्र (सर्वधर्मान्)

९	१६	५	४
७	२	११	१४
१२	१३	८	१
६	३	१०	१५

४—अर्थोंकी कथा तो दूर रही केवल लिखनेमें ७९ उन्नासी करोड़से अधिक भेद होंगे, ये बातें समझमें आना बहुत ही कठिन है, जबतक व्याकरणके अनुसार रूपोंका हिसाब न लगावें, संस्कृत-पण्डित भी नहीं जान सकते । उदाहरण—'संस्कर्ता' इस एक पदके संस्कृत व्याकरणके अनुसार—सैंस्कर्ता-संस्कर्ता-संस्स्कर्ता-संस्कर्त्ता इत्यादि १०८ भेद लेखमें होते हैं, यह बात सिद्धान्तकौमुदीकी पञ्चसन्धिमें

* श्रीभगवद्गीतासुधाकर ग्रन्थ लेखकके पास छपानेको तैयार हो गया है, वह केवल 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' इस मन्त्रपर लिखा गया है, उसकी भूमिका श्लोकबद्ध गीताके तुल्य है और पूरा ग्रन्थ गीतासे छःगुनेके लगभग है । उसीका (नमूना) यह लेख है ।

ही पढ़ायी जाती है। कदाचित् मैं कहीं भूल भी गया हूँ, तो भी करोड़ों ही रूप रहेंगे, लाखों नहीं। ५-'सर्व+धा+ऋ+मा+अन्' इत्यादि ७४ धातुओंका योग यह मन्त्र (सर्वधर्मान्) बन जाता है; यह सब-' सर्वगतौ-डुधाञ् धारणपोषणयोः' इत्यादि संस्कृत धातुओंका गण है; ६-इतना होनेपर भी ग्रन्थ जैसा विस्तृत होना चाहिये, वैसा नहीं है; ७-मुझसा मनुष्य जिसे संसारमें बहुत ही कम मनुष्य, सो भी प्रायः अल्पज्ञ ही जानते हैं, उसकी बुद्धिमें ये बातें आ गयीं जैसे बच्चा संस्कृत बोलने लगे; ८-'सरस्वती' 'कृष्ण' 'शंकर' इत्यादि नाम प्रस्तुत मन्त्रसे ज्योंके त्यों उद्धृत होते हैं; [प्राचीन पण्डित बीजमन्त्रोंका उद्धार दुर्गा आदिमें दिखलाते थे, उससे यहांका ढंग अत्यन्त सुगम है] ९-देवतोंके अर्थ बहुत हैं, परन्तु सरस्वतीजीके प्रधान होनेसे उनके अर्थोंमें विशेष चमत्कार है; १०-जो बातें इस मन्त्रमें निकली हैं प्रायः वे ही दूसरे भी दैव-चमत्कारयुक्त मन्त्रोंमें पायी जाती हैं, इससे प्रतीत होता है कि दोनों जगह कोई एक ही शक्ति काम कर रही है; ११-पञ्चसन्धिसे उत्तर कृदन्त तक समस्त व्याकरणका कार्य इस मन्त्रमें है; १२-समस्त मतोंके शास्त्रज्ञ सज्जनोंने इसकी प्रशंसा की है; कोई विरुद्ध नहीं है १३-काशी आदिके महान् विद्वानोंने बड़ी प्रशंसा की है, कोई भी किसी बातमें विरोधी नहीं है; १४-इतनी शक्ति रहनेपर भी पांच सहस्र वर्ष तक यह गुप्त रही, यद्यपि रामानुज-सम्प्रदाय आदिमें बड़ी महिमा लिखी है, पर वह गुप्त ही है, सर्वसाधारणको वे देते भी नहीं; १५-जो पढ़ा हुआ भी दुष्ट पुरुष है, उसे इन अर्थोंमें बड़ी अरुचि होती है, यह विचित्र बात कई जगह देखी गयी है, उसे सुनना ही दुःसह हो जाता है; १६-प्रत्येकवर्ग, स्थान, प्रयत्नके अक्षर इस (सर्वधर्मान्) मन्त्रके अन्दर आ गये हैं।

इन १६ आश्चर्योंके नाममात्र लिखे गये, सिद्ध कर दिखलाने और समझानेको बहुत समयकी अपेक्षा है, फिर अल्प पठितोंको ज्ञान होना भी कठिन है, पर जो कोई समझ जाय, उसीसे लेखकी सफलता है। किसी पण्डितको सन्देह हो, वह तत्काल मुझसे उत्तर पूछ सकते हैं। अब कुछ अर्थोंका ढंग देखिये। जितनी बातें इस श्लोकके विषयमें अपेक्षित हैं, प्रायः सब इन्हीं ३२ वर्णोंसे निकलती हैं जैसे मङ्गलाचरण समालोचना आदि।

अभी मंगलार्थ देखिये, उसका आरम्भ गणेशसे होना उचित है। देवताओंके अर्थ तीन तरहसे होते हैं, १ प्रार्थना-जहां अर्थी विनय करता है; २ उपदेश-जहाँ देवता अर्थीसे कुछ कहता है; ३ आशीर्वाद-जहाँ देवता या मन्त्र अर्थीके इष्ट-प्राप्तिके लिये आशिष देता है। तीनों तरहके अर्थ हैं, उनमेंसे एक प्रार्थनामें दिखलाया जाता है-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(क) इस गीता-मन्त्रसे मङ्गलमय गणेश-प्रार्थनाका अर्थ—

म! (हे गणेश! 'मः शिवश्चन्द्रमा वेधाः' इत्येकाक्षरः। मस्यापत्यं मिः। तत्सम्बुद्धौ हे मे) सर्वधर्मान् (अखिलान् मम धर्माधर्मान् 'धर्मशब्देन अधर्मोऽपि गृह्यते' इत्यस्यैव मन्त्रस्य भाष्ये भगवान् शंकरः) परित्यज्य (उपेक्ष्य) मा (लक्ष्म्या सह, किबन्तोऽत्र मा शब्दः) अकम् (दुःखिनम्। कम् सुखम्, तद्धीनः अकः तम्) शरणम् (रक्षकः) व्रज (प्राप्नुहि) अहम्, सर्व पापेभ्यः (सकलदुरितक्षयार्थं) त्वा मोक्षयिष्यामि (प्रेरयिष्यामि) मा शुचः (विचारान्तरं मा कार्षीः)

अर्थात्-हे गणेश! मेरे धर्माधर्मके विचारको छोड़ लक्ष्मीके साथ आकर दुःखीकी रक्षा कीजिये। मैं समस्त पापोंको ध्वस्त करनेके अर्थ आपको तत्पर करूंगा, शीघ्र चलिये और कुछ विचार न कीजिये।

ऐसे गणेशजीके सहस्रों अर्थ मेरे लिखे हैं, उनमेंसे प्रत्येकपर आपको सैकड़ों शङ्काएँ हो सकती हैं जैसे-१ यह अर्थ तो आपका मनगढ़न्त है; २ वक्ताका आशय कदापि नहीं; ३ लड़ाईके बीच कृष्णार्जुन-संवादमें इन अर्थोंका प्रयोजन क्या था?; ४ ये अर्थ होते तो शङ्कराचार्य आदि अपने भाष्योंमें क्यों नहीं कहते? इत्यादि इन शङ्काओंके प्रत्येकपर एक दो चारसे अट्ठाईस तक उत्तर मैंने अपने पुस्तककी भूमिकामें दिये हैं, जिनकी सभी विद्वानोंने प्रशंसा की है। ईश्वर करे, वह सब विषय लोकविख्यात हो, वह दिन शीघ्र आवे।'

अब सरस्वती देवी (जिनकी यहां प्रधानता है) का अर्थ देखिये-

यह उपदेशरूपसे है। गणेशकी भाँति प्रार्थना रूपसे नहीं-

(ख) सर्वधर्मान् परित्यज्य एकं, शरणम् (शर् अण् इत्यादि प्रत्याहार रूपाम्) माम् (सरस्वतीम्) व्रज (जानीहि) शेषः साधारणोऽर्थः।

(ग) सर्वधर्मान् परित्यज्य एकाम् अहम् (वर्णरूपाम्। अकारादि-हकारान्तः प्रत्याहारः) शरणं व्रज। शेषः साधारणोऽर्थः

अर्थात्–सरस्वतीका आदेश है कि 'और धर्मोंका अधिक विचार न कर एक अक्षरस्वरूपिणी मुझको आश्रय जानो, मैं सब पापोंसे छुड़ा दूंगी' विद्वान् तो डेढ़ पंक्तिमें ऐसे अर्थ समझ सकते हैं पर दूसरोंके लिये तीन पृष्ठ भी कदाचित् पर्याप्त हों। इतना अवकाश नहीं, अधिक समझना चाहो तो पण्डितोंसे पूछो। पण्डितको सन्देह हो तो मुझसे पूछें, उत्तर दूंगा। और सरस्वतीका अर्थ लो–

(घ) सर्वधर्मान् परित्यज्य एकं मां शरणं व्रज (सरस्वतीमात्रं रक्षकं जानीहि) [ननु काऽसि त्वं कुत्र वा लभ्यसे तत्राह] अहं सर्वपापेभ्यः अमः (निखिलानि पापानि नाशयितुम् रोगः) अक्षे (वर्णेषु। अकारादिः हकारान्तोऽक्षः प्रत्याहारः प्रायस्तन्त्रेषु व्यवहियते) त्वा इष्यामि (त्वां प्राप्ता भवामि) अतः मा शुचः (चिन्तां मा कार्षीः। इगुपधौ दिवादिः।

अर्थात्–सब धर्मोंका विचार छोड़ एक मेरे (सरस्वतीके) शरण आओ, जो कहो तुम कौन हो कैसे प्राप्त होती हो? इसका उत्तर–मैं समस्त पापोंके नष्ट करनेको रोग हूं, और (संस्कृतके) अक्षर जो अकारसे हकार पर्यन्त हैं उनमें प्राप्त होती हूं, सोच न करो।

अब 'सरस्वती' नामका उद्धार भी दिखलाया जाता है–

(ङ) सर्वधर्मान् परित्यज्य एकं मां शरणं व्रज [साधारणोऽर्थः] अहं भि (रुचिरे भातीति भाः तस्मिन्) ओम् (ओंकारवाच्ये प्रणवे) [स्थिता] त्वा सर्वपापेन (सरस्वती) [त् च वाश्च सौ च अर्प् च अपश्च त्वा सर्वपाः। पौ च आश्च पाः। अविद्यमानाः पाः येषु ते अपाः। अपाश्च ते त्वासर्वपाः त्वासर्वपापाः। पूर्वनिपातस्या-नित्यत्वाद्विशेषणस्य परनिपातः। त्वासर्वपापाश्च ईश्च त्वासर्वपापयः। त्वासर्वपापयः अश्नुति प्राप्नोति इति त्वासर्वपापेन। [त् वा स् अर् प् अप]-[प् प् आ] + ई = [त् व् स् र् अर् अ अ ई] क्रमपरिवर्तने [स् अर् अ स् व् अ त् ई] योगे = सरस्वती मा शुचः (धनशोकान्) ओदयिष्यामि (अपमृज्य। दूरी करिष्यामि। कोशाम्भसरिके देवि, इतिस्मरणात्)

अर्थात्–सब धर्मोंका अधिक विचार न कर मेरे शरण आओ। प्रश्न–तुम कौन हो कहां निवास है? मेरा तुमसे क्या उपकार होगा? उत्तर–मैं ओङ्कारका अर्थ सरस्वती हूं, दारिद्र्य आदि दुःख दूर कर दूंगी।'

श्रीमद्भगवद्गीताकी एक अति प्राचीन प्रति

(लेखक—श्री………)

क महत्वकी कार्यके हेतु स्वर्गीय पिताजीके जीवन कालके कुछ कागजातकी आवश्यकता थी, तदर्थ खोज-पड़ताल की गयी। दैवयोगसे पिताजीकी एक पुरानी नोटबुक हस्तगत हुई, उसमें प्राचीन साप्ताहिक पत्रकी एक प्रति रक्खी हुई थी। नोटबुक इसी चावमें तत्काल खोली, तो सामनेके पृष्ठपर मोटे अक्षरोंमें अङ्कित था 'फर्रुखाबादमें एक ब्राह्मणके यहांसे प्राप्त केवल ७० श्लोककी 'श्रीमद्भगवद्गीता'की मुख्य प्रतिकी प्रतिलिपि।' मन नवीन ओतमें गोते खाने लगा और तत्काल ही उत्कण्ठापूर्वक ७० श्लोकोंके विचित्र दर्शन किये।

उस नोटबुकमें श्लोकोंके आसपास हाशियामें लाल रोशनाईमें यत्र तत्र कुछ चिह्न, टिप्पणी तथा 'यह श्लोक पाटलीपुत्र वालिकी प्रतिमें नहीं है' 'अथवा अधिक' है इत्यादि लिखे हुए देखे गये। परिणामस्वरूप–नोटबुकमें रखते हुए उस साप्ताहिकपत्रको उलटा तो ज्ञात हुआ कि ता० २९ जुलाई सन् १९१४ ई० का 'पाटलीपुत्र' है, तथा उसमें भी 'बालिद्वीपमें केवल ७० श्लोककी गीताकी प्रति' ऐसा लेख प्रकाशित है। तुरन्त ही उस प्रतिसे 'फर्रुखाबाद'की प्रतिका ध्यानपूर्वक मिलान किया गया तो ज्ञात हुआ कि वस्तुतः 'फर्रुखाबाद' की प्रति पाटलीपुत्रमें प्रकाशित 'बालि' की प्रतिसे कई अंशोंमें एकदम भिन्न तथा अनुपम है। जैसा कि पाठकोंको आगे देखनेसे स्वयं प्रतीत हो जायगा।

स्वर्गीय पूज्य पिताजीकी पुण्य-स्मृतिका आदर करते हुए पाठकोंके लाभार्थ यही उचित प्रतीत हुआ है कि उनकी नोटबुकमें उद्धृत गीताकी प्रतिको अक्षरशः तथा यत्र तत्र दिये हुए उनके विचार, टिप्पणी और चिह्नों सहित ठीक वैसीकी वैसी 'गीताङ्क'में प्रकाशित कर दी जाय। गीताकी अन्य प्रतियोंसे प्रस्तुत प्रतिकी जो भी न्यूनाधिकता एवं अन्य भाव जहां तहां आ पड़े हैं वे सब पाठकोंके समक्ष और भी सुविधा, सुगमता प्रस्तुत कर देंगे। अब

कुछ और न लिखकर 'फर्रुखाबाद'की प्राचीन प्रतिको पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है। ७० श्लोकोंकी समाप्ति तक यत्र तत्र दी हुई पाद-टिप्पणियाँ और प्रत्येक श्लोकके अन्तमें दिये हुए, वर्त्तमान प्रचलित ७०० श्लोककी गीतासे मिलान की हुई अध्याय एवं श्लोककी संख्या आदिको पूज्य पिताजीकी ओरसे ही लिखा समझना चाहिये-

ओ३म्

फर्रुखाबादमें एक ब्राह्मणके यहाँ प्राप्त केवल ७० श्लोकोंकी श्रीमद्भगवद्गीताकी मुख्य प्रति * (मूल प्रति ताम्रपत्रोंपर खुदी हुई है)

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्। ··· १।२८
न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे। ··· १।३१ उत्तरार्द्ध
न काङ्क्षे विजयम् कृष्ण न च राज्यम् सुखानि च।१।३२ पूर्वार्द्ध
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रम शस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरम् भवेत्॥ १।४६

श्रीभगवानुवाच

क्लैब्यम् मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते
क्षुद्रम हृदयदौर्बल्यम् त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ २।३
अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ २।११
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः[1]॥ २।१६
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्ध्यस्व भारत॥ २।१८
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना[2]॥ २।२८
धर्म्योद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।२।३१ उत्तरार्द्ध
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ २।३७
योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गम् त्यक्त्वा धनञ्जय
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वम् योग उच्यते[3]॥ २।४८
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।२।५३ उत्तरार्द्ध
प्रजहाति यदा कामान् सर्व्वान् पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ २।५५
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ २।५६
विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः
रसवर्जम् रसोऽप्यस्य परम् दृष्ट्वा निवर्त्तते॥ २।५८
या निशा सर्व्वभूतानाम् तस्याम् जागर्त्ति संयमी
यस्याम् जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः २।६९
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः
परस्परम् भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ३।११
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व्वकिल्बिषैः
भुञ्जते ते त्वघम् पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ ३।१३
श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्
स्वधर्म्मे निधनम् श्रेयः परधर्म्मो भयावहः॥ ३।३५
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन
तान्यहम् वेद सर्व्वाणि न त्वम् वेत्थ परन्तप॥ ४।५
यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्[4]॥ ४।७
जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवम् यो वेत्ति तत्त्वतः
त्यक्त्वा देहम् पुनर्ज्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ४।९
न माम् कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा। ४।१४ पूर्वार्द्ध

---

* यह प्रति सर्वप्राचीन और असली मालूम होता है। प्रत्येक श्लोक अपनेके पूर्व तथा अपर श्लोकके साथ विचित्र सामञ्जस्यको लिये हुए सहेतुक सम्बन्धित है। 'ज्ञ' का 'ज्ञ' और 'क्ष' का 'क्ष' रूप (जो वस्तुतः शुद्ध और अधिकतर स्पष्ट है) अपनी प्राचीनताको लिये हुए इसी प्रतिमें देखनेको मिला॥ ह० सीताराम

(१) इस श्लोकसे पहले और 'अशोच्या०'···से आगे 'बालि'की प्रतिमें 'देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारम् यौवनम् जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति' (गी० २।१३) ऐसा श्लोक अधिक है।

(२) यह श्लोक तो 'बालि'की प्रतिमें नहीं है, २।१८ से आगेका श्लोक इस भाँति है:—

य एनम् वेत्ति हन्तारम् यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायम् हन्ति न हन्यते॥ २।१९

(३) यह श्लोक 'बालि'की प्रतिमें नहीं है।

(४) इस श्लोकसे आगे 'बालि'की प्रतिमें 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां' (गीता ४-८) ऐसा पाठ अधिक है।

कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः।
विज्ञानी परमम् सैव[1] च युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥४।१८
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥४।२२
द्रव्ययज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथापरे
स्वाध्यायज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ ४।२८
सर्व्वम् कर्म्माखिलम् पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। ४।३३ उत्तरार्द्ध
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥ ४।३४ पूर्वार्द्ध

अर्जुन उवाच

यच्छ्रेय एतयोरेकम् तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्[2] ५।१ उत्तरार्द्ध

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्म्म योगश्च निःश्रेयस्करावुभौ
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥ ५।२
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति। ५।६ उत्तरार्द्ध
सर्व्वभूतात्मभूतात्मा कुर्व्वन्नपि न लिप्यते। ५।७ ,,
उद्धरेदात्मनात्मानम् नात्मानमवसादयेत्
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६।५
योगी युञ्जीत सततमात्मानम् रहसि स्थितः
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥६।१०
समम् कायशिरोग्रीवम् धारयन्नचलम् स्थिरः
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रम् स्वम् दिशश्चानवलोकयन् ॥ ६।१३
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ६।१९ पूर्वार्द्ध
आत्मौपम्येन सर्व्वत्र समम् पश्यति योऽर्जुन
सुखम् वा यदि वा दुःखम् स योगी परमो मतः ६।३२
यो माम् पश्यति सर्व्वत्र सर्व्वम् च मयि पश्यति
तस्याहम् न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६।३०
भूमिरापोऽनलो वायुः खम् मनो बुद्धिरेव च
अहंकार इतीयम् मेऽपराम्[3] प्रकृतिरष्टधा ॥७।४
जीवभूताम् पराम् विद्धि[4] ययेदम् धार्य्यते जगत्। ७।५ उत्तरार्द्ध
अहम् कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। ७।६

मत्तः परतरम् नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
सूत्रे मणिगणा इव ··· ··· ··· (१) ॥ ७।७
प्रणवः सर्व्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषम् नृषु (२)। ७।८ उत्तरार्द्ध
जीवनम् सर्व्वभूतेषु प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः (३) ७।९ ,,
बीजम् माम् सर्व्वभूतानाम् विद्धि पार्थ सनातनम्(४)७।१० पूर्वार्द्ध
चतुर्विधा भजन्ते माम् जनाः सुकृतिनोऽर्जुन
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ ७।१६
उदाराः सर्व्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मम प्रियः(५)। ७।१८ पूर्वार्द्ध
वासुदेवः सर्व्वम् ॥ ७।१९ तृतीयचरण
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मम् कर्म्मचाखिलम् ॥ ७।२९
अक्षरम् ब्रह्म परमम् स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः (६) ॥८।३
द्वाविमौ पुरुषौ लोके।
क्षरः सर्व्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते (७)। १५।१६
अक्षरादपि चोत्तमः(?) अतीतोऽहम् प्रथितः पुरुषोत्तमः(८)१५।१८ उत्तरार्द्ध

---

१ प्रचलित ७०० श्लोकीय गीताके अनुसार 'बालि'की प्रतिमें तृतीय चरण 'स बुद्धिमान्मनुष्येषु' इस प्रकार है।

(२) यह अर्द्ध श्लोक 'बालि'की प्रतिमें नहीं है।

(३) प्रचलित ७०० श्लोकीय तथा 'बालि'की प्रतिमें 'मेऽपराम्' के स्थानमें 'मे भिन्ना' पाठ है। 'मेऽपराम्' ही विषयके अनुरूप सुन्दर और अधिक स्पष्ट है।

४ प्रचलित ७०० श्लोकीय प्रतिमें 'पराम् विद्धि'की जगह 'महाबाहो' ही पाठ है जो सर्वथा अस्पष्ट प्रतीत होता है। तथा 'बालि' की प्रतिमें 'जीवभूतां०' यह सारा पद ही नहीं है।

(१) प्रचलित प्रतिमें 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' पाठ है।

(२) इस श्लोकके पहले 'बालि'की प्रतिमें 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः' (गीता ७।८) पाठ अधिक है।

(३) इस श्लोकके पहले 'बालि' की प्रतिमें 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ (७।९) पाठ अधिक है। तथा प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'के स्थानमें 'तपश्चास्मि तपस्विषु' पाठ है।

(४) यह श्लोक 'बालि'की प्रतिमें नहीं है। तथा इसमें आगेका पाठ 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्। बलं बलवतां चाहम्॥' अधिक है।

(५) यह श्लोक 'बालि' की प्रतिमें नहीं है तथा प्रचलित प्रतियोंमें 'मम प्रियः'के स्थानमें 'मे मतम्' पाठ है।

(६) यह पूरा श्लोक भी बालिकी प्रतिमें नहीं है।

(७) यह श्लोक 'बालिकी' प्रतिमें नहीं है। परन्तु प्रचलित प्रतियोंमें भी 'द्वाविमौ०'से आगे दूसरा चरण इस प्रकार है— 'क्षरश्चाक्षर एव च।' (८) ऐसा पाठ भी 'बालि'की प्रतिमें नहीं है, और प्रचलित प्रतियोंमें पूरा श्लोक इस प्रकारसे है:- यस्मात्क्षर-मतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (१५।१८) ये दोनों श्लोक प्रचलित प्रतियोंमें यद्यपि हैं कहीं जाकर १५ वें अध्यायमें, परन्तु यहां प्रस्तुत प्रतिमें भगवान्के सर्वकाल-स्मरणके उपलक्ष्यमें 'अक्षर-ब्रह्म' (८।३) में भी पर उससे अतीत पुरुषोत्तम भगवान्की विराटता कैसी स्पष्टता के साथ आठवें ही अध्यायके विषयमें शृंखलित है? ॥

सर्व्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् (१) ॥ ८।१२
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्
यः प्रयाति स मद्भावम् याति नास्त्यत्र संशयः (२) ८।५
तस्मात् सर्व्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ८।७ पूर्वार्द्ध
इदम् तु ते गुह्यतमम् प्रवक्ष्याम्यनसूयवे
ज्ञानम् विज्ञानसहितम् यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ ९।१
अहम् क्रतुरहम् यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहम् हुतम् ॥ ९।१६
वेद्यम् पवित्रमोङ्कार ऋक् साम् यजुरेव च। ९।१७ उत्तरार्द्ध
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९।२७
स्फुरणानामहम् ब्रह्मा३ स्थावराणाम् हिमालयः।१०।२५ चौथा चरण
झषाणाम् मकरश्चास्मि १०।३१ तृतीय चरण
अश्वत्थः सर्व्ववृक्षाणाम्। १०।२६
अक्षराणाम् अकारोऽस्मि १०।३३ प्रथम चरण
वैनतेयश्च पक्षिणाम्। १०।३० चौथा चरण
मृगाणाम् मृगेन्द्रोऽहम् १०।३० तृतीय चरण
वानराणाम् च मारुति ४।
नराणाम् नराधिपमस्मि ५
आदित्या नामहम् विष्णु।१०।२१ प्रथम चरण
पितृणामर्यमा चास्मि १०।२९ तृतीय चरण
गन्धर्व्वाणाम् चित्ररथः। १०।२६ तृतीय चरण
शंकरः सर्व्वरुद्राणाम्६ १०।२३ प्रथम चरण
भूतानामस्मि चेतना। १०।२२ चौथा चरण
प्रह्लादः सर्व्वदैत्यानाम् (७ १०।३ प्रथम चरण

(१) 'बालि'का प्रतिमें प्रथम 'अन्तकाले' पाठ है। (२) इसके आगेका पाठ 'बालि' की प्रतिमें इस प्रकार है:-'मय्यर्पित मनो··· संशयम्' (८।७ उत्तरार्द्ध)। और इससे आगे फिर (८।१२) 'सर्व-द्वाराणि० इ०' पाठ है। जैसा कि प्रचलित प्रतियोंमें है॥

३ 'स्फुरणाम्०' ऐसा पाठ न तो प्रचलित प्रतियोंमें है और न 'बालि'की प्रतिमें ही।

४ 'वानरानाम्०' यह पाठ भी ,, ,, ,, ,, ,,।

५ 'प्रचलित' तथा 'बालि' की प्रतिमें 'नराणां च नरा-धिपम्' पाठ है।

६ 'बालि'की प्रतिमें इस प्रकारका कोई पद नहीं है, हां प्रचलित प्रतियोंमें इसके स्थानमें 'शंकरश्चास्मि रुद्राणाम्' पाठ है।

(७) बालिकी प्रतिमें भी ऐसा ही पाठ है। परन्तु प्रचलित प्रतियोंमें 'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्' ऐसा पाठ है।

रामः शस्त्रभृताम्वर।१०।३१ दूसरा चरण
वृष्णीनाम् वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानामहमर्जुन (१)१०।३७ पूर्वार्द्ध
नान्तोऽस्मि मम दिव्यानाम् विभूतीनाम् परन्तप (२)।१०।४०,,

अर्जुन उवाच

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम् पुरुषोत्तम। (३) ११।३ उत्तरार्द्ध

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णकृतीनि च॥ ११।५
न तु माम् शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा
दिव्यम् ददामि ते चक्षुः ··· (४) ११।८

अर्जुन उवाच

यथा नदीनाम् बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥११।२८
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥११।२९
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो ११।३१ प्रथमचरण

श्रीभगवानुवाच

लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। ११।३२ दूसरा चरण

अर्जुन उवाच

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः ११।३९ तृतीय चरण
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते॥ ११।४० प्रथम चरण

(१) 'बालि'की तथा 'प्रचलित' प्रतियोंमें 'पाण्डवानां धनंजय' ऐसा पाठान्तर है।

(२) गी० ९।२७के आगेसे 'बालि' की प्रतिका विभूति-वर्णन प्रस्तुत प्रतिसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण इस भांति है:—

'ज्योतिषामहमंशुमान्। नक्षत्राणामहं शशी॥
रुद्राणाम् शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
मेरुः शिखरिणामहम्॥

महर्षीणाम् भृगुरहं। अश्वत्थ सर्ववृक्षाणाम् देवर्षीणां च नारदः। सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ उच्चैःश्रवसमश्वानां॥ ऐरावतं गजेन्द्राणाम्॥ नराणाम् च नराधिपम्॥ आयुधानामहं वज्रं। सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ वरुणोयादसामहम्। यमः संयमतामहम्॥ प्रह्लादः सर्वदैत्यानाम्॥ मृगाणाम् च मृगेन्द्रोऽहम् वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ रामः शस्त्रभृतामहम्। अक्षराणामकारोस्मि॥ मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः। मुनीनाप्यहम् व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ओषधीनाम्॥'

(३) अर्जुनका यह वाक्य 'बालि'की प्रतिमें नहीं है।

(४) 'चक्षु'से आगेका चतुर्थ चरण 'प्रचलित' प्रतियोंकी भांति 'बालि'की प्रतिमें भी—'पश्य मे योगमैश्वरम्' है।

श्रीभगवानुवाच

नाहम् वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया
शक्य एवंविधो द्रष्टुम् दृष्टवानसि माम् यथा ॥ ११।५३
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्व्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवः ॥ ११।५५
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः (१) ॥ १३।२२
यथा सर्व्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशम् नोपलिप्यते
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ १३।३२
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नम् लोकमिमम् रविः
क्षेत्रम् क्षेत्री तथा कृत्स्नम् प्रकाशयति भारत ॥ १३।३३
सत्वम् सुखे सञ्जयति रजः कर्म्मणि भारत
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ १४।९
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १४।१८
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ १४।२४
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः
सर्व्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ १४।२५
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन (२) २।४५
माम् च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १४।२६
सर्व्वधर्मान्परित्यज्य मामेकम् शरणं व्रज
अहम् त्वाम् सर्व्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८।६६

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनम् तव (३) ॥ १८।७३

इति

(नोट। ता० २५ जुलाई १९१६के 'पाटलिपुत्र'में भी प्रकाशित एक 'बालि'की प्रतिमें भी यह प्रति कई अङ्गोंमें सर्वथा भिन्न है। हस्ताक्षर सीताराम गुप्त

(१) यह पूरा श्लोक 'बालि'की प्रतिमें नहीं है।

(२) गी० २।४५ का उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण श्लोकार्द्ध 'बालि'की प्रतिमें नहीं है।

(३) वह पूरा श्लोक, जो 'समाप्ति'के लिये अत्यन्त सुसंगत और स्पष्टभाव-पूर्ण है, 'बालि'की प्रतिमें नहीं है। बस, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य०'''ही उस प्रतिका अंतिम श्लोक है॥

ईश्वराज्ञा तथा ईश्वरार्पण बुद्धि

(लेखक—पं० श्रीशिवनारायणजी शास्त्री)
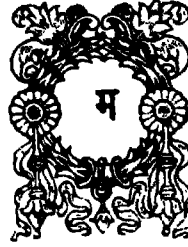
मनुष्यको चाहिये कि वह अपना कर्म परमेश्वरको अर्पण करते हुए करे। पर जो परमेश्वरके आज्ञानुसार अपना कर्तव्य करेगा, वही फलेच्छारहित कर्तव्य कर सकेगा। यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि यदि कर्तव्यके फलकी ओर दृष्टि न रक्खी जाय, तो मनुष्य निरुत्साही हो जायगा। पर वही कर्तव्य जब मनुष्य इस भावनासे करेगा कि मैं ईश्वरकी आज्ञासे करता हूं और उसीको अर्पण करता हूं तो उसका उत्साह और धैर्य नहीं घटेगा। भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे कौन्तेय! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो होम हवन करता है, जो दान करता है और जो तप करता है वह सब मुझे अर्पण किया कर। भागवतके इस श्लोकमें भी इसी अर्थका वर्णन है—

'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥'

'काया, वाचा, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या आत्माकी वृत्तिसे अथवा स्वभावके अनुसार जो कुछ हम किया करते हैं वह सब परात्पर नारायणको समर्पण कर दिया जाय।' भगवान् श्रीकृष्णका सिद्धान्त है कि—'[illegible] मत्परः' की रीतिसे ही मनुष्य अपना कर्तव्य-कर्म करे।

सारांश यह कि 'कर्मकी सिद्धि हो या न हो, इस विचारसे मनको चञ्चल न होने देकर अपना कर्तव्य-कर्म इस भावनासे करना चाहिये कि मैं परमेश्वरपर भरोसा रखकर परमेश्वरकी इच्छासे करता हूं और उसे परमेश्वरको ही अर्पण करता हूं।' बस, इस बुद्धिसे कर्म करनेसे ही मनुष्य सच्चे पदको पाता है। भगवान्ने ही स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥'

'जो सदा मेरे आश्रय हुआ सब कर्मोंको करता रहता है, वह मेरे प्रसादसे शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता

योगेश्वर श्रीकृष्ण ।

भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया । उभयोराविशद्गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥

भागवत १०।८६।२६

है ।' निष्कामभावसे ईश्वरार्पणपूर्वक कर्म करनेवाला मनुष्य कभी पापोंसे लिपायमान नहीं होता, भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।

जो मनुष्य कर्म-फलकी आसक्ति (अथवा कर्तृत्वभावके सङ्ग) को त्यागकर सब कर्म ब्रह्मार्पण भावसे करता है, वह (कर्मके) पाप (दोष) से ऐसे लिपायमान नहीं होता जैसे कमलका पत्ता पानीसे । कहांतक कहा जाय, जो मनुष्य ईश्वरार्पण-बुद्धिपूर्वक निष्काम भावसे कर्म करता है, भगवान् इसके ऋणी हो जाते हैं और उसे मुक्ति देकर ऋणसे छुटकारा पाते हैं जैसा कि पुराणोंमें कहा है—

तोयं वा पत्रं वा यद्वा किञ्चित् समर्पितं भक्त्या ।
तदृणं मत्वा देवो निश्श्रेयसमेव निष्क्रियम्मनुते ।।

गीताके अध्याय और श्लोक

(लेखक—एक गीताप्रेमी)

शांकर भाष्यसे आरम्भकर अबतक श्रीमद्भगवद्गीतापर जितनी टीकाएं उपलब्ध होती हैं, प्रायः उन सभीमें १८ अध्याय और ७०० श्लोकोंका उल्लेख है, किसी किसीमें त्रयोदश अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नके रूपमें एक श्लोक अधिक मिलता है, जिससे किसीने तो श्लोक-संख्या ७०१ की है और किसी किसीने प्रथमाध्यायके तीन श्लोकोंके तीन तीन अर्द्धोंको एक एक श्लोकमें परिणतकर दो श्लोक बना लिये हैं, इस हिसाबसे पहले अध्यायमें ४७ की जगह ४६ श्लोक मानकर ७०० की संख्या पूरी कर दी गयी है । श्रीमद् शंकराचार्यजीने तो गीता-भाष्यके आरम्भमें यह स्पष्ट रीतिसे कह दिया है कि गीतामें सातसौ श्लोक हैं; परन्तु महाभारतकी कुछ मुद्रित प्रतियोंमें भीष्म-पर्वके ४३ वें अध्यायके आरम्भमें ऐसा लिखा मिलता है—

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु सञ्जयः ।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ।।

अर्थात् 'गीतामें केशवके ६२०, अर्जुनके ५७, सञ्जयके ६७, और धृतराष्ट्रका १ इस प्रकार कुल मिलाकर ७४५ श्लोक हैं ।' महाभारतकी कई प्रतियोंमें यह श्लोक नहीं मिलते । महाभारतके प्रसिद्ध टीकाकार नीलकंठने भी इन श्लोकोंको प्रक्षिप्त बतलाया है । महाभारत सदृश महान् ग्रन्थमें कुछ श्लोकोंका किसी कारणवश जोड़ दिया जाना कोई बड़ी बात नहीं है । लोकमान्य तिलक महाराजने भी बड़ी गवेषणाके बाद सात सौ श्लोकोंकी गीताको ही प्रामाणिक माना है ।

सम्प्रति मद्रासके शुद्ध-धर्म-मण्डलसे एक गीता प्रकाशित हुई है, जिसमें २६ अध्याय और ७४५ श्लोक हैं, उनका कथन है कि यही गीता शुद्ध और प्रामाणिक है । परन्तु अबतकके विद्वान् टीकाकारोंके मतानुसार यह बात ठीक नहीं मालूम होती । दूसरे, पुराणोंमें भी गीताके १८ अध्यायोंका ही प्रमाण मिलता है । पद्मपुराणमें, जो बहुत प्राचीन माना जाता है,-तो गीताके १८ अध्यायोंके माहात्म्यपर स्वतन्त्र १८ अध्याय हैं । प्राचीनकालसे प्रचलित गीता-ध्यानमें भी 'अष्टादशाध्यायिनी' कहकर अठारह अध्याय ही बतलाये हैं ।

एक बात और है, कुछ दिनों पूर्व बाली द्वीपमें गीताकी एक प्रति मिली थी, जिसमें ७० या ७२ श्लोक थे । भारतमें भी एक दो जगह ७०, ७२ श्लोकोंकी प्रतियां हैं । इससे कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मूलगीता ७० । ७२ श्लोकोंकी थी, पीछेसे व्यासजीने उसका विस्तार कर दिया, परन्तु यह बात किसी तरह भी ठीक नहीं जान पड़ती । जैसे सत्तरश्लोकी गीतामें भिन्न भिन्न सात श्लोक चुन लिये गये हैं, इसी प्रकार सत्तरश्लोकी गीताओंमें भी अपनी इच्छानुसार चुने हुए श्लोकोंका संग्रह है । हालमें मेरे एक प्रेमी मित्रने करीब दो सौ श्लोक ऐसे चुने थे, जिनमें उनकी सम्मतिके अनुसार प्रत्येक श्लोक भगवत्-प्राप्ति करानेके उपदेशसे भरा हुआ है । उन श्लोकोंको कई लोगोंने अपने अपने पास अलग लिख भी रक्खा है । आगे चलकर कभी यह कहा जा सकता है कि गीता दो सौ श्लोकोंकी थी । यह सच है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें समय समयपर

परिवर्तन परिवर्द्धन अवश्य हुआ है, परन्तु गीताके विषयमें ऐसी बात नहीं कही जा सकती। गीता सब लोगोंके लिये सदैव पठनीय ग्रन्थ होनेके कारण बहुत पहलेसे ही लोग इसे सम्पूर्ण कण्ठस्थ रखते थे। अब भी बड़े बूढ़ोंमें मैंने कई लोगोंसे गीता कण्ठस्थ सुनी है। गीतामें इसीलिये विशेष पाठान्तर नहीं है। सभी टीकाकार प्रायः मामूली पाठान्तरोंको जानते हैं।

इससे यही सिद्ध होता है कि गीताके वर्त्तमान प्रचलित १८ अध्याय और ७०० श्लोक ही प्रामाणिक और प्राचीन हैं। इसमें किसीको शंका नहीं करनी चाहिये।

गीताप्रचारिणी संस्थाएँ

श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य असीम है। सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दरकी वाणीका महत्त्व कौन बतला सकता है। उस लीलामयकी दिव्य इच्छासे जगत्में सब कुछ होता है। जगत्के लोगोंको तो उस दयामयकी केवल शरण ग्रहण करनेभरका ही पुरुषार्थ करना चाहिये। जिसने अपना जीवन उसकी इच्छानुसार उसीकी वाणीके अनुसार लगा दिया, वही पुरुष जगत्में धन्य है, उसीका जन्म-जीवन सार्थक है। श्रीभगवद्गीता उस परमात्माकी वाणी है, महान् आदरकी वस्तु है। जिन महात्माओंने इसका महत्त्व समझा, उन्होंने तो आदर और विश्वासपूर्वक अनन्यभावसे इसकी शरण लेकर अपने जीवनको इसीके सांचेमें ढाल दिया, यही गीताका सच्चा और वास्तविक प्रचार है। गीताका प्रचार वास्तवमें उसके सच्चे भक्तोंमें ही होना चाहिये, तभी उसका प्रकृत महत्त्व समझा जा सकता है। भगवान्ने गीताके अन्तमें कहा भी है कि—

> इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
> न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

'जो मेरे (भगवान्के) लिये तपस्या नहीं करता, जो मेरी (भगवान्की) भक्ति नहीं करता, जो सुननेकी इच्छा नहीं रखता और जो मेरी (भगवान्की) निन्दा करता है, उससे गीता नहीं कहनी चाहिये।' परन्तु साथ ही यह भी कहा है कि—

> य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
> भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

'जो यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको समझावेगा, वह मेरी पराभक्ति करनेवाला होकर निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।' इसीलिये महात्मागण गुरुपरम्परासे श्रद्धा सत्कारपूर्वक गीता-ज्ञानका अध्ययन-अध्यापन किया करते थे और तदनुसार ही अपना जीवन बनाते थे। उस समय यद्यपि आजकी भांति घर घरमें गीताकी पुस्तक नहीं थी और न उसका इतना प्रचार ही था परन्तु जो कुछ था, सो विलक्षण था, सच्चा था, हृदयकी बात थी। उस समय गीताकी पुस्तक और गीताके ज्ञानका यथार्थ आदर था। लोग भगवान्की वाणीको भगवत्स्वरूप समझकर ही उसकी उपासना करते और अन्तकालमें तनिकसा स्मरण होनेपर भी श्रेष्ठ गति पानेका विश्वास रखते थे, जो वास्तवमें सर्वथा सत्य तत्त्व है।

प्रेस होनेपर गीताका प्रचार विशेष बढ़ा, और वह बढ़ते बढ़ते इस समय इस रूपमें आ गया है कि जगत्की पुस्तकोंमें गीताका प्रचार महत्त्वकी दृष्टिसे सबसे अधिक माना जाने लगा है। ईसाइयोंकी बाइबलका प्रचार बहुत अधिक है, दुनियांकी करीब सातसौ बोलियोंमें उसका भाषान्तर, रूपान्तर या सार छपा है, उसको देखते गीताका प्रचार अभी कुछ भी नहीं है, क्योंकि गीताकी अब तक केवल ३४१३९ भाषाओंकी प्रतियां ही मिली हैं, इतना होनेपर भी गीताके प्रचारका महत्त्व अधिक है। कारण, बाइबलके अनुवाद और उसका प्रचार शासनके और रुपयेके बलपर हो रहा है। उसके अनुवाद प्रायः ईसाइयों द्वारा ही हुए हैं, या रुपये देकर भिन्न भिन्न बोलियोंमें दूसरोंसे करवाये गये हैं। परन्तु गीताके लिये ऐसी बात नहीं है। गीतापर जो कुछ लिखा गया है सो भक्ति और श्रद्धासे लिखा गया है। गीतापर केवल हिन्दुओंने ही नहीं, जगत्की भिन्न भिन्न जातियोंके बड़े बड़े विद्वानोंने लिखा है। धनके लोभसे नहीं, पर उसके महत्त्वसे कायल होकर। तथापि गीताप्रेमियोंको गीताके विशेष प्रचारार्थ अभी बहुत प्रयत्न करनेकी गुंजाइश है। गीताका साधन करनेवालोंको छोड़कर सामुदायिक रूपसे इस समय गीताका प्रचार तीन प्रकारसे हो रहा है। प्रवचनोंद्वारा, प्रकाशनद्वारा और शिक्षालयोंमें। तीनों ही प्रकारका प्रचार दिनों दिन बढ़ रहा है। प्रवचन और प्रकाशनद्वारा प्रचार करनेवाली कुछ संस्थाओंके नाम पते हमें प्राप्त हुए हैं जो

हमारी समझसे देश-विदेशके भिन्न भिन्न भागोंमें महान् प्रचार करनेवाली संस्थाओंमें से बहुत थोड़ी सी संस्थाओंके नाम हैं, दूसरे शब्दोंमें एक छोटा सा अंश समझिये, पाठकोंकी जानकारीके लिये उनका कुछ परिचय हम यहां देना चाहते हैं।

(१) गीतापाठशाला-महाजनवाडी, पिकेटरोड बम्बई। यह संस्था बहुत वर्षोंसे काम कर रही है। पण्डितवर श्री-नरहरिजी शास्त्री गोंडसे, उनके सुपुत्र और उनके भानजे पण्डित श्रीवैद्यनाथजी शास्त्री महोदय उपदेशक हैं, इसमें प्रतिदिन गीता, उपनिषद् और योगदर्शनकी नियमित शिक्षा दी जाती है। गीतासम्बन्धी ट्रैक्ट निकाले जाते हैं। प्रत्येक एकादशीको श्रीनरहरिजीका रातके समय गीतापर प्रवचन होता है, जिससे हजारों सम्भ्रान्त स्त्री-पुरुष लाभ उठाते हैं। इसकी एक शाखा माधवबाग बम्बईमें है और दूसरी मांडवी (बम्बई) में है।

(२) श्रीरामकृष्ण मिशन कलकत्ता भारतके कलकत्ता, बम्बई आदि नगरों और अमेरिकाके कई स्थानों-में इस मिशनद्वारा गीतापर बराबर प्रवचन होते हैं। इसके स्वामी शारदानन्दजी, स्वामी स्वरूपानन्दजी आदि विद्वान् संन्यासियोंने गीतापर टीकाएं भी लिखी हैं। अमेरिकामें इस मिशनके संन्यासियोंने स्वामी विवेकानन्दजी-से लेकर अब तक गीताका बड़ा प्रचार किया है।

(३) थियोसोफिकल सोसायटी अडियार, मद्रास श्रीमती ऐनी बेसेंटद्वारा सञ्चालित इस संस्थाने गीता-प्रचारमें बड़ी सहायता पहुंचायी है। विदेशोंमें इसकी प्रायः ४० शाखाएँ हैं, जहां प्रायः नियमितरूपसे गीता-साहित्यके प्रचार और प्रवचनका प्रबन्ध है। श्रीमती बेसेन्ट, बाबू भगवानदासजी, श्री टी० सुब्बाराव, श्रीजिनराजदास, श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त आदि थियोसोफिस्ट विद्वानोंने गीतापर महत्वकी टीकाएं लिखी हैं।

(४)-गीता-धर्म-मण्डल पूना—इस संस्थाके द्वारा गीताका बहुत प्रचार हो रहा है, इसके संस्थापकोंमेंसे वे० शा० सं० प० सदाशिव शास्त्री भिड़ेजीने तो अपना सारा जीवन ही गीताप्रचार-कार्यमें लगा रक्खा है। महाराष्ट्रके भिन्न भिन्न स्थानोंमें घूम घूमकर आप गीता-प्रवचन करते हैं। संस्थापकोंमेंसे दूसरे श्रीयुत गजानन विश्वनाथ केतकर बी० ए०, एल एल० बी०, सहकारी सम्पादक 'केसरी' इस संस्थाके प्रधान मन्त्री हैं। दोनों सज्जन समय समयपर लेखादि द्वारा भी गीताके भावोंका प्रचार करते हैं। इस संस्थाके उद्योगसे देशमें गीता-जयन्ती मनायी जाने लगी है। इसके सभापति प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर महोदय हैं। यह संस्था लोकमान्य तिलक महाराजके मतका अनुसरण करनेवाली है। इस संस्थाकी महाराष्ट्रमें अनेक शाखाएं हैं।

(५) गीताभवन कुरुक्षेत्र। इस भवनका सुन्दर मकान है। इसमें गीता-ग्रन्थोंका संग्रह हो रहा है, कुरुक्षेत्र रेस्टोरेशन सोसाइटी, पटियालाके उद्योगसे यह सब काम हो रहे हैं, उक्त संस्थाके वर्त्तमान मन्त्री लाला दयालीरामजी साहेब हैं। गीता-भवनका चित्र नीचे प्रकाशित है।

गीता-भवन कुरुक्षेत्र

(६) गीताप्रेस, गोरखपुर—यह प्रेस आरम्भमें गीताप्रकाशनार्थ ही खोला गया था। इस प्रेसके द्वारा सस्ते मूल्य-पर बहुत शुद्ध छपे हुए गीताके कई संस्करण निकले हैं। अबतक सब मिलाकर प्रायः ४ लाख प्रतियां इससे प्रकाशित हो चुकी हैं। 'कल्याण' भी इसी प्रेससे निकलता है। इसके भवनके दो चित्र इसके साथ दिये जाते हैं।

गीताप्रेस (बायां भाग)

(७) सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद—इसके संस्थापक और सञ्चालक कर्मशील संन्यासी भिक्षु अखण्डानन्दजी हैं, वे अपनेको 'खराब भिक्षु' अखण्डानन्द लिखते हैं। देशमें यदि इन जैसे खराब भिक्षु हो जायं तो सत् साहित्यका उद्धार और प्रचार बहुत ही अधिक मात्रामें हो सकता है। इस संस्थाने पूर्ण महाभारत, पूर्ण रामायण आदिके अतिरिक्त अनेक उपयोगी ग्रन्थ गुजराती भाषामें प्रकाशित किये हैं। गीताका तो इसके द्वारा बड़ा प्रचार हुआ है, लगभग २॥ लाख प्रतियां भिन्न भिन्न संस्करणोंमें इस संस्थासे प्रकाशित हो चुकी हैं।

गीताप्रेस (सामनेका भाग)

(८) आचार्य-कुल पूना—इस संस्था-के संस्थापक और सञ्चालक विद्वद्वर पं० श्रीविष्णु शास्त्रीजी बापट हैं। आप गीता और वेदान्तके बड़े भारी विद्वान् हैं। दसों उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीताके शांकर भाष्यका अनुवाद किया है तथा उनपर टीकाएं लिखी हैं। आपके आचार्य-कुलमें नियमित रूपसे गीताकी पढ़ाई होती है और परीक्षा ली जाती है। आप इस संस्थाकी ओरसे घूम घूमकर भी प्रवचन करते हैं। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके आप कट्टर अनुयायी और भक्त हैं।

(९) गीता-पाठशाला-माधवबाग, श्रीलक्ष्मीनारायण-जी मन्दिर बम्बई।

(१०) गीता-पाठशाला—शान्ताकुञ्ज बम्बई।

(११) गीता-पाठशाला-सञ्चालक पं० मूलशंकर कचरा भाई, अंकलेश्वर (काठियावाड़)

(१२) गीता-पाठशाला—मु० महुवा भावनगर स्टेट

(१३) गीता-पाठशाला-सञ्चालक पं० माधवजी शर्मा, सम्पादक 'कृष्ण' २० हुजरा स्ट्रीट, कलकत्ता

(१४) गीता पाठशाला, कराँची

(१५) सद्गविचारक मण्डली-सरस्वती बाग, अन्धेरी बम्बई।

(१६) हिन्दूसमाज—राजमहेन्द्री।

परमहंस आश्रम बरहज

(१७) गीता-परीक्षा समिति-बरहज गोरखपुर। यह समिति गीता-प्रेसकी ओरसे सञ्चालित होती है, इसके प्रधान सञ्चालक और संयोजक बाबा राघवदासजी हैं, परमहंस आश्रम बरहजमें इसका कार्यालय है। आश्रमका चित्र दिया जाता है। इस संस्थाकी ओरसे बड़ा उत्साह फैला है। गत दो वर्षोंमें इसने बहुत उन्नति की है। पहली साल परीक्षामें कुल लगभग २०० परीक्षार्थी बैठे थे, दूसरी साल गतवर्ष लगभग ८०० बैठे थे। देशके भिन्न भिन्न भागोंके विद्वानोंने प्रश्नपत्र बनाये थे। इस साल जो परीक्षा होगी, उसके लिये स्थान स्थानमें केन्द्र खुलवानेका प्रयत्न होना चाहिये। नियमावली—'गीता—परीक्षा—समिति' बरहज (गोरखपुर) से मंगवा सकते हैं।

(१८) गीता-गायन-प्रचारक समाज, मथुरा।

(१९) गीता-सोसाइटी—पता बाबू नारायणदासजी बाजोरिया बी० ए० ११७ हरीसनरोड कलकत्ता। इस सोसायटीकी ओरसे सस्ते दामोंमें भिन्न भिन्न भाषाओंमें गीता निकाली जा रही है।

(२०) गीताश्रम—मु० गजपाली बीजापुर

(२१) गीता-भवन—धुलिया खानदेश

(२२) भारत कविमण्डल—कोल्हापुर

(२३) भगवद्गीता-पाठशाला इन्दौर

(२४) गीताप्रचारिणी सभा-लखनऊ

(२५) गोविन्दभवन, ३० बाँसतल्ला गली कलकत्ता। इसके संस्थापक प्रसिद्ध गीताव्याख्याता श्रीजयदयालजी गोयन्दका हैं। इस संस्थाके द्वारा गीता-प्रचारका बड़ा भारी कार्य हो रहा है। वर्षोंसे कलकत्तेमें प्रवचनका प्रबन्ध है। बड़ी धूमधामसे गीताजयन्ती मनायी जाती है, गीतापर पुरस्कार दिये जाते हैं। गीताकी शिक्षा दी जाती है। गीता-प्रेस इसी ट्रस्टके अधीन है। इसमें एक गीता-पुस्तकालय भी है।

(२६) सिरकार मेमोरियल गीता कमेटियान, आगरा

(२७) भगवद्गीता-सभा इमली महादेवका मन्दिर, मिरजापुर

(२८) श्रीकृष्णभक्ति सत्संग—कसूर पञ्जाब।
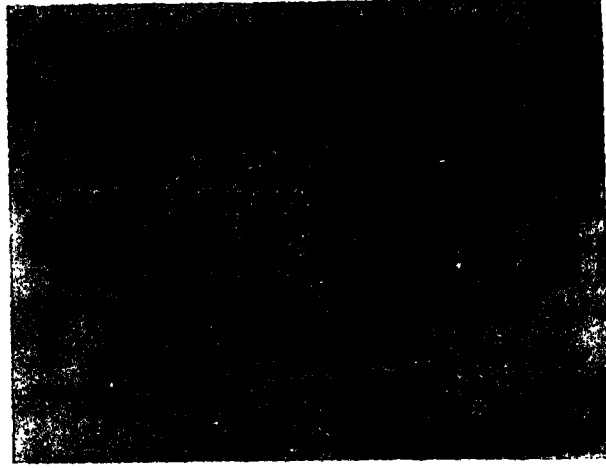
(२९) भगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी। इस आश्रमकी ओरसे गीताके कई संस्करण निकले हैं। भक्ति नामक एक मासिकपत्र निकलता है। गीता प्रचारमें इससे बहुत काम हो रहा है।

(३०) सत्संगभवन,—सेठ शिवनारायणजी नेमाणीकी वाड़ी' ठाकुरद्वार रोड बम्बई।

(३१) सत्संगभवन दिल्ली।

(३२) सत्संगभवन चूरू।

(३३) युनिवरसल भगवद्गीता सोसायटी, ७८ बेलसाइज पार्क लन्दन। इसके संस्थापक भाई रामेश्वरलालजी बजाज हैं। जो विलायतमें गीता-प्रचारका उद्योग कर रहे हैं।

(३४) विरूला आश्रम। पो० विरूला (राजकोट) इसके संस्थापक गुजरातके प्रसिद्ध पं० नत्थूरामजी महाराज हैं, आपने गीता और वेदान्त अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

(३५) बंगवासी कालेज, गीताप्रचार विभाग, कलकत्ता

(३६) विद्यासागर कालेज " कलकत्ता

(३७) उत्सव कार्यालय बागबाजार कलकत्ता। इसके सम्पादक पं० श्रीरामदयालजी मजूमदार हैं, आप गीताके भारी विद्वान् हैं। आपने बंगलामें गीतापर बृहत् टीका लिखी है।

(३८) गुरुदास इन्स्टिट्यूट, नारकुल डांगा कलकत्ता

(३९) विवेकानन्द सोसायटी-कलकत्ता।

(४०) गीता पाठशाला—चौकराजीका मन्दिर, मु० जलदीरवाल (काठियावाड़)

(४१) गीता-प्रचार-कार्यालय नं १०८।४ मनोहर पुकुर कालीघाट कलकत्ता

(४२) वणिक् प्रेस—कलकत्ता। इसके सत्वाधिकारी श्रीयुत बाबू बैजनाथजी केडिया हैं, इस प्रेससे करीब दो लाखसे ऊपर गीताकी प्रतियां प्रकाशित हो चुकी हैं, जो सस्ते दामोंमें बेची जाती हैं।

(४३) गीता वाचन प्रसारक मण्डल ठाकुरद्वार, बम्बई

(४४) गीता धर्ममण्डल, हरीपुर

गीता और रामचरितमानस

श्रीमद्भगवद्गीता और गोस्वामी तुलसीदासजी कृत श्रीरामचरितमानसमें भावोंमें तो बहुत जगह समानता है, परन्तु कई स्थलोंमें तो गीताका सर्वथा अनुवाद है, पाठकोंके लाभार्थ ऐसे कुछ स्थल दिखलाये जाते हैं:—

श्लोक	अध्याय और श्लोकांक	दोहे और चौपाइयां	नाम काण्ड
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय ... नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ...	२।२२	जिमि नूतन पट पहिरिकै, नर परिहरै पुरान	उत्तर
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ...	२।३४	संभावित कहँ अपयस लाहू। ... मरण कोटि सम दारुण दाहू॥ ...	अयोध्या
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।	२।६९	यहि जग यामिनि जागहि योगी। ... परमारथ प्रपंच वियोगी॥ ...	,,
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥	४।६	ज्ञान-गिरा-गोतीत अज, माया गुण गोपार। सोइ सच्चिदानन्दघन, करत चरित्र अपार॥	उत्तर
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥	४।७।८	जब जब होहि धर्मकी हानी, ... बाढ़हि असुर अधम अभिमानी। ... तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा, ... हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा। ... असुर मारि सुर थापहिं, राखहिं निज श्रुति सेतु। जग विस्तारहिं विशद यश, राम जन्म कर हेतु॥	बाल
यदृच्छालाभसंतुष्टो	४।२२	यथालाभ सन्तोष सदाई। ...	उत्तर
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ...	५।१५	गहहि न पाप पुण्य गुन दोषू। ...	अयोध्या
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। ...	७।३	नर सहस्रमहँ सुनहु पुरारी ...	,,
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ...	७।१३	को जग जस जेहि व्यापि न माया ...	,,
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। ...	७।१४	हरिमाया अतिदुस्तर, तरि न जाइ विहँगेश।	,,
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ...	७।१५	जो पै दुष्ट हृदय सो होई। ... मोरे सन्मुख आव कि सोई॥ ...	सुन्दर

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । ...	७ । १६	राम भक्त जग चारि प्रकारा ...	बाल
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । ...	७ । १७	ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा । ...	,,
उदाराः सर्व एवैते	७ । १८	सुकृती चारिउ अनघ उदारा । ...	,,
वासुदेवः सर्वमिति	७ । १९	सीयराममय सब जग जानी ...	,,
भजते मामनन्यभाक्	९ । ३०	भजहिं मोहिं तजि सकल भरोसा । ...	आरण्य
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ... ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्	९ । २९	समदरसी मोहिं कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥	,,
येऽपि स्युः पापयोनयः	९।३२	भक्तिवन्त अति नीचौ प्रानी ...	उत्तर
बोधयन्तः परस्परम् । ... ... कथयन्तश्च मां नित्यं	१० । ९	रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं । सन्तत सुनिय राम गुन ग्रामहिं ॥	,,
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । ...	११ । ५३	उमा योग जप दान तप, नाना व्रत मख नेम ।	,,
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।	११ । ५४	राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निष्केवल प्रेम ॥	
तुल्यनिन्दास्तुतिः	१२ । १९	निन्दा अस्तुति उभय सम ...	,,
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ...	१२ । १५	समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हर्ष सोक भय नहिं मन मांही ॥	सुन्दर
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ...	१५ । ७	ईश्वर अंश जीव अविनाशी ...	उत्तर
त्रिविधं नरकस्येदं ··· कामः क्रोधस्तथा लोभः	१६ । २१	तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ	आरण्य
ईश्वरः सर्वभूतानां ... ... भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ...	१८ । ६१	उमा दारु योषितकी नाईं । सबहि नचावत राम गुसाईं ॥	किष्किन्धा
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव	१८ । ७३	नाथ सुने भ्रम गत सन्देहा । भयउ ज्ञान उपजेउ नव नेहा ॥	आरण्य

गीता

१-गीताके उपदेष्टा—श्रीकृष्ण भगवान् हैं ।

२-इस उपदेशको प्रतिभाशाली काव्यका रूप देनेवाले महर्षि व्यास हैं ।

३-महर्षि व्यासोक्त गीता-काव्य गुरु-शिष्य-परम्परासे शुद्ध स्वरूपमें अब तक चला आया है ।

४-इसमें अनृत, व्याघात पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

५-किसी प्रकारकी मिलावट नहीं है ।

६-महाभारतमें 'गीताभाग' सबसे उत्तम है ।

७-इसमें सब वेदशास्त्रोंका सार आ गया है ।

८-गीताके कारण भारतवर्षका गौरव अमर हो गया है ।

९-गीताका उपदेश न होता तो शायद अर्जुन युद्धमें प्रवृत्त न होता ।

१०-अर्जुनके सदृश विषाद (उदासी) उत्पन्न होनेपर 'गीता' ही उस विषादको दूर कर सकती है । इस दृष्टिसे गीता वर्तमान समय तथा भविष्यमें भी संसारको मार्ग दिखलाती रहेगी ।

—नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

गीताका सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

गीताका अनुशीलन करनेवाले प्रायः सभी लोग यह जानते हैं कि न तो गीताका सांख्ययोग महर्षि कपिलप्रणीत सांख्य-शास्त्र है और न गीताका निष्काम कर्म-योग महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगदर्शन ही है। अवश्य ही इन दोनों ही शास्त्रोंसे मिलते जुलते सिद्धान्तोंका गीतामें कई जगह वर्णन किया गया है, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि गीताके सांख्ययोग और कर्मयोगसे उपर्युक्त सांख्य और योगदर्शनोंका कोई खास सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध मान लेनेपर गीताके वास्तविक सिद्धान्तको समझनेमें बड़ी ही कठिनता हो जायगी।

गीताके मूल श्लोकोंका सरलार्थ देखनेसे यही प्रतीत होता है कि गीतामें मोक्षके लिये दो स्वतन्त्र साधन बतलाये गये हैं, जिनके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है (यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते गी० ५।५)। जिस प्रकार सांख्य यानी ज्ञानयोगके साधकको साधन करते करते परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका अपरोक्ष ज्ञान होकर मुक्ति मिल जाती है, इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक भी भगवत्कृपासे परब्रह्म परमात्माका तत्त्वज्ञान लाभ कर परमपद-को प्राप्त हो जाता है (गीता अ० १० ।१०-११)। अन्तर इतना ही है कि सांख्ययोगके साथ तो विवेक-विचार और शम-दमादि साधनोंका विशेष सम्बन्ध है और निष्काम कर्मयोगके साथ भगवद्भक्ति तथा शरणागतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीलिये दोनों साधनोंके अधिकारी भिन्न भिन्न हुआ करते हैं और साधनकालमें दोनोंकी भावना भी भिन्न भिन्न हुआ करती है। दोनोंका समुच्चय नहीं हो सकता। गीतामें सांख्ययोगका वर्णन निम्नलिखित श्लोकोंमें ज्ञाननिष्ठाके नामसे आया है:—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

(गी० १८।४९ से ५५)

'हे अर्जुन! सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा भी परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् क्रियारहित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है। हे कुन्तीपुत्र! अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जैसे सांख्ययोगके द्वारा सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-को प्राप्त होता है तथा जो तत्त्वज्ञानकी परानिष्ठा है, उसको भी तू मुझसे संक्षेपसे जान। विशुद्ध बुद्धिसे युक्त एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, मिताहारी, जीते हुए मन, वाणी, शरीरवाला और दृढ़ वैराग्यको भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष निरन्तर ध्यानयोगके परायण हुआ सात्त्विक धारणासे अन्तःकरणको वशमें करके, शब्दादि विषयोंको त्यागकर और रागद्वेषको नष्ट करके, अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रहको त्यागकर ममतारहित एवं शान्त अन्तःकरण हुआ सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये योग्य होता है। फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुआ प्रसन्नचित्तवाला पुरुष न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है। वह सब भूतोंमें समभाव हुआ (तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठारूप) मेरी पराभक्तिको प्राप्त होता है। और उस पराभक्तिद्वारा मुझको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाव-वाला हूँ तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश हो जाता है अर्थात् अनन्यभावसे मुझको प्राप्त हो जाता है फिर उसकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता।'

इस ज्ञाननिष्ठाका साधक ही सांख्ययोगी कहलाता

है। वह समझता है कि सारा खेल प्रकृतिका है। इन्द्रियां अपने अपने विषयोंमें वर्त रही हैं, आत्मा शुद्ध चेतन निर्लेप है, वह न कर्ता है, न भोक्ता है (गीता अ० ३।२८; ५।८-९; १३।२९; १४।१९)

वह आत्माको परब्रह्म परमात्मासे भिन्न नहीं समझता, उसकी दृष्टिमें सब कुछ एक परब्रह्म परमात्माके ही स्वरूपका विस्तार है। साधनकालमें वह प्रकृति और उसके विस्तारको आत्मासे भिन्न, अनित्य और क्षणिक समझता है और अपनेको अकर्ता, अभोक्ता और परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न समझता हुआ एक परमात्म-सत्ताको ही सर्वत्र व्यापक समझकर साधनमें रत रहता है, फिर उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं, अन्तमें वह अनिर्वचनीय परम पदको प्राप्त हो जाता है।

निष्काम कर्मयोगका वर्णन गीता अध्याय २ श्लोक ३९ से आरम्भ होता है, इस मार्गसे चलनेवालोंके लिये भगवान्‌की प्रधान आज्ञा यह है कि 'तुम्हारा कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें नहीं। अतः तुम कर्मफलकी इच्छा करनेवाले मत बनो, और कर्मोंको छोड़ देनेका भी विचार मत करो।' (गीता २।४७-४८) फल और आसक्तिको छोड़कर सिद्धि-असिद्धिको समान समझकर निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए (गी० ८।७) मेरे लिये सब कर्म करते रहो। (गीता १२।१०)

उपर्युक्त भगवदाज्ञानुसार साधन करनेवाले निष्काम कर्मयोगीका भाव सकामी मनुष्योंसे अत्यन्त विलक्षण होता है। वह जो कुछ कर्म करता है, उसके फलकी इच्छा नहीं करता और उस कर्ममें आसक्त भी नहीं होता। कर्म करते करते बीचमें कोई विघ्न आ जाता है तो उससे वह विचलित नहीं होता। कर्म पूरा न होनेसे या उसका परिणाम विपरीत होनेसे उसको दुःख नहीं होता। किया हुआ कर्म सांगोपांग सफल होनेसे या उसका परिणाम अनुकूल होनेसे वह हर्षित नहीं होता। संसारमें जो कर्म स्वर्गादि महान् फल देनेवाले बतलाये गये हैं, उनमें वह आसक्त नहीं होता और छोटेसे छोटे (मेहतर तकके) कामसे भी वह द्वेष नहीं करता। वह समझता है कि अपने अपने स्थानपर अधिकारानुसार सभी कर्म बड़े हैं। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये भावकी आवश्यकता है, न कि छोटे बड़े कर्मकी। निष्काम कर्मयोगका साधक कभी पापकर्म नहीं कर सकता, क्योंकि पापकर्म प्रायः लोभ और आसक्तिसे बनते हैं, जिनका त्याग इस मार्गमें चलनेवालेको पहले ही कर देना पड़ता है वह संसारके चराचर सम्पूर्ण जीवोंको भगवान्‌की मूर्ति समझता है, अतः किसी भी प्राणीके प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकता। वह प्रत्येक कार्य भगवान्‌की आज्ञानुसार और भगवान्‌के ही लिये करता है, किसी भी कार्यमें उसका निजका स्वार्थ नहीं रहता। उसका जीवन भगवदर्पण हो जाता है, अतएव स्त्री, पुत्र, धन, घर और अपने शरीरमें या संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी ममता नहीं रहती। वह समझता है कि यह सब कुछ प्रभुकी मायाका विस्तार है, भगवान्‌का लीला-क्षेत्र है, वास्तवमें क्षणिक और अनित्य है, अतः वह उन सबसे अपने प्रेमको हटाकर केवल भगवान्‌में ही प्रेमको एकत्रित कर देता है। काम करते हुए उसके अन्तःकरणमें हर समय भगवान्‌की स्मृति बनी रहती है. कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छा न रहनेके कारण एवं सब कर्म भगवान्‌के ही लिये किये जानेके कारण वे कर्म उसके लिये भगवान्‌की स्मृतिमें सहायक होते हैं, बाधक नहीं होते। वह निरन्तर भगवान्‌के प्रेममें मग्न रहता है। उसको भगवान् पर पूरा भरोसा और विश्वास रहता है। अतः बड़ेसे बड़ा सांसारिक दुःख उसको उस स्थितिसे चलायमान नहीं कर सकता। वह जो कुछ करता है उसमें अपना सामर्थ्य कुछ भी नहीं समझता। वह समझता है कि मैं केवल भगवान्‌का यन्त्र हूँ, वे जो कुछ करवाते हैं वही करता हूँ, (गीता १८।६१) मैं स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता; अतः बड़ेसे बड़ा कार्य उसके द्वारा सहजमें हो जानेपर भी उसके मनमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं होता। इस भगवदाश्रयरूप कर्मयोगनिष्ठाका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

> सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
> मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
> चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
> बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
> मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८।५६ से ५८ का पूर्वार्ध)

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है। अतएव हे अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो। इस प्रकार निरन्तर मुझमें मनवाला हुआ तू मेरी

कृपासे जन्म-मृत्यु आदि सब संकटोंसे अनायास ही तर जायगा।'

ऐसे ही साधकके लिये भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि,

> ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
> अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥
> तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
> भवामि नचिरात् पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

'हे अर्जुन! जो साधक मेरे परायण होकर समस्त कर्मोंको मेरे समर्पण करके अनन्य योगसे निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमीभक्तोंका इस मृत्युरूप संसार समुद्रसे मैं शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ।'

यही सांख्य और निष्काम कर्मयोगका भेद है।

गीताके भिन्न भिन्न टीकाकारोंने सांख्य और निष्काम कर्मयोगपर अपने अपने मतके अनुसार भिन्न भिन्न मत प्रदर्शित किये हैं, उदाहरणार्थ कुछ प्रधान प्रधान मत यहां व्यक्त किये जाते हैं—

श्रीमच्छङ्कराचार्यजीका मत

पूज्यपाद स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीके मतानुसार, सब कर्मोंको छोड़कर परमहंस संन्यासी हो जाने और आत्म-अनात्मविषयक विवेकपूर्वक, निरन्तर आत्म-स्वरूप-चिन्तनमें लगे रहकर परब्रह्म परमात्मामें स्थित हो जानेका नाम सांख्ययोग है।' क्योंकि जहां जहां सांख्ययोगका विषय आया है, आपने उसकी व्याख्या प्रायः इसी प्रकार की है (गीता शांकर भाष्य अ०२ श्लो० ११ से ३०; अ० ३ श्लो० ३; अ०१३ श्लो० २४; अ० ५ श्लोक ४-५ दे०)। आपके मतानुसार गीतामें ज्ञानयोग, ज्ञाननिष्ठा और संन्यास आदि नाम भी सांख्ययोगके ही हैं, आप ज्ञानकर्मका समुच्चय नहीं मानते, प्रत्युत प्रबल युक्तियोंद्वारा समुच्चयवादका खण्डन करते हैं (गीता शांकरभाष्यका उपोद्घात, और तीसरे अध्यायकी अवतरणिका देखिये,) आप निष्काम कर्मयोगको मोक्षका स्वतन्त्र साधन नहीं मानते पर ज्ञानयोगका साधन मानते हैं, (गीता शांकरभाष्य अ० ५ श्लोक ५ और ६) आपका कथन है कि जबतक मनुष्यको ज्ञानयोगका अधिकार प्राप्त न हो, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञाननिष्ठा-की योग्यता प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगका साधन करना चाहिये, उसके बाद कर्मयोगकी आवश्यकता नहीं, । क्योंकि आपके मतानुसार सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे मुक्ति नहीं हो सकती। यद्यपि इस कथनके साथ गीताकी एकवाक्यता करनेमें बहुत जगह कठिनता पड़ती है दे० गीता शांकरभाष्य अ० ३ श्लोक २०; अ० ४ श्लोक १९।२०) परन्तु वैसी जगह आप ज्ञानीके कर्मोंको कर्म ही नहीं मानते; इससे आपका आशय बड़ा गम्भीर हो जाता है। साधारण बुद्धिसे हरेक मनुष्य आपका आन्तरिक भाव ग्रहण नहीं कर सकता।

स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजीका मत

पूज्यवर स्वामी श्रीरामानुजाचार्यके मतानुसार इन्द्रियजय-पूर्वक शमदमादि साधनों सहित सर्व कर्मोंसे निवृत्त होकर आत्मस्वरूपानुसन्धानका नाम सांख्ययोग है। आपका कथन है कि संख्या नाम बुद्धिका है, उससे जो युक्त है अर्थात् केवल एक आत्माको विषय करनेवाली बुद्धिसे जो युक्त हैं वे सांख्य (सांख्ययोगी) हैं, ऐसे स्थिरबुद्धि पुरुष उपर्युक्त ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जिनकी बुद्धि विषयों-से व्याकुल है, जिनको ज्ञानयोगका अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है वे कर्मयोगके अधिकारी हैं (देखिये रामा० ३।३) आत्मज्ञानपूर्वक निष्काम भावसे कर्मोंका आचरण करना आपके मतानुसार कर्मयोग है। (गी० रामा० भा० २।३९) सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही भक्तियोगके अंगभूत हैं, सांख्ययोगके साधनमें इन्द्रियोंको जय करना आदि अनेक कठिनाइयां हैं और कर्मयोग सुगम है, अतः उसकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ बतलाया गया है, आपके मतानुसार ध्यानयोग निष्काम कर्मयोगका फल है और अ० १८ श्लोक ४९ से ५५ तकका जो वर्णन है, वह ध्यानयोगका ही वर्णन है, ज्ञानयोगका नहीं। वहां जो ५० वें श्लोकमें 'ज्ञानस्य परा निष्ठा' शब्द आया है, उसको आप ब्रह्मका विशेषण मानते हैं।

स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने जिस प्रकार ज्ञानयोगको प्रधानता दी है, उसको उस रूपमें आप स्वीकार नहीं करते, आपके मतसे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करानेवाले अवश्य हैं, परन्तु परमात्माका साक्षात्कार भक्तिके बिना नहीं हो सकता। आत्मस्वरूपका ज्ञान भक्तियोग-का अंगभूत है, अतएव वह मोक्षका स्वतन्त्र साधन नहीं है। इस वर्णनसे यह समझ लेना स्वाभाविक ही है कि स्वामी श्रीरामानुजाचार्य और श्रीशंकराचार्यका इस विषयमें बड़ा मतभेद है, इसके अतिरिक्त एक प्रधान मतभेद यह है कि स्वामी रामानुजाचार्य तो जीव और ईश्वरका भेद मानते हैं और स्वामी शंकराचार्य भेद नहीं मानते। मुख्य

मुख्य सिद्धान्तोंमें भेद होनेके कारण ही अपने अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये अन्यान्य विषयोंमें भी मतभेद होता गया है।

लोकमान्यका मत

लोकमान्य तिलक महोदय सांख्ययोगकी व्याख्या तो प्रायः स्वामी श्रीशंकराचार्यके अनुरूप ही करते हैं, परन्तु अ० २ श्लो० ३०से आगे जिन श्लोकोंको स्वामी शंकराचार्य ज्ञानयोगका प्रतिपादक मानते हैं, लोकमान्य उन्हीं श्लोकों-द्वारा निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हैं। आपके मतानुसार ज्ञान और कर्मका समुच्चय ही निष्काम कर्मयोग है। समुच्चयवादका आप बड़ी युक्तियोंके साथ समर्थन करते हैं और स्वामी शंकराचार्यजीकी युक्तियोंका उत्तर भी उसी ढंगका देते हैं। आप गीताको केवल निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादक शास्त्र मानते हैं। अध्याय २ श्लोक ११ से ३० तकका जो वर्णन है,वह आपके मतानुसार संन्यासमार्गवालों-के तत्त्वज्ञानका वर्णन है जोकि केवल आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करनेके लिये गीतामें लिया गया है। आपका कथन है कि सांख्यमतानुसार कभी न कभी कर्मोंका त्याग करना ही पड़ता है, अतः इस मतके तत्त्वज्ञानसे अर्जुनकी इस शंकाका पूरा समाधान नहीं हो सकता कि 'युद्ध क्यों करें?' ऐसा समझकर भगवान्ने अ० २ श्लो० ३१ से लेकर गीताकी अन्तिम अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त अनेक शंकाओंका निराकरण करते हुए निष्काम कर्मयोगका ही वर्णन और पुष्टि-करण किया है। (देखिये गीतारहस्य अ० २ श्लो० ३१ पर टिप्पणी)। अध्याय १४ श्लोक २१ से २५ तक जो गुणातीत पुरुषविषयक वर्णन है उसको भी आप कर्मयोगी-का ही वर्णन मानते हैं। अध्याय १८ श्लोक ४९ से ५५ तकका जो वर्णन है, वह भी आपके मतानुसार कर्मयोग-का ही वर्णन है, क्योंकि आपके मतानुसार सांख्ययोगी संन्यासी ही हो सकता है, गृहस्थ नहीं हो सकता और गीताका उपदेश अर्जुनको निमित्त बनाकर दिया गया है जोकि आजीवन गृहस्थ रहकर कर्म करता रहा है। कर्मोंको छोड़कर संन्यासी होना तो वह स्वयं चाहता ही था। फिर यदि वैसी ही अनुमति भगवान्की किसी अंशमें मिल जाती तो वह कर्म करता ही क्यों?' इस दृष्टिसे आपके मतानुसार गीतामें सांख्य-मार्गका वर्णन नहीं है। परन्तु मेरी समझसे सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग दोनों ही साधन प्रत्येक अधिकारी मनुष्य कर सकता है, इसमें आश्रमका या स्वरूपसे कर्मोंके त्यागका कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल भावका और साधनकी विधिका ही अन्तर है, अतएव जिन जिन स्थलोंमें भगवान्ने स्पष्ट ही ज्ञानयोगका वर्णन किया है उनको कर्म-योग बतलाना एक क्लिष्ट कल्पना ही जान पड़ती है। (देखिये गीता अ० ५।८-९ और १३; अ० १४।२१ से २५; अ० १८ श्लो० ४९ से ५५,)

श्रीमधुसूदनजी, नीलकण्ठजी और शंकरानन्दजी आदि टीकाकारोंने भी इस विषयमें प्रायः स्वामी श्रीशंकराचार्यजीका ही पक्ष लिया है, यद्यपि उन सबकी युक्तियोंमें और लेखन-शैलीमें बहुत कुछ भेद है। उसका विस्तृत वर्णन विस्तार-भयसे यहां नहीं किया जा सका। प्रधानतः सिद्धान्तमें विशेष मतभेद नहीं है।

सांख्य और निष्काम कर्मपर गीता-प्रेससे प्रकाशित गीता साधारण भाषाटीकाका जो कुछ आशय है वह 'कल्याण' में प्रकारान्तरसे बहुत बार आ चुका है। इस लेखमें आरम्भका विवेचन उसीसे मिलता हुआ है। इससे उसके साथ अन्य टीकाओंका क्या मतभेद है सो पाठक सहजहीमें समझते हैं। *

इस छोटेसे लेखमें मैंने जो कुछ लिखा है, वही ठीक है, ऐसा माननेके लिये मैं किसी भी सज्जनसे आग्रह नहीं करता। गीताके सिद्धान्तोंका बड़ा गूढ़ आशय है, जहां बड़े बड़े विद्वानोंका ही परस्पर मतभेद है, वहां मुझ सदृश अल्पज्ञ व्यक्तिकी तो बात ही कौनसी है?

* इस विषयमें विस्तृत विवेचन देखना हो तो कल्याणके प्रथम वर्षकी १०।११ वीं संख्यामें प्रकाशित शीर्षक लेख पढ़ने चाहिये। इन लेखोंकी 'सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग' नामक अलग पुस्तक भी छप गयी है। ≈) पैसेमें गीताप्रेससे मिल सकती है।—लेखक

गीता और योगदर्शन

(लेखक--श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

षड्दर्शनमें योगदर्शन एक बड़े ही महत्वका शास्त्र है। इसके प्रणेता महर्षि श्रीपतञ्जलि महाराज हैं। योगदर्शनके सूत्रोंका भाव बहुत ही गम्भीर, उपादेय, सरस और लाभकारी है। कल्याण कामियोंको-योगदर्शनका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। पता नहीं, योगदर्शनकी रचना श्रीमद्भगवद्गीताके बाद हुई है या पहले हुई है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनोंके कई स्थलोंमें विलक्षण समानता है। कहीं शब्दोंमें समानता है तो कहीं भाव या अर्थोंका सादृश्य है। उदाहरणार्थ यहां कुछ दिखलाये जाते हैं।

पातञ्जल योगदर्शन

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (१।१२)

(२) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः (१।१४)

(३) तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१।२७-२८)

(४) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (२।१५)

श्रीमद्भगवद्गीता

(१) अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (६।३५)

(२) अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः (८।१४)

(३) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् (८।१३)

(४) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (५।२२)

इनके अतिरिक्त भावार्थमें सदृशतावाले स्थल भी हैं, जैसे योगदर्शनके (पा० २।१९) का सूत्र है 'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि' अर्थात् पांच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और एक मन इन सोलह विकारोंका समुदायरूप विशेष; अहंकार और पञ्च तन्मात्रा इन छःका समुदायरूप अविशेष; समष्टि बुद्धिरूपी लिङ्ग और अव्याकृत प्रकृतिरूप अलिङ्ग ये चौबीस तत्त्व प्रकृतिकी अवस्थाविशेष हैं। इसी बातको बतलानेवाला गीताका तेरहवें अध्यायका ५ वां श्लोक है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दश इन्द्रियां, मन, और पंचतन्मात्रा।,

उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार दोनोंके कई स्थल मिलते जुलते होनेके कारण कुछ लोगोंका मत है कि श्रीमद्भगवद्गीता पातञ्जल योगदर्शनके बाद बनी है, और इसमें यह सब भाव उसीसे लिये गये हैं। कुछ लोग तो गीताको योगदर्शनका रूपान्तर या उसीका प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। मेरी समझसे यह मत ठीक नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना योगदर्शनके बाद हुई हो या पहले, इस विषयमें तो मैं कुछ भी नहीं कह सकता। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भगवद्गीताका सिद्धान्त योगदर्शनकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और सर्वदेशीय है।

योगदर्शनका योग केवल एक ही अर्थमें प्रयुक्त है, परन्तु गीताका योग शब्द अनन्त समुद्रकी भांति विशाल है, उसमें सबका समावेश है। परमात्माकी प्राप्ति तकको गीतामें योग कहा गया है। इसके सिवा निष्काम कर्म, भक्ति, ध्यान, ज्ञान आदिको भी योगके नामसे कहा गया है। योग शब्द किस किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यह इसी अंकमें अन्यत्र दिखाया गया है। योगदर्शनमें ईश्वरका स्वरूप है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥ १।२४॥
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ १।२५॥
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ १।२६॥

जो अविद्या, अहन्ता, राग, द्वेष भय, शुभाशुभ कर्म, कर्मोंके फलरूप सुखदुःख और वासनासे सर्वथा रहित है, पुरुषोंमें उत्तम है, जिसकी सर्वज्ञता निरतिशय है। एवं जो कालकी अवधिसे रहित होनेके कारण पूर्वमें होनेवाले समस्त सृष्टिरचयिता ब्रह्मा आदिका स्वामी है, वह ईश्वर है।

अब गीताके ईश्वरका निरूपण संक्षेपसे कुछ श्लोकोंमें पढ़कर दोनोंकी तुलना कीजिये।—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् (८।९)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ (१३।१४)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (१४।२७)
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (१५।१८)

इन श्लोकोंके अनुसार जो सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबका धारण पोषण करनेवाला अचिन्त्य स्वरूप, नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप, अविद्यासे अति परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयों-को जाननेवाला होनेपर भी सब इन्द्रियोंसे रहित, आसक्ति-हीन, गुणातीत होनेपर भी सबका धारण पोषण करनेवाला और गुणोंका भोक्ता, अविनाशी परब्रह्म, अमृत, नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय, नाशवान् जड़वर्ग क्षरसे सर्वथा अतीत और मायास्थित अविनाशी जीवात्मा-से भी उत्तम पुरुषोत्तम है वह ईश्वर है ।*

पातञ्जल योगदर्शनके अनुसार ईश्वर त्रिगुणोंके विकार-से रहित है, परन्तु गीताके अनुसार वह गुणोंसे अतीत ही है । योगदर्शनका ईश्वर शुभाशुभ कर्म, सुखदुःख और वासनारहित होनेसे ही पुरुषोत्तम है, पर गीताका ईश्वर जड़ जगत्से सर्वथा अतीत और मायास्थित जीवसे भी उत्तम होनेके कारण पुरुषोत्तम है । योगदर्शनका ईश्वर कालके अवच्छेदसे रहित होनेके कारण पूर्व पूर्व सर्गमें होनेवाले सृष्टिरचयिताओंका गुरु है; परन्तु गीताका ईश्वर अव्यय परब्रह्म, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक आनन्द-का भी परम आश्रय है । गुणातीत होकर भी अपनी अचिन्त्य शक्तिसे गुणोंका भोक्ता और सबका भरण-पोषण करनेवाला है ।

इसी प्रकार 'ईश्वर-शरणागति' के सिद्धान्तमें भी गीताका अभिप्राय बहुत उच्च है । योगदर्शनका 'ईश्वर-प्रणिधान' चित्तवृत्ति-निरोधके लिये किये जानेवाले अभ्यास और वैराग्य आदि मुख्य साधनोंकी अपेक्षा एक गौण साधन है, इसीसे 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्रमें 'वा' लगाया गया है । परन्तु गीतामें ईश्वर-शरणागतिका साधन समस्त साधनोंका सम्राट् है । (गीता अ० ९।३२; १८।६२; १८।६६ देखना चाहिए)

गीताका ध्यानयोग भी योगदर्शनसे महत्त्वका है । योगदर्शन कहता है-

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।

अर्थात् ध्यानसे क्लेशोंकी वृत्तियोंका नाश होता है । परन्तु गीता कहती है—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।'

'कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखते हैं ।' वहाँ केवल क्लेशों-की वृत्तियोंका ही नाश है, पर यहाँ ध्यानसे परमात्म-साक्षात्कार तक होनेकी बात है ।

इसी तरहसे अन्य कई स्थल हैं । इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माके श्रीमुखकी दिव्य वाणी है और योगदर्शन एक ज्ञानी महात्मा महर्षिके विचार हैं । भगवान्‌के साथ ज्ञानीकी अभिन्नता रहनेपर भी भगवान् भगवान् ही हैं ।

इस विवेचनसे यह प्रतीत होता है कि गीताका महत्त्व सभी तरह ऊंचा है तथा गीता के प्रतिपाद्य विषय भी विशेष महत्त्वपूर्ण, भावमय, सर्वदेशीय, सुगम और परम आदर्श हैं ।

इससे कोई यह न समझे कि मैं योगदर्शनको किसी तरहसे भी मामूली वस्तु समझता हूँ या उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि मानता हूँ । योगदर्शन परम उपादेय और आदरणीय शास्त्र है । केवल गीताके साथ तारतम्यताकी दृष्टिसे ऐसा लिखा गया है ।

गीता-जयन्ती

गत पांच वर्षोंसे श्रीमद्भगवद्गीता-जयन्तीका उत्सव भिन्न भिन्न स्थानोंमें मनाया जाता है यह बड़ाही शुभ कार्य है । गीता-जयन्ती उत्सवकी प्रेरणा करनेवालोंमें मुख्य 'गीताधर्ममण्डल' पूना है, इस संस्थाकी ओरसे बहुत प्रचार किया गया है । आनन्दका विषय है कि देशमें स्थान स्थान-पर गीता-जयन्ती उत्सव मनाये जाने लगे हैं । श्रीयुत जे० एस० करन्दीकरने बड़ी गवेषणाके बाद गीता-जयन्तीका दिन मार्गशीर्ष शु० ११ स्थिर किया था और उसीके अनुसार जयन्ती मनायी जाती है । श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य महोदयने गीता-जयन्ती मार्गशीर्ष शु० १३ माना है । सिर्फ दो दिनका मतभेद है । पर जब सारा देश मा० शु० ११ को मनाने लगा है तब उसमें परिवर्तन करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है । एकादशीसे त्रयोदशी तक मनाया जाय तो और भी अच्छी बात है । गीता-जयन्तीमें निम्नलिखित कार्य होने चाहिये ।

---

* परमात्माका स्वरूप जाननेके लिये कल्याण द्वितीय वर्षकी संख्या ६।७।८ में प्रकाशित 'भगवान् क्या है ?' लेख और पीछेसे गीता-प्रेससे प्रकाशित भगवान् क्या है नामक पुस्तिका पढ़नी चाहिये ।

(१) गीता-ग्रन्थकी पूजा।
(२) गीताके वक्ता और रचयिता भगवान् श्रीकृष्ण और व्यासदेवकी पूजा।
(३) गीताका पारायण।
(४) घर घरमें गीतार्थकी चर्चा।
(५) गीता-तत्त्वके समझने और प्रचार करनेके लिये स्थान स्थानमें सभाएं और व्याख्यान।

गत वर्ष जितने स्थानोंमें जयन्ती मनाये जानेके समाचार मिले थे उनमेंसे कुछ ये हैं—बम्बई (कई जगह), कलकत्ता, (कई जगह), कानपुर, कराची, अहमदाबाद, पूना, लाहोर, अमृतसर, अजमेर, खड्गपुर, रांची, प्रयाग, हरिद्वार, लखनऊ, काशी, कन्नौज, पटियाला, होशियारपुर, ग्वालियर भंडारा, नागपुर, हैदराबाद (दक्षिण), औरंगाबाद, नासिक, शिमोगा, बेलगांव, मजीपुर, गोरखपुर, बरहज, राजमहेन्द्री, कोचीन, मकूर, अमरावती, मथुरा, वृन्दावन, बरीसाल, चूरू, खण्मगढ़, रतनगढ़, मोकामा, रसेलपुर, पटना, मद्रास, मंगलोर, हरिपुर, मैसूर, महेन्द्रगढ़, नवलगढ़, रावलपिंडी, उज्जैन, आगरा, चन्दौसी, गाजीपुर, हनुमानगढ़, बीजापुर, बेलापुर, बड़ौदा, खामगांव, शिपोशी, नीमच, मीरज, गया, अकोला, सीतापुर, जलगांव, धुलिया, इचलकरंजी, चिरवली (गोवा), यवतमाल, गोवर्द्धन, कल्याण, सांगली, सतारा, अथणी, बडाली, करमाल, कापशी, खेड, कोरेगांव, कोल्हापुर, मालगांव, जोधपुर, जयपुर, इटावा, कोलेगल, कटो, मुरैना, दादर, यावल, पीपलनेर, हिंग्लाज, भीराड, मांगा, गुहागर, बुधगांव, विलेपार्ले, केसम देवगांव पेन, निजामपुर, पाली, शाहापुर, धारवाड़, गोकाक, बंगलोर, कोचीन, नागपट्टम्, कराड, कुरला, कपिलेश्वर, मांमखी, चांदूर, हिंगोली, ढाका, सराय आलम, रणभंवरगढ़, अकुनेरा, मोर्शी, मेरठ, वड़ओई, तरौहां (बांदा), सुरत, मांडर, लखीमपुर, बस्ती, देवास, गया, संगमनेर, बीकानेर, भागलपुर, बिदासर आदि आदि।

गीता-प्रदर्शिनी

कलकत्तेके गोविन्द-भवन-कार्यालयकी ओरसे गीता-जयन्तीके साथ साथ गीता-प्रदर्शिनीका भी अभूतपूर्व आयोजन दो सालसे किया जा रहा है। सं० १९८४ वि०में कुल ३०३ पुस्तकें या चित्र आदि आये थे परन्तु गत वर्ष सं० १९८५ वि० में कुल मिलाकर १०७९ वस्तुएं थीं। जिनमें श्रीमद्भगवद्गीता सम्बन्धी पुस्तकें ७६०, अन्य-गीताएं १३७ और चित्र आदि १८२; जिनमें संस्कृत, हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगु, मलायालम्, उर्दू, फारसी, सिन्धी, गुरुमुखी, नेपाली, मेवाड़ी, खसिया, उड़िया कनाडी, अङ्गरेजी, लेटिन, जर्मनी, डेनिश, स्वेडिश, फ्रेंच, वेनिस, हंगेरियन, रशियन, बोहेमियन, स्पेनिश आदि भाषाओंके ग्रन्थ थे।

गत वर्ष 'गीताके अन्तरंग और बहिरंग' विषय पर पुरस्कार देकर निबन्ध लिखाये गये थे। तीन पुरस्कार ५१) ४१) ३१) क्रमसे थे, जो निम्नलिखित तीन सज्जनोंको मिले। निबन्ध जाँचनेका काम वेदज्ञ पं० नरदेवजी शास्त्री, बाबा राघवदासजी और श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारने किया था।

(१) श्रीसीताराम महादेव फड़के, बी० ए०, ८४४ सदाशिव पेठ, पूना।
(२) श्रीघनश्यामचन्द्र विशारद एम०बी०, पता-शान्ति कुटीर पाठशाला मगरोरा, ग्वालियर।
(३) श्रीदामोदर मोरेश्वर भट्ट, हेडमास्टर चिन्तामन हाईस्कूल, साहपुर, बेलगांव, बंबई।

समस्त देशवासियोंसे प्रार्थना है कि गीता-जयन्ती बड़े उत्साहसे मनावें।
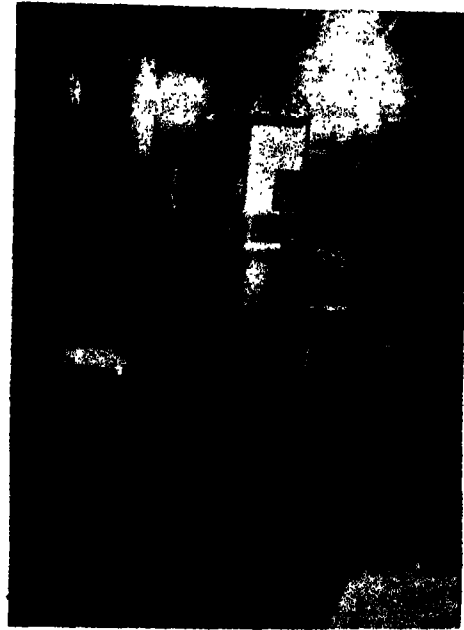
गीता प्रदर्शिनी

चित्र-परिचय

कल्याण-वृक्ष (टाइटल-पृष्ठ)

साधक और भगवान् (रंगीन) अन्तरका मुमुक्षु-साधक भगवान्‌की ओर बढ़ना चाहता है परन्तु एक ओर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि असुर और दूसरी ओर वासना, कामना, ईर्षा, माया, असूया आदि असुरबालाएं नीचेकी ओर खींच रही हैं, परन्तु साधक दृढ़निश्चयसे भगवान्‌को पुकारता है। अतएव अन्तरिक्षमें भगवान् प्रकट होकर गीताका ज्ञान और नाम-जपके लिये माला देते हुए उसे निर्भय कर रहे हैं।

मोहनाशक श्रीकृष्ण (रंगीन) पहले पृष्ठके सामने-(गीता अध्याय २ श्लोक २-३ के आधारपर) अर्जुन शस्त्र छोड़कर व्यामोहसे शोकाकुल हो रथके पिछले भागमें बैठा है, भगवान् श्रीकृष्ण पीछेकी ओर मुंह करके उसे समझा रहे हैं। प्रातःकालका समय है, सूर्यका प्रकाश हाथी रथ और घोड़ोंके विशेष विशेष भागों पर पड़ रहा है। अर्जुन और भगवान्‌की मुख-मुद्रा देखते ही बनती है।

गीतोपदेशक भगवान् (सादा) प्रथम पृष्ठ; पृथिवी-मण्डलके सब देशोंके निवासी भगवान्‌से गीताका उपदेश ग्रहण कर रहे हैं।

गीताका समत्व-दर्शन (सादा) पृष्ठ १३; (गीता अध्याय ५ श्लोक १८ के आधार पर) आत्मज्ञानी विद्वान् विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें आत्मरूपसे स्थित भगवान्‌को देख रहा है।

भगवान् श्रीकृष्ण विभूतिमें (सादा) पृष्ठ ३६; (अध्याय १० श्लोक २१-२४ के आधारपर) भगवान् शंकर बीचमें हैं। उनके दहनी ओर सेनापति स्कन्द, बाईं ओर बृहस्पति, उनके पास बैठे हुए कुबेर, पीछे अगाध समुद्र, सुमेरु पर्वत और उसपर अग्नि प्रज्वलित है। ये सभी भगवान्‌की विभूतियां हैं। यह दिखलानेके लिये सभीमें भगवान्‌की मूर्तियां दिखलायी गयी हैं।

शस्त्रागारमें अर्जुन (रंगीन) पृष्ठ ४१; विषय स्पष्ट है।

ओंकारके जपसे परम गति (सादा) पृ० ६९; (गीता अध्याय ८ श्लोक १३ के आधारपर) एक भक्त ओंकाररूप एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण और भगवान्‌का चिन्तन करता हुआ प्राण त्याग रहा है, भगवान् प्रकट होकर उसे अपने तेजमें मिला रहे हैं। भक्तकी धर्मपत्नी पास बैठी है।

धर्मराज युधिष्ठिर (रंगीन) पृ० ८७; परिचय स्पष्ट है।

भक्तोद्धारक भगवान् (सादा) पृ० ९९; (गीता अध्याय १२ श्लोक ७ के आधारपर) रुपयोंसे प्रेम करनेवाला धनकी गठरी बांधे और भोगोंमें रत विषयी स्त्री-पुरुष भवसागरमें डूब रहे हैं। भगवत्-परायण भक्तका भगवान् उद्धार कर रहे हैं।

शरणागतिसे सबका उद्धार (सादा) पृ० १००, (गीता अध्याय ९ श्लोक ३२-३३ के आधारपर) भगवान्‌का आश्रय लेनेवाले ब्राह्मण षोडशोपचारसे, क्षत्रिय तलवार या शक्तिसे, वैश्य धनसे, शूद्र और चाण्डाल प्रणाम करके एवं स्त्री दीप-दानसे भगवान्‌की पूजा कर रही है और भगवान् सबको आश्वासन दे रहे हैं।

गीता-मन्दिर (सादा) पृ० ११०; परिचय चित्रसे स्पष्ट है।

भगवान् श्रीकृष्णका पुनः ज्ञानोपदेश (रंगीन) पृ० १२१; भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको 'अनुगीता' का उपदेश कर रहे हैं।

गुरुसेवक श्रीकृष्ण(सादा) पृ० १३०; (गीता अध्याय ४ श्लोक ३४ के आधारपर) भगवान् श्रीकृष्ण और सुदामा सान्दीपन गुरुकी सेवाके लिये लकड़ी संग्रह कर रहे हैं।

परमात्मा श्रीकृष्ण (सादा) पृ० १५१; विषय स्पष्ट है।

ध्यान-योगी (सादा) पृ० १६४; (गीता अध्याय ६ श्लोक ११-१२-१३के आधारपर) परिचय स्पष्ट है।

साधुरक्षक श्रीकृष्ण (रंगीन) पृ० १८०, (गीता अध्याय ४ श्लोक ७-८ के अनुसार) कंसके अत्याचारसे पीड़ित धर्मात्मा वसुदेव और श्रीदेवकीजी कारागारमें बन्द हैं। भाद्र कृष्णा अष्टमीको आधीरातके समय भगवान् श्रीकृष्ण त्रिभुवन-मोहन चतुर्भुज-रूपमें प्रकट होते हैं, वसुदेव, देवकीकी बेड़ियां खुलकर नीचे गिर पड़ती हैं, अन्धकारमय कारागारकी कोठरी दिव्य प्रकाशसे जगमगा उठती है। वसुदेव-देवकी विनम्र-भावसे भगवान्‌की स्तुति करते हैं और भगवान् उन्हें आश्वासन दे रहे हैं।

कार्याकार्यव्यवस्थिति (सादा) पृ० १८१, (गीता अध्याय ३ श्लोक ४२ के आधारपर)

जिज्ञासु भक्त उद्धव (सादा) पृ० २०२; (गीता अध्याय ७ श्लोक १६के आधारपर) निर्जन वनके एकान्त स्थानमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त उद्धवको ज्ञान और भक्तिका उपदेश करते हैं तथा उद्धव बड़ी ही उत्सुकता, श्रद्धा, विनय और भक्तिके साथ सुन रहे हैं।

ज्ञानी भक्त शुकदेव (सादा) पृ० २०७ (गीता अध्याय ७ श्लोक १८ के अनुसार) पूर्णकाम आत्माराम शुकदेव मुनि ध्यानोन्मत्त अवस्थामें अर्द्धनिमीलित निश्चल नेत्र किये निःस्पृह होकर वनमें विचर रहे हैं।

जगत्पूज्य श्रीकृष्ण (रंगीन) पृ० २२०; पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें पितामह भीष्मके प्रस्तावसे हजारों ऋषियों और नरपतियोंके सामने पाँचों पाण्डव बड़े ही विनम्र भावसे भगवान् श्रीकृष्णकी अग्र-पूजा कर रहे हैं। धर्मराज और भीम पूजाकी सामग्री लिये खड़े हैं। अर्जुन चंवर कर रहे हैं। सहदेव भगवान्के पैर धो रहे हैं और नकुल पवित्र गङ्गाजल डाल रहे हैं। पूजामें लगे हुए अर्जुन और सहदेव भक्ति-वश होकर आँखें मूँदे हुए हैं। लीलामय भगवान् श्रीकृष्णने संकोचसे सिर नीचा कर रक्खा है। भीष्म बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। उनके पास बैठे हुए धृतराष्ट्र कुछ चिन्तितसे और ईर्षाके कारण उदाससे प्रतीत होते हैं। सामने बैठे हुए दुर्योधन मन ही मन कुढ़ रहे हैं। विषाद, दुःख और क्रोधकी छाया उनके चेहरेपर झलक रही है। उनके पास बैठे हुए कुछ लोग दुर्योधनकी इस दशाको आश्चर्यकी दृष्टिसे देख रहे हैं।

भक्त-भजन-कारी श्रीकृष्ण (सादा) पृ० २३७; (गीता अध्याय ४ श्लोक ११ के अनुसार) भगवान्ने कहा है कि 'मुझे जो जिस प्रकारसे भजता है उसे मैं उसी प्रकारसे भजता हूं।' महाभारत-युद्धमें विजय प्राप्तकर सबको दान सम्मान और सेवाद्वारा प्रसन्न करनेके पश्चात् एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके डेरे पर जाते हैं। देखते हैं कि भगवान् ध्यानमग्नसे बैठे हैं। युधिष्ठिरको बड़ा आश्चर्य होता है और वे भगवान्की स्तुति करते हैं। तब भगवान् ध्यानसे व्युत्थित होकर हंसते हुए भीष्मकी बड़ाई करते हैं और कहते हैं—'भीष्म इस समय अपनी इन्द्रियां, मन और बुद्धिको मुझमें स्थापित करके मेरा स्मरण कर रहा था इसलिये मेरा मन भी उसीके पास गया हुआ था।' इस चित्रमें दिखलाया गया है कि भगवान् ध्यानस्थ बैठे हैं, युधिष्ठिर चकित और हत-बुद्धिसे हुए पास खड़े हैं। अन्तरिक्षमें पितामह भीष्म पड़े हुए हैं।

आर्त-भक्त द्रौपदी (सादा) पृ० २४१ (गीता अध्याय ७ श्लोक १६ के अनुसार) कौरवोंकी राज-सभामें दुःशासन द्रौपदीके केश पकड़े हुए उसका चीर हरण कर रहा है। भीम क्रोधसे जल रहे हैं, पर धर्मराजके कारण कुछ बोल नहीं सकते। अपनी रक्षाका कोई उपाय न देखकर द्रौपदी भगवान्को पुकारती है और भगवान् अन्तरिक्षसे वस्त्र-दान करते हैं एवं वस्त्रोंका उस सभामें ढेर लग जाता है।

शान्ति-दूत भगवान् श्रीकृष्ण (रंगीन) पृ० २५४; ('सुहृदं सर्वभूतानां' गीता अध्याय ५ श्लोक २९ के आधारपर) पाण्डवोंकी ओरसे शान्तिका सन्देश लेकर सुलह करानेके लिये भगवान् कौरवोंकी राज-सभामें गये। सात्यकि और कृतवर्मा भगवान्के साथ थे। भगवान् अनेक प्रकारसे ज्ञानगर्भ वचन कहकर कौरवोंको समझा रहे हैं। दुर्योधन उल्टे अकड़कर भगवान्को बाँधनेके लिये षड्यन्त्र रचता है। भगवान्के समझानेका कोई असर नहीं होता। महाभारतके उद्योगपर्वमें भगवान्की यहांपर दी हुई वक्तृता पढ़ने और मनन करने योग्य है। जब विदुरजीने भगवान्से कहा कि 'नीचबुद्धि दुर्योधनको समझानेके लिये आपको नहीं आना चाहिये था।' तब भगवान् कहते हैं कि 'दुर्योधनकी नीचताको मैं जानता हूं तथापि शान्ति-स्थापनके लिये मैं निष्कपट प्रयत्न करूंगा। दोनों पक्षके लोग मेरे मित्र हैं, अतएव मैं मित्रके कर्तव्यका पालन ज़रूर करूंगा। मित्रका धर्म है कि वह अपनी शक्तिके अनुसार प्रयत्न करके किसी भी उपायसे बुरे मार्गमें जानेवाले अपने मित्रको रोके। जब ज्ञातिमें फूट होती है उस समय यदि मित्र मध्यस्थ बनकर फूटको मिटानेका प्रयत्न नहीं करता तब वह मित्र नहीं कहला सकता।' आदि।

अश्वत्थ (सादा) पृ० २४७, यह डाक्टर रेलेजीकी कल्पना है और इस विषयको वे ही अच्छी तरह समझा सकते हैं।

गीतावृक्ष (सादा) पृ० २६८, विषय चित्रसे समझा जा सकता है।

वृन्दावन-विहारी भगवान् श्रीकृष्ण (रंगीन) पृ० २६३, स्पष्ट है।

फल-पत्र-भोजी भगवान् श्रीकृष्ण (सादा) पृ०

● कार्याकार्यव्यवस्थिति, गीतामन्दिर और गीतावृक्ष ये तीनों चित्र 'गीता धर्म-मण्डल' पूनाकी कृपासे प्राप्त हुए हैं अतएव हम उसके कृतज्ञ हैं। —सम्पादक

१०० (गीता अध्याय ६ श्लोक २७ के आधारपर) कौरवोंकी राजसभामें जब केवल बाहरी शिष्टाचारके नाते दुर्योधनने भगवान्‌को भोजनके लिये निमन्त्रण दिया तब भगवान्‌ने हँसकर कहा कि 'मैं काम, क्रोध, भय, लोभ, द्वेष या बहाने आदिसे किसी प्रकार भी धर्मका त्याग नहीं कर सकता। भोजन या तो प्रेमसे होता है या विपद् पड़नेपर चाहे जहाँ करना पड़ता है। मैं देखता हूँ कि प्रेम तो आप लोगोंमें नहीं है और विपत्ति मुझपर नहीं पड़ी है इसलिये मैं आप लोगोंका अन्न कैसे ग्रहण कर सकता हूँ? आप बिना ही कारण अपने प्यारे सर्वगुणसम्पन्न भाई पाण्डवोंसे वैर रखते हैं, यह क्या उचित है? अतएव मैं अपने प्यारे विदुरके घर जाकर जो कुछ मिलेगा सो खालूंगा, यही मेरा दृढ़ निश्चय है।' इतना कहकर भगवान् विदुरके घर चले आते हैं और मित्रोंसहित वहाँ बड़े प्रेमसे भोजन करते हैं।

आदर्श ब्राह्मण मुद्गल (सादा) पृ० २०८ (गीता अध्याय १८ श्लोक ४२ के अनुसार) परिचय उसी पृष्ठमें देखिये। ब्राह्मण, उनकी पत्नी और बालक गरीबोंको अन्न बांट रहे हैं और अन्तरिक्षसे भगवान् यह सब देख देखकर प्रसन्न हो रहे हैं।

आदर्श क्षत्रिय भीष्म (सादा) पृ० २०६ (गीता अध्याय १८ श्लोक ४३ के अनुसार) परिचय उसी पृष्ठमें देखिये। भीष्म शरशय्यापर शयन कर रहे हैं, अर्जुन उनकी प्यास बुझानेको बाण मारकर पृथ्वीसे जल निकाल रहे हैं।

इन्द्रिय-विजयी अर्जुन (रंगीन) पृ० ३२१, विवरण पृ० ३२१ की कवितामें देखिये।

बन्धन-मुक्ति-कारी भगवान् श्रीकृष्ण (रंगीन) पृ० ३३७, ('परित्राणाय साधूनां' गीता अध्याय ४ श्लोक ८ के अनुसार) विशेष परिचय पृ० ३३७ की कवितामें देखिये। अर्जुन और भीष्मको साथ लिये भगवान् जेलके अन्दर दरवाजेके पास खड़े हैं। एक ओर हथकड़ी पहने राजाओंका दल खड़ा है। उनकी हथकड़ियां खोली जा रही हैं। दूसरी ओर उनमें प्रत्येकको पोशाक पहनायी जाती है। तदनन्तर प्रत्येक राजा भगवान्‌को प्रणाम करता है, भगवान् आश्वासन देते हैं और वह जेलसे बाहर निकल आता है। जेलके दरवाजेसे राजा बाहर जा रहे हैं। बाहरके मन्दिर, वृक्ष आदिका दृश्य दरवाजेसे दीख रहा है।

समदर्शी भगवान् श्रीकृष्ण (रंगीन) पृ० ३५०, ('समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' गीता अध्याय ९ श्लोक २९ के अनुसार) युद्धमें सहायता प्राप्त करनेके लिये अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही भगवान् श्रीकृष्णके पास द्वारका पहुंचते हैं। श्रीकृष्ण सो रहे थे। दुर्योधन पहले पहुंचे और अभिमानसे अच्छे आसनपर श्रीकृष्णके सिरकी ओर बैठ गये। पीछेसे अर्जुन गये और हाथ जोड़कर भगवान्‌के पैरोंके पास नम्रतासे खड़े हो गये। इतनेमें ही भगवान् श्रीकृष्णकी आंखें खुलीं और उन्होंने पहले सामने खड़े हुए अर्जुनको और पीछे सिरहानेकी ओर बैठे हुए दुर्योधनको देखा। दोनोंका सत्कार करनेके बाद भगवान्‌ने आनेका कारण पूछा, तब दुर्योधनने कहा कि 'हम लोग युद्धमें सहायता मांगने आये हैं, पहले मैं पहुंचा हूं इसलिये आप मेरी सहायता कीजिये।' श्रीकृष्ण बोले 'अवश्य ही आप पहले आये हैं, परन्तु मैंने सामने खड़े हुए अर्जुनको पहले देखा है। इसलिये मैं दोनोंकी सहायता करूंगा। एक ओर मेरी सारी नारायणी सेना होगी जिसमें एक अर्बुद वीर हैं और दूसरी ओर मैं अकेला रहूँगा और युद्धमें शस्त्र नहीं उठाऊंगा।' अर्जुनने भगवान्‌को ले लिया और दुर्योधनने भगवान्‌की सेनाको। भगवान् श्रीकृष्णके समत्वका बर्ताव यहां बड़ा ही आदर्श है। मित्रके शत्रुको शत्रु कहनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण मित्र और शत्रुके सामने समान भाव रखते हैं। दो बातें इस प्रसंगसे और सीखनेकी हैं एक तो यह कि भगवान् अपने चरणोंमें पड़े हुए विनयी पुरुषकी बात ही पहले सुनते हैं और दूसरी यह कि जो भगवान्‌के ऐश्वर्यको न चाहकर भगवान्‌को चाहते हैं, भगवान् उन्हींके जीवन-रथके सारथी बनते हैं।

आदर्श वैश्य नन्दबाबा (सादा) पृ० २६६; ('कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्' गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ के आधारपर) एक ओर खेती हो रही है, दूसरी ओर गायोंका समूह है। इधर लीलामय बालक श्रीकृष्ण बलदेवका खेलना देखकर नन्दबाबा मुग्ध हो रहे हैं।

भगवान् श्रीव्यासदेव (रंगीन) पृ० ३६९; एकान्तमें बैठे व्यासजी महाराज ग्रन्थ लिख रहे हैं।

धृतराष्ट्र और संजय (रंगीन) पृ० २७३; (गीता अध्याय १ श्लोक १ के अनुसार)

धर्म-तत्त्वज्ञ श्रीकृष्ण (सादा) पृ० ३१८; अर्जुनका प्रण था कि जो कोई मेरे गाण्डीव धनुषकी निन्दा करेगा, मैं उसे मार डालूंगा।' एकबार कर्णके युद्धसे व्याकुल होकर धर्मराज शिविरमें आ गये थे। पीछेसे अर्जुन उनका खबर लेने आया। अर्जुन कर्णको मारकर आया है ऐसा समझकर धर्मराज प्रसन्न हुए। परन्तु जब मालूम हुआ कि अर्जुन यों

ही आया है तो उत्तेजित होकर धर्मराजने अर्जुनकी और गाण्डीवकी निन्दा की। प्रतिज्ञाको याद करके धर्मराजको मारनेके लिये अर्जुनने तलवार निकाल ली। भगवान् श्रीकृष्ण साथ थे। उन्होंने बड़ी बुद्धिमानीसे धर्मका तत्त्व बतलाकर इस अप्रिय प्रसंगको टाल दिया।

अर्थार्थी भक्त ध्रुव (रंगीन) पृ० ४०७ (गीता अध्याय ७ श्लोक १६ के आधारपर) ध्रुवजीकी कथा प्रसिद्ध है। भगवान् प्रकट होकर ध्रुवके कपोलको शंखका स्पर्श करा रहे हैं, जिससे उन्हें दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

आदर्श शूद्र व्याध (सादा) पृ० ४१३; ('परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्' गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ के अनुसार) व्याध माता पिताके लिये फल फूल लाया है और उनकी सेवामें बैठा है। पूरा प्रसङ्ग महाभारतमें देखिये।

भक्त-भयहारी भगवान् श्रीकृष्ण (सादा) पृ० ४१६; बारह वर्षके वनवासके समय युधिष्ठिरको भगवान् सूर्यने एक पात्र देकर यह कह दिया था कि जबतक द्रौपदी नहीं जीमेगी तबतक इस पात्रसे चाहे जितना, चाहे जैसा सामान मिलता रहेगा। एक दिन द्रौपदीके जीम चुकनेपर दुर्योधनके भेजे हुए ऋषि दुर्वासाने हजारों शिष्यों सहित युधिष्ठिरके डेरेपर आकर भोजन मांगा। सामान कुछ था नहीं, द्रौपदी जीम चुकी थी, अतएव सब घबरा गये। 'हम लोग नहाकर आते हैं, भोजन तैयार रखना' कहकर दुर्वासा नदीपर चले गये। पीछेसे द्रौपदीने भगवान्‌को याद किया। अनन्यभावसे भजन करनेवाले भक्तोंका योग-क्षेम वहन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण तुरन्त वहां आ पहुंचे और द्रौपदीके पात्रमेंसे एक पत्ता खोजकर खा गये। विश्वात्मा भगवान्‌के तृप्त हो जानेसे सारे विश्वका पेट भर गया। दुर्वासा अपने शिष्योंसहित नदीसे ही वापस लौट गये और भक्तकी रक्षा हो गयी। चित्रमें यह दिखलाया गया है कि पाण्डवोंकी कुटियाके अन्दर देवी द्रौपदी दुःखित हृदयसे भगवान्‌के सामने हाथ जोड़े खड़ी है और भगवान् पात्रमेंसे एक पत्ता ढूँढकर द्रौपदीको दिखलाते हुए उसे आश्वासन दे रहे हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण (सादा) पृ० ४२९; भगवान् श्रीकृष्ण एक बार जनकपुरमें आते हैं। आपके साथ अनेक ऋषि हैं। मिथिला-नरेश और भक्त ब्राह्मण श्रुतदेव एक ही साथ भगवान्‌के चरणोंपर मस्तक रखकर ऋषियों समेत आतिथ्य ग्रहण करनेको अनुरोध करते हैं। भक्तवत्सल भगवान् दोनों भक्तोंका आतिथ्य स्वीकार कर दोनोंकी प्रसन्नताके लिये दो रूप धरकर एक ही साथ दोनोंके घर आ रहे हैं। राजा समझते हैं कि भगवान् मेरे घर आये हैं और श्रुतदेव समझते हैं कि मेरे घर।

सेवक श्रीकृष्ण (रंगीन) पृ०५०० ('देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ पूजनम्' गीता अध्याय १७ श्लोक १४ के अनुसार) पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं बड़े भक्तिभावसे अतिथि ब्राह्मणोंके चरण धो रहे हैं।

उत्तरा-गर्भ-रक्षक श्रीकृष्ण(सादा)पृ० ५०४ ('मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।' गीता अध्याय १८ श्लोक ५८ के अनुसार) अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रने उत्तराके गर्भके अन्दर प्रवेशकर जब अभिमन्युके बालकको मार दिया, तब भगवान्‌में मन लगानेवाली कुन्ती, सुभद्रा और उत्तराने भगवान् श्रीकृष्णसे विनय की। उत्तराने भगवान्‌से कहा कि 'आपने इस बालकको बचानेकी प्रतिज्ञा की थी' अब इसे बचाइये। भगवान्‌ने कहा, 'उत्तरा! मैं कभी झूठ नहीं बोलता। मैंने आजतक हंसी मज़ाकमें भी कभी झूठ नहीं बोला। अगर मुझे धर्म प्रिय है, यदि मुझे ब्राह्मण प्यारे हैं, यदि यह अभिमन्युका पुत्र मुझे प्रिय है तो यह अभी जीवित हो जाय। मैंने भूलकर भी कभी अर्जुनसे विरोध नहीं किया है तो यह बालक अभी जीवित हो जाय। यदि सत्य और धर्म मुझमें अपना घर बनाकर नित्य रहते हैं तो यह बालक जीवित हो जाय। यदि कंस और केशीको भी मारनेमें मैंने धर्मका पालन किया है तो यह बालक जीवित हो जाय।' इतना कहते ही बालक जी उठा। भागवतके अनुसार भगवान्‌ने गर्भमें प्रवेश करके सुदर्शन चक्रसे ब्रह्मास्त्रको परास्त किया।

[चित्रोंकी कथा और उनका इतिहास बतलानेके लिये बहुत कुछ लिखना चाहिये था परन्तु स्थान और समयाभावसे संक्षेपमें ही लिखा गया है। पाठकगण क्षमा करें।]

गीताके टीकाकार, प्रचारक, प्रेमी और गीता-संस्थाओंके चित्रोंका परिचय

गीताके प्रधान पांच आचार्य। (पृ० २ क)

(१) श्रीमत् शंकराचार्य
(२) श्रीमत् रामानुजाचार्य
(३) श्रीमत् मध्वाचार्य
(४) श्रीमत् वल्लभाचार्य
(५) श्रीमत् ज्ञानेश्वर महाराज

इनका परिचय देना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है।

आचार्य पं० श्रीआनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव, एम० ए०, प्रो-वाइस चान्सलर, काशी हिन्दू

विश्वविद्यालय (पृ० ४) आप देशविख्यात विद्वान् हैं । गीतापर आपने कई सुन्दर निबन्ध लिखे हैं । इस अंकमें भी आपका लेख है ।

श्रीरंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर एम० ए०, एल-एल० बी०, धारवाड़ (पृ०४) आप 'कर्मवीर' नामक कनाडी पत्रके सम्पादक हैं । गीतापर कनाडी भाषामें आपने टीका लिखी है । इस अंकमें आपका लेख प्रकाशित है ।

भिक्षु श्रीअखण्डानन्दजी अहमदाबाद (पृ० ४) आप सस्तुं साहित्य-वर्द्धक-कार्यालयके संस्थापक और संचालक हैं । बड़े साधु स्वभाव, हास्यमुख और कर्मठ सज्जन हैं । गीताकी कई लाख प्रतियां आप निकाल चुके हैं । आपका कार्य आदर्श है ।

कवि श्रीनान्हालाल दलपतराम, अहमदाबाद (पृ० ४) आप गुजरातके प्रसिद्ध कवि हैं, गीतापर आपने टीका लिखी है ।

श्री सी० एम० पद्मनाभाचारी बी० ए० बी० एल०—कोयम्बटोर-(पृष्ठ० ५) आपने अंग्रेजीमें गीतापर विस्तृत टीका लिखी है ।

डाक्टर श्रीवसन्तजी रेले, एफ० सी० आर० एस०, एल० एम० एन्ड एस, बम्बई (पृ० ५) आपने गीतापर अंग्रेजीमें एक टीका लिखी है । इस अंकमें आपका लेख प्रकाशित है ।

डाक्टर श्री आर० बी० खेड़कर एम० डी०, एफ० आर० सी० एस०, डी० पी०-एच०, एल० एम०, एल० आर० सी० पी० एन्ड एस०, एल० एफ० पी० एन्ड एस०, (रिटा०) सिविल-सर्जन, वेदान्त-भूषण आदि (पृ० ५) आपने बरसों यूरोपमें भ्रमण कर गीताका प्रचार किया है । गीताके सम्बन्धमें अंग्रेजीमें पुस्तकें लिखीं और लिख रहे हैं । इनका भी लेख इस अंकमें छपा है ।

प्रो० श्री डी० डी० वाडेकर एम० ए०, विल्वकुंज, पूना (पृ० ५) आपने गीतापर अंग्रेजीमें टीका लिखी है ।

परमहंस स्वामी श्रीबलभाथजी महाराज रतनगढ़ (पृ० १२) आप बड़े त्यागी महात्मा सिद्ध पुरुष थे । गीताके बहुत प्रेमी थे । आपके पास जो कोई आता, उसे आप गीता पढ़नेका उपदेश दिया करते । आपके उपदेशसे गीताका बहुत प्रचार हुआ था । आप अक्सर बीकानेर, चूरू या रतनगढ़में रहा करते थे ।

स्वामी श्रीभोलेबाबाजी, अनूपशहर (पृ० १२) आप विद्वान्, विरक्त, त्यागी महात्मा हैं । गीतासे आपको बड़ा प्रेम है और इस विषयमें आपने बहुत कुछ लिखा है । अब भी आप गीताका प्रचार करते रहते हैं । आपके विद्वत्तापूर्ण लेख इस अंकमें प्रकाशित हैं ।

स्वामी श्रीउत्तमनाथजी, मारवाड़ (पृ० १२) आप वेदान्तके बड़े विद्वान्, उपदेशक, त्यागी संन्यासी हैं । गीतासे आपका बहुत प्रेम है । गीतापर आपके प्रवचन प्रायः हुआ करते हैं । आप अधिकतर जोधपुर फलोदी या बीकानेरमें रहते हैं ।

स्वामी श्रीनिर्मलानन्दजी महाराज, बंगाल (पृ० १२) आपने बंगलामें गीतापर कई सुन्दर निबन्ध लिखे हैं ।

महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी (पृ० १२ क) आपका परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं । आपने हालमें गीतापर एक गुजराती टीका लिखी है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगी । आपका भी सन्देश इस अंकमें प्रकाशित है ।

महामना पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय, (पृ० १२ क) आपका भी परिचय अनावश्यक है । आपकी गीता और भागवतपर बड़ी श्रद्धा है और सदा इनका प्रचार किया करते हैं । आपकी गीता-सम्बन्धी अभिलाषा अन्यत्र प्रकाशित है ।

भाई परमानन्दजी एम० ए० लाहौर (पृ० १२ क) आप प्रसिद्ध देश-सेवी हैं । इनकी गीतापर उर्दू और हिन्दीमें टीका प्रकाशित है । आपका लेख इसी अंकमें छपा है ।

स्व० लाला लाजपतराय, लाहौर (पृष्ठ१२ क) आपका परिचय देना अनावश्यक है । आपने अंग्रेजीमें गीतापर एक पुस्तक लिखी है । गीताके विषयमें आपके बहुत ऊंचे विचार थे ।

श्री वी० आर० राजम ऐय्यर, मद्रास (पृष्ठ ३४) आप वेदान्तके पण्डित हैं । गीतासे इन्हें बड़ा प्रेम है । और उसपर कई महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं ।

महामहोपाध्याय श्रीचेट्लुर नरसिंहाचारी स्वामी, मद्रास—(पृष्ठ ३४) आपने गीतापर बहुत सुन्दर विशिष्टाद्वैतमतानुयायी टीका तामिल-भाषा में लिखी है ।

दीक्षित श्रीनिवासजी शठकोपाचारी, मद्रास । (पृष्ठ ३४) आप गीताके प्रेमी हैं । गीतापर आपने कई निबन्ध लिखे हैं ।

श्री होसाकेरे चिदम्बरिया,—सम्पादक भक्त-बन्धु, बसवानगुडी, (पृष्ठ ३४) आप कर्णाटकके प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक हैं। आप वेदान्तके अच्छे ज्ञाता हैं। संभवतः कनाड़ीमें आपने गीतापर टीका लिखी है।

श्रीश्री अरविन्द घोष पाण्डिचेरी— पृष्ठ ३५ आपका नाम देशवासियोंसे छिपा हुआ नहीं है। इस समय आप पाण्डिचेरीमें महान् साधन कर रहे हैं। करीब ७०-८० साधक आपके चरणोंमें रहकर साधनमें लगे हैं आपके महान् साधनसे आज पाण्डिचेरी एक तीर्थस्थान बन गया है। गीतापर आपका बड़ा प्रेम है। गीता ही आपकी साधनाका आधार है। आपने गीतापर Essays on Gita नामसे महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध लिखे हैं। प्रत्येक अंग्रेजी पढ़े लिखे मनुष्यको ये निबन्ध पढ़ने चाहिये। श्रीअरविन्दाश्रमकी सेवा करना बड़े पुण्य और महत्त्वका कार्य मालूम होता है, क्योंकि वहां गीताके अनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा हो रही है।

श्रीअनिलवरण राय, पाण्डिचेरी— (पृष्ठ ३५) आप बड़े विद्वान्, देशसेवी और सुलेखक हैं। गीतापर प्रायः कुछ न कुछ बंगलामें लिखते ही रहते हैं। आपका एक लेख इसी अंकमें छपा है। आप इस समय श्रीअरविन्दाश्रम पाण्डिचेरीमें साधन कर रहे हैं।

महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण, काशी—(पृष्ठ ३५) आप वयोवृद्ध विद्वान् बंगाली सज्जन हैं। आपने गीतापर बंगलामें एक टीका लिखी है। आपका एक लेख इस अंकमें प्रकाशित हुआ है। हिन्दू विश्वविद्यालयमें आप संस्कृत कालेज प्रिंसिपल हैं।

श्रीधीरेन्द्रनाथ पाल, कलकत्ता-(पृष्ठ ३५) आप बड़े विद्वान्, गुणवान सज्जन हैं। अंग्रेजीमें भगवान् श्रीकृष्णका विस्तृत जीवन-चरित्र और गीतापर टीका लिखी है।

लाला कन्नोमलजी एम० ए०, जज, धौलपुर स्टेट—(पृष्ठ ५२) आपने गीतापर अंग्रेजी, हिन्दी में कई पुस्तकें और एक टीका लिखी है। आपका एक लेख इस अंकमें छपा है। आप दार्शनिक विद्वान् हैं।

पं० श्रीरामप्रतापजी पुरोहित, जयपुर—(पृष्ठ ५२) आप जैपुरके सरदार हैं। आपने गीताका बड़ा सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद किया है।

पं० श्री लक्ष्मणनारायणजी, गर्दे सम्पादक श्री कृष्ण-संदेश कलकत्ता (पृष्ठ ५२) आप गीताके बड़े प्रेमी और प्रचारक हैं। कृष्णसन्देशके प्रायः प्रत्येक अंकमें गीतापर बड़े बड़े विद्वानोंके लेख प्रकाशित करते रहते हैं। गीतापर आपने टीका भी लिखी है।

कविराज पं० श्री गयाप्रसादजी शास्त्री 'श्री-हरि' साहित्याचार्य लखनऊ—(पृ०५२) आप विद्वान् और सुयोग्य सज्जन हैं। गीतापर संस्कृत और हिन्दीमें टीकाएँ लिखी हैं। आपका भी एक लेख इस अंकमें छपा है।

पं० श्री भवानीशंकरजी, मद्रास—(पृष्ठ ५२) आप एक बहुत बड़े महात्मा माने जाते हैं। गीतापर आपने अंग्रेजीमें अनेक व्याख्यान दिये हैं। आपके व्याख्यानोंके आधारपर दो पुस्तिकाएँ छप भी गयी हैं। आपका एक लेख इसी अंकमें छपा है।

श्री टी० सुब्बाराव एफ० टी० एस०, बी० ए०, बी० एल, मद्रास—(पृष्ठ ५३) आपके गीतापर अंग्रेजी-में कई विचारपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुए हैं।

स्व० पं० श्रीरामस्वरूपजी शर्मा 'ऋषिकुमार' मुरादाबाद (पृष्ठ ५३) आप बड़े विद्वान् स्वधर्मप्रेमी सज्जन थे। वर्षोंसे 'सनातनधर्मपत्रिका' का सम्पादन करते थे। गीतापर आपने एक टीका लिखी है। आप सदा सस्ते दामोंमें धार्मिक साहित्य प्रकाशित करनेका विचार रखते थे।

स्व० पं० श्रीधर्मदत्तजी 'बच्चा झा' मिथिला। (पृ० ५३) आप बड़े विद्वान् थे और संस्कृतमें गीताकी विस्तृत व्याख्या की है।

गोस्वामी ठाकुर श्रीभक्तिविनोदजी, (पृ० ६०) आप गौड़ीय-सम्प्रदायके आचार्य थे। आपने बंगलामें गीता-की व्याख्या की है।

गोस्वामी श्रीभक्तिसिद्धान्तजी सरस्वती (पृ० ६०) आप गौड़ीयमठके वर्तमान आचार्य हैं। आपने बंगलामें गीता पर व्याख्या की है। 'सज्जनतोषिणी' 'या' 'दी हारमोनिष्ट' नामक वैष्णव पत्रिकाका आप सम्पादन भी करते हैं।

श्रीगीतानन्दजी ब्रह्मचारी। (पृष्ठ ६०) आपने अंग्रेजीमें गीतापर एक पुस्तक लिखी है। आज-कल और भी एक विस्तृत टीका लिख रहे हैं।

हठाभ्यासी ब्रह्मचारी श्रीनर्मदानन्दजी, जोशीमठ (पृ० ६०) आप बड़े विद्वान् हैं और योगके विशेष प्रेमी हैं। आपने भी गीतापर विस्तृत टीका लिखी है।

स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती, बिहटा,

पटना (पृष्ठ ६१) आप त्यागी साधु हैं। राजनैतिक क्षेत्रमें भी आप सदा काम करते हैं। गीता आपको बहुत प्रिय है। आप भगवान् श्रीशंकराचार्यके अनुयायी हैं। लोकमान्य तिलकके गीतारहस्यका बड़ी युक्तियोंसे खण्डन करते हैं। उसपर आजकल एक टीका लिख रहे हैं।

कविसम्राट पं० श्रीबाबूरामजी शुक्ल, फर्रुखाबाद (पृष्ठ ६१) आप वयोवृद्ध विद्वान् और गीताप्रेमी सज्जन हैं। आप कहते हैं कि मैं गीताकी अठारहवीं अध्यायके ६६ वें श्लोक पर ७१ करोड़ अर्थ बता सकता हूँ। अर्थात् चाहे जिस बातको इसी एक श्लोकसे प्रमाणित कर सकता हूँ। रामायणकी एक चौपाईके आपने अनेक अर्थ किये हैं। आपका लेख इस अंकमें छपा है।

आचार्य-भक्त पं० श्रीविष्णु वामन बापट शास्त्री पूना (पृष्ठ ६१) आप महाराष्ट्रके प्रसिद्ध विद्वान् हैं। पूनेकी आचार्यकुल नामक संस्थाके संस्थापक हैं। आप भगवान् शंकराचार्यके अनुयायी हैं। आपने मराठीमें गीतापर बहुत विस्तृत व्याख्या की है। आपका लेख इसी अंकमें प्रकाशित हुआ है। आपने ब्रह्मसूत्र, दशों उपनिषद् और गीताके शांकर भाष्यका मराठीमें अनुवाद किया है तथा भाष्यानुसार स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं।

स्वामी श्रीभगवानजी, तरौंहां, करवी, बांदा (पृष्ठ ६१) आप त्यागी विद्वान् साधु हैं। आपने गीतापर हिन्दीमें दो विस्तृत टीकाएँ लिखी हैं वे अभी अप्रकाशित हैं।

स्वामी श्रीविवेकानन्दजी, कलकत्ता (पृष्ठ ६४) आप स्वामी रामकृष्ण परमहंसके प्रधान शिष्य थे। आपने भारतवर्ष और पाश्चात्य देशोंमें गीता और हिन्दू-संस्कृतिका बड़ा प्रचार किया है। यात्राके समय सर्वदा गीता साथमें रखा करते थे। आपने गीतापर कई निबन्ध लिखे हैं। आपको प्रायः सभी जानते हैं। विशेष परिचयकी आवश्यकता नहीं।

बहिन निवेदिता, (पृष्ठ ६४) आप अमेरिकन रमणी थीं। स्वामी श्रीविवेकानन्दजीकी शिष्या, वेदान्तकी पण्डिता थीं. आपने गीतापर कई निबन्ध लिखे हैं।

स्वामी श्रीशारदानन्दजी, कलकत्ता (पृष्ठ ६४) आप परमहंस श्रीरामकृष्णदेवके अनुयायी और विद्वान् त्यागी साधु हैं। आपने बंगलामें गीता पर बहुत उत्तम पुस्तक लिखी है।

स्वामी स्वरूपानन्दजी, अल्मोड़ा (पृष्ठ ६४) आप श्रीरामकृष्णदेवके अनुयायी थे। आपने पाश्चात्य देशोंमें भ्रमण कर गीता और हिन्दूधर्मका प्रचार किया है, आपने अंग्रेजीमें गीताका सुन्दर अनुवाद किया है।

पं० श्यामाचरणजी लाहिड़ी (पृष्ठ ६५) बंगालके गीताप्रचारकोंमें आपका नाम सबसे पहिले लिया जा सकता है। आप योगी और सिद्ध पुरुष थे। आपके ख्यातनामा शिष्य श्रीरामदयाल मजुमदार और श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्याल-द्वारा गीताका बड़ा अच्छा प्रचार हो रहा है। आपकी जीवनी 'कल्याणके' तृतीय वर्षके बारहवें अंकमें प्रकाशित हो चुकी है।

श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्याल, चटक पहाड़, पुरी, (पृ० ६५) आपकी विद्वत्ता और आध्यात्मिकतासे 'कल्याण'के पाठक खूब परिचित हैं। गीतापर आपने अनेक निबन्ध लिखे हैं। आपका एक निबन्ध इसी अंकमें प्रकाशित है।

पं०श्रीरामदयाल मजुमदार, एम० ए०, सम्पादक 'उत्सव' कलकत्ता (पृ० ६५) आप बड़े विद्वान् हैं। गीतापर आपने बंगलामें बहुत बड़ी टीका लिखी है।

बाबू हीरेन्द्रनाथ दत्त एम०ए०, बी०एल० (पृ०६५) आप कलकत्ता हाईकोर्टके एटर्नी और एक थियोसोफिस्ट सज्जन हैं, आप गीताके बड़े प्रेमी हैं और आपने 'गीतामें ईश्वरवाद' नामक एक बड़ी अच्छी पुस्तक बंगलामें लिखी है। गीता पर और भी कई निबन्ध लिखे हैं।

श्रीमेहेर बाबा (पृष्ठ १८४) आप पारसी सज्जन हैं, और एक सिद्ध सद्गुरु माने जाते हैं। मेहेर आश्रम नामक अहमदनगरमें आपका एक आश्रम है। उसीमें आप निवास करते हैं। आप गीताके प्रेमी और प्रचारक हैं।

स्वामी मायानन्द चैतन्य (पृष्ठ १८४) विज्ञान-शाला पोस्ट मान्धाता ॐकारनाथ, जिला निमाड़। आपने गीतापर कई पुस्तकें लिखी हैं।

श्रीचिन्तामणि गंगाधर भानु, पूना (पृष्ठ १८४) आप महाराष्ट्रके विद्वान् सज्जन हैं। गीतापर मराठीमें बहुत बड़ी टीका लिखी है। आपका एक लेख इस अंकमें भी है।

(× × × × × × × (पृ० १८४) ये गीताके किसी मराठी टीकाके टीकाकार हैं। संभवतः श्रीखंडोकृष्ण या दादा गर्दे आपका नाम है, नामका पूरा निश्चय न होनेसे काट दिया गया है)

श्रीगुरुनाथजी विद्यानिधि भट्टाचार्य ···(पृष्ठ १८५) आप विद्वान् बंगाली सज्जन हैं। आपने बंगलामें गीतापर बहुत बड़ी टीका लिखी है।

मास्टर श्रीजयरामदास होतीचन्द, शिकारपुर(पृ० १८५) आपने सिन्धी भाषामें गीताकी टीका लिखी है।

श्रीसदानन्दजी, गोरखपुर (पृ० १८६) आप गोरखपुर-से निकलनेवाले 'मेसेज' नामक अंगरेजी मासिकपत्रके सम्पादक हैं। आप बड़े ईश्वर-विश्वासी हैं। मेसेजका वार्षिक मूल्य १) है। ईश्वरवाद और सार्वभौम धर्मका प्रचार करनेवाला अंगरेजीका यह बहुत अच्छा पत्र है। अंगरेजी जाननेवाले लोगोंको इसे अवश्य पढ़ना चाहिये।

श्रीजयतिराजजी, जालन्धर (पृ० १८६) आपने उर्दू भाषामें गीतापर टीका लिखी है।

श्रीमती डा० एल्ज़े ल्यूडर्स (Dr. Else Lueders) जर्मनी, (पृ० २७४) आप प्रोफेसर हाइनरिच ल्यूडर्स (Prof. Heinrich Lueders) की धर्मपत्नी हैं। आपका भारतीय साहित्य-विषयक ज्ञान बड़ा विस्तीर्ण है। आप संस्कृत, पाली, प्राकृत और हिन्दी जानती हैं। गीतासे आपको बड़ा प्रेम है और आप बड़े प्रेमसे उसका अध्ययन करती हैं।

प्रोफेसर डा० हाइनरिच ल्यूडर्स, बर्लिन (Prof. Dr. Heinrich Lueders, Berlin) (पृ० २७४) आप जर्मनीके बड़े भारी विद्वान् हैं। भारतवर्ष और भारतीय साहित्यसे आपका बड़ा प्रेम है। आप सन् १९२७।२८ में सपत्नीक भारतवर्ष आये थे और यहांके प्रधान प्रधान स्थानोंमें घूमे थे। आप वर्तमान यूरोपके संस्कृत विद्वानोंमें एक प्रधान पुरुष हैं। आपका एक लेख इस अंकमें छापा जाता है। गीताके आप बहुत अच्छे जानकार और अनुशीलनकर्ता हैं।

प्रोफेसर हेल्मूट फॉन ग्लाज़ेनप्प, क्योनिग्सबर्ग जर्मनी (Prof. Helmuth Von Glasenapp, Koenigsberg) (पृ०२७४) आप क्योनिग्सबर्ग-जर्मनीमें संस्कृतके प्रोफेसर हैं। आपने हिन्दुत्वपर कई पुस्तकें लिखी हैं। आप सन् १९२७ में भारतवर्ष आये थे। बड़े विद्वान् और गीताप्रेमी सज्जन हैं। आपका लेख इस अंकमें प्रकाशित है।

प्रो० डा० एफ० आटो श्राडर पी० एच. डी. विद्या-सागर, (Dr. F. Otto. Schrader, Ph. D. Professor Of Sanskrit, Kiel, Germany) (पृ० २७४) आप कील युनिवर्सिटी जर्मनीमें प्रोफेसर हैं। महासमरके समय आप भारतवर्षमें जर्मन होनेके कारण पांच वर्षतक नजर-बन्द थे। आपने उपनिषदोंपर संस्कृतमें टीका लिखी है और आप गीताके बड़े प्रेमी और प्रचारक हैं। आप भारतवर्षको अपना दूसरा घर समझते हैं और यहां बारबार आनेकी अभिलाषा करते हैं। बड़ा चक्कर आपका एक विद्वत्तापूर्ण लेख इसी अंकमें प्रकाशित है।

डा० एच० डबल्यू० बी मोरेनो (Dr. H. W. B. Moreno) एम० ए०, पी-एच० डी०, कलकत्ता (पृष्ठ २७५)--आप एक प्रसिद्ध ईसाई सज्जन हैं। पहले कलकत्ता युनिवर्सिटीके प्रोफेसर थे। गीतापर कई निबन्ध अंगरेजीमें लिख चुके हैं और अब भी एक नाटक लिख रहे हैं।

श्रीहाल्डेन एडवार्ड सैम्पसन (पृष्ठ २७५) आप अंग्रेज विद्वान् थे, आपने गीता पर अंगरेजीमें टीका लिखी है।

पं० श्रीमनसुखराम सूर्यराम त्रिपाठी बम्बई (पृ० २७५) आपने गुजरातीमें गीतापर एक सुन्दर विस्तृत टीका लिखी है।

प्रो० लेओपोल्ड फॉन श्रेडर (Leopold Von Schroeder) (पृ० २८४) आप आस्ट्रिया देशमें वायना युनिवर्सिटीमें संस्कृतके प्रोफेसर थे। आपने सन् १८८७ में 'भारतीय सभ्यता और साहित्यका इतिहास' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। आपने भगवद्गीतापर भी एक टीका लिखी है। आप प्राच्य भावोंके पूर्ण प्रेमी थे।

श्रीविल्हेल्म फॉन हुम्बोल्ट, जर्मनी (Wilhelm Von Humboldt) (पृ० २८४) आप प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् और राजनैतिक पुरुष थे। गीताके बड़े अध्ययनशील थे। आपने १०४ वर्ष पूर्व सन् १८२५-२६ में The Acedamy Of Sciences, Berlin में गीतापर अद्भुत लेखमाला पढ़ी थी।

प्रो० आटो ष्ट्रौस ब्रेस्लाऊ (Prof. Otto Strauss, Braslau, Germany) पृ० २८८ —आप श्री पाल डायसनके शिष्य हैं। दो साल तक कलकत्ता युनिवर्सिटीके प्रोफेसर रहे थे। आजकल ब्रेस्लाऊमें प्रोफेसर हैं। आपने भारतीय अध्यात्म-शास्त्रका एक सुन्दर इतिहास लिखा है। गीतासे आपको बड़ा प्रेम है। आपका एक लेख इसी अंकमें छपा है।

श्रीयुक्त हेर्मन यकोबी जर्मनी (पृ० २८७) आप यूरोपमें संस्कृतके बड़े विद्वान् और गीताके बड़े प्रेमी हैं। आप बान युनिवर्सिटीमें प्रोफेसर हैं।

श्रीएमरसन, अमेरिका—(पृ० २८९) आप प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् महात्मा थॉरोके शिष्य थे। आप गीताके भक्त और बड़े प्रेमी थे।

स्व० प्रो० पौल डायसन, जर्मनी (Prof. Paul Deussen, Kiel) (पृ० २८५)—आप कील युनिवर्सिटी-में फिलोसोफीके प्रोफेसर थे। आपने वेदान्त और उपनिषदों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, साठ उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीताका जर्मन भाषामें अनुवाद किया था और संस्कृत और भारतीय अध्यात्मशास्त्रके बड़े प्रेमी थे।

श्री औगुस्ट विल्हेल्म फान श्लेगल, जर्मनी (August Wilhelm Von Schlegal)(पृ० २८५) आप जर्मनीमें सबसे पहले संस्कृत-प्रोफेसर थे। करीब सौ वर्ष पूर्व बान (Bonn) युनिवर्सिटीमें प्रोफेसर थे, आपने सन् १८२३ में भगवद्गीताको लेटिन अनुवादसहित संस्कृत लिपिमें प्रकाशित किया था। आप जर्मनीके प्रसिद्ध विद्वान् थे।

प्रो० रिचार्ड फान गार्बे, जर्मनी (Richard Von Garbe) (पृ०२८१) आप ट्यूबिंगेन युनिवर्सिटी जर्मनीमें संस्कृतके प्रोफेसर थे। भगवद्गीतापर आपकी टीका प्रसिद्ध है।

श्रीनृसिंह चिन्तामणि केलकर सम्पादक 'केसरी' पूना, (पृ० ३१२) आप प्रसिद्ध राजनैतिक और हिन्दू नेता हैं। आप गीताधर्ममण्डलके सभापति हैं। आपने गीतापर पुस्तक भी लिखी है।

श्रीगजानन विश्वनाथ केतकर बी० ए०, एल एल० बी०, उपसम्पादक केसरी पूना, (पृ० ३१२) आप गीताधर्ममण्डलके मन्त्री हैं। गीतापर सदा लिखते रहते हैं और गीताके प्रसिद्ध प्रचारक हैं।

गीतावाचस्पति पं० श्रीसदाशिव शास्त्री भिड़े, पूना, (पृ० ३१२) आप नेत्रहीन होनेपर भी गीताके बड़े विद्वान् और प्रचारक हैं। गीताधर्ममण्डलकी संस्थापना आपके ही उद्योगसे हुई है। आपने गीतापर एक टीका और अनेक सुन्दर निबन्ध लिखे हैं और लिखते रहते हैं। सुना है, अभी और एक टीका लिख रहे हैं।

रावबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य, पूना, (पृ० ३१२) आप भारतके प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हैं। प्राचीन और अर्वाचीन इतिहासपर आपने बहुत कुछ प्रकाश डाला है। आपका 'महाभारतमीमांसा'नामक ग्रन्थ मनन करने योग्य है। आप गीताके बड़े प्रेमी हैं। महाभारत-मीमांसामें गीतासम्बन्धी अनेक महत्त्वकी बातें लिखी हैं। आपका एक लेख इसी अंकमें प्रकाशित है।

श्रीनानामहाराज साखरे (पृ० ३१३) आपने गीतापर मराठीमें एक टीका लिखी है।

पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत, दक्षिण (पृ० ३१३) आप मराठी भाषाके प्रसिद्ध भक्त-लेखक हैं। गीता और भगवन्नामके बड़े प्रेमी हैं. आपका लेख इस अंकमें छपा है।

पं०श्रीआनन्दघनरामजी उर्फ रामचन्द्र विनायक कुलकर्णी, तासगांव (पृ० ३१३) आप महाराष्ट्रमें प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आपका हर एक विषयमें अद्भुत प्रवेश है। आपने शिक्षा, विज्ञान, आरोग्य, व्यवहार और परमार्थ-विषयपर अनेक प्रकारके अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ तथा लेख लिखे हैं। आपने गीतापर कई महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। आपका भी एक लेख इस अंकमें प्रकाशित है।

पं० श्रीदिगम्बरदासजी, गोकरण, गोवा (पृ० ३१३) आपने गीतापर कई निबन्ध लिखे हैं, आप एक प्रसिद्ध भक्त पुरुष हैं।

महर्षि श्रीदेवेन्द्रनाथ ठाकुर, कलकत्ता (पृ० ३१६) आप बड़े विद्वान् और महात्मा थे। आप ब्राह्मसमाजी थे। भगवान्के बड़े भक्त थे। आपकी चेष्टासे 'समदर्शी' नामक एक मासिक पत्र निकला था। आपका चरित्र बड़ा आदर्श था। आपका पुण्य इसीसे पहचाना जा सकता है कि धर्मात्मा द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर और महाकवि रवीन्द्रनाथके सदृश आपके पुत्र हुए। गीताके आप बड़े प्रेमी और गीतानुसार आचरण करनेवाले थे।

श्रीसत्येन्द्रनाथ ठाकुर, कलकत्ता (पृ० ३१६) आपने गीतापर बंगलामें एक टीका लिखी है।

कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर, बोलपुर (पृष्ठ ३१६) आपका परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं। आप गीतापर सदा सर्वदा बहुत कुछ कहा सुना करते हैं।

आचार्य श्रीक्षितीन्द्रनाथ ठाकुर, कलकत्ता (पृ० ३१६) आपने भी गीतापर बंगलामें एक टीका लिखी है। आप ब्राह्मसमाजी हैं। बड़े विद्वान् हैं।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (पृ० ३१७) आप भारतवर्षके प्रसिद्ध विद्वान्, राजनैतिक क्षेत्रके प्रसिद्ध सेनापति, हिन्दू-जातिके प्रसिद्ध नेता, शास्त्रोंके विलक्षण पण्डित, गीताके ज्ञाता और अनुसरणकर्ता थे। गीताके सम्बन्धमें आपका कैसा ज्ञान और भाव था सो आपके गीतारहस्यसे सारे संसारपर प्रकट है।

श्रीसीतानाथजी तत्त्वभूषण, कलकत्ता(पृ०३१७) आप बंगालके प्रसिद्ध विद्वान् और गीताके टीकाकार हैं।

श्रीमती डा० एनी बीसेन्ट, मद्रास (पृ० ३१७) आप थियोसोफिकल सोसाइटीकी अध्यक्षा हैं। गीतापर आपने टीका

लिखी हैं आपका विशेष परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं।

बाबू भगवान्दासजी एम० ए०, डी० लिट्, काशी (पृष्ठ ३१७) आप भारतके प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् हैं। गीतापर आपने टीका लिखी है। विद्वत्-समाजमें शायद ही कोई ऐसा हो, जो आपको न जानता हो।

श्रीसोहं स्वामी (पृ० ३७६) आपने बंगलामें गीतापर एक टीका लिखी है।

श्रीमहाभागवत कुर्तकोटि शंकराचार्य विद्या-भूषण वेदान्तवाचस्पति करवीरमठ खानदेश (पृ० ३७६) आपने कनाड़ी भाषामें गीतापर एक टीका लिखी है।

श्रीगोविन्द रामचन्द्र मोघे। (पृ० ३७६) आपने मराठीमें ज्ञानेश्वरी गीतापर विस्तृत टीक लिखी है।

श्रीविष्णु बुवा जोग (पृ० ३७६) आप बड़े विद्वान् थे। आपकी गीतापर मराठीमें टीका है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी (पृ० ३७७) आपको कौन भारतवासी नहीं जानता? नागरी-प्रचारिणी-सभा काशीकी रिपोर्टसे यह मालूम होता है कि आपने गीतापर एक टीका लिखी है। महाराष्ट्र प्रान्तमें भी आपके नामसे दोहों-में एक गीता प्रचलित है। रामचरितमानसमें तो गीताके अनेक भाव हैं ही।

सन्त तुकारामजी महाराज (पृ० ३७७) आप महाराष्ट्रके प्रसिद्ध भक्त कवि थे। आपने गीतापर अभंग लिखे हैं।

श्रीकृष्ण-प्रेमजी वैरागी (श्रीरोनाल्ड निक्सन) अल्मोड़ा (पृ० ३७७) कल्याणके पाठक आपके नामसे भलीभांति परिचित हैं। आप इस समय अल्मोड़ामें भगवद्भजनमें अपना समय व्यतीत करते हैं। आपका लेख इस अंकमें प्रकाशित है।

भट्ट श्रीरामचन्द्रजी चक्रवर्ती, लश्कर (पृ० ३७७) आप वल्लभ-सम्प्रदायके विद्वान् और गीता-प्रेमी सज्जन हैं, आपका लेख बहुत विलम्बसे आनेके कारण छप नहीं सका।

स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती-योगाश्रम काशी (पृष्ठ ३८४)आप सनातनधर्मके बड़े भारी प्रचारक और विद्वान् थे। गीतापर बंगलामें आपने बड़ी सुन्दर टीका लिखी है। काशी योगाश्रमके स्थापनकर्ता आप ही थे।

स्वामी श्रीप्रणवानन्दजी-प्रणवाश्रम काशी, (पृ० ३८४)-आपने गीतापर विस्तृत टीका लिखी है।

स्वामी श्रीहंसस्वरूपजी, हंसाश्रम, अलवर (पृ० ३८४)। आप गीतापर बहुत बड़ी टीका लिख रहे हैं जिसके १२ अध्याय छप चुके हैं बाकी शनैः शनैः छप रहे हैं।

स्वामी नारायणजी लखनऊ (पृ० ३८४) आप स्वामी रामतीर्थजीके प्रधान शिष्य हैं। गीतापर आपने बड़ी सुन्दर टीका लिखी है। आप बड़े विद्वान् हैं।

पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ (पृ० ३८४) आप प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान् हैं, गीतापर आपने सुन्दर टीका लिखी है। वेदोंपर भी आपने बहुत कुछ लिखा है।

पं० श्रीराजारामजी शास्त्री लाहोर,(पृ०३८४)आप आर्षग्रन्थावली-कार्यालयके संचालक हैं। आपने उपनिषदोंपर और गीतापर टीका लिखी है। बड़े विद्वान् सज्जन हैं।

स्वामी श्रीतुलसीरामजी, मेरठ (पृ० ३८५) आपने गीतापर एक टीका लिखी है।

स्वामी श्रीसत्यानन्दजी, (पृ० ३८४) आपने भी गीतापर एक टीका लिखी है।

महामहोपाध्याय पं० पञ्चाननजी तर्करत्न, काशी (पृ० ४००) आप बंगालके प्रसिद्ध कट्टर सनातन-धर्मी विद्वान् हैं। गीतापर आपने टीका लिखी है और प्रायः सब पुराणोंका बंगलामें अनुवाद किया है। आप वृद्धावस्थामें भी सनातनधर्मके प्रचारमें लगे हैं।

महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मणजी शास्त्री द्राविड़, काशी (पृ० ४००) आप भी प्रसिद्ध सनातनधर्मी विद्वान् हैं, आपने गीतापर टीका लिखी है, इस समय आप अपना अधिकांश समय सनातनधर्मके प्रचारमें लगा रहे हैं।

पं० श्रीनत्थूरामजी शास्त्री-गुजरात (पृ० ४००) आप गुजरातके प्रसिद्ध विद्वान्, वयोवृद्ध और वेदान्ती महानुभाव हैं। आपने गीता और वेदान्तपर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। सनातनधर्म और अध्यात्मशास्त्रका गुजरातमें आप बड़ा सुन्दर प्रचार कर रहे हैं।

पं० श्रीनरहरिजी शास्त्री, बम्बई (पृ० ४००) आप गीताके प्रसिद्ध विद्वान् हैं। बम्बईकी विख्यात गीतापाठशाला के उपदेशक आप ही हैं। आपके उपदेशोंसे बम्बई-प्रान्तमें गीताका बहुत अच्छा प्रचार हुआ है और हो रहा है।

जगद्गुरु स्वामी श्रीश्रीअनन्ताचार्यजी महाराज श्रीकाञ्ची (पृ० ४०१) आप श्रीश्रीरामानुज-सम्प्रदायके प्रधान आचार्य हैं। प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ विद्वान् होनेके साथ ही आप अत्यन्त साधुस्वभाव, विनम्र, प्रेमी और दयालु हैं। आपने गीतापर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। आपका लेख इस अङ्कमें प्रकाशित है।

श्रीमध्व-सम्प्रदायाचार्य, दार्शनिक, सार्वभौम

साहित्य दर्शनाद्याचार्य,तर्करत्न,न्यायरत्न,गोस्वामी पं० श्रीदामोदरजी शास्त्री, काशी। (पृ० ४०१) आप काशीके प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आपका लेख इसी अंकमें छपा है।

व्याख्यान-वाचस्पति पं० श्रीदीनदयालुजी शर्मा झज्झर (पृ० ४०१) आपने व्याख्यानों द्वारा भारतवर्षमें गीताका बड़ा प्रचार किया है।

विद्यामार्तण्ड पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री, भिवानी (पृ० ४०१) आप संस्कृतके बड़े विद्वान् हैं, आपने 'गीता-भगवद्भक्ति-मीमांसा' नामक गीतापर एक भक्तिप्रधान टीका लिखी है।

गीताभवन, कुरुक्षेत्र (पृ० ४३१) परिचय उसी पृष्ठमें देखिये।

गीताप्रेस, गोरखपुर (दो चित्र) (पृ० ४३२) परिचय उसी पृष्ठमें देखिये।

परमहंस आश्रम, बरहज (पृ० ४३३) परिचय उसी पृष्ठमें देखिये।

गीता-प्रदर्शनी(पृ०४४२)कलकत्तेमें गतवर्ष जो प्रदर्शनी हुई थी यह उसीका चित्र है, विवरण उसी पृष्ठमें पढ़िये।

स्वामी चिद्घनानन्दजी-(पृष्ठ४५४) हिन्दीमें स्वामीजीकी गीता प्रसिद्ध है। श्रीमधुसूदनी टीकाके आधारपर आपने पुरानी बोलीमें इसको लिखा है, बड़ा ही उपादेय ग्रन्थ है।

श्री श्रीनिवासराव कौजल्गी, कर्णाटक(पृ० ४५४) आप कर्णाटकके प्रसिद्ध नेता हैं। आपको गीतासे बड़ा प्रेम है और तत्सम्बन्धी कई निबन्ध लिखे हैं। आपका एक लेख इसी अंकमें छपा है।

श्रीमदनलाल और शान्तिलाल (पृष्ठ४५४) ये दोनों भाई बम्बई निवासी पं० नानूरामजी व्यासके पुत्र हैं। इस समय इनकी उमर क्रमसे लगभग १०॥ और ८॥ सालकी है। मदनलाल इस समय अंगरेजी और संस्कृत तथा शान्तिलाल अंगरेजी हिन्दी पढ़ रहा है। दोनोंको ही गीता कण्ठस्थ है। मदनलाल गीता-परीक्षा-समितिकी प्रथमा परीक्षामें बैठनेवाला है।

लक्ष्मीबाई (पृष्ठ ४५४) कलकत्ता निवासी श्रीकुंजलालजी सुलतानियांकी पौत्री है। इसको गीता बहुत अच्छी तरह स्मरण है। कई जगहसे इसे मेडल मिले हैं। संख्यासे श्लोक, एक शब्दसे श्लोक, श्लोकसे श्लोकसंख्या आदि कई तरहसे यह गीता बतला देती है।

इस समय इसकी उम्र ६॥ साल है। इसने ६॥ सालकी उम्रमें ही गीताकी एक परीक्षा देकर मेडल प्राप्त किया था।

भगवान्‌का विभूति विस्तार*

(लेखक-श्रीजुगलकिशोरजी विमल, सीनियर एडवोकेट, प्रधान, सनातनधर्म-सभा दिल्ली)

है मम विभूति यों तो अनेक हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊँ तुझे मैं चुन चुन॥
मध्यान्त आदि सब भूतोंका मैं ही हूं।
मैं अनन्तकाल विधाता विश्वमुखी हूं॥
मैं जीवोंमें हूं प्राण, वाक्-शक्ती हूं।
तेजस तेजस्वीका, जय विजयीकी हूं॥
है अपरम्पार विभूति योग हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊँ तुझे मैं चुन चुन॥१॥

है सर्व जगत् मेरा ही मेरा चुन पुन।
मैं भविष्य भूतोंका अंकुर हूं अर्जुन॥
उद्योगशालियों मांहि परिश्रमकी धुन।
मैं ही सतोगुणी पुरुषोंमें हूं सत्-गुन॥
विस्तार असंभव है मेरा हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊं तुझे मैं चुन चुन॥२॥

मैं वाक्योंमें हूं ओम् मन्त्र निस्तारन।
मैं जगत् बीज अरु सर्व-चराचर कारन॥
मैं भेदोंमें हूं गुप्त मौन साधारन।
मैं राजाओंमें नीति दण्ड अनुसारन॥
मैं बखानमें आसकूं नहीं हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊँ तुझे मैं चुन चुन॥३॥

मध्यान्त आदि हूं जगकी रचनाओंमें।
अध्यातम विद्या हूं मैं विद्याओंमें॥
हूं वीर स्कन्द मैं सैनिक नेताओंमें।
इन्द्रियों मांहि मन, चेत जीविताओंमें॥
चिन्तनमें आयँ न मेरे गुण हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊं तुझे मैं चुन चुन॥४॥

हूं मैं वित्तेश असुरों अरु यक्षोंमें।
हूं अनन्त नागोंमें, वासुकि सर्पोंमें॥
ज्ञानियों मांहि हूं ज्ञान, जाप यज्ञोंमें।
मैं ही यम अनुशासन करनेवालोंमें॥
है अति अगम्य मेरी महिमा हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊं तुझे मैं चुन चुन॥५॥

* भगवद्गीताके दशवें अध्यायके कुछ श्लोकोंके आधारपर।

त्रिभुवन-मोहन

(१)

शुद्ध सच्चिदानन्द सनातन अज अक्षर आनँद-सागर।
अखिल चराचरमें नित व्यापक अखिल जगत्‌के उजियागर॥
विश्व-मोहिनी मायाके मोहन मन-मोहन ! नटनागर !
रसिक श्याम ! मानव-वपु-धारी, दिव्य, भरे गागर-सागर !!

(२)

भक्त-भीति-भञ्जन, जन-रञ्जन, नाथ निरञ्जन एक अपार।
नव-नीरद-श्यामल-सुन्दर शुचि सर्वगुणाकर सुषमा-सार॥
भक्तराज वसुदेव-देवकीके सुख-साधन प्राणाधार।
निज लीलासे प्रकट हुए अत्याचारीके कारागार॥

(३)

पावन दिव्य प्रेमपूरित व्रजलीला प्रेमीजन-सुखमूल।
तन-मन-हारिणि बजी वंशरी रसमयकी कालिन्दी-कूल॥
गिरि-धर,विविध-रूप-धर,हरिने हर ली विधि-सुरेन्द्रकी भूल।
कंस-केशि-वध, साधु-त्राण कर यादव-कुलके हर हत्शूल॥

(४)

समराङ्गणमें सखा भक्तके अश्वोंकी कर पकड़ लगाम।
बने मार्ग-दर्शक, लीलामय प्रेमसुधोदधि जन-सुखधाम॥
प्रेमी-पार्थ-व्याजसे सबको करुणाकर लोचन अभिराम।
शरणागतिका मधुर मनोहर तत्त्व सुनाया सार्थ ललाम॥

(५)

"मन्मना भव, भव मद्भक्तः, मद्याजी, कर मुझे प्रणाम।
सत्य शपथयुत कहता हूँ प्रिय सखे ! मुझीमें हो विश्राम॥
छोड़ सभी धर्मोंको मेरी एक शरण हो जा निष्काम।
चिन्ता मत कर! सभी पापसे तुझे छुड़ा दूंगा, प्रियकाम !"

(६)

श्रीहरिके सुखमय मंगलमय प्रण-वाक्योंकी स्मृति कर दीन !
चित्त ! सभी चञ्चलता तजकर चारु चरणमें हो जा लीन !
रसिकविहारी, मुरलीधर, गीतागायकके हो आधीन।
त्रिभुवन-मोहनके अतुलित सौन्दर्याम्बुधिका बन जा मीन !

अकिञ्चन

स्वामी विज्ञानानन्दजी ।

श्री श्रीनिवासराव कौजलगी ।

श्रीशान्तिलाल व्यास । श्रीमदनलाल व्यास ।

श्रीलक्ष्मी बाई ।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता-सूची

[श्रीमद्भगवद्गीतापर संसारकी भिन्न भिन्न भाषाओंमें बहुत कुछ लिखा गया है और लिखा जा रहा है, इसपर सैकड़ों टीकाएं लिखी गयी हैं और हजारों संस्करण प्रकाशित हुए हैं। गतवर्ष कलकत्तेमें गोविन्दभवनके गीता-जयन्ती-उत्सवपर एक 'गीता-प्रदर्शनी' की गयी थी, जिसमें भिन्न भिन्न भाषाओंकी गीताएं आयी थीं। वहीं एक गीतापुस्तकालय स्थापित किया गया है, जिसमें गीताओंका संग्रह हो रहा है, अबतक जितनी पुस्तकें संग्रहीत हुई हैं, उनमेंसे अधिकांशकी सूची निम्नलिखित है। शेष पुस्तकोंकी सूची, कल्याणमें क्रमशः प्रकाशित होती रहेगी। इस सूचीसे जनताको बहुत लाभ होनेकी आशा है, गीतासम्बन्धी साहित्यका बहुत कुछ परिचय इससे मिल सकेगा। हमारे पास इस सूचीके लिये कई जगहसे मांगें भी आ चुकी हैं। यह सूची हमें श्रीयुत रामनरसिंहजी हरलालका, मन्त्री गीता-जयन्ती-उत्सव तथा गीतापुस्तकालयकी कृपासे प्राप्त हुई है, इसके लिये उन्हें अनेक धन्यवाद। —सम्पादक]

सांकेतिक चिह्न

(१) भ० = भगवद् (२) टी० = टीकाकार (३) स० = सम्पादक (४) ले० = लेखक (५) अ० = अनुवादक (६) प्र० = प्रकाशक (७) मु० = मुद्रक (८) पृ० = पृष्ठ-संख्या (९) वि० = विक्रम संवत् (१०) ई० = ईसवी सन् (११) बं = बंगाब्द (१२) सं० = संस्करण (१३) मू० = मूल्य (१४) खं० = खण्ड (१५) गु० = गुटका (१६) ॐ = अप्राप्य

१-लिपि-देवनागरी ♣ १ भाषा-संस्कृत

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
१	१	श्रीमद्भगवद्गीता (टीका १५, खण्ड ४) टीकाकार १ स्वा० शंकराचार्य—भाष्य (अद्वैत); २ आनन्दगिरी—टीका; ३ स्वा० आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य)-माध्वभाष्य (द्वैत); ४ जयतीर्थ-प्रमेय दीपिका; ५, स्वा० रामानुजाचार्य-भाष्य (विशिष्टाद्वैत); ६ श्रीपुरुषोत्तम-अमृततरंगिणी (शुद्धाद्वैत): ७ नीलकण्ठ—भावप्रदीप या चतुर्धरी टीका; ८ पं० केशव काश्मीरी-तत्त्वप्रकाशिका (द्वैताद्वैत); ९ मधुसूदन-गूढार्थदीपिका; १० शंकरानन्द—तात्पर्यबोधिनी; ११ श्रीधर स्वामी—सुबोधिनी; १२ सदानन्द-भावप्रकाश (श्लोकबद्ध)। १३ धनपतसूरि—भाष्योत्कर्षदीपिका; १४ सूर्यदेव दैन्य—परमार्थप्रपा; १५ राघवेन्द्र—अर्थसंग्रह या गीताविवृति। स०-खं० १ पं० विट्ठल शर्मा; खं०२, ३, ४ पं० जीवाराम शास्त्री। प्र० और मु० गुजराती प्रेस, सासून बिल्डिंग, फोर्ट, बम्बई सं०१ १९०८, १९१२, ९१३, १९१५ ई० मू० २०) पृ० २१५०
२	२	श्रीमद्भगवद्गीता (टीका ८) टी० १ शंकराचार्य; २ आनन्दगिरी; ३ नीलकंठ; ४ मधुसूदन; ५ श्रीधर; ६ धनपति-सूरि; ७ अभिनव गुप्त पादाचार्य-व्याख्या; ८ धर्मदत्त (बच्चा शर्मा) गूढार्थ तत्त्वालोक। स० पं० वासुदेव शर्मा; प्र० मु०—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई स०—१९१२ ई०; मू० ८) पृ० ९४०
३	३	श्रीमद्भगवद्गीता (टी० ७, खं० ३) टी०; १ रामानुजाचार्य; २ वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ—तात्पर्यचन्द्रिका; ३ शंकराचार्य; ४ आनन्दतीर्थ; ५ जयतीर्थ; ६ यामुन मुनि—गीतार्थसंग्रह; ७ निगमान्त महादेशिक—

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
		गीतार्थसंग्रहरक्षा। स०-अ० वि० नरसिंहाचार्य, प्र० मु० आनन्द प्रेस, मद्रास सं०-१९१०, १९११ १९११, ई० मू० ७॥) पृ० ९७५
४	४	श्रीमद्भगवद्गीता-टी० सदानन्द-भावप्रकाश (श्लोकबद्ध) प्र० मु० निर्णय० प्रेस, बम्बई सं०-१८०८ शक मू० ४) पृ० ३९०
५	५	श्रीमद्भगवद्गीता-टी० स्वामी राघवेन्द्र, मु० चित्रशाला प्रेस, पूना सं० १८४९ शक मू० २) पृ० १५०
६	※६	श्रीमद्भगवद्गीता-टी० १ रामानुज-भाष्य; २ शांकर-भाष्य; ३ श्रीधरी टीका (यामुन मुनिकृत गीतार्थ-संग्रह सहित) प्र० मु० गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, जगदीश्वर प्रेस, बंबई सं० १-१९३६ वि० मू० ५) पृ० २३०
७	※७	श्रीमद्भगवद्गीता-समन्वय भाष्य स० उपाध्याय भाई गौर गोविन्दराय (नवविधान मण्डल) मु० मंगलगंज मिशन प्रेस, कलकत्ता, पता प्रचार आश्रम, आमहर्स्ट स्ट्रीट, कलकत्ता। सं० २-१८३६ शक मू० ३) पृ० ५७५
८	※८	श्रीमद्भगवद्गीता टी० १ विप्रराजेन्द्र: (तत्त्वैकदर्शन भाष्य) २ विप्रराजेन्द्र-आत्मज; (भाष्य प्रदीप) मु० राजराजेश्वर प्रेस सं०-१९४७ वि० मू० (अज्ञात) पृ० २२६
९	९	भ० गीता-टी० मधुसूदन सरस्वती, मु० वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं०-१९७३ वि० मू० २॥) पृ० २८०
१०	१०	भ० गीता-टी० शंकराचार्य, मु० आनन्दाश्रम प्रेस, पूना सं० १९०८ ई० मू० २) पृ० ३००
११	११	भ० गीता-टी० १ शांकर-भाष्य; २ आनन्दगिरी-टीका; मु० आनन्दाश्रम प्रेस, पूना सं० २-१९०९ ई० मू० ६।) पृ० ६००
१२	१२	भ० गीता-टी० श्रीहनुमत (पैशाच-भाष्य) मु० आनन्दाश्रम प्रेस, पूना सं०-१९०१ ई० मू० १॥) पृ० १५०
१३	१३	भ० गीता-टी० १ मधुसूदन सरस्वती; २ श्रीधर स्वामी, मु० आनन्दाश्रम प्रेस, पूना; स० २-१९१२ ई० मू० ५।) पृ० ५२५
१४	१४	भ० गीता-टी० १ रामानुज भाष्य; २ वेदान्ताचार्य वेंकटनाथ-तात्पर्यचन्द्रिका; ३ यामुनमुनि-गीतार्थ संग्रह; मु० आनन्दाश्रम प्रेस, पूना स०-१९२३ ई० मू० ७॥) पृ० ७५०
१५	१५	गीतार्थसंग्रह दीपिका-टी० वरवरमुनि, स० प्रतिवादीभयंकर स्वामी श्रीअनन्ताचार्य, श्रीकाञ्ची, मु० सुदर्शन प्रेस, श्रीकाञ्ची, सं० १९०६ ई० मू० २=) पृ० ३२५
१६	१६	भ० गीता-टी० मुनि यामुनाचार्य (गीतार्थ संग्रह, प्रतिपदव्याख्या सह) स० स्वामी श्रीअनन्ताचार्य, श्रीकाञ्ची मु० सुदर्शन प्रेस, श्रीकाञ्ची, सं० १९०१ ई० मू० १॥=) पृ० १८२
१७	१७	गीतार्थ संग्रह-टी० १ यामुनमुनि (गीतार्थ संग्रह) २ वेदान्ताचार्य (गीतार्थ संग्रह रक्षा); स० स्वामी श्री-अनन्ताचार्य, मु० सुदर्शन प्रेस, श्रीकाञ्ची सं०-१९०१ ई० मू० ।=) पृ० ३५

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
१८	१८	भ० गीता-टी० केशव काश्मीरी, प्र० पं० किशोरदास, बंशीवट, वृन्दावन सं० १-१६६५ वि० विना मू० पृ० ३८०
१६	१६	भ० गीता-रामानुजआचार्य-भाष्य, स० पं० महावन शास्त्री, मु० लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं० ३-१६५६ वि० मू० २) पृ० ३०५
२०	२०	भ० गीता-टी० शंकरानन्द, प्र० निर्णय० बंबई, सं० ३ मू० २।।) पृ०
२१	२१	भ० गीता-टी० श्रीधर स्वामी प्र० „ „ मू० १) पृ०
२२	*२२	भ० गीता-टी० पं० गणेश शास्त्री पाठक (बालबोधिनी प्र० के० एम० पाठक, मु० एजुकेशन सोसाइटी स्टीम प्रेस, बम्बई सं० १-१८६३ ई० मू० ३।) पृ० ३५०
२३	२३	भ० गीता-टी० स्वामी वेंकटनाथ (ब्रह्मानन्दगिरिव्याख्या) मु० वाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम् सं० १६१२ ई० मू० ४।) पृ० ६१०.
२४	२४	भ० गीता-टी० पं० गयाप्रसाद शास्त्री 'श्रीहरि' (१ बालबोधिनी संस्कृतटीका, २ गीतार्थचन्द्रिका भाषाटीका) प्र० रामनारायण लाल, प्रयाग सं० १-१६८३ वि० मू० १) पृ० ५००
२५	२५	भ० गीता-(खं० २)टी० हंसयोगी भाष्य प्र० शुद्धधर्ममण्डल, मद्रास सं० १-१६२२, १६२४ ई० मू० ३।।।) पृ० ७५०
२६	२६	भ० गीता-टी० १ महर्षि गोभिल (गीतार्थसंग्रह); २-२६ अध्यायी गीता, प्र० शुद्धधर्ममण्डल, मद्रास सं० २-१६१७ ई० मू० ।) पृ० २१०.
२७	२७	भ० गीता-मूल,पंचरत्न प्र० सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद, सं० १-१६७६ वि० मू० ।।।) पृ० २००
२८	२८	भ० गीता-मूल प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० १-१६८३ वि० मू० ।-) पृ० १००
२६	२६	भ० गीता-प्रतिकानुक्रम ले० पं० केशव शास्त्री, मु० निर्णयसागर प्रेस, बम्बई सं० १६१६ ई० मू० -) पृ० १०
३०	३०	भ० गीता-मूल, पञ्चरत्न, प्र० वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं० १६७६ वि० मू० १) पृ० २२५
३१	*३१	भ० गीता-मूल, मु० चित्रशाला प्रेस, पूना सं० १६१२ई० मू० ।=) पृ० १००
३२	३२	भ० गीता-मूल प्र० मु० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० १-१६८२ वि० मू० ≤) पृ० २१५
३३	३३	भ० गीता-(गुटका, मूल, श्लोक चरण प्रतीक वर्णानुक्रम सहित) प्र० थियोसोफिकल सोसायटी, अडियार, मद्रास, मु० वसन्त प्रेस, मद्रास सं०-१६१८ ई० मू० ।।।) पृ० ३७५
३४	३४	भ० गीता-(द्वादश रत्न, मूल, गु०) मु० लक्ष्मीवेंकटेश्वरप्रेस, बम्बई सं०-१६७८ वि० मू० १) पृ० २२०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
३५	३५	भ० गीता-(मूल, पञ्चरत्न, गु०) प्र० सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद सं०-१९७९ वि० मू० ।=) पृ० १६०.
३६	३६	भ० गीता-(मूल, पञ्चरत्न, गु०) प्र०स० सा०वर्धक कार्या०, अहमदाबाद सं०-१९७१ वि मू० ।)पृ० २००.
३७	३७	भ० गीता-(मूल, पञ्चरत्न, गु०) मु० गुजराती प्रेस, बम्बई सं०-१९२५ ई० मू० ।=) पृ०२००.
३८	३८	भ० गीता-(मूल, गु०) प्र० रामस्वामी शास्त्री एन्ड सन्स, मु० कमाभिलखा प्रेस, मद्रास सं०-१९२६ ई० मू० ।=) पृ० १६५.
३९	३९	भ० गीता (मूल, समश्लोकी, गु०) प्र० के० के० जोशी एन्ड ब्रादर्स, कांदावाडी, बम्बई मू०॥) पृ० १४०.
४०	४०	भ० गीता-(गु०) त्रिकाण्ड संग्रह प्र० स्वामी गोविन्दानन्द मु० निर्णय० प्रेस, बम्बई सं० १-१९२७ ई० मू० ।=) पृ० ३०.
४१	४१	भ० गीता-विष्णु सहस्त्रनाम सहित (मू०, गु०) प्र० मु० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० ५-१९२८ ई० मू० =) पृ० २३०.
४२	४२	भ० गीता-विष्णु सहस्त्रनाम सहित (मूल,गु०)प्र० गीताप्रेस,गोरखपुर सं० २-१९८१ वि०मू० =)॥ पृ० २५०.
४३	४३	भ० गीता-(मूल, गु०) प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० २-१९८० वि० मू० -) पृ० १२६.
४४	४४	गीताडायरी-प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० १-१९२७ ई० मू० ।) पृ० ४००.
४५	४५	गीताडायरी-प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० २-१९२८ ई० मू० ।) पृ० ४००.
४६	४६	गीताडायरी-प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० ३-१९२९ ई० मू० ।) पृ० ४००.
४७	४७	भ० गीता-मूल प्र० ब्रह्मज्ञानसमाज मन्दिर, अडयार, मु० वसन्तप्रेस, अडयार, पता थियोसोफिकल सोसाइटी, मद्रास सं०-१९१४ ई० मू० ।) पृ० १६०
४८	४८	भ० गीता-(मूल, तावीजी) प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० १ १९८४ वि० मू० =) पृ० ३००.
४९	४९	भ० गीता-(,, ,,) प्र० निर्णय०, बम्बई सं० १९२६ ई० मू० ।=) पृ० २१०
५०	५०	भ० गीता-(मूल, तावीजी) प्र० निर्णय०, बम्बई सं०-१९२३ ई० मू० ।) पृ० २१०.
५१	५१	भ० गीता-(मूल, तावीजी, लोकेट) विष्णु सहस्त्रनाम सहित, फोटोसे जर्मनीमें छपी हुई, पता-संस्कृत बुकडिपो, काशी मू० १) पृ० २००.
५२	५२	भ० गीता-(मूल, तावीजी, लोकेट) अष्टरत्न-फोटोसे जर्मनीमें छपी हुई, पता-किताब महल, हार्नबी रोड, बम्बई मू० ३) पृ० ३७५.

१ लिपि–देवनागरी — २ भाषा–हिन्दी

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
५३	*१	श्रीमद्भगवद्गीता–(खण्ड २) टी० पं० उमादत्त त्रिपाठी, नवल-भाष्य या तत्वविवेकामृत-टीका (१. शंकर-भाष्य ; २. आनन्दगिरी टीका ; ३. श्रीधरी टीका सह) मु० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ सं० १–१८८८ ई० मू०) पृ० ८८४
५४	२	श्रीमद्भगवद्गीता–(केवल भाषा, भीष्मपर्व पृ० ५३ से ११७) टी० पं० कालीचरण गौड़, मु० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सं० ४–१९२६ ई० मू० १।।।) पृ० ६५
५५	*३	श्रीमद्भगवद्गीता–टी० पं० जगन्नाथ शुक्ल, मनभावनी भाषा-टीका (१ शङ्कर-भाष्य; २. आनंदगिरी टीका; ३. श्रीधरी टीका सहित) प्र० ग्रन्थकार, मु० ज्ञानरत्नाकर प्रेस, कलकत्ता, सं०–१९२३ ई० मू० १०) पृ० ६८०
५६	४	श्रीमद्भगवद्गीता (भीष्मपर्व, पृ० ८ से १०) ले० सवलसिंह चौहान (पद्य) मु० नवल० प्रेस, लखनऊ, सं० २१–१९२८ ई० मू० ।=) पृ० ३
५७	५	भ० गीता–(भीष्मपर्व पृ० ११३ से २२०) टी० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पता–ग्रन्थकार, स्वाध्याय मण्डल, औंध, सतारा सं० १–१९८३ वि० मू० १) पृ० १०८
५८	६	भ० गीता–(खंड ६) ले० पं० रामनारायण पाठक (पद्य) प्र० और पता–राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली। सं० १–१९२४; २–१९२७; २–१९२८; २–१९२८; २–१९२८: २–१९२६ ई०; मू० १=) पृ० १५०
५९	७	भ० गीता–(पद्य) ले० पं० रामधनी शर्मा व्यास, प्र० ग्रन्थकार, सदीसोपुर (पटना) सं० १–१९६५ वि० मू० ।।) पृ० १३०
६०	८	गीतानुशीलन (खंड ३) टी० स्वामी मायानन्द गीतार्थी (मायानन्दी व्याख्या) प्र० राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर जबलपुर, स० और पता–गणेशचन्द्र प्रामाणिक, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सं० १–१९७७ वि० मू० १।≈) पृ० १००
६१	९	भ० गीता–(खं० १८) टी० स्वामी हंसस्वरूपजी (हंसनादिनी टीका) प्र० और पता–हंसाश्रम, अलवर, सं० १–१९८२ वि० मू०) पृ० ४५००
६२	१०	भ० गीता–टी० स्वामी चिद्घनानन्द (गूढार्थ दीपिका) मु० वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं०–१९७८ वि० मू० ८) पृ० १३५०
६३	११	भ० गीता–(स्वाध्याय संहिता, पृ० ३६६ से ४६२ तक) टी० स्वामी हरिप्रसाद वैदिक मुनि, प्र० महेश औषधालय पापड़ी मंडी, लाहौर, सं० १–१९८४ वि० मू० ४।) पृ० ९७
६४	१२	महाभारत मीमांसा–(१८ वां प्रकरण या श्रीमद्भगवद्गीता विचार, पृ० ५५९ से ६०३) ले० सी० वी० वैद्य, एम० ए०, एल० एल० बी० (मराठी) अ० माधवराव सप्रे, बी० ए० प्र० बालकृष्ण पांडुरंग ठकार, पता–इण्डियन प्रेस प्रयाग सं० १–१९७७ वि० मू० ४) पृ० ४५
६५	१३	भ० गीता–टी० महाराजदीन दीक्षित, प्र०–बैजनाथप्रसाद बुकसेलर, काशी मू० २) पृ० २३६

क्रम सं०	पृ० सं०	विवरण
६६	१४	मदनदर्शन (गीता-निबन्ध पृ० १९, ३०, ८४, १७५ से १८०, २२८ आदिमें) ले० पं० जानकीनाथ मदन, दिल्ली मु० रामनारायण प्रेस मथुरा सं०-२-१९८१ वि० मू० ३) पृ० २४०
६७	१५	भ० गीता-टी० पं० मदनमोहन पाठक, प्र० भार्गव पुस्तकालय, काशी सं०-१९८४ वि० मू० १॥) पृ० २४०
६८	१६	भ० गीता-टी० पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र (मिश्रभाष्य) मु० वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं०-१९८३ वि० मू० ३) पृ० ३९०
६९	१७	भ० गीता-टी० स्वा० आनन्दगिरि (सज्जन-मनोरंजिनी परमानन्द प्रकाशिका टीका) मु० लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं० ४-१९७७ वि० मू० ४) पृ० ४६६
७०	१८	भ० गीता-टी० पं० सुदर्शनाचार्य शास्त्री (तत्त्वार्थसुदर्शिनी) मु० लक्ष्मीवेंक० बम्बई सं०-१९७२ वि० मू० ४) पृ० ३९२
७१	१९	भ० गीता-ले० मुंशी राजधरलाल कायस्थ (राजतरंगिणी टीका) प्र० व्रजवल्लभ हरिप्रसाद, रामवाडी, बम्बई सं०-१९७५ वि० मू० १।) पृ० २००
७२	२०	भ० गीता-टी० वैष्णव हरिदासजी (वैराग्यप्रकाशिका) मु० लक्ष्मीवेंक० बम्बई सं०-१९८० वि० मू० १) पृ० २००
७३	२१	भ० गीता-टी० श्रीआनन्दराम (व्रजभाषा टीका) मु० ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई सं० ८-१९४८ वि० मू० १॥) पृ० २२५
७४	२२	भ० गीता-टी० पं० रघुनाथप्रसाद (अमृततरंगिणी) मु० वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं०-१९८१ वि० मू० १॥) पृ० २४०
७५	२३	भ० गीता-टी० पं० सत्याचरण शास्त्री और पं० श्रीराम शर्मा (विचारदर्पण सहित) मु० ज्ञान० प्रेस, बम्बई सं० २-१९७९ वि० मू० १॥) पृ० ३८२
७६	२४	भ० गीता-टी० पं० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी मु० नवल० प्रेस, लखनऊ सं० १-१९११ ई० मू० ॥।=) पृ० ११७
७७	२५	भ० गीता-ले० पं० माधवराम अवस्थी (पद्य) प्र० पं० रामचन्द्र अवस्थी, रामकृष्ण औषधालय, कानपुर सं० १-१९८४ वि० मू० १॥) पृ० १५०
७८	२६	भ० गीता-विमल विलास (सं० ४) ले० श्रीयुगलकिशोर 'विमल' बी० ए०, एल एल० बी०, प्र० सनातन धर्म सभा, दिल्ली सं० १-१९७९ वि० मू० २।) पृ० ३१५
७९	*२७	भ० गीता-(पद्य) टी० ठाकुर कुंवर बहादुर सिंह (ब्रह्मानन्दप्रकाशिका) मु० राजपूत एंग्लो ओरियण्टल प्रेस, आगरा पता-ठाकुर शिवबरणसिंह, उबनी पीपरिया (सी० पी०) सं० १-१८९९ ई० मू०) पृ० १२५
८०	*२८	भ० गीता-सिद्धान्त टी० श्रीदुर्जनसिंह और पता प्र० ग्रन्थकार, आनवी, अलवर सं० १-१९८० वि० मू० १।) पृ० २१०

क्रम सं०	पृ० सं०	विवरण
८१	२९	गीता हमें क्या सिखलाती है ? ले० पं० राजाराम शास्त्री पता-आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर सं० १-१९१० ई० मू० ।) पृ० ४८
८२	३०	संजयकी दिव्यदृष्टि (निबन्ध) ले० श्रीधर रामचन्द्र देशाई (मराठी) अ० अनन्त रामचन्द्र जवखेडेकर, प्र० विज्ञाननौका कार्यालय, ग्वालियर, सं०-१९८० वि० मू० ।) पृ० ४०
८३	३१	श्रीकृष्णका यथार्थ स्वरूप (निबन्ध) ले० श्रीधर रामचन्द्र देशाई, प्र० विज्ञान० कार्या० ग्वालियर सं०-१९८१ वि० मू० ।) पृ० ५०
८४	३२	भ० गीताके प्रधान विषयोंकी अनुक्रमणिका (प्रत्येक अध्यायके प्रधान विषय) ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका प्र० मु० गीता प्रेस, गोरखपुर सं० १-मू०)। पृ० ८
८५	३३	भ० गीताका सूक्ष्मविषय (प्रत्येक श्लोकका भावार्थ) ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका, प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० १ मू० -)॥ पृ० ३२
८६	३४	त्यागसे भगवत्-प्राप्ति (गीतोक्त त्याग पर स्वतन्त्र निबन्ध) ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका, प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर सं०-१९८० वि० मू० -) पृ० १४
८७	३५	भ० गीता-टी० पं० गौरीशङ्कर द्विवेदी (पद्य) प्र० परमानन्द मिश्र, प्रेम कुटीर, झांसी सं० १-१९७८ वि० पृ० ६६ मू० ॥=)
८८	३६	भ० गीता-ले० श्रीमुन्नीलाल कुलश्रेष्ठ (पद्य) प्र० पं० रामचन्द्र वैद्य, सुधावर्धक औषधालय, अलीगढ़ सं० ३ १९७९ वि० मू० ॥।) पृ० ७०
८९	३७	भ० गीता-ले० पं० प्रभुदयाल शर्मा (पद्य) प्र० मु० स्वा० छुन्नलाल, स्वामी प्रेस, मेरठ सं० १९२४ ई० मू० ॥) पृ० १००
९०	३८	भ० गीता-ले० गदाधर सिंह, पता इण्डियन प्रेस, प्रयाग सं० १-१८९६ ई० मू० ।-) पृ० ७५
९१	३९	भ० गीता-टी० मुन्शी हरिवंशलाल, प्र० नवल० प्रेस, लखनऊ सं० १२-१९२४ ई० मू० ॥) पृ० १६८
९२	४०	भ० गीता-टी० पं० हरिदास वैद्य, प्र० हरिदास कम्पनी बड़ा बाजार कलकत्ता सं० ४-१९२३ ई० मू० ३) पृ० ४६६
९३	४१	भ० गी०-टी० स्वा० शिवाचार्य (भाग पहिला अ० २ श्लोक १० तक) प्र० स्वामी विवेकानन्द स० भारत धर्म महामण्डल, काशी सं० १-१९१८ ई० मू० १) पृ० १२६
[illegible]	४२	भ० गीता-टी० स्वा० तुलसीराम पं० स्वामी प्रेस, मेरठ सं० २-१९१६ ई० मू० ॥=) पृ० ६३१
	४३	भ० गीता-टी० पं० आर्यमुनि (योगप्रदीप आर्य भाष्य पं० आर्य बुकडिपो लाहोर सं० १-१९७६ वि० मू० २॥) पृ० ६००

क्रम सं०	पृ० सं०	विवरण
९६	४४	भ० गीता—टी० व्रजरत्न भट्टाचार्य-रत्नप्रभा भाषाटीका (श्रीधरी टीका सहित) प्र० भारतहितैषी पुस्तकालय, गिरगांव, बम्बई सं० १-१९७० वि० मू० १॥) पृ० ४२५
९७	४५	भ० गीता-रहस्य ले० लोक० बाल गङ्गाधर तिलक (गीता-रहस्य-संजीवनी टीका) (मराठी) अ० पं० माधवराव सप्रे, प्र० तिलक बन्धु, गायकवाड़ बाड़ा, पूना सं० १-१९७३ वि० मू० ३) पृ० ९००
९८	४६	भ० गीता—टी० पं० रामप्रसाद एम० ए०, एफ० टी० एस०, मु० निर्णयसागर प्रेस, बम्बई सं०-१८२६ शक मू० ५) पृ० ३००
९९	४७	भ० गीता—टी० बाबू जालिमसिंह प्र० नवलकि० प्रेस, लखनऊ सं० ३-१९२२ ई० मू० ३॥) पृ० ८५०
१००	४८	भ० गीता—(मूल, अन्वय, पदच्छेद, टीका, टिप्पणी, अनुक्रमणिका आदि सहित) पृ० ५००, टी० श्रीजयदयालजी गोयन्दका (साधारण भाषाटीका) प्र० मु० गीता प्रेस, गोरखपुर सं० ४-१९८३ वि० मू० १।) राज सं० २) नवीन ।॥=) गुटका =)॥ केवल भाषा ।) केवल द्वितीय अध्याय)।
१०१	४९	भ० गीता-ज्ञानेश्वरी टी० ज्ञानेश्वरजी (भावार्थदीपिका मराठी) अ० पं० रघुनाथ माधव भगाड़ेजी बी० ए० प्र० इण्डियन प्रेस, प्रयाग। संशोधित सं०-१९२४ ई० मू० ४) पृ० ७२०
१०२	५०	भ० गीता-ज्ञानेश्वरी, अ० स्वा० मायानन्द चैतन्य, प्र० इन्दिरा प्रेस, पूना सं० १-१९२० ई० मू० ४) पृ० ५९०
१०३	५१	भ० गीता—टी० पं० पीताम्बरजी पुरुषोत्तमजी—तत्त्वार्थबोधिनी, प्र० पं० दामोदर देव कृष्ण, गढसीसा, कच्छ सं० १९६१ वि० मू० ४) पृ० ९६०
१०४	५२	भ० गीता—टी० श्रीअनन्तरामजी (पदार्थ बोधिनी व्रजभाषाटीका) प्र० पं० कल्याणदासजी, पानीघाट, वृन्दावन सं० १-१९६१ वि० बिना मूल्य पृ० ३४०
१०५	५३	भ० गीता—(सं०२) टी० स्वामी नारायण—भगवदाशयार्थदीपिका, प्र० श्रीरामतीर्थ पब्लीकेशन लीग, लखनऊ सं०-१-१९७४, १९८२ वि० मू० ६) पृ० १३४०
१०६	५४	भ० गीता—टी० बाबू राधाचरण बी० ए०, बी० एस० सी०, एल एल० बी०, प्र० मु० यमुना प्रिंटिंग वर्क्स, मथुरा, सं० ३-१९२८ ई० मू० १॥) पृ० ५५०
१०७	५५	सरल गीता—टी० पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, पता-हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, बड़ाबजार कलकत्ता सं० ३-१९८० वि० मू० १॥) पृ० ३५०
१०८	५६	भ० गीता—टी० पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर, प्र० साहित्य-सम्वर्धिनी समिति, कलकत्ता, पता-हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता सं० १-१९७१ वि० मू० [illegible]) पृ० २१५
१०९	५७	भ० गीता—केवल भाषा, ले० स्वा० किशोरदास कृष्णदास, प्र० मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर सं० २-१९८३ वि० मू० १॥) पृ० ४६०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
११०	५८	भ० गीता केवल भाषा ले० पं० परशुरामजी, प्र० रामकृष्ण बुकसेलर, लाहौर सं० १–१९८० वि० मू० १) पृ० ३५०
१११	५९	भ० गीता–केवल भाषा ले० श्रीजयतीराज प्र० ग्रन्थकार पता–भरथदास फोटोग्राफर, लंगेमंडी, लाहौर सं० १–१९८२ वि० मू० १॥) पृ० ४१४
११२	६०	भ० गीता–केवल भाषा ले० स्वा० सत्यानन्द प्र० आर्य पुस्तकालय, लाहौर सं०–१९८४ वि० मू० १) पृ० ४१४
११३	६१	भ० गीता–केवल भाषा (दोहावली सहित) प्र० लाजपतराय पृथ्वीराज साहनी, लाहौर मू० २) पृ० ४१०
११४	६२	भ० गीता–(खं० २) टी० स्वा० प्रणवानन्द (योगशास्त्रीय आध्यात्मिक टीका) प्र० प्रणवाश्रम, काशी सं० १–१९१४, १९१५ ई० मू० ६) पृ० ११२५
११५	६३	गीता–रहस्य (मूल सहित) ले० नीलकण्ठ मजूमदार एम० ए० (बंगला) अ० श्रीकृष्णानन्द गुप्त, प्र० साहित्य-सदन, चिरगांव (झाँसी) सं० १–१९८५ वि० मू० २॥) पृ० ४००
११६	६४	गीता–दर्शन ले० लाला कन्नोमल एम० ए०, प्र० रामलाल वर्मन कं०, ३६७ अपर चितपुर रोड, कलकत्ता सं० २–१९८३ वि० मू० २॥) पृ० ४५०
११७	६५	भ० गीता–टी० एक गीता प्रेमी (पदच्छेद, शब्दार्थ सहित) प्र० मु० ओंकार प्रेस, प्रयाग सं० १–१९८२ वि० मू० १) पृ० ४२०
११८	६६	भ० गीता–टी० पं० राजाराम शास्त्री, प्र० आर्षग्रन्थावली, लाहौर सं० ३–१९८० वि० मू० २।) पृ० ४४०
११९	६७	भ० गीता–संस्कृत और भाषाटीका सहित प्र० भगवद्भक्ति आश्रम, रामपुरा, रेवाड़ी, टी० पं० प्रभाकर शास्त्री सं० १–१९८३ वि० मू० ॥=) पृ० ४२५
१२०	६८	गीतार्थचन्द्रिका (खं० २) टी० स्वा० दयानन्द (सरलार्थ और चन्द्रिका टीका) प्र० भारतधर्म महामण्डल, काशी सं० २–१९२७ १–१९२६ । ई० मू० २॥) पृ० ५८७
१२१	६९	भ० गीता–सिद्धान्त टी० स्वा० दर्शनानन्द सरस्वती, अ० पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित प्र० आर्य-ग्रन्थ-रत्नाकर, बरेली सं० १–१९८१ वि० मू० १) पृ० २२८
१२२	७०	गीता–विमर्श (मूल सहित) ले० पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ पता–वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद सं० १–१९८१ वि० मू० १॥) पृ० ३५०
१२३	७१	सुबोध गीता–टी० पं० गणपत जानकीराम दुबे बी० ए०, प्र० रामदयाल अग्रवाला, कटरा, प्रयाग सं० १–१९१६ ई० मू० ।=) पृ० १३३
१२४	७२	भ० गीता–टी० पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, प्र० वर्मन प्रेस, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता सं० २–१९८२ वि० मू० =) पृ० १२३
१२५	७३	गीता–रत्नमाला (गद्य और पद्य-अनुवाद) टी० पं० वासुदेव कवि, प्र० हि० पु० एजेन्सी, कलकत्ता सं० १–१९८१ वि० मू० १॥) पृ० ६००
१२६	७४	भ० गीता–(पद्य) ले० पं० सूर्यदीन शुक्ल–मनोरमा भाषाटीका (भारतसार सह) प्र० नवलकि० प्रेस, लखनऊ सं० १–१९१७ ई० मू० १≶) पृ० २६०
१२७	७५	भगवद्गीतोपनिषद् (पद्य) ले० स्वा० मायानन्द चैतन्य, प्र० विज्ञान नौका कार्यालय, ग्वालियर सं० १–१९८० वि० मू० १=) पृ० १४०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
१२८	७६	भ० गीता (पद्य) ले० पं० रघुनन्दनप्रसाद शुक्ल, प्र० गोविन्दप्रसाद शुक्ल, बुलानाला काशी सं० १-१९७६ वि० मू० ॥) पृ० १००
१२९	७७	भ० गीता (पद्य) ले० पं० हरिवल्लभजी प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ सं० २--१९२१ ई० ।) पृ० ८५
१३०	७८	गीता-श्रीकृष्ण-उपदेश (पद्य) ले० पं० जगदीशनारायण तिवारी, पता-हि० पु० एजेन्सी, कलकत्ता सं० १-१९८१ वि० मू० ॥) पृ० १२०
१३१	७९	अच्युतानन्द गीता-(पद्य) ले० स्वा० अच्युतानन्द, प्र० अम्बकराव करवल मालगुजार, धमतरी, रायपुर, सं० १-१९८५ वि० मू० ॥) पृ० ११२
१३२	८०	भजन गीता (पद्य) ले० बाबू हरदत्तराय सिंघानिया, रामगढ़ प्र० ग्रन्थकार सं० १-१९८१ वि० मू० ।≈) पृ० १६०
१३३	८१	गीता-सतसई (दोहा) ले० पं० सुदर्शनाचार्य शास्त्री, सं० १९६२ वि० मू० ।) पृ० ८५
१३४	८२	गीतासार (पद्य) ले० पं० अनन्तराम योगाचार्य, प्र० श्रीकृष्ण भक्ति सत्सङ्ग, कसूर (पंजाब) सं० २ १९८१ वि० मू० ।-) पृ० ५५
१३५	८३	भ० गीतासार (पद्य) ले० पं० घासीराम चतुर्वेदी, प्र० गोपाललाल मथुरावाला मु० वेंक० प्रेस, बम्बई पता-गोपाललाल मुरलीधर, इंदोर सं० १-१९७७ वि० मू० १) पृ० ६०
१३६	८४	भ० गीता भावार्थ (पद्य—रंगत लावनी या ख्याल) ले० पं० रामेश्वर विप्र, प्र० वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई सं०—१९८१ वि० मू० १।) पृ० २७५
१३७	८५	श्रीकृष्ण-विज्ञान (पद्य) ले० पं० रामप्रताप पुरोहित, प्र० पारीक हितकारिणी सभा, जयपुर सं० १-१९७७ वि० मू० १।।।) पृ० १७८
१३८	८६	भ० गीता (वेदानुगारत्नसंग्रह) टी० पं० भूमित्र शर्मा, प्र० पं० शिवदत्त शास्त्री, भारतेन्दु पुस्तकालय, मुरादाबाद सं०२-१९८२ वि० मू० ।) पृ० ११५
१३९	८७	गीतामृत नाटक (पद्य) ले० पं० रामेश्वर मिश्र, प्र० मदनलाल गनेड़ीवाला, १५ हंसपोकरिया, कलकत्ता सं० १--१९८० वि० मू० १) पृ० १६६
१४०	८८	गीतामें ईश्वरवाद, ले० हीरेन्द्रनाथ दत्त एम. ए. बी. एल. (बङ्गला) अ० पं० उमादत्त शर्मा, प्र० इंडियन प्रेस, प्रयाग सं० १-१९१९ ई० मू० १।।।) पृ० ४१०.
१४१	८९	गीताकी भूमिका ले० श्रीअरविन्द घोष (अंग्रेजी) अ० पं० देवनारायण द्विवेदी, पता--हि० पु० एजेन्सी, कलकत्ता सं १-१९७९ वि० मू० १) पृ० १०५
१४२	९०	आनन्दामृतवर्षिणी (गीता-निबन्ध) ले० स्वा० आनन्दगिरी स० स्वा० युगलानन्द मु० लक्ष्मीवेंक० प्रेस, बम्बई सं--१९६५ वि० मू० ।।।≈) पृ० २००
१४३	९१	धर्म क्या है ? (निबन्ध) ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर सं० १-१९८४ वि० मू०)। पृ० १३
१४४	९२	गीतोक्त सांख्य और निष्काम कर्मयोग (निबन्ध) ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर सं० १-१९८४ वि० मू० -)॥ पृ० ४०
१४५	९३	हिन्दी गीता-रहस्य-सार (निबन्ध) ले० लो० तिलक (मराठी) स० पं० झाबरमल्ल शर्मा, पता- हि० पु० एजेन्सी, कलकत्ता सं० १-१९७८ वि० मू० ।-) पृ० ६०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
१४६	९४	रणभूमिमें उपदेश वा गीतासार, ले० रामभरोस राव, प्र० मातादीन शुक्ल पता-विद्यार्थी पुस्तका०, तिलक भूमि, जबलपुर (सी० पी०) सं० १–१९७८ वि० मू० ।) पृ० ३५
१४७	९५	श्रीकृष्णामृत–रसायन (अनुगीताके भावार्थ सहित) ले० सीताराम गुप्त (भाषानुवाद) प्र० श्रीराम गुप्त पता– ग्रन्थकार, कांधला, मुजफ्फरनगर (यू० पी०) सं० १–१९८५ वि० बिना मूल्य पृ० १८८
१४८	९६	भ० गीतार्थ संग्रह (केवल भाषा) स० चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा मु०नेशनल प्रेस, प्रयाग सं० १–१९१२ ई० मू० ।) पृ १२०
१४९	९७	भ० गीता-भाषा ले० पं० प्यारेलाल गोस्वामी, प्र० भार्गव पुस्तकालय, काशी सं० १-१९७८ वि० मू० १=) पृ० १२०
१५०	९८	अष्टादश श्लोकी गीता टी० पं० महावन शास्त्री, मु० लक्ष्मीवेंक० प्रेस, बम्बई सं० –१८९३ ई० मू० –) पृ० १०
१५१	९९	भ० गीता टी०–रावत गुमानसिंहजी (अमृतरससार जीवनमुक्तिदायिनी) मु० यज्ञेश्वर प्रेस, काशी सं०–१९०३ ई० मू० (अज्ञात) पृ० ३२
१५२	१००	गीता–स्तव-पंचकम् (माहात्म्य) ले० पं० कृष्णदत्त शर्मा, प्र० बाबू रामप्रसाद बंका, मलसीसर सं० १–१९२८ ई० बिना मूल्य पृ० १७
१५३	१०१	प्राचीन भगवद्गीता (७० श्लोकी) ले० स्वामी मंगलानन्द पुरी प्र० गोविन्दराम हासानन्द, २० कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता सं० २–१९८५ वि० मू० ।–) पृ० ६०
१५४	१०२	गीता और आदि-संकल्प, ले० प्र० चौधरी रघुनन्दनप्रसाद सिंह, महम्मदपुर-सुस्ता (मुजफ्फरपुर) मु० इंडियन प्रेस, प्रयाग सं० १–१९८५ वि० मू० =) पृ० ४५
१५५	१०३	गीता वचनामृत ले० विष्णु मित्र आर्योपदेशक, प्र० वैदिक पुस्तका०, लाहौर सं० १-१९८२ वि० मू० ≈) पृ० ५०
१५६	१०४	भ० गीता तत्वविचार ले० सत्येश स्वामी, प्र० ग्रन्थकार, सत्यविचार कुटी, काशी पता–चतुरसिंह, करजालीकी हवेली, उदयपुर मू० =) पृ० १३
१५७	१०५	आर्यकुमार गीता (स्वाध्याय शतक) ले० ईश्वरदत्त भिषगाचार्य, गुरुकुल, कांगड़ी सं० १–१९८१ वि० मू० ।) पृ० ४५
१५८	१०६	भ० गीता (अ० द्वितीय) टी० बलभद्रप्रसाद वैश्य, नं० ३ । ५ टुरनर रोड, काशीपुर, कलकत्ता सं० १-१९२७ ई० मू० =)॥ पृ० ५०
१५९	१०७	भ० गीता (गद्य संवाद) ले० लक्ष्मण नारायण साठे एम० ए० (मराठी) अ० पं० काशीनाथ नारायण त्रिवेदी मु० सस्ता साहित्य प्रेस, अजमेर सं० १–१९८५ वि० मू० =) पृ० ३०
१६०	१०८	भ० गीता (अ० १२वां) टी० भगवानप्रसादजी 'रूपकला' मु० खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर सं० २–१९८५ वि० मू० =) पृ० २५
१६१	१०९	सप्तश्लोकी गीता टी० लक्ष्मणाचार्य, मु० लक्ष्मीवेंक० प्रेस, बम्बई सं०–१९७२ वि० मू० –) पृ० १६
१६२	११०	सप्तश्लोकी गीता टी० पं० गंगाप्रसादजी अग्निहोत्री प्र० पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, जबलपुर सं० १- १९८३ वि० मू० –) पृ० २०
१६३	१११	भ० गीता (अ० द्वितीय) प्र० मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी, कलकत्ता सं० १–१९८२ वि० बिना मूल्य पृ० २५

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
१६४	११२	गीतामृत–ले० भाई परमानन्द एम. ए. प्र० आर्य पुस्तका०, लाहौर सं० १–१९७८ वि० मू० १।।।) पृ० १५०
१६५	११३	भ० गीता-टी० पं० रामस्वरूप शर्मा, प्र० सनातन धर्म प्रेस, मुरादाबाद सं० १ १९७४ वि० मू० पृ० १००
१६६	११४	बालगीता–(केवल भाषा) ले० रामजीलाल शर्मा प्र० इंडियन प्रेस, प्रयाग सं०–संशोधित–१९२१ ई० मू० ।।।) पृ० १७०
१६७	११५	हिन्दी गीता–टी० पं० रामजीलाल शर्मा, प्र० हिन्दी प्रेस, प्रयाग सं० १-१९७९ वि० मू० ।।।) पृ० २८०.
१६८	११६	भ० गीता (गुटका, पंचरत्न) टी० पं० रघुनाथप्रसाद, मु० वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं०–१९७९ वि० मू० १।=) पृ० ७२०.
१६९	११७	भ० गीता–(गु०) टी० पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र–गीतार्थप्रवेशिका मु० निर्णय० प्रेस, बम्बई सं० ४–१९८० वि० मू० १=) पृ० ४२०
१७०	११८	भ० गीता–(गु०) टी० पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी–सुबोध कौमुदी, मु० निर्णय० प्रेस बम्बई सं०–१९७९ वि० मू० १) पृ० ३००
१७१	११९	भ० गीता–(गु०) टी० लाला निहालचन्द रायबहादुर मुजफ्फरनगर मु० निर्णय० प्रेस, बम्बई सं० ३–१९७९ वि० मू० १) पृ० २२२
१७२	१२०	भ० गीता–(गु०) टी० सुबोध भाषा टीका प्र० हरिप्रसाद भजवल्लभ, बम्बई सं० १९७५ वि० मू० १) पृ० ३५०
१७३	१२१	भ० गीता-(गु०) स० भिक्षु अखण्डानन्द. प्र० सस्तुं साहित्य वर्धक कार्या०. अहमदाबाद सं० १–१९८० वि० मू० ॐ) पृ० २४०
१७४	१२२	भ० गीता-(गु०) टी० पं० महाराजदीन दीक्षित, प्र० बैजनाथप्रसाद बुकसेलर, काशी मू० ।।) पृ० ३८०
१७५	१२३	भ० गीता–(गु०) टी० पं० मदनमोहन पाठक, प्र० भार्गव पुस्तका० काशी सं०–१९८४ वि० मू० ।।) पृ० २९०
१७६	१२४	भ० गीता-(गु०) टी० श्रीकृष्णलाल, मथुरा, पता–संस्कृत बुक डिपो काशी मू० ।।।) पृ० ४००
१७७	१२५	भ० गीता–(गु०) ले० लो० बाल गंगाधर तिलक (मराठी) अ० पं० माधवराव सप्रे, प्र० तिलक बन्धु, गायकवाड़ वाड़ा, पूना सं० १–१९१६ ई० मू० ।।।) पृ० ३७५
१७८	१२६	भ० गीता–(गु०) टी० पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी (ज्ञानदीपिका) प्र० संस्कृत पुस्तका० लाहौर मू० ।।।) पृ० २९०
१७९	१२७	भ० गीता–(गु०) टी० पं० राजाराम शास्त्री, प्र० आर्षग्रन्थावली लाहौर सं०–१९८० वि० मू० ।।।) पृ० २८५
१८०	१२८	भ० गीता–(गु०) टी० पं० देशराज, प्र० सरस्वती आश्रम, लाहौर सं० ३ मू० ।।) पृ० २७५
१८१	१२९	भ० गीता–(गु०) टी० पं० कुन्दनलाल स्वामी प्र० स्वामी प्रेस, मेरठ सं० १–१९८१ वि० मू० ।।) पृ० २५०
१८२	१३०	भ० गीता–(गु०) टी० पं० नृसिंहदेव शास्त्री–सारार्थदीपिका, प्र० आर्य बुकडिपो, लाहौर सं० १–मू० ।।।) पृ० ३३०
१८३	१३१	भ० गीता-(गु० प्रथम भाग) प्र० भगवद्भक्ति आश्रम, रामपुरा, रेवाड़ी सं० १–१९८४ वि० मू० ।–) पृ० ३४०
१८४	१३२	भ० गीता-(गु०) टी० पं० गयाप्रसाद शास्त्री साहित्याचार्य 'श्रीहरि' (गीतार्थ-चन्द्रिका), प्र० रामनारायणलाल, प्रयाग सं० १–१९८३ वि० मू० ।) पृ० ४७५
१८५	१३३	भ० गीता–(गु०) टी० पं० हरिराम शर्मा प्र० बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग सं० १–१९८० वि० मू० ।।।=) पृ० ३७५
१८६	१३४	भ० गीता–(गु०) टी० श्रीगुमानसिंहजी (योगभानु-प्रकाशिका) पता–चतुरसिंह, करजालीकी हवेली, उदयपुर सं० १–१९५४ वि० मू०) पृ० ६७५

क्रमसं०	पु० सं०	विवरण
१८७	१३५	गजलगीता (पद्य, गु०) प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर सं० २--१९८३ वि० मू० आधापैसा पृ० ८
१८८	१३६	भ० गीता (गु०) टी० मुन्शी हरवंशलालजी मु० नवल० प्रेस, लखनऊ सं० १--१९२८ ई० मू० ॥=) पृ० २००
१८९	१३७	भ० गीता (गु०) प्र० हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता सं० १८ १९८४ वि० मू० =) पृ० २७५
१९०	१३८	भ० गीता (गु०) प्र० विश्वमित्र कार्यालय, कलकत्ता सं०—१९८३ वि० मू० =) पृ० २८५
१९१	१३९	भ० गीता (गु०) टी० पं० सत्याचरणजी शास्त्री प्र० विश्व० कार्या० कलकत्ता सं० २--१९७६ वि० मू० =) पृ० २६७
१९२	१४०	गीता-हृदय (गु० पद्य) ले० स्वा० मायानन्द चैतन्य, पता--विज्ञान नौका कार्या० ग्वालियर सं०—१९८३ वि० मू० –) पृ० ८
१९३	१४१	दिव्यदृष्टि अर्थात् विश्वरूपदर्शन-योग (गु०, पद्य) ले० स्वा० मायानन्द चैतन्य पता--विज्ञान०, ग्वालियर सं० ५--१९७९ वि० मू० १) पृ० २००
१९४	१४२	भ० गीता (गु०, पद्य) ले० श्रीतुलसीदास (दोहाबद्ध) प्र० राजाराम तुकाराम, बम्बई सं० १९७६ वि० मू० ।=) पृ० १८५
१९५	१४३	भ० गीता (गु०, पद्य) स० कानजी कालीदास जोशी (समश्लोकी) प्र० ग्रन्थकार, कांदावाडी, बम्बई सं० १–१९८३ वि० मू० ॥) पृ० ३२०

१ लिपि-देवनागरी ☙ ३ भाषा—मराठी

क्रमसं०	पु० सं०	विवरण
१९६	✽१	श्रीमद्भगवद्गीता-टी० पं० रघुनाथ शास्त्री—भाषाविवृत्ति टीका, मु० बालकृष्ण रामचन्द्र शास्त्रीका प्रेस, पूना सं० १-१७८२ शक मू० ७॥) पृ० २७५
१९७	✽२	भ० गीता—टी० पं० रघुनाथ शास्त्री भाषाविवृत्ति, मु० वृत्त प्रसारक प्रेस, पूना सं० २—१८०६ शक मू० ४) पृ० ४८८
१९८	३	भगवद्गीता चित्सदानन्द लहरी (पद्य) टी० रंगनाथ स्वामी (सच्चिदानन्द लहरी) मु० हरिवर्दा प्रेस, बम्बई सं० १-१८९१ मू० २॥) पृ० ४००
१९९	४	भ० गीता—ज्ञानेश्वरी टी० १, वामन पंडित (समश्लोकी); २, मोरोपन्त (आर्या); ३, बालकृष्ण अनन्त भिड़े बी० ए० (पद्यानुवाद) प्र० केशव भीकाजी ढवले, गिरगांव, बम्बई सं०-१८५० शक मू० ३) पृ० ८६०
२००	५	भ० गीता—ज्ञानेश्वरी (ओवी, भावार्थ-दीपिका सुबोधिनी छाया सहित) टी० गोविन्द रामचन्द्र मोघे (सुबोधिनी) प्र० निर्णय० प्रेस, बम्बई सं० २-१८४८ शक मू० ५) पृ० ४२५
२०१	६	भ० गीता—ज्ञानेश्वरी टी० वेंकट स्वामी (मराठी अनुवाद) प्र० ग्रन्थकार, पूना सं० १ १८४६ शक मू० ५) पृ० ६५०
२०२	७	भ० गीता—ज्ञानेश्वरी टी० श्रीनाना महाराज जोशी साखरे प्र० मु० इन्दिरा प्रेस, पूना सं० ५—१८५० शक मू० ५) पृ० ६००
२०३	✽८	गीतार्थ-बोधिनी टी० १ पं० वामन—(समश्लोकी); २ मोरोपंत (आर्या); ३, तुलसीदास (दोहरा); ४ मुक्तेश्वर (ओवी); ५ तुकाराम (अभंग) प्र० मु० गणपत कृष्णजी प्रेस, बम्बई सं०—१७९२ शक मू० ४) पृ० ६७१

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
२०४	ॐ९	भ० गीता-(पद्य) टी० १, जीवन्मुक्त स्वामी कृत पद्यानुवाद; २, काशीनाथ स्वामी कृत जीवन्मुक्ति टीका मु० कर्णाटक प्रेस, बम्बई सं० १-१८०६ शक मू० २॥) पृ० ३७२
२०५	१०	भ० गीता-टी० विष्णु बोवा ब्रह्मचारी-सेतुबन्धिनी गद्य टीका, प्र० रामचन्द्र पांडुरंग राउत, मु० गणपत० प्रेस, बम्बई पता-नारायण चिन्तामण आठल्ये, रामवाड़ी, बम्बई सं० १-१८११ शक मू० ३) पृ० ४१०
२०६	११	पदबोधिनी गीता टी० (पदबोधिनी मराठी टीका) प्र० गंगाधर गोपाल पतकी और त्र्यम्बक गोविन्द किराणे मु० गणपत० प्रेस, बम्बई सं०-१७६६ शक मू० २॥) पृ० २१०
२०७	ॐ१२	भ० गीता-(खं० ४) टी० श्रीचिन्तामणि गंगाधर भानु (१ शांकर-भाष्य, २ भाष्यानुवाद, ३ रामानुज, ४ मधुसूदन, ५ श्रीधर, ६ शंकरानन्द, ७ धनपति सूरि, ८ नीलकंठ, ९ बलदेव, १० ज्ञानेश्वर आदि कई टीकाओंके भावानुवाद सहित) स० ग्रन्थकार, प्र० भट्ट आणि मण्डळी, पूना मु० यशवन्त प्रेस, पूना सं० २-१९०९, १९०९, १९१०, १९१० ई० मू० १२) पृ० १८००
२०८	ॐ१३	भ० गीता टी० १ विद्याधिराज भट्ट उपाध्याय (मध्व मतानुवर्तिनी संस्कृत व्याख्या); २ इन्दिराकान्त तीर्थ-मराठी भाषानुवाद, स० संकीर्णाचार्य पांग्रीकर, प्र० मु० दत्तात्रेय गोविन्द वाडेकर, धनंजय प्रेस, खानापुर (बेलगांव) सं० १-१९१५ ई० मू० १) पृ० ४००
२०९	ॐ१४	भ० गीता-टी० १. शंकर-भाष्य, २ भाष्यानुवाद, सं० काशीनाथ वामन लेले मु० कृष्ण प्रेस, वाई सं० २-१८३५ शक मू० ८) पृ० ११००.
२१०	१५	भ० गीता-ज्ञानेश्वरी टी० ज्ञानेश्वरजी (ओवी, भावार्थदीपिका टिप्पनी सहित) स० अप्पा मोरेश्वर कुवळे प्र० निर्णय० प्रेस, बम्बई सं० ६-१८४५ शक मू० २॥) पृ० ५५०.
२११	१६	भ० गीता-रहस्य ले० लो० तिलक (गीता रहस्य-संजीवनी टीका) प्र० तिलक बन्धु, गायकवाड़ वाडा, पूना सं० ४-१८४५ शक मू० ५) पृ० ९००.
२१२	१७	भ० गीता-भाष्यार्थ रहस्य-परीक्षण (खं० २) टी० पं० विष्णु वामन वापट शास्त्री (१. शांकर-भाष्य, २ भाष्यानुवाद) प्र० ग्रन्थकार, पूना सं० १-१८४३ शक मू० १०) पृ० १२००
२१३	१८	सुबोध भगवद्गीता-टी० पं० विष्णु वामन वापट शास्त्री, प्र० ग्रन्थकार, पूना सं० १-१८४४ शक मू० २) पृ० ३७५
२१४	१९	यथार्थदीपिका गीता-(खं० ४) टी० वामन पंडित (ओवी, यथार्थदीपिका पद्यानुवाद) प्र० निर्णय० प्रेस, बम्बई सं० २-१९०७, १९११, १९१७ ई० मू० ८) पृ० १३००
२१५	२०	भ० गीता-(स्फुट काव्य पृ० १४ से ७९ तक) ले० कवि मुक्तेश्वर (ओवी पद्यानुवाद) प्र० मु० निर्णय० बम्बई सं० १-१९०६ ई० मू० २।) पृ० ६६
२१६	२१	भ० गीता-(कविता-संग्रह पृ० १६ से १२३ तक) ले० कवि उद्धव चिद्घन (सवाया पद्यानुवाद) स० नारायण चिन्तामण केळकर बी० ए०, प्र० मु० निर्णय० बम्बई सं० १-१९०२ ई० मू० ॥।≈) पृ० १०४
२१७	२२	भ० गीता-(भीष्म पर्व पृ० २५ से ६७ तक) ले० शुभानन्द स्वामी (पद्य) स० बालकृष्ण अनन्त भिडे बी० ए०, प्र० मु० निर्णय० बम्बई सं० १-१९०५ मू० ॥।≈) पृ० ४२
२१८	२३	भ० गीता-टी० कृष्णाजी नारायण आठल्ये (आर्याबद्ध पद्यानुवाद) प्र० मु० निर्णय० बम्बई सं० १-१९०८ ई० मू० ॥।≈) पृ० १२५

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
२१९	२४	एकाध्यायी गीता–(अध्याय १८ वां) टी० ज्ञानेश्वरजी, प्र० मु० निर्णय० बम्बई सं० १–१८४५ शक मू० ।।=) पृ० १००
२२०	२५	गीता–शिक्षक–(अ० १८ वां) टी० प्रभाकर काशीनाथ देशपाण्डे, प्र० ग्रन्थकार, कासेगांव, पण्ढरपुर, शोलापुर सं० १–१८५० शक मू० ।।=) पृ० ८८
२२१	२६	भ० गीता टी० कृष्णराव अर्जुन केलूसकर १ पं० वामन (समश्लोकी); २ मोरोपंत (आर्या); ३ मुक्तेश्वर (ओवी); ४ तुकाराम (अभंग); ५ उद्धव चिद्घन (सवाई सहित) प्र० लक्ष्मणराव पांडुरंग नागवेकर, कालबादेवी, बम्बई सं० १९०२ ई० मू० ६) पृ० ११२५
२२२	२७	गीता–सप्तक–(१ भगवद्गीता, २ रामगीता, ३ गणेशगीता, ४ शिवगीता, ५ देवीगीता, ६ कपिलगीता, ७ अष्टावक्रगीता) मराठी भाषानुवाद स० हरिरघुनाथ भागवत बी० ए०' प्र० अष्टेकर कं० पूना सं०२-१८३४ शक मू० २) पृ० ५३०
२२३	२८	भ० गीता टी० रमावल्लभदास (चमत्कारी पद्य टीका) स० कृष्णदास सुभाव गोपाल उभयकर, संशो० रामचन्द्र कृष्ण कामत, प्र० दिगम्बरदास पना –सम्पादक, नारायणपुर, हुबली सं० १—१८४७ शक मू० २।) पृष्ट ५५०
२२४	२९	भ० गीता रहस्य दीपिका, टी० गीता-वाचस्पति सदाशिव शास्त्री भिडे (रहस्य दीपिका) प्र० गीता-धर्म-मण्डल पूना सं० २-१९२८ ई० मू० २।।) पृ० ५००
२२५	३०	भ० गीता–उपनिषद टी० स्वामी मायानन्द चैतन्य (पद्यानुवाद) प्र० विज्ञान नौका कार्या० ग्वालियर, सं० १–१९२५ ई० मू० २) पृ० ३२५
२२६	३१	दिव्यदृष्टि या विश्वरूप-दर्शन-योग, ले० स्वा० मायानन्द चैतन्य प्र० विज्ञान० ग्वालियर सं० ३–१९२६ ई० मू० १) पृ० १६०
२२७	३२	भ० गीता–(श्रीकृष्ण-चरित्र पृ० १४१ से १६२) ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए०, एल एल० बी० मु० चित्रशाला प्रेस पूना सं० ४ १९२५ ई० मू० १।) पृ० ५२
२२८	३३	भ० गीता–ज्ञानेश्वरी (सटिप्पण) स० वेंकटेश त्र्यम्बक चाफेकर बी० ए०, बी० एस० सी०, मु०चित्र० पूना सं० १–१८४६ शक मू० २) पृ० ६००
२२९	३४	भ० गीता–ज्ञानेश्वरीतील महीपतीचे सुलभ वेंचे, मु० चित्रशाला प्रेस, पूना मू० ।।=) पृ० २४४
२३०	३५	ज्ञानेश्वरी सारामृत-ले० गोविन्द रामचन्द्र मोघे, प्र० निर्णय० बम्बई सं०२–१९२८ ई०मू० १।।) पृ० २५०
२३१	३६	श्रीमद्भगवद्गीता टी० १, मुक्तेश्वर (ओवी); २, नागेश वासुदेव गुणाजी बी० ए०, एल एल बी० (मुक्तेश्वरी अनुवाद) प्र० केशव भीकाजी ढवले, माधव बाग, बम्बई सं० १–१८३९ शक मू० ।।) पृ० २२५
२३२	३७	भ० गीता–अनुभव ले० तुकाराम महाराज (अभंग पद्य) प्र० निर्णय० बम्बई १९१४ ई० मू०–) पृ० १२
२३३	३८	महाराष्ट्र भ० गीता (मूल सहित) ले० दत्तात्रेय अनन्त आपटे (पद्य) प्र० अच्युत चिन्तामणि भट्ट, यशवन्त प्रेस, पूना सं० १–१८३६ शक मू० ।।=) पृ० १५०
२३४	३९	विवेक वाणी या गीतार्थ-कथा ले० विश्वनाथ दत्तात्रेय कवाडे, प्र० दी प्रिन्टिंग एजेंसी, बुधवार पेठ, पूना सं० १–१९१५ ई० मू० ।।) पृ० १२०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
२३५	४०	गीता-पद्य मुक्ताहार टी० 'महाराष्ट्र भाषा चित्र मयूर' कृष्णाजी नारायण आठवले (पद्यानुवाद) प्र० नि० सा० प्रेस, बम्बई सं० २-१९०६ ई० मू० १) पृ० २२५
२३६	४१	गीतासुभाषितम् ले० मोरो नानाजी पाटील प्र० ग्रन्थकार, कवली चाल, दादर, बम्बई सं० १-१९२७ ई० मू० ।।।) पृ० १००
२३७	४२	रहस्य-बोध या भगवद्गीतेचें कर्मयोगसार, ले० नारायण बलवन्त हर्डीकर (ओवीबद्ध पद्यानुवाद) सं० १-१९२८ ई० मू० ।।=) पृ० ११०
२३८	४३	गीता-रहस्य सिद्धान्त-विवेचन, ले० हरिनारायण नेने, प्र० ग्रन्थकार पता-पुरन्दर एण्ड कम्पनी, माधव बाग बम्बई स० १-१९१७ ई० मू० ।।।) पृ० १४०
२३९	४४	बालगीता (खं० २)ले० दत्तात्रेय अनन्त आपटे, प्र० मु० चित्र० प्रेस,पूना सं० २-१८४६ शक,सं०१-१८४८ शक मू० १) पृ० ३४०
२४०	४५	गीतार्थ सार (निबन्ध) ले०वामन बाबाजी मोडक,मु० गणपत० प्रेस, बम्बई सं० १-१८८५ ई० मू०।)पृ०८८
२४१	४६	रहस्य संजीवन-भगवद्गीता, ले० बो० तिलक प्र० रामचन्द्र श्रीधर बलवन्त तिलक, पूना सं० १-१९२४ ई० मू० २) पृ० ४००
२४२	४७	गीतामृत शतपदी ले० खण्डोकृष्ण या बाबा गर्दे (पद्यानुवाद) प्र० केशव भीकाजी० बम्बई सं० ५-१९२३ ई० मू० ।।) पृ० १००
२४३	४८	भ० गीता-पाठ विवृति टी० गीतावाचस्पति सदाशिव शास्त्री भिडे, प्र० गीता धर्म मण्डल, पूना सं०१-१९२८ ई० मू० ।।) पृ० २३०,
२४४	४९	भ० गीता-रहस्य ले० गंगाधर बलवन्त जोशी सातारकर, प्र० राम एजेन्सी, प्रिन्सेस स्ट्रीट, बम्बई सं० १-१८३६ शक मू० ।।=) पृ० १६०
२४५	५०	मोरोपंती भ० गीत-टी० मयूर (आर्या-पद्य) प्र० मनोरञ्जन प्रेस, गिरगांव, बम्बई सं० १-१९१६ ई० मू० ।=) पृ० १८०
२४६	५१	बालबोध गीतापाठ ले० भास्कर विष्णु गुलवणी ऐतवडेकर, प्र० गीताधर्म मं०, पूना सं० १-१८५० शक मू० ।=) पृ० १३०
२४७	५२	कोंपाळ्याबर्ची गीता ले० दत्तात्रेय अनन्त आपटे (पद्य) प्र० मु० चित्र० प्रेस, पूना सं० २-१८४७ शक मू० ।) पृ० ७०
२४८	५३	लघुगीता-(मूल गुटका) स० मुकुन्द गणेश मिरजकर प्र० ग्रन्थकार, पूना सं० २-१८४६ शक मू० =)पृ० ३०
२४९	५४	भ० गीता-(गु० सुबोध टीका) म० प्र० भिक्षु अखण्डानन्दजी,सस्तु साहित्य० अहमदाबाद सं० १-१९७८ वि० मू० ।=) पृ० २२५
२५०	५५	भ० गीता-(गु०, अध्या०१५ और १८) प्र० सस्तु साहित्य० अहमदाबाद सं० १-१९७८ वि० मू०)। पृ० १२
२५१	५६	भ० गीता-(गु०) टी० मुकुन्द गणेश मीरजकर, प्र० मु० चित्र० पूना सं०-१९२७ ई० मू० ।-) पृ० २२५
२५२	५७	सार्थ गीता-(गु०) टी० नारायण रामचन्द्र सोहनी,प्र० बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक, बम्बई सं० ६-१८४६ शक मू० ।।=) पृ० ४१०

क्रमसं०	पु० सं०	विवरण
२५३	५८	गीतेंतील नित्यपाठ या गीता सार (गु०) ले० जगन्नाथ गणपत ठवया प्र० तुकाराम पुंडलीक शेट्ये, माधव बाग, बम्बई सं० १-१९२७ ई० मू० ॥) पृ० २००
२५४	५९	भ० गीता-मात्रा मत्तमयूरी (गु०) टी० बालकृष्ण दिनकर वैद्य (पद्य) मु० निर्णय० बम्बई सं० १-१९०४ ई० मू० ॥) पृ० ३००
२५५	६०	भ० गीता-(गु०) टी० रामचन्द्र भीकाजी गुंजीकर (सुबोध चन्द्रिका) प्र० निर्णय० बम्बई सं० १०-१९२१ ई० मू० ॥।=) पृ० ३२५
२५६	६१	पञ्चरत्न गीता (गु०) ले० ज्ञानदेव (पद्य) प्र० मु० निर्णय० बम्बई सं०-१९२७ ई० मू० ॥=) पृ० १९०
२५७	६२	भ० गीता-(गु०) टी० सदाशिव शास्त्री भिडे, प्र० केशव भीकाजी० बम्बई सं०-१८५० शक मू० =)॥ पृ० २५०
२५८	६३	भ० गीता-(गु०) टी० बलवन्त त्र्यम्बक द्रविड़ प्र० मु० यशवन्त प्रेस, पूना सं०७-१९२७ ई० मू०।-) पृ० २२५
२५९	६४	भ० गीता-(गु०) टी० चिन्तामणि विनायक वैद्य प्र० ग्रन्थकार, गिरगांव, बम्बई सं० १-१९२७ ई० मू० ॥) पृ० २७५
२६०	६५	भ० गीता-(गु०) टी० वामन पण्डित (समश्लोकी-पद्यानुवाद); २ दासोपंत (गीतार्णव सुधा) प्र० तुकाराम तात्या, बम्बई सं०-१८९२ ई० मू० ॥=) पृ० ३००
२६१	६६	गीतार्थ पद्यभास्कर (गु०) टी० पं० नृहरि (पद्यानुवाद) प्र० मु० इन्दिरा प्रेस, पूना सं० १-१८२१ शक मू० ॥=) पृ० ३२५
२६२	६७	भ० गीता-(गु०) टी० मराठी पद्यानुवाद स० प्र० कानजी कालीदास जोशी, कांदावाडी, बम्बई सं०१-१९८३ वि० मू० ॥) पृ० ३२५

१ लिपि-देवनागरी ४ भाषा—मेवाड़ी (राजपूताना)

क्रमसं०	पु० सं०	विवरण
२६३	७१	श्रीमद्भगवद्गीता-समश्लोकी पद्यानुवाद, प्र० कुंवर चतुरसिंह, करजालीकी हवेली, उदयपुर (मेवाड़) सं० १-१९२० ई० मू०) पृ० १००
२६४	७२	भ० गीता-(गु०) स० प्र० गुलाबचन्द नागोरी आनन्दाश्रम, पैठण (औरङ्गाबाद) सं० १-१९७३ वि० मू० ॥) पृ० ३००

१ लिपि देवनागरी ५ भाषा-नेपाली

क्रमसं०	पु० सं०	विवरण
२६५	१	श्रीमद्भगवद्गीता-टी० पं० अग्निहोत शिवपाणी (मनोरमा नेपाली भाषाटीका) प्र० गोरख पुस्तकालय, रामघाट, काशी सं० १०-१९२२ ई० मू० ।॥) पृ० ३६०

२ लिपि–गुजराती — ६ भाषा–गुजराती

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
२६६	१	श्रीमद्भगवद्गीता (महाभारत भाग ३ भीष्मपर्व पृ० ४०१ से ६५१) टी० शास्त्री कल्याणशंकर भानुशंकर और शास्त्री गिरिजाशंकर मयाशंकर स० प्र० भिक्षु अखण्डानन्द, सस्तुं साहित्यवर्द्धक कार्या०, अहमदाबाद सं० १–१६८३ ई० मू० ४) पृ० २४६
२६७	२	भ० गीता–ले० ज्ञानेश्वरजी–भावार्थ दीपिका (मराठी) अ० प्र० गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई सं० २–१६२२ ई० मू० ६) पृ० ४२४
२६८	*३	भ० गीता पंचरत्न टी० रणछोड़जी उद्धवजी शास्त्री प्र० जटाशङ्कर बलदेवराम भट्ट, मातर, (खेड़ा) सं० ३–१६६८ वि० मू० ४) पृ० ५००
२६९	*४	भ० गीता-(लिपि–देवनागरी) टी० पं० मणिलाल नभुभाई द्विवेदी प्र० ग्रन्थकार मु० तत्त्वविवेचक प्रेस, बम्बई सं० १–१६४० वि० मू० ७) पृ० ४००
२७०	५	भ० गीता (पद्यानुवाद) ले० न्हानालाल दलपतराम कवि प्र० ग्रन्थकार, अहमदाबाद मु० गणात्रा प्रिंटिंग वर्क्स राजकोट पता–नारायण मूलजी पुस्तकालय, कालबादेवी रोड, बम्बई सं०–१६१० ई० मू० ४) पृ० २४० (१६ पेजी सं० २–१९७८ वि० मू० १॥) पृ० २४०)
२७१	*६	भ० गीता (खण्ड ४, लिपि–देवनागरी, शांकर भाष्यके गुजराती भाषान्तर सहित) स० विश्वनाथ सदाराम पाठक प्र० वशराम पीताम्बर माणेक मु० गणात्रा०, राजकोट पता-बेचर मेघजी एण्ड सन्स, पाराबाजार राजकोट सं० १–१६६५ वि० मू० १०॥) पृ० ११००
२७२	७	भ० गीताकी भूमिका (निबन्ध) ले० पं० माधव शर्मा प्र० भट्ट विट्ठलजी घेलाभाई, जम, खम्भालिया (काठियावाड़) सं० १–१९८४ वि० मू० ।) पृ० ३०
२७३	८	भ० गीता टी० १ मधुसूदन-टीका २ शास्त्री हरिदास कालीदास (मधुसूदनीका गुजराती भाषान्तर) नवानगर हाईस्कूल, जामनगर पता–कहानजी म्हालजी शाह, संघाडियाफली (जामनगर) सं० १–१६२४ ई० मू० ४) पृ० ६७०
२७४	९	भ० गीता टी० शास्त्री जीवराम लल्लुभाई, रायकवाल (शङ्करानन्दी टीकाका गुजराती भाषान्तर) प्र० सेठ पुरुषोत्तमदास मु० गुजराती प्रेस, बम्बई पता-एन० एम० त्रिपाठी कं०, बम्बई सं०–१९६२ वि० मू० ३॥) पृ० ३५०
२७५	१०	भ० गीता टी० पं० नत्थूराम शङ्कर शर्मा (रहस्य-दीपिका टीका) प्र० गणपतराम नानाभाई भट्ट, अहमदाबाद सं० ५–१६७६ वि० मू० ३॥) पृ० ५००
२७६	११	भ० गीता टी० पं० मनसुखराम सूर्यराम त्रिपाठी (शाङ्करभाष्यका गुजराती भाषान्तर) प्र० धर्मसुखराम तनसुखराम त्रिपाठी, बम्बई मु० निर्णयसा०प्रेस, बम्बई सं० १–१६८२ वि० मू० ४) पृ० ८२५
२७७	१२	भ० गीता रहस्य ले० लो० तिलक (मराठी) अ० उत्तमलाल के० त्रिवेदी प्र० तिलकबन्धु, पूना सं० २-१६२४ ई० मू० ४) पृ० ९००
२७८	१३	भ० गीता ज्ञानेश्वरी (मराठी) अ० रत्नसिंह दीपसिंह परमार तलोकी प्र० सस्तुं० कार्या०, अहमदाबाद सं०४–१९८४ वि० मू० २) पृ० ७६० (गामठी गीता सहित)

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
२७९	१४	भ० गीता-ज्योति ले० मगनभाई चतुरभाई पटेल, अहमदाबाद मु० सूर्यप्रकाश प्रेस, अहमदाबाद सं० १ १९२७ ई० मू० ३) पृ० ३७०
२८०	१५	भ० गीता (खं० ७ ; अ० १, २, ३, ५, १२, १५, १६) टी० रामशङ्कर मोहनजी प्र० मोक्षमन्दिर, अहमदाबाद सं० १-१९७९, १९८०, १९८२, १९८२, १९८२, १९७९, १९८४ वि० मू० १।≥) पृ० ४२५
२८१	१६	गीतानुं हृदय (निबन्ध) ले० प्र० सागर जयदा त्रिपाठी, श्रीक्षेत्र, सरसेज (अहमदाबाद) सं० १-१९८४ वि० मू० ॥-) पृ० ३०
२८२	१७	गीतानी विचारणा (निबन्ध) ले० प्र० सागर जयदा० (अहमदा०) सं० १-१९८४ वि० मू० ॥-) पृ० ३२
२८३	१८	श्रीकृष्ण-अर्जुन गीतोपदेश (निबन्ध) ले० मणिशंकर दलपतराम जोशी प्र० गिरजाशंकर मणिशंकर भट्ट, मुरारजी गोकुलदास चाल, गिरगाँव (बम्बई नं० ४) सं० १-१९७७ वि० मू० ।) पृ० २५
२८४	१९	भ० गीता-प्रबन्ध (लिपि-देवनागरी) ले० श्रीराम (पद्यानुवाद) मु० वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई (ग्रन्थ रचना १९६० वि०) मू० ॥=) पृ० ७५
२८५	२०	भ० गीता (अ० ७ वां) टी० स्वा० विद्यानन्दजी महाराज, स० मोहनलाल हरिलाल राज, मांडवीनी पोल, देवजी शहरी (अहमदाबाद) सं०-१९८३ वि० मू० =) पृ० ९५
२८६	२१	गीता-सुभाषितम् ले० मोरो नानाजी पाटील (मराठी) अ० नन्दसुखराम हरिसुखराम मेहता प्र० ग्रन्थकार, कबलीचाल, दादर (बम्बई) सं० १-१९२८ ई० मू० १) पृ० ११२
२८७	२२	गीता सांख्य-संगीत (अ० २ रा, पद्य) ले० प्राणजीवन प्र० मूलजी भाई काशीदास सं० १-१९९६ वि० मू० ।-) पृ० ५०
२८८	२३	भ० गीता (संगीत पद्य) ले० प्र० जोशी जयराम रवजी मागलीया पता-जोशी दामोदर जेराम, गिरगाँव (बम्बई नं० ४) सं० १-१९६८ वि० मू० १) पृ० १३०
२८९	२४	भ० गीता (पद्य) ले० माधवराव भास्करराव कर्णिक प्र० कर्णिक साहित्य-प्रकाशन मन्दिर, गोपीपुरा, सूरत सं० ३-१९८३ वि० मू० ॥) पृ० १००
२९०	२५	भ० गीता (पद्य) ले० महात्मा प्रीतमदास प्र० सस्तु० कार्या० सं० १-१९८१ वि० मू० ≡) पृ० ९०
२९१	२६	भ० गीता-गुजराती सरलार्थ सहित प्र० सस्तु० कार्या० सं० ८-१९८५ वि० मू० ।) पृ० २७०
२९२	२७	भ० गीता (लिपि-देवनागरी) गुजराती भाषानुवाद प्र० गुजराती प्रेस, बम्बई मू० १) पृ० ३१०
२९३	२८	भ० गीता पंचरत्न (गुज० भाषा०) प्र० अब्दुल हुसेन आदमजी, भावनगर सं० १-१९६८ वि० मू० १।) पृ० २५०
२९४	२९	भ० गीता टी० रेवाशंकर नागेश्वर अध्यापक प्र० ग्रन्थकार, वेजलपुर (भरोंच) सं० १-१९७८ वि० मू० २) पृ० ४१०
२९५	३०	नित्य गीता (भ० गीता; अर्जुन गीता-पद्य तथा विष्णुसहस्रनाम, अनुस्मृति आदि स्तोत्रों सहित) प्र० ललिता गौरी सामराव, अहमदाबादी बजार, नाडिआद मु० ज्ञानोदय प्रेस, भरोंच सं० २-१९८१ वि० मू० १॥) पृ० ३००
२९६	३१	क्षत्रिय-धर्म-गीता टी० कामजी कालीदास जोशी प्र० महेश्वरसिंहजी जवानसिंह रावल, कांदावाडी, बम्बई सं० १-१९८१ वि० मू० १) पृ० १५०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
२९७	३२	भ० गीता (गुटका, मूल) प्र० बोहरा मगनलालजी जीवनदास, गोंडल, काठियावाड़ सं० १–१९८४ वि० मू० अज्ञात पृ० १२५
२९८	३३	समर्थ गीता या भ० गीता (गु०, मूल) स० भट्ट रामशंकरजी मोहनजी, मोक्ष-मन्दिर, अहमदाबाद सं० १–१९२८ ई० मू० ।) पृ० १३०
२९९	३४	भ० गीता (गु०) गुज० भाषा० प्र० गुजराती प्रेस, बम्बई सं० ४–१९७१ वि० मू० ॥=) पृ० ४००
३००	३५	भ० गीता (गु०) गुज० भाषा० प्र० थियोसोफिकल सोसाइटी, बम्बई सं० ४–१९८० वि० मू० ॥।)पृ०४००
३०१	३६	भ० गीता (गु०) गुज० भाषा० टी० मणिलाल इच्छाराम देसाई प्र० गुज० प्रेस, बम्बई सं० २–१९८३ वि० मू० ।=) पृ० २४०
३०२	३७	भ० गीता (गु०) गुज० भाषा० प्र० सस्तु० कार्या०, अहमदाबाद सं० ७–१९८४ वि० मू० =) पृ० २२०
३०३	३८	एकाध्यायी गीता (गु०, अ० १८ वां) प्र० सस्तु० कार्या० सं०–१९८४ वि० मू०)। पृ० ३०
३०४	३९	भ० गीता (गु०) टी० तुलजाशंकर गौरीशंकर याज्ञिक प्र० मु० चित्रशाला प्रेस, पूना सं० १–१९२४ ई० मू० ।–) पृ० २१८
३०५	४०	पंचदश गीता (गु०) गुज० भाषा० प्र० हरगोविन्ददास हरजीवनदास शुक्लेकर, अहमदा० सं० २–१९८२ वि० मू० १॥) पृ० ५२५
३०६	४१	भ० गीता (गु०, पद्य) ले० वल्लभजी भायजी मेहता पता– अमरचन्द भायजी मेहता, ग्रीन चौक, मोरवी सं० १–१९८४ वि० मू०) पृ० २५५
३०७	४२	भ० गीता टी० के० वि० रा० दलाल प्र० कृष्णदास नारायणदास एंड सन्स, नानावट, सूरत, सं० ७–१९८४ वि० मू० ॥–) पृ० ३५०
३०८	४३	भ० गीता टी० महाशंकर ईश्वरजी प्र० सेठ जमनादास कल्याणजी भाई, राजकोट सं० १–१९६३ वि० मू० ॥) पृ० ३२५
३०९	४४	भ० गीता (गु०) टी० के०के० जोशी प्र० ग्रन्थकार, कांदावाडी, बम्बई सं० २–१९८४ वि० मू०॥।) पृ० २१०
३१०	४५	भ० गीता (गु०) टी० के० के० जोशी (पद्यानुवाद) प्र० ग्रन्थकार, कांदावाडी, बम्बई सं० ६–१९८४ वि० मू० ॥) पृ० ३२५
३११	४६	भ० गीता (गु०, मूल) प्र० के० के० जोशी, कांदावाडी, बम्बई सं०-१९८४ वि० मू० ।=) पृ० १३०
३१२	४७	भ० गीता (गु०, अ० १२, १५) प्र० के० के० जोशी, बम्बई सं०–१९८४ वि० बिना मूल्य पृष्ठ २०
३१३	४८	भ० गीता (गु०) गुजराती भाषानुवाद प्र० मंगलदास जोईतराम, रिचीरोड, अहमदाबाद सं० २ १९८४ वि० मू० ॥।) पृ० ३२०

३–लिपि-बंगला ✠ ७ भाषा-बंगला

३१४	८१	श्रीमद्भगवद्गीता टीका १ शंकर-भाष्य; २ आनन्दगिरी–टीका ; ३ श्रीधर–टीका; ४ हितलाल मिश्र-हितैषिणी बंगानुवाद स० श्रीआनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश प्र० ज्ञानचन्द्र भट्टाचार्य, कलकत्ता सं० २–१८४५ वि० मू० ७) पृ० ५६७

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
३१५	२	भ० गीता टी० स्वामी कृष्णानन्द–गीतार्थ-संदीपिनी बंगानुवाद: (१ शंकर-भाष्य; २ श्रीधर-टीका; ३ गरुड़पुरा-णोक्त-गीतासार सहित) स० योगेन्द्रनाथ विद्याभूषण एम० ए०, प्र० काशी योगाश्रम, काशी, सं० ७–१३२२ बंगाब्द मू० ६) पृ० ६००
३१६	३	भ० गीता (खण्ड ३, टी० ११) टी० १ गीता बोध-विवर्धिनी–संस्कृत व्याख्या (अन्वय और प्रतिशब्द सहित); २ बंगला भाषा व्याख्या; ३ शङ्कराचार्य-भाष्य; ४ आनन्दगिरी-टी०; ५ रामानुज-भाष्य; ६ हनुमत्कृत पैशाच भाष्य; ७ श्रीधर स्वामी-टी०; ८ बलदेव-भाष्य; ९ मधुसूदन-टी०; १० नीलकंठ-टी०; ११ विश्वनाथ चक्रवर्ती (सारार्थ-वर्षिणी टीका); १२ गीतार्थसार-दीपिका (बंगला भाषा-तात्पर्य); १३ यामुन मुनि (गीतार्थ संग्रह बंगानुवाद सहित); स० पं० दामोदर मुखोपाध्याय विद्यानन्द, प्र० धीरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, कलकत्ता, सं० १८४० शक, मू० १६) पृ० ३४००
३१७	४	भ० गीता (खं०३) टी० श्रीरामदयाल मजूमदार एम० ए० (१ संस्कृत-भाष्य सार संग्रह; २ बंगानुवाद; ३ प्रश्नोत्तररूपेण व्याख्या) प्र० उत्सव कार्यालय, कलकत्ता, खं० १ सं० ३–१८४८ शक, खं० २ सं० २–१८४३ शक, खं० ३ सं २–१८३५ शक मू० १३॥) पृ० १६००
३१८	५	भ० गीता टी० १ बंगानुवाद; २ शंकर-भाष्य; ३ आनन्दगिरी–टीका; ४ भाष्यानुवाद; स० महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण प्र० क्षीरोदचन्द्र मजूमदार, कलकत्ता सं० ३–१३३१ बं० मू० ४॥) पृ० १०२५
३१९	६	भ० गीता-रहस्य ले० लो० तिलक (मराठी) अ० ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर, प्र० क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर, कलकत्ता पता—तिलक बन्धु, पूना सं० १–१९८१ वि० मू० ३) पृ०
३२०	७	भ० गीता टी० श्रीकालीधन वन्दोपाध्याय (१ संस्कृत-व्याख्या; २ पद्यानुवाद) प्र० कालीदास मित्र, कलकत्ता सं० १३२० बं० मू० २) पृ० ६६०
३२१	८	भ० गीता टी० पं० पचानन तर्करत्न (वंगानुवाद) प्र० बंगवासी प्रेस, कलकत्ता सं० ३–१३३० बं० मू० १) पृ० ६५
३२२	ॐ९	उपनिषद्–रहस्य या गीतार योगिक-व्याख्या (अ० ५ वाँ) टी० श्रीविजयकृष्ण चट्टो० (१ विजय-भाष्य; २ व्यवहारिक अर्थ; ३ योगिक अर्थ) प्र० उपनिषद्-रहस्य कार्यालय, मु० कर्मयोग प्रेस, हवड़ा सं० १३१८ बं० मू० १) पृ० ७०
३२३	*१०	भ० गीता (मू० और बं०) प्र० विहारीलाल सरकार, बंगवासी प्रेस, कलकत्ता मू० १॥) पृ० ११०
३२४	ॐ११	भ० गीता टी० गोस्वामी व्रजवल्लभ विद्यारत्न बंगानु० (श्रीधर-टीका सहित) प्र० विश्वम्भर लाह, कलकत्ता सं० ४ १२९९ बं० मू० २) पृ० २५६
३२५	ॐ१२	भ० गीता टी० बंकिमचन्द्र चट्टो०-बंगानु० सं०-१२९३ बं० मू० ३) पृ० १७५
३२६	*१३	भ० गीता टी० श्रीमध्वाचार्य भाष्य, स० श्रीकेदारनाथ दत्त 'भक्तिविनोद' प्र० सज्जन-तोषिणी कार्या० मानिकतल्ला, कलकत्ता सं०-४०६ गौराब्द मू० ॥) पृ० ५५
३२७	ॐ१४	भ० गीता-नाटक ले० कृष्णप्रसाद वसु प्र० मु० कालीप्रसन्न चट्टो० यशोहर हिन्दू पत्रिका प्रेस, कलकत्ता सं०–१३२३-बं० मू० ॥) पृ० ६३
३२८	१५	गीता-परिचय ले० रामदयाल मजूमदार, प्र० उत्सव कार्या०, कलकत्ता सं० ३–१३३० बं० मू० १।) पृ०
३२९	१६	भ० गीता-मूल प्र० महेशचन्द्र भट्टाचार्य कम्पनी, कलकत्ता सं०-१३३२ बं० मू० ।–) पृ० ११०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
३३०	१७	श्रीकृष्ण-शिक्षा या भ० गीता (प्रथम भाग) टी० बिहारीलाल सरकार बी० एल० (श्रीधर-टीकाका अनुवाद) पता—वसुमति कार्या० कलकत्ता सं० १६१३ ई० मू० १=) पृ० २६३
३३१	*१८	आध्यात्मिक गीता या भ० गीता (खं ३) १ मूल; २ अन्वय और पदच्छेद; ३ टीकाकी विशद व्याख्या; ४ बंगानुवाद; ५ आध्यात्मिक-भाष्य; ६ योग-साधनाकी कथा; स० श्रीईशानचन्द्र घोष एम० ए०, प्र० यतीन्द्रनाथ घोष, कांकशियाली, खुंखुड़ा सं०—१३२६, १३२९, १३३५ बं० मू० ६) पृ० ५५०
३३२	*१६	भ० गीतोपनिषद् (खं० ३; अ० १, २, ३) टी० क्षीरोदनारायण भुयां—श्रीकृष्णभाविनी टीका पता–राजेन्द्रनारायण भुयां, आशुतोष मुकर्जी रोड, भवानीपुर, कलकत्ता सं० १३३१, १३३२, १३३३ बं० मू० १॥) पृ० ३००
३३३	२०	भारत-समर या गीता पूर्वाध्याय ले० रामदयाल मजूमदार प्र० छत्रेश्वर चट्टो० कलकत्ता सं० २–१३३२ बं० मू० २) पृ० ४००
३३४	२१	गीताय मुक्तिवाद (प्रथम अ०) टी० अमरीकान्तदेव शर्मा काव्यतीर्थ, मु० लक्ष्मीविलास प्रेस, कलकत्ता सं० १-१३३४ बं० मू० १॥) पृ० १४०
३३५	*२२	दार्शनिक–ब्रह्मज्ञान और गीता. प्र० सुरेन्द्रनाथ मुखो०, भवानीपुर, कलकत्ता सं० १–१३३३ बं० मू० अज्ञात पृ० २६.
३३६	२३	भ० गीता टी० विद्यावागीश ब्रह्मचारी–पद्यानुवाद स० शशिभूषण चौधरी, प्र० प्रमथनाथ चौधरी, चीना बाजार, कलकत्ता सं० १–१३०६ बं० मू० १) पृ० २५०
३३७	*२४	भ० गीतार समालोचना ले० जयगोपाल दे पता–लाहिरी पुस्तका० कालेज स्टीट, कलकत्ता सं०—१८६५ ई० मू० ।=) पृ० २४
३३८	*२५	भ० गीता–छाया समन्विता, ले० प्रतापचन्द्र सेन गुप्त (पद्य) प्र० कामाख्याप्रसाद सेन, बगड़ी बाड़ी (बंगाल) सं० १–१६०८ ई० मू० १) पृ० २७५
३३९	*२६	भ० गीता टी० महेन्द्रनाथ घोषाल–बंगानुवाद (श्रीधरी टीका सहित) प्र० वेणीमाधव दे कम्पनी, बहुबाजार, कलकत्ता सं०—१२९२ बं० मू० ४) पृ० २२०
३४०	*२७	भ० गीता (खं० ६) टी० देवेन्द्रविजय वसु–पद्यानुवाद और व्याख्या प्र० शैलेन्द्रकुमार वसु, मु० मेटकाफ प्रेस, कलकत्ता सं० १-१३२०, १३२०, १३२१, १३२२, १३२३, १३२६ बं० मू० १०) पृ० ३२००
३४१	२८	भ० गीता (मूल, अन्वय, पदच्छेद, टीका, टिप्पणी, अनुक्रमणिका आदि सहित, सचित्र) टी० श्रीजयदयालजी गोयन्दका–साधारण भाषा टीका (हिन्दी) अनुवाद करानेवाला और प्र० गोविन्दभवन कार्यालय, बाँसतल्ला गली, कलकत्ता (पता–गीता प्रेस, गोरखपुर) सं० १–१३३५ बं० मू० १) पृ० ५२५
३४२	२९	भ० गीता टी० सत्येन्द्रनाथ ठाकुर–पद्यानुवाद प्र० इन्दिरा देवी, बालीगंज, कलकत्ता सं० २–१३३० बं० मू० २॥) पृ० ४००
३४३	३०	गीता–मधुकरी टी० १ बंगानुवाद; २ पद्यानुवाद स० आशुतोष दास प्र० भूतनाथ दास, कलकत्ता सं० ३–१३३१ बं० मू० २।) पृ० ७००
३४४	३१	भ० गीता टी० पं० पार्वतीचरण तर्कतीर्थ १ बंगानुवाद २ श्रीधरी टीका ३ श्रीधरी अनुवाद स० राजेन्द्रनाथ घोष प्र० शरच्चन्द्र चक्रवर्ती, कालिका प्रेस, कलकत्ता सं०—१३२८ बं० मू० ३) पृ० ७५०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
३४५	३२	भ० गीतार समालोचना ले० सोहम् स्वामी प्र० सूर्यकान्त वन्द्यो० तांती बाजार, ढाका सं० १–१९१९ ई० मू० २) पृ० ३००
३४६	३३	भ० गीता टी० स्वा० उत्तमानन्द ब्रह्मचारी स० स्वा० ब्रह्मानन्द गिरी प्र० गोविन्दपद भट्टाचार्य, कलकत्ता सं० २–१३२१ बं० मू० १॥) पृ० ३२०
३४७	३४	भ० गीता टी० कालीप्रसन्न विद्यारत्न (श्रीधरी सह) प्र० शरच्चन्द्र शील एंड सन्स, कलकत्ता सं० ३-१३३४ बं० मू० १) पृ० ४००
३४८	३५	भ० गीता टी० हरिमोहन वन्द्यो० प्र० आदिनाथ आश्रम, काशी बोस लेन, कलकत्ता सं० १–१३३५ बं० मू० २) पृ० ४५०
३४९	३६	गीता-तत्त्व ले० स्वा० सारदानन्द प्र० उद्बोधन कार्या०, कलकत्ता सं० १–१३३५ बं० मू० १॥) पृ०
३५०	३७	गीताय ईश्वरवाद ले० हीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए० बी० एल० (निबन्ध) प्र० बंगीय तत्त्व सभा, कालेज स्कायर, कलकत्ता सं० ५–१३३३ बं० मू० १॥) पृ० ३६०
३५१	३८	गीताधर्म ले० हेरम्बनाथ पंडित (पद्य) पता–गुरुदास चट्टो०, नं० २०१ कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता सं० १–१३२८ बं० मू० १।) पृ० १३०
३५२	३९	गीता-पाठ ले० द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर (निबन्ध) प्र० शान्तिनिकेतन आश्रम, बोलपुर सं० १३३२ बं० मू० १।) पृ० ३५०
३५३	४०	गीतार भूमिका ले० श्रीअरविन्द घोष प्र० आर्य साहित्यभवन, कलकत्ता सं० २–१३३४ बं० मू० १।) पृ०
३५४	४१	धर्म और जातीयता (गीता–निबन्ध) ले० श्रीअरविन्द घोष प्र० शान्ति-निकेतन आश्रम, बोलपुर सं० २–१३२६ बं० मू० १॥) पृ० ११०
३५५	४२	अरविन्देर गीता (खं० २) ले० श्रीअरविन्द घोष अ० अनिलवरणराय प्र० विभूतिभूषण राय, बर्दवान पता–डी. एम. लाइब्रेरी, कलकत्ता सं० १–१३३१, १३३३ बं० मू० ३॥) पृ० ४५०
३५६	४३	पुण्य–गीता (पद्य) ले० हरिशंकर दे प्र० महेश पुस्तका०, वराहनगर, कलकत्ता मू० १॥) पृ० ४००
३५७	४४	भ० गीता टी० पं० कृष्णचन्द्र स्मृतितीर्थ (१. बंगानुवाद; २. श्रीधरी; ३. टिप्पणी) प्र० सारस्वत पुस्तका० कलकत्ता सं० २–१३३० बं० मू० १।) पृ० ६७५
३५८	४५	भ० गीता टी० १ विश्वनाथ चक्रवर्ती (सारार्थ-वर्षिणी टीका); २ भक्तिविनोद ठाकुर (रसिक-रंजन भाषा-भाष्य) स० गोस्वामी भक्ति-सिद्धान्त सरस्वती प्र० गौडीय मठ, कलकत्ता सं० ३–मू० १॥) पृ० ३८२
३५९	४६	भ० गीता टी० १ बलदेव विद्याभूषण (गीता-भूषण-भाष्य); २ भक्तिविनोद ठाकुर (विद्वद्-रंजन भाषा–भाष्य) स० गोस्वामी भक्तिविनोद सरस्वती प्र० गौडीय मठ, कलकत्ता सं० २–४३८ गौराब्द मू०) पृ० ४५०
३६०	४७	भ० गीता (पद्य) ले० विलासचन्द्रराय शर्मा प्र० अजितचन्द्रराय, बेचारामेर देउढी, ढाका सं० १-१३३३ बं० मू० ॥=) पृ० १२२
३६१	४८	बंगला गीता और अनुगीता ले० विपिनबिहारी मण्डल प्र० भारत बान्धव पुस्त० दर्जीपाडा, कलकत्ता सं० १–१३३४ बं० मू० १) पृ० २२०
३६२	४९	मेयेदेर गीता ले० कुमुदकुमार वन्द्यो० प्र० बंगाल पब्लिशिंग होम, कलकत्ता सं० १–१३२९ बं० मू० १।) पृ० १५०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
३६३	५०	भगवत्-प्रसंग (गीता-निबन्ध) ले० वसन्तकुमार चट्टो० एम० ए० पता-गुरुदास चट्टो०, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता सं० १—१३३१ बं० मू० १।) पृ० २२५
३६४	५१	गीतासार स० स्वा० सत्यानन्द प्र० हिन्दू मिशन, कलकत्ता मू० ॥/) पृ ५८
३६५	५२	राजयोग (गीता-निबन्ध) ले० स्वा० निर्मलानन्द प्र० सावरणी मठ, कलकत्ता सं० १-१३३० बं० मू० १) पृ० १२५
३६६	५३	कर्मयोग (गीता-निबन्ध) ले० श्रीअश्विनीकुमार दत्त प्र सरस्वती पुस्त०, रामनाथ मजूमदार स्ट्रीट, कलकत्ता सं० २—१३३२ बं० मू० १=) पृ० १२०
३६७	५४	गीता-तत्त्व-समाहार ले० ज्ञानेन्द्रमोहन सेन पता-नरसिंह पब्लिकेशन आफिस, कालेज स्ट्रीट, कलकत्ता सं०-१३२९ बं० मू० ॥।) पृ० १२०
३६८	५५	भ० गीता टी० नवीनचन्द्र सेन (पद्यानुवाद) पृ० २००
३६९	५६	ईशातत्त्व और गीतातत्त्व (निबन्ध) ले० खगेन्द्रनाथ गुप्त, गरीफा, कांचननगर, चौबीसपरगना, (बंगाल) प्र० और मु० नवविधान प्रेस, कलकत्ता सं०१—१३३१ बं० मू०–), पृ० ३०
३७०	५७	गीतार कथा ले० अन्नदाकुमार चक्रवर्ती प्र० सिटी बुकडिपो, कालेज स्ट्रीट, कलकत्ता सं० १-१३३३ बं० मू० ॥) पृ० ९४
३७१	५८	भ० गीता टी० गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टा० (श्रीधरी सह) प्र० छात्र पुस्तका०, कलकत्ता सं० नवीन-१८४३ शक मू० १॥) पृ० ४३०
३७२	५९	गीतारहस्य ले० नीलकंठ मजूमदार एम० ए० प्र० केदारनाथ वसु, कलकत्ता सं० १-१९२२ ई० मू० १।) पृ० ३७०
३७३	६०	भ० गीता टी० उपेन्द्रनाथ भट्टा० प्र० सेंट्रल बुक एजेन्सी, कलकत्ता सं०-१३३५ बं० मू० १) पृ० २३०
३७४	६१	भ० गीता (पद्य) ले० यतीन्द्रमोहन सेन, बी० एल० 'गीतातार्य' प्र० गोल्डन रीन कम्पनी, कालेज स्ट्रीट, कलकत्ता मू०) पृ० २३०
३७५	६२	भ० गीता टी० ताराकान्त काव्यतीर्थ (पद्यानुवाद)प्र० पी० एम० बागची कम्पनी, कलकत्ता सं०१-१३३२ बं० मू० १) पृ० २६०
३७६	६३	गीता प्रदीप या साधन तत्त्व ले० स्वा० सच्चिदानन्द सरस्वती प्र० लहरी पुस्तका०, काशी सं०-१३३२ बं० मू० ॥।) पृ० १७०
३७७	६४	भ० गीता० (मूल) स० कृष्णचन्द्र स्मृतितीर्थ प्र० सारस्वत पुस्त० कलकत्ता सं०-१३२८ बं० मू० ॥) पृ० ६०
३७८	६५	भ० गीता (पद्य) ले० भोलानाथ विद्यानिधि पता-एन० सी० मजूमदार कम्पनी, कार्न०स्ट्रीट, कलकत्ता सं०-१३३३ बं० मू० ॥) पृ० १५०
३७९	६६	भ० गीता (पद्य) ले० मन्मथनाथसिंह प्र० निष्पनिरंजनसिंह, मथुरापुर, चौबीस परगना (बंगाल) सं०१-१३२१ बं० मू० १) पृ० १५०
३८०	६७	गीताय सृष्टि-तत्त्व (निबन्ध) ले० योगेन्द्रनाथराय प्र० रमेशचन्द्रराय पता-गुरुदास चट्टो० कलकत्ता सं० १-१९२६ ई० मू० ॥) पृ० १०४

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
३८१	६८	शिशुगीता (श्रीयोगी कथित,केवल भाषा) ले० प्र० योगेन्द्रनाथ रचित, शास्त्र प्रकाश कार्या० हरीतकी बगान, कलकत्ता मू० ।=) पृ० १२०
३८२	६९	गीताबन्धु ले० ज्योतिश्चन्द्र सरकार (निबन्ध) प्र० नलिनीमोहनराय चौधरी, कालेज स्ट्रीट, कलकत्ता मू० ।≤) पृ० १००
३८३	७०	भ०गीता(गुटका)टी०व्योमब्रह्म गीताध्यायी पता–गुरुदास चट्टो० कलकत्ता सं०–१३३५ बं० मू० १॥) पृ० ४५०
३८४	७१	भ०गीता (गु०) टी० कृत्रधर घोष प्र० घोष कं०, कालेज स्ट्रीट, कलकत्ता सं०-१३३४ बं० मू० ।=) पृ० १५५
३८५	७२	गीता-बिन्दु (पद्य, गु०) ले० बिहारीलाल गोस्वामी प्र० नलिनीरंजन राय और सुरेन्द्रनाथ मुखो०, कलकत्ता सं० १–१३२० बं० मू० १) पृ० २२५
३८६	७३	भ० गीता (गु०) बंगानु० सहित स० नगेन्द्रनाथ सिद्धान्तरत्न प्र० विश्वेश्वर ठाकुर पता—संस्कृत बुक डिपो, कार्न० स्ट्रीट, कलकत्ता सं०–१३३० बं० मू० ॥–) पृ० २२०
३८७	७४	भ० गीता (गु०) टी० ब्रह्मचारी प्राणेशकुमार (श्रीधरी सह) स० राजेन्द्रनाथ घोष प्र० रामकृष्ण अर्चनालय, इटाली, कलकत्ता सं०–१३३१ बं० मू० ॥=) पृ० ४५०
३८८	७५	गीता-काव्य (गु० पद्य) ले० मणीन्द्रनाथ साहा प्र० ग्रन्थकार, नवाबगंज, मालदा पता–गुरुदास चट्टो०, कलकत्ता सं० १–१३३५ बं० मू० ॥) पृ० २१०
३८९	७६	भ० गीता (गु०) टी० जगदीशचन्द्र घोष बी० ए० (गीतार्थ दीपिका) प्र० अनाथबन्धु आदित्य, प्रेसीडेन्सी लाइब्रेरी, ढाका सं० १–१३३२ बं० मू० १॥) पृ० ११००
३९०	७७	भ० गीता (गु०) टी० १ बंगानुवाद २ पद्यानुवाद स० प्र० राजेन्द्रनाथ घोष पता– संस्कृत बुकडिपो, कलकत्ता सं० २–१३३१ बं० मू० १) पृ० १०५०
३९१	७८	भ० गीता (गु०) बंगानु० स० अधरचन्द्र चक्रवर्ती प्र० तारा पुस्तका० चितपुर रोड, कलकत्ता सं०–१३३२ बं० मू० ॥=) पृ० ४५०
३९२	७९	भ० गीता (गु०) टी० कालीप्रसन्नसिंह स० विनोदबिहारी सील प्र० नरेन्द्रकुमार सील, कलकत्ता सं० ५–१३३१ बं० मू० ॥=) पृ० ३७०
३९३	८०	भ० गीता (गु०) टी० कृष्णचन्द्र स्मृतितीर्थ प्र० सारस्वत पुस्त०, कार्न० स्ट्रीट, कलकत्ता सं०–१३३१ बं० मू० ॥) पृ० ४९०
३९४	८१	भ० गीता (गु०) टी० १ प्रसन्नकुमार शास्त्री (सरलार्थ-प्रबोधिनी); २ शशधर तर्कचूड़ामणि (बंगानु०) स० प्रसन्नकुमार शास्त्री प्र० रमेशचन्द्र चक्रवर्ती पता–चक्रवर्ती चटर्जी एंड कम्पनी, कालेज स्ट्रीट, कलकत्ता सं० १६–१३३४ बं० मू० ॥=) पृ० ३८२
३९५	८२	भ० गीता (गु०) टी० महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़, स० राजेन्द्रनाथ घोष प्र० शरच्चन्द्र चक्रवर्ती, कलकत्ता सं० ४–१३२९ बं० मू० ॥–) पृ० ३२०
३९६	८३	भ० गीता (गु०) १ संस्कृत टीका; २, बंगानु० स० विनोदबिहारी विद्याविनोद और रामस्वरूप विद्यावागीश प्र० हेमांशुशेखर गुप्त, कलकत्ता सं०–मू० ।=) पृ० ४२०
३९७	८४	गीतामधुकरी (पद्य, गु०) स० आशुतोषदास प्र० भूतनाथदास, कलकत्ता सं० २–मू० ॥) पृ० ४००
३९८	८५	भ० गीता–बंगानु० (गु०) प्र० आर्यमिशन, कलकत्ता सं० २६–१३३२ बं० मू० ॥=) पृ० ४७०

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
३११	८६	भ० गीता (गु०) टी० अविनाशचन्द्र मुखो० प्र० योगेन्द्रनाथ मुखो० संस्कृतप्रेस डिपो०, कार्न० स्ट्रीट, कलकत्ता सं०१२– मू० ॥=) पृ० २००
४००	८७	भ० गीता (गु०) ले० कुमारनाथ सुधाकर (१ पद्यानुवाद, २ गुरुकृपा–टीका) प्र० योगेन्द्रनाथ, संस्कृत बुकडिपो० कलकत्ता सं०१३–मू० ॥।) पृ० २४०
४०१	८८	भ० गीता (गु०) टी० कालीपद तर्काचार्य प्र० शरच्चन्द्र सूर एंड कम्पनी, कलकत्ता मू०) पृ० ४१०
४०२	८९	भ० गीता (गु०) बंगानु० प्र० हेमेन्द्रकुमार सील, कलकत्ता सं०२–मू० ॥) पृ० २१०
४०३	९०	भ० गीता (गु०) बंगानु० स० सुबोधचन्द्र मजूमदार प्र० प्रबोधचन्द्र मजूम० कलकत्ता सं०- १३३२ बं० मू० ॥=) पृ० ४००.
४०४	९१	भ० गीता (गु०) पद्यानुवाद स० सुबोधचन्द्र मजूम० प्र० प्रबोधचन्द्र मजूम० कलकत्ता सं०–१३३२ बं० मू० ॥=) पृ० १४०.
४०५	९२	भ० गीता (गु०) बंगानु० प्र० नारायणदास बाजोरिया, गीता सोसाइटी. ११७ हरीसनरोड, कलकत्ता सं० १–१९२७ ई० बिना मूल्य पृ० २६०.
४०६	९३	गीतारत्नामृत (गु०, पद्य) ले० श्यामाचरण कविरत्न प्र० बैसाख एंड सन्स, कलकत्ता सं०–१३३४ बं० मू० ॥=) पृ०२४०
४०७	९४	गीतामृत (पद्य, गु०) ले० प्रसन्नकुमार काव्यतीर्थ प्र० वाणी पुस्तका० श्याम बाजार, कलकत्ता सं०-१३३२ बं० मू० ॥=) पृ० २२०
४०८	९५	गीतारत्न (पद्य, गु०) स० प्र० नरेन्द्रकुमार सील, नित्यानन्द पुस्तका० अपरचितपुर रोड, कलकत्ता सं० २-१३२८ बं० मू० ॥=) पृ० २१०
४०९	⊛९६	ज्ञानसंकलिनी-गीता (गीता ज्ञानोपदेश-संग्रह, गु०) स० ललितकान्त देवनाथ प्र० पं० शंकरनाथ पता-गुल्दास चट्टो० कलकत्ता, सं० १-१३०४ बं० मू० =) पृ० ४०
४१०	⊛९७	गीता माहात्म्य–बंगानु० सहित (गु०) प्र० सत्यचरण मित्र, कलकत्ता सं०–१८९१ ई० मू० =) पृ०९१
४११	९८	भ० गीता(गु०)टी०कालीप्रसन्न सिंह प्र०रामकृष्ण पुस्तका०बराहनगर,कलकत्ता सं०–१९११ई०मू०॥।)पृ०५२५
४१२	९९	भ० गीता (गु०) बंगानु० स० कालीवर वेदान्तवागीश प्र० समुन्नत साहित्य प्रकाशक कार्या० दर्जीपाड़ा, कलकत्ता मू० ।=) पृ० ३६०
४१३	१००	भ० गीता (गु०) टी० कालीप्रसन्न विद्यारत्न प्र० अमूल्यचरण दत्त, भारत पुस्तका० चितपुर रोड, कलकत्ता सं०–१३२८ बं० मू० ॥) पृ० ३७०
४१४	१०१	भ० गीता(गु०)टी०अमृतलाल चक्रवर्ती प्र०हिन्दी पुस्तक एजेन्सी,कलकत्ता सं०–१९२८ई० मू० ≠) पृ०२२५
४१५	१०२	भ० गीता (गु०) टी० आशुतोषदेव (श्रीधरी-टीका सह) प्र० मुकुन्दबिहारी मजूमदार, कलकत्ता सं० २–मू० ।=) पृ० ३७५
४१६	१०३	भ० गीता (साबीजी, मूल) स० प्र० गोपालदास मुखो०, कलकत्ता सं०–१३३५ बं० मू० =)॥ पृ० २४०
४१७	१०४	भ० गीता (मूल,साबीजी)स०गोस्वामी हरिदास प्र०हृषीकेश घोष, कलकत्ता सं०-१३३३ बं०मू० ≡) पृ० २३५
४१८	१०५	भ० गीता(मूल,ग्रावपत्रपर छपी)स०प्र०हरिपद चट्टो० शास्त्र-प्रकाश पुस्तका०, कलकत्ता मू० १॥) पृ० ११२

४–लिपि-उत्कल ८–भाषा-उड़िया

क्रम सं०	पृ० सं०	विवरण
४१९	१	श्रीमद्भगवद्गीता–मूल और अनुवाद प्र० श्रीरामशङ्करराय मु० अरुणोदय प्रेस, बालूबाजार, चांदनी चौक, कटक सं०७–१९२७ ई० मू० ।=) पृ० १७९
४२०	२	भ० गीता–पद्यानुवाद स० भिखारीचरणदास मु० अरुणो०, कटक सं० १–१९२६ ई० मु० ॥) पृ० १०४
४२१	३	भ० गीता टी० फकीरमोहन सेनापति मु० अरु०, कटक सं० ७–१९२५ ई० मू० ॥) पृ० १४१
४२२	४	भ० गीता-मूल प्र० नारायणचन्द्रदास मु० अरु०, कटक सं० ६–१९२६ ई० मु० ।) पृ० २४
४२३	५	भ० गीता-माहात्म्य (पद्य) ले० जनार्दन शर्मा प्र० पं० वासुदेव शर्मा मु० अरु०, कटक सं० १–१९२४ ई० मू० –)॥ पृ० १६
४२४	६	भ० गीता (मूल, गुटका) स० पं० गोपीनाथ शर्मा मु० अरु०, कटक सं० २–१९२४ ई० मू० ।) पृ० १७७
४२५	७	भ० गीता(मूल,गु०)प्र०पं० रत्नाकर गर्ग पता–राधारमण पुस्तकालय,कटक सं०२-१९२५ई०मू०।) पृ० १९२

५–लिपि-कनाड़ी ९–भाषा-कनाड़ी

क्रम सं०	पृ० सं०	विवरण
४२६	१	श्रीमद्भगवद्गीता (खण्ड २) टी० शिवानन्द सुब्रह्मण्य, मैसोर (गूढार्थ-बोधिनी या रहस्यार्थ-प्रबोधिनी); खण्ड १ सं०–१९१३ ई० मु० क्राउन प्रेस, मैसोर; खण्ड २ सं०-१९१६ ई० मु० श्रीनिवास प्रेस, मैसोर मू० १०) पृ० १२२५
४२७	२	गीतार्थबोधिनी (मूल देवनागरी–लिपि; अध्याय ६) टी० गोविन्दराव सवानुर, धारवाड़ मु० कर्नाटक प्रिंटिंग वर्क्स, धारवाड़, सं० १–१८५० मू० ३) पृ० २६८
४२८	३	गीतार्थ विवरण टी० होसकेरे चिदम्बर्य स० व० पं० सालिगराम नारायण शास्त्री मु० परमार्थ प्रिंटिंग प्रेस, बंगलोर सं०–१९१७ ई० मू० ३) पृ० ४३१
४२९	४	गीता रहस्य (मूल देवनागरी-लिपि) ले० लो० तिलक (मराठी) अ० वासुदेवाचार्य भीमराव आलूर प्र० तिलकबन्धु, पूना मु० श्रीकृष्ण प्रेस, हुबली सं० १–१९१९ ई० मू० ३) पृ० ८५८
४३०	५	गीतामृत महोदधि टी० एम०श्रीकान्त्य,सागरा मु० कब्स्टन प्रेस,बंगलोर सं०१–१९०८ ई०मू०॥) पृ० ८०
४३१	६	श्रीकृष्णार्थ वाणीविलास–भगवद्गीता ले० स्वर्गीय मैसूर-महाराज एच० एच० चमराजेन्द्र उडियार मु० चामुंडेश्वरी प्रेस, बंगलोर सं० २–१९०८ ई० मू० ॥–) पृ० ६१
४३२	७	गीतार्थसार (खण्ड२रा और ३रा; शांकर–भाष्यानुवाद) टी० वेंकटाचार्य तुप्पलु प्र० कृष्णैय्या वाजपेई बुक डिपो, बंगलोर; खण्ड२ सं०–१९००; खण्ड ३ सं०–१९०१ ई०मू० ५) पृ० ७६०
४३३	८	श्रीमद्भगवद्गीता टी० रामकृष्ण सूरी प्र० नरसिंहैय्या होलकल्लु, मु० वागेश्वरी प्रेस, बंगलोर। सं० २–१८९५ ई० मू० १॥) पृ० ३६३
४३४	९	गीतार्थदीपिका (लिपि–तेलगुमें कनाडी भाषानुवाद) टी० किलांकी शेष गिरिराव, मद्रास प्र० मैहाकर श्रीनिवासाचार, मु० कमर्शियल प्रेस, मद्रास सं०–१९१२ ई० मू० ४) पृ० ५०४

क्रम सं०	पु०सं०	विवरण
४३५	१०	श्रीमद्भगवद्गीता (विद्यानन्द ग्रन्थमाला सीरीज नं० ७) बालबोधिनी टीका सहित ले० १वी० आदिनारायण शास्त्री, २ के० सुन्दर शास्त्री, ३ पनचाम सुन्दर शास्त्री ४ वी० सीताराम शास्त्री मु० आइडियल प्रेस, बंगलोर सं०१-१९१३ ई० मू०३) पृ० ४११
४३६	११	कर्नाटक-भगवद्गीता ले० नागारस कर्नाटक कवि (पद्यात्मक) सं० एम० श्रीनिवासराव बी० ए० मु० दी जी० टी० ए० प्रेस, मैसोर सं०-१९०८ ई० मु० १) पृ० १३०
४३७	१२	गीत्या गुट्ट अर्थात् गीता-रहस्य टी० श्रीरंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर एम० ए० प्र० कर्मवीर कार्यालय, धारवाड़ । मु० श्रीकृष्ण प्रेस, धारवाड़ सं० १-१९२८ ई० मू० १=) पृ० १८६
४३८	१३	श्रीमद्भगवद्गीता टी० एच० शेषाचार्य, मु० दी बंगलोर प्रेस, बंगलोर सं०-१९२८ ई० मू० २) पृ० ४००
४३९	१४	संक्षेप गीता ले० वी० आत्माराम शास्त्री, उदयमणि, मु० सरदार प्रेस, मंगलोर सं०-१९२२ ई० मू० ॥=) पृ० ७८
४४०	१५	गीतासार सर्वस्व (निबन्ध) ले० श्रीकाम्य मु० बंगलोर टाउन प्रेस, बंगलोर सं०-१९०६ ई० मू० =) पृ० १७
४४१	१६	श्रीमद्भगवद्गीता-सार-विचार (गीता व्याख्यान) ले० श्रीमहाभागवत कुर्तकोटि शंकराचार्य विद्याभूषण वेदान्तवाचस्पति आदि, करवीर मठ (खानदेश) प्र० एच० चिदम्बरं मु० धर्मप्रकाश प्रेस, मंगलोर मू० १॥) पृ० २७५
४४२	१७	श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका, पद्य) टी० बी० श्रीनिवास भट्ट साहित्य शिरोमणि (सुखबोधिनी टीका) प्र० मु० श्रीकृष्ण प्रेस, उडुपी सं०१-१९२७ ई० मू० २।) पृ० ४८७
४४३	१८	श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका, पद्य) टी० एस० सुब्बाराव एम० ए० प्र० निर्णयसागर प्रेस, बम्बई सं०२-१९२३ ई० मू० ॥।=) पृ० ३०८
४४४	१९	श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका, पद्य) टी० शिवानन्द सुब्रह्मण्य, मैसूर मु० कोदान्ड राम प्रेस, मैसोर। सं० १-१९२३ ई० मू० ॥।)

६-लिपि-तामिल ▲१०-भाषा-तामिल

क्रम सं०	पु०सं०	विवरण
४४५	१	श्रीमद्भगवद्गीता (तामिल अनुवाद) अ० रामचन्द्रानन्द सरस्वती (तात्पर्य बोधिनी) मु० वीरमगल विलासम् प्रेस, मद्रास प्रा० बी० रत्नानायक एण्ड सन्स, मद्रास; सं० १-१९२७ ई० मू० १) पृ० ८३९
४४६	२	भ० गी० ले० त्रिवेंकट स्वामी प्र० कलारत्नाकर प्रेस, मद्रास सं-१९०० ई० मू० ४) पृ० ६२८
४४७	३	भ० गी० (खण्ड२) टी० १ वी० कुप्पू स्वामी अय्यर, २ बी० वी० वेंकटरमण अय्यर (गीतार्थ दीपिका) प्र० एस० जी० अय्यर एण्ड कं०, ट्रिप्लीकेन, मद्रास सं०५-मू० ९) पृ० ६६७
४४८	४	भ० गी० ज्ञानेश्वरी (मराठी) अ० टी० पी० कोथेण्डाराम अय्यर (तामिल अनुवाद) प्र० पाण्डुरंग प्रेस, ट्रिप्लीकेन, मद्रास मू० ५॥) पृ० १०४०
४४९	५	भ० गी० ले० श्रीमती आर० एस० सुब्बालक्ष्मी अम्माल बी० ए० एल० टी० प्र० शारदा युनाइटेड प्रेस, मद्रास सं० १-१९२८ ई० मू० २।) पृ० २७८

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
४५०	६	भ० गी० ले० लक्ष्मणाचार्य प्र० कडुपली शेषाचार्य मु० वानीविलास मीथीराकर प्रेस, मद्रास सं० १-१९१४ ई० मू० २॥) पृ० ३७४
४५१	७	भ० गीता वचनम् ले० वी० अरुमुहम् सेरवी; प्र०रिपन प्रेस, मद्रास,सं०-१९२१ई० मू०१॥) पृ०२८८
४५२	८	भ० गीता भाष्यम् टी० ए० अनन्ताचार्य (शांकर-भाष्यनुवाद) प्र० रिपन प्रेस, मद्रास सं० १९२५ ई०; मू० २।) पृ० २७६
४५३	९	भ० गीता (तामिल अनुवाद) अ० परमहंस सच्चिदानन्द योगेश्वर; पता-भारती प्रेस, मद्रास; सं०-४-१९२८ई० मू० २।) पृ० ४६०
४५४	१०	भ० गी० (गुटका) ले० सी० सुब्रह्मण्य भारती; प्र० भारती प्रेस, ट्रिप्लीकेन, मद्रास; सं० १९२८ ई०; मू० ।) पृ० २६०

७–लिपि–तेलगु ▲ ११–भाषा–तेलगु

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
४५५	१	श्रीमद्भगवद्गीता–परमार्थचन्द्रिका (खण्ड ६) टी० चतुर्वेद सुन्दरराम शास्त्री प्र० मु० सारदाम्बा विलास प्रेस, मद्रास सं० १-१९११, १९१३, १९१४, १९१५, १९२४, १९२७ मू० ३५) पृ० ३१५०
४५६	२	श्रीमद्भगवद्गीता (मूल सहित) टी० रामचन्द्र सारस्वत (पद्य) प्र० वी० रामस्वामी मद्रास सं० १-१९२८ ई० मू० २॥।) पृ० ६७५
४५७	३	श्रीमद्भगवद्गीता टी० ब्रह्मश्री नोहरी गुरुलिङ्ग शास्त्री मु० अमेरिकन डायमंड प्रेस, मद्रास सं० १-१९२८ ई० मू० ॥) पृ० ४८०
४५८	४	श्रीमद्भगवद्गीता प्र० हिन्दू समाज, राजमहेन्द्री सं० १-१९२८ ई० मू० ॥) पृ० १४५
४५९	५	श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका) टी० ब्रह्म श्रीसतावधारी सूर्यनारायण शर्मा (पद्य) प्र० वी० रामस्वामी शास्त्री एण्ड सन्स मु० दी अभिज्ञा प्रेस, मद्रास सं०१-१९२६ ई० मू० ।) पृ० ३६५
४६०	६	श्रीभगवद्गीता (गुटका; तेलगु अनुवाद सहित) प्र० वी० रामस्वामी शास्त्री एण्ड सन्स, २९२ इस्पलेनेड, मद्रास सं०-१९२६ ई० मू० ॥) पृ० ४००
४६१	७	भगवद्गीता (गुटका, मूल तेलगु-लिपिमें) टी० ऐनी बेसेन्ट (अंग्रेजी अनुवाद) प्र० वी० रामस्वामी शास्त्री, इस्पलेनेड, मद्रास सं०२-१९२४ ई० मू० ॥) पृ० ४७०
४६२	८	भगवद्गीता (गुटका, मूल) प्र० वी० रामस्वामी शास्त्री, मद्रास सं० १-१९२७ ई० मू० ।=) पृ० २९५

८–लिपि–मलयालम् ▲ १२–भाषा–मलयालम्

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
४६३	१	श्रीमद्भगवद्गीता टी० ईश्वरानन्द सरस्वती (श्लोकशः अनुवाद और श्लोकानुक्रमणिका सहित) मु० भारत विलासम् प्रेस, ट्रिचुर सं०-११०३ मलयालम् संवत् मू० १) पृ० ३१०

९ लिपि-गुरुमुखी ❀ १३ भाषा-पंजाबी

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
४६४	❀१	श्रीमद्भगवद्गीता-प्र० चिरागदीन सिराजदीन, ताजरान कुतुब, लाहौर सं० १-१९५१ वि० मू०) पृ० ७८०
४६५	❀२	भ० गीता या गोविन्द गीता ले० सरदार हरिसिंह लाली (पद्यानुवाद) प्र० रामचन्द्र सक्सेना बुकसेलर, मायकटाला, लाहौर सं०६-१९५३ वि० मू० १।) पृ० ६७०

१० लिपि-देवनागरी और सिंधी(-उर्दू) ❀ १४ भाषा-सिंधी

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
४६६	१	श्रीमद्भगवद्गीता टी०मास्टर लाधीचन्द फूलचन्द कौल,प्र०मुंशी पोकरदास थानूरदास,शिकारपुर (सिन्ध)मू० २)
४६७	२	श्रीमद्भगवद्गीता टी० जयरामदास होतीचन्द लाबिरियो शिकारपुरी (मूल और सिंधी-भाषानुवाद; देवनागरी-लिपि) प्र० ग्रन्थकार पता—थदासिंह एण्ड सन्स बुकसेलर्स, शिकारपुर, सिंध सं० १-१९८५ वि० मू० ॥=) पृ० २५०
४६८	३	भ० गीता टी० मास्टर होतीचन्द संगूमल टेकचानी, करांची, (मूल, सिंधी-पद्यानुवाद. देवनागरी-लिपि) प्र० ग्रन्थकार, कराची, सिंध सं० १-१९८७ वि० मू०१=) पृ० ३००
४६९	४	भ० गीता टी० मास्टर होतीचन्द सिंघूमल टेकचानी (सिंधी लिपिमें अनुवाद)प्र० ग्रन्थकार, करांची सं० १-१९२५ ई० मू० १) पृ० २६४
४७०	५	भ० गीता टी० दयाराम गीदूमल मु० स्टैंडर्ड प्रिंटिंग वर्क्स, हैदराबाद, (सिन्ध) सं० २-१९१० ई० मू० ११)पृ० ४११
४७१	६	भ० गीता प्र० हाशानन्द चेतराम, कराची सं० १-१९२१ ई० विनामूल्य पृ० २०५
४७२	७	भ० गीता (गु०; चित्र ३५) टी० पं० तेजूराम रोचीराम शर्मा (सिंधी-लिपिमें केवल भाषानुवाद)प्र० ग्रन्थकार, कराची मु० कोहीनूर प्रिंटिंग प्रेस, कराची सं० ४-१९८१ वि० मू० ॥=) पृ० २०६
४७३	८	भ० गीता (गु०, मूल देवनागरी-लिपिमें) टी० पं० तेजूराम रोचीराम शर्मा प्र० ग्रन्थकार, कराची (सिंधी-लिपिमें भाषानुवाद) मु० कोहीनूर०, कराची सं०५-१९२८ ई० मू० ।) पृ० ३५०

११ लिपि-फ़ारसी ❀ १५ भाषा-उर्दू

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
४७४	१	श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य ले०-लोकमान्य तिलक (मराठी) अ० शान्तिनारायण पता—नारायण दत्त सहगल एण्ड सन्स, लाहोरी गेट, लाहौर सं०२-१९७४ वि० मू० ४॥) पृ० ५१०
४७५	२	श्रीमद्भगवद्गीता (मूल देवनागरी-लिपि) टी० आचलीनाथ (गद्य और पद्यानुवाद) प्र० मु० रामनारायण प्रेस, मथुरा सं० ५-१९२२ ई० मू० २॥) पृ० ३५५
४७६	३	श्रीमद्भगवद्गीता-अलमूए-तमन्ना ले० मुंशी रामसहाय 'तमन्ना' (पद्य) प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ सं०१-१९१३ ई० मू० ।=) पृ० १२५

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
४७७	४	श्रीमद्भगवद्गीता—मखज़ने इसरार (केवल १४ अध्याय) अ० पं० जानकीनाथ साहेब (पद्यानुवाद) प्र० पं० दीनानाथ मदन, देहलवी पता—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ सं० १–१९१४ ई० मू० ।।।) पृ० ५५
४७८	५	श्रीमद्भगवद्गीता—आत्मप्रकाश ले० एक गीता प्रेमी (केवल भाषा) प्र० जे० एस० संतसिंह एण्ड सन्स, चौकमती, लाहौर सं०–१९७७ वि० मू०) पृ० २१६
४७९	६	श्रीमद्भगवद्गीता (मूल देवनागरी-लिपि) टी० भगवानदास भार्गव प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ सं०१–१९२७ ई० मू० २।।) पृ० ३७४
४८०	७	श्रीमद्भगवद्गीता—नज्म मशरेह और नुगमा रहमानी मशरेह (केवल पद्य और गद्यानुवाद) स० मुन्शी सूर्यनारायण मेहर मु० हिन्दुस्थान एलेक्ट्रिक प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली सं० २–१९२५ ई० मू० १।) पृ० २८८
४८१	८	श्रीमद्भगवद्गीता ले० मुन्शी देवीप्रसाद सक्सेना (केवल गजल छन्द) पता—स्वरूप किशोर एम० ए०; एल एल० बी० मैनपुरी (यू० पी०) मू० ।।) पृ० १६४
४८२	९	गीताके राज ले० भाई परमानन्द एम० ए० (केवल गद्य) प्र० लाजपतराय पृथ्वीराज साहनी, लाहौरी गेट, लाहौर सं०२– मू० १।) पृ० २२४
४८३	१०	श्रीमद्भगवद्गीता—गिज़ाय रूह ले० पं० प्रभुदयाल मिश्र (पद्य) पता—मिश्र आश्रम, छावनी, नीमच सं० १–१९२६ ई० मू० १) पृ० १२०
४८४	११	श्रीकृष्ण उपदेश (केवल भाषा) ले० शान्तिनारायण लाला नारायणदत्त सहगल एण्ड सन्स्, आर्यबुकडिपो, लाहौर सं०–१९१८ ई० मू० २) पृ० ३००
४८५	१२	श्रीमद्भगवद्गीता ले० राममोहन प्र० मु० महता किसनचन्द्र मोहन; शान्ति स्टीम प्रेस, रावलपिन्डी सं० १–१९२४ ई० मू० ।=) पृ० १२०
४८६	१३	श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका; केवल भाषा) ले० महात्मा जीतराज जालंधरी प्र० दीवानचन्द्र गंगाराम, लाहौरी दरवाजा, लाहौर सं० २–१९२६ ई० मू० ।।=) पृ० २७५
४८७	१४	श्रीमद्भगवद्गीता (गु०; केवल भाषा) ले० एम० एस० जौहर प्र० भाई दयासिंह एण्ड सन्स, लाहौरी दरवाजा, लाहौर मू० ।।) पृ० २२५
४८८	१५	श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका; मूल देवनागरी–लिपिमें) टी० अंगीराम मेहरा प्र०मदनलाल लालचन्द्र, सनातन बुकडिपो, बजाज हट्टा, लाहौर सं०१–१९२५ ई० मू० ।।।) पृ० ३६४
४८९	१६	श्रीमद्भगवद्गीता(गु०,केवल भाषा) ले०मुन्शी द्वारकाप्रसाद,प्र०रामदत्तामल एण्ड सन्स,लाहौर मू०)पृ०१७६

११ लिपि–फारसी* १६ भाषा–फारसी

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
४९०	१	भ० गीता–मग़फ़रत राज़ टी० हज़रत फैज़ी फ़य्याज़ी उल्मा असर–अकबर दरबारके कविरत्न (फारसी गद्यानुवाद)प्र०मन्त्री-गीता भवन,कुरुक्षेत्र मु०हिन्दुस्थान प्रिंटिंग वर्क्स,दिल्ली सं०१–१९२८ई०मू०।।=)पृ०८०
४९१	२	श्रीमद्भगवद्गीता ले० फ़ैज़ी कवि (पद्य) पता—रामप्रसाद नारायणदत्त, लाहौरी दरवाजा, लाहौर सं० ३–मू० ।) पृ० ७७

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
४९२	३	श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका) ले० फ़ैज़ी कवि (पद्य) प्र० मुन्शी जगदीशप्रसाद एम० ए० मु० आलीजाह दरबार प्रेस, ग्वालियर सं० १- १९२४ ई० मू० ।) पृ० १३०

१२ लिपि–Roman*१७ भाषा–खासी (आसाम)

493	1	Ka. Bhagavad Gita by Shivcharan Roy. Print. Khasi press, Mawkhal, Shillong. Ed. I--1903 Re. --/8/--pp. 200

Abbreviations.

(1.) Bh.G.=Bhagavad Gita. (2.) E.=Editor. (3.) Pub.=Publisher; Published. (4.) Print.=Printer; Printed. (5.)From.=Can be had from. (6.) Sans.=Sanskrit. (7.)Ed.=Edition. (8.) P. Ed.=Pocket Edition., (9.) T.P.S.=Theosophical Publishing Society. (10.)* =Rare; Out of print.

12 Character Roman * 18 Language English.

494	1	The Bhagavad Gita (With Notes) by Charles Wilkins; Pub. East India Company; Printed for C. Nourse, Opposite Catharine Street in the Strand, London; Ed. I-1785; Rs. 20/- pp. 156.
495	2	Garbe's Introduction to the Bhagavad Gita (Translated from German) by N. B. Utgikar. M. A., Poona; Ed. I-1918; Re. 1/8/-; pp. 35.
496	3	Gita-Bija or The main Portion of the Gita by G. V. Ketkar, M. A., LL. B., Poona; From. Gita Dharma Mandal, Poona; pp. 3.
497	4	The date of Mahabharat War by G. S. Karandikar, B. A., LL. B., Poona; From. Gita Dharma Mandal, Poona; pp. 4.
498	5	The Bhagvad Gita by Prof. S. V. Phadnis, Poona; From. Gita Dharma Mandal, Poona; Ed. 1926; Re. -/-, 6; pp. 3.
499	6	Philosophy of the Bh. G. (An exposition with Text in Devanagari; Vols.2) by Chhaganlal G. Kaji, L. M. &, S., F. T. S.; Print. Ganatra Printing Works, Rajkot; From. Theosophical Society, Madras; Ed. I-1909;11 Rs. 5/8/-, pp. 660.
500	7	The Holy Order of Krishna (Gita Rahasya, 24 Lessons) ; Pub. The Latent Light Culture, Tinnevelly (S. India) ; Ed. I-1929; Rs. 25/-; pp. 100.

Serial No.	Book No.	Description.
501	8	Recurrent and Parallel Passages in the Principal Upanishadas and the Bh. G. by George C.O.Haas,M.A.,Ph.D.,New York City. Ed.-1922; Re.1/-;pp.43.
502	9	The Hindu Philosophy of Conduct. (Lectures on the Bh. G.) by M. Rangacharya, M. A.; (Vol. I, Chapters. 6 only, with Sans. Text) Print. & Pub. by The Law Printing House, Mount Road, Madras; Ed. II-1915; Rs. 5/-; pp. 650.
503	10	Bh.G. and Its Teachings by Radhika Narain.(Part I, Chaps. 12 only); From: The Imperial Book Depot, Delhi; Ed. I-1928; Re. 1/-; pp. 125.
504	11	Essays on the Gita (Vols. 2) by Sri Aurobindo Ghosh. Pub. Arya Publishing House, College St., Calcutta; Vol. I-Ed.II-1926; Vol.2-Ed.I-1928; Rs. 12/8/-; pp. 900.
505	12	Bh. G. (With Sanat-Sujatiya and Anu-Gita) by Kashinath Trimbak Telang, M. A. ; 'The Sacred Books of the East Series' E. Prof. Max Muller; Print. The Clarenden Press, Oxford; Ed. II-1908; Rs. 8/-; pp. 450.
506	13	Bh. G. 'With Text in Devanagari' by W. D. P. Hill, M. A.; From: Oxford University Press, London; Ed. I-1928; Rs. 10/-; pp. 300.
507	14	The Gospel for Asia--Gita, Lotus and Fourth Gospel by Kenneth Saunders, D. Lt.; Pub. Society of Promoting Christian Knowledge, London; Ed. I-1928 Rs. 8/; pp. 250.
508	15	The Hindu Theology (Gita-pp.285 to 360) by Rughnathji Nichha Bhai Tatia, Badifalia, Surat; Ed. I-1917; Rs. 7/8/-; pp. 360.
509	16	Bh. G. (A Study-With Text in Devanagari) by S. D. Budhiraj, M. A., LL. B., Chief-Judge, Kashmere; Pub. Ganesh Co., Madras; Ed. I-1927; Rs. 5/-; pp. 550.
510	17	Bh. G. or The Song of the Blessed One (India's Favourite Bible) by Prof. Franklin Edgerton; Pub. The Open Court Publishing Co., Chicago. (U. S. A.) Ed. I-1925; Rs. 3/8/-; pp. 110.
511	18	Bh. G. or The Lord's Lay by Mohini Mohun Chatterji. Pub. Ticknor & Co.; From:Kegan Paul,Trench Trubnor & Co.Ltd.,London;Rs.26/4/-;pp. 300.
512	*19	Bh. G. (A Critical Study, With Text in Devanagari, 6 Chapters only) by C. M. Padmanabhachar , B. A., B. L., Coimbatore, Madras; Ed. I-1916; Rs. 6/-; pp. 1200.
513	20	Thoughts on the Bhagavad Gita '12 Lectures, Vol. I' by A. Brahmin F.T.S.; Pub. Theosophical Society, Kumbhakonam; Ed. I-1893; Re. 1/-; pp. 162.
514	*21	Bh. G. or The Sacred Lay- 'Trubnar's Oriental Series' by John Davis, M.A.; From: Trubnar & Co., London; Ed. I-1882; Rs. 12/-; pp. 210.
515	*22	Bh.G. 'In English Rhyme'by Bireshvar Chakravarti,Edited by [With Introduction and Notes] J.S. Chakravarti, M. A., F. R. A.S.; From: Kegan Paul Trench Trubnar & Co., London; Ed. I-1906; Rs. 10/-; pp. 200.

Serial No.	Book No.	Description.
516	*23	Bh. G. 'With Translation and Notes, Compiled from Various Writers'; Pub. The Christian Literary Society, Vapery, Madras; Ed.-I-1895; Re. 1/-; pp. 110.
517	*24	Bh.G. by Hurry Chand Chintamon; Pub. Trubnar & Co., London. Ed. I-1874; Rs. 2/8/-; pp. 100.
518	*25	A Collection of Esoteric Writings 'Gita Essays' by T. Subbarow, F. T. S., B. A., B. L.; Pub. Theosophical Publishing Society, Bombay; Ed.-1910, Re. 1/8/-; pp. 360.
519	26	Bh.G. Translation and Commentaries according to Madhwacharya [Dwaita-Philosophy] by S. Subbarow, M. A.; From: T.S., Madras. Ed. I-1906; Rs. 3/-; pp. 350.
520	*27	A Hand book of the Vedanta Philosophy and Religion 'Gita Essay' by R. V. Khedkar, F. R. C. S., D. P. H., Etc., Kolhapur; Print. Mission Press. Ed. I-1911; Rs. 2/8/-, pp. 300.
521	*28	Bh.G. 'First Discourse only, With Text in Devanagari' by R.V. Khedkar, M. D., Etc., Kolhapur; Ed. I-1912; Re. 1/; pp. 50.
522	*29	Philosophical Discussions [Part I] by R.V. Khedkar. Ed. I-1913 Re. 1/-; pp. 80.
523	30	Gita Culture [Essay] by H.H. Jagad-Guru Anantacharya, Srikanchi; pp. 22.
524	31	The Sages of India [Gita-Lecture] by Swami Vivekanand; Pub. by S. C. Mitra, Udbodhan Karyalaya, Baghbajar, Calcutta.; Ed. I-1905; Re.-/1/-; pp. 20.
525	*32	Bh. G. or The Sacred Lay 'An Edition of the Sanskrit Text in Devanagari Character' by J. Cockburn Thomson; Pub. W. H. Allen & Co., London; Ed. I-1867; Rs. 10/-; pp. 100.
526	33	The Land-Marks of Ethics according to Gita by Bullaram Mullick, B. A.; Pub. Nakulchandra Dutta, Calcutta; From: Oriental Book Depot, Mayavaram, S. India.; Ed. I-1894; Re. -/4/-; pp. 40.
527	34	The Gita and Spiritual Life by D. S. Sarma, M.A.; Pub. T. Pubg. House, Adyar, Madras; Ed. I-1928; Re. 1/8/-; pp. 140.
528	35	Introduction to the Bh. G. by D. S. Sarma, M. A.; Pub. Ganesh & Co., Madras; Ed. I-1925; Re. 1/-/-; pp. 110.
529	36	Krishna the Charioteer or The Teachings of the Bh. G. by Mohini Mohun Dhar, M.A., B. L., Pub. T. P. House, London; Ed. II-1919; Rs. 3/-, pp. 200.
530	*37	Krishna & The Gita [Raja Surya Rao's Lectures, Ist Series] E. Sitanath Tattwabhushan. Print. and Pub. Brahmo Mission Press, Cornwallis St., Calcutta; Rs. 2/8; pp. 410.
531	38	Krishna& The Puranas [Essay] by Sitanath Tattwabhushan; Print. and Pub. Brahmo Mission Press, Calcutta; Ed. I-1926; Re. 1/8/-; pp. 140.
532	39	Rambels in Vedanta 'Gita Essay' by B. R. Rajam Aiyer; Pub. S. Ganesan, Triplicane, Madras; Ed. I-1925; Rs. 5/-; pp. 900.

Serial No.	Book No.	Description.
533	40	The Vedanta-Its Ethical Aspects [Gita Essay] by K. Sundararama Aiyer; Pub. Vani Vilas Press, Shreerangam; Ed. I-1923; Rs. 3/-; pp. 420.
534	41	Karma Yoga [Eleven Lessons] by Yogi Bhikshu; Pub. Yogi Publication Society, Chicago. U. S. A. ; Ed. I-1928; Rs. 6/4/-; pp. 140.
535	42	Bh. G. by A. Mahadeva Shastri, B. A. [With the commentary of Shree Shankracharya--Adwaita Philosophy]; Pub. V. Ramaswami Sastrulu & Sons, Esplanade, Madras; Ed. III-1918 Rs. 5/-pp. 525.
536	43	Bh. G. by Annie Besant & Bhagwandas [with Sans. Text & word-meaning] Pub. T. P. House. Madras; Ed. II-1926; Rs. 3/12/; pp. 400.
537	44	Bh. G. [De Carmine Dei Deorum; Vols. 3, with Sans.text] by R. S. Taki, B.A.; Pub. The Sadbhakti Prasarak Mandli, Saraswati Bag, Andheri, Bombay. Ed. I-1923; Rs. 10/-; pp. 1200.
538	45	Great Saviours of the World [Vol. I, Gita Essay] by Swami Abhedanand; Pub. The Vedanta Society, New York. Ed. I-1911; Rs. 3/-; pp. 200.
539	46	Bh. G. [With Sans. Text and word-meaning] by Swami Swarupanand; Pub. Adwaita Ashram, Mayavati, Almora, Himalayas. Ed. IV-1926; Rs. 2/8; pp. 425.
540	47	Bh. G. (The Chief Scripture of India] by W. L. Wilmshurst; Pub. William Rider & Son Ld., London. Ed. I-1905; Re. 1/8/-; pp. 90.
541	48	Krishna's Flute [Essay] by Prof. T.L. Vaswani; Pub. Ganesh & Co., Madras. Ed. I-1922; Re. 1/8; pp. 140.
542	49	Bh. G. [An Exposition] by Dr. Vasant G. Rele, F.C.R.S., L.M. & S. Pub. by the Author, Parekh St. Girgaon, Bombay. From: D.V. Taraporevala Sons & Co., Hornby Rd., Bombay. Ed. I-1928; Rs. 4/12/-; pp. 200.
543	50	Bh.G.-The Philosophy of action. [Lok.B.G.Tilak's Gita-Rahasya in Marathi] Translated by V. Mangal Vedkar; Pub. B. G. Paul & Co., Madras; Ed. III-1928; Rs. 2/-; pp. 400.
544	51	Bhagawat--Gita [with Sanskrit Text, word-Meaning and Notes Etc.; The Sacred Books of the Hindus Series.] by Radhacharan B.A.,B. Sc.,LL.B.; Pub. Panini Office, Bahadurganj, Allahabad; Ed. I-1928; Rs. 2/-; pp. 620.
545	52	Bh. G. [with Notes & Sans. Text, Vol. I, Chaps. 1-6] by K. S. Ramaswami Sastrigal, B. A. B. L., Sub-Judge, Tanjore.; Pub. V. V. Press., Shreerangam; Ed. I-1927; Rs. 2/-; pp. 400.
546	53	Bh. G. or The Divine Path to God [Essay] by K.S. Ramaswami Sastri; Pub. Ganesh & Co., Madras; Ed. I-1928; Re. 1/-; pp. 175.
547	54	Introduction to Bh.G. [with Sans. Text] by Dewan Bahadur V.K. Ramanujacharya B. A.; Pub. T. P. H., Madras; Ed. I-1922; Rs. 3/-; pp. 260.
548	55	Dialogue Divine and Dramatic [Gita Essay] by Gitanand Brahmachari; Pub. B. G. Paul & Co., Madras; Ed. I-1928; Re. 1/- pp. 90.

Serial No.	Book No.	Description.
549	56	Shri Krishna and The Bh.G. by Elizabeth Sharpe; Pub. Arthur H. Stockwell, London; Ed. I-1924; Re. 1/14/-; pp. 50.
550	57	Bh. G. 'A Fresh Study' by D. D. Vadekar, M. A.; Pub. Oriental Book Agency, Poona; Ed. I-1928; Re. 1/-; pp. 100.
551	58	The Philosophy of the Bh. G. [Lectures] by T. Subbarow; Pub. T. S., Madras; Ed. II-1921; Rs. 2/8; pp. 130.
552	59	Shri Krishna--His Life & Teachings by Dhirendranath Paul. Pub. The Research Home, Masjidbari St., Calcutta; Ed. IV-1923; Rs. 10/-;pp. 500.
553	60	Shri Krishna by Bepin Chandra Pal, M.L.A.; Pub. Tagore & Co., Madras; Re. 1/8; pp. 180.
554	61	Brindavan Krishna by Ch. Gopinatham. B. A., Vakil.; Pub. Author, Ellore, Kistna.; Ed. I-1923; Re. 1/-; pp. 200.
555	62	The Ideal of the Karma Yogin [Essay] by Sri Aurobindo Ghosh. Pub. Arya Publishing House, College St., Calcutta; Ed. III-1921; Re. 1/4; pp. 112.
556	*63	Bh. G. [The Introductory Study with Sanskrit Text] by C. V. Narsingh Rao Sahib, B.A. B.L., Chittore; Print. Brahma Vadin Press, Madras; Ed. I-1912; Rs. 2/-; pp. 250.
557	64	Stray Thoughts on the Bh. G. [First Series] by The Dreamer. Pub. T.P.S., Calcutta; Ed. I-1901; Re. 1/-, pp. 140.
558	65	Bh.G. or the Song Divine [A metrical rendering with annotations; Poetry] by C. C. Caleb, M. B., M. S.; Pub. Luzac & Co., London. Ed. I-1911, Rs. 2/10; pp. 175.
559	66	Bh. G. or the Lord's Song by Annie Besant. Pub, T. P. H., London. Ed. V-1918. Rs. 2/10; pp. 115.
560	67	Hints on the study of the Bh. G. [Lectures] by Annie Besant. Pub. T.P.H.; Madras. Ed. III- 1925 Re.-/14/-; pp. 125.
561	68	Why I should read the Gita ? [Essay] by B.K. Venkatachar B.A.,LL. B., Advocate,Chamarajpuram,Mysore. 'For Private circulation only.'pp.150.
662	69	Lord Krishna's Message [Based on the Bh. G.] by Lala Kannoomal, M. A.; Pub Atmanand Jain Pustak Pracharak Mandal, Roshan Mohalla, Agra. Ed. I-1917 Re. -/4/-; pp. 22.
563	70	On Reading Gita [Poem] by Jogendranath Mukerjee, 3/B Bepin Mitra Lane, Shyam Bazar, Calcutta; Ed. I-1908; Re. -/12/-; pp. 80.
564	71	The Doctrine of the Bh. G. by Pt. Bhawani Shanker.; Pub. J. J. Vimdalal, Hammam Street, Fort, Bombay; Print. The Karnatak Printing Press, Thakurdwar, Bombay; Ed. I-1928; Re -/8/-; pp. 50.
565	72	Lectures on Bh. G. by Pt. Bhawani Shanker.; Pub. Lalit Mohan Banerjee, T. S., Uttarpara, Bengal.; Ed. II-1923; Re. -/12/-; pp. 75.

Serial No.	Book No.	Description.
566	73	The Gita & Gospel by J. N. Farquhar 'alias Neil Alexander' M. A.; Pub. The Christian Lit. Society, Madras; Ed. III-1917; Re. -/6/-; pp. 110.
567	74	Permanent Lessons of the Gita by J. N. Farquhar 'alias Neil Alexander' M.A. Pub. The Christian Lit. Society, Madras; Ed. II-1912; Re.--/2/-, pp. 32.
568	75	The Age and the Origin of the Gita by J.N. Farquhar 'alias Neil Alexander' M. A. Pub. The Christian Lit. Society, Madras; Ed. -1904; Re. -/-/3; pp. 24
569	76	Gitamrit-Bodhini by Vanaparti Ramprapandas 'alias Lt. Henry Wahb', From: T. P. S., Madras. Ed. I-1908; Re. -/4/-; pp. 100.
570	*77	The Bhagavad Gita 'in modern life' by Lala Baijnath, B. A.; Pub. Vaishya Hitkari Office, Meerut; From: Panini Office, Bahadurganj, Allahabad; Ed. I-1908; Re. 1/-; pp. 110.
571	*78	Adwaitism 'Essay' by R. V. Khedkar, M. D. etc., Kolhapur; Ed. I-1913; Re 1/8/-; pp. 200.
572	79	The Message of the Bh. G. by Lala Lajpat Rai.; Pub. Rangildas M. Kapadia; From: T. S., Madras; Ed. I- 1921; Re. -/12/-; pp. 70.
573	80	The Teachings of the Bh. G. 'An Address' by H. N. Apte.; From: Oriental Book Depot, Mayavaram, S. India. Ed. I-1901. Re. -/14/-; pp. 34.
574	81	Bh. G. 'Part. I with Sans. Text' Pub. Bharat Dharma Mahamandal, Benares City; Ed. I-; Re. -/6/-; pp. 100.
575	82	Kurukshetra 'Gita-Essay' by F. T. Brookes; Pub. V. V. Press, Shreerangam; Ed I-1910; Re. -/6/-; pp. 52.
576	83	Bh. G. 'with Sans. Text' by F. T. Brookes. Pub. V.V. Press, Shreerangam. Ed. I-1909; Re. 1/4; pp. 140.
577	84	The Gospel of Life 'Gita-Essay, Vol. I' by F. T. Brookes.; Pub. V. V. Press, Shreerangam; Ed. I-1910; Re. 1/8; pp. 400.
578	*85	The Young Men's Gita 'with Notes' E. Jogendra Nath Mukerjee B. A; From: S.K. Lahiri & Co., College St. Calcutta; Ed. I-1900.; Re.1/8; pp.200.
579	86	Bh. G. Or The Song of the Master by Charles Johnston. Pub. T. S., New York.; Rs. 4/14/-; pp. 200.
580	87	Bh. G. Interprated by Holden Edward Sampson. Pub. The EK--Klesia Fellowship, Tanners Green, Wythall, Birmingham, England. Ed. II-1923; Re. 1/8; pp. 165.
581	88	Bh. G. or The Lord's Song. 'The Temple Classics Series' by Liyonal D Barnett. ; Pub. G. M. Dant & Son Ld., Aldine House, London; Ed. II-1920; Re. 1/8/-; pp. 210.
582	89	The Songs Celestial 'Poem' by Sir Edvin Arnold.; Pub. Kegan Paul Trench Trubnar & Co., London; Ed. New--1921; Re. 1/12/-; pp. 112.

Serial No.	Book No.	Description.
583	90	The Bhagavad Gita-The Book of Devotion.'Pocket Edition'by William Q. Judge. Pub. T. S., Pointloma, California, U.S.A.; Ed.II-1922; Rs. 2/4/-;pp. 140.
584	91	Notes on the Bh. G. 'P. E.' by William Q. Judge. Pub. T. S., Pointloma. Ed.-1918; Rs. 4/6; pp. 240.
585	92	Bh. G. or The Blessed Lord's Song. 'P. E.' by Swami Parmanand. Pub. The Vedanta Centre, Boston Mass, U. S. A.; Ed. III-; Rs. 3/12; pp. 150.
586	93	Notes and Index to the Bh. G. 'P. E.' by K. Brownie, M. A., Pub. T. P. S., London; Ed.--1916; Re. 1/-; pp. 105.
587	*94	Bh. G. by Charles Wilkins 'with Notes; P. E.' Pub. T. P. S.,Bombay, Ed.-1887; Re; -/12/-; pp. 300.
588	*95	Lectures on the Study of the Bh. G. 'P. E.' by T. Subbarow, B. A., B. L., Pub. T. P. S., Bombay. Ed.-1910; Re. -/14/-; pp. 225.
589	96	Bh. G. 'P. E.' by Tukaram Tatya, F. T. S., Pub. T. P. S.; Bombay. Ed.-1920; Re. -/12/-; pp. 360.
590	97	Practical Gita 'Gita Essay; P. E.' by Narain Swaroop, B. A., L. T., Pub. The Ramtirtha Publication League, Lucknow;Ed.I-1922; Re.-/4/-;pp.200.
591	98	Bh. G. or The Lord's Song. 'with Sans Text; P. E.' by Annie Besant. Pub. T. P. S.,Madras; Ed.IV--1924; Re. -/4/-;'Gilt Binding Rs.2/8/-;' pp. 300.
592	*99	Karma--works and wisdom "Essay" by Charles Johnston, M. R. A. S.Pub. The Metaphysical publishing Co, New York. Ed. I--1900. Rs. 2/8 pp. 56.
593	*100	Bh. Gita.'with Sri Ramanujachary's, Visishtadvaita-Commentary.'Trans. by A. Govindacharya. Print. The Vaijayanti press, Mount Rd. ,Madras. Ed. I--1898A.C. Rs. 12/8 pp. 600.
594	101	Bh. Gita. "A synthesis of the" An arrangement of the teachings of the Gita in their relation to the five paths of attainment. With comments by the Editors of The Shrine of Wisdom. "Manual no. 9" Pub. The Shrine of Wisdom, Lincoln house, Acacia road, Acton, London, W. 3. ; Ed. I--1927 Rs. 3/- pp.75
595	*102	*Studies in the Bh. Gita. "Vol. 3" by The Dreamer. Pub. T.P.S., London. Ed. I--1902, 1903, 1904. Rs.6/4/- pp. 380.*
596	103	Songs of the Soul--Including 'Vision of Visions' from the Bh. Gita. by Swami Yogananda. Pub. Yogoda & Sat--Sanga, Mount Washington, 3880 San Rafael Avenue, Los Angeles, California, U.S.A. Ed.V--1926 Rs.4/8 pp.120

12 Character Roman * 19 Languages Foreign.

597	*1	Bhagavad Gita 'Latin' containing:-- 1 Sans. Text in Devanagri character. 2 Latin Trans. by Augustus Guilelmus A. Schlegel.

Serial No.	Book No.	Description.
		3 English essay by Rev. R.D. Griffith. E.--J. G., Bangalore; Ed.-- 1848. 'Reprint of the edition published at Bonn. in 1823' ; Rs. 4/--; pp.90.
598	*2	Bh. G.;'Critical annotations and notes in Latin with text in Devanagri character' by Augustus Guilelmus A. Schlegel 'Preface'; E. Christian Lassen 'Lecture'; Pub. Prostat Apud Aduardum Wiber, Bibliopolam, Bonnae; Ed.-1846; Rs. 25/--; pp.350.
599	3	Bh. G. 'French Preface and text in Roman character.' E. Dr.St.Fr. Michalski Iwienski.; Pub. Paul Geuthner, Paris; Ed. I-1922, 'Publication. no. 1 of the Asiatic Society of Warsaw, Russia'; Rs. 3/--; pp. 50.
600	*4	Bh. G. 'Japanese' Sacred books of world series., Part I, Vol.6 'Sekai Seiten Zenshu' ; Pub. World Literary works publishing society. 'Sekai Bunko Kanko-Kai', No. 52 myogatani-machi, Koishi Kawa Ku, Tokyo, Japan; Rs. 6/-.
601	*5	Bh. G. 'Italian' by Florence N. D.; Rs. 8/--.
602	*6	La Bh. G. 'Italian; Poetry' by Michele Kerbaker; Pub. 'Rivista Orientali' series, Pirenze; Print. Tippografia, Fodratti, Frenze; Ed. I-, pp. 110.
630	7	Bh.G. or Horrens Ord 'Danish; Religions Translation Series no. 2' by Dr. Phil Poul Tuxen; Pub. Aage Marcus, Cobenhaven, Denmark. Ed.I--1920; Rs. 5/4/--; pp.100.
604	*8	Vier Philosophische Texte Des Mahabharatam 'Bh.Gita; Anugita etc.; German' by Dr. Paul Deussen., Prof. Kiel University. Pub. F. A. Brockhaus, Leipzig. Ed. I-- 1906 Rs. 20/-- pp. 1030.
605	*9	Studies in the Bh. Gita or Der Pfad zur Einweihung. 'German' by The Dreamer. Pub. Verlag von Max Altmann, Leipzig. Ed. I--1906 Rs. 2/8 pp. 155.
606	10	Bh. G. 'German--Translation' by Richard Garbe; Pub. H. Haessel, Verlag, Leipzig, Germany ; Ed. II Revised --1921; Rs.6/--; pp. 175.
607	11	Bh.G. or Des Erhabenen Sang. 'German' by Leopold von Schroeder. Pub. Eugen Diederichs, Verlag, Jena ; Ed. I--1922; Rs.4/--; pp. 100.
608	12	Bh. G. or Der Gesang Deo Erhabenen.'German; Poetry' by Theodor Springmann.; *Pub. Adolf Saal, Verlag, Lauenburg, Germany ; Print. Hurtung* & Co., 25, Hamburg; Ed. I--1921; Rs.4/--; pp. 115.
609	13	Die Bh. G. or Das Hohe Lied. 'German; Poetry' by Franz Hartmann M.D.; Pub. Theosophical publication, Leipzig; Print. W. Hoppe Borsdorf. Leipzig; Ed.IV--1924; Rs.5/--; pp. 220.

Serial No.	Book No.	Description.
610	*14	La Bh. Gita or Le Chant Du Bienheureux. 'Text in Roman character; Trans. in French' by M. Emile Burnouf. Pub. Imprimerie Orientale de ve Raybois; Nancy, France. Ed. I--1861 Rs. 2/8 pp. 250.
611	15	Bh. G. or Herrens Sang. 'Swedish; Peotry' by Nino Runeberg; Pub. Bajorck & Borjesson, Stockholm, Sweden ; Print. A.B. Fahlchantz press, Stockholm; Ed. I--1922; Rs. 2/8/- pp.150.
612	16	Bh. G. or Herrens Sang. 'Swedish.' by Frantz Lexow.; Pub. Teosofisk Samfunds Danske Forlag.; Print. Christian Andersens Bogtrykkeri, Kobenhavn.; From: Aktiebolaget C.E. Fritzes, Fredsgatan 2, Stockholm. ; Ed.-1920. Rs. 3/4-.pp. 160.
613	17	Bh. G.--Hangivandets Bok. 'Swedish' by William Q. Judge.;Pub. Almqvist & Wickaells Boktryckeri AB. , Upsala, Stockholm, Sweden ; Ed. III--1918; Rs. 2/8/-; pp.160.

पीछेसे आई हुई पुस्तकें:--

(लिपि-देवनागरी * भाषा-हिन्दी)

६१४	१	भ० गीता (खंड ३) टी० ब्रह्मचारी नर्मदानन्द हंसस्वामी (अन्वय, शब्दार्थ, भावार्थ सहित); मु० सनातन-धर्म प्रेस, मुरादाबाद; पता—रामशरणदास हरकरणदास, दिनदारपुर, मुरादाबाद; सं० १–१९१६, १७, १८ ई०; मू० १०) पृ० २३००
६१५	२	भ० गीता टी० विद्याविनोद ज्योतिष पुरुषोत्तमदास; प्र० शंकर साहित्य मन्दिर, बिजनौर; मु० दीनबन्धु प्रेस, बिजनौर; सं० १–१९८४ वि० मू० १।) पृ० १८०
६१६	३	मथुरेश गीता-सार-संगीत (पद्य-संगीत); ले० मुंशी मथुराप्रसाद, रिटायर्ड जज, जयपुर; प्र० ग्रन्थकार; मु० जैन प्रेस, जयपुर; पता—कन्हैयालाल बुकसेलर, तिरपोलिया बजार, जयपुर; सं०१–मू० ॥≈)॥ पृ० ११०
६१७	४	गीता-सार (बालोपयोगी; कुछ चुने हुए श्लोक; गुजराती अनुवाद सहित); टी० राज्यरत्न आत्माराम राधाकृष्ण, प्र० जयदेव ब्रादर्स, बड़ोदा; सं० ३ १९८४ वि० मू० ।) पृ० ५०
६१८	५	गीता-बीज (निबन्ध) ले० जी० वी० केतकर, बी० ए०, एल एल० बी०, पूना

(लिपि–गुजराती * भाषा–गुजराती)

६१९	१	भ० गीता (भीष्मपर्व पृ० ४० से ९०; मूल–देवनागरी) स० १ अविनाशंकर सदानन्द एमये, २ भाईशंकर नानाभाई सोलिसीटर (भारतार्थ-प्रकाश); प्र० एन० एम० त्रिपाठी एण्ड कं०, प्रिंसेस स्ट्रीट, बम्बई सं० ५–१९७७ वि०; मू० ३), पृ० २५५

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
६२०	२	पूर्वयोग-कर्मयोग खंड १ (निबन्ध) ले०-श्रीअरविन्द घोष; अ० प्र० श्रीअम्बालाल बालकृष्ण पुराणी, श्रीअरविन्द तत्त्व-प्रसारक-मण्डल, भरूच, सं० १-१६२२ ई० मू० ३।); पृ० २७०
६२१	३	भ० गीता (आपणो धर्म पृ० ९८ से ६२ ; गीता-निबन्ध); ले० प्रो० आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव, आचार्य-हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी ; प्र० महादेव रामचन्द्र जगुष्टे, अहमदाबाद ; सं० २-१६७६ वि० ; मू० ४) ; पृ० ५००
६२२	४	गीता-परिचय, ले०-श्रीरामदयाल मजूमदार, एम० ए० (बंगला) ; अ० पं० श्रीमाधव शर्मा; प्र० रघुनाथ गणेशानी कं०, हरकुंवर बिल्डिङ्ग, ठाकुरद्वार, बम्बई; पता-जीवनलाल अमरसी महेता, अहमदाबाद ; सं० १-१६७२ वि० ; मू० १॥) पृ० २००

*भ० गीता सम्बन्धी-हस्त० पुस्तकें; लेख; ट्रैक्ट्स; चित्र आदि:—

क्रम सं०	पु० सं०	विवरण
६२३	१	भ० गीता-पञ्चरत्न (गु०; हस्तलिखित, पुरानी) कई रंगीन चित्रों सहित, प्रत्येक पृष्ठमें चारों ओर सुनहरी रंगीन बेल। मूल्य ३५) पृ० २४०
६२४	२	भ० गीता- पञ्चरत्न (गु०; हस्त०) लेखक; एक काश्मीरी (कुछ स्तोत्रों सहित) चित्र २३, रंगीन बेल, प्रायः १०० वर्ष पुरानी; मूल्य २५) पृ० ३२०
६२५	३	भ० गीता- पञ्चरत्न (गु०; हस्त०) सचित्र, पुरानी (कुछ स्तोत्रों सहित) पृ० २५०
६२६	४	भ० गीता -तावीजी (बहुत महीन अक्षर, जर्मनीमें मुद्रित) सोनेके तावीजमें मू० ४४)
६२७	५	भ० गीता-एक ही चित्रमें सम्पूर्ण गीता, पत्थरके प्रेसमें छपी मू० १)
६२८	६	भ० गीता -एक ही फोटोमें सारी गीता, पता—विज्ञान नौका कार्यालय, ग्वालियर; मू० १॥)
६२९	७	भ० गीताके प्रश्नपत्र सं० १९८४।८५ प्र० गीता-परीक्षा-समिति, बरहज। बिना मूल्य
६३०	८	गीता-सम्बन्धी लेख निम्नलिखित पत्रोंसे संग्रहीत— 'कल्याण' गोरखपुर; 'कृष्ण-सन्देश' कलकत्ता; 'यादव' गोरखपुर; 'कृष्ण' कलकत्ता ; 'वेदान्तकेसरी' आगरा; 'सुधारक' हाजीपुर(गीतांक); 'धर्म' (बंगला) कलकत्ता ; 'वीरभूमि' (बंगला); 'नवजीवन' अहमदाबाद; 'समन्वय' कलकत्ता; 'विश्वमित्र' कलकत्ता; 'दिव्यचक्षु' ग्वालियर आदि।
६३१	९	गीता ट्रैक्ट्स:— गीता-नवनीत; लोक-संग्रह-प्रकरण; भगवत्प्रसाद; भगवत्प्रसाद (छोटा); योगानुष्ठान-प्रकरण; प्रजापति-सन्देश; यदा यदा हि धर्मस्य०; गीतामृतदुहे नमः आदि।
६३२	१०	गीता-कैलेण्डर (विराट्स्वरूप तथा गीताश्लोकविषयक कई चित्रों सहित), प्र० निहालचन्द कम्पनी, नारायण-प्रसाद लेन, कलकत्ता मू० ॥)
६३३	११	भ० गीताके भावानुसार बने हुए और श्रीकृष्ण सम्बन्धी; कई चित्र आदि

परिशिष्ट

उपर्युक्त संग्रहीत पुस्तकोंके अतिरिक्त, निम्नलिखित गीता-सम्बन्धी पुस्तकें गीता-प्रदर्शनीमें आयी थीं, वे वापस लौटा दी गयीं। इनमें कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं, जो प्रदर्शनीमें आ नहीं सकीं, परन्तु सूचना मिली है।

श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया, रामकृष्टोपुर, हवड़ा द्वारा प्राप्त—

*१—भ० गीतोक्त-श्लोकोंका विषयानुसार विभाग (लिपि-देवनागरी; मूल; हस्त०) भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, शरणागति आदि विषयोंपर चुने हुए श्लोक।

*२—भ० गीता (लिपि-फारसी; हस्त०) गीता-प्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित, साधारण भाषाटीकाके १२ वें अध्यायका अनुवाद।

*३—भ० गीता (लिपि-गुरुमुखी; हस्त०) गीता-प्रेस गो०, की टीकाके एक अध्यायका अनुवाद।

४—गीतामृततरंगिणी (लिपि-फारसी, भाषा-उर्दू) टी० पं० रघुनाथप्रसाद शुक्ल प्र० नारायणदास जंगीमल, देहली मू० १)

५—भ० गीता (लिपि-बंगला) टी० पं० वामाचरण मजूमदार; मु० वराट-प्रेस, कलकत्ता मू० २)

*६—भ० गीता (लिपि-रोमन; भाषा-अंगरेजी) टी० मन्मथनाथ दत्त, एम० ए०, एम० आर० ए० एस० मु० एच० सी० दास, एलीसाइम्स-प्रेस, ६५ बीडन स्ट्रीट, कलकत्ता; मूल्य ।)

श्रीमहादेवलालजी डालमिया, मद्रास द्वारा प्राप्त—

१—A Gist of Lokmanya Tilaka's Gita Rahashya by V.M. Joshi, M. A. Pub. Dugvekar Brothers, बीबी हटिया, काशी सं०—१९१६ ई० मू० ॥) (अंगरेजी)

२—भ० गीता-रहस्य, ले० लोक० तिलक; अनुवादक-श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्री प्र० मु० वी० रामस्वामी शास्त्री, तन्नूलियार पेठ, मद्रास सं० १९१८ ई० (तेलगू)

३—भ० गीता (अ० २) टी० सहजानन्द उपाध्याय, नेपाल मु० जी० सी० एंड कं०, मद्रास (तेलगू)

*४—भ० गीता (हस्तलिखित) टी० धनपति सूरिकृत भाष्योत्कर्षदीपिकाका तेलगू-अनुवाद

५—भ० गीता टी० पं० सुन्दरराज शर्मा (शांकरभाष्यानुवाद) (तामिल)

६—भ० गीतोपन्यास-दर्पणम् म० पं० लक्ष्मणाचार्य (गीतोपन्यास-दर्पण-व्याख्या) प्र० टी० एन० रघुत्तमाचार्य, गीतोपन्यास-दर्पण आफिस, तिरुवादी, जि० तंजावूर सं०—१८४६ शक मू० १०) (संस्कृत)

श्रीबालमुकुन्दजी लोहिया, कलकत्ता द्वारा प्राप्त—

१—भ० गीता (मूल; हस्त०; देवनागरी)

२—भ० गीता (बंगला) टी० श्रीसच्चिदानन्द बाल ब्रह्मचारी, (स्वयं-प्रकाश-भाष्य) म० सुबोधकुमार, मु० मेट्काफ प्रेस, सुकिया स्ट्रीट, कलकत्ता मू० २) (श्रीविश्वम्भरलालजी शर्माकी पुस्तक)

श्रीआनन्दरामजी जालान द्वारा प्राप्त—

१—भ० गीता (केवल भाषा) ले०—स्वामी भिक्षुक, कनखल, प्र० शिवदयालजी खेमका सूतापट्टी मु० गोविन्द-प्रेस, कलकत्ता (लिपि—देवनागरी, भाषा हिन्दी)

श्रीगणपति, वेदोपदेशक, कलकत्ता द्वारा प्राप्त—

१— भ० गीता-भाष्यम्, टी० पं० भीमसेन शर्मा प्र० पं० रामदयालजी शर्मा, मु० सरस्वती-प्रेस, इटावा; मू० १॥)
(देवनागरी-हिन्दी)

श्रीहनुमानप्रसादजी बागला, कलकत्ता द्वारा प्राप्त—

१— भ० गीता (खं० २) टी० स्वा० शंकराचार्य-भाष्य (स्वामी शंकराचार्य स्मारक ग्रन्थमालाका बढ़िया संस्करण) मु० वाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम्; सं० १—

मिश्रित

१— भ० गीता (हस्त०, प्राचीन, बहुत सूक्ष्म) पता-मन्नूलाल पुस्तका०, गया (पुस्तकालय-नं० ४०१)

२— भ० गीता टी० पं० रामशास्त्री (१ संस्कृत भाष्य; २ हिन्दी भाषाटीका), गोपालनगर, पो०रउती, बलिया; मु० सत्यसुधाकर प्रेस, पटना मू० ३॥)

३— भ० गीता (गीता पर सर्वदेशीय टीका) मु० राधारमण प्रेस, कांदेवाड़ी, बम्बई।

४— भ० गीता (हस्त०; मूल—देवनागरी; टीका—फारसी लिपि) करीब ४०० वर्ष पुरानी, सचित्र, सुनहरी रंगीन बेलबूटोंसे सुसज्जित: पता-पं० देवीप्रसाद मिश्र, राजज्योतिषी, जागीरदार मौजे नन्दावता, बालागली, जावरा (सी० आई०)

५— भ० गीता (गु०, मूल, हस्त०) सम्पूर्ण
६— भ०गीता (गु०,मूल,हस्त०)अन्तके कुछ पृष्ठ नहीं हैं
} पता-पं० रघुवरदयालजी शर्मा, अहार(Ahar),बुलन्दशहर

७— भ० गीता (मूल सम्पूर्ण, हस्त०, अंतरमें) फीता इंच ४० × १ करीब, प्राचीन
८— ,, ,, ,, ,, ,, गुटका
९— ,, ,, ,, ,, ,, (किसी अन्य व्यक्तिका) ...
} पता-श्रीहरिवक्सजी सांवलका, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

१०— भ० गीता (मूल, सम्पूर्ण, हस्त०, गुटका) पता-पं० राधाकृष्णजी जोशी, नसीराबाद, राजपूताना।

११— भ० गीता (लिपि-बंग; सम्पूर्ण, मूल, हस्त०) जन्मपत्रीके रूपमें लपेटी हुई; ले० श्रीताराप्रसन्न घोष, हेडमास्टर-H. E. स्कूल, पो० बैसारी, बाकरगंज।

१२— भ० गीता (मूल, गु०, हस्त०) पता—श्रीलक्ष्मीरामजी खेतान, सेंट्रल एवेन्यू नोर्थ, कलकत्ता।

१३— भ० गीता (हस्त०, सम्पूर्ण) दिवालपर लटकाने लायक चित्र रूपमें: पता—श्रीगुलाबरायजी बैजनाथ, ४ नारायण-प्रसाद लेन, कलकत्ता मू० १००)

१४— भ० गीता (मूल, गु०, हस्त०) पता—पं० ऋषीकेश पाठक, नं० १ जगमोहन साह लेन, कलकत्ता

१५— 'अर्भक' पत्रके भ० गीताङ्क (वर्ष ३, ४; अङ्क ६) (सचित्र, हस्त०) स० मुकुन्द मोरेश्वर खोटे, अर्भक कार्या०, पो० पेन, कोलाबा, बम्बई सं० १—१९२६, १९२७ ई०

१६— भ० गीता (हस्त०, पद्य) ले० ठाकुर सौवर्णसिंहके पिता, पो० पिपरिया, नरसिंहपुर

१७— भ० गीता (श्लोक और भाषाटीका, हस्त०) १५०वर्षकी पुरानी, बाबू श्यामसुन्दरजी गुप्त
१८— भ० गीता (दोहामें, हस्त०) १२० वर्षकी पुरानी ,,
} पता-कृष्णप्रसाद कं० कराची।

१९— भ० गीता (वजन ४ माशे, आकार २ अङ्गुल चौड़े और एक गज लम्बे कागज पर हस्तलिखित, सचित्र, अन्तके ५० श्लोक नष्ट हैं) पता-वंशीधर बागला, लोहाई, फर्रुखाबाद।

२०–भ० गीता (सिर्फ ३२ तोला वजनके हस्तलिखित सम्पूर्ण महाभारतसे), पता-लाला हरचरणलाल, लोहाई, फरुखाबाद

२१–भ० गीता (हस्तलिखित) पता–लाला भवानीशंकर वैद्य, लोहाई, फरुखाबाद

२२–भ० गीता–श्रीनिम्बार्काचार्य कृत भाष्य; अप्राप्य

२३–भ० गीता-कृष्ण ले० मथुराबाई पंडिता पता० विष्णु वामन कानेटकर, सांगली (मुद्रित) मू० ॥)

२४–भ० गीता (हस्त०; फारसी) टी० शेख अबुलफजल (अकबर दरबारके कवि); लाला कुंवरसिंह द्वारा लिखित सं०–१९९९ वि० पृ० २१ (बड़े साइज) पता–मारुतीसदन पुस्तकालय, काशी।

२५–भ० गीता (हस्त०; फारसी) नवरत्न कवि फैजी कृत (पं० बिहारीलाल साहब किचलू, तहसीलदार-पेशावरकी हस्तलिखित पुस्तकसे नकल की गयी)पं० जानकीनाथ मदन द्वारा सं०–१९२४ वि०फागुन बदी ३; भाग १ गद्य पृ० ४०; भाग २ पद्य पृ० ३२, पता–हिन्दू सभा कार्यालय, दिल्ली।

२६–भ० गीता(फारसी)टी० राय मूलचन्द डेरागाजीखां निवासी मु० कोहेनूर प्रेस, लाहोर स०-१८६४ ई०पृ० ९६

२७–किताबुल हिन्द (अरबी) ले० अलबेरूनी मियां (प्रसिद्ध भारत-यात्री) (परिच्छेद दूसरेमें गीता० अ० २।३ का विषय है) सं०–१०३० ई०।

२८–गीता–तात्पर्य, बड़ा मन्दिर, भूलेश्वर, बम्बई ।

२९–The Bh. Gita Upanishad (हस्त०, लिपि-रोमन, भाषा-अंग्रेजी') 'With Text and Meaning etc. The Latent Light Culture. Tinnevelly.

३०–भ० गीता–भाषा (पद्य) ले० पं० ईश्वरप्रसाद तिवारी, मैनेजर–बिलाईगढ़, बिलासपुर, सी० पी० मू०॥=)

उपर्युक्त पुस्तकोंके अतिरिक्त भिन्न भिन्न पुस्तकालयोंमें निम्नलिखित संख्यामें गीता हैं इनकी विस्तृत सूची अलग छप सकती है ।

१–दी स्टेट लाइब्रेरी, बर्लिन, जर्मनी–भ० गीता– हस्तलिखित (* १६); मुद्रित (३४)

२–एसियाटिक सोसायटी, १ पार्क स्ट्रीट कलकत्ता–भ० गीता–हस्त० (* १४); मुद्रित (११)

३–अडयार लाइब्रेरी मद्रास–भ० गीता–हस्त० (* ६०); मुद्रित (४०)

४–इम्पीरियल लाइब्रेरी, कलकत्ता–भ० गीता–हस्त० और मुद्रित (१५०)

५–गीता-भवन (कुरुक्षेत्र पुस्तकालय), थानेसर, कुरुक्षेत्र–भ० गीता–मुद्रित (४१)

६–राममोहन पुस्तका०, २६७अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता –भ० गीता–मुद्रित (५)

७–बान्धव पुस्तका०, कलकत्ता–भ० गीता–मुद्रित (३)

८–संस्कृत–साहित्य–परिषद्–कलकत्ता,–भ० गीता–मुद्रित (४)

९–बड़ा बाजार पुस्तका०, सैय्यद् साली लेन, कलकत्ता–भ० गीता–मुद्रित (७)

१०–हनुमान पुस्त०, सलकिया, हवड़ा–भ० गीता–मुद्रित (* २)

११–बड़ाबाजार कुमार सभा, कलकत्ता–भ०–गीता–मुद्रित (२)

१२–बंगीय–साहित्य–परिषद्, कलकत्ता–भ० गीता–मुद्रित (८)

१३–पेट्रियोटिक पुस्त०, कलकत्ता–भ० गीता–मुद्रित (३)

१४–काशी नागरी प्रचारिणी सभाका आर्य–भाषा पुस्त०, काशी–भ० गीता–मुद्रित (१३); हस्त० (* १३, हस्त० पुस्तकोंकी रिपोर्टसे उद्धृत ।

निम्नलिखित गीता सम्बन्धी साहित्य छपनेके लिये लिखा गया या लिखा जा रहा है:-

१--भ० गीता (गुजराती) टी० महात्मा गांधी

२--भ० गीता (अंगरेजी) टी० आर० बी० लेवकर, प्रयाग

३--भ० गीता (अंगरेजी) टी० गीतानन्द ब्रह्मचारी, बी० जी० पाल कं०, मद्रास

४--भ० गीता (उर्दू-पद्य) ले० डा० अब्दुल करीम, ७।५२ चेतगंज, काशी; सन् १९२४ ई० पृ० ८०

५--मुक्ति-मन्दिर (गीता पर २६२ हिन्दी-पद्य) ले० पं० रामचरित उपाध्याय, नवाबगंज, गाजीपुर।

६--भ० गीता (हिन्दी-संस्कृत, अ० १८। ६६ की विस्तृत व्याख्या, आकार मूल गीतासे ६ गुना) ले० कविसम्राट् पं० बाबूराम शुक्ल, फर्रुखाबाद।

७--भ० गीता (हिन्दी, आल्हाके तर्ज पर पद्यानुवाद) लेखक-कविसम्राट् पं० बाबूराम शुक्ल, फर्रुखाबाद

८--भ० गीता (गुजराती) लेखक-ठक्कर धारसी सुन्दरजी भाइया, पता, सेठ तीरथदास लुधिधाराम १२० बम्बई बजार, कराची; बहुत बड़ा ग्रन्थ होगा।

९-हिन्दी गीता-भाष्य (हिन्दी) ले० स्वा० भगवान् पता० पं० हनुमानप्रसाद गयाप्रसाद भारद्वाज, तरौंहा, करवी, बांदा; पृ० १२५०

१०--गीता-हृदय (हिन्दी) ले० स्वामी सहजानन्द सरस्वती, श्रीसीतारामाश्रम पो० 'बिहटा' पटना। लगभग १५०० पृष्ठका ग्रन्थ होगा।

११-भ० गीता (मराठी; ६ भाग) टी० पं० यादव प्रभाकर वटक, वकील, बी० ए०, एल एल० बी०, पता-बाबूलाल सेठिया, छिंदवाड़ा-सी० पी० पृष्ठ ५००

१२--भ० गीता (हिन्दी, अनन्य-भक्तिवर्द्धिनी टीका) टी० पं० गोपालप्रसाद शर्मा, रैसलपुर, होसंगाबाद, सी० पी०

१३--श्रीकृष्णोपदेशामृतम् हिन्दी टी० एम० वाई० सनम, एच० एस० बी०, एफ० टी० सी० एस० आदि पता-श्रीकृष्ण पुस्तकालय, नसीराबाद।

१४--त्रिपथगा-गीता ले० स्वामी तुलसीरामजी, एम० ०, गीता-प्रचारक, गणेशगंज, लखनऊ

१५--भ० गीता (अंगरेजी) ले० पं० सुरेन्द्रनाथ शुक्ल, 'शुक्लाचार्य' लखनऊ,

१६--भ० गीता (हिन्दी, पद्य) ले० पं० वैद्यनाथ मिश्र, 'विह्वल' ६५१ हुसेनगंज, लखनऊ

१७--भ० गीता-भजनमाला (ज्ञानेश्वरीके आधार पर ४०० पद्य-संगीत) ले० पं० वासुदेव हरलाल व्यास, नन्दलालपुरा, रेशमवाला लेन, इन्दौर

१८-भ० गीता पर कविता ले० पं० श्रीकृष्ण कन्हैयालाल जोशी, ज्योतिषी, नखेनवीस, पता-श्रीविनोदीराम बालचन्दका मकान, उज्जैन।

१९--भ० गीता (स्वामी नारायणकृत टीकाकी बृहद् समालोचना) ले० पं० वैद्यनाथ मिश्र, 'विह्वल' लखनऊ।

२०--भ० गीता (हिन्दी-उर्दू पद्यमें) ले० मुंशी रामचरणलाल, चीफ रेवेन्यू आफिसर, बांसवाड़ा, राजपूताना।

२१--भ० गीता-प्रवचन-संग्रह पता-भगवद्गीता-पाठशाला, इन्दौर।

२२--भ० गीता (हिन्दी) ले० पं० शालिग्रामजी वैष्णव पता-शान्तिसदन, कर्णप्रयाग (गढ़वाल) सं० १९८५ वि० पृ० ४५५।

२३--भ० गीता (हिन्दी, पद्य) ले० मास्टर मोहनलाल पता--जगन्नाथप्रसाद व्यास, उंचौद, मकोदिया (भूपाल) सं० १९७९ वि० पृ० २६० ।

२४--भ० गीता--तत्त्वप्रकाश (हिन्दी) ले० पं० प्रयागनारायणाचार्य पता--पं० काशीचरण वैद्य, मस्कासाह इतवार चौक, नागपुर ।

२५--भ० गीता (हिन्दी, पद्य) ले० श्रीजगन्नाथप्रसादजी सर्राफ, कानपुर ।

२६--भ० गीता (हिन्दी, पद्य) ले० श्रीरामचन्द्र महेश्वरी, हाथरस ।

२७--भ० गीता (हिन्दी, तत्त्वदीपिका-टीका) ले० वैद्यभूषण नाथूरामजी शालिग्राम, सोमवारिया बाजार, राजापुर, मालवा पृ० ५५०

२८--भ० गीता (७०० दोहे) ले० श्रीकृष्णलाल गुप्त, दाऊदनगर ।

२९--भ० गीता (लोकसंग्रह वा योगसार) ले० स्वा० भगवान तरौहाँ, करवी, बांदा ।

३०--भ० गीता (पद्य) पता--भगवद्भक्ति--आश्रम, रेवाड़ी ।

३१--भ० गीता, गुजराती अनुवाद, गीताप्रेस, गोरखपुर

३२--भ० गीता--मराठी अनुवाद--गीताप्रेस, गोरखपुर *

गीता-परीक्षा-समिति

अनेक महानुभावोंके अनुरोधसे समितिकी गीता परीक्षाकी तिथि श्रीअनन्त-चतुर्दशीसे हटाकर आगामी कार्तिक कृष्ण ८ शुक्रवारसे कार्तिक कृष्ण १० रविवार तदनुसार ता० २५ । २६ । २७ नवम्बर सन् १९२९ कर दी गयी है। परीक्षा तीन दिन तक होगी। आवेदनपत्र आश्विन कृष्ण अमावस्या ता० ३।११।२९ तक लिये जायंगे।

गीताप्रेमी विद्वान् तथा छात्रोंका ध्यान इस तिथि परिवर्तनकी ओर विशेषरूपसे आकर्षित किया जाता है।

संयोजक

श्रीगीता-परीक्षा-समिति

श्रीगीता-ज्ञान-यज्ञ

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।

(गीता अ० १८ । ७०)

एक सज्जनकी प्रेरणासे आगामी कुंभके अवसरपर प्रयागराजमें श्रीगीता--ज्ञान--यज्ञका अनुष्ठान करना निश्चित किया गया है, जिसमें निम्नलिखित कार्योंकी योजना की गयी है। यह यज्ञ पौष शुक्ल १३ संवत् १९८६ (ता० १३ । १ । ३०) सोमवार मकरसंक्रान्तिसे आरम्भ होकर माघ शुक्ल १५ (१२ । २ । ३०, बुधवारको पूर्ण होगा। मकर संक्रान्तिसे वसन्तपंचमी तक विशेषरूपसे यज्ञोत्सवका समारोह करना निश्चित हुआ है।

आपको यह जानकर हर्ष होगा कि इस गीता-ज्ञान-यज्ञ समितिके अध्यक्षका पद पूज्यपाद महामना पं० मदनमोहनजी मालवीयने स्वीकार किया है और इस कार्यके लिये एक सज्जनकी ओरसे पाँच हजार रुपयोंका वचन भी मिल चुका है। इस समय जगत्‌की परिस्थितिको देखते हुए यथार्थ सुख शान्तिकी प्राप्तिके लिये गीता-ज्ञानके प्रचारको छोड़ कर अन्य कोई उत्तम मार्ग नहीं है। अतएव आशा है कि इस योजनासे आपको बड़ी प्रसन्नता होगी और आप इस विषयमें हमें अपनी सम्मति भेजकर अनुगृहीत करेंगे।

कार्यक्रम

१ श्रीगीताके कमसे कम १००१ पाठ

२ श्रीगीतापर भिन्न भिन्न स्थानों तथा भिन्न भिन्न मतोंके विशिष्ट महानुभावोंद्वारा प्रवचन

३ श्रीगीता-संकीर्तन

४ श्रीगीता-प्रदर्शनी (जिसमें देशदेशान्तरोंकी भिन्न भिन्न भाषाओंमें मुद्रित अमुद्रित प्रतियां रहेंगी ।

५ श्रीगीता-सत्संग (व्याख्या विचार निबन्ध पाठादि)

पत्र व्यवहारका पता 'कल्याण कार्यालय' गोरखपुर ।

निवेदक—राघवदास

† गीता पुस्तकोंकी सूचीके ४५ पेजोंपर अलग संख्या इसलिये लगाई गई है कि कोई भी सज्जन उसे अलग निकालकर रख सके। अतएव सूचीके ४५ पेज जोड़नेपर यह पेज ५८० वां होता है।

* यह सूची पुस्तकाकारमें भी छप रही है। सम्पादक प्रकाशक, मुद्रक और लेखकोंसे निवेदन है कि कोई भी गीता-सम्बन्धी पुस्तक निकले, उसकी एक प्रति गीता पुस्तकालय कलकत्तामें संग्रहार्थ भेजनेकी कृपा करें। —सम्पादक

क्षिति अम्बर तक सुर नर जिनके, चरण-युगल धोते अम्लान।
राजसूय-मख अभ्यागत के, धोते चरण वही भगवान॥

गीताकी अपार महिमा

मद्भगवद्गीताकी महिमा अपार है। वह परम रहस्यमय ग्रन्थ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। शुक, सनकादि और वेदव्यास सदृश महर्षियोंने इसके महत्त्वको दिखलानेका प्रयास किया है परन्तु इसकी महिमाका अन्त नहीं मिला। वाणी और बुद्धि इसके रहस्यकी शेष सीमातक पहुँचनेमें सर्वथा असमर्थ रही हैं। जिन महानुभावोंने भगवत्कृपासे इसके रहस्यको यत्किञ्चित् जाना है, वे भी इसकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकते।

गीता आनन्द-सुधाका सीमारहित छलकता हुआ समुद्र है। इसमें भावों और अर्थोंकी इतनी गम्भीरता और इतनी व्यापकता है कि मनुष्य जितनी ही बार इसमें डुबकी लगाता है उतनी ही बार वह नित्य नवीन आनन्दको प्राप्त कर मुग्ध और मुदित होता है। रत्नाकर-सागरमें डुबकी लगानेवाला चाहे रत्नोंसे वञ्चित रह जाय पर इस दिव्य रत्नामृत-समुद्रमें डुबकी लगानेवाला कभी खाली हाथ नहीं निकलता।

इसकी सरस और सार्थ सुधा इतनी स्वादु है कि उसके ग्रहणसे नित्य नया स्वाद मिलता रहता है, जगत्में शायद ही कोई ऐसा आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसे बार बार पढ़ने सुननेके बाद भी पुनः पढ़ने सुननेकी उत्कण्ठा और रुचि नवीनरूपसे जागृत और वृद्धिगत होती हो, पर रसिकशेखर श्यामसुन्दरकी इस रसीली वाणीमें इतनी मोहकता और इतना स्वाद भरा है कि जिसको एक बार इस अमृतकी बूँद प्राप्त हो गयी, उसकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, वह बारम्बार इसके रसास्वादका आनन्द लेनेपर भी कभी नहीं अघाता।

जो मनुष्य दोष-दृष्टिको त्यागकर श्रद्धाके साथ इसका श्रवण करता है वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है (१८ । ७१) एवं जो अर्थ तथा भावोंको समझकर तदनुसार अध्ययन या अभ्यास करता है वह ज्ञानमय यज्ञके द्वारा परमगतिको प्राप्त होता है। भगवान्ने इस प्रकार अध्ययन करनेवालेके द्वारा अपनेको ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजित होना बतलाया है (१८ । ७०)। द्रव्य-यज्ञादिकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता गीतासे सिद्ध ही है (४ । ३३) जो मनुष्य इसका किञ्चित् भी अध्ययन करता है उसका संसारभयसे मुक्त होना भगवान् शंकराचार्यने—'भगवद्गीता किञ्चिदधीता०' आदि शब्दोंसे बतलाया है। जब भाव और अर्थ-सहित किये हुए किञ्चित्से अध्ययनसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है, तब इसके उपदेशको धारण करनेवाला परमपदको प्राप्त हो, इसमें तो सन्देह ही क्या है,? जिसने इसके अनुसार अपना जीवन बनाया है वह केवल अपना ही नहीं पर दूसरोंका उद्धार करनेमें भी समर्थ हो सकता है।

जो इसके रहस्यको जानकर भगवान्की भक्तिमें मग्न हो प्रेमपूर्वक उनके भक्तोंमें इसका प्रचार करता है, वह स्वयं तरता और दूसरोंको तारता है। भगवान् अपने श्रीमुखसे उसकी महिमा गाते हुए कहते हैं कि उसके समान मेरा प्रिय कार्य करनेवाला संसारमें दूसरा कोई न कभी हुआ, न है और न होगा (१८।६८-६९)।

गीतामें ऐसे अनेक श्लोक हैं जिनमेंसे एकके अनुसार साधन करनेसे भी मनुष्य शरीर छूटनेसे पूर्व ही परमानन्दको प्राप्तकर जीवन्मुक्त हो जाता है (६।४७; ११।५५; १८।६५-६६ आदि आदि)।

इस शास्त्रमें ज्ञान, योग, भक्ति और कर्मके ऐसे ऐसे अनोखे भाव भरे हैं कि जो ढूंढ़नेपर वेद और शास्त्रोंमें भी ऐसे सुसंघटित और विशदरूपमें एक जगह नहीं मिल सकते, जब मनुष्य निष्काम-कर्मयोगकी दृष्टिसे इसे देखता है, तब उसे यह अनुभव होता है कि भगवान्ने केवल निष्काम-कर्मके ही रहस्यको प्रकट करनेके लिये इस अद्भुत शास्त्रकी रचना की है और इसके प्रतिपादनके सामने अन्य शास्त्रोंकी कर्मयोग-विषयक सारी व्याख्याएं अधूरी हैं।

जब इसके ध्यानयोगकी ओर दृष्टि डाली जाती है, तो प्रतीत होता है कि महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शनकी अपेक्षा इसका योग कहीं बढ़ चढ़कर है।

जब ज्ञानकी दृष्टिसे देखते हैं, तो ऐसा चस्मा चढ़ जाता है कि संसारमें इसके समान अध्यात्मविषयक कोई ग्रन्थ दीखता ही नहीं।

जब भक्तिकी दृष्टिसे इसका अध्ययन किया जाता है, तब मालूम होता है कि पहिले अध्यायके अतिरिक्त इसमें ऐसा कोई अध्याय नहीं है, जिसमें भक्तिका रहस्य न भरा हो। साथ ही यह भी अनुभव होता है कि संसारमें जितने भक्ति-ग्रन्थ हैं, उन सबका चुना हुआ सार बड़ी खूबीके साथ इसमें ग्रन्थित किया गया है।

जब मनुष्य संगीतका आनन्द पानेकी इच्छासे भी इसका गानकर परमानन्द प्राप्त करता है, तब श्रद्धाके साथ इसका श्रवण, अध्ययन करनेवाले इसके परमानन्दसे कैसे वञ्चित रह सकते हैं?

इसके अन्दर एक ऐसी आकर्षक शक्ति है कि तनिकसी लगन लग जानेपर भी मनुष्य इसे आजीवन नहीं छोड़ सकता।

इस ग्रन्थकी संस्कृत अत्यन्त मधुर और सरल है, थोड़ासा अभ्यास करनेपर अर्थ भी समझमें आने लगता है।

इस गीताशास्त्रके समान कल्याणप्रद, सर्वोपयोगी, सार्वभौम ग्रन्थ संसारमें दूसरा कोई नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है और संसारके अध्यात्मग्रन्थोंका आलोचन करनेवाले भी मुक्तकण्ठसे यही कहते हैं।

इसकी महिमा अनिर्वचनीय है; जब ज्ञानी, विद्वान्, पण्डित और इसके रहस्यको जाननेवाले महात्मागण भी उसके वर्णनमें असमर्थ हैं, तब मुझ जैसे साधारण मनुष्यका इसकी महिमा और रहस्यके सम्बन्धमें कुछ लिखना हास्यास्पद चेष्टामात्र है। जयदयाल गोयन्दका

चरणों पर

वे उपासना-कर्म-ज्ञानके झूँठे फलपर फूले;
विस्मृतिकी सँकरी गलियोंमें पड़कर पथ ही भूले।
मैं बेसुध चल दिया अपरिचित पथपर बिना सहारे;
आँख खुली पाया अपनेको उस मन्दिरके द्वारे।
शंकित सिंह-पौरि सीढ़ी पर, जैसे ही चढ़ पाया,
वैसे ही पुजारियोंका दल मुझे देख बढ़ आया॥

घेर घेर कर भक्ति-प्रेमकी कहने लगा कहानी;
ढलक पड़ा मेरी आँखोंसे भाव भरा कुछ पानी।
सुन आदेश रहस्यपूर्ण वे भूलभुलैयों वाले;
हुआ मतिभ्रम मुझे, पड़ गया मैं दुविधाके पाले।
लौटूँ लज्जित खिन्नहृदयसे जबतक तृष्णा त्यागे,
नाची झिलमिल झलक एक तबतक आँखोंके आगे॥

सन्न रह गया······छाप मूकताकी अधरोंपर पाई;
पर्दा हटते ही प्रकाशमें दीख पड़ी परछाईं।
पैठा भीतर खोल कपट-पट ले साहसकी रेखा;
आजीवन क्या भूल सकूँगा वहाँ दृश्य जो देखा।
इन्द्र-सभामें ध्यान-धारणामय अनेक अनुगामी-
दल समेत सिंहासन पर थे हँसते मेरे स्वामी॥

द्विजने दिव्य-द्वारिकामें मायामें सुपथ भुलाया;
दीनबन्धुने देख दीनको सादर पास बुलाया।
अघटित घटना घटी चेतना अमर-लोकमें सोई;
हाय! हुआ औचक ही भौंचक सारी सुध-बुध खोई।
शीस झुका, जिस समय नाथने आलिङ्गनको टेरा,
लीन हुआ उनके ही चरणोंमें ममत्व सब मेरा॥

छैलबिहारी दीक्षित 'कण्टक'

दुर्निग्रह-मन

महा मतवारो है मलिन्द मन मेरो भयो,
बिसै-बासनाके बन-बीथिन फिरो करै।
हरिपद-पंकजपै रमत घरीकहू ना,
कारी काम-क्रोधकी कलिनसों भिरो करै॥
मारो मारो फिरत बिचारो है बिचारहीन,
सुन्दर बितान बनितान सुमिरो करै।
मुक्ति-मकरन्दकी महकहू मिलै न जहां,
उड़ि उड़ि पाप-पादपनपै गिरो करै॥

—भगवती प्रसाद त्रिपाठी, एम., ए., एल-एल, बी

अनन्त-कामना

जिसकी अचल शक्ति करती है, सारे भूमण्डलमें वास।
जिसकी भृकुटीपर निर्भर रहता है सदा विनाश विकास॥
जिसके तनिक क्रोधसे पाता प्राणी इस भूपर अति त्रास।
जिसकी लेश कृपासे हो जाता है सर्व दुखोंका ह्रास॥
इस सेवककी बुद्धि उसीके मधुर प्रेममें सनी रहे।
उसी अनन्त शक्ति-दर्शनकी सदा कामना बनी रहे॥

अनन्त बिहारी माथुर "अनन्त"

उत्तरागर्भ-रक्षक श्रीकृष्ण ।

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि' ।

विनम्र निवेदन

कल्याणका तीसरा वर्ष बीत गया, हम लोगोंकी आयु-मेंसे भी एक वर्ष और कम होगया। इस एक वर्षमें हम लोगोंने क्या किया? मनुष्यजीवनके चरम उद्देश्य भगवत्-प्राप्तिके पवित्र मार्ग पर हम कितने अग्रसर हुए? प्रभुमय जीवन बनाने के लिये हमने कितना प्रयत्न किया? ऊपरसे नहीं, हृदयके अन्तस्तलसे इन प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त करना चाहिये। ऊपरसे तो मान लिया जाता है कि हम ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही प्रत्येक कार्य करते हैं, परन्तु सूक्ष्म-दृष्टिसे देखने पर पता लगता है कि वास्तवमें हमारे कार्य भगवदर्थ न होकर बहुधा मान-सम्मानकी प्राप्तिके लिये होते हैं; इसीसे तो पद पद पर हम अपनी बड़ाई सुनना चाहते हैं, इसी-से तो अपनी प्रत्येक क्रियाके लिये दूसरोंसे प्रशंसात्मक सर्टिफिकेट चाहते हैं, इसीसे तो हमारे मनमें प्रसिद्धिका अनुसन्धान लगा रहता है. इसीसे तो उड़ती-सी प्रशंसा सुनकर हम फूल उठते और इसीसे तनिकसे तिरस्कारको अत्यन्त अपमान समझकर क्रोधसे आगबबूला हो जाते हैं!

संसारका यथार्थ सुधार करना परमात्माके अधीन है, उन्हींकी इच्छा शक्तिसे सब कुछ होता है। वे चाहें तो क्षण भरमें अभूतपूर्व परिवर्तन कर सकते हैं। मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छर बना सकते हैं, अग्निको शीतल और जलको दाहक कर सकते हैं, वे 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' हैं। फिर भी हम वृथा अभिमानसे उनको भुलाकर, उनकी शक्तिका तिरस्कार कर अपनी क्षुद्र शक्तिसे-जो उन्हींकी सत्ता स्फूर्तिसे हमें प्राप्त है-जगत्में मनमाना परिवर्तन करना चाहते हैं।

उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वतो-चक्षु नित्य-जाग्रत, नित्य-द्रष्टा, नित्य-संरक्षक, अपरिमित दयालु और कल्याणसागर के सामने हम बुद्धिमान, ज्ञानी, दूरदर्शी दयालु और देश-सेवक सजकर अपनेको देशका उपकार करनेवाला मानते हैं! अभिमानके अन्धकारसे ढकी हुई बुद्धिमें मान-सम्मानकी तीव्र इच्छा प्रबल रहनेके कारण ही ऐसा हो रहा है।

हम गीताका उपदेश करते हैं, गीतापर शास्त्रार्थ करते हैं, दूसरोंको उसके अनुसार चलनेके लिये आदेश देते हैं, परन्तु स्वयं उसके उपदेशको धारण नहीं करते, गीताके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाते, यह कितना बड़ा मोह है?

परमात्माने मनुष्यको बुद्धि इसलिये दी है कि वह उसके द्वारा नित्यानित्य वस्तुका विचार कर अनित्यका त्याग और नित्यका ग्रहण करके आत्यन्तिक सुखको प्राप्त करे। यही बुद्धिका सदुपयोग है। परन्तु हम मनुष्य आज क्या कर रहे हैं? हमारी बुद्धि, शरीरको हर तरहसे सजानेमें, सजावटका सामान संग्रह करनेमें, अभिमानवश सबके साथ द्रोह करनेमें, दूसरोंका नाश चाहनेमें और किसी भी तरह संसारके भोग-ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी चेष्टामें ही व्यय हो रही है! जिस धन-जन-जाति-परिवार-देश-मान-सम्मान-विद्या-बुद्धि और पदके मदमें अन्धे होकर आज हम जगत्में किसीको भी अपने समान नहीं समझते, वह सारा सामान क्षण भरमें हमसे छिन जायगा, कालके कराल झपाटेसे सारी शान एकही सपाटेमें उतर जायगी। मान-सम्मानसे फूला हुआ शरीर जो कभी मोटरसे नहीं उतरना चाहता और जो दूसरोंको अपने चरणोंकी ओर ताकते रखना चाहता है, वह एक दिन स्मशानमें खाक होकर मिट्टीमें मिल जायगा। नजीरने क्या ही अच्छा कहा है—

> हो ढेर अकेला जंगलमें तू ख़ाक लहदकी फांकेगा।
> उस जंगलमें फिर आह! नज़ीर एक तिनका आन न झांकेगा।

पर हमें चेत नहीं होता। अर्जुनके बहाने भगवान्ने हमारे लिये गीताका कैसा दिव्य उपदेश दिया है, कितनी भरोसेकी बातें कही हैं! कैसी कैसी प्रतिज्ञाएं की हैं, परन्तु हम उनकी ओर ध्यान नहीं देते, उनपर विश्वास नहीं करते। जिस गीताके एक श्लोकके अनुसार आचरण करने-से ही भवसागर सूख जाता है, उसके सातसौ श्लोक और उनपर महात्मा सन्तोंकी अनेक भक्ति-ज्ञानपूर्ण व्याख्याओं के सामने रहने पर भी हम भवसागरमें पड़े गोते खारहे हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य एवं दुःख और क्या होगा?

भगवत्-कृपासे आज उसी गीताकी महिमासे भरा हुआ यह 'कल्याण'का 'गीतांक' आप लोगोंकी सेवामें समर्पित है। सबसे पहले इस अंकको निकालनेके लिये कानपुर निवासी सम्मान्य मिश्र महाशय काशीनाथजीने प्रेरणा की थी, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। भगवान्की बड़ी कृपासे इसकी तैयारीमें लगभग छः महीनेसे अधिक गीतार्थ और गीताप्रेमियोंकी खोजमें बीते हैं, यह हमारे लिये बड़े ही सौभाग्यका विषय है।

गीता सार्वभौम ग्रन्थ है। इसीसे पृथ्वीमण्डलके भिन्न भिन्न मतोंके मनीषियोंने इसका मनन किया है और इसपर टीकाएं लिखी हैं। इस अगाध रत्न-सागरमें जिसने जिस रत्नके लिये डुबकी लगायी, उसे वही मिल गया। इसीसे यह भिन्न भिन्न प्रकारके सिद्धान्त-रत्न-राशिका महान् भाण्डार समझा जाता है। गीताकी इस सर्वदेशीयताको प्रकट करनेके लिये इस अंकमें परस्पर-विरोधी प्रायः सभी मत-मतान्तरोंके लेखों और विचारोंको स्थान दिया गया है। हम इस सम्बन्धमें अपनी ओरसे कुछ भी न कहकर निर्णय और ग्रहणका भार पाठकोंपर छोड़ते हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इसमें प्रकाशित सभी मत हमें मान्य हैं या हम सभीके विरोधी हैं। कुछ मित्रोंके अनुरोध और इच्छासे हम खास खास विषयोंपर अपना मत प्रकट कर देना चाहते हैं, जिससे कोई भ्रम न फैले। हमारी तुच्छ बुद्धिके अनुसार कई विषयोंपर गीताके निम्नलिखित सिद्धान्त हैं।

(१) गीता निष्काम कर्मयोगयुक्त भक्तिप्रधान ज्ञान-संवलित अध्यात्म-शास्त्र है।

(२) गीताका पर्यवसान भगवान्‌की शरणागतिमें है।

(३) गीता वेदोंको मानती है।

(४) गीता पुनर्जन्म मानती है।

(५) गीता देवपूजा मानती है।

(६) गीतामें अवतारवादका प्रतिपादन है।

(७) गीताका वर्णधर्मपर बहुत ज़ोर है।

(८) गीता आश्रम-धर्म स्वीकार करती है।

(९) गीता स्वरूपसे कर्मत्यागरूप संन्यासका विरोध नहीं करती।

(१०) गीतोक्त संन्यास, गृहस्थ और संन्यासाश्रम दोनोंमें ही हो सकता है।

(११) गीताका महत्त्व 'समन्वयदर्शन' में है।

(१२) गीताके मतसे भगवत्प्राप्ति और भगवद्भक्तिमें ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालतक सभी जाति, सभी वर्ण और सभी देशनिवासी स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है।

(१३) गीताके साथ वेदान्तसूत्र और उपनिषदोंमें मतभेद नहीं है।

(१४) गीता भगवान्‌के निर्गुण और सगुण दोनों रूपोंको मानती है।

(१५) गीताका विराट्स्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाया गया था।

(१६) गीता अद्वैत सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेवाला द्वैताविरोधी शास्त्र है।

(१७) गीता ऋषिप्रणीत शास्त्रोंको मानती है।

(१८) गीतामें धृतराष्ट्र, संजय और अर्जुनके शब्दोंको छोड़कर बाकी सभी भगवत्-वाक्य हैं।

(१९) गीताके प्रचलित १८ अध्याय और ७०० श्लोक ही ठीक हैं।

(२०) गीता कोई रूपक नहीं, ऐतिहासिक सत्य तत्त्व है।

इससे हमारा यह कथन नहीं है कि इस सम्बन्धमें दूसरा कोई भी मत ठीक नहीं है। हमने केवल अपनी मान्यता मात्र प्रकट की है।

इस अंकके लिये जिन महानुभावों और देवियोंने लेख, कविता और चित्रादि भेजकर हमारी इतनी सहायता की है, जिनकी कृपाके कारण ही यह इतना बड़ा अङ्क निकल सका है, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। इसके सिवा लेख, चित्र और अन्य सामग्रियोंके संग्रहमें जिन सज्जनोंसे हमें बड़ी सहायता मिली है, उन्हें कृतज्ञताके साथ अनेक साधुवाद है। ऐसे सज्जनोंमें निम्नलिखित नाम उल्लेख योग्य हैं —

श्रीयुत रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर एम० ए०, धारवाड़, श्रीयुत ताराचन्दराय एम० ए० प्रो० बर्लिन युनिवर्सिटी जर्मनी, श्रीयुत जीवनशङ्करजी याज्ञिक एम० ए०, श्रीयुत गंगाप्रसादजी मेहता एम० ए०, श्रीयुत गंगाशङ्करजी मिश्र एम० ए०, पं० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ, श्रीयुत रामेश्वरलालजी बजाज लन्दन, श्रीयुत भूपेन्द्रनाथ सन्याल, श्रीयुत अनिलवरण राय, श्रीयुत सदानन्दजी सम्पादक 'मैसेंज' श्रीयुत रघुनन्दनप्रसादसिंहजी, श्रीयुत श्रीकृष्णदासजी जाजू, श्रीयुत एस० राजाराम ब० मैनेजर थियोसोफिस्ट पब्लिशिंग हाउस अडियार, श्रीयुत स्वामी पवित्रानन्दजी रामकृष्ण मिशन बेलूड़, श्रीयुत रामचन्द्र कृष्ण कामत, श्रीयुत पं० मदनमोहनजी शास्त्री, श्रीविश्वनाथजी शास्त्री द्राविड़, श्रीयुत गौरीशंकरजी गोयनका, श्रीयुत सी० डी०, कृष्णमाचारी, श्रीयुत केशुराव जे० दस्तूर, भाई परमानन्दजी एम० ए०, श्रीयुत भिक्षु अखण्डानन्दजी, सस्तुं साहित्यवर्धक कार्यालय, पं० शान्तिप्रियजी द्विवेदी, श्रीयुत ज्वालाप्रसादजी कानोड़िया, श्रीयुत बजरंगलालजी, गीता धर्ममण्डल, पूना आदि।

इस अङ्कके लिये हिन्दीके अतिरिक्त संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगला, अंगरेजी और जर्मन भाषामें लेख आये थे, जो अनुवाद करके प्रकाशित किये गये हैं। जर्मन भाषाके

लेखोंका अनुवाद प्रो० ताराचन्द राय एम० ए० महोदयने कर दिया, इसके लिये हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं। अंगरेजी लेखोंके अनुवादमें श्रीयुत पं० चिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए० ने प्रेमपूर्वक बड़ी सहायता की है अतएव हम उनके भी हृदयसे कृतज्ञ हैं।

गीतांककी कई सूचनाएं छापकर हिन्दी और भिन्न भिन्न भाषाके देशी विदेशी सहयोगियोंने जो कृपा की है, इसके लिये हम चिर-ऋणी हैं।

लेखक और कवियोंके प्रति हम एक बार पुनः अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए त्रुटियोंके लिये क्षमा मांगते हैं। कई लेखोंमें हमें स्थानाभाव या अन्यान्य कारणोंसे काट-छांट करनी पड़ी है। कई लेख अधूरे छपे हैं। कई लेखोंका केवल एक छोटासा अंश ही छपा है। कई लेख देरसे आनेके कारण और स्थानाभावसे बिल्कुल ही नहीं छप सके हैं। इसके लिये हम हाथ जोड़कर कृपालु लेखकोंसे क्षमायाचना करते हैं।

जो लेख रह गये हैं, उनमें जो नहीं छपने योग्य हैं, उनको छोड़कर अवशेष लेखोंको पूरे रूपमें या घटाकर धीरे धीरे छापनेका विचार है। इस अङ्कके लिये १०८ विषय लेखकोंको सुझाये गये थे, जिनमें अधिकांश विषयोंपर लेख आ गये हैं, कुछ विषय छूटे हैं तो कुछ दूसरे विषयोंपर भी लेख आये हैं।

लेख अधिक आनेके कारण इस अङ्कमें छोटे टाइप काममें लाये गये हैं तथा अधिक मसाला देनेकी इच्छासे छपाई भी ठोस की गयी है, हमारे वे कृपालु पाठक, जो मोटे अक्षरोंमें कल्याण छापनेके लिये कहा करते हैं, इस अङ्कके लिये हमें कृपा पूर्वक क्षमा करें। आगामी अङ्कसे अधिकांशमें मोटे टाइप काममें लानेका विचार है।

परमात्माकी कृपा, शक्ति, प्रेरणा और प्रेमी महानुभावोंकी दया और सहयोगसे चतुर्थ वर्षके प्रथमांकके रूपमें यह 'गीतांक' आपकी सेवामें समर्पित है। यह कैसा हुआ है, इसका निर्णय आप लोग ही करें। हम लोगोंको तो इसमें बहुतसी त्रुटियाँ दिखायी पड़ती हैं, जो हम सरीखे असमर्थोंके लिये स्वाभाविक ही हैं। यह सच्ची बात है कि हम लोग सम्पादन-कलासे बहुत ही अपरिचित हैं। गीताके गूढ़ ज्ञानका विश्लेषण और उसका अध्ययन तो बड़े अधिकारकी बात है। अपनी इस अयोग्यताके रहनेपर भी गीतांकके सम्पादकोंमें हम लोगोंका नाम प्रकाशित होना असलमें हमारे लिये लज्जाका विषय है। यह तो एक प्रकारसे अनाज तौलनेके बड़े तराजूसे बहुमूल्य हीरेकी कनी तौलनेका-सा हास्यास्पद प्रयासमात्र है। ज्ञानी, गीताप्रेमी महात्मा और विद्वान् सम्पादकगण हमारी इस धृष्टताके लिये क्षमा करें।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'गीतासम्बन्धी तत्त्व' के लेखोंको यथास्थान सजाना, भावोंको ठीक रखना हम सरीखे मनुष्योंकी शक्तिके बाहरकी बात है। इससे हम लोगों-की ओरसे रही हुई त्रुटियां और प्रमाद आपको अनेक मिलेंगे तो भी आशा है कि गीतांकका अध्ययन बहुत लाभकारी होगा। कारण, प्रथम तो इसमें अनेक अनुभवी विद्वान् महानुभावोंके लेख हैं, दूसरे इसके प्रायः प्रत्येक पृष्ठमें भगवान् श्रीकृष्णका नाम आवेगा।

भाव कुभाव अनख आलसहू, नाम लेत मंगल दिसि दसहू।

हमें तो इसी बातपर मनमें सन्तोष है कि इसी मिस किसी प्रकार 'निज गिरा-पावन-करन कारन राम यश' की चर्चामें जीवनका कुछ समय बीत गया है।

राघवदास
हनुमानप्रसाद पोद्दार।

गीताप्रेसकी पुस्तकें-

१-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारणभाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्मविषय-सहित, मोटाटाइप, मजबूत कागज, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द ५७० पृष्ठ १।)

२- ,, मोटा कागज, बढ़िया जिल्द ... ... २)

३-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रायः सभी विषय १।)वालेके समान,एक विशेषता-श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ साइज और टाइप कुछ छोटे पृष्ठ ४६८ मूल्य ॥=) सजिल्द ॥≡)

४-गीता-साधारणभाषाटीकासहित, सचित्र ३५२ पृष्ठ =)॥ सजिल्द ... ≡)॥

५-गीता-केवलभाषा, मोटाटाइप, सचित्र मूल्य ।) सजिल्द ... ... ।=)

६-गीता-मूल मोटे अक्षरवाली, सचित्र मूल्य ।-) सजिल्द ... ... ।≢)

७-गीता-मूल तावीजी साइज सजिल्द ... ... =)

८-गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द ... ... =)

९-गीता-का सूक्ष्म विषय पाकेटसाइज -)। डिमाई आठपेजी साइज ... -)॥

१०-गीताडायरी सन् १९२९ बिना जिल्द ।) सजिल्द ... ... ।-)।

११-पत्रपुष्प-सुन्दर भावमय भजनोंकी पुस्तक सचित्र ≡)॥

१२-स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी, स्त्रियोंके लिये बड़ी उपयोगी पुस्तक (नये संस्करणमें १० पृष्ठ बढ़े हैं) =)

१३-सच्चासुख और उसकी प्राप्तिके उपाय -)॥

१४-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग -)॥

१५-मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थ सहित -)॥

१६-मनको वशमें करनेके उपाय, सचित्र -)।

१७-प्रेमभक्तिप्रकाश, दो रंगीन चित्र -)

१८-त्यागसे भगवत्प्राप्ति सचित्र -)

१९-ब्रह्मचर्य -)

२०-भगवान् क्या हैं ? -)

२१-समाज सुधार -)

२२-हरेरामभजन)॥

२३-विष्णुसहस्रनाम मूल मोटा टाइप)॥

२४-सीतारामभजन)॥

२५-प्रश्नोत्तरी श्रीशङ्कराचार्यजीकृत भाषा सहित)॥

२६-सन्ध्या (विधिसहित))॥

२७-बलिवैश्वदेव विधि)॥

२८-पातञ्जलयोगदर्शन मूल)।

२९-धर्म क्या है ?)।

३०-दिव्यसन्देश)।

३१-श्रीहरि-संकीर्तन धुन)।

३२-गीता द्वितीय अध्याय अर्थसहित)।

३३-लोभमें ही पाप है आधापैसा

३४-गजलगीता आधापैसा

३५-कल्याणका भगवन्नामाङ्क, पृष्ठ ११० चित्र ४१ डाक महसूलसहित मूल्य ··· १।)

विशेष सुभीता

एक साथ सिरीज मंगानेवाले ग्राहकोंको डाकमहसूल नहीं देना पड़ेगा-

सि० न० १ पुस्तक न० ४ और न० ८ से लेकर ३४ तक कुल २८ पुस्तकें मूल्य १॥≢) पैकिंग -)-२) में।

सि० न० २ पुस्तक न० ३ से न० १० तक सजिल्द और न० ११ से ३५ तक कुल ३३ पुस्तकें मूल्य ४॥-) पैकिंग ≠)-४॥) में। इस सिरीजमें भगवन्नामांककी कीमत १।) के बदले ॥) ली गयी है।

सि० न० ३ पुस्तक न० २ मोटी सजिल्द गीता और न० ३ से ३४ तक बिना जिल्दकी कुल ३३ पुस्तकें मूल्य ५।-) पैकिंग चार्ज ≢)-५॥) में।

कल्याणके नियम

१-भक्ति, ज्ञान और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

२-यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है।

३-इसका अग्रिम वार्षिक मूल्य डाकव्ययसहित भारतवर्षमें ४) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।=) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

४-ग्राहकोंको मनिआर्डरद्वारा चन्दा भेजना चाहिये, नहीं तो वी. पी. खर्च उनके जिम्मे और पड़ जायगा।

५-इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकार कर प्रकाशित नहीं किये जाते।

६-ग्राहकोंको अपना नाम, पता स्पष्ट लिखनेके साथ साथ ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

७-पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड अथवा टिकट भेजना आवश्यक है।

८-भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना मांगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है।

९-कार्यालयसे 'कल्याण' दो तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नाम भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे पूछताछ करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कमसे कम सात दिन पहलेतक कल्याण कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

१०-प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक' के नामसे भेजना चाहिये और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक' के नामसे भेजना चाहिये।

Registred No. A. 1724.

श्रीमद्भगवद्गीताकी आरती

[रचयिता—श्रीदामोदरसहाय सिंह, एम० ए० 'कविकिंकर']

आरति श्रीमद्भगवद्गीताकी ॥ टेक ॥

(१)

वासुदेव श्रीमुखकी बानी,
आध्यात्मिक कृतियनकी रानी;
विजय विभूति मुक्तिकी दानी,
सुवर्णफलद सुपुनीताकी ॥ आरति० ॥

(२)

महाभारतमें व्यास विगुम्फित,
समरांगनमें पार्थ प्रबोधित;
सुर-नर-मुनि सबहीं सों वन्दित,
पाप-पुञ्ज कुञ्जर चीताकी ॥ आरति० ॥

(३)

धर्म न्यायको सत्य सुझावनि,
दुरित द्वैत दुख दूरि भगावनि;
अद्वैतामृत धार बहावनि,
मद दमकन्य सती सीताकी ॥ आरति० ॥

(४)

उपनिषदनको सार सुहावनि,
अनासक्त शुभकाम करावनि;
मन-वच-करम सन्त-मन-भावनि,
मर्याद-ज्ञान कुल-जन गीताकी ॥ आरति० ॥

(५)

रविकर भव-तम-तोम-निवारिनि,
विमल-विवेक विश्व विस्तारिनि;
सुमति-सुधर्म-सुराज-प्रचारिनि,
दामोदर अनुपम गीताकी ॥ आरति० ॥